ॐ

परमात्मने नमः

श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन साहित्य स्मृति संचय, पुष्प नं.

समयसार सिद्धि

भाग-७

परम पूज्य श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव द्वारा रचित
परमागम श्री समयसार पर
परम उपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के
उन्नीसवीं बार के धारावाहिक शब्दशः प्रवचन
(गाथा १९३ से २३६ तथा कलश १३३ से १६३)
प्रवचन क्रमांक २६८ से ३१२

: हिन्दी अनुवाद :
पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन
बिजौलियाँ, जिला-भीलवाड़ा (राज.)

: प्रकाशक :
श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट
302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056
फोन : (022) 26130820

: सह-प्रकाशक :
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250
फोन : 02846-244334

प्रथम संस्करण : 1000 प्रतियाँ

ISBN No. :

न्यौछावर राशि : 20 रुपये मात्र

प्राप्ति स्थान :

1. **श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट,**
   सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250, फोन : 02846-244334
2. **श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट**
   302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, वी. एल. महेता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट),
   मुम्बई-400056, फोन (022) 26130820 Email - vitragva@vsnl.com
3. **श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट (मंगलायतन)**
   अलीगढ़-आगरा मार्ग, सासनी-204216 (उ.प्र.)
4. **पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट,**
   ए-4, बापूनगर, जयपुर, राजस्थान-302015, फोन : (0141) 2707458
5. **पूज्य श्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट,**
   कहान नगर, लाम रोड, देवलाली-422401, फोन : (0253) 2491044
6. **श्री परमागम प्रकाशन समिति**
   श्री परमागम श्रावक ट्रस्ट, सिद्धक्षेत्र, सोनागिरजी, दतिया (म.प्र.)
7. **श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान आध्यात्मिक ट्रस्ट**
   योगी निकेतन प्लाट, 'स्वरुचि' सवाणी होलनी शेरीमां, निर्मला कोन्वेन्ट रोड
   राजकोट-360007 फोन : (0281) 2477728, मो. 09374100508

टाईप-सेटिंग : **विवेक कम्प्यूटर्स,** अलीगढ़

मुद्रक :

प्रकाशकीय

मंगलं भगवान वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्॥

महाविदेहक्षेत्र में विराजमान त्रिलोकनाथ वीतराग-सर्वज्ञ परम देवादिदेव श्री सीमन्धर भगवान की दिव्यदेशना का अपूर्व संचय करके भरतक्षेत्र में लानेवाले, सीमन्धर लघुनन्दन, ज्ञान साम्राज्य के सम्राट, भरतक्षेत्र के कलिकालसर्वज्ञ, शुद्धात्मा में निरन्तर केलि करनेवाले, चलते-फिरते सिद्ध - ऐसे आचार्यश्री कुन्दकुन्ददेव हुए, जो संवत् 49 में सदेह महाविदेहक्षेत्र में गये और आठ दिन वहाँ रहे थे। महाविदेहक्षेत्र में त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदेव के श्रीमुख से प्रवाहित श्रुतामृतरूपी ज्ञानसरिता का तथा श्रुतकेवलियों के साथ हुई आध्यात्मिक सूक्ष्म चर्चाओं का अमूल्य भण्डार लेकर भरतक्षेत्र में पधारकर पंच परमागम आदि आध्यात्मिक शास्त्रों की रचना की। उनमें से एक श्री समयसारजी, द्वितीय श्रुतस्कन्ध का सर्वोत्कृष्ट अध्यात्म शास्त्र है। जिसमें श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने 415 मार्मिक गाथाओं की रचना की है। यह शास्त्र सूक्ष्म दृष्टिप्रधान ग्रन्थाधिराज है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य के पश्चात् एक हजार वर्ष बाद अध्यात्म के प्रवाह की परिपाटी में इस अध्यात्म के अमूल्य खजाने के गहन रहस्य को स्वानुभवगत करके श्री कुन्दकुन्ददेव के ज्ञानहृदय को खोलनेवाले श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेव ने सिद्धपद-साधक मुनिसम्पदा को आत्मसात करके, निजस्वरूप के अलौकिक अनुभव से, सिद्धान्त शिरोमणि शास्त्र समयसार की 415 गाथाओं की टीका करने का सौभाग्य प्राप्त किया है। उन्होंने श्रीसमयसारजी में निहित सूक्ष्म और गम्भीर रहस्य को, अपूर्व शैली से आत्मख्याति नामक टीका बनाकर, स्पष्ट किया है; साथ ही 278 मंगल कलश तथा परिशिष्ट की रचना भी की है।

इस शास्त्र का भावार्थ जयपुर निवासी सूक्ष्म ज्ञानोपयोगी पण्डित श्री जयचन्दजी छाबड़ा ने किया है।

वर्तमान इस काल में मोक्षमार्ग प्राय: लुप्त हो गया था, सर्वत्र मिथ्यात्व का घोर अन्धकार छाया हुआ था, जैनदर्शन के मूलभूत सिद्धान्त का अभ्यास छूट गया था, परमागम विद्यमान होने पर भी उनके गूढ़ रहस्यों को समझानेवाला कोई नहीं था - ऐसे विषम काल में जैनशासन के गगन मण्डल में एक महाप्रतापी वीर पुरुष, अध्यात्ममूर्ति, अध्यात्मदृष्टा, आत्मज्ञ सन्त, अध्यात्म युगपुरुष,

निष्कारण करुणाशील, भवोदधि तारणहार, भावी तीर्थाधिनाथ परमपूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजीस्वामी का उदय हुआ। जिन्होंने इन आचार्यों के ज्ञानहृदय में संचित गूढ़ रहस्यों को अपने ज्ञान-वैभव द्वारा रसपान करके आचार्यों की महा सूक्ष्म गाथाओं में विद्यमान अर्थ गाम्भीर्य को स्वयं के ज्ञान प्रवाह द्वारा सरल सुगम भाषा में चरम सीमा तक मूर्तिवन्त किया।

मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान के घोर तिमिर को नष्ट करने के लिए एक तेजस्वी अध्यात्म दीपक का स्वर्णमय उदय हुआ, जिसने अपनी दिव्यामृत चैतन्य रसीली वाणी द्वारा अध्यात्म सिन्धु के अस्खलित सातिशय शुद्ध प्रवाह को आगे बढ़ाया। आपश्री जैनदर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों को अति स्पष्टरूप से, अति दृढ़तापूर्वक भवताप विनाशक और परम शान्ति प्रदायक प्रवचन गंगा द्वारा फैलाते रहे; विरोधियों के विरोध का भी, जंगल में विचरते केशरी सिंह की तरह, अध्यात्म के केशरी सिंह बनकर निडररूप से, तथापि निष्कारण करुणावन्त भाव से झेलते रहे। विरोधियों को भी 'भगवान आत्मा' है – ऐसी दृष्टि से देखकर जगत् के जीवों के समक्ष अध्यात्म के सूक्ष्म न्यायों को प्रकाशित करते रहे।

श्री समयसारजी शास्त्र, पूज्य गुरुदेवश्री के कर-कमल में विक्रम संवत् 1978 के फाल्गुन माह में आया था। इस समयसारजी शास्त्र के हाथ में आते ही कुशल झवेरी की पारखी नजर समयसार के सूक्ष्म भावों पर पड़ी और सहज ही अन्तर की गहराई में से भावनाशील कोमल हृदय बोल उठा – 'अरे! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।' अनादि का अप्रतिबुद्ध जीव प्रतिबुद्ध कैसे हो? – उसका सम्पूर्ण रहस्य और शुद्धात्मा का सम्पूर्ण वैभव इस परमागम में भरा है।

इस शास्त्र का रहस्य वास्तव में तो अध्यात्म युगपुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के हाथ में यह शास्त्र आने के पश्चात् ही चरम सीमा से प्रकाशित और प्रदर्शित हुआ है। पैंतालीस वर्ष तक स्वर्णपुरी / सोनगढ़ में अध्यात्म की मूसलधार वर्षा हुई है जो सर्व विदित है। पूज्य गुरुदेवश्री ने विक्रम संवत् 1978 से 1991 – इस तरह तेरह वर्षों तक गूढ़ मन्थन करके जिनवाणी का सम्पूर्ण निचोड़ इस शास्त्र में से ढूँढ़ निकाला और फरमाया है कि —

- समयसार तो द्वितीय श्रुतस्कन्ध का सर्वोत्कृष्ट / सर्वोच्च आगमों का भी आगम है।
- समयसार तो सिद्धान्त शिरोमणि, अद्वितीय अजोड़ चक्षु और अन्धे की आँख है।
- समयसार तो संसार विष-वृक्ष को छेदने का अमोघ शस्त्र है।
- समयसार तो कुन्दकुन्दाचार्य से कोई ऐसा शास्त्र बन गया; जगत् का भाग्य कि ऐसी चीज भरतक्षेत्र में रह गयी। धन्य काल!
- समयसार की प्रत्येक गाथा और आत्मख्याति टीका ने आत्मा को अन्दर से डुला

दिया है। समयसार की आत्मख्याति जैसी टीका दिगम्बर में भी दूसरी किसी शास्त्र में नहीं है। इसके एक-एक पद में इतनी गम्भीरता (कि) खोलते-खोलते पार न आये - ऐसी बात अन्दर है।

- समयसार तो सत्य का उद्घाटक है! भारत का महारत्न है!! समयसार.... जिसके थोड़े शब्दों में भावों की अद्भुत और अगाध गम्भीरता भरी है!
- समयसार तो भरतक्षेत्र का प्रवचन का सर्वोत्कृष्ट बादशाह है, यह सार शास्त्र कहलाता है।
- समयसार तो जगत् का भाग्य.... समयसाररूपी भेंट जगत् को दिया, स्वीकार नाथ! अब स्वीकार! भेंट भी दे वह भी नहीं स्वीकारे?
- समयसार तो वैराग्य प्रेरक परमात्मस्वरूप को बतलानेवाली वीतरागी वीणा है।
- समयसार में तो अमृतचन्द्राचार्य ने अकेला अमृत बहाया है, अमृत बरसाया है।
- समयसार एक बार सुनकर ऐसा नहीं मान लेना कि हमने सुना है, ऐसा नहीं बापू! यह तो प्र... वचनसार है अर्थात् आत्मसार है, बारम्बार सुनना।
- समयसार भरतक्षेत्र की अन्तिम में अन्तिम और उत्कृष्टतम सत् को प्रसिद्ध करनेवाली चीज है। भरतक्षेत्र में साक्षात् केवलज्ञान सूर्य है। समयसार ने केवली का विरह भुलाया है।
- समयसार की मूलभूत एक-एक गाथा में गजब गम्भीरता! पार न पड़े ऐसी चीज है। एक-एक गाथा में हीरा-मोती जड़े हैं।
- समयसार में तो सिद्ध की भनकार सुनायी देती है। यह तो शाश्वत् अस्तित्व की दृष्टि करानेवाला परम हितार्थ शास्त्र है। समयसार तो साक्षात् परमात्मा की दिव्यध्वनि / तीन लोक के नाथ की यह दिव्यध्वनि है।

ऐसे अपूर्व समयसार में से पूज्य गुरुदेवश्री ने अपने निज समयसाररूपी शुद्धात्मा का अनुभव करके फरमाया कि आत्मा आनन्द का पर्वत है; ज्ञायक तो मीठा समुद्र / आनन्द का गंज और सुख का समुद्र है। न्यायों का न्यायाधीश है, धर्म का धोध ऐसा धर्मी है, ध्रुव प्रवाह है, ज्ञान की धारा है, तीन लोक का नाथ चैतन्यवृक्ष-अमृत फल है, वास्तविक वस्तु है। सदा विकल्प से विराम ही ऐसी निर्विकल्प जिसकी महिमा है - ऐसा ध्रुवधाम ध्रुव की धखती धगश है। भगवान आत्मा चिन्तामणि रत्न, कल्पवृक्ष और कामधेनु है, चैतन्य चमत्कारी वस्तु है, अनन्त गुणों का गोदाम, शक्तियों का संग्रहालय और स्वभाव का सागर है।

सनातन दिगम्बर मुनियों ने परमात्मा की वाणी का प्रवाह जीवन्त रखा है। जैनधर्म

सम्प्रदाय–बाड़ा–गच्छ नहीं; अपितु वस्तु के स्वरूप को जैनधर्म कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री ने शास्त्र का अर्थ करने की जो पाँच प्रकार की पद्धति — शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ, और भावार्थ है, उसे अपनाकर कहाँ, किस अपेक्षा से कथन किया जाता है – उसका यथार्थ ज्ञान अपने को–मुमुक्षु समुदाय को कराया है। इस प्रवचन गंगा से बहुत से आत्मार्थी अपने निजस्वरूप को प्राप्त करने का पुरुषार्थ करते हैं, बहुत से स्वरूप के निकट आये हैं और इस वाणी के भाव ग्रहण करके बहुत से आत्मार्थी अवश्य आत्मदर्शन को प्राप्त होंगे ही – यह सुनिश्चित है।

पूज्य गुरुदेवश्री समयसार में फरमाते हैं कि समयसार दो जगह है – एक अपना शुद्धात्मा है वह समयसार है और दूसरा उत्कृष्ट निमित्तरूप समयसारजी शास्त्र है। इस शास्त्र में अपना निज समयसाररूपी शुद्धात्मा बतलाया गया है। प्रत्येक गाथा का अर्थ करते हुए पूज्य गुरुदेवश्री ऐसे भावविभोर हो जाते हैं कि उसमें से निकलना उन्हें सुहाता नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री फरमाते हैं कि पंचम काल के अन्त तक जो कोई जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त करेगा, उसे यह वीतराग की वाणी निमित्त होगी, यह सीधी सीमन्धर भगवान की वाणी है, इसमें एक अक्षर फिरे तो सब फिर जायेगा।

पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन, अपने वचनामृत में पूज्य गुरुदेवश्री के सम्बन्ध में फरमाती हैं कि पूज्य गुरुदेवश्री का द्रव्य तो अलौकिक और मंगल है; उनका श्रुतज्ञान और वाणी आश्चर्यकारक है। आपश्री मंगलमूर्ति, भवोदधि तारणहार और महिमावन्त गुणों से भरपूर हैं। उन्होंने चारों ओर से मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उनका अपार उपकार है, वह कैसे भूला जाये? पूज्य गुरुदेवश्री को तीर्थंकर जैसा उदय वर्तता है। पूज्य गुरुदेवश्री ने अन्तर से मार्ग प्राप्त किया, दूसरों को मार्ग बतलाया; इसलिए उनकी महिमा आज तो गायी जाती है परन्तु हजारों वर्षों तक गायी जाएगी।

पूज्य निहालचन्दजी सोगानी, जिनको पूज्य गुरुदेवश्री का एक ही प्रवचन सुनते हुए भव के अभावरूप सम्यग्दर्शन की प्राप्ति सोनगढ़ / स्वर्णपुरी में हुई – वे फरमाते हैं कि पूज्य गुरुदेव के एक घण्टे के प्रवचन में पूरी–पूरी बात आ जाती है। सभी बात का स्पष्टीकरण पूज्य गुरुदेवश्री ने तैयार करके दिया है; इस कारण कोई बात का विचार नहीं करना पड़ता, वरना तो साधक हो तो भी सब तैयारी करनी पड़ती है।

पूज्य गुरुदेवश्री ने सभा में समयसार उन्नीस बार पढ़ा और एकान्त में तो सैंकड़ों बार पढ़ा है, तो उन्हें इसमें कितना माल दिखता होगा! कभी डेढ़ वर्ष, कभी दो वर्ष, कभी ढाई वर्ष; इस प्रकार उन्नीस बार पैंतालीस वर्षों में सार्वजनिक पढ़ा है। ये प्रवचन पूज्य गुरुदेवश्री की पैंतालीस वर्ष की

सोनगढ़ / स्वर्णपुरी में हुई साधना के निचोड़रूप मक्खन है। जैसे-जैसे ज्ञानी की ज्ञानस्थिरता वृद्धिगत होती जाती है, वैसे-वैसे एक ही गाथा पर बारम्बार प्रवचन किये जायें तो भी नये-नये भाव आते हैं; इसलिए प्रस्तुत प्रवचन प्रकाशित किये जा रहे हैं।

इस ग्रन्थ में अपूर्व, अनुपम श्री समयसारजी शास्त्र के निर्जरा अधिकार की गाथा 193 से 236, कलश 133 से 163 पर पूज्य गुरुदेवश्री के उन्नीसवीं बार के धारावाही प्रवचन नम्बर 268 से 312 प्रकाशित किये जा रहे हैं।

प्रवचन-प्रकाशन से पूर्व सम्पूर्ण प्रवचनों को सी.डी. से शब्दशः लिख लिया जाता है; तत्पश्चात् आवश्यकतानुसार वाक्य पूर्ति हेतु कोष्ठक भरा जाता है। प्रकाशन से पूर्व फिर से मिलान किया जाता है। गुजराती भाषा में इस कार्य में श्री चेतनभाई मेहता, राजकोट का उल्लेखनीय सहयोग रहा है।

सम्पूर्ण प्रवचनों को हिन्दी भाषा में व्यवस्थितरूप से प्रस्तुत करने का कार्य पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियाँ (राजस्थान) ने किया है। तदर्थ संस्था सभी सहयोगियों का सहृदय आभार व्यक्त करती है।

ग्रन्थ के मूल अंश को बोल्ड टाईप में दिया गया है।

प्रस्तुत प्रवचन — ग्रन्थ के टाईप सेटिंग के लिए श्री विवेककुमार पाल, विवेक कम्प्यूटर्स, अलीगढ़ तथा ग्रन्थ के सुन्दर मुद्रण कार्य के लिए श्री दिनेश जैन, देशना कम्प्यूटर, जयपुर के प्रति आभार व्यक्त करते हैं।

अन्ततः समयसारस्वरूप निज शुद्धात्मा के आश्रयपूर्वक सभी जीव परम शान्ति को प्राप्त हों - इसी भावना के साथ.....

निवेदक

ट्रस्टीगण, श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, मुम्बई

एवं

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़




श्री समयसारजी-स्तुति

(हरिगीत)

संसारी जीवनां भावमरणो टाळवा करुणा करी,
सरिता वहावी सुधा तणी प्रभु वीर! ते संजीवनी;
शोषाती देखी सरितने करुणाभीना हृदये करी,
मुनिकुंद संजीवनी समयप्राभृत तणे भाजन भरी।

(अनुष्टुप)

कुन्दकुन्द रच्युं शास्त्र, साथिया अमृते पूर्या,
ग्रंथाधिराज! तारामां भावो ब्रह्मांडना भर्या।

(शिखरिणी)

अहो! वाणी तारी प्रशमरस-भावे नीतरती,
मुमुक्षुने पाती अमृतरस अंजलि भरी भरी;
अनादिनी मूर्छा विष तणी त्वराथी ऊतरती,
विभावेथी थंभी स्वरूप भणी दोड़े परिणति।

(शार्दूलविक्रीड़ित)

तुं छे निश्चयग्रंथ भंग सघळा व्यवहारना भेदवा,
तुं प्रज्ञाछीणी ज्ञान ने उदयनी संधि सहु छेदवा;
साथीसाधकनो, तुं भानु जगनो, संदेश महावीरनो,
विसामो भवक्लांतना हृदयनो, तुं पंथ मुक्ति तणो।

(वसंततिलका)

सुण्ये तने रसनिबंध शिथिल थाय,
जाण्ये तने हृदय ज्ञानी तणां जणाय;
तुं रुचतां जगतनी रुचि आळसे सौ,
तुं रीझतां सकलज्ञायकदेव रीझे।

(अनुष्टुप)

बनावुं पत्र कुंदननां, रत्नोना अक्षरो लखी;
तथापि कुंदसूत्रोनां अंकाये मूल्य ना कदी।







श्री सद्गुरुदेव-स्तुति

(हरिगीत)

संसारसागर तारवा जिनवाणी छे नौका भली,
ज्ञानी सुकानी मळ्या विना ए नाव पण तारे नहीं;
आ काळमां शुद्धात्मज्ञानी सुकानी बहु बहु दोह्यलो,
मुज पुण्यराशि फळ्यो अहो! गुरु कहान तुं नाविक मळ्यो।

(अनुष्टुप)

अहो! भक्त चिदात्माना, सीमंधर-वीर-कुंदना।
बाह्यांतर विभवो तारा, तारे नाव मुमुक्षुनां।

(शिखरिणी)

सदा दृष्टि तारी विमळ निज चैतन्य नीरखे,
अने ज्ञप्तिमांही दरव-गुण-पर्याय विलसे;
निजालंबीभावे परिणति स्वरूपे जई भळे,
निमित्तो वहेवारो चिद्घन विषे कांई न मळे।

(शार्दूलविक्रीडित)

हैयु 'सत सत, ज्ञान ज्ञान' धबके ने वज्रवाणी छूटे,
जे वज्रे सुमुमुक्षु सत्त्व झळके; परद्रव्य नातो तूटे;
- रागद्वेष रुचे न, जंप न वळे भावेंद्रिमां-अंशमां,
टंकोत्कीर्ण अकंप ज्ञान महिमा हृदये रहे सर्वदा।

(वसंततिलका)

नित्ये सुधाझरण चंद्र! तने नमुं हुं,
करुणा अकारण समुद्र! तने नमुं हुं;
हे ज्ञानपोषक सुमेघ! तने नमुं हुं,
आ दासना जीवनशिल्पी! तने नमुं हुं।

(स्त्रग्धरा)

ऊंडी ऊंडी, ऊंडेथी सुखनिधि सतना वायु नित्ये वहंती,
वाणी चिन्मूर्ति! तारी उर-अनुभवना सूक्ष्म भावे भरेली;
भावो ऊंडा विचारी, अभिनव महिमा चित्तमां लावी लावी,
खोयेलुं रत्न पामुं, - मनरथ मननो; पूरजो शक्तिशाळी!




अध्यात्मयुगसृष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

(संक्षिप्त जीवनवृत्त)

भारतदेश के सौराष्ट्र प्रान्त में, बलभीपुर के समीप समागत 'उमराला' गाँव में स्थानकवासी सम्प्रदाय के दशाश्रीमाली वणिक परिवार के श्रेष्ठीवर्य श्री मोतीचन्दभाई के घर, माता उजमबा की कूख से विक्रम संवत् 1946 के वैशाख शुक्ल दूज, रविवार (दिनाङ्क 21 अप्रैल 1890 – ईस्वी) प्रातःकाल इन बाल महात्मा का जन्म हुआ।

जिस समय यह बाल महात्मा इस वसुधा पर पधारे, उस समय जैन समाज का जीवन अन्ध-विश्वास, रूढ़ि, अन्धश्रद्धा, पाखण्ड, और शुष्क क्रियाकाण्ड में फँस रहा था। जहाँ कहीं भी आध्यात्मिक चिन्तन चलता था, उस चिन्तन में अध्यात्म होता ही नहीं था। ऐसे इस अन्धकारमय कलिकाल में तेजस्वी कहानसूर्य का उदय हुआ।

पिताश्री ने सात वर्ष की लघुवय में लौकिक शिक्षा हेतु विद्यालय में प्रवेश दिलाया। प्रत्येक वस्तु के ह्रार्द तक पहुँचने की तेजस्वी बुद्धि, प्रतिभा, मधुरभाषी, शान्तस्वभावी, सौम्य गम्भीर मुखमुद्रा, तथा स्वयं कुछ करने के स्वभाववाले होने से बाल 'कानजी' शिक्षकों तथा विद्यार्थियों में लोकप्रिय हो गये। विद्यालय और जैन पाठशाला के अभ्यास में प्रायः प्रथम नम्बर आता था, किन्तु विद्यालय की लौकिक शिक्षा से उन्हें सन्तोष नहीं होता था। अन्दर ही अन्दर ऐसा लगता था कि मैं जिसकी खोज में हूँ, वह यह नहीं है।

तेरह वर्ष की उम्र में छह कक्षा उत्तीर्ण होने के पश्चात्, पिताजी के साथ उनके व्यवसाय के कारण पालेज जाना हुआ, और चार वर्ष बाद पिताजी के स्वर्गवास के कारण, सत्रह वर्ष की उम्र में भागीदार के साथ व्यवसायिक प्रवृत्ति में जुड़ना हुआ।

व्यवसाय की प्रवृत्ति के समय भी आप अप्रमाणिकता से अत्यन्त दूर थे, सत्यनिष्ठा, नैतिज्ञता, निखालिसता और निर्दोषता से सुगन्धित आपका व्यावहारिक जीवन था। साथ ही आन्तरिक व्यापार और झुकाव तो सतत् सत्य की शोध में ही संलग्न था। दुकान पर भी धार्मिक पुस्तकें पढ़ते थे। वैरागी चित्तवाले कहानकुँवर कभी रात्रि को रामलीला या नाटक देखने जाते तो उसमें से वैराग्यरस का घोलन करते थे। जिसके फलस्वरूप पहली बार सत्रह वर्ष की उम्र में पूर्व की आराधना के संस्कार और मङ्गलमय उज्ज्वल भविष्य की अभिव्यक्ति करता हुआ, बारह लाईन का काव्य इस प्रकार रच जाता है—

शिवरमणी रमनार तूं, तूं ही देवनो देव।

उन्नीस वर्ष की उम्र से तो रात्रि का आहार, जल, तथा अचार का त्याग कर दिया था।

सत्य की शोध के लिए दीक्षा लेने के भाव से 22 वर्ष की युवा अवस्था में दुकान का परित्याग करके, गुरु के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर लिया और 24 वर्ष की उम्र में (अगहन शुक्ल 9, संवत् 1970) के दिन छोटे से उमराला गाँव में 2000 साधर्मियों के विशाल जनसमुदाय की उपस्थिति में स्थानकवासी सम्प्रदाय की दीक्षा अंगीकार कर ली। दीक्षा के समय हाथी पर चढ़ते हुए धोती

फट जाने से तीक्ष्ण बुद्धि के धारक - इन महापुरुष को शंका हो गयी कि कुछ गलत हो रहा है परन्तु सत्य क्या है ? यह तो मुझे ही शोधना पड़ेगा।

दीक्षा के बाद सत्य के शोधक इन महात्मा ने स्थानकवासी और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समस्त आगमों का गहन अभ्यास मात्र चार वर्ष में पूर्ण कर लिया। सम्प्रदाय में बड़ी चर्चा चलती थी, कि कर्म है तो विकार होता है न ? यद्यपि गुरुदेवश्री को अभी दिगम्बर शास्त्र प्राप्त नहीं हुए थे, तथापि पूर्व संस्कार के बल से वे दृढ़तापूर्वक सिंह गर्जना करते हैं — **जीव स्वयं से स्वतन्त्ररूप से विकार करता है; कर्म से नहीं अथवा पर से नहीं। जीव अपने उल्टे पुरुषार्थ से विकार करता है और सुल्टे पुरुषार्थ से उसका नाश करता है।**

विक्रम संवत् 1978 में महावीर प्रभु के शासन-उद्धार का और हजारों मुमुक्षुओं के महान पुण्योदय का सूचक एक मङ्गलकारी पवित्र प्रसंग बना —

32 वर्ष की उम्र में, विधि के किसी धन्य पल में श्रीमद्भगवत् कुन्दकन्दाचार्यदेव रचित 'समयसार' नामक महान परमागम, एक सेठ द्वारा महाराजश्री के हस्तकमल में आया, इन पवित्र पुरुष के अन्तर में से सहज ही उद्गार निकले — **'सेठ! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।'** इसका अध्ययन और चिन्तवन करने से अन्तर में आनन्द और उल्लास प्रगट होता है। इन महापुरुष के अन्तरंग जीवन में भी परम पवित्र परिवर्तन हुआ। भूली पड़ी परिणति ने निज घर देखा। तत्पश्चात् श्री प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, मोक्षमार्गप्रकाशक, द्रव्यसंग्रह, सम्यग्ज्ञानदीपिका इत्यादि दिगम्बर शास्त्रों के अभ्यास से आपको नि:शंक निर्णय हो गया कि दिगम्बर जैनधर्म ही मूलमार्ग है और वही सच्चा धर्म है। इस कारण आपकी अन्तरंग श्रद्धा कुछ और बाहर में वेष कुछ — यह स्थिति आपको असह्य हो गयी। अत: अन्तरंग में अत्यन्त मनोमन्थन के पश्चात् सम्प्रदाय के परित्याग का निर्णय लिया।

परिवर्तन के लिये योग्य स्थान की खोज करते-करते सोनगढ़ आकर वहाँ 'स्टार ऑफ इण्डिया' नामक एकान्त मकान में महावीर प्रभु के जन्मदिवस, चैत्र शुक्ल 13, संवत् 1991 (दिनांक 16 अप्रैल 1935) के दिन दोपहर सवा बजे सम्प्रदाय का चिह्न मुँह पट्टी का त्याग कर दिया और स्वयं घोषित किया कि **अब मैं स्थानकवासी साधु नहीं; मैं सनातन दिगम्बर जैनधर्म का श्रावक हूँ।** सिंह-समान वृत्ति के धारक इन महापुरुष ने 45 वर्ष की उम्र में महावीर्य उछाल कर यह अद्भुत पराक्रमी कार्य किया।

स्टार ऑफ इण्डिया में निवास करते हुए मात्र तीन वर्ष के दौरान ही जिज्ञासु भक्तजनों का प्रवाह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया, जिसके कारण यह मकान एकदम छोटा पड़ने लगा; अत: भक्तों ने इन परम प्रतापी सत् पुरुष के निवास और प्रवचन का स्थल **'श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर'** का निर्माण कराया। गुरुदेवश्री ने वैशाख कृष्ण 8, संवत् 1994 (दिनांक 22 मई 1938) के दिन इस निवासस्थान में मंगल पदार्पण किया। यह स्वाध्याय मन्दिर, जीवनपर्यन्त इन महापुरुष की आत्मसाधना और वीरशासन की प्रभावना का केन्द्र बन गया।

दिगम्बर धर्म के चारों अनुयोगों के छोटे बड़े 183 ग्रन्थों का गहनता से अध्ययन किया, उनमें से मुख्य 38 ग्रन्थों पर सभा में प्रवचन किये। जिनमें श्री समयसार ग्रन्थ पर 19 बार की गयी अध्यात्म वर्षा

विशेष उल्लेखनीय है। प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, परमात्मप्रकाश, नियमसार, पंचास्तिकायसंग्रह, समयसार कलश-टीका इत्यादि ग्रन्थों पर भी बहुत बार प्रवचन किये हैं।

दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले और कुन्दकुन्दादि आचार्यों के गहन शास्त्रों के रहस्योद्घाटक इन महापुरुष की भवताप विनाशक अमृतवाणी को ईस्वी सन् 1960 से नियमितरूप से टेप में उत्कीर्ण कर लिया गया, जिसके प्रताप से आज अपने पास नौ हजार से अधिक प्रवचन सुरक्षित उपलब्ध हैं। यह मङ्गल गुरुवाणी, देश-विदेश के समस्त मुमुक्षु मण्डलों में तथा लाखों जिज्ञासु मुमुक्षुओं के घर-घर में गुंजायमान हो रही है। इससे इतना तो निश्चित है कि भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को पञ्चम काल के अन्त तक यह दिव्यवाणी ही भव के अभाव में प्रबल निमित्त होगी।

इन महापुरुष का धर्म सन्देश, समग्र भारतवर्ष के मुमुक्षुओं को नियमित उपलब्ध होता रहे, तदर्थ सर्व प्रथम विक्रम संवत् 2000 के माघ माह से (दिसम्बर 1943 से) **आत्मधर्म** नामक मासिक आध्यात्मिक पत्रिका का प्रकाशन सोनगढ़ से मुरब्बी श्री रामजीभाई माणिकचन्द दोशी के सम्पादकत्व में प्रारम्भ हुआ, जो वर्तमान में भी गुजराती एवं हिन्दी भाषा में नियमित प्रकाशित हो रहा है। पूज्य गुरुदेवश्री के दैनिक प्रवचनों को प्रसिद्धि करता दैनिक पत्र **श्री सद्गुरु प्रवचनप्रसाद** ईस्वी सन् 1950 सितम्बर माह से नवम्बर 1956 तक प्रकाशित हुआ। स्वानुभवविभूषित चैतन्यविहारी इन महापुरुष की मङ्गल-वाणी को पढ़कर और सुनकर हजारों स्थानकवासी श्वेताम्बर तथा अन्य कौम के भव्य जीव भी तत्त्व की समझपूर्वक सच्चे दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी हुए। अरे! मूल दिगम्बर जैन भी सच्चे अर्थ में दिगम्बर जैन बने।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा दिगम्बर आचार्यों और मान्यवर, पण्डितवर्यों के ग्रन्थों तथा पूज्य गुरुदेवश्री के उन ग्रन्थों पर हुए प्रवचन-ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य विक्रम संवत् 1999 (ईस्वी सन् 1943 से) शुरु हुआ। इस सत्साहित्य द्वारा वीतरागी तत्त्वज्ञान की देश-विदेश में अपूर्व प्रभावना हुई, जो आज भी अविरलरूप से चल रही है। परमागमों का गहन रहस्य समझाकर कृपालु कहान गुरुदेव ने अपने पर करुणा बरसायी है। तत्त्वजिज्ञासु जीवों के लिये यह एक महान आधार है और दिगम्बर जैन साहित्य की यह एक अमूल्य सम्पत्ति है।

ईस्वीं सन् 1962 के दशलक्षण पर्व से भारत भर में अनेक स्थानों पर पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रवाहित तत्त्वज्ञान के प्रचार के लिए प्रवचनकार भेजना प्रारम्भ हुआ। इस प्रवृत्ति से भारत भर के समस्त दिगम्बर जैन समाज में अभूतपूर्व आध्यात्मिक जागृति उत्पन्न हुई। आज भी देश-विदेश में दशलक्षण पर्व में सैकड़ों प्रवचनकार विद्वान इस वीतरागी तत्त्वज्ञान का डंका बजा रहे हैं।

बालकों में तत्त्वज्ञान के संस्कारों का अभिसिंचन हो, तदर्थ सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 (ईस्वीं सन् 1941) के मई महीने के ग्रीष्मकालीन अवकाश में बीस दिवसीय धार्मिक शिक्षण वर्ग प्रारम्भ हुआ, बड़े लोगों के लिये प्रौढ़ शिक्षण वर्ग विक्रम संवत् 2003 के श्रावण महीने से शुरु किया गया।

सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 - फाल्गुन शुक्ल दूज के दिन नूतन दिगम्बर जिनमन्दिर में कहानगुरु के मङ्गल हस्त से श्री सीमन्धर आदि भगवन्तों की पंच कल्याणक विधिपूर्वक प्रतिष्ठा हुई। उस समय सौराष्ट्र में मुश्किल से चार-पाँच दिगम्बर मन्दिर थे और दिगम्बर जैन तो भाग्य से ही दृष्टिगोचर होते थे। जिनमन्दिर निर्माण के बाद दोपहरकालीन प्रवचन के पश्चात् जिनमन्दिर में नित्यप्रति भक्ति का क्रम

प्रारम्भ हुआ, जिसमें जिनवर भक्त गुरुराज हमेशा उपस्थित रहते थे, और कभी-कभी अतिभाववाही भक्ति भी कराते थे। इस प्रकार गुरुदेवश्री का जीवन निश्चय-व्यवहार की अपूर्व सन्धियुक्त था।

ईस्वी सन् 1941 से ईस्वीं सन् 1980 तक सौराष्ट्र-गुजरात के उपरान्त समग्र भारतदेश के अनेक शहरों में तथा नैरोबी में कुल 66 दिगम्बर जिनमन्दिरों की मङ्गल प्रतिष्ठा इन वीतराग-मार्ग प्रभावक सत्पुरुष के पावन कर-कमलों से हुई।

जन्म-मरण से रहित होने का सन्देश निरन्तर सुनानेवाले इन चैतन्यविहारी पुरुष की मङ्गलकारी जन्म-जयन्ती 59 वें वर्ष से सोनगढ़ में मनाना शुरु हुआ। तत्पश्चात् अनेकों मुमुक्षु मण्डलों द्वारा और अन्तिम 91 वें जन्मोत्सव तक भव्य रीति से मनाये गये। 75 वीं हीरक जयन्ती के अवसर पर समग्र भारत की जैन समाज द्वारा चाँदी जड़ित एक आठ सौ पृष्ठीय अभिनन्दन ग्रन्थ, भारत सरकार के तत्कालीन गृहमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री द्वारा मुम्बई में देशभर के हजारों भक्तों की उपस्थिति में पूज्यश्री को अर्पित किया गया।

श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा के निमित्त समग्र उत्तर और पूर्व भारत में मङ्गल विहार ईस्वी सन् 1957 और ईस्वी सन् 1967 में ऐसे दो बार हुआ। इसी प्रकार समग्र दक्षिण और मध्यभारत में ईस्वी सन् 1959 और ईस्वी सन् 1964 में ऐसे दो बार विहार हुआ। इस मङ्गल तीर्थयात्रा के विहार दौरान लाखों जिज्ञासुओं ने इन सिद्धपद के साधक सन्त के दर्शन किये, तथा भवान्तकारी अमृतमय वाणी सुनकर अनेक भव्य जीवों के जीवन की दिशा आत्मसन्मुख हो गयी। इन सन्त पुरुष को अनेक स्थानों से अस्सी से अधिक अभिनन्दन पत्र अर्पण किये गये हैं।

श्री महावीर प्रभु के निर्वाण के पश्चात् यह अविच्छिन्न पैंतालीस वर्ष का समय (वीर संवत् 2461 से 2507 अर्थात् ईस्वी सन् 1935 से 1980) वीतरागमार्ग की प्रभावना का स्वर्णकाल था। जो कोई मुमुक्षु, अध्यात्म तीर्थधाम स्वर्णपुरी / सोनगढ़ जाते, उन्हें वहाँ तो चतुर्थ काल का ही अनुभव होता था।

विक्रम संवत् 2037, कार्तिक कृष्ण 7, दिनांक 28 नवम्बर 1980 शुक्रवार के दिन ये प्रबल पुरुषार्थी आत्मज्ञ सन्त पुरुष — देह का, बीमारी का और मुमुक्षु समाज का भी लक्ष्य छोड़कर अपने ज्ञायक भगवान के अन्तरध्यान में एकाग्र हुए, अतीन्द्रिय आनन्दकन्द निज परमात्मतत्त्व में लीन हुए। सायंकाल आकाश का सूर्य अस्त हुआ, तब सर्वज्ञपद के साधक सन्त ने मुक्तिपुरी के पन्थ में यहाँ भरतक्षेत्र से स्वर्गपुरी में प्रयाण किया। वीरशासन को प्राणवन्त करके अध्यात्म युग सृजक बनकर प्रस्थान किया।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस युग का एक महान और असाधारण व्यक्तित्व थे, उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सत्य से अत्यन्त दूर जन्म लेकर स्वयंबुद्ध की तरह स्वयं सत्य का अनुसन्धान किया और अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ से जीवन में उसे आत्मसात किया।

इन विदेही दशावन्त महापुरुष का अन्तर जितना उज्ज्वल है, उतना ही बाह्य भी पवित्र है; ऐसा पवित्रता और पुण्य का संयोग इस कलिकाल में भाग्य से ही दृष्टिगोचर होता है। आपश्री की अत्यन्त नियमित दिनचर्या, सात्विक और परिमित आहार, आगम सम्मत्त संभाषण, करुण और सुकोमल हृदय, आपके विरल व्यक्तित्व के अभिन्न अवयव हैं। शुद्धात्मतत्त्व का निरन्तर चिन्तवन और स्वाध्याय ही आपका जीवन था। जैन श्रावक के पवित्र आचार के प्रति आप सदैव सतर्क और सावधान थे। जगत् की

प्रशंसा और निन्दा से अप्रभावित रहकर, मात्र अपनी साधना में ही तत्पर रहे। आप भावलिंगी मुनियों के परम उपासक थे।

आचार्य भगवन्तों ने जो मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उसे इन रत्नत्रय विभूषित सन्त पुरुष ने अपने शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति के आधार से सातिशय ज्ञान और वाणी द्वारा युक्ति और न्याय से सर्व प्रकार से स्पष्ट समझाया है। द्रव्य की स्वतन्त्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, क्रमबद्धपर्याय, कारणशुद्धपर्याय, आत्मा का शुद्धस्वरूप, सम्यग्दर्शन, और उसका विषय, सम्यग्ज्ञान और ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता, तथा सम्यक्चारित्र का स्वरूप इत्यादि समस्त ही आपश्री के परम प्रताप से इस काल में सत्यरूप से प्रसिद्धि में आये हैं। आज देश-विदेश में लाखों जीव, मोक्षमार्ग को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं - यह आपश्री का ही प्रभाव है।

समग्र जीवन के दौरान इन गुणवन्ता ज्ञानी पुरुष ने बहुत ही अल्प लिखा है क्योंकि आपको तो तीर्थङ्कर की वाणी जैसा योग था, आपकी अमृतमय मङ्गलवाणी का प्रभाव ही ऐसा था कि सुननेवाला उसका रसपान करते हुए थकता ही नहीं। दिव्य भावश्रुतज्ञानधारी इस पुराण पुरुष ने स्वयं ही परमागम के यह सारभूत सिद्धान्त लिखाये हैं :—

1. एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता।
2. प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध ही होती है।
3. उत्पाद, उत्पाद से है; व्यय या ध्रुव से नहीं।
4. उत्पाद, अपने षट्कारक के परिणमन से होता है।
5. पर्याय के और ध्रुव के प्रदेश भिन्न हैं।
6. भावशक्ति के कारण पर्याय होती ही है, करनी नहीं पड़ती।
7. भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है।
8. चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है।
9. स्वद्रव्य में भी द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद करना, वह अन्यवशपना है।
10. ध्रुव का अवलम्बन है परन्तु वेदन नहीं; और पर्याय का वेदन है, अवलम्बन नहीं।

इन अध्यात्मयुगसृष्टा महापुरुष द्वारा प्रकाशित स्वानुभूति का पावन पथ जगत में सदा जयवन्त वर्तो!

तीर्थङ्कर श्री महावीर भगवान की दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले शासन स्तम्भ श्री कहानगुरुदेव त्रिकाल जयवन्त वर्तो!!

सत्पुरुषों का प्रभावना उदय जयवन्त वर्तो!!!

❖ ❖ ❖

अनुक्रमणिका

प्रवचन नम्बर	तारीख	गाथा/कलश नं.	पृष्ठ क्रं.
२६८	०१-०७-१९७९	कलश-१३३	००१
२६९	०७-०७-१९७९	गाथा-१९३, कलश-१३३	००४
२७०	१०-०७-१९७९	गाथा-१९३, १९४	०१८
२७१	११-०७-१९७९	गाथा-१९४, कलश-१३४	०३२
२७२	१२-०७-१९७९	गाथा-१९५-१९६	०४६
२७३	१३-०७-१९७९	गाथा-१९७, कलश-१३५	०६०
२७४	१४-०७-१९७९	गाथा-१९७-१९८, कलश-१३६	०७४
२७५	१५-०७-१९७९	गाथा-१९९	०९०
२७६	१७-०७-१९७९	गाथा-१९९-२००, कलश-१३७	१०३
२७७	१९-०७-१९७९	कलश-१३७	११९
२७८	१९-०७-१९७९	गाथा-२०१-२०२, कलश-१३७	१३३
२७९	२०-०७-१९७९	गाथा-२०१-२०२	१५०
२८०	१०-०८-१९७९	गाथा-२०३, कलश-१३८	१६५
२८१	११-०८-१९७९	गाथा-२०३, कलश-१३९-१४०	१८३
२८२	१२-०८-१९७९	गाथा-२०४, कलश-१४०	२००
२८३	१३-०८-१९७९	गाथा-२०४	२१७
२८४	१४-०८-१९७९	गाथा-२०४, कलश-१४१-१४२	२३३
२८५	१५-०८-१९७९	गाथा-२०५, कलश-१४२-१४३	२४९
२८६	१७-०८-१९७९	गाथा-२०६	२६६
२८७	१८-०८-१९७९	गाथा-२०७, कलश-१४४	२८१
२८८	१९-०८-१९७९	गाथा-२०७-२०८	२९७

२८९	२०-०८-१९७९	गाथा-२०९-२१०, कलश-१४५	३१४
२९०	२१-०८-१९७९	गाथा-२११	३३३
२९१	२३-०८-१९७९	गाथा-२११	३४८
२९२	२४-०८-१९७९	गाथा-२१२-२१३	३६१
२९३	२५-०८-१९७९	गाथा-२१४, श्लोक-१४६	३७७
२९४	२६-०८-१९७९	गाथा-२१५-२१६	३९३
२९५	२७-०८-१९७९	गाथा-२१६, २१७, कलश-१४६, १४७	४१०
२९६	२८-०८-१९७९	गाथा-२१८, २१९, कलश-१४८, १४९	४२८
२९७	२९-०८-१९७९	गाथा-२१८, २१९, कलश-१५०	४४५
२९८	३०-०८-१९७९	गाथा-२२०-२२३, कलश-१५१	४६२
२९९	०१-०९-१९७९	कलश-१५१-१५२	४८२
३००	०२-०९-१९७९	गाथा-२२४-२२७, कलश-१५३	४९८
३०१	०३-०९-१९७९	गाथा-२२८, कलश-१५३-१५४	५१८
३०२	०४-०९-१९७९	कलश-१५५-१५६	५३५
३०३	०५-०९-१९७९	कलश-१५६-१५८	५५१
३०४	०७-०९-१९७९	कलश-१५९	५६८
३०५	०८-०९-१९७९	कलश-१६०-१६१	५८३
३०६	०९-०९-१९७९	गाथा-२२९-२३०	६००
३०७	१०-०९-१९७९	गाथा-२३०-२३२	६१७
३०८	११-०९-१९७९	गाथा-२३२-२३४	६३३
३०९	१२-०९-१९७९	गाथा-२३५-२३६	६४९
३१०	१४-०९-१९७९	गाथा-२३६	६६६
३११	१५-०९-१९७९	गाथा-२३६, कलश-१६२	६८२
३१२	१६-०९-१९७९	कलश-१६२, १६३	६९९

ॐ

श्री परमात्मने नमः

श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत श्री समयसार परमागम पर

अध्यात्मयुगपुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचन

समयसार सिद्धि

(भाग - ७)

—६—

निर्जरा अधिकार

कलश–१३३

अथ प्रविशति निर्जरा।

(शार्दूलविक्रीडित)

रागाद्यास्रव–रोधतो निजधुरां धृत्वा परः सम्वरः,
कर्मागामि समस्तमेव भरतो दूरान्निरुन्धन् स्थितः।
प्राग्बद्धं तु तदेव दग्धु–मधुना व्याजृम्भते निर्जरा,
ज्ञानज्योति–रपावृतं न हि यतो रागादिभिर्मूर्छति।।१३३।।

(दोहा)

रागादिककूं मेटि करि, नवे बंध हति संत।
पूर्व उदय में सम रहे, नमूं निर्जरावंत।।

प्रथम टीकाकार आचार्यदेव कहते हैं कि ''अब निर्जरा प्रवेश करती है।'' यहाँ तत्त्वों का नृत्य है; अतः जैसे नृत्यमंच पर नृत्य करनेवाला स्वाँग धारण कर प्रवेश करता है; उसी प्रकार यहाँ रंगभूमि में निर्जरा का स्वाँग प्रवेश करता है।

अब, सर्व स्वाँग को यथार्थ जाननेवाले सम्यक्ज्ञान को मंगलरूप जानकर, आचार्यदेव मंगल के लिये प्रथम उसी—निर्मल ज्ञानज्योति को ही-प्रगट करते हैं:-

श्लोकार्थ : [परः संवरः] परम संवर, [रागादि-आस्रव-रोधतः] रागादि आस्रवों को रोकने से [निज-धुरां धृत्वा] अपनी कार्य-धुरा को धारण करके (-अपने कार्य को यथार्थतया सँभालकर) [समस्तम् आगामि कर्म] समस्त आगामी कर्म को [भरतः दूरात् एव] अत्यन्ततया दूर से ही [निरुन्धन् स्थितः] रोकता हुआ खड़ा है; [तु] और [प्राग्बद्धं] पूर्वबद्ध (संवर होने के पहले बँधे हुवे) [तत् एव दग्धुम्] कर्म को जलाने के लिये [अधुना] अब [निर्जरा व्याजृम्भते] निर्जरा (-निर्जरारूपी अग्नि) फैल रही है [यतः] जिससे [ज्ञानज्योतिः] ज्ञानज्योति [अपावृत्तं] निरावरण होती हुई (पुनः) [रागादिभिः न हि मूर्छति] रागादिभावों के द्वारा मूर्च्छित नहीं होती-सदा अमूर्च्छित रहती है।

भावार्थ : संवर होने के बाद नवीन कर्म तो नहीं बँधते। और जो कर्म पहले बँधे हुए थे, उनकी जब निर्जरा होती है, तब ज्ञान का आवरण दूर होने से वह (ज्ञान) ऐसा हो जाता है कि पुनः रागादिरूप परिणमित नहीं होता-सदा प्रकाशरूप ही रहता है।।१३३।।

प्रवचन नं. २६८, श्लोक-१३३ रविवार, आषाढ़ शुक्ल ७
दिनाङ्क ०१-०७-१९७९

अब, निर्जरा (अधिकार)। संवर के पश्चात् निर्जरा। यह लोग तो ऐसा करे, यह अपवास किया और यह 'बलुभाई' ने वर्षीतप किया था न? तप किया, इसलिए निर्जरा हो जाएगी, ऐसा। निर्जरा के लिये।

मुमुक्षु : पहले साहेब आप कहते थे न कि धर्म हो तो करना।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह अर्थात् निर्जरा, इसलिए अपवास किया है - ऐसा कहते हैं। आहाहा!

संवर अर्थात् शुद्धि की उत्पत्ति। आस्रव अर्थात् अशुद्धि का भाव। संवर अर्थात् निर्मल शुद्धि की उत्पत्ति और निर्जरा अर्थात् शुद्धि की उत्पत्ति की वृद्धि। समझ में आया? आहाहा!

निर्जरा अर्थात् क्या ? निर्जरा के तीन प्रकार हैं—एक तो आत्मा की शुद्धि हुई हो—संवर; उसकी शुद्ध में वृद्धि हो—शुद्धि की वृद्धि हो, वह निर्जरा; एक, अशुद्धता टले, उसे भी निर्जरा कहते हैं और एक कर्म गले, उसे भी निर्जरा कहा जाता है, परन्तु वास्तविक निर्जरा तो शुद्धि की वृद्धि (होवे), वह है। संवरपूर्वक निर्जरा - ऐसी यहाँ व्याख्या है। संवरपूर्वक निर्जरा। संवर न हो, वहाँ निर्जरा होती नहीं। अभी संवर ही प्रगट नहीं हुआ, भेदज्ञान ही नहीं, वहाँ निर्जरा-फिर्जरा कैसी ? आहा! यह रस छोड़ा है और अमुक खाने का छोड़ दिया, यह तीन अपवास किये हैं और बारह महीने का वर्षीतप किया, इससे निर्जरा हो गयी, सब ढ़ोंग है। आहाहा!

यहाँ तो पहले संवर हो, उसकी-शुद्धि की वृद्धि हो, उसे निर्जरा कहते हैं। आहाहा! निर्जरा - 'नि' (अर्थात्) विशेष झरना। कर्म का झरना, अशुद्धता का झरना और शुद्धता का बढ़ना - इन तीनों को निर्जरा कहते हैं। आहाहा!

रागादिककूं मेटि करि, नवे बंध हति संत।
पूर्व उदय में सम रहे, नमूं निर्जरावंत।।

राग-द्वेष के परिणाम को रोकने से, रोध अर्थात् रोकने से, अटकाने से **'नवे बंध हति संत।'** नये बन्ध को हनन कर डालने से। एक तो पहले रागादि के रोध से अर्थात् नया कर्म आता नहीं और पुराना कर्म जो **'नवे बंध हति संत।'** जो बन्ध था, उसे घात डालता है। **'पूर्व उदय में सम रहे,..'** उसे पूर्व का जरा उदय आवे, उसमें समता रखे। आहाहा! **'नमूं निर्जरावंत।'** उस निर्जरावंत को नमस्कार करता हूँ, कहते हैं। आहाहा! जिसने **'नवे बंध हति संत।'** नया बन्ध घात डाला, नया बन्ध होता नहीं, ऐसा। **'रागादिककूं मेटि करि,..'** नया बन्ध होता नहीं और पूर्व के उदय में आवे, (उसमें) सम रहता है, ऐसा।

प्रथम टीकाकार आचार्यदेव कहते हैं कि 'अब निर्जरा प्रवेश करती है।' जैसे नाटक में वेष प्रवेश करते हैं न ? उसमें यह स्वाँग लिया है। यहाँ नाटक की अपेक्षा ली है। संवर का वेष पूरा हुआ, अब निर्जरा का वेष आता है। **'अब निर्जरा प्रवेश करती है।' यहाँ तत्त्वों का नृत्य है;...** आहाहा! तत्त्व नाचते हैं। आहाहा! आत्मा ज्ञानानन्द तत्त्व है, वह नाचता है अर्थात् परिणमता है। आहाहा! **तत्त्वों का नृत्य है; अतः जैसे नृत्यमंच**

पर नृत्य करनेवाला स्वाँग धारण कर प्रवेश करता है... निर्जरारूप स्वाँग धारण (करके) आया। **उसी प्रकार यहाँ रंगभूमि में निर्जरा का स्वाँग प्रवेश करता है।** आहाहा! अखाड़े की तरह रंगभूमि स्थापित की है न? नाटक, नाटक, समयसार नाटक किया।

अब, सर्व स्वाँग को यथार्थ जाननेवाले... सब स्वाँग को यथार्थ जाननेवाला। आहाहा! मोक्ष भी स्वाँग है, निर्जरा भी स्वाँग है, संवर भी स्वाँग है-वेष है। आहाहा! उसे **जाननेवाले सम्यक्ज्ञान को मंगलरूप जानकर...** मंगलरूप वह है। सम्यग्ज्ञानरूपी मंगल पहले प्रवेश करता (है)। आहाहा! (मंगलरूप) **जानकर आचार्यदेव मंगल के लिये प्रथम उसी-निर्मल ज्ञानज्योति को ही-प्रगट करते हैं:-** जो निर्जरा को भी जाननेवाला ज्ञान है, संवर को जाननेवाला है। जाननेवाला... जाननेवाला... जाननेवाला ऐसा जो भगवान आत्मा, वह प्रगट होता है। उसमें प्रथम ज्ञानज्योति को प्रगट करते हैं।

विशेष कहेंगे..... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २६९, श्लोक-१३३, गाथा-१९३ रविवार, आषाढ़ शुक्ल १४
दिनाङ्क ०८-०७-१९७९

रागाद्यास्रव-रोधतो निजधुरां धृत्वा परः सम्वरः,
कर्मागामि समस्तमेव भरतो दूरान्निरुन्धन् स्थितः।
प्राग्बद्धं तु तदेव दग्धु-मधुना व्याजृम्भते निर्जरा,
ज्ञानज्योति-रपावृतं न हि यतो रागादिभिर्मूर्छति ।।१३३।।

अब, सर्व स्वाँग को यथार्थ जाननेवाले सम्यक्ज्ञान को मंगलरूप जानकर आचार्यदेव मंगल के लिये प्रथम उसी-निर्मल ज्ञानज्योति को ही-प्रगट करते हैं:- सम्यग्ज्ञान, मांगलिक करते हैं। **परम संवर,...** शब्द यहाँ आया है। इसमें देखो तो क्या कि, वह एकदम केवल लेना है न, पूर्ण की बात है। **परम संवर,...** उत्कृष्ट संवर है। नीचे चौथे गुणस्थान में सम्यग्दर्शन और स्वरूप की स्थिरता का अंश है, उतना संवर है। पाँचवें में संवर विशेष है, छठवें में विशेष है परन्तु यहाँ तो पहला [**परः संवरः**] **परम**

संवर,... शब्द पड़ा है। मांगलिक करते हुए (कहते हैं), परम संवर (अर्थात्) उत्कृष्ट संवर। एकदम सब कर्म आते हुए रुक जायें, ऐसा संवर। समझ में आया इसमें?

आत्मा पूर्ण आनन्ददल है, अनन्त-अनन्त अन्वय शक्तियों का पिण्ड है, उसका भान तो हुआ, परन्तु उसमें स्थिरता विशेष हुई, ऐसा कहते हैं। भान हुआ, वहाँ से उतना तो संवर हुआ, परन्तु वह **'परः संवरः'** उत्कृष्ट संवर नहीं है। मांगलिक में उत्कृष्ट संवर कहना चाहते हैं। समझ में आया? यह शब्द अर्थ में पड़ा है। यहाँ अर्थ किया है—**परम संवर...** आहाहा! आनन्दस्वरूप भगवान अनन्त-अनन्त शक्तियाँ, जो अन्वयशक्तियाँ हैं, जैसे द्रव्य अन्वय है, वैसे अनन्त-अनन्त शक्तियाँ, उनका पिण्ड जो प्रभु, उसे जिसने उत्कृष्टरूप से पकड़ा है और स्थिर हुआ है, उसे यहाँ परम संवर कहते हैं। आहाहा!

बाकी तो परम संवर के सामने लें तो परम आस्रव। अनन्त-अनन्त काल में परम उत्कृष्ट आस्रव मिथ्यात्व आदि का अनन्त संसार का आस्रव हुआ है। आहाहा! नरक और निगोद के भव याद करते हुए, उनका आस्रव और उनका दुःख सुना न जाए, ऐसे इसने दुःख सहन किये हैं। आहाहा! यहाँ जरा सी प्रतिकूलता आवे, वहाँ मानो मैं ऐसा उपाय करूँ और ऐसा उपाय करूँ, ऐसा उपाय करूँ। बाहर की थोड़ी प्रतिकूलता आने पर (ऐसा होता है)। वह अनन्त प्रतिकूलता! आहाहा! जहाँ भगवान आत्मा अकेला आनन्द और शान्त सागर (विराजता है), उससे विमुख और आस्रव से सन्मुख; मिथ्यात्व, अज्ञान, अव्रतादि जो आस्रव के परिणाम, उनमें सन्मुख बहुत दुःखी है। आहाहा! यहाँ एक जरा सी हवा सरीखी न आवे, दरवाजा बन्द हो और पर्दा वह हो, वहाँ आकुल-व्याकुल हो जाता है। आहाहा! अरे! हवा (आती) नहीं अच्छी। स्वभाव से विरुद्ध भाव, वह संयोगी भाव, वह दुःख है। वह दुःख इसने अनन्त सहन किये हैं, भाई! आहाहा! उन दुःखों को छोड़ने का परम उपाय संवर है।

शुद्धस्वरूप भगवान आत्मा, परम अनाकुल आनन्द का पूर, ज्ञान का नूर और आनन्द का पूर, ऐसा प्रभु आत्मा... आहा! जिसमें आस्रव से विमुख होकर स्व-स्वभाव में सन्मुख होकर परम संवर जिसने प्रगट किया है... आहाहा! वह सुख के पन्थ में पड़ा है। बाकी मिथ्यात्व और अव्रत और कषाय के पन्थ में (पड़े हैं), वे दुःख के पन्थ में हैं। बाहर

में भले अनुकूलता दिखायी दे और पागल लोग कहें कि यह सुखी है (परन्तु) वह सुखी नहीं। सुख तो आत्मा में है, बाकी कहीं नहीं। आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ, पूर्ण आनन्द से भरपूर, वह आनन्द उसे बाह्य संयोगों में तो नहीं परन्तु शुभ और अशुभभाव में भी आनन्द नहीं है। आहाहा! यहाँ तो आस्रव में आनन्द नहीं और संवर में आनन्द है, वह 'परम संवर' पहला शब्द आया न? (वह) महामांगलिक है। आहाहा!

यह अज्ञानरूप से जो मिथ्याश्रद्धा (का सेवन कर)... एकदम वस्तु भगवान पूर्ण स्वरूप, चैतन्य बादशाह, उससे विमुख होकर और राग के भाव के सन्मुख होकर मिथ्यात्व आदि आस्रव को सेवन किया, वे दुःख सहे नहीं गये। सहे हैं परन्तु सहे गये नहीं अर्थात् ऐसी चीज़ थी। आहाहा! वह सातवें नरक के नारकी के दुःख, एक श्वास में उसकी अनन्तगुणी पीड़ा इतनी कि एक श्वास की पीड़ा... आहाहा! करोड़ों भव और करोड़ों जीभ से न कही जा सके। ऐसे दुःख इसने सहन किये हैं। वह स्वरूप की विपरीत मान्यता और विपरीत आचरण (के कारण से सहन किये हैं)।

यह यहाँ कहते हैं कि अब स्वरूप का अविपरीत आचरण... आहाहा! परम संवर (प्रगट हुआ)। भगवान पूर्णानन्दस्वरूप प्रभु को पकड़कर आनन्द के वेदन में आने पर... परन्तु यहाँ तो उत्कृष्ट संवर लेना है कि जो परम संवर है। यहाँ से मांगलिक शुरु किया है। परम संवर! आहाहा! **'रागादि-आस्रव-रोधतः' रागादि आस्रवों को रोकने से...** है न? उसमें सब रोकने से, ऐसा (लिया है)। अमुक रोका, ऐसा कुछ नहीं। आहाहा! राग, द्वेष, विषयवासना इत्यादि आस्रव है, उन्हें रोकने से... आहाहा! आनन्द की वासना-गन्ध आयी, वासना आयी। आहाहा! आनन्द में वास रहने से आनन्द की वासना लेने से, रागादि आस्रव रोकने से। उसे रागादि आस्रव रुकते हैं। यह बाहर से ले कि हमारे आस्रव सेवन नहीं करना और प्रत्याख्यान है, उससे कहीं आस्रव नहीं रुकते। आहाहा! अन्दर पूर्णानन्द के नाथ में छिद्र पड़े हैं। 'यह मैं नहीं और राग, पुण्य और पाप मेरे', आहाहा! (इसमें) परम दुःख, परम आस्रव है। उसे परम संवर! उन रागादि को परम संवर द्वारा रोककर। यह अमुक क्रिया करने से रागादि आस्रव रोकना, ऐसा नहीं आया। आहाहा! परम संवर से रागादि आस्रव को रोकने से। आहाहा!

'निज-धुरां धृत्वा' अपना स्थान, अपनी मर्यादा को धारण किया है। अर्थात् कि नये आस्रव नहीं आते, ऐसी उसने—संवर ने अपनी कार्य धुरा हाथ में ली है। अपना यह कार्य सम्हाला है कि नया कर्म आवे नहीं, ऐसा संवर ने कार्य सम्हाला है। आहाहा! पंचम काल के साधु, पंचम काल के श्रोता को यह बात करते हैं। **परम संवर, रागादि आस्रवों को रोकने से... 'निज-धुरां'** (अर्थात्) अपना कार्य। संवर का कार्य, संवर का जो हौदा है, संवर का हौदा, वह कार्य है इन रागादि रोकने का। आहाहा! वह संवर का हौदा है, मर्यादा है। आहाहा!

(-अपने कार्य को यथार्थतया सँभालकर) समस्त आगामी कर्म को... है न? समस्त आगामी कर्म लिया है। इसलिए 'परम' शब्द लिया है। आहाहा! यहाँ तो एकदम आचार्य ने संवर होकर, एकदम निर्जरा होकर केवलज्ञान हो, ऐसा मांगलिक किया है। आहाहा! **समस्त आगामी कर्म को... 'भरतः दूरात् एव' अत्यन्ततया दूर से ही...** आहाहा! **'भरतः'** अपनी महिमा से। संवर की महिमा ऐसी है। आहाहा! आहाहा! कि जिसमें आस्रव रुक जाता है, ऐसी उसकी महिमा है। बड़ा व्यक्ति हो, उसके पास साधारण व्यक्ति आ नहीं सकता। बात करने आ नहीं सकता। उसी प्रकार यह संवर ऐसी दशा है, महिमा इतनी है कि जिसमें आस्रव आ नहीं सकता। आहाहा!

अत्यन्ततया दूर से ही... 'निरुन्धन् स्थितः' संवर आगामी समस्त कर्म को **रोकता हुआ खड़ा है;...** ऐसा कहा न? आहाहा! संवर समस्त आगामी कर्म को रोकता हुआ खड़ा है। आहाहा! देखो, आचार्य का मांगलिक! निर्जरा (अधिकार शुरु) करते हुए पहले मांगलिक करते हैं। आहाहा! **अत्यन्ततया दूर से ही रोकता हुआ खड़ा है;...** दूर से अर्थात्? कि आते हैं और फिर रोका है, ऐसा नहीं। आहाहा! उस स्वरूप में इतनी दृष्टि (देकर) स्थिर हुआ है कि जो आस्रव नाममात्र भी नहीं आता। आहाहा! ऐसा ही प्रभु का स्वरूप है। आहाहा! सच्चिदानन्द प्रभु शाश्वत् चिदानन्दधाम ऐसा आत्मा, उसका स्वरूप ही ऐसा है कि जिस स्वरूप की दृष्टि और सम्हाल होने पर, आगामी आस्रव... आहाहा! रोकता हुआ, दूर से रोकता हुआ (खड़ा है)। ऐसा। ऐसा है न? **'दूरात् एव' 'दूरात्'** का अर्थ—'अत्यन्त रूप से' किया है। अत्यन्त से अर्थात् अपनी महिमा से आस्रव को रोकता

हुआ, अटकाता हुआ। **'निरुन्धन् स्थितः' रोकता हुआ खड़ा है;...** और अब, जो पूर्व में संवर होने से पहले बँधा हुआ कर्म; अब निर्जरा की व्याख्या करते हैं।

'प्राग्बद्धं' 'प्राग्बद्धं' 'प्राग' अर्थात् पूर्व में। आहाहा! **'बद्धं'** अर्थात् बँधा हुआ कर्म है। **'तत् एव दग्धुम्' कर्म को जलाने के लिये...** उसे जलाने के लिये अब। आहाहा! इसका अर्थ यह कि कर्मरूपी पर्याय है, उसे अकर्मरूपी पर्याय होने का उसका (काल है)। उसे जलाने को, ऐसा कहने में आता है। जलावे-जलावे क्या, कहीं कोई वस्तु जलती है? आहाहा! जो परमाणु की कर्मरूप पर्याय है, वह अकर्मरूप होती है, ऐसा उसका उस समय में स्वभाव है, उसे यहाँ 'जलाने को' ऐसा अर्थ किया है। आहाहा! कर्म का नाश करके। नाश करके, उसका अर्थ यह। स्वयं स्वरूप में स्थिर और आनन्द में मग्न है, इसलिए उसे नया कर्म (नहीं बँधता)। आहाहा! **पूर्वबद्ध (संवर होने के पहले)...** बन्ध था, **उसे (कर्म को) जलाने के लिये...** कर्म को जलाना होगा? और कर्म जलते होंगे? कोई द्रव्य जलता है? किसी द्रव्य की पर्याय जलती है? वह कर्मरूप जो पर्याय थी, उसे आत्मा के आनन्द के स्वभाव की उग्रता से वह पर्याय अकर्मरूप हुई, उसे जलाया, ऐसा कहने में आता है। आहाहा!

मुमुक्षु : यह सब स्पष्टीकरण आपने किया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! यह वस्तु है। दिगम्बर सन्तों की वाणी बहुत गम्भीर, बहुत गम्भीर! भाषा सादी आयी है परन्तु... आहाहा! अमृतचन्द्राचार्य ने अकेला अमृत प्रवाहित किया है! प्रभु! तू अमृत का सागर है न! तेरी अन्वयशक्तियाँ जीवित, जीवित ज्योति है। आहाहा! उसमें कोई शक्ति मरे, मुरझावे, घटे—ऐसा है नहीं। आहाहा! अनन्त-अनन्त शक्तियाँ अन्दर (भरी हैं)।

कल दोपहर को आया था न? अनन्त-अनन्त अन्वय शक्तियाँ। द्रव्य जो है, उसका द्रव्यत्वपना अर्थात् अनन्त-अनन्त शक्तियों का सत्त्वपना, सत् है, वस्तु सत् है, उसका अनन्त गुणपना जो सत्त्वपना है, आहाहा! उसके जोर से कर्म को जलाना। आहाहा! अब **निर्जरा (-निर्जरारूपी अग्नि) फैल रही है...** पूर्व का बँधा हुआ कर्म है, वह छूट जाता है—ऐसा कहते हैं। उपदेश तो ऐसे दिया जाए न! दूसरा क्या? वास्तव में तो वह आत्मा जहाँ

स्वरूप में स्थिर होता है, तब उस परमाणु की अकर्मरूप पर्याय होने का वह समय है। आहाहा! उसे यहाँ जलाता है, ऐसा कहने में आता है। आहाहा!

निर्जरा फैलती है, वह फैलती है, कहते हैं। अब शुद्धता बढ़ती है। संवर में शुद्धता थी, निर्जरा में शुद्धता बढ़ती है। निर्जरा की व्याख्या ही यह है—शुद्धि की वृद्धि। जो शुद्धस्वरूप पूर्णानन्द प्रभु है, उसकी दृष्टि होने पर अकेली शुद्धि तो उत्पन्न हुई परन्तु अब निर्जरा में शुद्धि की वृद्धि होती है और शुद्धि की पूर्णता हो, उसका नाम मोक्ष। शुद्धि की उत्पत्ति, पुण्य-पाप के भावरहित, शुद्धि की उत्पत्ति, वह संवर; शुद्धि की वृद्धि, वह निर्जरा; शुद्धि की पूर्णता, वह मोक्ष। आहाहा!

निर्जरा (-निर्जरारूपी अग्नि) फैल रही है... आहाहा! ऐसा लिखा न? आहा! **'निर्जरा व्याजृम्भते' 'दग्धुम्'** वहाँ ऐसा है न? **जिससे ज्ञानज्योति...** भगवान चैतन्य ज्योति, चैतन्य प्रकाश जिसका पूर्ण प्रकाशस्वभाव शक्ति है, ऐसी जो ज्ञानज्योति **निरावरण होती हुई...** संवरपूर्वक जहाँ निर्जरा हुई अर्थात् ज्ञानज्योति निरावरण हुई। निरावरण के दो अर्थ—जो अशुद्धता थी, उससे आवरणरहित हुई और कर्म निमित्त था, उससे आवरणरहित हुई। शुद्धि की वृद्धि तो हुई; अशुद्धता टल गयी और कर्म टल गया। आहाहा! वह निरावरण हुई। आहाहा!

जिससे ज्ञानज्योति... फैल रही है 'रागादिभिः न हि मूर्छति' यहाँ तो यह सिद्धान्त (कहना है)। जो रागादि से रुकी हुई थी, वह शुद्ध संवर द्वारा राग को आना रोका परन्तु पूर्व में बँधा हुआ था, उसे ज्ञानज्योति ने निरावरण कर डाला, आवरण का नाश कर डाला। वह रागादिभावों द्वारा मूर्च्छित नहीं हुई। अब राग में नहीं रुकती। आहाहा! पहले जो स्वरूप जो शुद्ध आनन्दस्वरूप, वह राग में रुकता था, वह राग में रुकता नहीं, अकेला वीतरागभाव में रुक गया है। आहाहा! पूर्ण संवर हो गया। इस प्रकार मांगलिक किया है।

रागादिभावों के द्वारा मूर्च्छित नहीं होती-सदा अमूर्च्छित रहती है। यह क्या कहा? सदा, जब से निरावरण हुई, वह अनन्त काल अमूर्च्छित रहती है। आहाहा! भगवान चैतन्य ज्योति तो निरावरण पड़ी ही है। वस्तु तो त्रिकाल सदा, त्रिकाल निरावरण वस्तु है। पर्याय में जो अशुद्धता का आवरण था, कर्म का तो निमित्त था... आहाहा! वह सदा त्रिकाल

निरावरण वस्तु, वह पर्याय में निरावरण हो गयी। आहाहा! त्रिकाली भगवान आत्मा वह सकल निरावरण है। उसे कभी द्रव्य को आवरण है नहीं। पर्याय में जो अशुद्धता का आवरण था और कर्म का-निमित्त का (आवरण था), वह तो निमित्त है, उसके साथ वास्तव में कुछ (सम्बन्ध नहीं है), वह तो उसके कारण बँधता है, उसके कारण उस काल में छूटता है। आहाहा! **रागादिभावों के द्वारा मूर्च्छित नहीं होती-सदा अमूर्च्छित रहती है।** लो!

भावार्थ : संवर होने के बाद नवीन कर्म तो नहीं बँधते। जितने अंश में अन्दर में शुद्धत्मा में आ गया, उतने अंश में तो उसमें आवरण आता नहीं। **जो कर्म पहले बँधे हुए थे, उनकी जब निर्जरा होती है...** पश्चात् तो पूर्व का जो था, वह तो खिर जाता है। आत्मा के ऊपर, ध्यान के ऊपर है, इसलिए संवर है और उदय आता है, वह खिर जाता है। **तब ज्ञान का आवरण दूर होने से...** स्वरूप में आवरण अशुद्धता का था और (कर्म का) आवरण निमित्त था, (वह) **दूर होने से वह (ज्ञान) ऐसा हो जाता है कि पुनः रागादिरूप परिणमित नहीं होता...** आहाहा! एक बार भी रागादिरहित दशा हुई, वह फिर से रागरूप नहीं होता। ऐसा **सदा प्रकाशरूप ही रहता है।** अकेला चैतन्य प्रकाश जलहल ज्योति शक्ति का जो सामर्थ्य, वह पर्याय में सब सामर्थ्य प्रगट हो गया, ऐसा कहते हैं। **सदा प्रकाशरूप ही रहता है।** पर्याय में सदा प्रकाशरूप रहता है। त्रिकाल तो सदा प्रकाशरूप था ही। वस्तु है, वह तो त्रिकाल प्रकाशरूप है ही, परन्तु पर्याय में जो जरा अशुद्धता और आवरण कर्म का निमित्त था, वह दूर होकर सदा प्रकाशरूप रहता है। अब पर्याय सदा प्रकाशरूप रहती है। वह वस्तु तो सदा प्रकाशरूप थी ही। आहाहा! परन्तु उसका आश्रय और अवलम्बन और सन्मुख होने पर सदा के लिये प्रकाशरूप ही रहती है। ऐसा मांगलिक किया, लो! आहाहा!

गाथा - १९३

उवभोग-मिंदियेहिं दव्वाण-मचेदणाण-मिदराणं।
जं कुणदि सम्मदिट्ठी तं सव्वं णिज्जर-णिमित्तं।।१९३।।

उपभोग-मिन्द्रियैः द्रव्याणा-मचेतनाना-मितरेषाम्।
यत्करोति सम्यग्दृष्टिः तत्सर्वं निर्जरा-निमित्तम्।।१९३।।

विरागस्योपभोगो निर्जरायै एव। रागादिभावानां सद्भावेन मिथ्यादृष्टेरचेतनान्य-द्रव्योपभोगो बन्धनिमित्तमेव स्यात्। स एव रागादिभावानामभावेन सम्यग्दृष्टेर्निर्जरानिमित्तमेव स्यात्।

एतेन द्रव्यनिर्जरास्वरूपमावेदितम्।।१९३।।

अब द्रव्यनिर्जरा का स्वरूप कहते हैं:-

चेतन अचेतन द्रव्य का, उपभोग इन्द्रियसमूह से।
जो जो करे सद्दृष्टि वह सब, निर्जराकारण बने।।१९३।।

गाथार्थ : [सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि जीव [यत्] जो [इन्द्रियैः] इन्द्रियों के द्वारा [अचेतनानाम्] अचेतन तथा [इतरेषाम्] चेतन [द्रव्याणाम्] द्रव्यों का [उपभोगम्] उपभोग [करोति] करता है, [तत् सर्वं] वह सर्व [निर्जरानिमित्तम्] निर्जरा का निमित्त है।

टीका : विरागी का उपभोग निर्जरा के लिये ही है, (वह निर्जरा का कारण होता है)। रागादि भावों के सद्भाव से मिथ्यादृष्टि के अचेतन तथा चेतन द्रव्यों का उपभोग बंध का निमित्त होता है; वही (उपभोग), रागादिभावों के अभाव से सम्यग्दृष्टि के लिए निर्जरा का निमित्त होता है। इस प्रकार द्रव्यनिर्जरा का स्वरूप कहा।

भावार्थ : सम्यग्दृष्टि को ज्ञानी कहा है और ज्ञानी के राग-द्वेष-मोह का अभाव कहा है; इसलिए सम्यग्दृष्टि विरागी है। यद्यपि उसके इन्द्रियों के द्वारा भोग दिखायी देता हो, तथापि उसे भोग की सामग्री के प्रति राग नहीं है। वह जानता है कि 'यह (भोगों की सामग्री) परद्रव्य है, मेरा और इसका कोई सम्बन्ध नहीं है; कर्मोदय के निमित्त से इसका और मेरा संयोग-वियोग है।' जब तक उसे चारित्रमोह का उदय आकर पीड़ा करता है और स्वयं बलहीन होने से पीड़ा को सहन नहीं कर सकता, तब तक-जैसे रोगी

रोग की पीड़ा को सहन नहीं कर सकता, तब उसका औषधि इत्यादि के द्वारा उपचार करता है; इसी प्रकार-भोगोपभोग सामग्री के द्वारा विषयरूप उपचार करता हुआ दिखाई देता है; किन्तु जैसे रोगी रोग को या औषधि को अच्छा नहीं मानता; उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि चारित्रमोह के उदय को या भोगोपभोग सामग्री को अच्छा नहीं मानता। और निश्चय से तो, ज्ञातृत्व के कारण सम्यग्दृष्टि विरागी उदयागत कर्मों को मात्र जान ही लेता है, उनके प्रति उसे राग-द्वेष-मोह नहीं है। इस प्रकार राग-द्वेष-मोह के बिना ही उनके फल को भोगता हुआ दिखाई देता है, तो भी उसके कर्म का आस्रव नहीं होता, कर्मास्रव के बिना आगामी बन्ध नहीं होता और उदयागतकर्म तो अपना रस देकर खिर ही जाते हैं क्योंकि उदय में आने के बाद कर्म की सत्ता रह ही नहीं सकती। इस प्रकार उसके नवीन बन्ध नहीं होता और उदयागत कर्म की निर्जरा हो जाने से उसके केवल निर्जरा ही हुई। इसलिए सम्यग्दृष्टि विरागी के भोगोपभोग को निर्जरा का ही निमित्त कहा गया है। पूर्व कर्म उदय में आकर उसका द्रव्य खिर गया, सो वह द्रव्यनिर्जरा है।

गाथा - १९३ पर प्रवचन

अब द्रव्यनिर्जरा का स्वरूप कहते हैं:- अब गाथा।

उवभोग-मिंदियेहिं दव्वाण-मचेदणाण-मिदराणं।
जं कुणदि सम्मदिट्ठी तं सव्वं णिज्जर-णिमित्तं।।१९३।।

चेतन अचेतन द्रव्य का, उपभोग इन्द्रियसमूह से।
जो जो करे सद्दृष्टि वह सब, निर्जराकारण बने।।१९३।।

टीका : विरागी का उपभोग.. जहाँ राग का रस रहा नहीं, जहाँ विकल्प में सुखबुद्धि उड़ गयी है और जहाँ सच्चा सुख है, वहाँ सुखबुद्धि हुई है। आहाहा! जिसमें आनन्द है, वहाँ आनन्दबुद्धि हुई है और विकल्पमात्र से लेकर पर में से सुखबुद्धि उड़ गयी है। सम्यक्त्वी को शरीर में, इन्द्रियों में, विषयों में, भोग में, स्त्री में, कुटुम्ब में, इज्जत में कहीं रस नहीं है। आहाहा! कहीं उसे अन्दर का रस-प्रेम नहीं है। आसक्ति / अस्थिरता है, वह अलग वस्तु है।

विरागी का उपभोग.. आहाहा! **निर्जरा के लिये ही है..** यह द्रव्यनिर्जरा। कर्म,

कर्म, कर्म। **(वह निर्जरा का कारण होता है)**। विरागी का उपभोग निर्जरा अर्थात् कर्म के खिरने का कारण होता है। वैरागी उसे कहते हैं कि जिसे सम्यग्दर्शनसहित पुण्य-पाप से विरक्त बुद्धि हुई है, उसे विरागी कहते हैं। वैरागी अर्थात् बाहर से छूटकर दुकान छोड़ी, धन्धा छोड़ा, इसलिए वैरागी - ऐसा नहीं है। आहाहा! जिसे भगवान आत्मा, पूर्णानन्द के भान में प्रतीति के अनुभवसहित पुण्य और पाप के भाव से वैराग्य-विरक्त है, ऐसा वैरागी, उसे वैरागी कहा जाता है। आहाहा! उस **विरागी का उपभोग निर्जरा के लिये ही है...**

रागादि भावों के सद्भाव से मिथ्यादृष्टि के अचेतन तथा चेतन द्रव्यों का उपभोग बन्ध का निमित्त होता है;.. आहाहा! रागादि के सद्भाव से (अर्थात्) मिथ्यादृष्टि -राग में प्रेम माननेवाला, राग में सुख माननेवाला, राग में उत्साहित वीर्य होने से, उल्लसित वीर्य राग में होनेवाले मिथ्यादृष्टि को... आहाहा! **अचेतन तथा चेतन द्रव्यों का उपभोग..** चाहे तो अचेतन को भोगे या चेतन को (भोगे, वह) **बन्ध का निमित्त होता है;..** आहाहा!

वही (उपभोग),.. यहाँ जो सचेत-अचेत दोनों लिया। इसलिए कोई ऐसा कहे कि यह बात मुनि के लिये है (तो) यहाँ सचेत को भोगता है, उसकी बात ली है। समझ में आया? अचेत को तो ठीक परन्तु सचेत को भोगता है। आहाहा! परन्तु वैराग्य के कारण रस उड़ गया है। कहीं रस-प्रेम है नहीं। सचेत स्त्री, सचेत पुत्र, पुत्रियाँ, यह सचेत का उपभोग उसे होता है, कहते हैं। सचेत और अचेत का (उपभोग) कहा न? मिथ्यादृष्टि को अचेतन और चेतन द्रव्यों का उपभोग बन्ध का निमित्त ही होता है और **वही (उपभोग),..** वही उपभोग, कहा न? वह सचेत और अचेत। आहाहा!

रागादिभावों के अभाव से.. आहाहा! यहाँ तो सम्यग्दृष्टि की महिमा का वर्णन है, बाकी जो उपभोग है अर्थात् राग है, वह बन्ध का कारण है। उस बात को यहाँ गौण करके, शुद्धस्वभाव महाप्रभु जहाँ दृष्टि में आया, भगवान की भेंट हुई.... आहाहा! उसे अब चेतन और अचेतन का उपभोग कर्म की निर्जरा का कारण है। ऐसा कहने से कोई स्वच्छन्दी होकर ऐसा कहे कि हम चाहे जिस प्रकार भोगें, ऐसा नहीं है। परन्तु कोई ऐसा होता है, सचेत-अचेत का योग होता है। आहाहा!

वही (उपभोग),.. कहा न? वही अर्थात्? चेतन और अचेतन कहा वह। ऊपर कहा न? **मिथ्यादृष्टि के अचेतन तथा चेतन द्रव्यों का उपभोग..** एक ओर ऐसा कहे

कि आत्मा परद्रव्य को भोग ही नहीं सकता। हें ? आहाहा! सचेत, अचेत को स्पर्श ही नहीं कर सकता। आहाहा! कोई भी आत्मा सचेत स्त्री का आत्मा या उसका शरीर या पैसा, लक्ष्मी या इज्जत को आत्मा स्पर्श ही नहीं कर सकता। स्पर्श किये बिना उसे उपभोग किस प्रकार है ? आहाहा! परन्तु उसकी ओर के लक्ष्य से जो रागादि हुए, उन्हें भोगता है, वह सचेत और अचेत को भोगता है - ऐसा आरोप से कथन है। आहाहा! ऐसी शैली है।

वही (उपभोग),.. कोई ऐसा कहे कि इसमें यह गाथा तो मुनि के लिये हैं। मुनि के लिये भी है अन्दर। उसे सचेत शिष्य आदि उसका अर्थ है, परन्तु यहाँ तो चौथे गुणस्थान से सचेत-अचेत की बात ली है। उसके प्रमाण में, हों! आहाहा! बाकी सचेत-अचेत की व्याख्या बहुत की थी। मुनि के लिए सचेत शिष्य; मिश्र, वह उपकरण होते हैं न ? वह अचेतन उपकरण है, मोरपिच्छी इत्यादि अचेत; वह सचेतन; अचेत को वहाँ तक ले गये और आगे जाने पर सचेत अर्थात् राग। वहाँ तक ले गये हैं। ज्ञानी को राग का भी उपभोग नहीं है। आहाहा!

वही (उपभोग),.. अर्थात् वही सचेत और अचेत वस्तु का। द्रव्यों का है न ? **चेतन द्रव्यों का उपभोग..** ऐसा शब्द है। द्रव्य की पर्याय में राग हो, उसका उपभोग, ऐसी भाषा नहीं की है। कहने का आशय तो यह है। आहाहा! एक ओर कहते हैं कि आत्मा पर्याय को भी स्पर्श नहीं करता। पर्याय, राग को स्पर्श नहीं करती; राग, कर्म के उदय को स्पर्श नहीं करता; राग, परद्रव्य को स्पर्श नहीं करता। आहाहा! क्या अपेक्षा है इसमें ? यह तो प्रभु का अनेकान्तवाद है न! अनेकान्त अर्थात् इसमें अनन्त-अनन्त अपेक्षाएँ, धर्म हैं। है, इसमें है उसमें की, हों! अनेकान्त का ऐसा अर्थ नहीं है कि व्यवहार से निश्चय होता है और निमित्त से भी होता है। यह अनेकान्त धर्म नहीं है।

किन्तु इस प्रकार से सम्यक्त्वी का भोग निर्जरा का हेतु है, ऐसा इसमें से कहना है न ? भोग निर्जरा का हेतु होवे तो फिर चारित्र अंगीकार करने की आवश्यकता रही नहीं। है ? आहाहा! ऐसा नहीं है। यहाँ तो दृष्टि का महात्म्य बतलाना है। बाकी तो जितने अंश में अस्थिरता का अंश कमजोरी है, वह दुःख है, आस्रव है, ज्ञानी को वह बन्ध का कारण है। आहाहा! यहाँ तो उसके उपभोग में द्रव्य का लक्ष्य होता है; इसलिए उसे द्रव्य का उपभोग कहा गया है। आहाहा! बाकी द्रव्य को कौन भोगे ? आहाहा!

अज्ञानी या ज्ञानी कोई (भी) परद्रव्य को स्पर्श नहीं कर सकता (तो) भोगे किस प्रकार? कैसे? - कि एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के बीच अत्यन्ताभाव है। अत्यन्त-अभाव में परद्रव्य को भोगे (-ऐसा नहीं हो सकता)। आहाहा! पाठ तो ऐसा है। **अचेतन तथा चेतन द्रव्यों का उपभोग..** ऐसा कहा है न? उसके परिणाम हुए - ऐसी बात नहीं है। आहाहा! इसका अर्थ तो यही है, परन्तु (इसका) लक्ष्य वहाँ पर के ऊपर है, इसलिए उनका भोगना है - ऐसा कहने में आता है। आहाहा! बाकी तो ज्ञानी को राग का, शुभराग का अनुभव जहाँ दुःखरूप है, (वहाँ अशुभ का अनुभव तो दुःखरूप ही है)। आहाहा! चौथे गुणस्थान से शुभराग दुःखरूप है, उसका वेदन (दुःखरूप है), बाद की गाथा में कहेंगे। सुख-दुःख का वेदन होता है और फिर खिर जाता है। आहाहा! वह भावनिर्जरा कहेंगे। यह तो द्रव्यनिर्जरा है। आहाहा!

विरागी का उपभोग निर्जरा के लिये ही है.. लिये 'ही' है। देखा? वापस फिर 'ही' एकान्त (किया)। **(वह निर्जरा का कारण होता है)। रागादि भावों के सद्भाव से..** जिसे परपदार्थ के प्रति प्रेम है, राग है, उसमें सुखबुद्धि है, उसमें उल्लसित, स्वभाव से अधिकता जिसे अन्दर पर में भासित होती है। आहाहा! ऐसे मिथ्यादृष्टि को **अचेतन तथा चेतन द्रव्यों का उपभोग बन्ध का (ही) निमित्त होता है; वही (उपभोग),..** वही अचेतन-चेतन द्रव्यों का उपभोग, आहाहा! **रागादिभावों के अभाव से..** यहाँ पहले दूसरी लाईन में कहा था न? **रागादिभावों के अभाव से..** मिथ्यादृष्टि को। इसलिए इसमें ऐसा कहा कि **रागादिभावों के अभाव से..** उसके सामने बात ली है। आहाहा! मिथ्यादृष्टि को पर का प्रेम है - सुखबुद्धि है, किसी भी छोटे-बड़े संयोग में या छोटे-बड़े रागादि में उसका वीर्य वहाँ उल्लसित हो जाता है, वहाँ आनन्द में आ जाता है। सुखी हूँ, मुझे अनुकूलता है, ऐसा आ जाता है, वह मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! लड़के छह-छह, आठ-आठ, बारह-बारह हों और पाँच-पाँच लाख कमाते हों... आहाहा! और दो-दो वर्ष में लड़का हुआ हो, लो! चौबीस वर्ष और यहाँ बीस वर्ष की (उम्र में विवाह हुआ हो), चौबालीस वर्ष हो, वहाँ बारह तो लड़के हों और कमाता हों और पैदा करता हो। हें? है न बारह भाया, यहाँ वीछिया में? आहाहा!

मुमुक्षु : बारह भाईयों की गली है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : है न, बारह भाई हैं, स्थानकवासी हैं। उनका प्रमुख, बेचारे को यहाँ का प्रेम है। मकान अलग है। अपने वे भाई नहीं? कैसे? वीछियावाले प्रेमचन्दभाई। प्रेमचन्दभाई के मकान के पास उनका मकान है। बड़ा पक्का। परन्तु विरोध नहीं करते। प्रमुख है। यह वस्तु सुनने को मिले नहीं, भिन्नता कैसे है, किस प्रकार से है, यह बात अन्तर में बैठे नहीं, तब तक बाहर से यह दया पालते हैं, व्रत करते हैं, अपवास करते हैं; उसमें संवर और निर्जरा माने। दया और व्रत, वह संवर; तपस्या, वह निर्जरा। आहाहा!

यहाँ तो जो ज्ञानी का भोग है, वह **रागादिभावों के अभाव से..** यहाँ तो बिल्कुल रागभाव का अभाव गिना है। राग का राग नहीं और राग का प्रेम नहीं, राग में सुखबुद्धि उड़ गयी है, इसलिए **रागादिभावों के अभाव से..** इस अपेक्षा से (कहा है)। वरना जितना राग है, उतना बन्ध है। दसवें गुणस्थान तक राग का अंश है, राग आता है, होता है। **निर्जरा का निमित्त (ही) होता है।** कथंचित् निर्जरा और कथंचित् बन्ध - ऐसा नहीं। आहाहा! किस अपेक्षा से कहते हैं?

रागादिभावों के अभाव से सम्यग्दृष्टि के लिए निर्जरा का निमित्त (ही) होता है। समयसार नाटक में यह लिया है। ज्ञानी का भोग निर्जरा का हेतु है, ऐसा उसमें से लिया है। भोग का अर्थ (यह कि) अन्दर जरा राग आता है परन्तु उसमें सुखबुद्धि नहीं है, जहर है, जहर का प्याला पीता हूँ—ऐसा उसे लगता है। आहाहा! जहर का प्याला है। निर्विकल्प आनन्दरस के समक्ष यह शुभराग का कण भी जहर का... आहाहा! यह जहर की घूँट है। आहाहा! उसे राग में रस कैसे होगा? **रागादिभावों के अभाव से सम्यग्दृष्टि के लिए निर्जरा का निमित्त (ही) होता है।** एकान्त निर्जरा का निमित्त है, ऐसा कहते हैं। जरा भी बन्ध नहीं। किस अपेक्षा से बात है? दृष्टि का जोर है और दृष्टि में अकेला भगवान तैरता है। पूर्णानन्द का नाथ जहाँ आदर में आया... आहाहा! अनन्त-अनन्त आनन्द का दल, शान्ति का सागर, उपशमरस का समुद्र भरा है। उपशमरस, शान्तरस, अकषायरस! आहाहा! ऐसे स्वभाव से पूर्ण भरा है, प्रभु! उसका जहाँ अन्दर में आदर हुआ, अब उसे किसका आदर रहेगा? इस अपेक्षा से बात ली है।

सम्यग्दृष्टि के लिए निर्जरा का निमित्त (ही) होता है। यहाँ पाठ में सचेत, सचेत है या नहीं? **'दव्वाणमचेदणाणमिदराणं'** दूसरा पद है। द्रव्य का अचेतन, द्रव्य

का अर्थात् चेतन। 'इदर' 'इदर' है न? अन्य '**उवभोगमिंदियेहिं**' इन्द्रिय से उपभोग करना। किसका? '**दव्वाणम**' किस द्रव्य का '**चेदणाणमिदराणं**' अचेतन और चेतन, दो का। पाठ है या नहीं? आहाहा! '**जं कुणदि सम्मदिट्ठी**' चेतन का जो '**सम्मदिट्ठी**' भोग करता है। आहाहा! वह इन्द्रिय से। ऐसा हुआ न? '**उवभोगमिंदियेहिं**' इन्द्रिय से सचेत स्त्री आदि का भोग ले। आहाहा! कन्दमूल खाये, हरितकाय खाये, कन्दमूल नहीं, वह तो हरितकाय खाये। आहाहा! कन्दमूल तो नहीं होता। वास्तव में तो रात्रिभोजन भी नहीं होता। रात्रिभोजन में जीवाँत है। जीवाँत। वह तो उसके योग्य जो है। ऐसा तो नहीं होता परन्तु उसके योग्य होता है, ऐसा राग आता है, तथापि उस राग की बुद्धि नहीं है, रुचि नहीं है, रस नहीं है, उल्लसित वीर्य नहीं है; वहाँ खेद वर्तता है। राग में ज्ञानी को खेद वर्तता है, इसलिए उसका उपभोग निर्जरा का निमित्त (कहा है)। दृष्टि के जोर से और दृष्टि का विषय भगवान पूर्णानन्द प्रभु, उसके आश्रय से वह कहा गया है। आहाहा!

इस प्रकार द्रव्य निर्जरा का स्वरूप कहा। पूर्व में जो परमाणु बँधे हुए हैं, उनका खिर जाना। द्रव्य निर्जरा जड़। जड़, जड़ का खिर जाना। आहाहा! निर्जरा का निमित्त होता है अर्थात् निमित्त कारण होता है, ऐसा। निर्जरा का कारण होता है। समझ में आया? नहीं तो ऐसा ले कि पूर्व का कर्म खिरता है, उसमें ज्ञानी का निमित्त ही है। खिरने में निमित्त है परन्तु यहाँ तो निर्जरा का निमित्त ही है, इसलिए निर्जरा का कारण ही है। आहाहा! कारण के अर्थ में है। आहाहा!

भावार्थ : सम्यग्दृष्टि को ज्ञानी कहा है... आहाहा! **और ज्ञानी के राग-द्वेष-मोह का अभाव कहा है;...** इस अपेक्षा से। अनन्तानुबन्धी का (अभाव हुआ है)। **इसलिए सम्यग्दृष्टि विरागी है।** सम्यग्दृष्टि विरागी है। आहाहा! वैरागी है अथवा विरागी है। अर्थात् रागरहित है। आहाहा! **यद्यपि उसके इन्द्रियों के द्वारा भोग दिखायी देता हो, तथापि उसे भोग की सामग्री के प्रति राग नहीं है।** देखा? इन्द्रियों द्वारा भोग होता है, पाठ है न? **तथापि उसे भोग की सामग्री के प्रति राग नहीं है।** आहाहा! **वह जानता है कि 'यह (भोगों की सामग्री) परद्रव्य है, मेरा और इसका कोई सम्बन्ध नहीं है;...'** देखा? परद्रव्य को और आत्मा को कोई सम्बन्ध नहीं है। नाता अर्थात् सम्बन्ध। आहाहा! मुझे और लड़के को तथा मुझे और स्त्री को तथा मुझे और शरीर, दूसरे को और

मुझे और पैसे को कोई सम्बन्ध नहीं है। यह मेरा पुत्र, यह सम्बन्ध ही नहीं है, कहते हैं समकिती को। आहाहा! यह सम्बन्ध ही टूट गया है। आहाहा! शशीभाई!

यह मेरी घरवाली है, कोई पूछे तो भाषा बोले। अन्दर में कुछ नहीं होता। मेरे घर में कोई है ही नहीं; मेरा घर तो मेरे पास है। आहाहा! ऐसा भेद अन्तर के भाव के कारण है, ऐसा कहते हैं। भाषा तो दूसरी क्या बोले? यह लड़का किसका है? (ऐसा पूछे तो कहे), मेरा लड़का है। कहे, भाषा ऐसी बोले। श्रीमद् ऐसा बोलते थे 'अमारो, अमारो कोट लाओ, अमारो यह लाओ।' अ-मारो, ऐसा। मेरा नहीं। कोई पूछता कि तुम अमारो अमारो, अकेले हो और अमारो क्यों बोलते हो? मेरा ऐसा कहो न, तुम अकेले हो। तुम अधिक लोग नहीं हो, वह अमारो, अमारो करते हो, अमारो कोट अर्थात् कोट हमारा नहीं, हमारा कपड़ा नहीं, हमारा घर नहीं, इसलिए अमारो ऐसा कहते हैं। मेरा नहीं, बापू! मेरा जो है, वह मेरे पास है, वह मुझसे भिन्न नहीं है। आहाहा! यह कोई सम्बन्ध नहीं है। आहाहा!

'कर्मोदय के निमित्त से इसका और मेरा संयोग-वियोग है।' कर्म के निमित्त के कारण संयोग और निमित्त का वियोग हो जाता है। बाकी मुझे कोई सम्बन्ध नहीं है। विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २७०, गाथा-१९३, १९४ मंगलवार, आषाढ़ कृष्ण १
दिनाङ्क १०-०७-१९७९

आज श्रावण कृष्ण एकम् है। श्रावण कृष्ण एकम् अर्थात् लौकिक रीति से सिद्धान्त के हिसाब से श्रावण कृष्ण एकम् है, श्रावण का पहला पखवाड़ा गया। भगवान को वैशाख शुक्ल दसवीं को केवलज्ञान हुआ परन्तु जिस समय में पर्याय निकलने की हो, उस समय निकले न! निमित्त से ऐसा कहा जाता है कि गणधर नहीं थे। गौतम गणधर नहीं थे, ऐसा निमित्त से कहा जाता है। बाकी वाणी की पर्याय उस काल में परमाणु में से भाषा की पर्याय होने का काल होवे, उस स्वकाल में वह भाषापर्याय होती है। उसमें आत्मा उसका कर्ता नहीं है। आज भगवान की दिव्यध्वनि का दिन है।

दूसरी बात कि आज गौतमस्वामी गणधर पद को प्राप्त हुए। दिव्यध्वनि सुनी, पहले

से ही मुनिपना मिला। यह तो सुना। आज उन्हें गणधर पद मिला, वह दिन है। चार ज्ञान की प्राप्ति हुई, वह दिन आज है और बारह अंग की रचना हुई, वह यह दिन है। शास्त्र की बारह अंग की रचना हुई, वह आज का दिन है।

अपने यहाँ निर्जरा अधिकार चलता है। आहाहा! जब भगवान की दिव्यध्वनि हुई, कितने ही जीव आत्मज्ञान को प्राप्त हुए। वह भी यही दिन है। क्योंकि सब छोड़कर एक प्रभु चैतन्य गोला अनादि-अनन्त नित्यानन्द ऐसा जो आत्मा, उसकी जिसने अन्तर की रुचि की, अन्तर के अतीन्द्रिय आनन्द जो बेहद स्वभाव है, अचिन्त्यस्वभाव और बेहद स्वभाव है, ऐसे आनन्द का अनुभव आया। उसे समकित कहने में आता है। आहाहा! जिसके स्वाद के समक्ष... यह यहाँ चलता है, देखो!

भावार्थ : सम्यग्दृष्टि को ज्ञानी कहा है... सम्यग्दृष्टि अर्थात् यह। पूर्ण प्रभु गोला, वस्तु नित्यानन्द प्रभु, अनन्त-अनन्त अन्वय शक्तियों का सागर और सुख-सागर का नीर, सुख के सागर के नीर से भरपूर, उसका जहाँ आदर हुआ, उसकी सन्मुखता हुई, संयोग राग और पर्याय की ओर से विमुखता हुई, तब जो अनादि का राग का, कर्म का स्वाद था, रागकर्म, हों! जड़कर्म नहीं। आहाहा! उस राग के स्वाद के स्थान में भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का दल, ध्रुववस्तु का स्वाद आया, इसलिए उस सम्यग्दृष्टि जीव को ज्ञानी कहा। क्योंकि जो वस्तु है, उसका उसे यथार्थ वेदन हुआ, स्वसंवेदन (हुआ)। आहाहा! यह करने का है, पहले में पहले करनेयोग्य यह है।

सम्यग्दृष्टि को ज्ञानी कहा... क्योंकि ज्ञानस्वरूप प्रभु का अनुभव और आनन्द का स्वाद आया, इसलिए ज्ञान शक्तिरूप जो पूर्ण था, उसमें से आंशिक स्वसंवेदन में प्रगट हुआ, इसलिए सम्यग्दृष्टि को ज्ञानी कहा। **और ज्ञानी के राग-द्वेष-मोह का अभाव कहा...** आहाहा! अस्थिरता में राग होता है, परन्तु उसका रस और सुखबुद्धि उड़ गयी है। आहाहा! इसलिए उसके राग-द्वेष-मोह का अभाव कहा। क्योंकि वीतरागमूर्ति प्रभु का जहाँ अनुभव हुआ, उसके वेदन के समक्ष राग का वेदन जहर जैसा लगता है। राग आता है परन्तु अतीन्द्रिय आनन्द के प्रत्यक्ष वेदन के निकट वह चारित्रमोह का जो राग है, वह जहर जैसा, दुःख, काला नाग देखे और जैसे (दुःख) हो, वैसा ज्ञानी को (लगता है)। आहाहा! क्योंकि वहाँ प्रभु स्वयं महा परमात्मस्वरूप जो नजर के आड़ में नजर में नहीं आया था, वह

नजर में आया अर्थात् दूसरे के ऊपर से सब नजरें अलग हो गयी। आहाहा! इसलिए उसे राग-द्वेष-मोह नहीं है, ऐसा कहा। मोह तो नहीं परन्तु थोड़े राग-द्वेष हैं, तथापि आत्मा के स्वभाव के वेदन के जोर के समक्ष उसे राग-द्वेष अस्थिर है, उन्हें है नहीं—ऐसा कहा। क्योंकि उनका रस नहीं है, रुचि नहीं है, प्रेम नहीं है, आदर नहीं है, सत्कार नहीं है, स्वीकार नहीं है। आहाहा! यह भगवान की दिव्यध्वनि में आया वह यह है। आहाहा!

उसे **राग-द्वेष-मोह का अभाव कहा है; इसलिए सम्यग्दृष्टि विरागी है।** अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद के समक्ष राग जहर जैसा दिखायी देता है, उस राग से वैरागी है। राग के रस में नहीं, राग से विरक्त है और आत्मा के रस में है, तो आत्मा में रक्त है। आहाहा! यह 'निर्जरा अधिकार' है। इसके बिना इसके जन्म-मरण के दुःख के ढ़ेर, बापू! (मिटें ऐसा नहीं है)। आहाहा! नरक और निगोद के दुःख सुने नहीं जाएँ, वे इसने भोगे हैं, अनुभव किये हैं। आहाहा! यह गर्मी और सर्दी तथा जब से जन्मे, तब से सोलह रोग। ऐसे वेदन में अनन्त काल व्यतीत हुआ। नरक और निगोद के दुःख में अनन्त-अनन्त काल गया। वह दृष्टि गुलांट खाती है। आहाहा! अब यह नहीं। मेरा प्रभु मुझे रह गया। मेरे पास अर्थात् मैं स्वयं हूँ। आहाहा! प्रभु मैं स्वयं हूँ और मैंने पामरता सेवन की। आहाहा! राग के कण खुशी और प्रसन्नता कर डाली और प्रभु अनन्त गुण का पिण्ड, जिसके माहात्म्य का पार नहीं होता, ऐसे प्रभु को तो मैंने गिना नहीं। अब कहते हैं कि सम्यग्दर्शन में मैंने उसे गिना है, गिनती में लिया है। दूसरे हैं, उन्हें गिनती में नहीं लिया। आहाहा! रागादि की अस्थिरता होती है, उसे गिनती में नहीं लिया। आहाहा! गिनती में भगवान आत्मा अकेला शान्त वीतराग की पूर्णता के प्रताप से भरपूर भगवान, उसकी दशा का, वीतरागता का जहाँ स्वाद आया, उसके समक्ष राग का स्वाद तो जहर जैसा दिखता है, इसलिए उसे राग, द्वेष, मोह नहीं है। आहाहा! ऐसी बात है।

उसके इन्द्रियों के द्वारा भोग दिखायी देता हो... पूर्व के किसी पुण्य के योग से उसे बाह्य में सामग्री दिखती है। आहाहा! स्त्री, कुटुम्ब, परिवार सब होता है। आहाहा! (उसमें) कहीं मेरेपन की बुद्धि उसको नहीं होती। भगवान की भक्ति का प्रशस्तराग, उसके प्रति भी जहाँ जहरबुद्धि है... आहाहा! उसे परपदार्थ के प्रति प्रेम कैसे होगा? जिसका कुछ सम्बन्ध नहीं। आत्मा और परपदार्थ को कुछ सम्बन्ध नहीं। आहाहा! इसलिए **उसके**

इन्द्रियों के द्वारा भोग दिखायी देता हो, तथापि उसे भोग की सामग्री के प्रति... देखा ? सामग्री, पदार्थ, वस्तु। स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, पैसा, अरबों (रुपया), मकान बड़ा दस-दस लाख का, बीस लाख का हो, परन्तु उस सामग्री के प्रति प्रेम नहीं है। वह मेरी चीज़ ही नहीं है, जिसमें मैं नहीं, जिसमें मैं नहीं, जिसमें वह नहीं। आहाहा! इसलिए धर्मी को इन्द्रिय की सामग्री के प्रति राग नहीं है। आहाहा!

कोई दुश्मन घर आया हो और एक मेहमान, सगा-सम्बन्धी आया हो, दोनों में एकदम दृष्टि में अन्तर है या नहीं ? है ? आया हो तो झट चला जाए। आहाहा! भगवान आत्मा! ऐसी कोई अनमोल अचिन्त्य कोई शक्ति का धनी प्रभु है कि जिसके स्वीकार और सत्कार के कारण पूर्व के पुण्य से प्राप्त सामग्री है न ? उसके प्रति प्रेम नहीं। आहाहा! जैसे दुश्मन घर में आवे और प्रेम नहीं। लड़के को मार डालनेवाला हो और वह आया (होवे तो) है जरा भी प्रेम ?

मुमुक्षु : लेनदार आवे तो भी नहीं होता।

पूज्य गुरुदेवश्री : तथापि लेनदार तो ऐसा कि भाई! मेरे पास पैसा है। परन्तु यह दुश्मन देखकर.... राग दुश्मन है। आहाहा!

प्रभु वीतराग मूर्ति उपशम शान्तरस का सागर, शान्तरस का सागर ऐसा जो भगवान आत्मा, उसका जो अनुभव, उसकी अनुभव में जो प्रतीति (हुई) और उसका जो ज्ञान (हुआ), उसमें बाहर की सामग्री हो तो भी उसके प्रति प्रेम नहीं, राग नहीं। आहाहा! है ?

वह जानता है कि 'यह (भोगों की सामग्री) परद्रव्य है,... परद्रव्य है। परद्रव्य को और मुझे कोई पर्याय का भी सम्बन्ध नहीं है, वहाँ द्रव्य-गुण की तो बात ही क्या करना ? आहाहा! उस-उस द्रव्य की वह-वह पर्याय उससे स्वतन्त्र (होती है)। स्त्री हो या पुत्र हो या परिवारी कोई बड़े, भाई, माता-पिता हो, सब चीज़ पर है। उनके साथ मुझे कुछ सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! **'यह (भोगों की सामग्री) परद्रव्य है,...** परवस्तु है। परवस्तु और मुझमें अत्यन्त अभाव है। आहाहा! ऐसा मार्ग है।

छियानवें हजार स्त्रियों में रहा हुआ समकिती, वह आत्मा में रहा है। आहाहा! कहीं उसे मेरा है, ऐसी मीठी नजरें कहीं नहीं हैं। मीठी नजरें जहाँ पड़ी है, वहाँ भगवान के ऊपर,

उस नजर से दूसरे की किसी चीज़ के प्रति मिठास नहीं देता। आहाहा! वे परद्रव्य हैं, **मेरा और इसका कोई सम्बन्ध नहीं है;...** यहाँ तक आया था। मुझे और उसे कुछ नाता नहीं है, कोई सम्बन्ध नहीं है। अरे! आहाहा! घर में लड़का आवे, करोड़ों रुपये कमाकर आवे, बहुत अरबों पैसे (रुपये) पैदा करे, अरबस्थान में दुकान डाली हो, वहाँ से पैसे आये हैं। आहाहा! जैचन्दभाई थे न? तुम्हारे ससुर। जैचन्दभाई, वे वहाँ से—बाहर से आये थे। हो..! कमाऊ पुत्र हुआ, भाई! तब दो लाख रुपये (थे)। तब दो लाख अर्थात् पच्चीस-तीस गुने। उसके पिता ने बाँथ भरी (गले लगाया)। आहाहा!

जिसे अपना माना हो, उसके साथ बाँथ भरता है। भगवान आत्मा को जिसने जाना और जिसके अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद में—मिठास में आया, मीठी नजरें मिठास में आयीं। आहाहा! सम्यग्दर्शन वह मीठी नजर है। उस मीठी नजर से मीठा भगवान आत्मा जहाँ स्वाद में आया, उसे बाहर के भोग परद्रव्य है, उनके साथ कुछ नाता नहीं है। आहाहा!

कर्मोदय के निमित्त से इसका और मेरा संयोग-वियोग है। है? वह तो कर्म के उदय के कारण संयोग आवे, उदय आया, (वह) खिर जाए तो संयोग चला जाए। आहाहा! विद्यमान ऋद्धि एक क्षण में अरबों रुपये फिर समाप्त हो जाए। बिहार में है न करोड़पति? घूमने गया (और) आया वहाँ मकान नीचे स्वाहा..! क्या कहलाता है वह? भूकम्प! भूकम्प हुआ। करोड़पति घोड़ागाड़ी में घूमने गया हुआ था। जहाँ यहाँ आता है वहाँ मकान और परिवार सब समाप्त! नाशवान चीज़ के लिये अवधि क्या? आहाहा! कि इस क्षण में (गिरेगी)। लोग शोर मचा गये हैं, वह गिरने का है वह। सुमनभाई! गिरने का है। कल कोई कहता था, यहाँ गाँव में चिल्लाहट मचायी। यहाँ ठेठ! यहाँ गिरेगा, कोई टुकड़ा गिरेगा, भावनगर में गिरेगा। अरे! परन्तु बापू! कौन गिरे? कहाँ गिरे? तू कहाँ है? आहाहा! तुझे कोई चीज़ स्पर्श नहीं करती, तू किसी को स्पर्श नहीं करता तो गिरे किसके ऊपर? आहाहा!

यहाँ कहते हैं, **कर्मोदय के निमित्त से इसका और मेरा...** धर्मी ऐसा समझता है कि यह कर्मोदय है, तो संयोग दिखायी देता है। यह उदय खिर जाएगा तो संयोग चला जाएगा। आहाहा! उसके और मुझे कुछ सम्बन्ध नहीं है। मैं स्वद्रव्य कहाँ और वह परद्रव्य कहाँ? किसी समय किसी काल में भी उसके साथ मुझे नाता—सम्बन्ध है नहीं। आहाहा!

जब तक उसे चारित्रमोह का उदय आकर... अब यह जरा... वह सामग्री तक लिया। सामग्री तक लिया, अब अन्तर में लेते हैं। आहाहा! **जब तक उसे चारित्रमोह का उदय आकर पीड़ा करता है...** अन्दर राग आवे, दुःख आवे, दुःख आवे। किसी प्रकार राग हटता न हो। आहाहा!

और स्वयं बलहीन होने से पीड़ा को सहन नहीं कर सकता... आहाहा! रागादि आया हो परन्तु उसे टाल नहीं सकता। आहाहा! उसकी पीड़ा दूर करके सहन नहीं कर सकता। आहाहा! राग है। आहाहा! पीड़ा सहन नहीं कर सकता होने से। **तब तक-जैसे रोगी रोग की पीड़ा को सहन नहीं कर सकता, तब उसका औषधि इत्यादि के द्वारा उपचार करता है...** रोगी। यह तो दृष्टान्त है, हों! **इसी प्रकार-भोगोपभोग सामग्री के द्वारा विषयरूप उपचार करता...** आहाहा! यह निमित्त से कथन है। उस सामग्री का लक्ष्य, राग है न? इसलिए उस सामग्री के प्रति लक्ष्य जाता है, इसलिए उसका उपभोग करता है, ऐसा कहते हैं। बाकी परद्रव्य का उपभोग (कौन करे)? आहाहा! **भोगोपभोग सामग्री के द्वारा विषयरूप उपचार करता हुआ...** समझाना है तो क्या समझावे? बाकी परपदार्थ को स्पर्श भी नहीं करता। आहाहा! राग आवे, राग को सहन नहीं कर सकता अर्थात् छूटता नहीं, इसलिए कमजोरी के कारण राग की पीड़ा सहन नहीं होती, इसलिए पीड़ा में जुड़ जाता है। आहाहा! इसलिए बाह्य सामग्री के प्रति उसका लक्ष्य जाता है, ऐसा कहते हैं। भाषा तो ऐसी है कि **भोगोपभोग सामग्री के द्वारा विषयरूप उपचार करता हुआ...** भाषा तो क्या (करे)? उस प्रकार का राग आया और वह जो सामग्री है, उसके प्रति लक्ष्य गया, इसलिए उस सामग्री का (से) इलाज करता है। आहाहा! स्पर्श भी नहीं करता और इलाज करता है। आहाहा!

किन्तु जैसे रोगी रोग को या औषधि को अच्छा नहीं मानता... रोगी रोग को और रोग मिटाने के औषध को (भला नहीं जानता)। यह औषध सदा रहना। रोग रहे और लोग देखने आवे, (ऐसी) रोग की भावना होगी? आहाहा! **उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि चारित्रमोह के उदय को...** रोग जानता है। आहाहा! **या भोगोपभोग सामग्री को अच्छा नहीं मानता।** दो बातें ली हैं। अन्दर में होनेवाला राग और बाहर की होनेवाली सामग्री, उसे कहीं भली नहीं जानता। आहाहा! देखो! यह तत्त्वदृष्टि! आहाहा! व्रत, तप, भक्ति और यह

तो बाद में बात, वह (शुभभाव) भी बन्ध का कारण है। यहाँ तो पहले से चारित्रमोह का राग आवे और सामग्री के प्रति लक्ष्य जाए, उसे इलाज करता है—ऐसा कहा जाता है। आहाहा! परन्तु राग को, विषय सामग्री को भली नहीं जानता। आहाहा! भली नहीं जानता तो भोग कैसे करता है? अरे! बापू! आहाहा! उस जहर से छूटता नहीं; इसलिए जरा जहर में जुड़ जाता है। आहाहा! कोई स्वच्छन्दी उसका नाम लेकर ऐसा करे (तो) ऐसा नहीं चलता। वह तो अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद के समक्ष जिसे राग का और राग की जो सामग्री है, उसके प्रति का प्रेम उड़ गया है, सुखबुद्धि उड़ गयी है। अपने आत्मा में आनन्द है, इसके अतिरिक्त कोई चीज़, राग, दया, दान, व्रत, भक्ति आदि किसी परिणाम में मेरा सुख और सुख का कारण मेरे आत्मा के अतिरिक्त कहीं नहीं है। आहाहा! **अच्छा नहीं मानता।**

और निश्चय से तो, ज्ञातृत्व के कारण... लो, देखा! **सम्यग्दृष्टि विरागी उदयागत कर्मों को मात्र जान ही लेता है,...** प्रेम नहीं है, यह तो ठीक, कहते हैं। बाकी तो ज्ञान का स्वभाव ही उस समय में ऐसा होता है कि उसे जानता है, ऐसा कहना वह भी व्यवहार है। राग को जानता है, यह भी (व्यवहार है)। परन्तु ज्ञान की पर्याय का उस समय का स्वभाव स्व-परप्रकाशक स्वयं अपनी सत्ता के सामर्थ्य से प्रगट होता है। आहाहा! उसे वह जानता है। आहाहा! **ज्ञातृत्व के कारण...** ऐसा कि निश्चय से तो ज्ञातापने के कारण। व्यवहार से बात ऐसी की है कि राग को दुःखरूप जानता है, जुड़ जाता है, सामग्री में जुड़ता है परन्तु वास्तव में देखो तो यह बात ऐसी है नहीं। आहाहा! अब ऐसी बातें सुनने को मिलती नहीं और बाहर में जरा निकम्मी पौथी पढ़े वहाँ... आहाहा! यह स्त्री मेरी, यह पुत्र मेरा, पैसा मेरा... अरे! कहाँ बापू! कहाँ तू और कहाँ ये? कहीं पूर्व-पश्चिम को कहीं किसी द्रव्य के साथ मेल नहीं मिलता। आहाहा! यह तो अज्ञानी को भी (ऐसा है)। अब यहाँ तो कहते हैं, ज्ञानी को जरा राग आता है, उसके साथ मेल नहीं है। आहाहा! अरे! मेरा वीतरागस्वभाव, उसके स्वाद की मिठास के समक्ष राग के जहर की मिठास जहर जैसी लगती है। आहाहा! उसकी अपेक्षा यहाँ तो कहते हैं कि यदि निश्चय से कहें तो वह जानने-देखनेवाला ही है। यह विषय और राग आता है और पीड़ा जानता है और सामग्री को भोगता है, यह बात व्यवहार से भले की है। आहाहा!

ज्ञातृत्व के कारण सम्यग्दृष्टि... देखो! यह धर्म की दशा की बात है, बापू!

आहाहा! तीन लोक का नाथ जहाँ जागकर उठता है, उसके स्वाद की मिठास के समक्ष पूरी दुनिया उसे जहर जैसी लगती है। आहाहा! कहीं उसे रस नहीं आता। रस आया है, वहाँ से निकलता नहीं। आहाहा! अब ऐसा धर्म का स्वरूप। आहाहा! **ज्ञातृत्व के कारण सम्यग्दृष्टि विरागी उदयागत कर्मों को मात्र जान ही लेता है,...** पहले कहा था कि राग का स्वाद जरा दुःखरूप लगता है। सामग्री ले, इलाज करे, जैसे रोगी रोग का इलाज करता है (उसी प्रकार)। वह तो एक समझाने की बात (की है)। आहाहा! परन्तु वास्तव में तो **उनके प्रति उसे रागद्वेषमोह नहीं है।** जान लेता है, फिर प्रश्न कहाँ है? आहाहा!

भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का सागर, उसके आनन्द की कहीं गन्ध नहीं मिलती, विषय में-पैसे में लड़के में-पुत्र में उनके ऊपर नजर जाने पर जहर आवे। आहाहा! यह कहते हैं कि हमने एक अपेक्षा से समझाया, बाकी तो राग आता है, उसे जान लेता है। आहाहा! देखो! यह वस्तु का स्वरूप। अरे! इसे जाने बिना चौरासी के नरक और निगोद के दुःख सहन किये, बापू! सुने भी जाएँ नहीं। आहाहा! और जब तक अभी मिथ्यात्व में पड़ा है... आहाहा! भाई! उसकी यह सामग्री बिखर जाएगी। ऐसी सामग्री में जाना पड़ेगा। निगोद और नरक में। आहाहा! इसलिए विमुख हो जा। बाहर के प्रेम से विमुख हो जा, अन्दर के प्रेम में आ जा। आहाहा! पलटा मारने की बात है। करना सब यह। दृष्टि जो पर्याय और राग के ऊपर है, वह सब अंश और विकृत के ऊपर है, वह दृष्टि अंशी पूरे निर्विकारी परमात्मस्वरूप के ऊपर दृष्टि पड़ने पर उसे चारित्रमोह का राग आवे, वह भी दुःखरूप और जहर लगता है, काला नाग लगता है। आहाहा! यहाँ तो दो-चार लड़के ठीक हुए, उसमें दो-दो लाख, लाख-लाख की आमदनीवाले हुए (तो) बस! मजा मानता है। मार डाला, प्रभु! तूने तुझे। तूने तुझे मार डाला। जीवित ज्योति आनन्द का सागर, उसमें आनन्द नहीं मानकर, जिसमें आनन्द नहीं है, उसमें माना है, प्रभु! तूने तुझे मार डाला है। यह नहीं, इतना नहीं, यह नहीं, मैं नहीं। आहाहा! आहाहा! वीतरागमार्ग का सम्यग्दर्शन और उसके पन्थ की रीति कोई अलौकिक है। आहाहा!

विरागी उदयागत कर्मों को मात्र... भाषा ऐसी है न? **मात्र जान ही लेता है, उनके प्रति उसे रागद्वेषमोह नहीं है।** आहाहा! **इस प्रकार...** इस प्रकार कहा, उस प्रकार से **राग-द्वेष-मोह के बिना ही उनके फल को भोगता हुआ दिखाई देता है,...**

आहाहा! यह वापस बात की। बाहर में ऐसे भोगते दिखता है न! भोगे किसे? परद्रव्य को भोगे? आहाहा! परद्रव्य को तो अज्ञानी भी भोग नहीं सकता। आहाहा! अज्ञानी भोगे तो राग-द्वेष को। पर को तो स्पर्श भी नहीं करता, कभी स्पर्श नहीं कर सकता। आहाहा! तो ज्ञानी को कहते हैं कि इस प्रकार राग बिना उसके फल को भोगता हुआ, दिखता है न, इसलिए (ऐसा कहा)। आहाहा! **तो भी उसके कर्म का आस्रव नहीं होता,...** उसे नये कर्म नहीं आते। आहाहा! अधिकार निर्जरा का है न? नये आते तो नहीं, परन्तु पुराने खिर जाते हैं। आहाहा!

कर्मास्रव के बिना आगामी बन्ध नहीं होता... नये कर्म आये बिना नया बन्ध होता नहीं। आते नहीं, वहाँ फिर बन्ध कहाँ से हुआ? आहाहा! जहाँ स्व-स्वभाव आनन्द का समुद्र भरा है। आनन्द के जल से भरपूर सागर प्रभु, उसके समक्ष राग की तुच्छता लगने पर राग का रस ही उड़ गया है, परन्तु भोगता है, ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। इसलिए उसके नया कर्म नहीं आता। आहाहा! **कर्मास्रव के बिना आगामी बन्ध नहीं होता और उदयागतकर्म तो अपना रस देकर खिर ही जाते हैं...** आहाहा!

उदय आता है परन्तु खिर जाता है। पूर्व में अज्ञानभाव से बाँधे हुए कर्म सत्ता में पड़े हैं। आहाहा! वह आते हैं, आने पर भी वर्तमान उपयोग जितना करे, तत्प्रमाण में भोगता है। ज्ञानी का उपयोग तो उनके प्रति है नहीं। आहाहा! स्त्री का अर्थ आता है न, बालस्त्री और पुरुष। इसी प्रकार सत्ता में पड़े हुए कर्म उदय में आये, उदय में आये परन्तु अपनेरूप नहीं जानता। आहाहा! और अज्ञानी अपनेरूप जानकर उन्हें वेदता और अनुभवता है। आहाहा! उसमें पाँच-पचास लाख, करोड़-दो करोड़ पैसे (रुपये हों), लड़के अच्छे हुए, नौकर अच्छा काम करते हों... आहाहा! फले-फूले देखे, उसे कि हम फले-फूले। जहर में! जहर में फले-फूले हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : आपको वह जहर लगता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह क्या कहते हैं? देखो न! इसके सेठ आये नहीं थे? चिमनलाल के। मुम्बई... मुम्बई! पचास करोड़ रुपये, पचास करोड़। क्या नाम? कीलाचन्द देवचन्द। रामवास। उनकी बहू आयी थी, बहू जैन... बहू जैन मन्दिरमार्गी (थीं) और वह वैष्णव। दर्शन को आया, आवे तो सही न! घर ले गये थे, पैसे रखे थे। पन्द्रह सौ घर में रखे

थे, यहाँ हजार रखे थे। पचास करोड़ रुपये, मुम्बई, इस चिमनभाई के सेठ। आहाहा! कितनी मेरी दुकानें और कितने मेरे लड़के कमाऊ और कितना मैं फला-फूला हूँ! आहाहा! इसके सेठ भी पैसेवाले हैं। जामनगर के। उन्हें साढ़े तीन करोड़ की आमदनी है। धूल.. धूल के ढ़ेर। मरकर जाएँगे कहीं के कहीं। आहाहा! संयोगी चीज़ वियोग लेकर आती है। संयोगी चीज़ वियोग लेकर ही आती है। आहाहा! अरेरे! आहाहा! प्रभु तो ऐसा कहते हैं, प्रभु! तू तो नित्यानन्द प्रभु है न! इस पर्याय का संयोग होता है, उसे हम संयोग कहते हैं, कहते हैं। निर्मल पर्याय, हों! आहाहा!

त्रिकाली नित्यानन्द प्रभु आनन्द का दल, सुख का सागर, अमृत का महाभण्डार! आहाहा! जिसके भण्डार की खुमारी के समक्ष कोई पता नहीं, ऐसा अमृत का सागर! आहाहा! उसके समक्ष राग की क्या गिनती? है? आहाहा! उसे ऐसा लगता है कि ऐसे पैसे हुए और लड़के कमाऊँ न! सब जहर है, आहाहा! उत्साह से जहर का प्याला पीता है।

मुमुक्षु : लड़के कर्मी हुए।

पूज्य गुरुदेवश्री : कर्मी हुए। आहाहा! लड़का ही किसका है, वह कर्मी और धर्मी? आत्मा को लड़का कैसा और आत्मा को बाप कैसा? आहाहा! वह तो पर आत्मा है, पर शरीर है, शरीर जड़ परमाणु है। (उसका) आत्मा पर है, उसकी पर्याय पर में है। तुझे और उसे है क्या? आहाहा!

यही कहते हैं, **राग-द्वेष-मोह के बिना ही उनके फल को भोगता हुआ दिखाई देता है, तो भी उसके कर्म का आस्रव नहीं होता, कर्मास्रव के बिना आगामी बन्ध नहीं होता और उदयागतकर्म तो अपना रस देकर खिर ही जाते हैं...** खिर '**ही**' जाते हैं, वापस ऐसा। '**ही**'! आहाहा! चैतन्य हीरा जहाँ हाथ आया, उसे यह पुत्र-बुत्र, पैसा और हीरा, लड़के और लड़कियाँ और स्त्री यह सब ठीकरा (लगते हैं)। हीरा, यह चैतन्य हीरा अन्दर पड़ा है। आहाहा! उसकी कीमत के समक्ष दूसरे सबकी कीमत उड़ गयी। आहाहा! इसलिए मेरेपने में उसे मिठास रही नहीं। आहाहा! इसलिए कर्म खिर जाते हैं।

क्योंकि उदय में आने के बाद कर्म की सत्ता रह ही नहीं सकती। उदय में आया, वह तो खिर ही जाता है। या तो यह राग-द्वेष करे तो नया बँधे, न करे तो यूँ तो खिर जाता है और वैसे भी खिर जाता है। आहाहा! **इस प्रकार उसके नवीन बन्ध नहीं होता**

और उदयागत कर्म की निर्जरा हो जाने से उसके केवल निर्जरा ही हुई। आहाहा! **इसलिए सम्यग्दृष्टि विरागी के भोगोपभोग को निर्जरा का ही निमित्त कहा गया है।** आहाहा! निमित्त अर्थात् निर्जरा का कारण, ऐसा। कर्म खिरता है, उसमें यह निमित्त है, ऐसा नहीं। भोगोपभोग निर्जरा का ही कारण कहने में आता है। आहाहा! यह संयोग आया, सो आया, फिर से संयोग आनेवाला नहीं है। राग भी आया सो आया, फिर से वह राग आनेवाला नहीं है। जैसे पका हुआ फल डंठल में से सड़कर गल जाता है, गिर जाता है, उसी प्रकार ज्ञानी को कर्म का पाक आकर सड़कर गल जाता है। आहाहा! ऐसी तत्त्व की बात है। निवृत्ति भी नहीं होती। सुनने की निवृत्ति नहीं होती। वह रुचे और श्रद्धा करे, यह तो कहाँ था? आहाहा! अरेरे! समय चला जाता है। मृत्यु के समीप (जाता है)। एक-एक समय जाता है, वह मृत्यु के समीप जाता है। देह की (छूटने की) स्थिति निश्चित है कि इस क्षेत्र में, इस काल में, इस समय में (छूटेगी)। आहाहा!

सम्यग्दृष्टि विरागी के भोगोपभोग को निर्जरा का ही निमित्त कहा गया है। पूर्व कर्म उदय में आकर उसका द्रव्य खिर गया... यह द्रव्यनिर्जरा की बात है। द्रव्यनिर्जरा अर्थात् कर्म के रजकण उदय आये, सत्ता में थे, वे उदय आये, पर्यायरूप से, वे खिर गये।

मुमुक्षु : मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी का कर्म खिर गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ तो सब खिर गये, यहाँ तो कहते हैं। आनन्द के स्वाद के समक्ष (सब खिर गये)। जरा चारित्रमोह का राग आया, कहा न! परन्तु वह भी उसका रस नहीं है; इसलिए उड़ गया। उसका भी वास्तव में बन्ध नहीं है। थोड़ा रस और स्थिति बन्ध पड़े, उसकी गिनती नहीं है। आहाहा! वापस सर्वथा बन्ध नहीं है, ऐसा नहीं है। यहाँ तो अभी सम्यग्दर्शन, उसके ज्ञान और आनन्द के स्वाद के समक्ष पूरी दुनिया का स्वाद उड़ गया है। चक्रवर्ती का राज्य भी जिसे सड़ा हुआ तिनका लगता है, इन्द्र के इन्द्रासन भी सड़ी हुई बिल्ली, मरी हुई बिल्ली सड़ी हो, ऐसा लगता है। आहाहा! अज्ञानी को तो पाँच-पच्चीस लाख की सामग्री मिली, वहाँ तो... आहाहा! अभी हम चढ़ती डगर हैं, हमारा सब चढ़ता हुआ है। आहाहा! चढ़ता है या पढ़ता है, तुझे खबर नहीं। आहाहा! दुनिया से अलग बात है, बापू! आहाहा! भगवान वीतराग का मार्ग और दुनिया की रीति और पद्धति पूरी पूर्व-पश्चिम का अन्तर है। आहाहा!

गाथा - १९४

अथ भावनिर्जरास्वरूपमावेदयति –

दव्वे उवभुंजंते णियमा जायदि सुहं व दुक्खं वा।
तं सुह–दुक्ख–मुदिण्णं वेददि अध णिज्जरं जादि।।१९४।।

द्रव्ये उपभुज्यमाने नियमाज्जायते सुखं वा दुःखं वा।
तत्सुखदुःखमुदीर्णं वेदयते अथ निर्जरां याति।।१९४।।

उपभुज्यमाने सति हि परद्रव्ये तन्निमित्तः सातासातविकल्पानतिक्रमणेन वेदनायाः सुखरूपो वा दुःखरूपो वा नियमादेव जीवस्य भाव उदेति। स तु यदा वेद्यते तदा मिथ्यादृष्टेः रागादिभावानां सद्भावेन बन्धनिमित्तं भूत्वा निर्जीर्यमाणोऽप्यनिर्जीर्णः सन् बन्ध एव स्यात्; सम्यग्दृष्टेस्तु रागादिभावानामभावेन बन्धनिमित्तमभूत्वा केवलमेव निर्जीयमाणो निर्जीर्णः सन्निर्जरैव स्यात्।।१९४।।

अब भावनिर्जरा का स्वरूप कहते हैं:–

परद्रव्य के उपभोग निश्चय, दुःख वा सुख होय है।
इन उदित सुखदुख भोगता, फिर निर्जरा हो जाय है।।१९४।।

गाथार्थ : [द्रव्ये उपभुज्यमाने] वस्तु भोगने में आने पर, [सुखं वा दुःखं वा] सुख अथवा दुःख [नियमात्] नियम से [जायते] उत्पन्न होता है; [उदीर्णं] उदय को प्राप्त (उत्पन्न हुवे) [तत् सुखदुःखम्] उस सुखदुःख का [वेदयते] अनुभव करता है, [अथ] पश्चात् [निर्जरां याति] वह (सुखदुःखरूप भाव) निर्जरा को प्राप्त होता है।

टीका : परद्रव्य भोगने में आने पर, उसके निमित्त से जीव का सुखरूप अथवा दुःखरूप भाव नियम से ही उदय होता है अर्थात् उत्पन्न होता है क्योंकि वेदन साता और असाता–इन दो प्रकारों का अतिक्रम नहीं करता (अर्थात् वेदन दो प्रकार का ही है– सातारूप और असातारूप)। जब उस (सुखरूप अथवा दुःखरूप) भाव का वेदन होता है तब मिथ्यादृष्टि को, रागादिभावों के सद्भाव से बंध का निमित्त होकर (वह भाव) निर्जरा को प्राप्त होता हुआ भी (वास्तव में) निर्जरित न होता हुआ, बन्ध ही होता है; किन्तु सम्यक्दृष्टि के, रागादिभावों के अभाव से बन्ध का निमित्त हुए बिना, केवलमात्र

निर्जरित होने से (वास्तव में) निर्जरित होता हुआ, निर्जरा ही होती है।

भावार्थ : परद्रव्य भोगने में आने पर, कर्मोदय के निमित्त से जीव के सुखरूप अथवा दु:खरूप भाव नियम से उत्पन्न होता है। मिथ्यादृष्टि के रागादि के कारण वह भाव आगामी बन्ध करके निर्जरित होता है, इसलिए उसे निर्जरित नहीं कहा जा सकता; अत: मिथ्यादृष्टि को परद्रव्य के भोगते हुए बन्ध ही होता है। सम्यक्दृष्टि के रागादिक न होने से आगामी बन्ध किये बिना ही वह भाव निर्जरित हो जाता है, इसलिए उसे निर्जरित कहा जा सकता है; अत: सम्यक्दृष्टि के परद्रव्य भोगने में आने पर निर्जरा ही होती है। इस प्रकार सम्यक्दृष्टि के भावनिर्जरा होती है।

गाथा - १९४ पर प्रवचन

अब भावनिर्जरा का स्वरूप कहते हैं। यह द्रव्यनिर्जरा का कहा। अब भावनिर्जरा अर्थात्? अशुद्धता थोड़ी हो जरा परन्तु वह तुरन्त खिर जाए, ऐसा कहते हैं। जिस प्रकार वह सामग्री आवे परन्तु वह चली जाती है। उसके साथ सम्बन्ध नहीं है और भावनिर्जरा अर्थात् धर्मी को भी जरा राग का वेदन आता है परन्तु वह वेदन खिर जाता है। आहाहा! ऐसी बातें। यह तो बाहर में फँस गया। यह क्रियाकाण्ड भक्ति की और पूजा की और मन्दिर बनाया, मूर्तियाँ स्थापित कीं, ओहो! मानो हमने क्या किया! पाँच-दस लाख खर्च किये हों, उसमें मानो... आहाहा! धूल भी किया नहीं, ऐसा। किया नहीं, ऐसा नहीं, की है भ्रमणा (की है)। मिथ्यात्व को सेवन करता है। आहाहा! दोपहर में तो तीन दिन से चलती है न? कर्म की बात। आहाहा!

१९४ (गाथा)।

दव्वे उवभुंजंते णियमा जायदि सुहं व दुक्खं वा।
तं सुह-दुक्ख-मुदिण्णं वेदयदि अध णिज्जरं जादि।।१९४।।

परद्रव्य के उपभोग निश्चय, दु:ख वा सुख होय है।
इन उदित सुखदुख भोगता, फिर निर्जरा हो जाय है।।१९४।।

टीका : परद्रव्य भोगने में आने पर,... परद्रव्य भोगने में आने पर। परद्रव्य भोगे

नहीं जा सकते, तथापि लोगों की नजरें हैं, इस नजर से बात करते हैं। आहाहा! लोगों की नजर ऐसी है कि यह खाता है। लो! यह खाता है न? अपने यह लड्डू खाते हैं, यह अरबी के खाते हैं। चूरमा के लड्डूओं के भटका भरते हैं और अरबी के (भजिया) खाते हैं, यह आम का रस पीते हैं, पूड़ी और रस खाते हैं। अज्ञानी दुनिया इस प्रकार मानती है न! इस दृष्टि की बात की है। लोग देखते हैं इस अपेक्षा से। आहाहा!

परद्रव्य भोगने में आने पर, उसके निमित्त से जीव का सुखरूप अथवा दुःखरूप भाव नियम से ही उदय होता है... ओहोहो! क्या कहते हैं? धर्मी को भी जरा राग और द्वेष का वेदन आ जाता है। वह आता है, ऐसा खिर जाता है। आवे, एक समय हुआ, (वहाँ) खिर जाता है परन्तु पहले में उस जड़ निर्जरा की बात की, यह भावनिर्जरा की बात है। आहाहा! अब यहाँ सर्वत्र जाना और यहाँ पहुँचना। स्त्री-पुत्र को सम्हालना, धन्धा करना या यह करना? आहाहा! यह तो कर रहा है, भाई! अनादि काल से जहर के प्याले पीये हैं। आहाहा! अरे... भाई! ऐसा अवसर कब मिलेगा? भाई! उसमें वीतराग का सच्चा सत्य, परम सत्य कान में पड़े। आहाहा! तू यह है, तू राग नहीं, तू शरीर नहीं, तू कर्म नहीं, तू अल्पज्ञ नहीं। आहाहा!

प्रभु! तू पूरा है। आहाहा! क्या आया नहीं वह? 'प्रभु मेरे तुम सब बातें पूरा'। आया नहीं था? पण्डितजी ने गाया। 'प्रभु मेरे तुम सब बातें पूरा, पर की आस कहाँ करे प्रीतम' प्रिय प्रभु! तू पर का प्रेम कहाँ करता है? क्योंकि किस बात में अधूरा? आहाहा! प्रीतम का प्रश्न किया था न? पूनमचन्द ने। प्रिय, प्रिय। आहाहा! 'पर की आस कहाँ करे प्रीतम तुम कहाँ अधूरा?' प्रभु! तू किस बात में अधूरा है? आहाहा! इसमें शरीर और कुछ रूपवान मिले, यह पैसा कुछ पाँच-पच्चीस लाख हो, लड़का अच्छा हो। अच्छा अर्थात् यह कर्मी। लड़के की बहू कुछ अच्छी आवे... हो गया, मर गया। मरकर निगोद में जाए, नरक में जाए। अर..र..! प्रभु! तेरी पीड़ा तूने सुनी नहीं, प्रभु! आहाहा! और तेरा आनन्द भी तूने सुना नहीं। तुझमें आनन्द भरा है। आहाहा! लबालब सुख के सागर के पानी से ठसाठस भरा हुआ है। आहाहा! तेरे आनन्द के लिये अपूर्णता, विपरीतता तो नहीं, परन्तु अपूर्णता नहीं, प्रभु! आहाहा! किस बात में अधूरा? क्या पुरुषार्थ से अधूरा है? पुरुषार्थ से पूरा है। ज्ञान से अधूरा है? आहाहा! आनन्द से अधूरा है? शान्ति से अधूरा है? स्वच्छता से अधूरा है? प्रभुता से

अधूरा है ? आहाहा ! किस बात में अधूरा ? प्रभु ! तुम सब बात में पूरा। आहाहा ! इस प्रकार ज्ञानी को जहाँ जरा राग आता है। है ? वहाँ सुख-दुःख होता है।

नियम से ही उदय होता है... जरा सुख-दुःख का वेदन आता है। आहाहा ! **क्योंकि वेदन साता और असाता-इन दो प्रकारों का अतिक्रम नहीं करता...** अन्दर में यह साता (अर्थात्) सुख की कल्पना, दुःख; साता-असाता तो संयोग देते हैं परन्तु संयोग में यहाँ सुख-दुःख की कल्पना लेना। आहाहा ! साता-असाता कहीं सुख-दुःख नहीं उपजाता। वह तो संयोग है। संयोग में इसका लक्ष्य जाता है, इसलिए जरा साता-असाता, सुख-दुःख की कल्पना ज्ञानी को भी होती है। होती है तो भी वह हुई, साथ में खिर जाती है। भावनिर्जरा हो जाती है। आहाहा ! है ? **क्योंकि वेदन साता और असाता-इन दो प्रकारों का अतिक्रम नहीं करता (अर्थात् वेदन दो प्रकार का ही है-सातारूप और असातारूप)।** आहाहा ! अब यह कब वेदन होता है, यह (विशेष कहेंगे)

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)

प्रवचन नं. २७१, गाथा-१९४, श्लोक-१३४ बुधवार, आषाढ़ कृष्ण २
दिनाङ्क ११-०७-१९७९

समयसार, १९४ गाथा है न ? उसकी टीका **परद्रव्य भोगने में आने पर,...** एक ओर ऐसा कहते हैं कि परद्रव्य को स्पर्श नहीं किया जा सकता, भोगा नहीं जा सकता और यहाँ ऐसा कहते हैं, परद्रव्य को (भोगने में आने पर)। क्योंकि पहली गाथा में आया था कि इन्द्रिय से सचेत-अचेतद्रव्यों को भोगते हुए ज्ञानी को द्रव्यकर्म की—जड़ की निर्जरा होती है, जड़द्रव्य की (निर्जरा), यह भाव की (निर्जरा कहते हैं)। यह निमित्त से कथन है। लोग देखते हैं इस अपेक्षा से **'उवभोगमिंदियेहिं'** सचेत, अचेत का भोग, ऐसा कहा। यहाँ ऐसा कहा। वैसे एक ओर कहते हैं कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के बीच अत्यन्त अभाव है। उसकी पर्याय और पर्याय के बीच भी अत्यन्त अभाव है। किसी की पर्याय किसी को स्पर्श नहीं करती। यह तो तीसरी गाथा में आ गया है, तीसरी गाथा। प्रत्येक द्रव्य अपने गुणों और

पर्याय को, अपने धर्म को चूमता है, उन्हें स्पर्शता-छूता है परन्तु अन्य द्रव्य की किसी भी पर्याय, गुण को दूसरा द्रव्य चूमता नहीं, छूता नहीं, स्पर्शता नहीं। आहाहा! यहाँ निमित्त से कथन है। लोग देखते हैं न, इस अपेक्षा से।

परद्रव्य भोगने में आने पर,... अर्थात् कि परद्रव्य की ओर जरा लक्ष्य जाने पर **उसके निमित्त से जीव का सुखरूप अथवा दुःखरूप भाव...** सम्यग्दृष्टि को भी, धर्मी को भी, चैतन्य गोला भिन्न है, राग से भी भिन्न है, ऐसा भान होने पर भी भावरूपी जरा वेदन नियम से होता है। आहाहा! कर्म के उदय की ओर के जरा झुकाव में सहज सुख-दुःख की कल्पना, आसक्ति की-अस्थिरता की होती है, नियम से होती है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! **उत्पन्न होता है क्योंकि वेदन साता और असाता-इन दो प्रकारों का अतिक्रम नहीं...** सुख या दुःख की कल्पना, दोनों में से एक कल्पना तो होती है, कहते हैं। ज्ञानी को भी.. आहाहा! **(अर्थात् वेदन दो प्रकार का ही है-सातारूप और असातारूप)।** साता-असाता है, वह तो संयोग का निमित्त है। कहीं सुख-दुःख की कल्पना में वह नहीं है। उसमें मोह निमित्त है। परन्तु यहाँ साता-असाता की ओर का लक्ष्य है, इसलिए साता-असाता से सुख-दुःख वेदा जाता है, ऐसा कहने में आता है। आहाहा! समझ में आया? नहीं तो साता-असाता का उदय तो संयोग है, बस! संयोगी उपादान स्वतन्त्र है, परन्तु उसमें निमित्त साता-असाता का है परन्तु भोगने में तो सुख-दुःख की कल्पना, वह कहीं साता-असाता से नहीं है, परन्तु उसकी ओर लक्ष्य जाता है, इसलिए उस प्रकार का सुख-दुःख, साता-असाता से हुआ—ऐसा कहा जाता है। आहाहा!

यह आ गया न? अपने दोपहर में आ गया। कल नहीं आया? पर्यायदृष्टि को बन्द करके पर्याय को (देखना) सर्वथा बन्द करके... पर को देखने की बात तो नहीं परन्तु अपने में जो पाँच पर्याय होती है—नारकी, मनुष्य, देव, तिर्यंच और सिद्ध—इन पाँच पर्यायों को भी देखने की चक्षु बन्द करके। बन्द करके अर्थात्? खुली हुई द्रव्यार्थिकनय द्वारा—ऐसी भाषा है। वापस देखना तो रहता है न? देखना तो वापस पर्याय रहती है। क्या कहा, समझ में आया? पर्याय को, सब पर्याय को देखना बन्द करके और खुले हुए ज्ञान अर्थात् कि जब पर्याय की ओर का झुकाव गया, तब उसे द्रव्य की ओर का उघड़ा हुआ ज्ञान उघड़ा। कारण कि देखना है तो ज्ञान से न? कहीं द्रव्य, द्रव्य से देखना है, ऐसा तो है नहीं। इसीलिए उघड़े

हुए ज्ञान द्वारा। है तो वह पर्याय, परन्तु पर्याय की दृष्टि बन्द करने पर उसे स्वद्रव्य को देखने का ज्ञान खिलता है और उघड़ता है। आहाहा! उस उघड़े हुए ज्ञान द्वारा देखने पर पाँचों पर्यायें देखने में नहीं आती। एक जीव ही, सब द्रव्य ही दिखायी देता है।

यहाँ कहते हैं कि ज्ञानी को ऐसा दिखता है, तथापि जरा साता-असाता के संयोग के काल में इसका लक्ष्य जरा वहाँ जाता है, इसलिए जरा सुख-दुःख की कल्पना-वेदन जरा होता है, नियम से होता है, ऐसा कहा। बिल्कुल नहीं होता, ऐसा नहीं है। आहाहा! जैसे परद्रव्य को तो बिल्कुल स्पर्श नहीं करता, इसी तरह यह सुख-दुःख की कल्पना ज्ञानी को पर्याय में बिल्कुल होती ही नहीं, ऐसा नहीं है। परन्तु वह होती है, वह... आहाहा! वेदन में आती है। है?

तब मिथ्यादृष्टि को,... राग के ऊपर प्रेम होने से भगवान अन्दर आनन्द का गोला भिन्न पड़ा है, उसका उसे प्रेम का अभाव होने से। आहाहा! **रागादिभावों के सद्भाव से...** अज्ञानी को तो राग हुए बिना रहता ही नहीं, कहते हैं। सुख-दुःख की जो कल्पना हुई, उसमें प्रेम हुए बिना रहता ही नहीं। आहाहा! कल्पना तो दोनों को हुई, चन्दुभाई! दोनों को हुई है परन्तु मिथ्यादृष्टि अर्थात् द्रव्यस्वभाव को नहीं देखनेवाला, पर्याय को ही देखनेवाला, उसे राग-द्वेष के कारण से उस पर्याय में सुख-दुःख का वेदन जो हुआ, उसके बन्ध का निमित्त होता है। उसे राग-द्वेष के कारण बन्ध का निमित्त होता है, वह चीज़ नहीं। वेदन में आया, उसमें राग-द्वेष के कारण वह बन्ध (का निमित्त हुआ)। क्योंकि यदि वह चीज़ बन्ध का कारण होवे तो समकिती को भी होना चाहिए। समझ में आया? सुमनभाई! ऐसा सूक्ष्म है। स्वरूप का जहाँ, शुद्ध चैतन्य पूर्णानन्द का नाथ प्रभु, वह दृष्टि में आया नहीं, विद्यमान जयवन्त चीज़, विद्यमान जयवन्त चीज़ दृष्टि में आयी नहीं और अविद्यमान रागादिभाव वे दृष्टि में आने पर राग-द्वेष के कारण से बन्ध का कारण होता है। समझ में आया? आहाहा!

रागादिभावों के सद्भाव से बन्ध का निमित्त होकर... निमित्त अर्थात् कारण। **(वह भाव) निर्जरा को प्राप्त होता हुआ...** अर्थात्? कि जो कुछ सुख-दुःख की कल्पना हुई, वह तो नाश होगी ही। अज्ञानी को भी नाश होगी और ज्ञानी को भी नाश होगी। आहाहा! क्योंकि एक समय की क्षणिक पर्याय है, इसलिए नाश तो होगी ही। जड़ का

नहीं, हों! वेदन की पर्याय का। आहाहा! बन्ध का कारण होकर निर्जरित होने पर भी अर्थात् कि यह राग (का) जरा वेदन आया, वह खिर गया, खिर गया तो भी **निर्जरित न होता हुआ,...** क्योंकि वहाँ राग का प्रेम है, उसने भगवान को देखा नहीं, इसलिए राग का प्रेम छूटता नहीं। उस राग के प्रेम के कारण वह वेदन है, वह खिर जाता है तो भी उसे निर्जरित हुआ, ऐसा नहीं कहा जाता, उसे बन्धन हुआ कहते हैं। आहाहा! समझ में आया?

(वास्तव में) निर्जरित न होता हुआ,... आहाहा! निर्जरित होने पर भी नहीं निर्जरित होता हुआ। आहाहा! वह पर्याय में आता है, वह पर्याय तो नाश होगी ही। जैसे जड़ का उदय आवे और खिर जाएगा; उसी प्रकार यह भी क्षणिक वेदन आकर खिर जाएगा। तो भी राग की एकतारूपी के कारण, निर्जरित होने पर भी उसे निर्जरित हुआ कहने में नहीं आता। आहाहा! ऐसी बातें! **निर्जरा को प्राप्त होता हुआ भी (वास्तव में) निर्जरित न होता हुआ,...** आहाहा! **बन्ध ही होता है;...** 'ही' है। अज्ञानी को वह पर्याय में जरा वेदन आया, वह तो खिर ही जाता है। वह विकृत अवस्था एक समय की कहीं दूसरे समय नहीं रहती। खिर जाने पर भी अज्ञानी को वह निर्जरित नहीं हुआ, क्योंकि उसके प्रति राग था, वह बन्ध का कारण होकर खिरा है। आहाहा! अब ऐसी सूक्ष्म बातें। आज दोपहर का दिन है न? सुना है न? दो-उन्नीस (मिनिट पर) गिरनेवाला है, कहते हैं। लोग चारों ओर घबरा गये। कहाँ गिरेगा.. कहाँ गिरेगा?

यहाँ तो कहते हैं कि जिस समय में जिस क्षेत्र में और उस काल में अज्ञानी की दृष्टि वहाँ राग के ऊपर है, इस वेदन में सुख-दुःख आने पर भी उस राग के कारण निर्जरित हुआ है, वह वेदन था, वह खिर गया, तथापि उसे निर्जरित हुआ नहीं कहा जाता। आहाहा! क्योंकि नया बन्धन करके खिरा है। आहाहा! ऐसी बात है। आज दो बजे है। समाचार तो आयेंगे। वे लोग पाँच-दस मिनिट में कितना दूर है और क्या है? देखते तो होंगे। आहाहा! उसे देखते होंगे वे, परन्तु मेरा नाथ भगवान अन्दर चैतन्य गोला पड़ा है, (उसे) सुना नहीं। आहाहा! विद्यमान जयवन्त चीज़ तो वह है। दोपहर में तो कहा था न? आयेगा दोपहर में।

पर्याय चक्षु को बन्द करके। पर को देखने की बात भी नहीं। आहाहा! पर को देखना बन्द करके, यह तो प्रश्न ही नहीं। आहाहा! प्रवचनसार ११४ गाथा। पर्याय को

देखना बन्द करके। नारकी, तिर्यंच, मनुष्य, देव और सिद्ध। सिद्धपर्याय को भी देखना भी बन्द करके। आहाहा! खुले हुए ज्ञान से। कारण वापस देखना है तो पर्याय से और पर्याय की आँख तो बन्द कर दी, ऐसा कहा। उस पर्याय को देखने की आँख बन्द की परन्तु अपने को देखने की आँख खुल गयी। आहाहा! यह शब्द है न? कल बहुत कहा था। खुले हुए, द्रव्य को देखनेवाले खुले हुए ज्ञान द्वारा। आहाहा! पर्याय को देखने की आँखें बन्द (करके)। पर को देखने की बात ही नहीं की, अरे रे! आहाहा! कि इसका ऐसा शरीर है और इसका ऐसा है और इसका ऐसा-ऐसा है। आहाहा! अपने को दो प्रकार से देखने में जो था, उसमें एक प्रकार का देखने का पर्याय का बन्द करके... आहाहा! पर्याय चक्षु को बन्द करके, खुले हुए द्रव्य के ज्ञान से, द्रव्यार्थिकनय से देखना है, वह ज्ञान खुला है। यहाँ बन्द हुआ है। आहाहा! यह सिद्धान्त तो देखो। आहाहा!

अन्तर में देखने पर... है तो देखने की पर्याय, परन्तु पर्याय, पर्याय को देखती है, उसे बन्द करके पर्याय, द्रव्य को देखती है। आहाहा! इसलिए उसे सब जीव भासित होता है, पाँच पर्यायें नहीं, सिद्ध पर्याय नहीं। आहाहा! वहाँ उसे सब जीव भासित होता है। इस प्रकार यहाँ जीव को नहीं भासनेवाला पर्यायदृष्टि में रहा हुआ... आहाहा! उसे सुख-दुःख का, साता-असाता का वेदन उल्लंघता नहीं, अर्थात् कि हुए बिना रहता नहीं। तथापि वह निर्जरित होने पर भी, हुए बिना रहता नहीं, ऐसे निर्जरित हुए बिना रहता नहीं। आहाहा! वह समय है, वह आकर खिर जाता है, तो भी उसकी दृष्टि में प्रेम, राग की पर्यायबुद्धि पड़ी है। आहाहा! उस राग की बुद्धि के कारण वेदन में आया, खिर गया होने पर भी उस अज्ञानी को खिर नहीं गया। आहाहा! ऐसी बातें हैं। उसे निर्जरित होने पर भी, ऐसा शब्द है न? क्योंकि वह तो पर्याय चाहे जो हो तो एक समय आकर नाश ही हो जाती है। चाहे तो अभव्य हो या भव्य हो, चाहे जो हो। आहाहा! पर्याय में एक समय की विकृत आयी, वह दूसरे समय में कहाँ से रहे? आहाहा! क्या शैली! सन्तों की शैली... आहाहा!

वह निर्जरित होने पर भी वास्तव में **निर्जरित न होता हुआ, बन्ध ही होता है;...** क्यों? रागादि भाव के सद्भाव के कारण। आहाहा! उसे भगवान आत्मा का प्रेम नहीं है। अनाकुल आनन्द का सुखसागर का पानी-जल, सुख के सागर का जल भरा हुआ प्रभु! आहाहा! उसकी नजरें नहीं होने से वेदन में राग और द्वेष किये बिना नहीं रहता, इसलिए

वह वेदन खिर जाने पर भी नया बन्ध करके जाता है, इसलिए (कहते हैं कि) वह खिरा नहीं है। आहाहा! आहाहा! ऐसा मार्ग है।

किन्तु... अब सम्यग्दृष्टि लेते हैं। वेदन तो दोनों को है, कहते हैं। आहाहा! पर्याय में साता-असाता का निमित्त है, परन्तु उस ओर लक्ष्य गया, इसलिए साता-असाता कही। नहीं तो साता-असाता कहीं सुख-दुःख (दे) ? साता-असाता तो संयोग में निमित्त है परन्तु स्वाभाविक दृष्टि नहीं है, इसलिए संयोग पर उसका लक्ष्य जाता है, इसलिए साता-असाता वेदनीय से सुख-दुःख हुआ, ऐसा कहकर, उस सुख-दुःख को निर्जरित होने पर भी, अज्ञानी की दृष्टि वहाँ है, इसलिए नया बन्ध करके जाता है; इसलिए निर्जरित नहीं हुआ। ज्ञानी को... आहाहा! पर्याय में सुख-दुःख की आसक्ति की अपेक्षा से... अभी वीतरागता हुई नहीं... आहाहा! इसलिए कहते हैं पर्याय में आवे, इतना अस्तित्व सिद्ध किया। आहा! तथापि उस पर्याय में ऐसा आने पर भी **सम्यग्दृष्टि के, रागादिभावों के अभाव से...** उसे उस सुख-दुःख के प्रति प्रेम नहीं है। आनन्द का प्रेम है और आनन्द की रुचि में उस वेदन के ऊपर की बुद्धि ही उठ गयी है। पर में सुखबुद्धि है, वह बुद्धि नाश हो गयी है और स्व में सुख है, वह बुद्धि उत्पन्न हुई है। आहाहा! इतनी सब शर्तें हैं। इसलिए **सम्यग्दृष्टि के, रागादिभावों के अभाव से...** उसे राग है ही नहीं। वेदन हुआ है परन्तु उसके प्रति राग ही है नहीं। आहाहा!

दृष्टि में भगवान वर्तता है। पूर्णानन्द का नाथ प्रभु, जयवन्त चीज़। जयवन्त चीज़ तीनों काल में जयवन्त वर्तती है। आहाहा! उसका तो तीनों काल में जय ही है, कहते हैं। आहाहा! दृष्टि करे उसे। आहाहा! **सम्यग्दृष्टि के, रागादिभावों के अभाव से...** उसका वेदन आने पर भी, उसके प्रति आदर नहीं है। आहाहा! आदर तो यहाँ भगवान के ऊपर है। स्वीकार नहीं। आहाहा! जिसने प्रभु को स्वीकार किया है, उसे सुख-दुःख के वेदन का स्वीकार ही नहीं है, कहते हैं। आहाहा! इसलिए उसे **रागादिभावों के अभाव से बन्ध का निमित्त हुए बिना,...** नया बन्ध हुए बिना **केवलमात्र निर्जरित होने से...** 'केवल' और 'ही' है। ऐसा कि थोड़ा सा भी बन्धन हो, वह इसमें नहीं लिया है। दूसरी जगह लेते हैं। ज्ञानी को जितने अंश में कमजोरी है, उतने अंश में अभी बन्धन है। जघन्य ज्ञानरूप परिणमन है, दृष्टि में जघन्यपना नहीं है। दृष्टि में तो पूर्णानन्द का नाथ आता है, परन्तु परिणमन में जघन्यता है, हीनता है, उतना उसे बन्ध का कारण होता है। आहाहा!

आस्रव में आया न? आस्रव (अधिकार की) १७१ गाथा। जघन्य परिणमन है। आहाहा! यहाँ यह बात नहीं लेनी है।

यहाँ तो **बन्ध का निमित्त हुए बिना, केवलमात्र...** शब्द है। है? है, देखो संस्कृत **'सन्निर्जरैव स्यात्'** संस्कृत (में) अन्तिम शब्द है। अमृतचन्द्राचार्य। उसमें ऐसा है— **'अनिर्जरणव' 'सन् बन्ध एव स्यात्' 'एव'**—'ही' है। यहाँ भी कहते हैं कि **'सन्निर्जरैव स्यात्'** निर्जरा ही है, निर्जरा ही है। आहाहा! संस्कृत का अन्तिम शब्द है। आहाहा! यह भगवान की वाणी है। सन्तों की साक्षी से जगत को प्रसिद्ध करते हैं। आहाहा! दिगम्बर मुनि... आहाहा! यह कहने के समय इनका भाव कैसा है! आहाहा! है भले विकल्प। टीका तो उनकी क्रिया है ही नहीं। आहाहा! कहते हैं कि विकल्प के प्रति भी जिन्हें प्रेम उड़ गया है। आहाहा! राग का राग नहीं, अरागी ऐसे भगवान का प्रेम है। आहाहा! इसलिए (कहते हैं कि) **केवलमात्र निर्जरित होने से...** आहाहा! केवल निर्जरा ही होने से **(वास्तव में) निर्जरित होता हुआ, निर्जरा ही होती है।** देखा? **निर्जरा ही होती है।** आहाहा!

उसमें भी यह है **'निमित्तमभूत्वा केवलमेव निर्जीर्यमाणो निर्जीर्णः सन्निर्जरैव स्यात्।'** दोनों में **'एव'** शब्द है। यह संस्कृत टीका। ऐसा उपदेश। वह तो यह शस्त्र पड़े, वह कब पडेगा, वह तो उस समय का होगा। यह तो कहते हैं कि जहाँ अन्दर में चोट पड़ी... आहाहा! राग को देखने की आँखें जहाँ देखने की बन्द कर दीं। आहाहा! और खुले हुए ज्ञान द्वारा द्रव्य को देखा। आहाहा! है तो वह खुला हुआ ज्ञान भी पर्याय, परन्तु पर्याय को देखने की आँख बन्द करके, पर्याय द्वारा द्रव्य को देखा। आहाहा! उसे तो अकेली निर्जरा ही है, कहते हैं। वेदन आया जरा, तो भी निर्जरा ही है। आहाहा! समझ में आया? यह तो वीतरागी सन्तों की वाणी है। अकेली वीतरागता घोली है। आहाहा!

भावार्थ : परद्रव्य भोगने में आने पर,... मूल आया था न, टीका में आया था न? टीका में ही है न? **'उपभुज्यमाने सति हि परद्रव्ये'** आहाहा! (टीका का) पहला शब्द है। यह निमित्त से कथन है। परद्रव्य को तो कोई आत्मा स्पर्श भी नहीं करता। अज्ञानी या ज्ञानी। आहा! परन्तु उसका लक्ष्य वहाँ जाता है, इसलिए परद्रव्य को भोगता है, ऐसा कहने में आता है। आहाहा! परद्रव्य की ओर लक्ष्य जाने पर अपने भाव का वेदन आता है,

इसलिए परद्रव्य को भोगता है, ऐसा कहा। आहाहा! बाकी तो परद्रव्य को देखने की बात भी बन्द कर दी। दोपहर को तो बात आयी थी न? गाथा बाकी है न?

पर्यायनय की आँख बन्द करके। पर को देखने की आँख की बात ही नहीं है। आहाहा! अपनी पर्याय को देखने की जो बात है, अरे! भले सिद्धपर्याय हो, साधक को नहीं है परन्तु सिद्धपर्याय होगी, उसका भी लक्ष्य अभी नहीं है। पर्याय का लक्ष्य छोड़कर... आहाहा! द्रव्य को खुले हुए ज्ञान द्वारा देखने पर। आहाहा! पर्यायचक्षु बन्द हुई है, इसलिए द्रव्य को देखने का ज्ञान खुला है। आहाहा! समझ में आया? इसलिए परद्रव्य को भोगने पर, ऐसा निमित्त से कथन है। परद्रव्य के ऊपर लक्ष्य जाता है, इसलिए परद्रव्य को भोगता है, ऐसा कहने में आया है। आहाहा! बाकी परद्रव्य की पर्याय और स्वद्रव्य की पर्याय के बीच तो महा (किला है)।

नियमसार में आता है। एक बार रात्रि में कहा था। आत्मा निर्भय है। 'निःदण्डो, निःदन्दो' आता है। उसमें ऐसा आता है कि आत्मा महादुर्ग-किला है। जिसमें पर्याय का प्रवेश नहीं। ऐसा जो भगवान दुर्ग / किला, वह अभय, निर्भय है। आहाहा! भगवान आत्मा निर्भय है। नियमसार में (४३वीं गाथा में) आता है। गाथाओं में आता है न 'णिद्दंडो णिद्दंद्दो णिण्भयो' आहाहा! वह दुर्ग / किला, जिसमें पर्याय को प्रवेश नहीं तो राग की तो बात ही क्या करना? कहते हैं। आहाहा! ऐसा यह भगवान निर्भय प्रभु है। निर्जरा का जो निःशंक और निर्भयता वह पर्याय में है, यह वस्तु में है। क्या कहा? समझ में आया? निर्जरा में जो निःशंक कहा, उसका अर्थ निर्भय कहा, वह पर्याय में है। यह तो वस्तु ही निर्भय है तो पर्याय में निर्भयता आती है। आहाहा! समझ में आया?

परद्रव्य भोगने में आने पर, कर्मोदय के निमित्त से जीव के सुखरूप अथवा दुःखरूप भाव नियम से उत्पन्न होता है। कितना यहाँ रखा? साता-असाता का नहीं रखा। **नियम से उत्पन्न होता है।** मिथ्यादृष्टि या सम्यग्दृष्टि को, दोनों को। दोनों को। आहाहा! **मिथ्यादृष्टि के रागादि के कारण...** पर्यायबुद्धि में राग की रुचि के प्रेम में पड़ा, **वह भाव आगामी बन्ध करके निर्जरित होता है...** उस वेदन का भाव नवीन बन्ध करके खिरता है। आहाहा! इसलिए वास्तव में खिरता है, ऐसा नहीं कहा जाता। निर्जरित होने पर भी निर्जरा नहीं कहा जाता। आहाहा! **इसलिए उसे निर्जरित नहीं कहा जा सकता;...**

है ? **आगामी बन्ध करके निर्जरित होता है, इसलिए उसे निर्जरित नहीं कहा जा सकता; अतः मिथ्यादृष्टि को परद्रव्य के भोगते हुए बन्ध ही होता है।** आहाहा! परद्रव्य भोगने पर अर्थात् परद्रव्य के लक्ष्य में आने पर, उस भाव को भोगने पर बन्ध ही होता है, ऐसा। ऐसी सूक्ष्म बातें। क्रियाकाण्ड के रसिया को एकान्त लगता है, चारों ओर चिल्लाहट मचाता है। सोनगढ़ एकान्त है, एकान्त है, एकान्त है। मचावे, शोर मचावे तो उसके पास रहा। आहाहा!

मुमुक्षु : घर में विवाह हो, उसे खबर न हो तो चिल्लाहट मचावे।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसकी पर्याय का भाषा का वहाँ परिणमन हो। उस समय की पर्याय ही परिणमन की हो, उसमें वह क्या करे ? वह तो अपने भाव को करे, भाषा तो (क्या करे) ? आहाहा! ऐसी बात कठिन पड़ती है। इसकी अपेक्षा तो व्रत करना और तपस्या करना, अपवास करना, भक्ति करना, मन्दिर बनाना, पाँच-पचास लाख का दान देना एकसाथ सब (वह सब सरल लगता है)।

एक व्यक्ति का पत्र आया है। ट्रस्ट के लिये पत्र है। गाँव में हमारा एक ही दिगम्बर का घर है, श्वेताम्बर के पैतीस घर हैं। मन्दिर नहीं है। चैत्यालय बनाओ। सोनगढ़ के ट्रस्ट की ओर से मदद मिलना चाहिए। कहो, अब पैसे की मदद माँगे। नीमच है, नीमच गाँव। कल आया है। कहो, अब यहाँ से पैसे की मदद माँगे। आहाहा! यहाँ तो कहते हैं कि राग का शुभभाव, उसकी भी मदद चाहे... आहाहा! वह कर्मबन्धन को करता है। आहाहा!

मुमुक्षु : सोनगढ़ धर्म का कल्पवृक्ष है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पैसे देनेवाले रामजीभाई के पास पैसे पड़े हैं। अभी तो रामजीभाई प्रमुखरूप से कर्ता-हर्ता हैं न ? इनसे माँगे। आहाहा! नाम है उसमें कुछ, मुख्य व्यक्ति।

मुमुक्षु : सोनगढ़ के पास बहुत पैसा है, ऐसी ख्याति है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बात सत्य है। अरे... ! प्रभु! ख्याति, बापू! किसे कहा जाता है ? आहाहा! ख्याति की पर्याय, बापू! उसके सामने देखना नहीं। आहाहा! आज दोपहर को फिर से आयेगा। ११४ गाथा। परद्रव्य को देखने की तो बात ही छोड़, कहते हैं। तुझमें पर्याय और द्रव्य दो हैं, उसमें पर्यायचक्षु बन्द कर दे। बाद में फिर पर्याय को उघाड़ने का कहेंगे। पहले पर्यायचक्षु बन्द करके द्रव्यचक्षु को (खोलकर देख)। बाद में कहेंगे, द्रव्यचक्षु को

बन्द करके पर्याय को देख। अर्थात् क्या? जो सम्यग्ज्ञान हुआ है, उसके द्वारा पर्याय को देख। आहाहा!

मुमुक्षु : दोनों आँख से तो आत्मा का सारा (सम्पूर्ण) वैभव नजर आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों आँख से तो प्रमाण ज्ञात होता है, वह भी आयेगा। उसमें पर्याय का निषेध नहीं आता, इसलिए प्रमाण, वह पूज्य नहीं है। चन्दुभाई! आता है न? आहाहा! आयेगा। दोनों आँख से देखना। वह तो ज्ञान कराने को आयेगा। परन्तु पहले द्रव्य का ज्ञान कराया, उसे पर्याय का ज्ञान होता है, वह दोनों को देखे तो उसे प्रमाणज्ञान कहा जाता है, परन्तु जहाँ अभी द्रव्य स्वयं ही क्या है? आहाहा! स्व को जाने बिना पर को जानने का विकास उघड़ा ही नहीं होता। आहाहा! स्व को जाने बिना पर को जानने का विकास उघड़ा ही नहीं होता। स्व को जानते हुए पर को जानने का विकास उघड़ा होता है। आहाहा! कठिन बात है, भाई! आहाहा! देखो न, वह दोपहर को गिरनेवाला है, इसलिए लोगों (में) घबराहट... घबराहट (हो गयी है)। यहाँ गाँव में भी कहते हैं, ऐसा हो गया है। भावनगर गिरनेवाला है तो यहाँ आवे तो? अच्छा खा लो। कहो! खाना हो वह खा लो।

मुमुक्षु : सोनगढ़ में तो दृष्टि का बम फोड़े तो मिथ्यात्व का चूरा हो जाए।

पूज्य गुरुदेवश्री : कोई नयी चीज़ है ही कहाँ बाहर में? आहाहा! जिसे राग स्पर्श नहीं करता, उसने परद्रव्य को स्पर्श किया, यह बात (कहाँ से होगी)? अभव्य को भी परद्रव्य स्पर्श नहीं करता। आहाहा! ऐसी चीज़ है। महँगी पड़े परन्तु प्रभु? (यह) करने से ही छुटकारा है। यह किये बिना भव के भ्रमण का (अन्त नहीं आयेगा)। आहाहा! यह नरक के दुःख... आहाहा! कैसा विषापहार? हैं? विषापहार (एक ही भाव) कैसे मुनि? वादीराज? वादीराज मुनि को जब शरीर में कुष्ठ (हुआ) है, पश्चात् भगवान की स्तुति करते हैं। प्रभु! मैं जहाँ भूतकाल के दुःखों को स्मरण करता हूँ, वहाँ मुझे चोट लगती है। चन्दुभाई! विषापहार (एकीभाव) स्तुति है न? आचार्य हैं। शरीर में कुष्ठ हुआ है, बाद में तो सहज ही शरीर बदल जाता है। ऐसा कहते हैं, प्रभु, आहाहा! मैं भूतकाल के नरक और निगोद के दुःखों को जहाँ याद करता हूँ, वहाँ आयुध के... क्या कहलाता है? आयुध... आयुध...। आयुध की चोट लगती है, प्रभु! उसमें मुझे पर में उत्साह कहाँ से आयेगा? नरक

की दस हजार वर्ष की स्थिति का एक क्षण का दुःख, यहाँ एक अग्नि, ताप कठोर आवे, वहाँ पंखा लगाओ, हवा करो। अरर! ऐसी तो अनन्त-अनन्तगुनी पीड़ा पहले नरक में (भोगी है)। भाई! अग्नि से सिंक गया और आयुष्य तो टूटता नहीं, आयुष्य पूरा होता नहीं, भाई! ऐसा तूने तैंतीस-तैंतीस सागर निकाले हैं, बापू! वह शीतवेदना...! आहाहा! जिसमें लाख मण का लोहे का गोला, लुहार के जवान लड़के ने घड़-घड़कर मजबूत किया हो, वह सातवीं नरक के नारकी की शीतवेदना में लाख मण का गोला चूरा (हो जाए)। तो भी एक घड़ी में जैसे घी पिघल जाता है (वैसे) पिघल जाता है। आहाहा! अग्नि की भाँति... क्या कहलाता है वह? अग्नि का। फटाका! अग्नि का फटाका में जैसे अग्नि रखे, वैसे वहाँ एक क्षण में लाख मण का लोहे का गोला शीत की वेदना में पिघलकर गल जाता है। प्रभु! तूने तैंतीस सागर अनन्त वहाँ निकाले हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : मुनि ऐसी पर्याय को याद करते होंगे?

पूज्य गुरुदेवश्री : उसमें याद करते हैं। स्वयं वैराग्य के लिये (याद करते हैं)। वैराग्य के लिये करते हैं न! आहाहा! हमें कहाँ पर में उत्साह आवे? प्रभु! ऐसा। हम ऐसे दुःख को जहाँ याद करते हैं, वहाँ कोई भी इज्जत, महिमा करे, प्रशंसा करे, हमारा मन वहाँ कहीं जाता नहीं। कहीं खिंचता नहीं, ललचाता नहीं, आहाहा! ऐसा कहते हैं। वे तो वैरागी मुनि सन्त हैं। वह तो जरा राजा को श्रावक से कहा गया कि तुम्हारे गुरु को तो कोढ़ है। ऐसे तुम्हारे गुरु कोढ़ (वाले)? गुरु ऐसे पवित्र कहलाते हैं, उन्हें कोढ़? श्रावक कहता है, महाराज! मेरे गुरु को कोढ़ नहीं है, ऐसा (श्रावक से) बोला गया। आहाहा! उसने गुरु के पास (जाकर) कहा, प्रभु! मुझसे ऐसा बोला गया है, बापू! अच्छा होगा। भगवान का मार्ग है। आहाहा! फिर ऐसी स्तुति शुरु की। प्रभु! आप जहाँ पधारते हो, वहाँ देव आकर आपकी माता की ऐसी स्थिति करता है मानो ऐसे पलंग में सुलाया हो, बैठे हों और आप जिस गाँव में आओ, उस गाँव में सोने के गढ़ और रत्न के कंगूरे होते हैं, प्रभु! और आपकी यह स्तुति करते हैं और इस शरीर में ऐसा रहे, प्रभु! नहीं रह सकता। ऐई! आहाहा! और सहज ही पुण्य का योग, इसलिए बना है।

मुमुक्षु : भगवान मिटाने नहीं आये?

पूज्य गुरुदेवश्री : मुझे तो यह कहना था, उसके दु:ख। यहाँ जरा सी अनुकूलता मिले, (उसमें) ऐसा ललचा जाता है। प्रभु! क्या है तुझे? वहाँ की पीड़ा की बात याद करें, वहाँ कहे—आयुध लगता है, प्रभु! आहाहा! हमें दूसरी बात में अब किस प्रकार सुहायेगा? कहते हैं। आहाहा! ऐसे दु:ख को जहाँ हम याद करते हैं, वहाँ हमें अनुकूलता के ढ़ेर आकर्षित कर जाए और ललचा जाए, (ऐसा कैसे बने)? ऐसा कहते हैं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं **सम्यक्दृष्टि के...** आहाहा! **रागादिक न होने से आगामी बन्ध किये बिना ही वह भाव निर्जरित हो जाता है, इसलिए उसे निर्जरित कहा जा सकता है;...** उसको निर्जरा होने पर भी बन्ध करता है, इसलिए निर्जरा नहीं कही जा सकती। इसे तो निर्जरा कही जा सकती है। वेदन जरा हुआ, वह छूट जाता है। छूटा, वह छूटा है। आहाहा! **सम्यक्दृष्टि के परद्रव्य भोगने में आने पर निर्जरा ही होती है। इस प्रकार सम्यक्दृष्टि के भाव निर्जरा होती है।** लो! पहली गाथा में द्रव्य निर्जरा की (बात) थी, दूसरी में भाव निर्जरा की (बात कही)।

कलश - १३४

अब आगामी गाथाओं की सूचना के रूप में श्लोक कहते हैं:-

(अनुष्टुप्)

तज्ज्ञानस्यैव सामर्थ्यं विरागस्यैव वा किल।
यत्कोऽपि कर्मभि: कर्म भुञ्जानोऽपि न बध्यते ।।१३४।।

श्लोकार्थ : [किल] वास्तव में [तत् सामर्थ्यं] वह (आश्चर्यकारक) सामर्थ्य [ज्ञानस्य एव] ज्ञान की ही है [वा] अथवा [विरागस्य एव] विराग की ही है [यत्] कि [क: अपि] कोई (सम्यग्दृष्टि जीव) [कर्म भुञ्जान: अपि] कर्मों को भोगता हुआ भी [कर्मभि: न बध्यते] कर्मों से नहीं बँधता! (वह अज्ञानी को आश्चर्य उत्पन्न करती है और ज्ञानी उसे यथार्थ जानता है।)।।१३४।।

कलश - १३४ पर प्रवचन

१३४ कलश,

तज्ज्ञानस्यैव सामर्थ्यं विरागस्यैव वा किल।
यत्कोऽपि कर्मभिः कर्म भुञ्जानोऽपि न बध्यते।।१३४।।

आहाहा! **वास्तव में वह (आश्चर्यकारक) सामर्थ्य... [तत् सामर्थ्यं]** ऐसा है न? **वह (आश्चर्यकारक) सामर्थ्य... [ज्ञानस्य एव]** आहाहा! वह तो आत्मा का है। आहाहा! चैतन्य भगवान आनन्द का सागर, अकेले सुख के सागर के नीर से भरपूर। उस सागर में पानी भरा है और यहाँ सुख का सागर, सुख भरा है। आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द के नीर से भरपूर भगवान... आहाहा! उसके ज्ञान का ही यह सब माहात्म्य है। आहाहा! यह सब आत्मा के स्वभाव का माहात्म्य है। **अथवा विराग की ही है...** पर की ओर का वैराग्य। पुण्य और पाप के भाव से विरक्त और स्वभाव में रक्त। अज्ञानी स्वभाव से विरक्त और पुण्य-पाप में रक्त है। दृष्टि गुलाँट खाती है। आहाहा! सम्यग्दृष्टि स्वभाव में रक्त और पुण्य-पाप के दोनों भाव से विरक्त, उसे वैराग्य कहते हैं। बाहर की दुकान, स्त्री, पुत्र छोड़कर बैठा, इसलिए वैरागी है—ऐसा नहीं है। शुभ और अशुभराग से जो वैराग्य करता है, उसमें से रक्तपना छोड़ देता है। आहाहा! उसे ज्ञानी और वैरागी कहने में आता है। आहाहा! ऐसी बात है।

वास्तव में... [तत् सामर्थ्यं] वह (आश्चर्यकारक) सामर्थ्य ज्ञान को ही है अथवा विराग की ही है... [कः अपि] कोई (सम्यग्दृष्टि जीव)... [कर्म भुञ्जानः अपि] कर्मों को भोगता हुआ भी... आहाहा! जनेता को नग्न देखने पर जैसे लज्जित हो जाता है; उसी प्रकार समकिती परवस्तु को भोगने पर लज्जा को प्राप्त हो जाता है। उसकी ओर के आश्रय में लज्जा पा जाता है। अरे रे! यह क्या? आहाहा! सूक्ष्म बात है, प्रभु! मार्ग बहुत सूक्ष्म है। वह नहीं हुआ था? गाँधी। नौआखली देश में नहीं? मुसलमान हिन्दुओं को ऐसा नुकसान करते कि चालीस वर्ष की माँ और बीस वर्ष का लड़का, दोनों को नग्न करके (भिड़ाते)। अरे.. प्रभु! जमीन मार्ग दे तो समा जाएँ। यह क्या करता है? आहाहा! उसी प्रकार धर्मी को

परद्रव्य के प्रति प्रेम ऐसा उड़ गया है। आहाहा! कि जिसके आत्मा के प्रेम के कारण पर से तो पुण्य-पाप के विकल्प से भी जिसे वैराग्य हो गया है। आहाहा! यह गाथा कहेंगे। ज्ञान और वैराग्य का सामर्थ्य कहते हैं न? उसका यह कलश है, वह उपोद्घात है।

कोई (सम्यग्दृष्टि जीव)... [कर्म भुञ्जानः अपि] कर्मों को भोगता हुआ भी कर्मों से नहीं बँधता!... यह 'कर्म' शब्द से जरा राग आता है, तथापि वहाँ राग का प्रेम नहीं है। इसलिए बँधता नहीं है। भाषा कर्म की ली है। **(वह अज्ञानी को आश्चर्य उत्पन्न करती है और ज्ञानी उसे यथार्थ जानता है।)** अज्ञानी को आश्चर्य होता है कि आहाहा! छह खण्ड का राज्य, इतना भोग और कुछ नहीं? और हम महाव्रतधारी, हजारों रानियाँ छोड़कर बैठे, तो भी हमें अभी वैराग्य भी नहीं? बापू! यह वस्तु ऐसी है। शुभ-अशुभभाव से हट जाने पर, स्वभाव में-अस्तित्व में जाने से शुभाशुभभाव में नास्तिपना आने पर जो वैराग्य होता है, उसे वैराग्य कहते हैं। आहाहा! विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा - १९५

अथ ज्ञानसामर्थ्यं दर्शयति –

जह विसमुवभुंजंतो वेज्जो पुरिसो ण मरणमुवयादि।
पोग्गल–कम्मस्सुदयं तह भुंजदि णेव बज्झदे णाणी।।१९५।।

यथा विषमुपभुञ्जानो वैद्यः पुरुषो न मरणमुपयाति।
पुद्गलकर्मण उदयं तथा भुंक्ते नैव बध्यते ज्ञानी।।१९५।।

यथा कश्चिद्विषवैद्यः परेषां मरणकारणं विषमुपभुञ्जानोऽपि अमोघविद्यासामर्थ्येन निरुद्धतच्छक्तित्वान्न म्रियते तथा अज्ञानिनां रागादिभावसद्भावेन बन्धकारणं पुद्गलकर्मोदय–मुपभुञ्जानोऽपि अमोघज्ञानसामर्थ्यात् रागादिभावानामभावे सति निरुद्धतच्छक्तित्वान्न बध्यते ज्ञानी।।१९५।।

अब ज्ञान का सामर्थ्य बतलाते हैं:–

ज्यों जहर के उपभोग से भी, वैद्य जन मरता नहीं।
त्यों उदयकर्म जु भोगता भी, ज्ञानिजन बँधता नहीं।।१९५।।

गाथार्थ : [यथा] जिस प्रकार [वैद्यः पुरुषः] वैद्य पुरुष [विषम् उपभुंजानः] विष को भोगता अर्थात् खाता हुआ भी [मरणम् न उपयाति] मरण के प्राप्त नहीं होता, [तथा] उसी प्रकार [ज्ञानी] ज्ञानी पुरुष [पुद्गलकर्मणः] पुद्गलकर्म के [उदयं] उदय को [भुंक्ते] भोगता है, तथापि [न एव बध्यते] बँधता नहीं है।

टीका : जिस प्रकार कोई विषवैद्य, दूसरों के मरण के कारणभूत विष को भोगता हुआ भी, अमोघ (रामबाण) विद्या की सामर्थ्य से–विष की शक्ति रुक गयी होने से नहीं मरता, उसी प्रकार अज्ञानियों को, रागादिभावों का सद्भाव होने से बन्ध का कारण जो पुद्गलकर्म का उदय, उसको ज्ञानी भोगता हुआ भी, अमोघ ज्ञान की सामर्थ्य द्वारा रागादिभावों का अभाव होने से–कर्मोदय शक्ति रुक गयी होने से, बन्ध को प्राप्त नहीं होता।

भावार्थ : जैसे वैद्य मंत्र, तंत्र, औषधि इत्यादि अपनी विद्या की सामर्थ्य से विष

की घातकशक्ति का अभाव कर देता है, जिससे विष के खा लेने पर भी उसका मरण नहीं होता; उसी प्रकार ज्ञानी के ज्ञान का ऐसा सामर्थ्य है कि वह कर्मोदय की बन्ध करने की शक्ति का अभाव करता है और ऐसा होने से कर्मोदय को भोगते हुए भी ज्ञानी के आगामी कर्मबन्ध नहीं होता। इस प्रकार सम्यक्ज्ञान की सामर्थ्य कही गयी है।

प्रवचन नं. २७२, गाथा-१९५-१९६, गुरुवार, आषाढ़ कृष्ण ३
दिनाङ्क १२-०७-१९७९

समयसार १९५ गाथा।

जह विसमुवभुंजंतो वेज्जो पुरिसो ण मरणमुवयादि।
पोग्गल-कम्मस्सुदयं तह भुंजदि णेव बज्झदे णाणी।।१९५।।

ज्यों जहर के उपभोग से भी, वैद्य जन मरता नहीं।
त्यों उदयकर्म जु भोगता भी, ज्ञानिजन बँधता नहीं।।१९५।।

टीका : जिस प्रकार कोई विषवैद्य, दूसरों के मरण के कारणभूत... दूसरे तो यदि खावे तो मर जाए, ऐसा जहर। **विष को भोगता हुआ भी, अमोघ (रामबाण) विद्या की सामर्थ्य से-** अमोघ विद्या, सफल विद्या, रामबाण विद्या। इस विद्या के प्रयोग से वैद्य जहर में मरने का है, वह नहीं रहता। **विद्या की सामर्थ्य से-विष की शक्ति रुक गयी होने से...** है? जहर की शक्ति वहाँ रुक जाती है। यह तो दृष्टान्त है। **नहीं मरता, उसी प्रकार अज्ञानियों को, रागादिभावों का सद्भाव होने से बन्ध का कारण...** ऐसा कहा था न पहले? **विषवैद्य, दूसरों के मरण के कारणभूत...** ऐसा कहा था। उसमें अज्ञानी (को) आत्मा के आनन्द के स्वाद की खबर नहीं, अतीन्द्रिय आनन्द प्रभु है, उसकी उसे खबर नहीं। ऐसे अज्ञानियों को **रागादिभावों का सद्भाव होने से बन्ध का कारण जो पुद्गलकर्म का उदय...** आहाहा! **उसको ज्ञानी भोगता हुआ भी,...** भाषा समझाने के लिये तो ऐसा ही कहे न? बाकी वास्तव में तो धर्म ऐसी चीज़ है कि आत्मा के आनन्द के स्वाद में, उसे रागादि आवे, वह सब ज्ञानी को जहर जैसा लगता है। आहाहा! धर्म चीज़ कोई ऐसी है। साधारण कोई बात नहीं कि दया पालन की और व्रत किये और अपवास किये, (इसलिए) हो गया धर्म।

धर्म तो धर्मी ऐसा जो आत्मा, उसे स्पर्श कर जो ज्ञान और आनन्द आवे, उस ज्ञान और आनन्द के बल से अज्ञानी को जो कर्म भोगना बन्द होता है... आहाहा! **उसको ज्ञानी भोगता हुआ भी,...** आहाहा! **हुआ भी, अमोघ ज्ञान की सामर्थ्य...** उसमें अमोघ विद्या का सामर्थ्य था। इसमें अमोघ ज्ञान का सामर्थ्य (लिया)। आहाहा! यह ज्ञान का सामर्थ्य अर्थात्? चैतन्यस्वभाव पूर्ण आनन्द और पूर्ण ज्ञान और पूर्ण वीतरागस्वरूप, ऐसा जो अनुभव में आया है, उस अनुभव के सामर्थ्य के बल द्वारा अज्ञानी को जो रागादि के कारण से बन्ध का कारण था, वह ज्ञानी को निर्जरा का कारण होता है। आहाहा! परन्तु कारण यह। आहाहा!

आत्मा का स्वभाव, वह तो परमात्मस्वरूप है। परमस्वरूप, प्रत्येक गुण परमस्वरूप से पूर्ण विराजता है। ऐसे स्वरूप का स्वसंवेदन, स्व अर्थात् अपना सं (अर्थात्) प्रत्यक्ष; पर की अपेक्षा बिना वेदन हो, उस वेदन के समक्ष अज्ञानी को जो रागादि के कारण से उदय में बन्ध होता था, वह ज्ञानी को उदय में बन्ध नहीं होता। आहाहा! ऐसा चैतन्य का माहात्म्य है। ऐसा माहात्म्य कोई दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम का ऐसा माहात्म्य नहीं है। वह तो बन्ध के कारण हैं, संसार, घोर संसार है। आहाहा! तब भगवान आत्मा, पूर्ण अतीन्द्रिय ज्ञान और आनन्द का वेदन होने से ज्ञानी को; जो अज्ञानी को बन्ध का कारण है, वही ज्ञानी को निर्जरा का कारण है। है?

अमोघ ज्ञान की सामर्थ्य द्वारा रागादिभावों का अभाव होने से-... क्योंकि उसे राग का प्रेम ही नहीं है, जहर देखता है। आहाहा! आत्मा के अमृत के अतीन्द्रिय, अचिन्त्य, अनन्त काल में नहीं वेदन किया-जाना, ऐसा आत्मा का स्वभाव वेदन किया, उस स्वभाव के बल के जोर से। अमोघ बाण अर्थात् यह। आहाहा! **रागादिभावों का अभाव होने से-...** जरा राग है परन्तु राग का राग नहीं है। वीतरागस्वरूप प्रभु (विराजता है), उसके प्रेम में स्वसंवेदन के समक्ष राग की कुछ कीमत नहीं है। आहाहा! बाहर की चीज़ की तो कोई कीमत है ही नहीं। शरीर, पैसा और इज्जत, वह कोई चीज़ नहीं है। वह तो जगत की जड़ चीज़ है परन्तु आत्मा के आनन्द के स्वाद के समक्ष कर्म के उदय का राग आवे और भोगे भी सही... आहाहा! परन्तु ज्ञान और आनन्द के स्वाद की मिठास की अधिकता के कारण, उस राग में मिठास उड़ गयी है। ऐसी बात है। चाहे तो चक्रवर्ती का

राज है, परन्तु वह तो जड़ है, पर है। उसमें तो सुखबुद्धि उड़ गयी है, धर्मी को अपनी सुखबुद्धि हुई, इसलिए पर में से तो सुखबुद्धि उड़ गयी है। परन्तु राग में से भी सुखबुद्धि उड़ गयी है। आहाहा! कितनी शर्तोंवाला धर्म! ऐसा धर्म है।

उस **अमोघ ज्ञान की सामर्थ्य द्वारा...** ज्ञान अर्थात् अकेला जानना, ऐसा नहीं। वह जानना, ऐसा तो ग्यारह अंग का ज्ञान अनन्त बार हुआ, परन्तु ज्ञानस्वरूप ऐसा आत्मा, उसे स्पर्श कर स्वसंवेदन हो। स्व (अर्थात्) अपना, सं (अर्थात्) प्रत्यक्ष। पर और राग के विकल्प और पर की अपेक्षा बिना (हुआ ज्ञान), उस वेदन के बल से उसे राग के वेदन में प्रेम और रुचि नहीं हुई; इसलिए वह राग खिर जाता है। आहाहा! **बन्ध को प्राप्त नहीं होता।** है?

रागादिभावों का अभाव होने से–कर्मोदय शक्ति रुक गयी होने से,... आहाहा! कर्म का उदय है, नये बन्ध का कारण होता है, वह शक्ति रुक गयी है। आहाहा! अमोघ आत्मा के आनन्द के स्वाद के सामर्थ्य द्वारा **रागादिभावों का अभाव होने से...** (अर्थात्) राग का राग न होने से। आहाहा! एक म्यान में दो तलवार नहीं रहती। उसी प्रकार जिसे आत्मबुद्धि, सुखबुद्धि अन्दर में उत्पन्न हुई, उसे राग में सुखबुद्धि उड़ जाती है। आहाहा! परद्रव्य की तो बात ही क्या करना? परद्रव्य में तो कहीं है ही नहीं, सुख भी नहीं और दुःख भी नहीं, वह तो ज्ञेय है। परन्तु पर्याय में राग है, (वह) दुःख है और ज़हर है। चाहे तो शुभराग हो तो भी घोर संसार है। भगवान आत्मा राग की आकुलतारहित चीज़, ऐसी अनाकुल चीज़ के वेदन के समक्ष राग का भाग आवे, तो भी उसका वेदन नहीं है। वेदता है, यह तो पहले थोड़ा आ गया, वह अलग, परन्तु स्वामीपना, स्वामित्वरूप से वेदन नहीं है, मेरेपने से वेदन नहीं है। आहाहा! ऐसा धर्म।

रागादिभावों का अभाव होने से–कर्मोदय शक्ति रुक गयी होने से,... आहाहा! क्या कहते हैं? पूर्व का जो कर्म का उदय है, उससे राग होकर बन्धन होता है, वह शक्ति रुक गयी। कर्मोदय के उदय की शक्ति, उसके लक्ष्य से जरा राग हुआ, वह भी रुक गया। राग का रस नहीं रहा, ज़हर है। आहाहा! जिसे इन्द्र के इन्द्रासनों के भोग ज़हर जैसे दिखते हैं। समकिती को आत्मा के आनन्द के स्वाद के समक्ष इन्द्र के इन्द्रासन और इन्द्राणियों के भोग ज़हर जैसे दिखते हैं। इस कारण से कर्मोदय की शक्ति जो बन्ध का कारण हो, ऐसा राग हो, वह राग इसे नहीं होता। आहाहा! ऐसी बात है।

मुमुक्षु : कर्म तो पुद्गल है, उसकी शक्ति किस प्रकार रुके ?

पूज्य गुरुदेवश्री : शक्ति अर्थात् कर्म होकर यहाँ राग होता है, उसमें निमित्त होता है न ? यहाँ तो कहते हैं, उसे राग ही नहीं होता—ऐसा कहते हैं। कर्मोदय की शक्ति अर्थात् वह तो जड़ है, परन्तु उसके लक्ष्य से जरा राग होता है, वह राग हुआ, वह इसे हुआ ही नहीं, कहते हैं। क्योंकि उदय आया तो उसका बन्ध का कारण होता है, परन्तु यहाँ बन्ध का कारण नहीं होता। इसलिए कर्मोदय की शक्ति रुक गयी, राग ही हुआ नहीं। हुआ, वह हुआ नहीं। हुआ, वह हुआ नहीं। आहाहा!

अपने आनन्द के खिंचाव के समक्ष, सम्यग्दर्शन अर्थात् अपने आनन्द का खिंचाव हो गया है। जैसे लोहचुम्बक सुई खेंचती है; उसी प्रकार अतीन्द्रिय आनन्द का खिंचाव हो गया है। उसके प्रेम और खिंचाव से कर्मोदय से जरा राग हुआ, उसका खिंचाव टल गया है। आहाहा! ऐसा मार्ग है। अत्यन्त निवृत्तस्वरूप है। सारी दुनिया के पदार्थों से तो निवृत्तस्वरूप है, परन्तु रागादि का विकल्प उठे, उससे भी प्रभु तो निर्विकल्पस्वरूप, अत्यन्त निवृत्तस्वरूप है। आहाहा! ऐसे निवृत्तस्वरूप का जहाँ अन्दर स्वाद आया, उसका स्वसंवेदन आया... आहाहा! उसमें जो आनन्द, ज्ञान और शान्ति थी, उसका नमूना जहाँ दशा में आया, उस वेदन के समक्ष राग की कोई कीमत नहीं रही। आहाहा! ऐसा मार्ग है। राग आता है तो भी उसकी कीमत नहीं रही। अनमूल्य चीज़ का जहाँ मूल्य हुआ... आहाहा! अनमोल चीज़ प्रभु है, उसका जहाँ मूल्य अर्थात् कीमत जहाँ हुई, वहाँ रागादि की कीमत उड़ जाती है।

इसीलिए कर्मोदय के उदय की शक्ति रुक गयी है, ऐसा कहते हैं। उसका अर्थ यह कि उदय से जो बन्ध होता है, वह बन्ध नहीं होता। आहाहा! इस ओर विशेष उदय हो गया है। अतीन्द्रिय स्वसंवेदन और आनन्द के जोर के बल से वह शक्ति रुक गयी, यह शक्ति बढ़ गयी। समझ में आया ? आहाहा!

भगवान अतीन्द्रिय आनन्द का दल, जैसे मक्खन का पिण्ड हो, वैसे यह प्रभु अतीन्द्रिय आनन्द का पिण्ड है। आहाहा! उसका जहाँ वेदन आया, उस वेदन के समक्ष कर्मोदय से हुआ जरा राग... हुआ है कमजोरी के कारण, परन्तु उससे फिर बन्ध नहीं होता। ऐसा स्वरूप है।

जिसे अभी यह बात ज्ञान में भी नहीं आती, वह वेदन में कब आवे ? आहाहा ! ज्ञान में भी अभी यह बात बैठती नहीं और यह दया, दान और व्रत और यह विकल्प हैं, वे कारण होंगे, (ऐसा मानता है)। कारण होंगे, उनका प्रेम कैसे जाए ? आहाहा ! उनसे लाभ होगा, उन्हें अपने से भिन्न कैसे माने ? उनसे आकर्षण कैसे विमुख हो ? आहाहा ! अज्ञानी को राग आकर्षण करता है। आहाहा ! क्योंकि भगवान आत्मा अतीन्द्रिय सुख का नीर भरा है। अतीन्द्रिय सुख का सागर भरा है। ऐसे सुख के सागर के नमूने में, नमूने में... पूरा स्वाद तो पर्याय में कहाँ से आवे ? आहाहा ! सुमनभाई ! है वहाँ कहीं तुम्हारे ? नहीं कहीं। वहाँ पैसा है। इतना अधिक पैसेवाला, तीन-चार करोड़ रुपये की आमदनी। बड़े राजा की तरह। धूल में सब भिखारी है, रंक है।

आत्मा की बादशाही, अनन्त गुण से भरपूर भगवान का आदर छोड़कर एक राग के कण को, उसके फलरूप से प्राप्त सामग्री का आदर करता है, वह भगवान का अनादर करता है। आहाहा ! और जिसे भगवान आत्मा का आदर हुआ, अनुभव करके, हों ! स्वसंवेदन होकर... आहाहा ! यह चीज़ दुनिया में कहीं, इसके समक्ष किसी की कीमत नहीं। आहाहा ! ऐसा जो आत्मज्ञान... आत्मज्ञान न ? निमित्त का, राग का और पर्याय का ज्ञान, ऐसा नहीं कहा। आत्मज्ञान। वस्तु है, उसका ज्ञान। आहाहा ! उस ज्ञान में आनन्द आने पर कर्मोदय की शक्ति राग से नया बन्धन होना चाहिए, वह रुक जाता है। देवीलालजी ! ऐसी बात है। आहाहा !

मुमुक्षु : राग एकदम रूखा हो गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : रूखा नहीं, अब है ही नहीं। है ही नहीं ? आहाहा ! काला नाग ऐसे देखे, वहाँ नजदीक जाता होगा ? पाँच हाथ का लम्बा काला, मोटा (नाग देखे तो) नजदीक जाता होगा ? आहाहा ! इसी प्रकार आत्मा के आनन्द के स्वस्वाद के समक्ष राग है, वह काला नाग है। यह शुभराग, हों ! अशुभराग के पाप हिंसा, झूठ, चोरी, विषयवासना की तो बात क्या करना ? बापू ! वह तो... आहाहा !

ज्ञानी को शुभराग में प्रेम नहीं आता। आहाहा ! यह अन्तर स्व के वेदन का है। अनादि का जो राग का वेदन था, कर्मचेतना का वेदन था, वह जहाँ ज्ञान का वेदन होता है— ज्ञानचेतना, पर्याय में, हों ! आहाहा ! अकेली ज्ञानचेतना नहीं, ज्ञान के साथ आनन्द का

चेतना-वेदना। आहाहा! अनन्त गुणों की शक्ति की व्यक्ति का वेदन करना। आहाहा! उसे पूर्व के कर्म का उदय, अज्ञानी को बन्ध का कारण है, वह इसे (ज्ञानी को) बन्ध का कारण नहीं होता। आहाहा! देखो! यह वीतरागमार्ग। आहाहा!

जैन परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकर वीतराग ने जिसे खान खोलकर बतलाया कि आहा! तेरी खान में तो प्रभु! अनन्त-अनन्त गुण भरे हैं। पार नहीं होता, पार नहीं होता, भाई! क्षेत्र से देखो तो छोटा शरीरप्रमाण लगता है, परन्तु तू भाव से देख तो प्रभु! पार नहीं है। आहाहा! उस खान में इतने गुण और इतनी शान्ति और इतना आनन्द और इतनी स्वच्छता और इतनी प्रभुता भरी है कि एक-एक गुण का अन्त नहीं आता। अनन्त गुण की संख्या का तो अन्त नहीं आता... आहाहा! अनन्त-अनन्त गुण की संख्या का तो अन्त नहीं आता परन्तु एक-एक गुण की शक्ति के सामर्थ्य का अन्त नहीं आता। आहाहा! ऐसे गुण के वेदन के समक्ष धर्मी को कर्म का उदय बन्ध का कारण, वह रुक जाता है। ऐसी बात है। इतने अपवास करे, इसलिए रुक जाता है; ऐसा मन्दिर बनावे, पाँच-पचास लाख खर्च करके मन्दिर बनावे, उसके साथ क्या है? लोग बाह्य की प्रवृत्ति देखकर उसमें से माप निकालते हैं कि इसने कुछ किया। किया, पर के कर्तापने की बुद्धि की है। आहाहा!

यहाँ तो प्रभु है, उसने अन्दर क्या किया? महाप्रभु विराजता है, वह राग की आड़ में प्रभु तुझे दिखायी नहीं देता। विशाल समुद्र पानी से भरा हो, चार हाथ की पर्यंच—कपड़ा यदि किनारे डाले तो नहीं दिखता, भरा हुआ समुद्र नहीं दिखता। इसी प्रकार भगवान अनन्त गुण से, शान्ति-आनन्द से भरपूर भगवान है। परन्तु राग के कण की मिठास की पट्टी कपड़े के आड़ में प्रभु नहीं दिखायी देता। आहाहा! कान्तिभाई! ऐसा कभी सुना नहीं। आहाहा! पोपटभाई के साले के पास बहुत पैसा था। (उसका) लड़का आया था। तुम्हें खबर है? तुम वहाँ थे? वहाँ आया था, मुम्बई आया था, चरणवन्दन किया था। ऐसा बोला, मेरे पिताजी को आने का भाव था, ऐसा बोला। रामजीभाई थे न? मेरे बापू का भाव था, ऐसा बोला। यहाँ आया, इसलिए (बोलना पड़े)। दो-ढाई अरब रुपये। रचपच गया, मर गया। अर.. र..!

यह तो अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अरबों गुणों का पार नहीं। अनन्त अरब, हों! अनन्त अरब जो अन्तिम अनन्त अरब में अन्तिम अनन्त जिसमें नहीं। आहाहा!

ऐसा जो भगवान आत्मा, उसका जिसने पता लिया। आहाहा! जिसके पाताल का पार नहीं होता, उसका पता लिया। कहा था न पहले? जगत का पानी है, पाताल कहते हैं, परन्तु उसका अन्त आ जाता है। पाताल के नीचे नरक है। चाहे जितने पानी गहरा... गहरा... गहरा हो परन्तु तुरन्त पहले नरक का पासड़ा है। एक हजार योजन में है। उसके ऊपर पानी होता है, पानी अन्दर नहीं है। आहाहा! चौदह ब्रह्माण्ड में जमीन बहुत है और पानी थोड़ा है, पाताल थोड़ा है। आहाहा! इस भगवान में पाताल बहुत है। आहाहा! ऐसा जिसे अन्दर भान हुआ, उसे अब बन्धन नहीं होता। इसलिए अबन्धस्वरूपी का वेदन आया।

अबन्धस्वरूपी भगवान मुक्तस्वरूपणी है। आत्मा मुक्तस्वरूप है, उस मुक्तस्वरूप की पर्याय में अंश में जहाँ मुक्ति आयी, आहाहा! उसके समक्ष बन्धन की कोई कीमत नहीं रही। जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बाँधे, उसकी भी कीमत नहीं रही। आहाहा! आता है, भाव आता है, होवे उसका मूल्य, आँक न रह्या अब। मूल्य करता था कि ओहो! ओहो! ओहो! उस अमूल्य चीज़ को देखने पर उस राग की मूल की सब कीमत उड़ गयी। आहाहा! ऐसा कैसा धर्म? आहाहा! बापू! इसने एक समय भी वहाँ नजर नहीं की है। जहाँ निधान भरे हैं, वहाँ एक समय नजर नहीं की है और जिसमें कुछ नहीं है, उसमें अनन्त काल से वहाँ नजरबन्दी हो गयी है। नजरबन्दी! आहाहा! नजर से बँध गया है। आहाहा! राग और राग के फल में जिसे नजर बँध गयी है, उसकी नजर अन्तर में नहीं जाती। आहाहा! और अन्तर में जिसकी नजर गयी, उसे राग और राग के फल की नजरें और कीमत नहीं रहती। आहाहा! घीयाजी! पैसे-बैसे की तो धूल भी कुछ कीमत नहीं है, यहाँ ऐसा कहते हैं। करोड़ोंपति, अरबोंपति और धूलपति। धूलपति! यह चैतन्यपति! आहाहा!

भावार्थ : जैसे वैद्य मंत्र, तंत्र, औषधि इत्यादि अपनी विद्या की सामर्थ्य से विष की घातकशक्ति का अभाव कर देता है... आहाहा! आचार्य दृष्टान्त कैसा देते हैं! कुन्दकुन्दाचार्य का दृष्टान्त है—'विषभुजन्तो'। आहाहा! **जिससे विष के खा लेने पर भी उसका मरण नहीं होता, उसी प्रकार ज्ञानी के ज्ञान का ऐसा सामर्थ्य है...** ज्ञानी को आनन्द और शान्ति आयी है, इसलिए इतना सामर्थ्य है। अकेले जानपने की बात नहीं है। आहाहा! ज्ञानी को ज्ञान का अर्थात् आत्मा का (सामर्थ्य है)। अनन्त... अनन्त... अनन्त... गुण जितने हैं, (उन) सबका सामर्थ्य पर्याय में भान हो गया है, वेदन में आ गया

है, भगवान को भरोसे में ले लिया है। आहाहा! राग के भरोसे जो रमता था, उसने आत्मा भगवान है, उसे भरोसे में ले लिया है। उसका भरोसा अब टलता नहीं। आहाहा! उस भरोसे के समक्ष तीर्थंकरगोत्र के भाव का भरोसा, (उसकी) भी कीमत उड़ गयी है। आहाहा! ऐसी चीज़ है। लोगों को सोनगढ़ का एकान्त लगता है, हों! दूसरा सब चारों ओर से चलता है न, इसलिए यह एकान्त लगता है। बापू! है तो एकान्त ही यह। एकान्त ही है, सम्यक् एकान्त है। आहाहा! प्रभु पूर्णानन्द का नाथ जहाँ अन्दर में ढलता है, वह सम्यक् एकान्त है। आहाहा! उसके समक्ष दया, दान, व्रत और अपवास के परिणाम की कोई कीमत ही नहीं है। कीमत होवे तो ज़हर की कीमत हो, वैसी कीमत है। आहाहा!

धर्मी को आत्मा का सामर्थ्य ऐसा है कि, ज्ञान का लिखा न? **कि वह कर्मोदय की बन्ध करने की शक्ति का अभाव करता है...** देखा? (टीका में) अन्तिम आया था न? कर्मोदय की शक्ति रुक गयी है, उसका अर्थ किया। कर्मोदय है और उसके कारण राग होता है और बन्ध होता है, वह रुक गया है, **अभाव करता है...** आहाहा! **ऐसा होने से कर्मोदय को भोगते हुए भी...** जरा राग आता है, कहते हैं। और राग को भोगता-वेदता भी है परन्तु वह ज़हर का वेदन लगता है। आहाहा! अमृत के चौसले के स्वाद के समक्ष ज़हर का-राग का स्वाद उसे नहीं आता। आहाहा! इसलिए उसे राग होता ही नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! ऐसा मार्ग समझना। वह तो दया, दान, व्रत, भक्ति और अपवास (करने का कहे तो) समझ में तो आये। बापू! क्या समझ में आये? भाई! जिसमें जन्म-मरण नहीं रुके, बापू! उस चीज़ में क्या है? तेरे अरबों रुपये दान में दे, अरबों के मन्दिर बना, उससे क्या हुआ? वह कोई अपूर्व चीज़ नहीं है। आहाहा! अपूर्व चीज़ तो उस राग के कण से भी भिन्न पड़कर प्रभु का स्वाद लेने पर जो अनुभव आवे... आहाहा! उस अनुभव के समक्ष कर्म की शक्ति रुक गयी है, अभाव करता है।

ऐसा होने से कर्मोदय को भोगते हुए भी... धर्मी को धर्म ऐसी जो आनन्द और शान्ति ऐसी प्रगट दशा हुई, इसलिए, आहाहा! **आगामी कर्मबन्ध नहीं होता। इस प्रकार सम्यक्ज्ञान की सामर्थ्य कही गयी है।** सम्यग्ज्ञान का सामर्थ्य। सम्यक्—जैसी चीज़ पूर्ण है, वैसा उसका सत्य ज्ञान। जैसा पूर्ण स्वभाव है, खजाना—अनन्त गुण का खजाना भगवान, उसका सम्यक्—सत्य जैसा है, वैसा ज्ञान हुआ, उस सम्यग्ज्ञान का सामर्थ्य इस गाथा में कहा है। अब जरा वैराग्य की बात करेंगे। यह अस्ति से बात की है।

गाथा - १९६

अथ वैराग्यसामर्थ्यं दर्शयति-

जह मज्जं पिबमाणो अरदीभावेण मज्जदि ण पुरिसो।
दव्वुवभोगे अरदो णाणी वि ण बज्झदि तहेव।।१९६।।

यथा मद्यं पिबन् अरतिभावेन माद्यति न पुरुषः।
द्रव्योपभोगेऽरतो ज्ञान्यपि न बध्यते तथैव।।१९६।।

यथा कश्चित्पुरुषो मैरेयं प्रति प्रवृत्ततीव्रारतिभावः सन् मैरेयं पिबन्नपि तीव्रारतिभाव-सामर्थ्यान्न माद्यति तथा रागादिभावानामभावेन सर्वद्रव्योपभोगं प्रति प्रवृत्ततीव्रविरागभावः सन् विषयानुप-भुञ्जानोऽपि तीव्रविरागभावसामर्थ्यान्न बध्यते ज्ञानी।।१९६।।

अब वैराग्य का सामर्थ्य बतलाते हैं:-

ज्यों अरतिभाव जु मद्य पीकर, मत्त जन बनता नहीं।
द्रव्योपभोग विषैं अरत, ज्ञानी पुरुष बँधता नहीं।।१९६।।

गाथार्थ : [यथा] जैसे [पुरुषः] कोई पुरुष [मद्यं] मदिरा को [अरतिभावेन] अरतिभाव से (अप्रीति से) [पिबन्] पीता हुआ [न माद्यति] मतवाला नहीं होता, [तथा एव] इसी प्रकार [ज्ञानी अपि] ज्ञानी भी [द्रव्योपभोगे] द्रव्य के उपभोग के प्रति [अरतः] अरत (वैराग्यभाव में) वर्तता हुआ [न बध्यते] बन्ध को प्राप्त नहीं होता।

टीका : जैसे कोई पुरुष, मदिरा के प्रति जिसको तीव्र अरतिभाव प्रवर्ता है, ऐसा वर्तता हुआ, मदिरा को पीने पर भी, तीव्र अरतिभाव की सामर्थ्य के कारण मतवाला नहीं होता; उसी प्रकार ज्ञानी भी, रागादिभावों के अभाव से सर्व द्रव्यों के उपभोग के प्रति जिसको तीव्र वैराग्यभाव प्रवर्ता है, ऐसा वर्तता हुआ, विषयों को भोगता हुआ भी, तीव्र वैराग्यभाव की सामर्थ्य के कारण (कर्मों से) बन्ध को प्राप्त नहीं होता।

भावार्थ : यह वैराग्य सामर्थ्य है कि ज्ञानी विषयों का सेवन करता हुआ भी कर्मों से नहीं बँधता।

गाथा - १९६ पर प्रवचन

अब वैराग्य का सामर्थ्य बतलाते हैं:- देखा? क्या कहते हैं? भगवान परिपूर्ण परमात्मा, उसका भान ज्ञान और आनन्द का नमूना वेदन किया, उसकी सामर्थ्य के कारण कर्म का उदय भी खिर जाता है। उसे बन्धन नहीं होता। यह अस्ति से बात की। अस्ति अर्थात् ऐसा आत्मा है, उसके आश्रय से आनन्द आया, इसलिए उसे कर्मबन्धन नहीं होता, ऐसा अस्ति से कहा। अब वैराग्य से कहते हैं। जिसे ऐसे अस्तित्व का भान हुआ, उसे पुण्य और पाप के विकल्प का वैराग्य वर्तता है। आहाहा! जो अनादि से पुण्य के परिणाम में रक्तपना था, वह विरक्त होता है। अपने पूर्ण अस्तित्व के प्रेम के आनन्द के समक्ष वह राग से विरक्त होता है, इसका नाम वैराग्य है। वैराग्य कोई यह वस्त्र बदल डाले और एकाध पतला पहना, इसलिए वह वैरागी हुआ (—ऐसा नहीं है)। आहाहा! कुर्ता निकाल डाला और उघाड़ी धोती पहनी, इसलिए हो गया त्यागी, (ऐसा नहीं है)। बापू! कठिन बातें, भाई! आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, वैराग्य का सामर्थ्य। ऊपर संस्कृत में है न? '**अथ वैराग्यसामर्थ्यं दर्शयति**' अनुभव का सामर्थ्य बताया परन्तु अब पर से अभाव, पुण्य-पाप के दोनों भाव से वैराग्य, इसका सामर्थ्य क्या है, यह बताते हैं।

जह मज्जं पिबमाणो अरदीभावेण मज्जदि ण पुरिसो।
दव्वुवभोगे अरदो णाणी वि ण बज्झदि तहेव।।१९६।।

ज्यों अरतिभाव जु मद्य पीकर, मत्त जन बनता नहीं।
द्रव्योपभोग विषैं अरत, ज्ञानी पुरुष बँधता नहीं।।१९६।।

यह वैराग्य की बात है। **टीका - जैसे कोई पुरुष, मदिरा के प्रति जिसको तीव्र अरतिभाव प्रवर्ता है...** जिसे मदिरा के प्रति तीव्र अरतिभाव प्रवर्तित हुआ। आहाहा! **ऐसा वर्तता हुआ,...** पहली शर्त यह। **मदिरा के प्रति जिसको तीव्र अरतिभाव प्रवर्ता है...** रति (का) अंश रहा नहीं। आहाहा! **ऐसा वर्तता हुआ, मदिरा को पीने पर भी,...** आहाहा! यह तो न्याय देते हैं, हों!

मदिरा को पीने पर भी,... मदिरा न पीवे और गहलता न हो, यह और अलग

बात, परन्तु यह तो पीता है और गहलता नहीं होती। आहाहा! मदिरा पीवे और मदिरा का रस न चढ़े। आहाहा! **मदिरा को पीने पर भी, तीव्र अरतिभाव की सामर्थ्य के कारण मतवाला नहीं होता,...** मूर्च्छित नहीं हो जाता, गहल नहीं होता, पागल नहीं होता। मदिरा के कारण जो पागल हो जाता है, वह इस मदिरा के प्रति अप्रेम और अरतिभाव के कारण, किसी कारणवश मदिरा पीना पड़ा, तथापि वह मद उसे चढ़ता नहीं है। उसे मदिरा का मद चढ़ता नहीं है। आहाहा!

उसी प्रकार ज्ञानी भी,... धर्मी भी। स्वरूप का रसीला धर्मी, आहाहा! **रागादिभावों के अभाव से...** उसे राग का रस उड़ गया है। स्वरूप के रसिकपने के समक्ष जिसे राग का रस, उत्साह, उल्लसित वीर्य, होंश, हर्ष... आहाहा! उड़ गया है। आहाहा! उसी प्रकार धर्मी भी। धर्मी अर्थात् आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभवी। आहाहा! वह धर्मी। आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ प्रभु, उसका जिसे वेदन है, वह ज्ञानी है। वह ज्ञानी भी। 'भी' क्यों (कहा)? उस मदिरा का दृष्टान्त दिया है न, इसलिए।

रागादिभावों के अभाव से... उस मदिरा पीनेवाले को अरति है। प्रेम नहीं परन्तु किसी कारण से (पीना पड़ता है)। अपने देते हैं न? किसी समय महिलाओं को प्रसूति में देते हैं। उसे कुछ रस नहीं होता। बनिया या ब्राह्मण प्रसूति में ऐसा होवे तो सहज देते हैं परन्तु रस नहीं होता, रस। मदिरा का वह (नशा) उसे नहीं चढ़ता। आहाहा! उसी प्रकार धर्मी भी रागादि भावों के अभाव से... भले दूसरा थोड़ा राग हो परन्तु मूल अनन्तानुबन्धी और मिथ्यात्व सम्बन्धी जो राग (था), वह रस टूट गया और जो रस अनन्त काल में नहीं था, वह रस आया। आहाहा! अनन्त-अनन्त अतीत काल में प्रभु का रस नहीं था, ऐसा आत्मरस जहाँ आया... आहाहा! उसे **रागादिभावों के अभाव से...** उसे राग के रस के अभाव से।

रस की व्याख्या की है न? किसी भी ज्ञेय में एकाग्र होना। रस की व्याख्या आती है पहले-शुरुआत में। समयसार नाटक। आहाहा! किसी भी ज्ञेय में एकाकार होना, इसका नाम रस है। नवरस नहीं कहे? शृंगाररस और अद्भुतरस और... आता है न? नौ। नाटकरूप से वर्णन किया है न? आहाहा! उस रस के वर्णन में शान्तरस का वर्णन बताते हुए उसमें यह वर्णन किया है। बताना है शान्ति... शान्ति...। उसी प्रकार यहाँ कहते हैं, धर्मी को भी... आहाहा! धर्मी किसे कहते हैं? भाई! आहाहा! यह तो अपवास किये और

वर्षीतप किया और यह किया, दो-चार मन्दिर बनाये, (इसलिए मानता है कि) हो गये धर्मी। शास्त्र का जानपना किया, लो न! लोगों को सुनाया, (इसलिए मानता है कि) हो गये धर्मी। आहाहा! पर के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है।

यहाँ कहते हैं, धर्मी को रागभाव के अभाव से; राग का भाव ही नहीं है, यहाँ कहते हैं। आत्मा के आनन्द के रस के समक्ष राग का रस ही उड़ गया है। आहाहा! **सर्व द्रव्यों के उपभोग के प्रति...** वजन यहाँ दिया। **सर्व द्रव्यों के उपभोग के प्रति...** देखा? किसी भी द्रव्य के उपभोग के प्रति। आहाहा! स्वद्रव्य के आनन्द का जहाँ स्वाद आया... आहाहा! जहाँ अमृत का सागर उछला, सम्यग्दर्शन में, सम्यग्ज्ञान में जहाँ अमृतरस चखा... आहाहा! कहते हैं, **सर्व द्रव्यों के उपभोग के प्रति...** चाहे तो इन्द्र को इन्द्राणी का भोग हो... आहाहा! या चक्रवर्ती को छियानवें हजार स्त्रियाँ हों। एक स्त्री की हजार देव सेवा करे। सभी द्रव्यों के प्रति। सब द्रव्य लिये हैं न? एक स्वद्रव्य के प्रेम के समक्ष सर्व द्रव्यों का प्रेम उड़ गया है। आहाहा! एक ओर राम और एक ओर गाँव।

भगवान आत्मा! आहाहा! उसका जिसे रस आया है, रस चखा है, कहते हैं। उसे पर में रागादिभाव, सर्व द्रव्यों के उपभोग (के प्रति) **जिसको तीव्र वैराग्यभाव प्रवर्ता है...** आहाहा! आहा! स्त्री आदि हो, उसे नग्नपना हो और माता नहाती हो, खाट की आड़ रखकर अन्दर नहाती हो, उसमें वस्त्र आड़े न हो और नग्नपना हो, नहाने के लिये खड़ी हो गयी और लड़का आया, है नजर जरा भी? आहाहा! माता नहाती है। सामने नहीं देखता। उसके शरीर के सामने नहीं देखता। आहाहा! उसी प्रकार जहाँ आत्मा के आनन्द के स्वाद के समक्ष सर्व द्रव्यों के प्रति रस उड़ गया है, कहते हैं। एक द्रव्य के रस के समक्ष सर्व द्रव्यों का रस उड़ गया है। आहाहा! बहुत कठिन काम, भाई!

ज्ञानी अर्थात् स्वद्रव्य के रसिक जीव (को) रागादिभाव के रस और सर्व द्रव्यों के उपभोग के प्रति रस उड़ गया है। **जिसको तीव्र वैराग्यभाव...** अकेला वैराग्य नहीं है, **तीव्र वैराग्यभाव प्रवर्ता है...** आहाहा! जामनगर में विशाश्रीमाली बनिया था। वह चूरमा ही खावे, बस! रोटी, रोटी नहीं खाता था, प्रतिदिन चूरमा ही खावे। उसमें जवान लड़का मर गया। जलाकर आये। वह कहे रोटी, रोटी बनाओ। भाई! परिवार इकट्ठा हुआ। तुम्हें ठीक नहीं पड़ेगा, बापू! तुमने रोटी-वोटी खायी नहीं। आहाहा! इकलौता लड़का जलाकर

आये (और) चूरमा बनाया। यह जामनगर में बना है। नहीं है कोई जामनगर के? विशाश्रीमाली। वह चूरमा (खाता है) और आँख में से आँसू की धारा बहती जाती है और चूरमा खाता है। है रस? आहाहा! रोटी ज्वार की कहो या चूरमा कहो, उसे तो दोनों समान हैं। आहाहा! अरेरे! प्रिय में प्रिय पुत्र इकलौता चला गया। आहाहा! भाई! तुम दूसरा खाओगे तो बीमार पड़ोगे। तुमने कभी खाया नहीं। खुराक ही चूरमा की, बस! आहाहा! वसा, वसा था। आहाहा! सुना हुआ है। उन भाई की आँखों में से आँसू बहते जाते हैं (और) चूरमा खाते हैं। इसी प्रकार धर्मी को... आहाहा! वह तो राग में से मर गया है। और जीवित ज्योति को जहाँ अनुभव किया है। आहाहा! यह तो सब मर गये हैं। राग और मुर्दा, मुर्दा अचेतन अज्ञान। आहाहा!

तीव्र वैराग्यभाव प्रवर्ता है, ऐसा वर्तता हुआ, विषयों को भोगता हुआ भी,... वह चूरमा खाता है, तथापि आँख में से आँसू बहते जाते हैं। आहाहा! दूसरे का कोई दृष्टान्त है। लड़का मर गया, पश्चात् उसे तम्बाकू कहलाये, क्या कहलाता है तुम्हारे पीने का? हुक्का... हुक्का। हुक्का का रस बहुत। हुक्का पीवे। वह लड़का मर गया और घर आये। हुक्का बन्द किया। यह प्रिय में प्रिय लड़का गया, अब यह हुक्का मुझे क्या (करना है)? बन्द कर दिया। हुक्का का इतना रस था। बिल्कुल सामने नहीं देखा। इसी प्रकार आत्मा के रस के समक्ष पर के सामने नहीं देखता, कहते हैं। **विषयों को भोगता हुआ भी, तीव्र वैराग्यभाव की सामर्थ्य के कारण (कर्मों से) बन्ध को प्राप्त नहीं होता।** लो। **यह वैराग्य सामर्थ्य है कि ज्ञानी विषयों का सेवन करता हुआ भी कर्मों से नहीं बँधता।**

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

कलश - १३५

अब इस अर्थ का और आगामी गाथा के अर्थ का सूचक काव्य कहते हैं:-

(रथोद्धता)

नाश्नुते विषयसेवनेऽपि यत् स्वं फलं विषयसेवनस्य ना।
ज्ञान-वैभव-विरागता-बलात्-सेवकोऽपि तदसावसेवकः ।।१३५।।

श्लोकार्थ : [यत्] क्योंकि [ना] यह (ज्ञानी) पुरुष [विषयसेवने अपि] विषय सेवन करता हुआ भी [ज्ञानवैभव-विरागता-बलात्] ज्ञानवैभव और विरागता के बल से [विषयसेवनस्य स्वं फलं] विषयसेवन के निजफल को (रंजित परिणाम को) [न अश्नुते] नहीं भोगता-प्राप्त नहीं होता, [तत्] इसलिए [असौ] यह (पुरुष) [सेवकः अपि असेवकः] सेवक होने पर भी असेवक है, (अर्थात् विषयों का सेवन करता हुआ भी सेवन नहीं करता)।

भावार्थ : ज्ञान और विरागता की ऐसी कोई अचिंत्य सामर्थ्य है कि ज्ञानी इन्द्रियों के विषयों का सेवन करता हुआ भी उनका सेवन करनेवाला नहीं कहा जा सकता, क्योंकि विषय-सेवन का फल जो रंजित परिणाम है, उसे ज्ञानी नहीं भोगता-प्राप्त नहीं करता।।१३५।।

प्रवचन नं. २७३, श्लोक-१३५, गाथा-१९७,　　शुक्रवार, आषाढ़ कृष्ण ४
दिनाङ्क १३-०७-१९७९

समयसार, १३५ कलश है। निर्जरा अधिकार है। निर्जरा के तीन प्रकार हैं। एक तो कर्म का खिरना, वह तो स्वतन्त्र जड़ की पर्याय है। अशुद्धता का गलना, वह शुद्ध स्वभाव का अनुभव होने पर अशुद्धता टलती है, उसे भी निर्जरा कहा जाता है और शुद्धि की वृद्धि हो, आनन्द के अनुभव की वृद्धि हो, उसे भी निर्जरा कहते हैं। (इन) तीन को निर्जरा कहते हैं। मूल वस्तु तो आनन्द अतीन्द्रिय... सूक्ष्म बात है। आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है, उस अतीन्द्रिय आनन्द का झुकाव करके अनुभव करे। परसन्मुख का झुकाव छोड़कर पर के अनुभव को जहर जाने और स्व के अनुभव के आनन्द के वैभव से तृप्त रहे, इसलिए वह शुद्धि बढ़े, उसे यहाँ निर्जरा कहते हैं। १३५ कलश।

नाश्नुते विषयसेवनेऽपि यत् स्वं फलं विषयसेवनस्य ना।
ज्ञान-वैभव-विरागता-बलात्-सेवकोऽपि तदसावसेवकः ।।१३५।।

क्योंकि [ना] **यह (ज्ञानी)...** निर्जरा अधिकार है न! इसलिए ज्ञानी अर्थात् आत्मा के अनुभव में समर्थ है। भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द से भरपूर सागर है। उसके अनुभव में, लीनता में, उसके वेदन में तत्पर है, उसे यहाँ ज्ञानी कहते हैं। **(ज्ञानी) पुरुष...** [**विषयसेवने अपि**] **विषय सेवन करता हुआ...** यह भाषा लौकिक की अपेक्षा से कही है। बाकी ज्ञानी को विषय का सेवन ही नहीं है परन्तु लोग देखते हैं, इस अपेक्षा से कहा है। धर्मी को तो आनन्द का वैभव प्रगट हुआ है। आहाहा! है? देखो!

विषय सेवन करता हुआ भी ज्ञानवैभव... जिसे आत्मा के आनन्द का वैभव प्रगट हुआ है। आहाहा! यह पैसा और इज्जत और कीर्ति को वैभव नहीं कहा। पुण्य के परिणाम को भी वैभव नहीं (कहा)। आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द भगवान आत्मा का अनुभव, वह उसका वैभव है। आहाहा! धर्मी जीव बाह्य में विषय में सामग्रियाँ; जैसे रोगी रोग का उपचार करे, वैसे धर्मी को भी राग आता है, तब उसका उपचार दिखता है, इस अपेक्षा से सेवन कहते हैं। बाकी तो आत्मा के आनन्द के वैभव के समक्ष किसी भी राग के रस में-कण में कहीं प्रेम और रस नहीं है। अपने में अतीन्द्रिय आनन्द देखा है, इसलिए वह राग से लेकर पूरी दुनिया (में से) बुद्धि उड़ गयी है। आहाहा! ऐसा धर्म का स्वरूप है, ऐसी शर्त है।

[**विषयसेवने अपि**] ऐसा दिखता अवश्य है न! आहाहा! अन्दर में बाहर का रस नहीं, उसे ज्ञान का वैभव, आत्मा अनन्त-अनन्त गुण का पिण्ड है, उसका वैभव पर्याय में फैला हुआ है। आहाहा! जो स्वभाव में सामर्थ्यरूप वैभव था, वह धर्मी की पर्याय में वह अनन्त जो स्वभाव-वैभव था, वह फैला हुआ है। आहाहा! जिसकी एक-एक पर्याय में अनन्त ताकत, ऐसी अनन्त पर्याय का वैभव प्रगट हुआ है। आहाहा! ऐसी बात! ज्ञानवैभव अर्थात् कि आत्मा का अनुभव। आनन्द के अनुभव को यहाँ वैभव कहा है। आहाहा! बाहर की किसी सामग्री को वैभव में नहीं लिया। दो-पाँच करोड़ रुपये का बँगला हो... आहाहा! लड़के का विवाह हो, अरबपति व्यक्ति हो, दस-पन्द्रह-बीस लाख खर्च करना हो और ऐसे सब गहने, कपड़े और धूमधाम दिखती हो, वह कोई वैभव नहीं है। आहाहा! वह तो श्मशान की हड्डियों की चमकार जैसा लगे, वैसी हड्डियों की चमक है। आहाहा!

आत्मवैभव, यहाँ ज्ञानवैभव लिया है। ज्ञान अर्थात् ही आत्मा। उसका वैभव अर्थात् अनुभव। आहाहा! पूरी दुनिया से अन्तर है, प्रभु! दुनिया को जरा सा शरीर ठीक हो, पैसा ठीक हो, इज्जत (ठीक हो), शरीर निरोग हो, वहाँ उसके रस के कारण कुछ सूझ नहीं पड़ती। आहाहा! उसके रस के कारण कहीं आत्मा अन्दर भगवान है, पूर्णानन्द का सागर है, उसकी उसे अन्दर सूझ नहीं पड़ती और सूझ पड़ी, उसे पर में सूझ नहीं पड़ती। आहाहा! यह कहते हैं। धर्मी जीव विषयसेवन में दिखाई देने पर भी, दिखता है... वह परद्रव्य को भोग नहीं सकता, वह तो तीन काल, तीन लोक में है। मात्र अन्दर राग आता है, उसमें उसे सेवन करता है अर्थात् कि वेदन है, तथापि उसमें रंजन परिणाम नहीं है। उसे राग में रंगा हुआ परिणाम नहीं है। आहाहा! आत्मा के आनन्द के वैभव के अनुभव के रंग से रंगा हुआ, उसे दूसरी किसी चीज़ में रस नहीं पड़ता। आहाहा! ऐसी समकित में शुरुआत है अथवा शर्त है। यह वस्तु की स्थिति है, भाई! आहाहा! वह विषय संयोग दिखता है, कहते हैं, पूर्व का कोई पुण्यकर्म का उदय हो और संयोग अनुकूल बहुत दिखाई दे और उनकी ओर का जरा झुकाव भी दिखाई दे परन्तु अन्तर के आनन्द के झुकाव के समक्ष उस झुकाव की तुच्छता, जहरता दिखाई देती है। इसलिए वह सेवन करता है, ऐसा कहा जाता है, तथापि वह सेवन नहीं करता। आहाहा! ऐसी मूल रकम है। अब मूल रकम को छोड़कर सब ऊपर की बातें (करे), व्रत, तप, अपवास और यह रस का त्याग और अमुक... आहाहा! वह कोई कीमती चीज़ नहीं है। आहाहा!

यहाँ तो शास्त्र का पठन हुआ और लोगों को समझाना आवे, उसकी भी कुछ कीमत यहाँ नहीं है। आहाहा! भगवान अतीन्द्रिय आनन्द का सागर, उसका स्वाद आया। करने का तो यह है। उसका वैभव। शब्द-भाषा कैसी प्रयोग की है! **ज्ञानवैभव...** आत्मा का वैभव। आहाहा! रागादि है, वह आत्मा का वैभव नहीं है। दया, दान का विकल्प उठे, वह भी आत्मवैभव नहीं है। आहाहा! आत्मवैभव, उसकी जाति में भात पाड़े। आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द प्रभु, उसकी पर्याय में उसका अनुभव करे, उस वस्तु के स्वभाव को अनुसरकर पर्याय में अनुभव हो, वह आत्मा का वैभव, वह ज्ञान का वैभव कहने में आता है। उस ज्ञान के वैभव के समक्ष विषयसेवन की कोई कीमत नहीं है। आहाहा! उसे कीमत नहीं, हों! आहाहा! दुनिया को विषयसेवन में कीमत लगती है। क्योंकि भगवान का

पहलू देखा नहीं है। भगवान के पक्ष में चढ़ा नहीं है। आहाहा! राग-द्वेष और विकल्प और मात्र उसे ही पूँजी मानकर, उसके पक्ष में ही चढ़ा हुआ है। आहाहा! उसके-राग के रसिक को... वहाँ नहीं आता समयसार में? 'सर्व आगम धरो अपि' आहाहा! सर्व आगम जाने परन्तु यदि राग के कण के भी प्रेम में-रस में पड़ा हो तो वह कुछ नहीं जानता। आहाहा!

यहाँ तो लक्ष्य में अभी तो 'वैभव' शब्द आया है न! आत्मवैभव। यह 'ज्ञान' शब्द से (आशय) आत्मवैभव। आत्मवैभव शब्द से (आशय) आत्मअनुभव। आत्मा के आनन्द का अनुभव वह आत्मा का वैभव है। आहाहा! उस आत्मा के अनुभव के वैभव के बल से विषयसेवन दिखने पर भी उसकी ओर का रस नहीं है, इसलिए वह सेवन करते हुए भी सेवन नहीं करता। आहाहा! ऐसी मुद्दे की बात है। मुद्दे की पहली बात छोड़कर ऊपर की सब बातें (करे)। आहाहा! दूसरी कथानुयोग, त्याग। धर्म कथानुयोग में से त्याग निकाले और... आहाहा! उसकी क्या कीमत है?

धर्मी जीव को आत्मा के वैभव के समक्ष विषयसेवन, वह सेवन ही नहीं है। आहाहा! और वैराग्यता का बल। दो शब्द प्रयोग किये न? आत्मवैभव और वैराग्य का बल। पुण्य और पाप के परिणाम से विरक्तपना, उसका बल जमा है। आहाहा! अकेला आत्मा का अस्तिपना अनुभव में आया, ऐसा नहीं, परन्तु इस ओर से भी वैराग्य को प्राप्त हुआ है। इस ओर से अस्ति का अनुभव है, तब इस ओर से पुण्य के परिणाम के प्रति भी जिसे वैराग्य है। आहाहा! पुण्य की सामग्री है, उसे छोड़ता है, इसलिए वैरागी है—ऐसा नहीं है। पर के साथ क्या सम्बन्ध है? प्रभु! राग की रक्तता छोड़ता है, चाहे तो शुभभाव हो, उसका जो रक्तपना छोड़ता है, वह विरक्त है। वह विरक्त है, वह वैरागी है। आहाहा! समझ में आया?

ज्ञानवैभव और विरागता के बल से... आहाहा! दो बातें हुई। दो गाथाओं में आया था न? पहले में ज्ञान, दूसरी में वैराग्य की बात थी। वह इसकी ली है और अब बाद में आयेगी, उसका भी इसमें आयेगा। आहाहा! भगवान आत्मा अन्तर में चमत्कारिक शक्तियों से भरपूर भगवान है। चैतन्य-चमत्कार, जिसके समक्ष दुनिया का चमत्कार बड़ा शून्य है। आहाहा!

छोटी उम्र में एक बार उमराला में देखा था। बड़ा दरवाजा है, उस दरवाजे पर एक

व्यक्ति बैठे और फिर दो बाँस उसके पैरों में बाँधे। इसलिए ऊँचा बैठे और उन बाँस से फिर बाजार में चले। नजरों से देखा है। उमराला में दरवाजा है न? दरवाजा ऊपर होता है न? वहाँ बैठे और फिर पैरों में दो बड़े बाँस बाँधे, फिर उस बाँस से बाजार में चले।

मुमुक्षु : दो के बीच में डोरी होती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : डोरी कुछ नहीं। वह तो खुल्ले-खुल्ला दो बाँस। यह तो देखी हुई बात है। बाजार में, हों! बड़ा बाजार है 'रोकड़ सेठ' की दुकान थी। बाजार ऐसे चारों ओर भरता है। अकेले दो बाँस पैर में बाँधे, उस पैर से चले, उस बाँस से चले। आहाहा! लोगों को ऐसा लगे कि यह तो ओहोहो! उसमें धूल में भी कुछ नहीं। वह तो उस प्रकार का अभ्यास करने से (आ जाता है)। आहाहा!

यहाँ तो ज्ञान का अनुभव और वैराग्य का बल, इन दो से चलता है। आहाहा! बाँस से नहीं। उमराला में यह सब लोग तो आवे न! बहुतों को रुच जाए। आहाहा! लोग ऐसे ओहो! ओहो! ऐसा करे। बाँस से ऐसे डग भरे। अरे भाई! तुझमें आत्मा का चमत्कार, वैभव जो अनुभव और राग से विरक्त ऐसा जो वैराग्य बल, इन दो पैर से चलता है, वह आत्मा चमत्कारी है। आहाहा! है? आचार्य, अमृतचन्द्राचार्य ज्ञानवैभव और वैराग्यबल ऐसे दोनों लिये हैं। वह अनुभव और यह वैराग्य का बल है। राग से उदास... उदस... उदास... राग का कण हो परन्तु उससे उदास है। उसका आसन उदास है। स्व में आसन है। उस राग से आसन हट गया है। आहाहा! राग दिखता है और राग की छोड़ने की सामग्री में भी मानो एकत्रित करता हो और छोड़े (ऐसा) दिखता है। अन्दर में कुछ नहीं है। आहाहा! इसमें जोर है।

ज्ञान का अनुभव। आत्मा का वैभव अर्थात् यह वैभव। अनुभव, वह वैभव है। 'अनुभवरत्न चिन्तामणि, अनुभव है रसकूप, अनुभव मारग मोक्ष को, अनुभव मोक्ष स्वरूप।' ऐसी बातें हैं। आहाहा! ऐसे अनुभव के वैभव से और वैराग्य के बल से [**विषयसेवनस्य स्वं फलं**] विषय सेवन का जो राग में रंग चढ़ जाना। राग में रंग चढ़ जाना, वह रंग चढ़ा नहीं। वह रंग उतर गया। आहाहा! राग का रंजनपना, राग में रंजनपना, वह उतर गया। आहाहा! और भगवान आत्मा में रंजनपना चढ़ गया। आत्मा के आनन्द के अनुभव के रंजन में चढ़ गया। आहाहा! विषयसेवन का फल अर्थात् रंजित परिणाम, ऐसा। रंगा हुआ, राग में रंगा हुआ, फल। वह रंगता ही नहीं। आत्मा का रंग लगा, उसे इस राग का रंग किसका

हो ? आहाहा ! जिसे प्रभु का रंग लगा... आहाहा ! उसे भिखारी के साथ रंग कैसे लगे ? आहाहा ! ऐसी वस्तु है । लोगों को कठिन पड़ती है । वस्तुस्थिति यह है । आहाहा !

विषयसेवन के निजफल को... अर्थात् कि उसमें राग में रंगे हुए रस को, वह रस उसे छूट गया है । आहाहा ! वस्तु के स्वभाव के रंग में रंगा, उसे अब राग का रंग नहीं चढ़ता । आहाहा ! भले वह गृहस्थाश्रम में दिखे । छियानवें हजार स्त्रियों के वृन्द के मध्य में दिखाई दे परन्तु राग का रस उड़ गया, वह उड़ गया है । आहाहा ! रंजित परिणाम कहा न ? रंजित परिणाम अर्थात् यह । राग में एकत्वबुद्धि अथवा राग का रंग । आहाहा ! अथवा राग का रस । आहाहा ! उसे वह प्राप्त नहीं होता ।

[**न अश्नुते**] **नहीं भोगता...** उसका अर्थ यह **प्राप्त नहीं होता,...** राग के रंजन परिणाम को प्राप्त नहीं होता । जिसे राग का रंग उड़ गया है, जिसे स्वभाव का रंग चढ़ा है । आहाहा ! धर्म ऐसी चीज़ है, बापू ! आहाहा ! जिसके फल भव के अनन्त-अनन्त अनन्त का अन्त, अनन्त भव का अन्त (है) । आहाहा ! और सादि-अनन्त अनन्त... अनन्त... अनन्त... काल का आनन्द और शान्ति का उपाय, वह उपाय तो अलौकिक होगा या नहीं ? आहाहा ! उसे भोगता नहीं अर्थात् इसका अर्थ [**विषयसेवनस्य स्वं फलं**] अर्थात् रंजित परिणाम को प्राप्त नहीं होता, ऐसा इसका अर्थ लेना । राग में रंगी हुई दशा नहीं होती । आहाहा ! वैराग्यबल और ज्ञान के अनुभव के समक्ष, राग के रंजन परिणाम, रंगे हुए परिणाम उसे नहीं होते । आहाहा !

इसलिए [**असौ**] **यह (पुरुष)** [**सेवकः अपि असेवकः**] **सेवक होने पर भी असेवक है...** विषयों को सेवन करते हुए भी सेवन नहीं करता । कोई स्वच्छन्दी ऐसा कहे कि हम तो ज्ञानी हैं, (हम) विषय भोगते हैं तो हमको रस नहीं है, यह बात यहाँ नहीं है । आहा ! बहुत (वर्ष पहले की) एक बात थी । एक बाबा था । बहुत वर्ष (पहले की) बात है । लगभग (संवत्) १९७३ या १९७६ (की बात है) । एक बाबा था, (उसने) एक महिला रखी हुई थी । रखी, फिर उसके प्रति प्रेम बहुत और फिर उस महिला ने उसे—बाबा को छोड़ दिया । छोड़ दिया और इसे कषाय चढ़ गयी; इसलिए कोट के ऊपर कुछ लिखा था । क्या लिखा था.. ?

मुमुक्षु : महिला का नाम 'लक्ष्मी' था ।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, महिला का नाम लक्ष्मी था। 'लक्ष्मी... लक्ष्मी... लक्ष्मी... लक्ष्मी...' यह नजर से देखा हुआ है, हों! दामनगर के उपाश्रय में बैठे हुए थे, (वहाँ) बाबा निकला। कोट के ऊपर लक्ष्मी लिखा (था)। कहा, यह क्या? फिर मैंने ऐसा कहा। इसलिए फिर किसी ने उससे पूछा कि यह क्या हुआ? तुम बाबाजी और यह? (तो कहा), रंग चढ़ा, वह अब उतरता नहीं, ऐसा वह बोला था। 'क्षत्रिय का रंग चढ़ा, सो चढ़ा, रंग उतरता नहीं।' क्षत्रिय होगा। आहाहा! एक स्त्री ने छोड़ दिया, इसलिए फिर उसकी बेइज्जती करने के लिये कोट में लक्ष्मी... लक्ष्मी... लक्ष्मी... लक्ष्मी... (लिख डाला)। आहाहा! उसे पूछा, तब ऐसा बोला, 'क्षत्रिय का रंग चढ़ा, वह उतरता नहीं।' अरर्र! और गाँव में घूमे 'लक्ष्मी... लक्ष्मी... लक्ष्मी... लक्ष्मी...' करता हुआ फजीहत करने के लिये।

यह कहते हैं कि जहाँ अनन्त रस आत्मा में चढ़ा... आहाहा! (वहाँ) दुनिया के सब रस उड़ गये। यह रंग चढ़ा, वह उतरता नहीं, कहते हैं। वह उल्टा (रस) न? आहाहा! (संवत्) १९७६ की बात होगी। दामनगर में चातुर्मास था।

भावार्थ :- (अनुभव) **ज्ञान और विरागता की ऐसी कोई अचिंत्य सामर्थ्य है...** ज्ञान अर्थात् अकेला जानपना, ऐसा नहीं। शास्त्र का ज्ञान / उघाड़, वह ज्ञान नहीं। ज्ञान अर्थात् कि आत्मा का अनुभव, उसका नाम यहाँ ज्ञान है। आहाहा! **ज्ञान और विरागता की ऐसी कोई अचिंत्य सामर्थ्य है...** अचिन्त्य सामर्थ्य! जो कोई कल्पना में साधारण प्राणी को ख्याल में न आवे। आहाहा! **कि ज्ञानी इन्द्रियों के विषयों का सेवन करता हुआ भी उनका सेवन करनेवाला नहीं कहा जा सकता,...** आहाहा! ऐसा कोई आत्मा का रस चढ़ गया है और राग का रस उतर गया है। आहाहा! तथापि विषय के सेवन में दिखने पर भी वह सेवक है ही नहीं। आहाहा!

क्योंकि विषय-सेवन का फल जो रंजित परिणाम है... रंजित अर्थात् रंगे हुए, राग में रंगे हुए। **उसे ज्ञानी नहीं भोगता...** राग में रंगकर विषय को नहीं भोगता। आहाहा! कठिन बात है। अर्थात्? भोगता नहीं अर्थात्? यह उसमें आया था न? [**न अश्नुते**] भोगता नहीं अर्थात् प्राप्त नहीं होता। अर्थ में आया था। इसी प्रकार यहाँ भोगता नहीं, अर्थात् राग के रंग को प्राप्त नहीं करता, ऐसा। राग को भोगता नहीं अर्थात् राग में रंगता नहीं। चैतन्य में रस चढ़ गया है। वह रस, राग का रस अब होता नहीं। राग में रस को प्राप्त नहीं करता। भोगता नहीं अर्थात् यह (आशय है)।

गाथा-१९७

अथैतदेव दर्शयति -

सेवंतो वि ण सेवदि असेवमाणो वि सेवगो कोई।
पगरणचेट्ठा कस्स वि ण य पायरणो त्ति सो होदि।।१९७।।

सेवमानोऽपि न सेवते असेवमानोऽपि सेवकः कश्चित्।
प्रकरणचेष्टा कस्यापि न च प्राकरण इति स भवति।।१९७।।

यथा कश्चित् प्रकरणे व्याप्रियमाणोऽपि प्रकरणस्वामित्वाभावात् न प्राकरणिकः, अपरस्तु तत्राव्याप्रियमाणोऽपि तत्स्वामित्वात्प्राकरणिकः तथा सम्यग्दृष्टिः पूर्वसञ्चित-कर्मोदयसम्पन्नान विषयान् सेवमानोऽपि रागादिभावानामभावेन विषयसेवनफल-स्वामित्वाभावादसेवक एव, मिथ्यादृष्टिस्तु विषयानसेव-मानोऽपि रागादिभावानां सद्भावेन विषयसेवनफलस्वामित्वात्सेवक एव।।१९७।।

अब इसी बात को प्रगट दृष्टान्त द्वारा बतलाते हैं:-

सेता हुआ नहिं सेवता, नहिं सेवता सेवक बने।
प्रकरणतनी चेष्टा करे, अरु प्राकरण ज्यों नहिं हुवे।।१९७।।

गाथार्थ : [कश्चित्] कोई तो [सेवमानः अपि] विषयों को सेवन करता हुआ भी [न सेवते] सेवन नहीं करता, और [असेवमानः अपि] कोई सेवन न करता हुआ भी [सेवकः] सेवन करनेवाला है-[कस्य अपि] जैसे किसी पुरुष के [प्रकरण-चेष्टा] [१]प्रकरण की चेष्टा (कोई कार्य सम्बन्धी क्रिया) वर्तती है [न च सः प्राकरणः इति भवति] तथापि वह [२]प्राकरणिक नहीं होता।

टीका : जैसे कोई पुरुष किसी प्रकरण की क्रिया में प्रवर्तमान होने पर भी, प्रकरण का स्वामित्व न होने से प्राकरणिक नहीं है और दूसरा पुरुष प्रकरण की क्रिया में प्रवृत्त न होता हुआ भी, प्रकरण का स्वामित्व होने से प्राकरणिक है; इसी प्रकार सम्यक्दृष्टि पूर्वसंचित कर्मोदय से प्राप्त हुए विषयों का सेवन करता हुआ भी रागादिभावों

---

१. प्रकरण=कार्य। २. प्राकरणिक=कार्य करनेवाला।

के अभाव के कारण विषयसेवन के फल का स्वामित्व न होने से असेवक ही है (सेवन करनेवाला नहीं है) और मिथ्यादृष्टि विषयों का सेवन न करता हुआ भी, रागादिभावों के सद्भाव के कारण विषयसेवन के फल का स्वामित्व होने से सेवन करनेवाला ही है।

भावार्थ : जैसे किसी सेठ ने अपनी दुकान पर किसी को नौकर रखा। और वह नौकर ही दुकान का सारा व्यापार-खरीदना, बेचना इत्यादि सारा कामकाज करता है, तथापि वह सेठ नहीं है क्योंकि वह उस व्यापार का और उस व्यापार के हानि-लाभ का स्वामी नहीं है; वह तो मात्र नौकर है, सेठ के द्वारा कराये गये सब कामकाज को करता है। और जो सेठ है, वह व्यापार सम्बन्धी कोई कामकाज नहीं करता, घर पर ही बैठा रहता है, तथापि उस व्यापार तथा उसके हानि-लाभ का स्वामी होने से वही व्यापारी (सेठ) है। यह दृष्टान्त सम्यक्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि पर घटित कर लेना चाहिए। जैसे नौकर व्यापार करनेवाला नहीं है; इसी प्रकार सम्यक्दृष्टि विषयों का सेवन करनेवाला नहीं है और जैसे सेठ व्यापार करनेवाला है; उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि विषय सेवन करनेवाला है।

गाथा - १९७ पर प्रवचन

अब इसी बात को प्रगट दृष्टान्त द्वारा बतलाते हैं:- १९७ (गाथा)

सेवंतो वि ण सेवदि असेवमाणो वि सेवगो कोई।
पगरणचेट्ठा कस्स वि ण य पायरणो त्ति सो होदि।।१९७।।

सेता हुआ नहिं सेवता, नहिं सेवता सेवक बने।
प्रकरणतनी चेष्टा करे, अरु प्राकरण ज्यों नहिं हुवे।।१९७।।

आचार्य ने दृष्टान्त दिया, कहो! टीका - **जैसे कोई पुरुष किसी प्रकरण की क्रिया में प्रवर्तमान होने पर भी...** आहाहा! यह विवाह के प्रसंग में या ऐसा होवे न? तब कामकाज में प्रवर्तता हो, स्वामीरूप से न हो, स्वामी तो दूसरा हो और उसने काम सौंपा हो तो काम कर दे। **प्रकरण की क्रिया में प्रवर्तमान होने पर भी प्रकरण का स्वामित्व न होने से...** आहाहा! वह क्रिया आदि हो। आहाहा!

विवाह में एक दृष्टान्त बना था। एक व्यक्ति ने अपने दामाद को सब काम सौंपा तो ऐसा बनाया कि, दूधपाक और ऐसा बनाया। और लोग अधिक आवे (और) कुछ मेल

नहीं। इसलिए घर के मालिक को ऐसा लगा कि यह मेरी इज्जत नहीं (रहेगी)। वह क्या कहलाता है ? अन्तिम दिन करते हैं न ? प्रीतिभोज... प्रीतिभोज। प्रीतिभोज किया हुआ था और उसमें बनाया दूधपाक। तो कितने लोग आयेंगे, उसका मेल नहीं। दूधपाक कम पड़े तो करना क्या ? दूधपाक कहीं तुरन्त होता है ? दूसरी चीज़ होवे, तब तो हलवाई की दुकान से बर्फी, लड्डू (लाये जा सकें)। उसे ऐसा बुरा लगा, उसके मालिक को, इसके कारण उसे खराब लगा तो वह विवाह के प्रसंग में जहर पीकर मर गया। काम उसे सौंपा हुआ था और काम में इस प्रकार हुआ और उसमें बाहर में बात आयी, एकदम आयी कि यह लोग अधिक आ जाएँ, दूधपाक तो मर्यादा प्रमाण हो, कम पड़े तो लाना कहाँ से ? बर्फी या चूरमा या ऐसा बनाया होता तो तुरन्त कुछ तैयार भी करे। चूरमा न हो तो बर्फी या हलुवा बनावे। हैं ? पहुँच जाए। आहाहा ! आहाहा !

उस भर्तृहरि में नहीं आता ? भर्तृहरि को जब 'पिंगला' की खबर पड़ी। अरेरे ! मैंने पिंगला को कैसा माना ? यह पिंगला ऐसी निकली ? ९२ लाख मालवा का अधिपति राजा भर्तृहरि ! अरे ! यह मेरी स्त्री, मैंने इसे प्रेम (किया)। आहा ! वैश्या के पास एक अमरफल आया। वैश्या दे गयी दरबार को, भर्तृहरि को और भर्तृहरि ने सौंपा रानी को; रानी ने अश्वपाल को दिया। उसने अश्वपाल रखा हुआ था। ९२ लाख मालवा का अधिपति, उसे छोड़कर वह अश्वपाल के साथ चलती थी। कहो, आहाहा ! उसने दिया और उसने (अश्वपाल ने) वापस दिया वैश्या को और वैश्या वापस भर्तृहरि के पास लायी। आहाहा ! दुनिया के ठग इस प्रकार ठगते हैं ! बाहर में मानो... आहाहा ! तुम्हारी हूँ... तुम्हारी हूँ... तुम्हारी हूँ... अन्दर में... आहाहा ! हो गया, बाबा हो गया।

गुरु ने हुकम किया, जाओ ! वहाँ से अनाज लेकर आओ। तुम्हारी पहली भिक्षा लेकर आओ। रानी से भिक्षा लेकर आओ। आहाहा ! गुरु ने कहा, उस समय के गुरु भी कैसे होंगे ! ऐसा बड़ा राजा भिक्षा ले ! आहाहा ! रानी के पास लेने गया। रानी तो शोक में थी। कुछ बना नहीं था। माता ! ऐसा बोला, माता ! मुझे भिक्षा दे। रानी कहती है, 'प्रभु ! राजन् ! माता न कहो।' माता हो, मेरे अब माता हो, दूसरा कुछ है नहीं। आहाहा ! मेरे पास कुछ नहीं, प्रभु ! यह नाटक देखे हैं, उसमें सब आता था। 'खीर रे बनाऊँ क्षण एक में जीमते जाओ योगीराज।' एक क्षण में खीर बनाऊँ।... 'खीर रे बनाऊँ क्षण एक में' उसका वैराग्य कैसा

होगा, कहो! दृष्टि भले वस्तु की (नहीं) परन्तु बाहर के वैराग्य के भास जैसा।

वैराग्य तो तब कहलाता है कि सम्यग्दर्शनसहित राग का रस नहीं, उसे वैराग्य कहा जाता है। यह कहीं वैराग्य नहीं परन्तु इतना तो भी वह वैराग्य नहीं, हों! वह तो मन्द कषाय की स्थिति है। माता! कहकर खड़ा रहा। बड़ा दरबार ९२ लाख मालवा का अधिपति! नाटक देखे हैं बड़े-बड़े। 'प्रभु! मुझे माता न कहो, राजन्! मैं एक (क्षण में) खीर बनाऊँ, थोड़े खड़े रहो।' (तब राजन कहते हैं), 'मेरी जमात चली जा रही है, मैं खड़ा नहीं रहूँ।' चले गये। तथापि वह वास्तविक वैराग्य नहीं है। यह वैराग्य जो कहते हैं, वह नहीं। आहाहा! बाहर से तुच्छता लगी। 'देखा नहीं कुछ सार जगत में, देखा नहीं कुछ सार।' ऐसा बोला। सब छोड़ा, वह वैराग्य नहीं।

वैराग्य तो भगवान आत्मा का अनुभव होने पर राग की रक्तता छूट जाए, पुण्य के प्रेम के रंग, रस छूट जाए। आहाहा! उसे ज्ञान और वैराग्य कहा जाता है। लोग ऐसी महिमा करे कि ऐसा राजा था। यह भर्तृहरि में आता है न? बनाया हुआ आता है। सब पढ़ा है। वह वैराग्य नहीं, बापू! आहाहा! भगवान का वैराग्य अलग प्रकार का है। हैं? वह तो छोड़कर गया है तो भी वैराग्य नहीं और यहाँ तो संसार में पड़ा हो तो भी वैराग्य है। अरे रे! उसका माप कहाँ से लाना? समझ में आया? वह राज छोड़कर चला गया तो भी वह वैराग्य नहीं कहलाता।

यहाँ कहते हैं कि स्त्री आदि के सेवन में दिखायी दे, राजपाट में दिखायी दे, तथापि वैरागी है। आहाहा! ऐई! जिसके राग के रंजन परिणाम, रस टूट गया है और जिसे आत्मा के आनन्द के रस का प्याला फटा है। आहाहा! उस अनुभव के रस के प्याले के समक्ष कहीं रस नहीं पड़ता। आहाहा! वह राग से, पुण्य के परिणाम से भी विरक्त है, रक्त नहीं, उसे यहाँ वैराग्य कहा जाता है। वह वैरागी जीव संसार में ऐसे विषय सेवन करता दिखायी दे, तथापि वह सेवन नहीं करता और यह छोड़ता है, तथापि उसने कुछ छोड़ा नहीं है। आहाहा! ९२ लाख मालवा के अधिपति ने राज छोड़ा (परन्तु) छोड़ा नहीं। आहाहा! उसे आत्मा अन्दर क्या चीज़ है? सर्वज्ञ कहते हैं वह, हों! अज्ञानी कहे, वह आत्मा नहीं। आहाहा! ऐसा जो भगवान आत्मा, उसके रस में चढ़ा है, उसे राग का रस उतर गया है। राग आता है, राग में जुड़ता है परन्तु अन्दर के रस में उतर गया है। आहाहा! समझ में आया?

तीन लोक के नाथ वीतराग जैन परमेश्वर की बात कोई अलग है। दुनिया से पूरा अलग प्रकार है। अब वह ९२ लाख (मालवा) छोड़कर बैठा, तो भी वैराग्य नहीं। हैं? और यहाँ छियानवें हजार स्त्रियों में पड़ा हो तो कहे, वैरागी। यह तुलना करना किस प्रकार? आहाहा! राग का रंजनपना, रसपना छूट गया है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, १९७ आयी न? **जैसे कोई पुरुष किसी प्रकरण...** प्रकरण अर्थात् कोई क्रिया। विवाह की क्रिया, भोज की क्रिया, बड़ा भोज हो अथवा क्या कहलाता है, यह कहा विवाह का अन्तिम...? प्रीतिभोज या बड़ा व्यापार हो। उस **प्रकरण की क्रिया में प्रवर्तमान होने पर भी प्रकरण का स्वामित्व न होने से...** आहाहा! उसका वह स्वामी नहीं है। नौकर करोड़ों का व्यापार करता हो, परन्तु उसके फलरूप से उसे कुछ है नहीं। उसका स्वामी तो वह (सेठ) है। आहाहा! उसे तो खबर है कि मुझे यह दो हजार, पाँच हजार रुपये महीने में देता है, बस! और करोड़ों की आमदनी होती है, वह कहीं मुझे नहीं है और कदाचित् करोड़ों का नुकसान हुआ हो तो भी मुझे कुछ नहीं है। आहाहा! वह किसी भी काम की क्रिया में प्रवर्तता होने पर भी उस काम का स्वामीपना नहीं होने से। प्रकरण अर्थात् वह क्रियाएँ।

प्राकरणिक नहीं है... आहाहा! वह तो मालिक ने दामाद को सौंपा हुआ तो उसमें ऐसा हुआ (तो) वह दामाद जहर पीकर मर गया, लो! विवाह के प्रसंग में। क्योंकि मालिक (पने का) रंग चढ़ गया। मैं करूँ... मैं करूँ.... मैं करूँ... मैंने दस मण, पन्द्रह मण दूधपाक बनाया। भले अभी इतने लोग जीमें। परन्तु भाई! मेल नहीं खाता। यह बड़ा घर है, लोग कितने आते हैं, यह दूधपाक (नहीं होगा)। तुम बहुत हठ में चढ़ते हो कि दूधपाक ही बनाओ। ऐसा नहीं चलता। वह इसमें मर गया। कान्तिभाई! यह तुम्हारे संसार के सब लक्षण। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि धर्मी, जैसे कोई प्रकरण अर्थात् क्रियाकाण्ड के प्रकार में चढ़ गया हो, तथापि उसका वह स्वामी नहीं तो उसका हर्ष-शोक उसे नहीं है, उसे हानि और लाभ उसके घर में नहीं है। हानि और लाभ सेठ के घर में है। राणपुर में तो एक नौकर ऐसा था। सेठिया था। राणपुर। सेठ दुकान में आवे तो कुछ बोले, चले जाओ यहाँ से। तुम्हारा काम नहीं। नौकर ने ऐसी छाप पाड़ दी थी कि सेठ चला जाए। तुम्हारा काम नहीं। डांवाडोल

करो नहीं, अमुक-अमुक और ऐसा, वैसा, चले जाओ यहाँ से। कर्ता-हर्ता, तथापि फल का भोगता कहीं स्वयं है। लाभ या हानि, वह तो उसकी है। हैं ? आहाहा! स्वामीपना नहीं होने से उस क्रिया का वह अधिकारी नहीं है, उसका स्वामी नहीं है।

दूसरा पुरुष प्रकरण की क्रिया में प्रवृत्त न... आहाहा! उसका मालिक हो, वह एक ओर घर में बैठा हो। दुकान का काम चलता हो, उसे नौकर चलाता हो, इसके सिर पर कुछ न हो, तथापि स्वामीपना इसे वर्तता है। आहाहा! है न ? **प्रकरण की क्रिया में प्रवृत्त न होता हुआ भी प्रकरण का स्वामित्व होने से...** दुकान के करोड़ों के धन्धे का स्वामी तो वह है। नुकसान हो या लाभ हो, वह कहीं नौकर को है ? नौकर को तो जो वेतन, दो हजार, या बाईस सौ हो, वह दे देवे। आहाहा! यह दृष्टान्त तो कुन्दकुन्दाचार्य ने दिया है।

क्रिया में प्रवृत्त न होता हुआ भी प्रकरण का स्वामित्व होने से प्राकरणिक है,.. स्वामी है। **इसी प्रकार सम्यक्दृष्टि पूर्वसंचित कर्मोदय से प्राप्त हुए विषयों का...** आहाहा! धर्मी जीव को, अनुभवी को... आहाहा! यह एक बार कहा नहीं था ? छोटी उम्र में, नौ-दस वर्ष की उम्र (थी), हमारे साथ रहते थे। हमारी माँ के गाँव के ब्राह्मण, इसलिए हम मामा कहते थे। वे नहावे और जब लंगोटी पहने, तब ऐसा बोलते 'अनुभवीने ऐटलुं रे आनन्दमां रहेवुं रे, भजवा परिब्रह्म ने बीजुं कांई न कहेवुं।' उस समय सुनते थे। मैंने कहा, क्या कहते हैं यह ? उन्हें भी खबर नहीं। 'अनुभवीने ऐटलुं रे आनन्दमां रहेवुं रे,...' आहाहा! यहाँ कहते हैं। वह क्रियाएँ भले सब होती हो, परन्तु स्वयं मालिक नहीं है। आहाहा! अनुभवी के आनन्द में उस क्रिया का स्वामी नहीं है। आहाहा!

सम्यक्दृष्टि पूर्वसंचित कर्मोदय से प्राप्त हुए विषयों का सेवन करता हुआ भी... भाषा व्यवहार की रखी है। **रागादिभावों के अभाव के कारण...** वह रंजित परिणाम कहा था न ? रंग उड़ गया है। आहाहा! जैसे कपड़े में रंग चढ़ावे परन्तु जैसे उड़ जाए, अन्दर फिटकरी लगायी न हो तो रंग उड़ जाए, वैसे यह रंग धर्मी को उड़ गया है। आहाहा! भगवान के पक्ष में चढ़ा (उसके) दूसरे सब पक्ष अब खराब हो गये। आहाहा! आहाहा! देखो! सम्यग्दर्शन की महिमा! देखो, अनुभव की महिमा! अब उसके समक्ष सब क्रियाकाण्ड की बातें पूरे दिन उसमें रच-पचकर मर जाए। पूरी मूल बात है वह तो रह जाए। आहाहा!

सम्यक्दृष्टि पूर्वसंचित कर्मोदय से प्राप्त... हुई सामग्री, उसे सेवन करता हुआ दिखायी दे, तो **भी रागादिभावों के अभाव के कारण विषयसेवन के फल का स्वामित्व न होने से...** आहाहा! जहाँ आनन्द का नाथ, अनन्त गुण का स्वामी, उसका स्वामी हुआ... आहाहा! अब उसे बाहर का स्वामीपना, भिखारीपना उसे किसका रहे? आहाहा! स्वरूप के आनन्द की लक्ष्मी के समक्ष बाहर के किसी वैभव में उसे महत्ता नहीं लगती। अज्ञानी को बाहर के अनेक प्रकार के वैभव के विशेष दिखने पर आत्मा का विशेषपना भासित नहीं होता। आहाहा! समझ में आया?

वह **विषयसेवन के फल का स्वामित्व न होने से...** अर्थात् राग का रस ही जहाँ उड़ गया है, ऐसा इसका अर्थ है। वह **असेवक ही है...** सेवन करते हुए भी असेवक है। आहाहा! टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक बनाया न! बनाया (तब) उनकी माँ सब्जी में नमक नहीं डालती थी। यह मोक्षमार्गप्रकाशक (बनाने की) ऐसी धुन में (कि) उन्हें खबर नहीं की इसमें नमक नहीं है। रस चढ़ा हुआ मोक्षमार्गप्रकाशक का। आहाहा! वह काम जहाँ बन्द हो गया और माता ने वापस सब्जी दी (तो कहा), 'माँ! इसमें नमक नहीं है।' (तो माँ कहती है), 'भाई! नमक मैं छह महीने से नहीं डालती, तुझे आज खबर पड़ी?' मोक्षमार्गप्रकाशक का रस उड़ गया (शास्त्र का काम पूरा हुआ)। कहो, सब्जी में नमक की खबर नहीं रही। छह-छह महीने! रस चढ़ गया न मोक्षमार्गप्रकाशक का! कैसा बनाया है। मोक्षमार्गप्रकाशक! आहाहा!

श्रीमद् ने भी महिमा की है, सत्श्रुत में रखा है। बीस सत्श्रुत के नाम दिये हैं न, उसमें मोक्षमार्गप्रकाशक सत्श्रुत में डाला है। आहाहा! भले उनके लोग थे श्वेताम्बर को माने। परन्तु इसमें इनकार किया है। श्वेताम्बर हैं, वे गृहीत मिथ्यादृष्टि हैं। आहाहा! वे जैन ही नहीं हैं। स्थानकवासी, मन्दिरमार्गी जैन ही नहीं हैं। कठिन बात है, बापू! आहाहा! जिसने राग से भिन्न, गुरुपना भी ऐसा, धर्म भी ऐसा और केवली की तो बात ही क्या करना? आहाहा! ऐसी बात जिसे अन्तर में बैठी और अनुभव में आयी... आहाहा! उसे दूसरे किसी धर्म के प्रति रस उड़ जाता है। आहाहा! अन्दर कोई प्रेम नहीं रहता। आहाहा!

विषयसेवन के फल का स्वामित्व न होने से असेवक ही है (सेवन करनेवाला नहीं है) और मिथ्यादृष्टि विषयों का सेवन न करता हुआ भी... देखा! हजारों

रानियाँ छोड़कर बैठा हो परन्तु अन्दर में राग का प्रेम है। राग से भिन्न भगवान का अनुभव नहीं और राग का रस छूटा नहीं। भले बाबा, योगी, साधु हो, जैन का साधु हुआ हो, दिगम्बर साधु! आहाहा! तथापि **मिथ्यादृष्टि विषयों का सेवन न करता...** आजीवन बालब्रह्मचारी हो परन्तु अन्दर में राग का रस छूटा नहीं। आहाहा!

मिथ्यादृष्टि विषयों का सेवन न करता हुआ भी रागादिभावों के सद्भाव के कारण... देखा? राग का छोटे में छोटा कण (हो) परन्तु जिसके प्रेम में रंग गया है। आहाहा! वह विषय न सेवन करे तो भी सेवक कहलाता है। आहाहा! इतना अधिक अन्तर। **विषयसेवन के फल का स्वामित्व होने से सेवन करनेवाला ही है।** आहाहा! वह राग के प्रेम में पड़ा, बाहर में स्त्री का त्याग हो, परिवार का त्याग (हो), दुकान-धन्धे का त्याग (हो), तथापि अन्तर में वह सेवक ही है। आहाहा! विशेष बात करेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २७४, गाथा-१९७, १९८, श्लोक-१३६ शनिवार, आषाढ़ कृष्ण ५
दिनाङ्क १४-०७-१९७९

भावार्थ है न? १९८७ (गाथा का) भावार्थ। निर्जरा अधिकार। **किसी सेठ ने अपनी दुकान पर किसी को नौकर रखा। और वह नौकर ही दुकान का सारा व्यापार -खरीदना, बेचना इत्यादि सारा कामकाज करता है, तथापि वह सेठ नहीं है...** उसका वह स्वामी नहीं है। **क्योंकि वह उस व्यापार का और उस व्यापार के हानि-लाभ का स्वामी नहीं है;...** लाभ-नुकसान तो सेठ को है, नौकर चाहे जितना काम करे। **वह तो मात्र नौकर है, सेठ के द्वारा कराये गये सब कामकाज को करता है। और जो सेठ है, वह व्यापार सम्बन्धी कोई कामकाज नहीं करता,...** घर में बैठा हो। कल राणपुर का कहा था न? एक सेठ (को) नौकर (कहता है) 'यहाँ से चले जाओ, तुम्हारा काम नहीं, तुम घर चले जाओ।' समझ जाए (कि) अपना काम नहीं है, यह इसका काम - नौकर का काम है।

घर पर ही बैठा रहता है, तथापि उस व्यापार तथा उसके हानि-लाभ का

स्वामी होने से वही व्यापारी (सेठ) है। यह दृष्टान्त सम्यक्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि पर घटित कर लेना चाहिए। जैसे नौकर व्यापार करनेवाला नहीं है, इसी प्रकार सम्यक्दृष्टि विषयों का सेवन करनेवाला नहीं है,... आहाहा! करनेयोग्य यह है, ऐसा पहले झुकाव तो करे कि आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द है। जिस आनन्द के स्वाद के समक्ष चौदह ब्रह्माण्ड जिसे तुच्छ लगते हैं, ऐसा आत्मा में वह आनन्द है। अतीन्द्रिय आनन्द से भरपूर भगवान है। उस अतीन्द्रिय आनन्द का जिसे स्वाद आया, जानने में आया कि यह तत्त्व तो अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द से भरपूर पदार्थ है। ऐसा जिसे अन्तर्दृष्टि में, अनुभव में आया, वह सम्यग्दृष्टि काम करने पर भी वह नहीं करता। आहाहा! क्योंकि उसका स्वामी नहीं होता। आहाहा!

मिथ्यादृष्टि... जैसे नौकर व्यापार करनेवाला नहीं है, इसी प्रकार सम्यक्दृष्टि विषयों का सेवन करनेवाला नहीं है, और जैसे सेठ व्यापार करनेवाला है, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि विषय सेवन करनेवाला है। भले निवृत्ति लेकर एक ओर बैठा हो। आहाहा! दुकान के धन्धे का कुछ कामकाज न करता हो परन्तु अन्तर में उस धन्धे के लाभ और नुकसान का स्वामी तो वह है। उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि बाहर में व्यापार-धन्धा आदि न करता हो परन्तु अन्दर में स्वरूप से विरुद्ध राग के भाग को अपना मानकर उसमें वह पड़ा है, वह बाह्य के व्यापार का धन्धा न करता हो तो भी करता है। आहाहा! ऐसा काम है।

कलश - १३६

अब आगे की गाथाओं का सूचक काव्य कहते हैं:-

(मन्दाक्रान्ता)

सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञान-वैराग्य-शक्तिः,
स्वं वस्तुत्वं कलयितु-मयं स्वान्यरूपाप्तिमुक्त्या।
यस्माज्ज्ञात्वा व्यतिकरमिदं तत्त्वतः स्वं परं च,
स्वस्मिन्नास्ते विरमति परात्सर्वतो रागयोगात्।।१३६।।

श्लोकार्थ : [सम्यग्दृष्टेः नियतं ज्ञान-वैराग्य-शक्तिः भवति] सम्यग्दृष्टि के नियम से ज्ञान और वैराग्य की शक्ति होती है; [यस्मात्] क्योंकि [अयं] वह (सम्यग्दृष्टि जीव) [स्व-अन्य-रूप-आप्ति-मुक्त्या] स्वरूप का ग्रहण और पर का त्याग करने की विधि के द्वारा [स्वं वस्तुत्वं कलयितुम्] अपने वस्तुत्व का (यथार्थ स्वरूप का) अभ्यास करने के लिये, [इदं स्वं च परं] 'यह स्व है (अर्थात् आत्मस्वरूप है) और यह पर है' [व्यतिकरम्] इस भेद को [तत्त्वतः] परमार्थ से [ज्ञात्वा] जानकर [स्वस्मिन् आस्ते] स्व में स्थिर होता है और [परात्रागयोगात्] पर से-राग के योग से [सर्वतः] सर्वतः [विरमति] विरमता (रुकता) है। (यह रीति ज्ञानवैराग्य की शक्ति के बिना नहीं हो सकती।।१३६।।

कलश - १३६ पर प्रवचन

अब आगे की गाथाओं का सूचक काव्य कहते हैं:- १३६ काव्य।

सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञान-वैराग्य-शक्तिः,
स्वं वस्तुत्वं कलयितु-मयं स्वान्यरूपाप्तिमुक्त्या।
यस्माज्ज्ञात्वा व्यतिकरमिदं तत्त्वतः स्वं परं च,
स्वस्मिन्नास्ते विरमति परात्सर्वतो रागयोगात्।।१३६।।

ओहोहो! एक कलश में कितना भरा है! [सम्यग्दृष्टेः नियतं ज्ञान-वैराग्य-

शक्तिः भवति] शुद्धस्वरूप अनादि परमानन्द मूर्ति प्रभु, उसका जहाँ अनुभव (हुआ) और उसकी शक्ति और सामर्थ्य की प्रतीति ज्ञान और अनुभव हुआ, वह सम्यग्दृष्टि है। त्रिकाली अनन्त आनन्द और अनन्त ज्ञान, पूर्ण अनन्त स्वभाव, परमात्मस्वरूप ही स्वयं प्रभु है। स्वभाव से, शक्ति से, सत्त्व से, भाव से (भरपूर है)। उस भाव को जिसने अनुभव किया। अनादि से कर्मचेतना और कर्मफलचेतना का अनुभव था। कर्मचेतना अर्थात् राग। राग का वेदन और राग का फल दुःख का वेदन। अनादि का (उसका वेदन है)। दिगम्बर साधु नौवें ग्रैवेयक गया तो भी यह था। यह तो जहाँ अन्दर फिरता है, वस्तु की दृष्टि फिरती है। भगवान पूर्णस्वरूप से भरपूर, उसका जहाँ अन्दर स्वीकार और अनुभव होता है, तब वह सम्यग्दृष्टि नियम से ज्ञान और वैराग्य (के) सामर्थ्यवाला होता है। निश्चय से स्वरूप का ज्ञान और राग का वैराग्य। आहाहा! ऐसी वस्तु है। यह तो अभी पहली भूमिका की बात है।

नियम से... ऐसा है न? **'नियतं'** है न? **'नियतं' 'सम्यग्दृष्टेः नियतं'** निश्चय से ज्ञान-वैराग्यशक्ति **'भवति'** आहाहा! अर्थात् क्या कहते हैं? वास्तव में उसे ज्ञान और वैराग्य होता है। शास्त्र का जानपना और पर (पदार्थ) छोड़कर बैठे, इसलिए ज्ञान और वैराग्य हो गया, ऐसा नहीं है। वास्तव में ज्ञान और वैराग्य, ऐसा कहा है न? निश्चय से ज्ञान (अर्थात्) स्वरूप शुद्ध चैतन्य प्रभु का ज्ञान। उसे ज्ञेय बनाकर (हुआ) ज्ञान, उसे ज्ञेय बनाकर (हुई) श्रद्धा और उसे ज्ञेय बनाकर उसमें रमणता का अंश (प्रगट होना)। दर्शन, ज्ञान और स्वरूपाचरण। ऐसा जो सम्यग्दृष्टि, (उसे) निश्चय से ज्ञान और वैराग्य का सामर्थ्य होता है। ज्ञान का भी बल होता है और वैराग्य का भी बल होता है। आहाहा! स्वरूप का ज्ञान, उसका भी बल होता है और राग की क्रिया, दया, दान, व्रतादि से भी विरक्त है, ऐसा वैराग्य बल है। आहाहा! वह ज्ञान और वैराग्य की शक्ति होती है।

[**यस्मात्**] **क्योंकि** [**अयं**] **वह (सम्यग्दृष्टि जीव)** [**स्व-अन्य-रूप-आप्ति-मुक्त्या**] अर्थात् स्व-रूप की **'आप्ति'** और पररूप का **'मुक्त्या'**। है? स्व-रूप ऐसा लेना। 'रूप' है न, तीसरा बोल? स्वरूप की **'आप्ति'** अर्थात् स्वरूप का ग्रहण और अन्यरूप का **'मुक्त्या'** अन्यरूप **'मुक्त्या'** (अर्थात्) पर का त्याग। आहाहा! शब्द तो थोड़े हैं परन्तु (भाव बहुत भरे हैं)। स्वरूप का ग्रहण और पररूप का त्याग, (यह)

वैराग्य की बात की। रागादि पर। परवस्तु है, वह तो छूटी हुई ही पड़ी है।

स्वरूप—स्व-रूप, उसकी '**आप्ति**', स्वरूप की '**आप्ति**' अर्थात् ग्रहण। शुद्धस्वरूप पूर्णानन्द प्रभु... आहाहा! जिसके आनन्द के स्वाद के समक्ष इन्द्र के इन्द्रासन भी जहाँ सड़े हुए मुर्दे जैसी बिल्ली, सड़ा हुआ कुत्ता हो, ऐसा लगता है। ऐसा उसका स्वाद है, कहते हैं। आहाहा! ऐसे (स्वरूप के) स्वाद से परिपूर्ण भरा हुआ है। उस स्वरूप की '**आप्ति**', स्व-रूप की '**आप्ति**' है न? '**आप्ति**' अर्थात् ग्रहण। और पररूप, ऐसा लेना। अन्यरूप। स्व-रूप की '**आप्ति**' और अन्यरूपता '**मुक्त्या**' दो शब्दों में इतना रखा है। स्वरूप का ग्रहण अर्थात् स्वरूप की '**आप्ति**' और अन्यरूप का '**मुक्त्या**' - पर का त्याग। आहा! शब्द बहुत थोड़े हैं, भरा हुआ भाव अन्दर बहुत है। आहाहा!

मूल बात यह है कि आत्मा अनन्त.. अनन्त.. शान्ति, आनन्द का सागर है। उसकी इसे महिमा नहीं आयी। आहाहा! उसकी इसे विशेषता, दूसरी सब चीज़ों की अपेक्षा उसकी विशेषता भासित नहीं होती। यह विवाद यहाँ है। दुनिया की सब चीज़ें, इज्जत-कीर्ति, बाहर हा... हो..., हा... हो... चक्रवर्ती के राज्य और देव खम्मा-खम्म करे। सोलह हजार देव! उसकी विशेषता जिसे नहीं लगती परन्तु आत्मा का स्वरूप अनन्त गुण का भण्डार (भासित होता है, उसके समक्ष) आहाहा! वह सब भंगार है। भगवान अनन्त गुण का भण्डार है। यह नहीं कहते कि वह भंगार पड़ेगा। टुकड़े होकर (गिरेगा)। आहाहा! हमारे हैं? फावाभाई, मनहर, उसे यह धन्धा है। क्या कहलाता है वह? भंगार... भंगार! करोड़पति है। भंगार का पूरा कुआं एक बार भरा था। भंगार ला-लाकर पूरा कुआं (भरा था)। पैसा बहुत, उसमें वापस पैसे पैदा हो गये। भंगार। यहाँ कहते हैं कि एक ओर भण्डार तथा एक ओर भंगार। आहाहा!

भगवान अन्दर अकेला अनन्त गुण का भण्डार है। उसकी अधिकता और विशेषता के समक्ष कोई चीज़ विशेषता और अधिकता नहीं ले जाती। आहाहा! देह को देखना नहीं, देह है, वह जड़-मिट्टी है। आहाहा! वह भाई गुजर गये न? जयन्तीभाई। बेचारे यहाँ बहुत बार रहते थे। श्वास के ले लिये गये, ऑक्सीजन (लेने गये)। देह पूरी हो गयी, जाओ! आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि स्वयं भगवान आत्मा स्व-रूप की '**आप्ति**' और अन्यरूप का

'मुक्त्या' आहाहा! दो शब्दों में तो (कितना भरा है)! पूर्णानन्द का नाथ प्रभु, अतीन्द्रिय आनन्द से भरपूर भगवान, उस स्व-रूप की **'आप्ति'** (अर्थात्) ग्रहण, उस स्व-रूप का ग्रहण और राग का कण चाहे तो शुभ हो, उस पररूप का त्याग। पररूप की मुक्ति। आहाहा! है? **'स्व-रूप-आप्ति - अन्य रूप मुक्त्या'** इतने शब्दों में तो... आहा! पूर्णानन्दस्वरूप भगवान का जहाँ स्वीकार और ग्रहण हुआ, दृष्टि में उसका आदर और अनुभव (हुआ)... आहाहा! और राग से लेकर सब चीज़, राग और विकार, उस अन्यरूप का त्याग। यहाँ बाह्य के त्याग की बात नहीं है। बाह्य का त्याग तो अनादि (से) है ही। बाह्य चीज़ तो ग्रहण ही नहीं की, इसलिए त्याग है, वह कहाँ (करने का रहता है)? आहाहा!

शास्त्र में तो यहाँ तक आया है कि रागरूप हुआ नहीं तो प्रत्याख्यान-राग का छोड़ना भी कहाँ रहा? वह तो ज्ञान, ज्ञानरूप रहे, इसका नाम प्रत्याख्यान है। आता है न? समयसार (३४वीं गाथा)। राग का त्याग, वह भी नहीं, कहते हैं। आहाहा! प्रत्याख्यान की व्याख्या है। क्योंकि स्वरूप जो चैतन्य, उसने राग को ग्रहण कब किया है कि छोड़े? पर का ग्रहण-त्याग तो है ही नहीं? आहाहा! परन्तु स्वरूप चैतन्य सच्चिदानन्द प्रभु, उसने राग को ग्रहण कब किया है, वह राग को छोड़कर प्रत्याख्यान करे? आहाहा! आत्मा, आत्मारूप से स्थिर हुआ, उसका नाम राग का त्याग नाममात्र कहा जाता है। आहाहा! लोगों की महिमा बाह्य त्याग के ऊपर है। इसलिए अन्तर के स्वरूप का ग्रहण और रागादि का त्याग, इसका उन्हें माहात्म्य सूझता नहीं है। आहाहा! बाहर (का) छोड़ा, इसने ऐसा किया, दुकान छोड़ी, इसने शरीर से आजीवन ब्रह्मचर्य पालन किया। यह सब बाहर की चीज़ें हैं। आहाहा!

यहाँ तो स्व-रूप का ग्रहण। अन्यरूप (अर्थात्) रागादि विकल्प का त्याग। यहाँ तो ग्रहण और त्याग कहना है न? नहीं तो राग का त्याग भी नाममात्र है। क्योंकि स्वरूप रागरूप नहीं हुआ था, इसलिए जो स्वरूप है, उसमें रहा, वही प्रत्याख्यान हुआ। वही राग का त्याग नाममात्र कहलाता है। आहाहा!

'स्व-अन्य-रूप-आप्ति-मुक्त्या' आहाहा! **त्याग करने की विधि के द्वारा...** [**स्वं वस्तुत्वं कलयितुम्**] उसमें **'आप्ति'** कही थी न? स्वरूप की **'आप्ति'**। अब उस स्ववस्तु का **'कलयितु'** (अर्थात्) अपने स्वरूप का अनुभव **अपने वस्तुत्व का (यथार्थ स्वरूप का) अभ्यास...** अर्थात् अनुभव। **'कलयितु'** आहाहा! भगवान आत्मा अतीन्द्रिय

आनन्द का पिण्ड है। उसका अभ्यास अर्थात् उसका अनुभव। आहाहा! **'कलयितु'** अर्थात् उसका अभ्यास—अनुभव। अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव, वह स्व का अभ्यास कहलाता है। आहाहा! **'स्वं वस्तुत्वं' 'वस्तुत्वं'** (अर्थात्) वस्तुपने का भाव। अपने वस्तुत्व का अर्थात् वस्तुत्व है न? वस्तु का जो स्वरूप है, ऐसा। वस्तु का जो स्वरूप है, अतीन्द्रिय आनन्द, ज्ञान, शान्ति, स्वच्छता, वीतरागता... आहाहा! उस वीतरागता का अनुभव, वह स्व का अनुभव और राग का त्याग वह पर का त्याग। शब्द थोड़े हैं, भाव बहुत गम्भीर है। सन्तों की वाणी है। उसमें दिगम्बर सन्त... आहाहा! पाँचवें काल में केवली को भुलाया है। यह ऐसी वाणी है। आहाहा! समझे उसे। 'वाणी जानी, उनने जानी है।' नहीं आता? श्रीमद् में मोक्षमाला में आता है। वाणी जानी, जिनवाणी जानी उनने जानी है, बापू! आहाहा! ऐसे के ऐसे वाणी पढ़ गये, जान लिया, धारणा (कर ली, वह नहीं)। आहाहा!

वीतराग की वाणी में तो वीतरागता का आदर आता है और राग का त्याग आता है। आहाहा! पश्चात् उसकी सब टीकायें हैं। आहाहा! शास्त्र में आता है न कि समभाव आदरना। यह उसकी सब टीका है। उसका अर्थ ही यह। आहाहा! अरे! परन्तु इसे कैसे बैठे? जरा कुछ बीड़ी, बाहर की सब्जी या दाल, पापड़ और आचार अच्छा हो तो वहाँ तो ऐसा मानो ओहोहो! आज तो खाकर ओ... डकार करे। आहाहा! है?

मुमुक्षु : .... बाहर दिखता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : मानो क्या किया, मानो अन्दर? अकेला पाप करके खड़ा हुआ है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं [**स्वं वस्तुत्वं कलयितुम्**] स्व-वस्तुपने का अनुभव। वस्तु के वस्तुपने का अनुभव। वस्तुत्व है न, अर्थात् वस्तु है प्रभु, उसका वस्तुपना अर्थात् अतीन्द्रिय आनन्द-ज्ञान आदि भावपना। आहाहा! उस वस्तु के स्वरूप का यथार्थ **(यथार्थ स्वरूप का) अभ्यास करने के लिये,** [**इदं स्वं च परं**] जो वह पहले कहा था। **'स्व-अन्य-रूप-आप्ति-मुक्त्या'** और [**इदं स्वं च परं**] **यह स्व है...** यह ज्ञान और आनन्द से भरपूर भगवान, वह स्व है। आहाहा! **और यह पर है...** रागादि का विकल्प, वह बिल्कुल पर है। आहाहा! ऐसा जिसने अन्तर अनुभव किया, उसे ऐसा कि निर्जरा होती है,

ऐसा कहना है। वह संयोग में होने पर भी उस संयोग से छूटता जाता है, राग से छूटता जाता है और अन्तर की शुद्धि से बढ़ता जाता है। आहाहा!

स्व और पर ऐसा [**व्यतिकरम्**] अर्थात् **इस भेद को...** स्व अर्थात् आनन्द अतीन्द्रिय और पर अर्थात् रागादि और विकल्प-यह दो, इनका भेद। व्यतिकर अर्थात् भेद, दोनों की भिन्नता। [**तत्त्वतः**] आहाहा! अकेला जानना, जान रखा—ऐसा नहीं, कहते हैं। परमार्थ कहनेमात्र नहीं। आहाहा! स्व और पर अकेला कहने मात्र नहीं। आहाहा! स्व और पर **परमार्थ से जानकर...** देखा? [**तत्त्वतः**] आहाहा! समयसार, प्रवचनसार अलौकिक ग्रन्थ है। आहाहा! भरतक्षेत्र का भाग्य है कि ऐसे शास्त्र रह गये। काल ऐसा हल्का, शास्त्र ऐसे उत्कृष्ट रह गये। आहाहा! आत्मा अमर है, उसे पर्याय में अमर बनावे, ऐसे शास्त्र हैं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, स्व-पर को, ऐसा भेद। स्व-पर का भेद मात्र जानने में रखकर, वह नहीं। आहाहा! स्व-पर का भेद तत्त्व से जानकर। परमार्थ से आत्मा आनन्द और राग पर, ऐसा परमार्थ से बराबर अनुभव करके, जानकर। आहाहा! है या नहीं अन्दर? स्व और पर का व्यतिकर अर्थात् भिन्नता तत्त्वतः जानकर। परमार्थ वस्तुस्वरूप का अनुभव करके और स्व का ग्रहण तथा पर का त्याग, यह तत्त्वतः जाना कहलाता है, परमार्थ जाना कहलाता है। आहाहा!

[**तत्त्वतः**] **परमार्थ से जानकर...** तत्त्व से जानकर, ऐसा। तत्त्व से अर्थात् जो जाननस्वरूप प्रभु है, उसे आनन्द से जानकर। आहाहा! ऐसी बात सुनना मुश्किल पड़ती है। आहाहा! यह स्व है और यह पर है, ऐसा व्यतिकर। पर्याय में व्यतिकर आया था न? पर्याय व्यतिकर (अर्थात्) भिन्न-भिन्न है न? भिन्न-भिन्न। एक समय की पर्याय भिन्न-भिन्न, दूसरे समय में भिन्न-भिन्न। गुण हैं सहभावी, अन्वय, अन्वय। साथ में रहनेवाले, एक साथ। सहभूवा अर्थात् गुण एक साथ रहनेवाले, हों! द्रव्य के साथ गुण रहनेवाले, ऐसा नहीं। सहभू अर्थात् गुण एक साथ रहनेवाले। द्रव्य के साथ गुण रहनेवाले, ऐसा नहीं क्योंकि द्रव्य के साथ पर्याय भी रहती है, वह नहीं। गुण जो हैं, वे अनन्त साथ में रहनेवाले हैं। गुण जो हैं अनन्त, (वे) एक समय में साथ में रहनेवाले हैं। आहाहा! और पर्याय भिन्न-भिन्न व्यतिकर है। भिन्न... भिन्न... भिन्न... भिन्न यहाँ व्यतिकर अर्थात् स्व और पर को भिन्न करना, वह व्यतिकर है।

इस भेद को परमार्थ से जानकर... फिर करना क्या? कि, [**स्वस्मिन् आस्ते**] **'स्वस्मिन् आस्ते'** आनन्द में रहना। स्व में रहना, टिकना। आहाहा! भगवान अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय वीतरागमूर्ति प्रभु है, उस स्व में रहना। स्व और पर का भेद जानकर, परमार्थ भेद जानकर स्व में रहना। आहाहा! ऐसा कठिन लगता है, इसलिए बेचारों को क्रिया के रास्ते चढ़ा दिया, जिसमें योगफल कुछ (हाथ नहीं आता)। योगफल आता है— संसार। जिसका योगफल संसार। आहाहा! अभी यह बात बैठना, इसका झुकाव करना, झुकाव... आहाहा! वह इसे कठिन लगता है। अभ्यास नहीं न, इसीलिए **'कलयितु'** कहा न। आहाहा! **'स्वं वस्तुत्वं कलयितुम्'** स्ववस्तु का अभ्यास - अनुभव कर। आहाहा!

[**स्वस्मिन् आस्ते**] **'स्वस्मिन्'** प्रभु भगवान आत्मा। स्व और पर को तत्त्व से परमार्थ से जाना, भेद जाना, अब स्व में स्थिर हो, स्व में टिक, स्व में रह, आहाहा! है? **और** [**परात्रागयोगात्**] **'परात्'** की व्याख्या इतनी की है। पर अर्थात् शरीर, वाणी, मन और अमुक, वह तो पर तो त्याग ही है, पर तो अन्दर है ही नहीं। आहाहा! वह तो उसके कारण उसकी पर्याय। द्रव्य तो उसके ही कारण से है परन्तु उसकी पर्याय होती है, वह उसके कारण से होती है। शरीर की, वाणी की, सब परपदार्थ के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। सम्बन्ध रखा तो राग के साथ। त्रिलोकनाथ वीतराग और राग के साथ सम्बन्ध रखा। वीतराग प्रभु ऐसा भगवान आत्मा उसने राग की मैत्री की थी। आहाहा! वह छोड़। 'परयोगात्' है न? [**परात्रागयोगात्**] **'परात् रागयोगात्'** पर से, राग के योग से। आहाहा! एक कलश परन्तु कितना भरा है! यह कहीं वार्ता नहीं है। आहाहा! यह तो जैसे शुभयोग और अशुभयोग कहा है न? ऐसे शुद्धयोग भी कहा है, शुद्धयोग। आहाहा! शुद्धस्वरूप में एकाग्र होना, वह शुद्धयोग है। ऐसी सादी भाषा में शुद्ध उपयोग। परन्तु शुद्धयोग—शुद्ध में योग (अर्थात्) जुड़ान करना। शुभभाव और अशुभभाव, वह शुभयोग और अशुभयोग, उसके साथ जुड़ान हुआ। यहाँ शुद्धयोग। आहाहा! क्योंकि वस्तु स्वयं शुद्ध त्रिकाली है, उसके साथ जुड़ान किया, इसका नाम शुद्धयोग और शुद्ध उपयोग। उसके द्वारा आत्मा अन्दर स्थिर हुआ। शुद्धयोग द्वारा। आहाहा! शुभ-अशुभयोग द्वारा तो भटकने का हुआ। आहाहा! है?

मुमुक्षु : शुभ से तो सेठिया हुआ।

पूज्य गुरुदेवश्री : सेठिया, अब सेठिया सब। आहाहा! एक बार कहा नहीं था? 'चूड़ा' में थे न अपने रायचन्द दोशी? अपने नारणभाई के श्वसुर के पिता। नारणभाई ने दीक्षा ली थी। रायचन्द दोशी थे, चूड़ा के, वृद्ध थे। एक बार जेठमलजी थे न? अन्दर आये वहाँ ऐसे चूडावाले जरा कठोर। खड़े न हों। क्योंकि हमारा बहुत बार जाना होता था। वे लोग साधारण की बात मानें नहीं। इसलिए वह अन्दर घुसा, खड़े होओ न! वहाँ वह बोलता है, जेठी! बैठ न नीचे। ऐसे यह सेठ और बैठ और हैठ। यहाँ तो सेठ के साथ... आहा! सेठिया, किसका सेठिया? बापू! अरे रे! धूल के धनी।

मुमुक्षु : अभी सेठ और नौकर की बात आ गयी।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह आयी थी न। (सेठ) व्यापार नहीं करता, तथापि व्यापार करने का मालिक है। वह नौकर व्यापार करता है तो भी उसका मालिक नहीं। यह तो दृष्टान्त दिया। आहाहा!

यहाँ तो दूसरा कहना है कि **'परात् रागयोगात्'** ऐसा कहा है। पर के, शरीर, वाणी, मन और स्त्री, पुत्र से छूट जा, ऐसा नहीं कहा। आहाहा! एक भगवान आत्मा पूर्ण शान्त और वीतरागमूर्ति प्रभु, वीतरागी अमृत के सागर का भरपूर भगवान आत्मा, उसका अभ्यास-अनुभव कर। उसमें टिक, ऐसा। और **'परात् रागयोगात्'** पर से अर्थात् रागयोग से, राग के सम्बन्ध से। आहाहा! **सर्वतः...** अर्थात् कोई ऐसा कहे कि कोई अशुभराग तो ठीक परन्तु शुभराग है, परन्तु उसमें बहुत... परमात्मा की भक्ति, विनय वह तो जरा आदरणीय है या नहीं? आहाहा! तो कहते हैं कि **'परात् रागयोगात्' सर्वतः [विरमति] विरमता (रुकता) है।** सर्व प्रकार से विरमता है। आहाहा! सर्व स्वभाव भगवान आत्मा में स्थिर होता है, तब राग के सर्व प्रकार से छूट जाता है। आहाहा! ऐसा उपदेश, इसलिए लोगों को (कठिन) लगता है। वस्तुतत्त्व ऐसा है, बापू! आचार्य स्वयं कहते हैं न, देखो न! **'परात्सर्वतो रागयोगात्'** है? चौथा पद है। **'परात्सर्वतो रागयोगात्'** मूल पाठ, कलश। आहाहा! पर से अर्थात् पर के राग योग से सर्वथा प्रकार विराम पाता है।

(यह रीति ज्ञानवैराग्य की शक्ति के बिना नहीं हो सकती)। इस प्रकार, यह रीति अर्थात् यह प्रकार। **(ज्ञानवैराग्य की शक्ति के बिना नहीं हो सकती)।** कौन सा प्रकार? कि स्व में रहना और पर से छूटना, इस ज्ञान-वैराग्य की शक्ति बिना यह रीति नहीं

हो सकती। आहाहा! एक कलश, एक घण्टा होने को आया। कहीं तुम्हारे यहाँ छह हजार, आठ हजार में-धूल में मिले, ऐसा नहीं है। आहाहा! **'स्वस्मिन् आस्ते' 'आस्ते'** अर्थात् स्थिर हो। **'आस्ते'** (अर्थात्) रह, रह। आहाहा! और **'परात् रागयोगात् विरमति'** परन्तु सर्व प्रकार से **'विरमति'** आहाहा! राग का कोई भी अंश आदरणीय (नहीं है)। जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह राग भी आदरणीय नहीं है। आहाहा! वह तो अपराध है। पुरुषार्थसिद्ध उपाय में है। जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधता है, वह भाव अपराध है। आहाहा! आता है, होता है। भावपाहुड़ में कहा अवश्य, अशुभ से बचने को तीर्थंकरगोत्र बाँधने के भाव कर, ऐसा भी आवे, ऐसा आता है व्यवहार, परन्तु वह तो अशुभ से बचने को, अशुभस्थान को टालने के लिये आता है, परन्तु है तो बन्ध का कारण। उससे छूटनेयोग्य है, उसे रखनेयोग्य नहीं। आहाहा!

(यह रीति..) यह रीति क्या कहा? कि स्व और पर; स्व का ग्रहण और पर का त्याग। तत्त्व से स्व और पर का भेद। तत्त्व से स्व में रहना और पर से, राग से छूटना। यह रीति, यह प्रकार। **(ज्ञानवैराग्य की शक्ति के बिना नहीं हो सकती)**। वह सच्चा ज्ञान और सच्चा वैराग्य बिना यह नहीं हो सकता। आहाहा! सच्चा ज्ञान, हों! ज्ञानमात्र जानपना, वाँचन और ग्यारह अंग, वह नहीं। तत्त्वतः-ऐसा कहा है न? आहाहा! इस प्रकार, इस विधि **(ज्ञानवैराग्य की शक्ति के बिना नहीं हो सकती)**। आहाहा! यह श्लोक पूरा हुआ।

गाथा-१९८

सम्यग्दृष्टिः सामान्येन स्वपरावेवं तावज्जानाति –

उदयविवागो विविहो कम्माणं वण्णिदो जिणवरेहिं।
ण दु ते मज्झ सहावा जाणग-भावो दु अहमेक्को।।१९८।।

उदयविपाको विविधः कर्मणां वर्णितो जिनवरैः।
न तु ते मम स्वभावाः ज्ञायकभावस्त्वहमेकः।।१९८।।

ये कर्मोदयविपाकप्रभवा विविधा भावा न ते मम स्वभावाः। एष टङ्कोत्कीर्णैकज्ञायकभावोऽहम्।।१९८।।

अब प्रथम, यह कहते हैं कि सम्यक्दृष्टि सामान्यतया स्व और पर को इस प्रकार जानता है:-

कर्मों हि के जु अनेक, उदय विपाक जिनवर ने कहे।
वे मुझ स्वभाव जु हैं नहीं, मैं एक ज्ञायकभाव हूँ।।१९८।।

गाथार्थ : [कर्मणां] कर्मों के [उदयविपाकः] उदय का विपाक (फल) [जिनवरैः] जिनेन्द्रदेव ने [विविधः] अनेक प्रकार का [वर्णितः] कहा है, [ते] वे [मम स्वभावाः] मेरे स्वभाव [न तु] नहीं है; [अहम् तु] मैं तो [एकः] एक [ज्ञायकभावः] ज्ञायकभाव हूँ।

टीका : जो कर्मोदय के विपाक से उत्पन्न हुए अनेक प्रकार के भाव हैं, वे मेरे स्वभाव नहीं हैं; मैं तो यह (प्रत्यक्ष अनुभवगोचर) टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव हूँ।

भावार्थ : इस प्रकार सामान्यतया समस्त कर्मजन्य भावों को सम्यग्दृष्टि, पर जानता है और अपने को एक ज्ञायकस्वभाव ही जानता है।

गाथा - १९८ पर प्रवचन

अब प्रथम, यह कहते हैं कि सम्यक्दृष्टि सामान्यतया स्व और पर को इस प्रकार जानता है:-

उदयविवागो विविहो कम्माणं वण्णिदो जिणवरेहिं।
ण दु ते मज्झ सहावा जाणग-भावो दु अहमेक्को।।१९८।।

कर्मों हि के जु अनेक, उदय विपाक जिनवर ने कहे।
वे मुझ स्वभाव जु हैं नहीं, मैं एक ज्ञायकभाव हूँ।।१९८।।

आहाहा! ऐसी शर्तें हैं, ऐसी जवाबदारी है। उसका झुकाव तो कर, झुक तो सही। ऐसा है, इसकी अपेक्षा ऐसे झुक तो सही। आहाहा! झुकाव। आहाहा! उसमें यह तत्त्वदृष्टि और तत्त्वज्ञान, स्वरूप में स्थिर होना और पर से छूटना, वह तुझे तब होगा, इसके बिना हो सकेगा नहीं। आहाहा! **कर्मों के उदय का विपाक (फल) जिनेन्द्रदेव ने अनेक प्रकार का कहा है...** विपाक, हों! सत्ता पड़ी है, वह नहीं। आहाहा! **उदय का विपाक (फल) जिनेन्द्रदेव ने अनेक प्रकार का कहा है, वे मेरे स्वभाव नहीं है; मैं तो एक ज्ञायकभाव हूँ।**

टीका :- यह है तो दो लाईन। आहाहा! **जो कर्मोदय के विपाक से...** यह क्या कहा? कर्म सत्ता में पड़ा है, उसकी यह बात नहीं है। उदय में आया, पाक आया, पाक। खिरने के समय पाक आया। उस उदय विपाक से, **कर्मोदय के विपाक से उत्पन्न हुए...** आहाहा! भगवान आत्मा के विपाक से उत्पन्न हुए नहीं। भगवान आत्मा का विपाक तो अतीन्द्रिय आनन्द का उत्पन्न होना, वह भगवान आत्मा का विपाक है। आहाहा! पहले यह डाला, देखा? दूसरा विस्तार भले बाद में करेंगे।

कर्मोदय के विपाक से... अब बाधा यहीं से सब है कि कर्म के कारण से जो विकार होता है, वह कर्म के कारण से होता है। यहाँ तो उदय के विपाक से उत्पन्न हुए, तेरी योग्यता से, कमजोरी से। आहाहा! वह तो जड़ है - कर्म तो जड़ है। जड़ की पर्याय कहीं तुझे स्पर्श नहीं करती। आहाहा! अनन्त काल हुआ परन्तु कर्म को कभी आत्मा स्पर्शा नहीं है तथा कर्म आत्मा को स्पर्शा नहीं है। अरे! ऐसा परिभ्रमण हुआ न? वह तो तेरे विपरीत भाव के कारण हुआ है। कहीं कर्म के कारण हुआ है, ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

कर्मोदय के विपाक से उत्पन्न हुए अनेक प्रकार के भाव हैं। आहाहा! राग, द्वेष, सुख, दुख, फिर बाहर की सामग्री भी ली जाती है। शरीर, सामग्री, पैसा-लक्ष्मी,

इज्जत-कीर्ति, सब। यह **अनेक प्रकार के भाव हैं। वे मेरे स्वभाव नहीं हैं;...** धर्मी ऐसा जानता है कि ये मेरे स्वभाव (नहीं है), वे मेरे नहीं हैं। ये मेरे नहीं हैं अर्थात् ये मेरे स्वभाव नहीं हैं। मेरे स्वभाव नहीं हैं अर्थात् ये मेरे नहीं हैं। आहाहा! ये लड़के भी मेरे नहीं, पैसे भी मेरे नहीं, ऐसा। घातिकर्म के उदय से अन्दर रागादि (होते हैं), अघाति के उदय से संयोग (प्राप्त होते हैं)। संयोग, वह मेरा स्वभाव नहीं है। धर्मी ऐसा जानता है कि वह मेरा स्वभाव नहीं है। आहाहा! वह मेरी चीज़ नहीं है, वह मुझमें नहीं है, वह मैं नहीं हूँ। आहाहा!

अनेक प्रकार के... एक प्रकार के नहीं न? राग भी अनेक प्रकार का, द्वेष भी अनेक प्रकार का और बाहर के संयोग, संयोगी चीज़, अनेक प्रकार के संयोग। ऐसे स्फटिक के महल हों, स्फटिक के महल! एक-एक स्फटिक करोड़ों-अरबों की कीमत का, उसका तो महल हो, घर का। रावण को स्फटिक का महल था। रावण मरकर नरक गया। आहाहा! ऐसे सीढ़ियों में चढ़ते-चढ़ते भी भ्रम पड़ जाए। स्फटिक, इसलिए सब दिखायी दे और वह सीढ़ी भी वहाँ दिखायी दे। अब उस सीढ़ी में चढ़ता हूँ या नीचे (उतरता हूँ, खबर नहीं पड़ती) ध्यान रखना पड़ता है। स्फटिक की सीढ़ियाँ, स्फटिक के पत्थर। आहाहा! और ऊपर मंजिल जाए, वह भी स्फटिक की। अरे रे! यह अनेक प्रकार के भाव बाह्य में और अन्दर में अनेक प्रकार के भाव राग के, दोनों कर्म। घाति और अघाति। घाति से अन्दर में और अघाति से (बाहर में)। घाति से अन्दर का अर्थ कहीं घाति से हुआ नहीं है। घाति (कर्म) वह निमित्त है और अपने उपादान से होता है, इसलिए घाति से होता है—ऐसा कहने में आता है। आहाहा!

कर्मोदय के विपाक से उत्पन्न हुए... ऐसा कहा न? राग-द्वेष होता है, वह कर्म के उदय के विपाक से होता है, ऐसा कहा। आहाहा! यह तो वह उदय है, तब यहाँ विकार स्वयं करता है, स्वयं के कारण से (करता है), तब उस कर्म को निमित्त कहा जाता है। आहाहा! यहाँ तो परभाव बताना है न? कर्म के उदय से जितने विकल्प उठते हैं, वे सब परवस्तु है। और कर्म के उदय साता वेदनीय आदि से या नामकर्म से बाहर में यशकीर्ति और बाहर में धड़ाका-धमाल, बड़ी इज्जत हो नामकर्म के कारण, वह सब मेरा स्वभाव नहीं है,

वह मैं नहीं हूँ। आहाहा! यशकीर्ति ऐसी बाहर में जमी हो, वह एक कर्म के उदय का फल है, वह कहीं मैं नहीं हूँ। आहाहा! वापस कितना मुड़ना पड़ेगा? आहाहा!

मुमुक्षु : मुख फिराना पड़ेगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : झुकाव ही बदलना पड़ेगा। आहाहा! एक ओर भगवान और एक ओर राम और एक ओर गाँव, विकल्प से लेकर पूरी दुनिया। आहाहा!

कहते हैं कि कर्म के उदय के विपाक से। इसमें से निकालते हैं... कर्म के उदय के कारण रागादि होते हैं, देखो! यहाँ तो कहना है कि उसका यह स्वभाव नहीं है। विकार होता है, वह उसके स्वयं के कारण से। विकार होता है, वह षट्कारक के परिणमन से होता है। उसे निमित्त की तो अपेक्षा नहीं परन्तु द्रव्य-गुण की अपेक्षा नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : वह कर्म में जुड़े और विकार होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह स्वयं जुड़ता है, तब ही उसे विकार होता है। कर्म तो जड़ है, वह जड़ है, अजीव है। तुझमें राग-द्वेष हो, वह चैतन्य के भास जैसा है। तुझमें तुझसे होता है। कर्म के कारण बिल्कुल एक प्रतिशत भी नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : न जुड़े तो निर्जरा हो जाए।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसीलिए तो कहते हैं। वे मेरे स्वभाव ही नहीं हैं। मेरा स्वभाव तो भगवान मेरे पास है। यह सब विकार और बाहर में विकार का फल, वह मेरा स्वभाव ही नहीं। उसमें मैं नहीं हूँ, वे मेरे नहीं हैं, मुझमें वे नहीं हैं, उनमें मैं नहीं हूँ। आहाहा!

वे मेरे स्वभाव नहीं हैं;... आहाहा! सवा दो-ढाई लाईन है परन्तु... **मैं तो यह (प्रत्यक्ष अनुभवगोचर)**... मेरा भगवान तो मुझे प्रत्यक्ष वेदन में आता है। आहाहा! धर्मी जीव ऐसा जानता है कि मेरा नाथ, मुझे मेरा अतीन्द्रिय आनन्द अनुभव में आता है, वह मैं हूँ। आहाहा! दया, दान के परिणाम तो मैं नहीं, अशुभ तो नहीं, बाह्य की सामग्री तो उसकी पर्याय उसमें, वह तो नहीं... आहाहा! मैं तो प्रत्यक्ष अनुभवगोचर हूँ। परोक्ष रहूँ, वह मैं नहीं—ऐसा कहते हैं। आहाहा! ज्ञान की वर्तमान पर्याय आत्मा को सीधी पकड़ती है, वह प्रत्यक्ष है। उसे पकड़ने में किसी की अपेक्षा नहीं है। आहाहा! ऐसा कहकर तो यह भी

कहा कि अनुभव में व्यवहार की अपेक्षा नहीं कि व्यवहार कषाय मन्द हो, दया, दान और ऐसा राग हो, उसे अनुभव हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! वह तो परवस्तु है। आहाहा!

मैं तो यह (प्रत्यक्ष अनुभवगोचर)... आहाहा! **टंकोत्कीर्ण...** आहाहा! **एक ज्ञायकभाव हूँ।** यह अनेक भाव, वे मेरे स्वभाव नहीं हैं। मैं एक ज्ञायकभाव हूँ। देखा? गुण-गुणीभेद और मैं अनेक गुण हूँ—ऐसा भी नहीं लिया। मैं अनेक गुणवाला हूँ—(ऐसा भी नहीं)। आहाहा! **(प्रत्यक्ष अनुभवगोचर)...** प्रत्यक्ष ज्ञान और प्रत्यक्ष अनुभवगम्य। **टंकोत्कीर्ण...** जैसा है, वैसा ऐसा का ऐसा। यह **ज्ञायकभाव हूँ।** मैं तो यह ज्ञायकभाव हूँ। लो।

इस प्रकार सामान्यतया... सामान्य अर्थात् एकदम भगवान भिन्न और रागादि सब, फिर उसके भेद भले करेंगे परन्तु एक साथ दोनों भिन्न कर दिये। **सामान्यतया समस्त कर्मजन्य भावों को सम्यग्दृष्टि, पर जानता है और अपने को एक ज्ञायकस्वभाव ही जानता है।** एक ज्ञायकस्वभाव वापस, देखा! अनेक गुण-गुणी भेद भी नहीं। आहाहा! वे अनेक विकल्प, विकार और बाहर की सामग्री, वह सब मेरे स्वभाव में नहीं है, मेरा स्वभाव नहीं है और मैं हूँ तो ज्ञायकभाव हूँ। उसे यहाँ सम्यग्दृष्टि को निर्जरा होती है, ऐसा कहना है। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा-१९९

सम्यग्दृष्टिर्विशेषेण तु स्वपरावेवं जानाति-

पोग्गल-कम्मं रागो तस्स विवागोदओ हवदि एसो।
ण दु एस मज्झ भावो जाणग-भावो हु अहमेक्को।।१९९।।

पुद्गलकर्म रागस्तस्य विपाकोदयो भवति एषः।
न त्वेष मम भावो ज्ञायक-भावः खल्वहमेकः।।१९९।।

अस्ति किल रागो नाम पुद्गलकर्म, तदुदयविपाकप्रभवोऽयं रागरूपो भावः, न पुनर्मम स्वभावः। एष टङ्कोत्कीर्णैकज्ञायकभावोऽहम्।

एवमेव च रागपदपरिवर्तनेन द्वेषमोहक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनो-वचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राण-रसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि, अनया दिशा अन्यान्यप्यूह्यानि।।१९९।।

अब यह कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि विशेषतया स्व और पर को इस प्रकार जानता है:-

पुद्गलकर्मरूप राग का हि, विपाकरूप है उदय ये।
ये है नहीं मुझभाव, निश्चय एक ज्ञायकभाव हूँ।।१९९।।

गाथार्थ : [रागः] राग [पुद्गलकर्म] पुद्गलकर्म है, [तस्य] उसका [विपाकोदयः] विपाकरूप उदय [एषः भवति] यह है, [एषः] यह [मम भावः] मेरा भाव [न तु] नहीं है; [अहम्] मैं तो [खलु] निश्चय से [एकः] एक [ज्ञायकभावः] ज्ञायकभाव हूँ।

टीका : वास्तव में राग नामक पुद्गलकर्म है, उसके उदय के विपाक से उत्पन्न हुआ यह रागरूप भाव है, यह मेरा स्वभाव नहीं है; मैं तो यह (प्रत्यक्ष अनुभवगोचर) टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव हूँ। (इस प्रकार सम्यग्दृष्टि विशेषतया स्व को और पर को जानता है।) और इसी प्रकार 'राग' पद को बदलकर उसके स्थान पर द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन और स्पर्शन- ये शब्द रखकर सोलह सूत्र व्याख्यानरूप करना, और इसी उपदेश से दूसरे भी विचारना।

प्रवचन नं. २७५, गाथा-१९९, शनिवार, आषाढ़ कृष्ण ६
दिनाङ्क १५-०७-१९७९

समयसार, १९९ गाथा, निर्जरा अधिकार। **अब यह कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि विशेषतया स्व और पर को इस प्रकार जानता है:-**

पोग्गल-कम्मं रागो तस्स विवागोदओ हवदि एसो।
ण दु एस मज्झ भावो जाणग-भावो हु अहमेक्को।।१९९।।

पुद्गलकर्मरूप राग का हि, विपाकरूप है उदय ये।
ये है नहीं मुझभाव, निश्चय एक ज्ञायकभाव हूँ।।१९९।।

सूक्ष्म बात है, भाई! निर्जरा अधिकार है न? निर्जरा अर्थात् शुद्धि। स्वरूप जो शुद्ध है, पूर्ण शुद्ध स्वरूप है, पूर्ण आनन्द, अतीन्द्रिय आनन्द का महासागर, ऐसे आत्मा को अन्तर में दृष्टि अन्तर्मुख करके और उसका वेदन सम्यग्दर्शन में अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन आवे, उसे यहाँ सम्यग्दृष्टि कहते हैं। आहाहा! इतनी शर्तें। उसे निर्जरा होती है। आहाहा!

उस दिन निर्जरा की तीन बात, तीन प्रकार कहे थे। एक कर्म का खिरना, उसे निर्जरा कहते हैं; एक अशुद्धता का टलना, उसे निर्जरा कहते हैं; और एक शुद्ध का बढ़ना, (उसे निर्जरा कहते हैं)। आहाहा! वीतरागमार्ग कोई अलौकिक, भाई! आहाहा! कल कोई कहता था, बरसात खिंच गयी है न? घास नहीं है, वे बारह-चौदह पशु मर गये, घास नहीं मिलती। कहो, ऐसे अवतार। आहाहा! नहीं तो ग्यारह इंच बरसात आ गयी है, परन्तु घास थोड़ा-थोड़ा हुआ, वह सब खा लिया गया है। बारह-चौदह पशु घास बिना मर गये। आहाहा! ऐसे अवतार तो अनन्त बार किये हैं, इस आत्मज्ञान बिना। बाकी तो सब किया। दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा आदि वह तो शुभभाव है, वह संसार है। आहाहा!

यहाँ तो सम्यग्दृष्टि, जिसे आत्मा चैतन्य रत्नाकर महाप्रभु अनन्त शक्तियों से विराजमान (अनुभव में आया है)। कल रात्रि में कहा था कि एक आत्मा में इतनी शक्तियाँ अर्थात् स्वभाव अर्थात् गुण इतने हैं... आहाहा! कि अनन्त मुख करूँ, भक्तिवन्त भक्ति कहता है कि मैं अनन्त मुख-मुँह करूँ और एक-एक मुख में अनन्त जीभ करूँ तो भी नहीं कहे जा सकते। आहाहा! प्रभु! इसे खबर नहीं है। बाहर की सब बातों में अधिक में विशेष, अपने

से बाहर में कुछ विशेष लगा, वहाँ अटक गया है। अपनी विशेष अन्दर कुछ अलग चीज़ है... आहाहा! उस ओर इसने नजर नहीं की है।

यह यहाँ कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव। आहाहा! सम्यक् अर्थात् सत्य, जैसा उसका पूर्ण स्वरूप है, अनन्त मुख से और एक-एक मुख में अनन्त जीभ से गुण कहने जाए तो गुण की संख्या इतनी है कि कही नहीं जा सकती। आहाहा! रात्रि में कहा था। ऐसा यह भगवान आत्मा; शरीर, वह तो मिट्टी है, वह तो पर की-जगत की चीज़ है। कर्म अन्दर है, वह जड़ है, पर है, वह तो आत्मा में असत् है, असत्पना है। स्व में सत्पना है और पर का उसमें असत्पना है। अब उसमें भटकता क्यों है? इतनी-इतनी शक्तियाँ इसमें पड़ी है। आहाहा! एक मनुष्य अनन्त मुख करे और एक मुख में अनन्त जीभ करे तो भी उस गुण की संख्या कही नहीं जा सकती। ऐसा यह भगवान आत्मा, इसे सम्यक् अर्थात् सत्य जैसा स्वरूप है, वैसा अन्तर्दृष्टि अनुभव करके की है, उसे यहाँ सम्यग्दृष्टि कहते हैं। आहाहा!

नीचे गुजराती आ गया है। (गुजराती का हिन्दी अनुवाद)

पुद्गलकर्मरूप राग का हि, विपाकरूप है उदय ये।
ये है नहीं मुझभाव, निश्चय एक ज्ञायकभाव हूँ।।१९९।।

आहाहा! यहाँ तक पहुँचना। **टीका – वास्तव में राग नामक पुद्गलकर्म है...** जड़, जड़। राग नाम का एक कर्म है, चारित्रमोह जड़, **उसके उदय के विपाक...** वह पड़ा कर्म सत्ता में है, वह तो अजीवरूप से है, अब उसका उदय आया, वह भी एक अजीव है। आहाहा! भगवान अनन्त गुण का नाथ, अनन्त गुण का महासमुद्र, चैतन्य रत्नाकर प्रभु, उसकी पर्याय में, कर्म जड़ है, उनके निमित्त से पुरुषार्थ की कमजोरी से राग होता है, पर से नहीं, उस कर्म से नहीं। कर्म तो जड़ है। जड़ को तो आत्मा स्पर्श भी नहीं करता, कभी स्पर्श भी नहीं किया। आहाहा! भगवान आत्मा शरीर, वाणी, कर्म को कभी स्पर्श भी नहीं करता, अनन्त-अनन्त काल हुआ। क्योंकि उस चीज़ की जिस चीज़ में नास्ति है, उसे स्पर्श किस प्रकार करे? आहाहा! ऐसा जो भगवान आत्मा अनन्त गुण रत्नाकर, उसका जिसे सम्यक् जैसा है, वैसी प्रतीति-ज्ञान होकर, वर्तमान ज्ञान की पर्याय में उसे ज्ञेय बनाकर, स्वस्वरूप को ज्ञेय बनाकर ज्ञान करके प्रतीति होती है। आहाहा! उसे यहाँ भव के अन्त की पहली सीढ़ी सम्यग्दर्शन कहते हैं। आहाहा! प्रभु! इसके बिना भव का अन्त नहीं आता।

बाहर की अनेक प्रकार की क्रियाएँ, दया, दान, व्रतादि; संसार के जंजाल, धन्धा अकेला पाप, उसकी तो बात क्या करना ? पूरे दिन पाप और स्त्री, पुत्र को सम्हालना और उनके पास खेलना, वह पाप। धर्म तो कहाँ है ? बापू! पुण्य का भी ठिकाना नहीं है। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि धर्मी तो उसे कहते हैं कि जिसे आत्मा का पूर्ण स्वभाव अनन्त जीभ से कहा नहीं जा सके, इतना जो स्वभाव... आहाहा! उसकी जिसे ज्ञान होकर प्रतीति हुई है। ऐसी की ऐसी प्रतीति नहीं। उसे ज्ञान में चीज़ आयी है कि वह चीज़ यह है। पूर्ण आनन्द और पूर्ण अनन्त शक्तियों का संग्रहालय, अनन्त गुण का संग्रह का आलय—स्थान प्रभु, ऐसा जिसका परम सत्यस्वरूप है, ऐसा ही जिसने अन्तर में ज्ञान की पर्याय में जानकर प्रतीति और शान्ति का वेदन किया है। आहाहा! उसे यहाँ सम्यग्दृष्टि कहते हैं, उसे यहाँ धर्म की पहली सीढ़ी, धर्म का पहला सोपान (कहते हैं)। आहाहा!

ऐसा जो जीव, वह **वास्तव में राग नामक पुद्गलकर्म है...** कहते हैं। आहाहा! **उसके उदय के विपाक से...** सत्ता में पड़ा है, वह नहीं। उसका उदय आने पर विपाक हुआ, उसका पाक आया। उदय से **उत्पन्न हुआ...** राग। अर्थात् निमित्त के लक्ष्य से, वश से। जो कर्म का उदय है, वह निमित्त है, उसके लक्ष्य से—उसके वश से, उससे नहीं। आहाहा! उसके लक्ष्य से और उसके वश से जो कुछ राग हुआ... आहाहा! है ? **विपाक से उत्पन्न हुआ यह रागरूप भाव है,...** देखा ? यह क्या कहा ? यह तो सिद्धान्त है, यह कोई कथा-वार्ता नहीं है, प्रभु!

अरे! इसने कभी किया नहीं। इसे अपनी दया आयी नहीं। अरे! मैं कहाँ भटकता हूँ ? किस योनि में कहाँ हूँ ? कहाँ मेरी जाति और कहाँ मेरे भटकने के स्थान ? आहा! हैं ? आहाहा! मैं एक आनन्द का बादशाह, अनन्त गुण का धनी, वह इन एकेन्द्रिय और द्वीन्द्रिय और त्रीन्द्रिय तथा निगोद में भटके! आहाहा!

यह जिसे कहते हैं कि, अन्दर भान हुआ है कि मैं तो चैतन्यस्वरूप आनन्द हूँ, ज्ञायक हूँ। आता है न ? **'जाणगभावो'** चौथा (पद है)। मैं तो एक जाननहार-देखनहार हूँ। आहाहा! उसके साथ अनन्त गुण गुंथित हैं। जानने-देखने के साथ अनन्त-अनन्त गुण गुंथित अविनाभाव साथ में पड़े हैं। आहाहा! सूक्ष्म बात है, प्रभु! आहाहा! ऐसा जो मैं, उसमें यह जो राग हुआ... है ? वह **मेरा स्वभाव नहीं है;...** आहाहा! अन्दर जरा दया का, दान

का, भक्ति का, व्रत का, पूजा का भाव आया परन्तु वह राग है। हिंसा, झूठ, चोरी, विषय का राग तो तीव्र है, उसकी तो क्या बात करना? वह तो ज़हर का प्याला है। आहाहा! परन्तु यहाँ तो राग दया, दान, व्रत, भक्ति का आया तो सम्यग्दृष्टि जीव, सम्यक् अर्थात् सत्य जिसकी दृष्टि, सत्य स्वरूप की दृष्टि हुई है। पूर्णानन्द का नाथ परमस्वभावभाव पारिणामिकभाव से जो सहजस्वभाव से अनादि से है, वह त्रिकाल निरावरण है, त्रिकाल अखण्ड है, एक है, अविनश्वर है। आहाहा! ऐसा जो भगवान आत्मा, उसका जहाँ अनुभव, प्रतीति हुई है, वह ऐसा कहता है कि यह राग है, वह मेरा नहीं है। जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधता है, वह भाव भी मेरा नहीं है, वह मैं नहीं हूँ, उसमें मैं नहीं हूँ, वह मुझमें नहीं है। आहाहा! इतनी शर्तों का सम्यग्दर्शन है। आहाहा!

दुनिया तो कहाँ-कहाँ बैठी है। आहाहा! वह उस अखबार में आया है न? मोरारजी गंगा में बीस मिनिट बहुत नहाये। स्थितप्रज्ञ है, ऐसा लिखा है। अरे! भगवान! बापू! स्थितप्रज्ञ किसे कहते हैं? जो ज्ञान वास्तविक पूर्ण स्वरूप में स्थिर हो, उसे स्थितप्रज्ञ कहते हैं। आहाहा! उस जीव को राग जरा देखने में आता है, स्वयं की पर्याय की कमजोरी से (हुआ राग), यहाँ ऐसा कहा। कोई वापस ऐसा ले लेवे कि कर्म के विपाक से आत्मा में राग हुआ है, उसके जड़ का उदय आया, इसलिए यहाँ राग हुआ है, ऐसा नहीं है। जड़ को तो चैतन्य कभी स्पर्श भी नहीं करता। राग है, उस जड़ को कर्म को स्पर्शा नहीं है और कर्म का उदय है, वह यहाँ राग होता है, उसे स्पर्शा नहीं है। आहाहा! परन्तु यहाँ कहते हैं कि मुझे भी स्पर्शा नहीं है, ऐसा मैं हूँ। आहाहा! है?

यह रागरूप भाव है,... है, ऐसा। हों! अस्ति है। जैसे मैं त्रिकाल अस्ति हूँ, वैसे यह राग अस्ति है, आया है। पर्याय में राग आया है.... आहाहा! परन्तु मेरा स्वभाव नहीं है। आहाहा! वह मेरा स्वरूप नहीं है। मेरा स्व... स्व... स्व... स्व-भाव वह नहीं है। वह विभाव है, विकार है, पर है। मेरे स्वरूप में उसकी नास्ति है। उसके स्वरूप में मेरी नास्ति है और मेरे स्वरूप में उस राग की नास्ति है। आहाहा! ऐसा मार्ग है, बापू! है? आहाहा! लोग एकान्त कहकर यहाँ की बात उड़ा देते हैं। करो, करो, बापू! मार्ग तो यह है। आहाहा! तीन लोक के नाथ तीर्थंकर, अनन्त तीर्थंकरों की यह ध्वनि और आवाज यह है। आहाहा!

कहते हैं कि जिसे धर्म की दृष्टि हुई है। धर्म अर्थात् आत्मा के अनन्त गुण जो धर्म,

आत्मा उनका धारक धर्मी, ऐसे अनन्त गुणरूपी धर्म, उनकी दृष्टि हुई है तो पर्याय में भी अनन्त धर्म की अनन्त शक्ति का अंश बाहर आया, प्रगट हुआ है। आहाहा! जिस प्रकार द्रव्य अनन्त गुण का एकरूप, जिस प्रकार गुण अनन्त संख्या से अनन्तरूप, ऐसी उनकी प्रतीति करने पर भी अनन्त गुण की जितनी संख्या है, उनका एक अंश प्रगट-व्यक्त (हुआ है)। अनन्त का अनन्त प्रगट अंश सम्यग्दर्शन होने पर (प्रगट) होता है। आहाहा! तीनों एक होते हैं। अर्थात्? द्रव्य में अनन्त गुण का एकरूप द्रव्य, उसके गुण अनन्त, जो अनन्त मुख से, अनन्त जीभों से नहीं कहे जा सकते इतने, ऐसे जो धर्म जो गुण हैं, उनका धारक धर्मी द्रव्य है। उसकी जहाँ अन्तर्दृष्टि हुई है, उसकी दृष्टि निमित्त की, राग की और पर्याय की दृष्टि उड़ गयी है। आहाहा! उसे यह राग है और यह मेरा स्वभाव नहीं। जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह अपराध है। आहाहा! पर की दया का भाव आवे, यह अपराध है, दोष है, यह मेरा स्वभाव नहीं है। धर्मी ऐसा जानता है, यह मेरा स्वरूप नहीं है। आहाहा!

भाई! वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा का मार्ग कोई अलौकिक है। इसके अतिरिक्त अन्यत्र कहीं है नहीं। आहाहा! ऐसा जो प्रभु आत्मा, कहते हैं कि यह राग पंच महाव्रत का आया, भगवान की भक्ति का आया, दया का आया... आहाहा! वह मेरा स्वभाव नहीं है। धर्मी तो ऐसा जानता है, मेरे सत् में तो उसका तो असत्पना है, वह मुझमें नहीं है। आहाहा! समझ में आया? मार्ग सूक्ष्म, बापू! यह नरक के और निगोद के दुःख, जैसे गुण की संख्या का पार नहीं होता, वैसे कहते हैं कि दुःख की दशा का वर्णन भी करोड़ों भव में करोड़ों जीभों से नहीं कहा जा सकता, बापू! ऐसे जो गुण हैं, उनकी उल्टी दशा जो दुःख, वह दुःख भी... आहाहा! करोड़ भव में करोड़ों जीभों से नहीं कहे जा सकें, ऐसे दुःख तूने भोगे हैं, बापू! आहाहा! नरक के, निगोद के (दुःख) छोड़ने का मार्ग तो एक यह है। आहाहा! इसकी ओर का झुकाव तो कर। आहाहा!

मैं एक पूर्णानन्द का नाथ पूर्ण स्वरूप, ऐसी जो अन्तर्दृष्टि होने पर राग का कण भी मेरा स्वरूप और स्वभाव नहीं है। आहाहा! वह मुझमें नहीं है। उसे वह उदयकर्म, राग हुआ, वह निर्जरित हो जाता है। अल्प बन्ध होता है, वह बात गौण है। वास्तव में निर्जरित हो जाता है, ऐसा कहना है। आहाहा! वह **मेरा स्वभाव नहीं है;...**

मैं तो.. मैं तो क्यों (कहा)? (क्योंकि) वह है और मैं भी हूँ। परन्तु मैं तो आहाहा!

यह... मैं तो यह... चैतन्य प्रत्यक्ष। 'यह', प्रत्यक्षपना बतलाता है। आहाहा! यह लोग नहीं कहते? यह मनुष्य आया। यह अर्थात् उसका विद्यमानपना बतलाते हैं—प्रत्यक्ष। यह आत्मा, ऐसा ज्ञान में प्रत्यक्षपना ज्ञात होता है। आहाहा! ऐसी बात है। सुनना मुश्किल पड़े। उसे अन्तर में उतारने का प्रसंग तो अलौकिक है, बापू! आहाहा! दुनिया के साथ मेल खाये, ऐसा नहीं है। आहाहा!

मैं तो यह (प्रत्यक्ष अनुभवगोचर)... आहा! मैं तो ज्ञान में प्रत्यक्ष अनुभवगोचर-वेदन प्रत्यक्ष गम्य हूँ। मैं प्रत्यक्ष रहूँ, यह मेरा स्वरूप नहीं है। आहाहा! क्योंकि इसमें सैंतालीस शक्तियों का जहाँ पीछे वर्णन चला है, उसमें एक प्रकाश नाम का गुण लिया है, तो उस प्रकाश नामक गुण के कारण गुणी ऐसा जो भगवान आत्मा जहाँ सम्यक् अनुभव में लिया, उसे पर्याय में स्वसंवेदन—स्व अपना, सं—प्रत्यक्ष वेदन हो, ऐसा ही उसका गुण है। आहाहा! समझ में आया?

मैं तो यह (प्रत्यक्ष अनुभवगोचर) टंकोत्कीर्ण... ऐसा का ऐसा। अनन्त काल व्यतीत हुआ परन्तु मेरे द्रव्य में घिसावट लगी नहीं। आहाहा! निगोद और नरक में अनन्त बार रहा परन्तु मेरे द्रव्य और गुण में कुछ हीनता और घिसावट हुई नहीं। आहाहा! ऐसा मेरा प्रभु... आहाहा! है? **एक ज्ञायकभाव हूँ।** वे अनन्त प्रकार के विकृतादि भाव आवे, बहुत प्रकार के (आवे), संक्षेप में असंख्य हैं, विस्तार में अनन्त प्रकार हैं, परन्तु वस्तु मैं हूँ, वह तो एकरूप हूँ। आहाहा!

मैं एक ज्ञायकभाव टंकोत्कीर्ण हूँ। मैं तो एक जाननस्वभाव... जाननस्वभाव... जाननस्वभाव ऐसा तत्त्व, वह मैं यह हूँ। आहाहा! वह राग तो मैं नहीं परन्तु पर्याय जितना भी मैं नहीं हूँ। राग है, उसे जानता है, उस ज्ञान में राग आया नहीं, राग सम्बन्धी का ज्ञान राग है; इसलिए हुआ नहीं। ज्ञान की पर्याय में स्वयं से राग का और अपना, अपने से अपनी सत्ता द्वारा ज्ञान हुआ। आहाहा! वह ज्ञान एक समय की पर्याय है। इतना भी मैं नहीं। समझ में आया? आहाहा! मैं तो एक ज्ञायकभाव हूँ। आहाहा! देखो! यह भव के अन्त की बात, प्रभु! आहाहा! भव के-चौरासी के अवतार। कहीं नरक, कहीं निगोद, कहीं हरितकाय, कहीं लहसन और कहीं बबूल और कहीं थोर में... आहाहा! अवतार धारण कर-करके कहाँ रहा? उसका अन्त लाने का यह एक उपाय है कि जिसमें भव और भव का भाव

जिसमें नहीं है। आहाहा! यह राग, वह भव का भाव है, वह मेरे स्वरूप में नहीं है। आहाहा! अब अभी तो ऐसी लगाते हैं कि यह दया करो और व्रत करो और भक्ति करो, पूजा करो, सेवा करो और यह करते-करते कल्याण हो जाएगा। अरे! प्रभु! यह वस्तु जहर और राग स्वरूप में नहीं है, इससे स्वरूप को लाभ होगा? आहाहा! समझ में आया?

बड़ा फेरफार हो गया। दृष्टि का बड़ा फेरफार हो गया। सेवाएँ करो, देश सेवा करो, एक-दूसरे को मदद करो, भूखे को अनाज दो, प्यासे को पानी दो। आहाहा! सब अपने साधर्मी जीव हैं, इसलिए मदद करो। यहाँ कहते हैं, कुछ नहीं, बापू! परवस्तु का प्रभु! तुझमें अभाव है और तेरा उनमें अभाव है तो तू पर का क्या करेगा? आहाहा! क्योंकि वे परपदार्थ उसकी पर्याय के कार्य बिना तो है नहीं। तो उसकी पर्याय के कार्य बिना नहीं तो तू उसकी पर्याय किसी प्रकार करेगा? आहाहा! वे अनन्त द्रव्य भले हों तेरे सामने, परन्तु वे अनन्त द्रव्य तो स्वयं की पर्याय को करते हैं। आहाहा! यह पर को कुछ नहीं करता। अनन्त परद्रव्य पर को कुछ नहीं करते, तेरा स्वद्रव्य पर को नहीं करता। पर के द्रव्य-गुण को तो नहीं, परन्तु पर्याय को भी नहीं करता। आहाहा! ऐसा मैं एक ज्ञायकतत्त्व हूँ। कल आया था—तत्त्व से। भाषा नहीं, परमार्थ से उसे अन्तर में यह बात बैठनी चाहिए। तत्त्व से। आहाहा!

एक ज्ञायकभाव त्रिकाल, वह मैं हूँ। यह दया, दानादि राग आया है, वह मैं नहीं हूँ, मैं नहीं तो उससे मुझे लाभ भी नहीं। आहाहा! मेरा प्रभु मेरा स्वभाव है। उस स्वभाव की परिणति द्वारा मुझे लाभ होता है। आहाहा! **(इस प्रकार सम्यग्दृष्टि विशेषतया...)** अर्थात् कि पहले सामान्यरूप से कहा था कि एक आत्मा और उसके अतिरिक्त राग से लेकर सबका त्याग है, यह सामान्यरूप से कहा। अब इसके भेद डालकर यह एक राग का भेद लिया। समझ में आया? पहले सामान्यरूप से कहा था। एक ओर प्रभु आत्मा और एक ओर रागादि पूरी दुनिया। राग के विकल्प से लेकर पूरी दुनिया, सब वह तुझमें नहीं और तू उनमें नहीं। ऐसा सामान्यरूप से पहले कहा था। अब उसके भेद डालकर विशेषरूप से समझाते हैं। वह **(सम्यग्दृष्टि विशेषतया स्व को और पर को जानता है।)** आहाहा! यहाँ तो वहाँ तक लिया कि राग है, उसे जानता है और जाननेवाला, वह मैं हूँ। राग ज्ञात होता है मुझमें, वह राग मैं नहीं। आहाहा! और वह राग है, इसलिए यहाँ राग का ज्ञान होता है, ऐसा भी नहीं है और मेरा ज्ञान मुझे मुझसे स्व को जानते हुए पर को जानना, ऐसा स्व-परप्रकाशक मेरा-सत्ता का स्वरूप है। उससे मैं मुझे जानता हूँ। आहाहा! ऐसा है।

(स्व को और पर को जानता है।) स्व एक ज्ञायकभाव और राग अभी लेना है, वह पर। यह स्व और पर को जानता है, यह अपेक्षा है। वास्तव में तो उस राग सम्बन्धी का ज्ञान अपने से अपने में स्व-परप्रकाशक के सामर्थ्य से हुआ है, उसे जानता है। यहाँ तो राग को बताना है न? धर्मी राग को जानता है। राग मैं नहीं। मैं हूँ, वहाँ राग नहीं और राग है, वहाँ मैं नहीं। आहाहा! ऐसी बात। कहाँ लोगों को निवृत्ति है? आहाहा!

अपने हित के लिये समय निकालना। समय मिलता नहीं, ऐसा कहते हैं। मरने का समय नहीं है, ऐसा (कहते हैं)। व्यापार के धन्धे में लवलीन हो (तो ऐसा कहे) अभी तो मरने का भी (समय नहीं है)। बापू! देह छूटने का अवसर आयेगा, भाई! वह अवसर अकस्मात् आकर खड़ा रहेगा। आहाहा! यह देह, ऐसे बैठे, बात करते-करते छूट जाएगी। ऐसा नहीं कि वह कहेगी कि अब मैं छूटती हूँ। आहाहा! यह तो जड़ है, मिट्टी है, धूल है। इसे छूटने का समय है, उस समय में छूटेगी ही। उसका समय है। भगवान के ज्ञान में तो है परन्तु अपनी योग्यता उसमें रहने की, शरीर में रहने की इतनी ही योग्यता है। आहाहा! इतनी योग्यता में रहकर यह देह छूट जाती है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, प्रभु! धर्मी उसे कहते हैं... आहाहा! जिसे आत्मा का दर्शन हुआ है, उसे यह राग, दया, दान, व्रत, भक्ति, यात्रा का राग आता है परन्तु उसे धर्मी अपना नहीं मानता। आहाहा! उसे अपना नहीं मानता। जैसे यह मिट्टी जड़-धूल है, पर है, उसका अस्तित्व अत्यन्त भिन्न है और राग का अस्तित्व जरा पर्याय में दिखता है, तथापि वह अस्तित्व, मेरा स्वरूप नहीं है। आहाहा! धर्मी उसे कहते हैं, सम्यग्दृष्टि—धर्म की पहली सीढ़ीवाला उसे कहते हैं... आहाहा! कि जो राग को भी अपनी चीज़ न माने। आहाहा! वहाँ फिर यह स्त्री, पुत्र मेरे, स्त्री मेरी और पुत्र मेरे, प्रभु! यह धर्मी नहीं मानता। आहाहा! अभी यह कहेंगे। समझ में आया? यह पुत्र मेरा है और यह पुत्री मेरी है और यह मेरी स्त्री। अरे! प्रभु! किसकी स्त्री? उसका आत्मा भिन्न, उसके शरीर के परमाणु भिन्न, तेरे कहाँ से आये वे? आहाहा! तुझे क्या हुआ, प्रभु! आहाहा!

यहाँ कहते हैं, वह स्व-पर को जानता है। **और इसी प्रकार 'राग' पद को बदलकर...** द्वेष आवे। द्वेष लेना। है? द्वेष का अंश आवे तो भी धर्मी आत्मा के आनन्द के स्वाद के समक्ष वह द्वेष का स्वाद आकुलता है, इसलिए वह मेरा स्वरूप नहीं है।

आहाहा! समझ में आया? वह द्वेष का अंश है, वह मेरी चीज़ नहीं है। मैं तो प्रभु ज्ञायक चैतन्यज्योति अनादि सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव परमेश्वर परमात्मा ने जो आत्मा देखा, वह आत्मा तो राग और विकाररहित प्रभु है, उसे भगवान ने आत्मा देखा है। आहाहा! वह भगवान स्वयं कहते हैं कि भाई! जो धर्मी होता है, उसे राग और द्वेष का अंश आता है, कमजोरी है इसलिए (आता है)। परन्तु वह मेरा नहीं है, मुझे नहीं है, मुझे नहीं है। मैं उसे स्पर्श ही नहीं करता। आहाहा! ऐसी बात है। सुनने मिलना मुश्किल पड़े, बापू! क्या करे? आहाहा! यह द्वेष।

मोह,... यह मोह अर्थात् मिथ्यात्व नहीं परन्तु परसन्मुख की जरा सावधानी जरा जाती है, वह भी मैं नहीं हूँ। सम्यग्दृष्टि लेना है न? मिथ्यात्व है, वह मैं नहीं (लो तो) मिथ्यात्व है ही नहीं वहाँ। परन्तु कोई सम्यक्त्वमोहनीय का उदय जरा हो और परसन्मुख की सावधानी, वह मैं नहीं, वह मैं नहीं। आहाहा! मैं तो एक जाननहार चैतन्य भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ जिनेश्वर ने जो प्रगट किया और ऐसा था, वह मैं हूँ। आहाहा! मुझमें और भगवान में कुछ अन्तर नहीं है। भगवान की पर्याय प्रगट हो गयी है, मेरी पर्याय अपूर्ण है, तथापि वह रागादि चीज़ जैसे भगवान को नहीं है, वैसे वह मुझे भी नहीं है। अरे रे! ऐसी बातें। कहाँ निवृत्ति है लोगों को? आहाहा! द्वेष, मोह (हुए)।

क्रोध,... ऐसा जरा क्रोध आवे। धर्मी है, युद्ध आदि में भी खड़ा हो। जरा क्रोध (आ जाए)। आहाहा! तो भी वह धर्मी उस क्रोध को अपना स्वरूप नहीं जानता। उस क्रोध को क्रोध की अस्ति में क्रोध को जानने का अपना स्वभाव है, उसे जानता है। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बात है। क्रोध।

इसी प्रकार **मान,...** जरा मान आवे, धर्मी है। तो भी वह जानता है, प्रभु! वह मेरी चीज़ नहीं, हों! आहाहा! वह तो पर की चीज़ आकर दिखायी देती है। आहाहा! जैसे घर में स्वयं रहा हो और किसी की स्त्री या पुत्र आकर ऐसे मुख के सामने आकर चला जाए, ऐसे दरवाजे के पास; उसी प्रकार यह क्रोध का अंश भी आकर दिखायी देता है, (वह) मेरी चीज़ नहीं है। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म है। इसीलिए लोग कहते हैं न, सोनगढ़वालों का एकान्त है। व्यवहार से होता है, ऐसा नहीं कहते। यहाँ तो प्रभु कहते हैं कि व्यवहार का राग आता है, उसे धर्मी अपना नहीं मानता। आहाहा! प्रभु! वीतरागमार्ग सूक्ष्म, प्रभु!

आहाहा! तीन लोक के नाथ सीमन्धर भगवान महाविदेह में विराजमान हैं, उनका यहाँ विरह पड़ा, वाणी रह गयी। आहाहा! है ? कुन्दकुन्दाचार्य साक्षात् वहाँ गये थे, आठ दिन वहाँ रहे थे, आकर यह वाणी बनायी है। आहाहा! उसके टीकाकार—टीका करनेवाले तो नहीं गये थे परन्तु वे यहाँ अन्दर भगवान के पास गये थे, इसलिए टीका बनायी है। आहाहा! आहाहा! ऐसा है। किस प्रकार का ऐसा उपदेश ? बापू! मार्ग तो यह है, भाई!

वीतराग! वीतराग का मार्ग वीतराग भाव से होता है। वीतराग का मार्ग राग से नहीं होता, तो वह वीतरागमार्ग नहीं कहलाता। इसलिए सम्यग्दृष्टि आत्मा को जब वीतरागस्वरूप जानता है, इससे पर्याय में सम्यग्दर्शन और वीतरागी पर्याय प्रगट हुई है। इसलिए वह वीतरागी पर्याय से विरुद्ध का मान या क्रोध (आता है), उसे वह अपना नहीं मानता। आहाहा!

माया,... जरा माया भी आती है। आहाहा! परन्तु वह दिखाव देकर उस समय वह ज्ञान की पर्याय उसे जानने की अपनी शक्ति से प्रगट हुआ ज्ञान (जान लेता है), जानता है कि यह है, बस! वह छूट जाता है। आहाहा! ऐसा कठिन है।

लोभ,... इच्छा, कोई वृत्ति आवे, तथापि धर्मी उसे कहते हैं कि जो इच्छा को भी अपने में न लाकर, वह मेरा स्वरूप ही नहीं है। वह लोभ मेरा स्वरूप नहीं है। मेरी जाति नहीं, मेरी नात नहीं। आहाहा! वह तो कुजात है, वह आत्मजाति नहीं। आहाहा! इच्छा मात्र आवे, उसे कुजाति जानकर जाननेवाला रहता है। मैं तो एक ज्ञायक जाननेवाला हूँ। आहाहा! ऐसा स्वरूप कहाँ से (निकाला) ? यह यहाँ का बनाया हुआ है ? अनादि का मार्ग ही यह है परन्तु इसने सुना न हो, इसलिए इसे नया लगता है, इसलिए कहीं मार्ग नया नहीं है, मार्ग तो है, वही है। 'एक होय तीन काल में परमारथ का पन्थ।' आहाहा! यह यहाँ कहते हैं।

कर्म,... (अर्थात्) आठ कर्म। यह आठ कर्म मैं नहीं हूँ। मैंने कर्म बाँधे और मैंने कर्म छोड़े, वह मुझमें नहीं है। आहाहा! शास्त्र में तो सुनते हो कि चौथे गुणस्थान में ऐसे इतने कर्म बाकी हैं, ऐसा होता है। वह सब उसका ज्ञान कराया। वे कर्म मेरे हैं, ऐसा नहीं मानता। आहाहा! क्योंकि कर्म है, वह जड़ है, अजीव है और भगवान आत्मा ज्ञायक है। तो वह सत्स्वरूप है, उसमें जड़ का त्रिकाल अभाव है। उस कर्म का प्रभु में अभाव है। अरे रे! यह कैसे बैठे ?

भगवान आत्मा चैतन्यस्वरूपी प्रभु है। यह कर्म जड़ है, यह मुझमें नहीं है। मैं सत्

हूँ, इस अपेक्षा से वे असत् हैं और वे सत् हैं, इस अपेक्षा से मैं असत् हूँ। आहाहा! वह परमाणु की पर्याय है। कर्म है, वह कर्मवर्गणा की पर्याय है, वह पर्याय है, वह तो कर्म की पर्याय कर्मरूप से परिणमित हुई उसकी है। आहाहा! वह कर्म मेरे नहीं हैं, मैंने आयुष्य बाँधा है और आयुष्य प्रमाण मुझे देह में रहना पड़ेगा, वह भी मैं नहीं हूँ। आहाहा! आयुष्य है, वह तो जड़ है, मैंने बाँधा ही नहीं, मेरा है ही नहीं न, और उसके कारण मैं शरीर में रहा हूँ, ऐसा भी नहीं है न! आहाहा! मेरी पर्याय की योग्यता से मैं शरीर में रहा हूँ। मेरी योग्यता इतनी पूरी होगी, तो देह छूट जाएगी। आहाहा! वह कर्म मेरे नहीं।

यह ज्ञानावरणीय कर्म मुझे बाधक है। वह कर्म मेरा नहीं, फिर बाधक कौन? आहाहा! लोग कहते हैं न? ज्ञानावरणीय का उदय होवे तो ज्ञान का घात होता है और ज्ञानावरणीय का क्षयोपशम होवे तो ज्ञान खिलता है। यहाँ इनकार करते हैं। वह खिले और रहे, वह तो पर्याय की स्वयं की योग्यता से है। वह कर्म मुझमें है ही नहीं। फिर मुझे उसके कारण मुझमें कुछ हो, यह बात है ही नहीं। आहाहा! एक घण्टे में कितना याद रखना? जगत में चलता नहीं, ऐसी यह बात है। बापू! ऐसा मार्ग है, भाई! आहाहा! यह तो तीन लोक के नाथ इसका विवरण करें और सन्त विवरण करें, वह तो अलौकिक रीति से होता है। आहाहा!

नोकर्म,...मेरे अतिरिक्त जितनी चीज़ें हैं, वे सब नोकर्म, वह मुझमें नहीं है। आहाहा! यह स्त्री मेरी नहीं, ऐसा समकिती मानता है। दुनिया जिसे अर्धांगिनी कहती है। आहाहा! उसका आत्मद्रव्य अलग, उसके शरीर के रजकण-द्रव्य अलग। वह मेरी अपेक्षा से तो असत् है और उनकी अपेक्षा से मैं असत् हूँ। तो वे मेरे कहाँ से हो गये। आहाहा! तब क्या करना इसमें, स्त्री-पुत्र को छोड़कर भाग जाना? भागकर कहाँ जाना? अन्दर में भागकर जाना है। आहाहा! यह नोकर्म मेरा नहीं है। आहाहा! यह बँगला, यह पैसा, स्त्री, पुत्र, पुत्रियाँ, समधी, दामाद... आहाहा! वे मेरे स्वरूप में नहीं हैं, मेरा स्वरूप नहीं है, मैं उन्हें स्पर्श भी नहीं करता। वह चीज़ मुझे स्पर्श नहीं करती। आहाहा! अरे रे! बात कैसे जँचे? अनन्त काल का भटका, अज्ञानभाव से, मूढ़ भाव से भटकता है। उसे यह बात अन्तर में बैठे तब भव का अन्त आवे ऐसा है। आहाहा!

यह नोकर्म मैं नहीं हूँ। नोकर्म में सब आया। पैसा, स्त्री, कुटुम्ब, पुत्र, पुत्री, मकान, इज्जत, यह सब मुझमें नहीं है, यह सब मेरा नहीं है। यह मेरे कारण वे नहीं हैं। मेरे कारण

वे नहीं हैं, उनके कारण मैं नहीं हूँ। आहाहा! ऐसी बात है। भोगीभाई! है? आहाहा! मुम्बई। आहाहा! ऐसा मार्ग है। शरीर को अलग लेंगे परन्तु वह वास्तव में नोकर्म में जाता है। शरीर, वाणी, यह परवस्तु, मकान, वस्त्र, गहने, स्त्री, पुत्र, पुत्री, सब नोकर्म है। वह मेरा स्वरूप नहीं है। वे मेरे नहीं हैं, वे मुझमें नहीं हैं। उनमें मैं नहीं हूँ। आहाहा! सम्यग्दृष्टि धर्म की पहली सीढ़ीवाला इस प्रकार से आत्मा को और पर को जानता है। आहाहा! दुनिया को बैठना कठिन पड़े कि यह तो अकेला निश्चय हो गया, व्यवहार (तो आया नहीं)। परन्तु व्यवहार अर्थात् क्या? आहाहा! परवस्तु को व्यवहार कहें तो वह वस्तु आत्मा में नहीं है। स्व को निश्चय कहते हैं, पर को व्यवहार कहते हैं। आहाहा! पर तुझमें नहीं है और वह पर में तू नहीं है। आहाहा! अरे रे! कब निर्णय करे, कब अनुभव करे और कब जन्म-मरण मिटें। आहाहा! यहाँ कौन बैठा था? (श्रोता : सुमनभाई थे।) गये? जानेवाले होंगे? नोकर्म (हुआ)।

मन,... मेरा नहीं है। मन मैं नहीं हूँ। आठ पंखुड़ी के आकार, यहाँ आत्मा विकार करता है, उसमें निमित्त, जड़ है, वह मैं नहीं हूँ। मन मैं नहीं हूँ। मैं मन का मन में रहकर जाननेवाला नहीं हूँ। मन मेरा तो नहीं परन्तु मन में रहकर मन का जाननेवाला नहीं। मैं तो मुझमें रहकर मन को भिन्नरूप से जानूँ, यह भी व्यवहार है। आहाहा! यहाँ तक पहुँचना। वह तो सीधा-सट्ट कर डाला—व्रत करो और अपवास करो, सेवा करो और यह करो... एक-दूसरे को मदद करो, पैसा दो, मन्दिर बनाओ, शत्रुंजय की और गिरनार की यात्रा करो। सीधा-सट्ट। ऐसा तो अनन्त बार किया है, भाई! और उस राग को अपना मानकर अनन्त मिथ्यात्व का सेवन किया है। आहाहा! मन मैं नहीं हूँ।

वचन,... वाणी नहीं, वाणी। आहाहा! वाणी तो जड़ की पर्याय है। जड़ की पर्याय तो मुझमें असत् है। आहाहा! मैं, मैंपने सत् हूँ और वाणीपने मैं असत् हूँ। तथा मेरी अपेक्षा से वाणी असत् है; वाणी, वाणी की अपेक्षा से सत् है, मेरी अपेक्षा से असत् है। आहाहा! बहुत बोल रख दिये हैं।

काय,... यह शरीर मैं नहीं हूँ। आहाहा! यह हिले-चले अवस्था, वह मैं नहीं हूँ। आहाहा! यह बोला जाता है, वह मैं नहीं हूँ, वह तो जड़ है। आहाहा! कैसे बैठे? जहाँ-तहाँ अभिमान—'मैं करूँ, मैं करूँ, यही अज्ञान है, गाड़ी का भार ज्यों श्वान खींचे।' गाड़ी

का भार, कुत्ता नीचे छुआ हो और (उसे लगे कि) गाड़ी मुझसे चलती है, उसी प्रकार जहाँ बैठा हो वहाँ व्यवस्था होती हो, तो वह मुझसे होती है, (ऐसा मानता है)। कुत्ता है। आहाहा! यह काया मेरी नहीं। यह काया की क्रिया मेरी नहीं। काया के चलने की क्रिया में मैं नहीं। आहाहा! उसे तो मैं जाननेवाला हूँ। शरीर है, उसे जाननेवाला हूँ, उस शरीर में रहकर नहीं। अपने में रहकर उसे भिन्नरूप से जानता हूँ, यह भी व्यवहार है। परन्तु मैं जाननेवाला हूँ, ज्ञायक हूँ। विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २७६, गाथा-१९९, २००, श्लोक-१३७ मंगलवार, आषाढ़ कृष्ण ९
दिनाङ्क १७-०७-१९७९

समयसार, १९९ गाथा, अन्तिम शब्द है। क्या कहते हैं? निर्जरा का अधिकार है। आत्मा आनन्द और अतीन्द्रिय शान्ति के स्वभाव से भरपूर प्रभु है। उसकी दृष्टि करने से सम्यग्दर्शन में अपने पूर्ण स्वरूप की प्रतीति होती है। उसमें यह जो राग दिखता है, कर्म का पाक, कर्म तो सत्ता में हैं परन्तु उसका विपाक आता है, उसमें जुड़ने से ज्ञानी को भी थोड़ा राग आता है परन्तु उस राग का स्वामी नहीं होता। राग का कर्ता नहीं होता, राग का स्वामी नहीं होता, राग में सुखबुद्धि नहीं होती। राग में मिठास नहीं है। धर्मी को आत्मा के आनन्द की मिठास आयी है। आहाहा! भगवान आत्मा अनन्त-अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द का सागर है, उसकी सत्ता-अस्तित्व 'है'—ऐसा अनुभव में आया, दृष्टि में 'है' ऐसा अनुभव में आया, तब उसकी मिठास के समक्ष शुभ और अशुभ कोई भी राग की मिठास छूट जाती है, दुःखरूप लगते हैं, आकुलता लगती है। आहाहा! रागादि सब बोल आ गये हैं। इस प्रकार राग, द्वेष आदि सब लेना। यहाँ तक आ गया है, काया तक आ गया है।

यह शरीर है, शरीर की पर्याय है, वह तो जड़ की है। अभी भी इस शरीर की जो पर्याय है, वह तो पर्याय है, द्रव्य-गुण तो त्रिकाल है, अवस्था जो शरीर की है, वह तो जड़ है, सम्यग्दृष्टि को जड़ का स्वामीपना भी उड़ गया है, शरीर का स्वामीपना उड़ गया। शरीर की कोई क्रिया हलन-चलन हो, उसका धर्मी स्वामी नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : श्रद्धा में...

पूज्य गुरुदेवश्री : श्रद्धा में... सब... सब आ गया है। यह तो अन्तिम बोल है।

मन, वचन और काया। नोकर्म में तो सब आ गया। अपनी आत्मा के अतिरिक्त सब चीज़ें जो हैं, उनकी पर्याय उसके काल में उससे होती है, तो मुझसे वह पर्याय हुई, ऐसा मिथ्यात्वभाव समकिती को नहीं होता। आहाहा! सूक्ष्म भाव है। अन्तर आत्मा सम्यक्, ऐसी पूर्ण चीज़, अनन्त-अनन्त... कल कहा था न? कि अनन्त मुख करे और एक मुख में अनन्त जीभ करे, तो भी एक द्रव्य के-आत्मा के गुण की संख्या नहीं कही जा सकती। अनन्त मुख करे और एक-एक मुख में अनन्त जीभ करे, तो भी उस आत्मा में इतनी संख्या है, गुण की संख्या, हों! कि वह संख्या इतनी जीभों से भी नहीं कही जा सकती। ऐसा प्रभु जिसकी दृष्टि में आया और अनुभव में आया कि मैं तो आत्मा आनन्द हूँ। मैं तो सुख के पंथ में पड़ा हूँ, मेरी चीज़ ही सुख है और मैं सुख के पन्थ में हूँ। आहाहा! रागादि आते हैं, वह दुःख पन्थ है। वह दुःख मेरी चीज़ नहीं है। मन मेरी चीज़ नहीं, वाणी मेरी चीज़ नहीं। काया-शरीर है तो वह अनन्त परमाणुओं की पर्याय है, वह मेरी चीज़ नहीं। मुझसे चलती नहीं, मुझसे बैठती नहीं। भाषा है, वह मुझसे निकलती नहीं। आहाहा!

श्रोत्र,... इन्द्रिय, वह मैं नहीं। कान, कान। वह जड़ है। वह तो मिट्टी की-पुद्गल की पर्याय है। वह मैं नहीं। उसके अवलम्बन से मैं सुनता ही नहीं। आहाहा! क्योंकि मेरा स्वभाव ही निरालम्बी ज्ञाता-दृष्टा है। तो वह जानना-देखना कोई पर की अपेक्षा से होता है, ऐसा है नहीं। इस प्रकार श्रोत्र इन्द्रिय मैं नहीं, मेरी नहीं, मुझमें नहीं; उसमें मैं नहीं। आहाहा!

चक्षु,... चक्षु से भगवान को देखते हैं तो कहते हैं, वह चक्षु ही मेरी नहीं। मैं भगवान को देखता ही नहीं, मैं तो मेरी पर्याय को देखता हूँ। आहाहा! चक्षु ही मेरी नहीं। चक्षु से जो चीज़ जानने में आती है, वह मैं नहीं हूँ। मैं तो मेरी पर्याय से जानने में आता हूँ। यह देखने में आता ही नहीं, वह तो परचीज़ है। आहाहा! मैं तो मेरी चीज़ से देखता हूँ तो वह श्रोत्रइन्द्रिय मेरी है ही नहीं। आहाहा! चक्षु ही मेरे नहीं। आँख से देखता हूँ, ऐसा है नहीं। कठिन बात है, पण्डितजी! आहाहा! क्योंकि जगत के जड़ पदार्थ वर्तमान पर्यायरहित तो है नहीं, तो वह पर्याय जड़ की है, तो उससे मैं जानता हूँ, ऐसा है नहीं। आहाहा! इस

चक्षु से मैं जानता हूँ, ऐसा चक्षु ही मैं नहीं, उससे मैं जानता हूँ, ऐसा है ही नहीं। आहाहा!

घ्राण,... घ्राण इन्द्रिय मैं नहीं हूँ। द्रव्य इन्द्रिय तो नहीं परन्तु भावेन्द्रिय भी मैं नहीं हूँ। आहाहा! और उससे मैं सूँघता हूँ, वह मैं नहीं हूँ। आहाहा! मैं तो मेरे ज्ञान की पर्याय, पर है तो पर को जानती है, ऐसा नहीं है। अपनी पर्याय अपने से स्व-पर जानने की ताकत से जानती है, उसे मैं जानता हूँ। आहाहा! कठिन बात है, भाई! धर्म (कोई) साधारण चीज नहीं है। आहाहा!

रसन... जीभ मैं नहीं हूँ। जीभ तो जड़ की पर्याय है और उससे रस का स्वाद लेता हूँ, वह मैं नहीं हूँ। आहाहा! उस समय जीभ की पर्याय और रस की पर्याय को जानता हूँ, वह भी व्यवहार है। मैं तो उस समय की पर्याय मेरी है, स्व-परप्रकाशक पर्याय, उसको मैं जानता हूँ, उसका स्वाद मैं लेता हूँ। आहाहा! ऐसी बात है, इसलिए लोगों को भक्ति, व्रत, तप और पूजा में धर्म मनवा गये। यहाँ अन्दर में आना, अन्तर तल में आना महापुरुषार्थ है और वही पुरुषार्थ है।

स्पर्शन... यह स्पर्शन। मैं हाथ के स्पर्श को भी स्पर्शता नहीं और हाथ पर को स्पर्श करता है, यह भी नहीं। यह स्पर्श जो है, उसे मैं स्पर्श करता हूँ, छूता हूँ-ऐसा नहीं है। (क्योंकि) वह मेरी चीज़ नहीं है। आहाहा! और वह स्पर्श पर को स्पर्श करता है, पर शरीर को (स्पर्श करता है), ऐसा भी नहीं है। क्योंकि एक द्रव्य और दूसरे द्रव्य की पर्याय के बीच तो अत्यन्त अभाव है। आहाहा! मैं पर को स्पर्शता हूँ, ऐसा तो नहीं परन्तु इस शरीर को मैं स्पर्शता हूँ, ऐसा भी नहीं है। आहाहा! और शरीर के स्पर्श का ज्ञान होता है, वह भी स्पर्श इन्द्रिय के कारण से नहीं। मेरा ज्ञानस्वभाव है, उससे स्व-परप्रकाशक, अपनी सत्ता से स्व-परप्रकाशक (ज्ञान) होता है। यह स्पर्श है तो मुझे स्पर्श का ज्ञान होता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात। यह पाँच इन्द्रिय परसों बाकी रह गयी थीं, कल तो स्वाध्याय था।

ये शब्द रखकर सोलह सूत्र व्याख्यानरूप करना, और इसी उपदेश से दूसरे भी विचारना। जितने विकल्प हैं और जितनी संयोगी चीज़ें (हैं, उन) सभी चीज़ों को मैं स्पर्श नहीं करता और उन चीज़ों में मैं नहीं और वे चीज़ें मेरी नहीं। आहाहा! सम्यग्दृष्टि की दृष्टि ऐसी है। यह १९९ (गाथा) हुई।

गाथा - २००

एवं च सम्यग्दृष्टिः स्वं जानन् रागं मुञ्चश्च नियमाज्ज्ञानवैराग्यसम्पन्नो भवति।

एवं सम्माद्दिट्ठी अप्पाणं मुणदि जाणगसहावं।
उदयं कम्मविवागं च मुयदि तच्चं वियाणंतो।।२००।।

एवं सम्यग्दृष्टिः आत्मानं जानाति ज्ञायक-स्वभावम्।
उदयं कर्म-विपाकं च मुञ्चति तत्त्वं विजानन्।।२००।।

एवं सम्यग्दृष्टिः सामान्येन विशेषेण च परस्वभावेभ्यो भावेभ्यो सर्वेभ्योऽपि विविच्य टङ्कोत्की-र्णैकज्ञायकभावस्वभावमात्मनस्तत्त्वं विजानाति। तथा तत्त्वं विजानन्श्च स्वपरभावोपादानापोहन-निष्पाद्यं स्वस्य वस्तुत्वं प्रथयन् कर्मोदयविपाकप्रभवान् भावान् सर्वानपि मुञ्चति।

ततोऽयं नियमात् ज्ञानवैराग्यसम्पन्नो भवति।।२००।।

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि अपने को जानता और राग को छोड़ता हुआ नियम से ज्ञानवैराग्य-सम्पन्न होता है-यह इस गाथा द्वारा कहते हैं:-

सद्दृष्टि इस रीत आत्म को, ज्ञायकस्वभाव हि जानता।
अरु उदय कर्मविपाक को वह, तत्त्वज्ञायक छोड़ता।।२००।।

गाथार्थ : [एवं] इस प्रकार [सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि [आत्मानं] आत्मा को (अपने को) [ज्ञायकस्वभावम्] ज्ञायकस्वभाव [जानाति] जानता है [च] और [तत्त्वं] तत्त्व को अर्थात् यथार्थ स्वरूप को [विजानन्] जानता हुआ [कर्मविपाकं] कर्म के विपाकरूप [उदयं] उदय को [मुञ्चति] छोड़ता है।

टीका : इस प्रकार सम्यग्दृष्टि सामान्यतया और विशेषतया परभावस्वरूप सर्व भावों से विवेक (भेदज्ञान, भिन्नता) करके, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव जिसका स्वभाव है ऐसा जो आत्मा का तत्त्व उसको (भलीभाँति) जानता है; और इस प्रकार तत्त्व को जानता हुआ, स्वभाव के ग्रहण और परभाव के त्याग से उत्पन्न होनेयोग्य अपने वस्तुत्व को विस्तरित (-प्रसिद्ध) करता हुआ, कर्मोदय के विपाक से उत्पन्न हुए समस्त भावों

को छोड़ता है। इसलिए वह (सम्यग्दृष्टि) नियम से ज्ञानवैराग्यसम्पन्न होता है (यह सिद्ध हुआ)।

भावार्थ : जब अपने को तो ज्ञायकभावरूप सुखमय जाने और कर्मोदय से उत्पन्न हुए भावों को आकुलतारूप दुःखमय जाने तब ज्ञानरूप रहना तथा परभावों से विरागता– यह दोनों अवश्य ही होते हैं। यह बात प्रगट अनुभवगोचर है। यही (ज्ञानवैराग्य) ही सम्यग्दृष्टि का चिह्न है।

गाथा - २०० पर प्रवचन

२००। **इस प्रकार सम्यग्दृष्टि अपने को जानता और राग को छोड़ता हुआ...** है ? यह अपेक्षा से कथन है। वास्तव में तो आत्मा जब स्वयं को जानने में रुका तो राग की उत्पत्ति होती नहीं, उसे राग को छोड़ा, ऐसा कहने में आता है। आहाहा! समझ में आया ? सूक्ष्म बात है, भाई! अनन्त काल, अनन्त काल, चौरासी के अवतार में एक-एक योनि में अनन्त अवतार किये, बापू! भूल गया, सब भूल गया। भूल गया, वह भूल जाने योग्य तो है परन्तु भूला, वह स्वयं को याद किये बिना भूल गया। अपने को याद करके, भान करके भूल जाए तब तो भूलनेयोग्य है। आहाहा! **सम्यग्दृष्टि अपने को जानता...** 'अपने को जानता हुआ' ऐसा कहा न ? राग को जानता हुआ, ऐसा नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : राग को तो छोड़ता...

पूज्य गुरुदेवश्री : छोड़ता है, यह भी निमित्त का कथन व्यवहार है। कहा न ? आत्मा अपने स्वरूप में एकाग्र होता है तो राग उत्पन्न नहीं होता, तो राग छोड़ा—ऐसा कहने में अर्थात् कथनमात्र है। उपदेश कैसे करे ? आहाहा! मार्ग बहुत अलग, बापू! तीर्थंकर का। तीन लोक के नाथ तीर्थंकर देव परमेश्वर की यह दिव्यध्वनि है। अभी तो लोग बाहर से यह करना और वह करना, यह करना। उसमें धर्म मान लेते हैं। कुछ करूँ, दया करूँ, राग करूँ यह भी मिथ्यात्वभाव है।

मुमुक्षु : कल तो आप उसे 'मरना' ऐसा कहते थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कहा न, कल इतना अधिक नहीं कहा ? करना, वह मरना

है। क्यों? कि आत्मा ज्ञातादृष्टा है, उसे मैं राग करूँ, वहाँ रुका तो आत्मा के स्वभाव का जीवन है, उसका निषेध किया तो मरण किया। आहाहा! यह ज्ञातादृष्टा जीव का जीवन है, उसके बदले मैं इससे जीता हूँ—राग से, पुण्य से और इससे (जीता हूँ), राग करूँ वह तो मेरा स्वरूप है तो वह कर्ता नहीं है, ज्ञातादृष्टा है, उसका इसने अस्वीकार करके, उसका निषेध करके उसका मरण कर डाला। आहाहा! कठिन बात है, भाई!

नियम से ज्ञानवैराग्य-सम्पन्न होता है... धर्मी को तो अपने अस्तित्व का भान और पुण्य-पाप के विकल्प से विरक्त वैराग्य, इन दो शक्तिसहित धर्मी होता है। क्या कहा? अपना स्वरूप जो पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप, उसका ज्ञान और पुण्य-पाप के भाव से विरक्तता, वह वैराग्य अर्थात् धर्मी ज्ञान और वैराग्य, (ऐसी) दो शक्तियों सहित होता है। अपने अस्तित्व का भान और अपने में नहीं है, उसका वैराग्य, विरक्ति... आहाहा! यह ज्ञान और वैराग्य दो शक्तिसहित होता है। २०० (गाथा)

एवं सम्मादिट्ठी अप्पाणं मुणदि जाणगसहावं।
उदयं कम्मविवागं च मुयदि तच्चं वियाणंतो।।२००।।

सद्दृष्टि इस रीत आत्म को, ज्ञायकस्वभाव हि जानता।
अरु उदय कर्मविपाक को वह, तत्त्वज्ञायक छोड़ता।।२००।।

उपदेश की शैली तो ऐसी आवे न! टीका, २०० गाथा की टीका। **इस प्रकार सम्यग्दृष्टि...** सम्यक्—सत्य दृष्टि। जैसा अपना पूर्ण स्वरूप है, वह पूर्ण सत् है, उसकी दृष्टि निर्विकल्प (हुई), उसका नाम यहाँ सम्यग्दृष्टि कहते हैं। **इस प्रकार सम्यग्दृष्टि सामान्यतया...** अर्थात् सामान्य से भी पर का स्वामी नहीं **और विशेषतया...** एक-एक व्यक्ति की भिन्न-भिन्न चीज़ हो, उसका भी वह स्वामी नहीं।

सामान्यतया और विशेषतया परभावस्वरूप... परभाव (अर्थात्) आत्मा के अतिरिक्त रागादि सब परभाव। आहाहा! सम्यग्दृष्टि (को) इस प्रकार से सामान्य अर्थात् संक्षेप से सबका त्याग और विशेष से भी एक-एक का रागादि अंश का भी त्याग (वर्तता है)। **परभावस्वरूप सर्व भावों से विवेक (भेदज्ञान, भिन्नता)...** करता है। छोटे में छोटा अंश राग हो, उससे भी भिन्नता करता है और शरीरादि बाह्य चीज़ बड़ी हो, अनन्त परमाणुओं स्कन्धादि (हों), उनसे भी भिन्नता करता है। आहाहा!

सामान्यतया और विशेषतया परभावस्वरूप सर्व भावों से विवेक (भेदज्ञान, भिन्नता) करके,... इसकी इतनी मर्यादा है। बाकी निमयसार में तो पर्याय को भी परद्रव्य और परभाव कहा है। आहाहा! यहाँ तो आत्मा के निर्मल पर्याय के अतिरिक्त यह रागादि, परद्रव्य आदि और परभाव यहाँ इतना। नियमसार में तो शुद्धभाव अधिकार में निर्मल पर्याय हो, धर्मपर्याय हो, (उसे) भी परभाव, परद्रव्य हेय (कहा है)। आहाहा! कितने प्रकार परभाव के? आत्मा के अतिरिक्त परवस्तु अनन्त। पंच परमेष्ठी भी परद्रव्य और परभाव में जाते हैं। क्योंकि उनमें और अपनी पर्याय में अत्यन्त अभाव है। आहाहा! वह और यहाँ शरीरादि परभाव (कहे)। पुण्य-पाप परभाव और पुण्य-पाप को जाननेवाली पर्याय, वह भी त्रिकाली स्वभाव की अपेक्षा से परभाव है। यहाँ इतना लेना नहीं। वहाँ तो कुन्दकुन्दाचार्य ने अपनी भावना के लिये नियमसार ग्रन्थ बनाया है। अपनी भावना के लिये बनाया है। अलौकिक! आहाहा! दुनिया से सब जाति-अन्तर है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि इस राग का छोटे में छोटा विकल्प (आया), अरे..! जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, उससे भी भेदज्ञान करते हैं। वह मेरी चीज़ नहीं है, मैं उसका कर्ता नहीं हूँ। आहाहा! मेरी चीज में नहीं, मैं उसमें नहीं, मैं उसका कर्ता और स्वामी नहीं। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि सर्व परभावों से भेदज्ञान, भिन्नता करके... आहाहा! **टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव जिसका स्वभाव है...** टंकोत्कीर्ण, ऐसा का ऐसा है। जैसे अदबदनाथ, है न पालीताणा? ऊपर से निकालकर अन्दर से मूर्ति निकाली, मूर्ति। वैसे भगवान अन्तर में टंकोत्कीर्ण ऐसा का ऐसा अनादि-अनन्त है। आहाहा!

शुद्ध सच्चिदानन्द प्रभु अनन्त निर्मल गुण की खान, निधान ऐसा जो भगवान आत्मा **एक ज्ञायकभाव...** दो और पर्याय, वह भी यहाँ नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! मैं तो एक ज्ञायकभाव हूँ, ऐसा पर्याय निर्णय करती है। पर्याय, मैं पर्याय हूँ—ऐसा निर्णय नहीं करती। आहाहा! वह तो पर्याय कार्य और कर्ता, कर्म आदि सब होता है पर्याय में, द्रव्य तो कूटस्थ, ध्रुव है। आहाहा! उस ध्रुव का निर्णय करनेवाली पर्याय कहती है कि, मैं तो ज्ञायकभाव हूँ। आहाहा! है?

एक ज्ञायकभाव जिसका स्वभाव है, ऐसा जो आत्मा का तत्त्व... आहाहा! एक-एक गाथा समयसार, प्रवचनसार, अलौकिक है। यह कोई वार्ता नहीं है, भाई! यह

तो धर्म भागवत कथा, भागवत कथा है। नियमसार में अन्त में आता है, भागवत कथा है। भगवान आत्मा की कथा। आहाहा! यह यहाँ कहते हैं कि, **एक ज्ञायकभाव जिसका स्वभाव है...** वहाँ ऐसा नहीं लिया कि पर्याय मेरा स्वभाव है, ऐसा भी नहीं लिया। पर्याय निर्णय करती है, वह ऐसा कहती है कि मैं तो एक ज्ञायकस्वभाव हूँ। आहाहा!

टंकोत्कीर्ण एकरूप भेदरहित, गुण-गुणी के भेद भी नहीं। रागादि तो नहीं, परद्रव्य तो नहीं परन्तु पर्याय भी नहीं, परन्तु गुण-गुणी के भेद भी नहीं। एक ज्ञायकभाव... आहाहा! चैतन्यबिम्ब ध्रुव नित्यानन्द प्रभु, ऐसा एकरूप ज्ञायकस्वभाव **जिसका स्वभाव है, ऐसा जो आत्मा का तत्त्व...** देखो! क्या कहा? **एक ज्ञायकभाव जिसका स्वभाव है, ऐसा जो आत्मा का तत्त्व...** यह आत्मा का तत्त्व। आहाहा! आत्मा भाव और यह भावस्वरूप, भाववान। ज्ञायकभाव स्वरूप, भाववान ऐसा आत्मतत्त्व। आहाहा! अब ऐसा बाहर की बातवाले को कठिन लगे। दूसरा क्या हो? भाई! यह चीज़ ही अन्दर ऐसी है, (कि) जिसे कोई अपेक्षा नहीं है। आहाहा!

पर्याय भी जिसमें ऊपर तैरती है। राग की बात तो क्या कहना? ज्ञायकभाव, उसमें पर्याय भी ऊपर तैरती है, अन्दर प्रवेश नहीं करती। आहाहा! वह पर्याय ऐसा निर्णय करती है कि मैं तो एक ज्ञायकस्वभाव हूँ। यह मेरा तत्त्व है। आत्मतत्त्व, वह मैं हूँ। आहाहा! है? टंकोत्कीर्ण, भेद करते हैं, पर से भेद उत्पन्न किया और अपने से अभेद क्या? टंकोत्कीर्ण जैसी चीज़ है, वैसी एक ज्ञायकभाव उसका स्वभाव है। किसका? ऐसा आत्मा। **ऐसा जो आत्मा का तत्त्व...** आहाहा! ज्ञायकभाव, वह आत्मा का तत्त्व है। आहाहा!

आत्मा और ज्ञायकभाव वह आत्मतत्त्व, आत्मा का तत्त्व। **उसको (भलीभाँति) जानता है;...** उन्हें भलीभाँति लिखना पड़ा। क्योंकि जानने के क्षयोपशम में बात आवे, वह अलग चीज़ है और अन्दर में अनुभव करना, वह दूसरी चीज़ है। आहाहा! इसलिए कहा कि **(भलीभाँति) जानता है;...** अर्थात् जैसा है, वैसा अनुभव करता है, जानता है इसका अर्थ। जैसा भगवान ज्ञायकभाव है, वैसा जो आत्मतत्त्व, उसे सम्यग्दृष्टि जानता है अर्थात् अनुभव करता है। समझ में आया?

और इस प्रकार तत्त्व को जानता हुआ,... इस प्रकार तत्त्व को जानता हुआ, **स्वभाव के ग्रहण और परभाव के त्याग से उत्पन्न होनेयोग्य...** आहाहा! यह भेदज्ञान

की अपेक्षा से बात की। ज्ञानप्रधान कथन है। **स्वभाव के ग्रहण...** ज्ञायकस्वभाव आत्मतत्त्व का स्वीकार, ग्रहण, आदर, वेदन, अनुभव और **परभाव के त्याग से...** रागादि का अत्यन्त अभाव, ऐसा आत्मा में परिणमन होना। आहाहा! यह २०० गाथा है। **स्वभाव के ग्रहण...** ज्ञायकस्वभाव पूर्ण स्वरूप एकरूप तत्त्व, अनन्त गुण भले हो परन्तु वस्तु तत्त्व तो एकरूप है। उस एकरूप का ग्रहण और परभाव का त्याग। आहाहा! ऐसे **त्याग से उत्पन्न होनेयोग्य अपने वस्तुत्व को विस्तरित (-प्रसिद्ध) करता हुआ,...** वस्तुत्व (अर्थात्) वस्तुपना, वस्तुपना। आहाहा! यह ज्ञायकभाव, यह वस्तुपना, उसे विस्तरित करता हुआ। आहाहा! ज्ञायक और दृष्टापने की दशा को फैलाता हुआ। आहाहा! जानना-देखना ऐसे स्वभाव को फैलाता हुआ, विस्तारता हुआ, पर्याय में, हों! आहाहा! वस्तु तो वस्तु है परन्तु वस्तु को ग्रहण करना अर्थात् उसे फैलाता है, विस्तार (करता है)। पर्याय में उसकी शुद्धि की वृद्धि होती है। आहाहा!

वस्तुत्व को विस्तरित (-प्रसिद्ध) करता हुआ,... देखा? वस्तु को नहीं, वस्तु को नहीं। वस्तुत्व—वस्तुपना, आत्मतत्त्व को ज्ञायकपना, उसे विस्तारता हुआ। आहाहा! ऐसी चीज़ है। ऐसा यह जैनधर्म होगा कहीं? जैनधर्म तो छह काय की दया पालना, अपवास करना, वर्षीतप करना, दान देना, बापू! यह कोई जैनधर्म नहीं है। यह तो राग है, वह जैनधर्म है ही नहीं। आहाहा! यहाँ तो वीतराग त्रिलोकनाथ जैन परमेश्वर की यह वाणी है। सन्त आड़तिया होकर बात करते हैं। परमेश्वर ऐसा कहते हैं, ऐसा कहते हैं न? आहाहा! **वस्तुत्व को विस्तरित (-प्रसिद्ध) करता हुआ,...** आहाहा! जैसे कमल खिले, वैसे सम्यग्दृष्टि द्रव्य के स्वभाव को खिलाता हुआ। आहाहा! विकास करता हुआ। आहाहा! पर्याय में द्रव्य स्वभाव का एकत्व करने से विस्तार करता हुआ। आहाहा!

ऐसा कहाँ धर्म निकाला? कोई कहे। एकान्त है, ऐसा लोग कहते हैं। अरे! भाई! प्रभु! तू सुन तो सही। ऐसा कि, बारहवीं गाथा में तो ऐसा कहा है कि, **'अपरमे ट्ठिदा'**। साधु, श्रावक को तो यह व्रत, तप, भक्ति, पूजा वह धर्म है, ऐसा कहा है। बारहवीं गाथा में ऐसा कहते हैं, **'अपरमे ट्ठिदा भावे'** अरे! भगवान! तूने टीका ही देखी नहीं। **'अपरमे ट्ठिदा भावे'** का अर्थ **'तदात्वे'** उस काल में जाना हुआ प्रयोजनवान है। आदरणीय और करनेयोग्य है, यह बात ही वहाँ नहीं है। आहाहा! 'करुणादीप' में कल आया था।

सोनगढ़ी पन्थ तो एकान्त मिथ्यात्व है। क्योंकि जो क्रियाकाण्ड धर्म का पहले करना चाहिए, उसे तो धर्म मानते नहीं। बारहवीं गाथा में कहा है कि, पहले यह करना। श्रावक और मुनि का यह धर्म है। **'अपरमे ट्ठिदा भावे'** निचली दशा में तो यही होता है। परन्तु उसका अर्थ वहाँ तुझे खबर नहीं है, बापू! अमृतचन्द्राचार्य (ऐसा कहना चाहते हैं) **'तदात्वे'** उस काल में स्वरूप शुद्ध है, उसका भान हुआ, अनुभव हुआ परन्तु पर्याय में अभी शुद्धता थोड़ी है और अशुद्धता थोड़ी है, उसे जानना। उस-उस काल में जिस-जिस प्रकार की शुद्धता और अशुद्धता पर्याय में है, उस पर्याय को जानना, वही व्यवहारनय का विषय है। आहाहा! वहाँ करना और यह व्यवहारधर्म है, यह प्रश्न वहाँ है ही नहीं, भाई! आहाहा! सामने यह सब लेकर (कहे), सोनगढ़ का एकान्त है। चाहे जो कहे, बापू! भाई! तेरी चीज़ कोई अलग है। तुझे तेरी खबर नहीं है और तू दूसरे प्रकार से (मान रहा है)। आहाहा!

अपने वस्तुत्व को विस्तरित करता हुआ,... आहाहा! **कर्मोदय के विपाक से उत्पन्न हुए समस्त भावों...** दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, शरीर, वाणी, मन, कर्म आदि सभी चीज़ें, उन सबको छोड़ता हुआ अर्थात् उनका लक्ष्य नहीं करता। आहाहा! **समस्त भावों को छोड़ता है। इसलिए वह (सम्यग्दृष्टि) नियम से ज्ञानवैराग्यसम्पन्न होता है...** आहाहा! अपने पूर्ण स्वरूप के अनुभव का ज्ञान और शुभ-अशुभभाव का विरक्तपना—वैराग्य, पर से तो वैराग्य होता ही है। अन्दर शुभ-अशुभभाव से भी विरक्त, वह वैराग्य। अस्तित्व का ज्ञान और पुण्य-पाप के नास्तित्व का वैराग्य। यह नहीं, ऐसा वैराग्य। यह ज्ञान और वैराग्य सम्पन्न है। आहाहा! दुकान छोड़ी और धन्धा छोड़ा और स्त्री, पुत्र छोड़े, इसलिए उसमें यह छोड़ा, ऐसा यहाँ नहीं है। आहाहा! वह वैराग्य नहीं है।

वैराग्य तो उसे कहते हैं कि जो शुभ-अशुभभाव है, उससे विरक्त हो। उसमें रक्त है, वह मिथ्यात्व है। जिससे विरक्त हो और स्वभाव की दृष्टि में पूर्ण को स्वीकार करे और इस ओर से राग से अभाव—वैराग्य हो, वह ज्ञान और वैराग्य दो शक्ति धर्मी की होती है। आहाहा! है? **इसलिए वह (सम्यग्दृष्टि) नियम से...** अर्थात् निश्चय से **ज्ञानवैराग्यसम्पन्न होता है...** स्वरूप का ज्ञान और विकार के अभाव का वैराग्य। आहाहा! इससे धर्मी जीव ज्ञान और वैराग्य सम्पन्न होता है। **(यह सिद्ध हुआ)**। यह साबित किया। आहाहा!

भावार्थ – जब अपने को तो ज्ञायकभावरूप सुखमय जाने... ज्ञायकभावरूप और सुखमय। वजन यहाँ है। अपने को ज्ञायकभाव और आनन्द, अतीन्द्रिय आनन्दमय (जाने)। आहाहा! भावार्थ है? भगवान आत्मा ज्ञायकभाव और आनन्द, अतीन्द्रिय आनन्दमय, सुखमय; सुखवाला-ऐसा भी नहीं। सुखवाला (नहीं), सुखमय। अतीन्द्रिय आनन्द सुखमय प्रभु आत्मा तो है। आहाहा! अपना स्वरूप ही अतीन्द्रिय आनन्दमय है। इसलिए सुखमय कहा। मय अर्थात् उसरूप, ऐसा। सुखरूप, सुखवाला (नहीं), स्वरूप ही सुखरूप है। भगवान अतीन्द्रिय आनन्दरूप ही है, सुखमय है। सुखवाला, ऐसा भी नहीं। आहाहा! ऐसी बात है, इसलिए लोगों को व्यवहार का लोप करे तो ही निश्चय होता है, इसलिए यह लोगों को सुहाता नहीं। व्यवहार करे... व्यवहार करे... व्यवहार करे। दया, व्रत, भक्ति, तपस्या, अपवास करे, फिर होता है या नहीं? आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि पहले से स्वभाव की पूर्णता का भान, अनुभव और राग से-विकल्प से लेकर पूरी चीज़ का वैराग्य। उससे अत्यन्त अभाव स्वभावरूप परिणमन। पण्डितजी! ऐसी बात है। आहाहा! यहाँ तो भाई! संसार के विकल्प से मर जाना है, बापू! आहाहा! शुभाशुभराग से तो मर जाना है और चैतन्य के स्वभाव से जीवन बिताना है। आहाहा! प्रभु तो ऐसा कहते हैं, बापू! तुझे लगे, न लगे अलग बात है। आहाहा! तीन लोक का नाथ, उसके ज्ञान में तीन काल ज्ञात हुए, उनकी वाणी में यह आया। वह यह प्रवचन। दिव्यध्वनि कहो या प्र-विशेष वचन कहो। यह दिव्यध्वनि है।

अपने को तो ज्ञायकभावरूप सुखमय जाने... अकेला ज्ञायकभाव नहीं लिया। क्योंकि पर में कहीं-कहीं सुखबुद्धि रह जाए, वहाँ तक मिथ्यात्व रहता है। आहाहा! अपने आत्मा में आनन्द, अतीन्द्रिय आनन्द का गंज, पुंज भरा पड़ा है। इसके अतिरिक्त किसी चीज़ में—शरीर में, स्त्री में, कुटुम्ब में-परिवार में, इज्जत में, मकान में, कपड़े-बपड़े और गहने बराबर ठीक से पहने तो यह मुझे ठीक है, मजा है। आहाहा! यह सब मिथ्यात्व शल्य है। आहाहा!

जब अपने को तो ज्ञायकभावरूप... ज्ञायकभाव लिया है न? द्रव्य जो है, वह भाववान है, यह उसका ज्ञायकभाव है, ज्ञायकपना है, उसका—भगवान का तत्त्वपना यह है। आहाहा! यह ज्ञायकभावरूप और सुखमय। ज्ञायकभावरूप। देखा? तन्मय है न?

ज्ञायकभाववाला, ऐसा भी नहीं। ज्ञायकभावरूप और सुखमय। अभेद वर्णन किया। आहाहा! ऐसी बातें हैं। सूक्ष्म पड़े, प्रभु! परन्तु यह करना ही पड़ेगा। इसके अतिरिक्त जन्म-मरण (मिटेंगे नहीं)। आहाहा!

यह चौरासी के अवतार, एक-एक अवतार में इसने दुःख भोगे हैं। आहाहा! नरक की दस हजार वर्ष की जघन्य स्थिति, उसके दुःख का वर्णन, प्रभु कहते हैं कि करोड़ों भव में और करोड़ों जीभों से नहीं होता। तेरे गुण जैसे अनन्त मुख से और अनन्त जीभों से नहीं होते... आहाहा! वैसे तेरा दुःख जो है... आहाहा! वह भी करोड़ों भव में और करोड़ों जीभों से (वर्णन) नहीं होता। आहाहा! अनन्त भव में तो नहीं क्योंकि दुःख की मर्यादा है न? यह तो अतीन्द्रिय आनन्द और ज्ञान तो अमर्यादित स्वभाव है। है? आहाहा! क्योंकि दुःख कहीं, आत्मा में आनन्द और ज्ञान शक्तियाँ अमर्यादित है, ऐसा कहीं दुःख नहीं है। दुःख तो मर्यादित है। आहाहा! परन्तु मर्यादित दुःख में भी अनन्तता है, कहते हैं। आहाहा! करोड़ मुख से और करोड़ जीभों से नहीं कहा जा सकता, बापू! आहाहा! तुझे किसका हर्ष का आवेग पर में आता है? ऐसा कहते हैं। पर में हर्ष का आवेग, हर्ष प्रभु! हर्ष तो, आनन्द तो तेरा तुझमें है। आहाहा!

जब अपने को तो ज्ञायकभावरूप सुखमय जाने और कर्मोदय से उत्पन्न हुए भावों को आकुलतारूप दुःखमय जाने... आकुलतारूप। रागादि, विकार। आहाहा! व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प भी आकुलतारूप है। आहाहा! **आकुलतारूप दुःखमय जाने, तब ज्ञानरूप रहना...** तब तो अपने ज्ञायकरूप और सुखमय आत्मा को जाना तो वहाँ रहना, वहाँ आसन लगाना। आहाहा! उदासीन। राग से उदासीन होकर स्वभाव में आसन लगाना। आहाहा! **ज्ञानरूप रहना तथा परभावों से विरागता...** है न? पर राग आदि से विरागता। आहाहा! **यह दोनों अवश्य ही होते हैं।** दोनों अवश्य होते हैं।

यह बात प्रगट अनुभवगोचर है। यह बात प्रगट अनुभवगम्य है। भगवान आनन्दस्वरूप है, रागादि दुःखरूप है, यह तो प्रगट अनुभवगम्य है। आहाहा! **यही (ज्ञानवैराग्य) ही सम्यग्दृष्टि का चिह्न है।** यह ज्ञान और ऐसा जो वैराग्य। पूर्ण स्वरूप ज्ञानमय का ज्ञान और राग से विरक्तता, ऐसा वैराग्य, वह सम्यग्दृष्टि का लक्षण है, वह सम्यग्दृष्टि का चिह्न है। आहाहा!

जो जीव परद्रव्य में आसक्त-रागी हैं... आहाहा! राग के कण में भी जिसे प्रसन्नता और खुशीपना है। **और सम्यग्दृष्टि का अभिमान करते हैं,...** आहाहा! सूक्ष्म में सूक्ष्म राग दया, दान, व्रतादि और गुण-गुणी के भेद का राग, उस राग का जिसे प्रेम है, आसक्त है। आहाहा! **और सम्यग्दृष्टि का अभिमान करते हैं, वे सम्यग्दृष्टि नहीं हैं, वे वृथा अभिमान करते हैं'' इस अर्थ का कलशरूप काव्य अब कहते हैं:-** लो, कलश है न कलश?

कलश - १३७

(मन्दाक्रान्ता)

सम्यग्दृष्टिः स्वयमयमहं जातु बन्धो न मे स्या-
दित्युत्तानोत्पुलक-वदना रागिणोऽप्याचरन्तु।
आलम्बन्तां समिति-परतां ते यतोऽद्यापि पापा,
आत्मानात्मावगमविरहात्सन्ति सम्यक्त्वरिक्ताः ।।१३७।।

श्लोकार्थ : [अयम् अहं स्वयम् सम्यग्दृष्टिः मे जातु बन्धः न स्यात्] ''यह मैं स्वयं सम्यग्दृष्टि हूँ, मुझे कभी बन्ध नहीं होता (क्योंकि शास्त्रों में सम्यग्दृष्टि को बन्ध नहीं कहा है)'' [इति] ऐसा मानकर [उत्तान्-उत्पुलक-वदनाः] जिन का मुख गर्व से ऊँचा और पुलकित हो रहा है ऐसे [रागिणः] रागी जीव (-परद्रव्य के प्रति रागद्वेषमोहभाववाले जीव-) [अपि] भले ही [आचरन्तु] महाव्रतादि का आचरण करें तथा [समितिपरतां आलम्बन्तां] समितियों की उत्कृष्टता का आलम्बन करें [अद्य अपि] तथापि [ते पापाः] वे पापी (मिथ्यादृष्टि) ही हैं, [यतः] क्योंकि वे [आत्म-अनात्म-अवगम-विरहात्] आत्मा और अनात्मा के ज्ञान से रहित होने से [सम्यक्त्वरिक्ताः सन्ति] सम्यक्त्व से रहित हैं।

भावार्थ : परद्रव्य के प्रति राग होने पर भी जो जीव यह मानता है कि 'मैं सम्यक्दृष्टि हूँ, मुझे बन्ध नहीं होता' उसे सम्यक्त्व कैसा। वह व्रत-समिति का पालन भले ही करे तथापि स्वपर का ज्ञान न होने से वह पापी ही है। जो यह मानकर कि 'मुझे

बन्ध नहीं होता' स्वच्छन्द प्रवृत्ति करता है वह भला सम्यग्दृष्टि कैसा? क्योंकि जब तक यथाख्यात चारित्र न हो तब तक चारित्रमोह के राग से बन्ध तो होता ही है और जब तक राग रहता है तब तक सम्यग्दृष्टि तो अपनी निन्दा-गर्हा करता ही रहता है। ज्ञान के होनेमात्र से बन्ध से नहीं छूटा जा सकता, ज्ञान होने के बाद उसी में लीनतारूप-शुद्धोपयोगरूप-चारित्र से बन्ध कट जाते हैं। इसलिए राग होने पर भी, 'बन्ध नहीं होता' यह मानकर स्वच्छन्दता प्रवृत्ति करनेवाला जीव मिथ्यादृष्टि ही है।

यहाँ कोई पूछता है कि - ''व्रत-समिति शुभ कार्य हैं, तब फिर उनका पालन करते हुए भी उस जीव को पापी क्यों कहा गया है?'' उसका समाधान यह है - सिद्धान्त में मिथ्यात्व को ही पाप कहा है; जब तक मिथ्यात्व रहता है, तब तक शुभाशुभ सर्व क्रियाओं को अध्यात्म में परमार्थत: पाप ही कहा जाता है। और व्यवहारनय की प्रधानता में, व्यवहारी जीवों को अशुभ से छुड़ाकर शुभ में लगाने की शुभ क्रिया को कथंचित् पुण्य भी कहा जाता है। ऐसा कहने से स्याद्वाद मत में कोई विरोध नहीं है।

फिर कोई पूछता है कि - ''परद्रव्य में जब तक राग रहे तब तक जीव को मिथ्यादृष्टि कहा है सो यह बात हमारी समझ में नहीं आयी। अविरतसम्यग्दृष्टि इत्यादि के चारित्रमोह के उदय से रागादिभाव तो होते हैं, तब फिर उनके सम्यक्त्व कैसे है?'' उसका समाधान यह है - यहाँ मिथ्यात्व सहित अनन्तानुबन्धी राग प्रधानता से कहा है। जिसे ऐसा राग होता है अर्थात् जिसे परद्रव्य में तथा परद्रव्य से होनेवाले भावों में आत्म-बुद्धिपूर्वक प्रीति-अप्रीति होती है, उसे स्वपर का ज्ञान श्रद्धान नहीं है-भेदज्ञान नहीं है ऐसा समझना चाहिए। जो जीव मुनिपद लेकर व्रत समिति का पालन करे तथापि जब तक पर जीवों की रक्षा, तथा शरीर सम्बन्धी यत्नपूर्वक प्रवृत्ति करना इत्यादि परद्रव्य की क्रिया से और परद्रव्य के निमित्त से होनेवाले अपने शुभ भावों से अपनी मुक्ति मानता है और पर जीवों का घात होना तथा अयत्नाचाररूप से प्रवृत्ति करना इत्यादि परद्रव्य की क्रिया से और परद्रव्य के निमित्त से होनेवाले अपने अशुभ भावों से ही अपना बन्ध होना मानता है तब तक यह जानना चाहिए कि उसे स्वपर का ज्ञान नहीं हुआ; क्योंकि बन्ध-मोक्ष अपने अशुद्ध तथा शुद्ध भावों से ही होता था, शुभाशुभ भाव तो बन्ध के ही कारण थे और परद्रव्य तो निमित्तमात्र ही था, उसमें उसने विपर्ययरूप मान लिया। इस प्रकार जब तक जीव परद्रव्य से ही भला बुरा मानकर रागद्वेष करता है तब तक वह सम्यग्दृष्टि नहीं है।

जब तक अपने में चारित्रमोह सम्बन्धी रागादिक रहता है तब तक सम्यग्दृष्टि जीव रागादि में तथा रागादि की प्रेरणा से जो परद्रव्यसम्बन्धी शुभाशुभ क्रिया में प्रवृत्ति करता है उन प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में यह मानता है कि – यह कर्म का जोर है; उससे निवृत्त होने में ही मेरा भला है। वह उन्हें रोगवत् जानता है। पीड़ा सहन नहीं होती इसलिए रोग का इलाज करने में प्रवृत्त होता है तथापि उसके प्रति उसका राग नहीं कहा जा सकता; क्योंकि जिसे वह रोग मानता है उसके प्रति राग कैसा? वह उसे मिटाने का ही उपाय करता है और उसका मिटना भी अपने ही ज्ञानपरिणामरूप परिणमन से मानता है। अत: सम्यग्दृष्टि के राग नहीं है। इस प्रकार यहाँ परमार्थ अध्यात्मदृष्टि से व्याख्यान जानना चाहिए। यहाँ मिथ्यात्व सहित राग को ही राग कहा है, मिथ्यात्व रहित चारित्रमोहसम्बन्धी परिणाम को राग नहीं कहा; इसलिए सम्यग्दृष्टि के ज्ञानवैराग्यशक्ति अवश्य ही होती है। सम्यक्दृष्टि के मिथ्यात्व सहित राग नहीं होता और जिसके मिथ्यात्व सहित राग हो वह सम्यक्दृष्टि नहीं है। ऐसे (मिथ्यादृष्टि और सम्यक्दृष्टि के भावों के) अन्तर को सम्यग्दृष्टि ही जानता है। पहले तो मिथ्यादृष्टि का अध्यात्मशास्त्र में प्रवेश ही नहीं है और यदि वह प्रवेश करता है तो विपरीत समझता है–व्यवहार को सर्वथा छोड़कर भ्रम होता है अथवा निश्चय को भलीभाँति जाने बिना व्यवहार से ही मोक्ष मानता है, परमार्थ तत्त्व में मूढ़ रहता है। यदि कोई विरल जीव यथार्थ स्याद्वादन्याय से सत्यार्थ को समझ ले तो उसे अवश्य ही सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है–वह अवश्य सम्यग्दृष्टि हो जाता है।।१३७।।

कलश - १३७ पर प्रवचन

सम्यग्दृष्टिः स्वयमयमहं जातु बन्धो न मे स्या-
दित्युत्तानोत्पुलक-वदना रागिणोऽप्याचरन्तु।
आलम्बन्तां समिति-परतां ते यतोऽद्यापि पापा,
आत्मानात्मावगमविरहात्सन्ति सम्यक्त्वरिक्ताः।।१३७।।

[अयम् अहं स्वयम् सम्यग्दृष्टिः मे जातु बन्धः न स्यात्] 'यह मैं स्वयं सम्यग्दृष्टि हूँ, मुझे कभी बन्ध नहीं होता...' ऐसा कि मैं चाहे जैसे विषय भोगूँ, परन्तु

मुझे बन्ध नहीं है। शास्त्र में कहा है कि सम्यग्दृष्टि को बन्ध नहीं है। अरे! भाई! कहा है वह किसकी अपेक्षा से? आहा! जिसे राग का राग छूट गया है और स्वभाव के प्रेम में रुचि का परिणमन हो गया है। आहाहा! उसे कहा है कि विषय भोगते हुए भी उसे बन्ध नहीं है। और तू स्वच्छन्दी होकर ऐसा कहता है कि हम सम्यग्दृष्टि हैं, विषय भोगते हुए बन्ध नहीं है। आहाहा!

'मैं स्वयं सम्यग्दृष्टि हूँ, मुझे कभी बन्ध नहीं होता (क्योंकि शास्त्रों में सम्यग्दृष्टि को बन्ध नहीं कहा है)' ऐसा मानकर... [उत्तान्-उत्पुलक-वदनाः] जिन का मुख गर्व से ऊँचा और पुलकित हो रहा है... हमारे क्या है? शरीर का धर्म शरीर करे। भोग शरीर करे। अरे! बापू! भाई! तुझे अन्दर राग की एकता की बुद्धि पड़ी है, मिथ्यात्व है और तू ऐसा मानता है कि यह मुझे बन्ध नहीं है। आहाहा! **ऊँचा और पुलकित हो रहा है, ऐसे रागी जीव (-परद्रव्य के प्रति रागद्वेषमोहभाववाले जीव-) भले ही महाव्रतादि का आचरण करें...** ठीक! महाव्रत भी राग है। राग का प्रेम है कि यह आचरण मेरा है, तो वह मिथ्यादृष्टि है। भले महाव्रत का आचरण करे। आहाहा! पंच महाव्रत पालन करे तो भी मिथ्यादृष्टि है। महाव्रत राग है, राग का प्रेम है, वह मिथ्यात्वभाव है। आहाहा! तब दूसरी जगह कहा है न कि मुनियों को महाव्रत पालना। महाव्रत तो महा व्रत बड़े हैं। उनके जैसा बड़ा कोई नहीं है। ऐसा आता है न? यह तो बापू! अन्दर स्वरूप की रमणता हुई है, उसकी भूमिका में निश्चय महाव्रत है, उसमें व्यवहार से व्रत है, उनकी बातें की हैं। आहाहा!

यहाँ यह स्पष्ट कहा न! **महाव्रतादि का आचरण करें तथा समितियों की उत्कृष्टता का आलम्बन करें...** बराबर मन्द राग से मौन रहे, कम बोले। आहाहा! निर्दोष आहार ले, वह तो सब राग का क्रियाकाण्ड है। उसमें तत्पर रहे, **तथापि वे पापी (मिथ्यादृष्टि) ही हैं,...** ठीक! महाव्रत पाले तो भी पापी है, मिथ्यादृष्टि है। **क्योंकि वे आत्मा और अनात्मा के ज्ञान से रहित होने से सम्यक्त्व से रहित हैं।** आहाहा! विशेष कहा जाएगा.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २७७, श्लोक-१३७, बुधवार, आषाढ़ कृष्ण ९
दिनाङ्क १९-०७-१९७९

समयसार, १३७ कलश है न? इसका—कलश का भावार्थ है। **परद्रव्य के प्रति राग होने पर भी जो जीव यह मानता है कि 'मैं सम्यग्दृष्टि हूँ, मुझे बन्ध नहीं होता' उसे सम्यक्त्व कैसा।** क्या कहते हैं? जिसे आत्मा के अतिरिक्त परद्रव्य, राग, कर्म, शरीर, बाह्य चीज़ किसी के प्रति भी राग रहता है और मानता है कि मैं सम्यग्दृष्टि हूँ, वह विपरीत मान्यता है। आहाहा! सूक्ष्म बात है। वास्तव में **परद्रव्य के प्रति राग होने पर भी...** स्वद्रव्य के प्रति जिसे अन्तर के आनन्द का प्रेम, दृष्टि हुई, मैं तो अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय ज्ञानस्वरूप हूँ—ऐसी सम्यग्दृष्टि हुई, उसे अपने अतिरिक्त पर के प्रति कहीं राग होता ही नहीं और पर के प्रति राग रहे और वह सम्यग्दृष्टि माने तो यह विपरीत है। आहाहा! सूक्ष्म बात, भाई!

सम्यग्दर्शन और चारित्रदोष यह दूसरी चीज़ है। यहाँ कहते हैं कि चारित्रदोष हुआ, वह अपना माने, वह परवस्तु है। शरीर, वाणी तो परवस्तु है ही, परन्तु अन्दर दया, दान, व्रत के परिणाम आते हैं, वह भी राग है, वह भी वास्तव में तो परवस्तु, परद्रव्य है। उसके प्रति जिसे रुचि रहे, वह सम्यग्दृष्टि नहीं रह सकता। आहाहा! ऐसा मार्ग। यह तो धर्म की पहली शुरुआत, धर्म की पहली सीढ़ी सम्यग्दर्शन (की बात है)। सम्यक् अर्थात् जैसा आत्मा का पूर्ण स्वरूप है, सत्य है, वैसा अनुभव होना और अनुभव होकर दृष्टि में प्रतीति आना, उसे पर के प्रति राग नहीं रहता। आहाहा!

वह व्रत-समिति का पालन भले ही करे... भले पंच महाव्रत पाले, समिति, निर्दोष आहार, पाँच समिति चुस्त पालन करे, **तथापि स्व-पर का ज्ञान न होने से...** वह महाव्रत और समिति, वह राग है, वह अपना स्वरूप नहीं है। यह स्व-अपना स्वरूप शुद्ध चैतन्य और महाव्रत तथा समिति का शुभराग, दोनों का भिन्न ज्ञान नहीं है, वह सम्यग्दृष्टि नहीं है। आहाहा! सूक्ष्म बात है। **स्व-पर का ज्ञान...** स्व-पर में यह—आत्मा ज्ञायकस्वरूप स्व और विकल्प जो राग से लेकर पर, वह परद्रव्य और स्व (द्रव्य की) भिन्नता का भान नहीं है, वह सम्यग्ज्ञानी कैसा? आहाहा! भले वह पंच महाव्रत पालन करता हो, समिति

(पालन) करता हो, निर्दोष आहार (ले), उसके लिये चौका बनाकर (आहार) न ले, तो भी वह तो राग है और राग में धर्म मानना और राग में धर्म का कारण मानना, (वह) मिथ्यादृष्टि है। आहाहा!

जो यह मानकर कि 'मुझे बन्ध नहीं होता'... है न? (व्रत-समिति पालन करे) **तथापि स्व-पर का ज्ञान न होने से वह पापी ही है।** पापी ही है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! महाव्रत पालन करे, पंच समिति, गुप्ति, अट्ठाईस मूलगुण पालन करे, तथापि वह राग मेरी चीज़ है और उसमें मुझे कुछ धर्म का कारण होगा, ऐसी दृष्टि है, वह पापी है। आहाहा! गजब बात है। अट्ठाईस मूलगुण पाले, पंच महाव्रत पाले तो भी कहते हैं कि पापी है। आहाहा! और सम्यग्दृष्टि अस्थिरता के रागादि आते हैं और भोग भी लेता है तो भी भोग के भाव की निर्जरा होती है। आहाहा! क्योंकि उसमें रस उड़ गया है। अपने आनन्द के रस में राग और राग के फल में रस उड़ गया है। आहाहा! फीका पड़ गया है। आहाहा! और अज्ञानी को उस महाव्रत के परिणाम में रस पड़ा है। वह धर्म है और वह धर्म का कारण है। महाव्रत पालते-पालते सम्यग्दर्शन होगा, चारित्र होगा (—ऐसा मानता है) तो वह मिथ्यादृष्टि है।

यद्यपि नियमसार में एक श्लोक में कहा है—महाव्रत, पंच समिति, गुप्ति, वह आत्मा का स्वरूप है। यह तो निश्चय महाव्रत, आत्मा का ध्यान, उसे कहा है। नियमसार में श्लोक में है। पंच महाव्रत, समिति, गुप्ति आदि भाव, व्रत आदि धर्म, वह आत्मा है, आत्मा का वह धर्म है। यह तो राग से रहित अपने स्वरूप में लीनता को वहाँ महाव्रत कहा है। समझ में आया? आहाहा! और यह महाव्रत तो आत्मा के भान बिना राग की क्रिया करे, अहिंसा, सत्य, अचौर्य पालन करे (और) वह धर्म का कारण है और धर्म होगा, (ऐसा माननेवाले) मिथ्यादृष्टि हैं। स्व-पर के ज्ञान की भिन्नता नहीं है। आहाहा! ऐसी बात है।

सम्यग्दृष्टि चक्रवर्ती के राज में पड़ा हो, तो भी कहते हैं कि वह पापी नहीं है, वह तो धर्मी मोक्षमार्गी है। हैं? आहाहा! सम्यग्दृष्टि है, चक्रवर्ती के राज में पड़ा है तो भी मोक्षमार्गी है। 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' में (आता) है। और पंच महाव्रत पाले, समिति-गुप्ति पाले परन्तु वह धर्म का कारण है और उसमें प्रेम है तो वह मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! इतना अधिक अन्तर है। लोगों को बैठना कठिन पड़ता है। यह पापी है। **पापी ही है।** ऐसा लिखा

है। **पापी ही है।** ऐसा। पापी ही, पापी ही है। महाव्रत को पाले परन्तु राग का प्रेम है और राग की रुचि है और स्वभाव चैतन्यमूर्ति भगवान ज्ञायक है, उसकी दृष्टि का तो अभाव है, वह पापी ही है। आहाहा!

जो यह मानकर कि 'मुझे बन्ध नहीं होता' स्वच्छन्द प्रवृत्ति करता है...पंच महाव्रतादि पाले परन्तु मुझे बन्ध नहीं होता और स्वच्छन्द से प्रवृत्ति करता है, **वह भला सम्यग्दृष्टि कैसा? क्योंकि जब तक यथाख्यात चारित्र न हो...** पूर्ण चारित्र-स्वरूप में रमणता जब तक न हो, **तब तक चारित्रमोह के राग से बन्ध तो होता ही है...** सम्यग्दृष्टि को भी राग का बन्ध होता है। जब तक यथाख्यातचारित्र न हो, तब तक उसे राग से बन्ध तो होता ही है।

और जब तक राग रहता है, तब तक सम्यग्दृष्टि तो अपनी निन्दा-गर्हा करता ही रहता है। आहाहा! ये शुभराग आता है, अशुभराग भी आता है। समकिती को आर्तध्यान, रौद्रध्यान भी आता है। आहाहा! तथापि उसका रस-प्रेम नहीं है। दुःख लगता है। जैसे काला नाग देखे, वैसे राग को देखता है। आहाहा! जहर, शुभभाव को ज्ञानी जहर देखता है। अज्ञानी को मिठास लगती है। उन महाव्रत के परिणाम में मिठास मानता है कि महाव्रत के परिणाम मेरा धर्म है। वह पापी है। आहाहा! इतना सब अन्तर। सम्यग्दृष्टि को राग आता है परन्तु अपनी निन्दा-गर्हा करता है। अरे रे! राग तो दुःख है, पाप है, दोष है, बन्ध का कारण है। मेरे स्वरूप से यह भिन्न जाति है। ऐसा सम्यग्दृष्टि मानता है। आहाहा!

ज्ञान के होनेमात्र से बन्ध से नहीं छूटा जा सकता, ज्ञान होने के बाद... स्वरूप का ज्ञान होने के पश्चात् चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का और अतीन्द्रिय शान्ति का सागर प्रभु, उसका जिसे रस और दृष्टि हुई, आहा! तो यह ज्ञान होने के पश्चात् **उसी में लीनतारूप-शुद्धोपयोगरूप-चारित्र से बन्ध कट जाते हैं।** उसमें फिर शुद्धोपयोगरूप; शुभयोग—शुभ और अशुभ योग अलग बात है और यह शुद्धयोग, शुद्ध व्यापार। कहलाता है योग, परन्तु शुद्धयोग है, वह शुद्ध व्यापार है, शुद्ध उपयोग है; तथा शुभ और अशुभ है, वह आस्रव है, बन्ध का कारण है और शुद्धयोग, आत्मा का व्यापार आत्मा का शुद्ध व्यापार, वह निर्जरा का कारण है। आहाहा! एक शुद्धयोग और एक शुभयोग, दोनों में बड़ा अन्तर है। शुभयोग, वह बन्ध का कारण है और शुद्धयोग, वह

संवर-निर्जरा-धर्म का कारण है। आहाहा! बहुत अन्तर। **इसलिए राग होने पर भी,...** धर्मी को **'बन्ध नहीं होता' यह मानकर स्वच्छन्दता प्रवृत्ति करनेवाला जीव मिथ्यादृष्टि ही है।** हम समकिती हैं, हमें चाहे जो भाव हो, हम भोग लें, विषय लें, हमारे क्या है? वह तो मिथ्यादृष्टि है, स्वच्छन्दी है। आहाहा! समझ में आया?

यहाँ कोई पूछता है कि... प्रश्न है कि **व्रत-समिति शुभ कार्य हैं,...** पंच महाव्रत, पाँच समिति, शरीर का ब्रह्मचर्य, शरीर से आजीवन ब्रह्मचर्य पाले, वह तो सब शुभ कार्य है। **तब फिर उनका पालन करते हुए भी...** उस शुभ का पालन करते हुए भी **उस जीव को पापी क्यों कहा गया है?** पुण्यवन्त तो कहो। महाव्रत पाले, नग्नरूप से रहे, अट्ठाईस मूलगुण पाले, दुकान, धन्धा-बन्धा छोड़ दे... आहाहा! और जंगल में रहे, नग्नरूप से रहे, पंच महाव्रत बराबर चुस्त निरतिचार पाले। आहाहा! वह तो शुभकार्य है। उसे तुम पापी क्यों कहते हो? आहाहा! शुभकार्य करनेवाला पुण्यवन्त नहीं कहकर तुम पापी कहते हो। अशुभभाव करनेवाले को पापी कहो परन्तु इस शुभभाव के कार्य करनेवाले को पापी क्यों कहा? समझ में आया?

उसका समाधान यह है-सिद्धान्त में मिथ्यात्व को ही पाप कहा है;... आहाहा! भगवान की वाणी में, सिद्धान्त में, आगम में, चारों ही अनुयोग में... आहाहा! मिथ्यात्व को ही पाप कहा है। आहाहा! अनन्त बार नौवें ग्रैवेयक (गया)। 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो, पै निज आतम ज्ञान बिना सुख लेश न पायो' नौवें ग्रैवेयक अनन्त बार गया। आहाहा! अनन्त बार महाव्रत लिये... आहाहा! और स्वर्ग में गया परन्तु आत्मज्ञान—राग से भिन्न आत्मा आनन्दस्वरूप है, उसके अनुभव-वेदन बिना यह महाव्रत के परिणाम, वे दुःखरूप हैं। आया या नहीं इसमें? 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो, पै निज आतम ज्ञान बिना सुख लेश न पायो' अब वे पंच महाव्रत के परिणाम तो दुःखरूप है। वे तो सुख हैं नहीं। आस्रव है, बन्ध का कारण है, जहर का घड़ा है। आहाहा! आहाहा! उसे पापी क्यों कहा? इस कारण से पापी कहा। सिद्धान्त में मिथ्यात्व को ही पाप कहा है।

जब तक मिथ्यात्व रहता है, तब तक शुभाशुभ सर्व क्रियाओं को अध्यात्म में परमार्थतः पाप ही कहा जाता है। आहाहा! जब तक मिथ्यात्व रहता है (अर्थात्)

राग के अंश में भी प्रेम रहता है, पर्यायबुद्धि में जो राग आया, महाव्रत का, भगवान की भक्ति का, विनय का, पूजा का, दान का, दया का, अपवास का वह सब राग... आहाहा! उन क्रियाओं को **अध्यात्म में परमार्थतः पाप ही कहा जाता है।** उन क्रियाओं को परमार्थ से सिद्धान्त में पाप कहने में आया तो वह पाप है। आहाहा! कठिन बात है। चैतन्य भगवान अन्दर ज्ञान का सागर, अतीन्द्रिय आनन्द की मूर्ति प्रभु... आहाहा! उसका रस छोड़कर राग महाव्रतादि या भगवान का विनय, भक्ति आदि हो... आहाहा!

यह लोग कहते हैं न यह प्रवचनसार की गाथा? 'पुण्यफला अरहन्ता' पुण्य के फल में अरिहन्त है, उसमें गाथा है। वह तो पुण्य का फल अरिहन्त पद नहीं, पुण्य का फल (अर्थात्) हिलना, चलना, बोलना, वह पुण्य का फल है। तब उसका अर्थ ऐसा करते हैं। 'पुण्यफला अरहन्ता' पुण्य के फलरूप अरिहन्त पद होता है। ऐसा है नहीं। उसमें पाठ है। पुण्य का फल तीर्थंकर को अकिंचित्कर है। कुछ करता नहीं। वह तो उदयभाव की क्रिया है। हिलने की, चलने की, बोलने की (क्रिया), वह पुण्य फल है तो वह खिर जाता है। उस उदय को भी क्षायिकभाव कह दिया है। वह उदय होता है, वह खिर जाता है, उसे क्षायिकभाव कहा। आहाहा! परन्तु पुण्य से अरिहन्तपद मिलता है, ऐसा है नहीं। आहाहा! जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधता है, वह भी राग है। उस राग का नाश करता है, तब वीतराग केवलज्ञान होता है। राग में तीर्थंकर की प्रकृति बँधी, इसलिए केवलज्ञान होता है, ऐसा है नहीं। आहाहा! जिस भाव से तीर्थंकर (प्रकृति) बँधती है, उस भाव का नाश करता है, तब केवलज्ञान होता है, तब तो उस तीर्थंकर प्रकृति का उदय आता है। क्या कहा?

जिस भाव से तीर्थंकर प्रकृति बँधी, उस प्रकृति का उदय कब आता है? कि जब उस राग का नाश करके केवलज्ञान होता है, तब उस तीर्थंकर प्रकृति का उदय तेरहवें गुणस्थान में आता है। आहाहा! समझ में आया? यह चौथे, पाँचवें, छठवें में उदय नहीं आता। आहाहा! प्रकृति का बन्ध चौथे, पाँचवें, छठवें में पड़ता है परन्तु उदय आता है तेरहवें (गुणस्थान में)। इसका अर्थ क्या हुआ? कि जिस भाव से तीर्थंकर (प्रकृति) बँधी थी, उस भाव का नाश करके (पूर्ण) वीतराग हुआ और जब केवलज्ञान हुआ, तब वह प्रकृति उदय में आयी। आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म बात है, भाई! जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधा, उस भाव से केवलज्ञान नहीं होता। आहाहा! 'पुण्यफला अरहन्ता' ऐसा कहते हैं, है

उसमें, है न ? इसमें है। कितनी ४५ ? प्रवचनसार में है, 'पुण्यफला अरहन्ता' अकिंचित्कर है, ऐसा पाठ है। पुण्य अकिंचित्कर है, आत्मा को बिल्कुल लाभ नहीं करता।

यहाँ तो उस पुण्य के भाव को अपना माननेवाले को पापी कहकर मिथ्यादृष्टि कहा है। आहाहा! है ? **जब तक मिथ्यात्व रहता है, तब तक शुभाशुभ सर्व क्रियाओं को अध्यात्म में परमार्थतः पाप ही कहा जाता है।** इस पुण्य के परिणाम की क्रिया को, मिथ्यादृष्टि को पापी ही कहने में आता है। पाप ही कहा जाता है। आहाहा! एक तो ऐसा माने कि कर्म से विकार होता है। कर्म से शुभभाव हुआ और शुभभाव से मुक्ति होती है तो कर्म से मुक्ति होती है। ऐसा हुआ। क्योंकि शुभभाव कर्म से होता है, ऐसा मानता है, यह बात मिथ्या है, शुभभाव अपने से होता है। पश्चात् शुभभाव से फिर धर्म होता है और उससे मुक्ति होती है, तो इसका अर्थ कि कर्म से शुभभाव हुआ और शुभभाव से मुक्ति हुई तो कर्म से मुक्ति हुई। आहाहा! ऐसा है नहीं। यहाँ तो पापी ही कहा, पाप ही कहा है। मिथ्यादृष्टि के महाव्रत के परिणाम को पाप ही कहा है। आहाहा! **परमार्थतः पाप ही कहा जाता है।**

और व्यवहारनय की प्रधानता में, व्यवहारी जीवों को अशुभ से छुड़ाकर शुभ में लगाने की शुभ क्रिया को कथंचित् पुण्य भी कहा जाता है। अशुभ छुड़ाकर शुभभाव को कथंचित् पुण्य (कहा जाता है), धर्म नहीं। आहाहा! **ऐसा कहने से स्याद्वाद मत में कोई विरोध नहीं है।** आहाहा! अपेक्षा से समझना। धर्मी का राग बन्ध का कारण नहीं है। मिथ्यादृष्टि का राग, महाव्रत पाप है। इन दो में अपेक्षा समझना चाहिए। ज्ञानी का राग निर्जरा का (हेतु) है, ज्ञानी का भोग निर्जरा का (हेतु) होवे तो फिर भोग छोड़कर चारित्र लेना कहाँ रहा ? यह तो दृष्टि का जोर बताने को भगवान आत्मा ज्ञायकभाव का जहाँ अनुभव हुआ कि मैं तो ज्ञायक चिदानन्द अनादि हूँ। आहाहा! सतत्, कहा था न रात्रि में ? भाई! सतत् अर्थात् निरन्तर वर्तमान ही मैं तो हूँ। त्रिकाल रहेगा, इसलिए ऐसा नहीं। मैं तो वर्तमान सत् ध्रुव ही हूँ। ज्ञानी को भी जितना राग आता है, उतना बन्ध का कारण है। आहाहा! समझ में आया ? जब तक यथाख्यातचारित्र न हो, तब तक ज्ञानी को भी राग होता है, वह बन्ध का कारण, दुःख का कारण है। आहाहा! भोग के कारण से निर्जरा होती है, (ऐसा कहा) वह तो दृष्टि की अपेक्षा से कथन है। आहाहा!

जहाँ तक स्वरूप की दृष्टि होकर चिदानन्द भगवान आत्मा अपने में लीनतारूप,

लीनतारूप व्रत, हों! लीनतारूप। वह पूर्ण लीनता न करे, तब तक यथाख्यातचारित्र नहीं होता, तब तक राग का अंश रहता है, वह बन्ध का कारण है। ज्ञानी को भी बन्ध का कारण है। आहाहा! अज्ञानी के तो महाव्रत को ही पाप कहा है। आहाहा! और ज्ञानी का भोग निर्जरा हेतु कहा। कहाँ पूर्व-पश्चिम का (अन्तर है)। अपेक्षा से कहा है। भोग निर्जरा का हेतु होवे तो भोग छोड़कर चारित्र लेना, वह तो रहता नहीं।

परन्त दृष्टि में आत्मा के आनन्द का रस है तो उस भोग का राग आया, वह काले नाग जैसा देखता है। काला सर्प, नाग देखे, वैसे भोग का राग देखता है। आहाहा! ज्ञानी को उसका प्रेम उड़ गया है, सुखबुद्धि उड़ गयी है। विषय में सुख है, मजा है, यह बात अन्तर में से निकल गयी है। आहाहा! क्योंकि अपने आत्मा में आनन्द है, उस आनन्द के अनुभव के समक्ष किसी चीज़ में आनन्द है, यह मान्यता उड़ गयी है। आहाहा! चक्रवर्ती का राज हो, इन्द्र का इन्द्रासन हो, वह सब पुण्य का फल है परन्तु यह जहर है। आहाहा!

फिर कोई पूछता है कि – परद्रव्य में जब तक राग रहे, तब तक जीव को मिथ्यादृष्टि कहा है, सो यह बात हमारी समझ में नहीं आयी। ऐसा प्रश्न करता है। **अविरतसम्यग्दृष्टि इत्यादि के चारित्रमोह के उदय से रागादिभाव तो होते हैं,...** सम्यग्दृष्टि को, क्षायिक समकिती को भी राग तो आता है। आहाहा! जब तक स्वरूप में चारित्र की पूर्ण लीनता न हो, तब तक ज्ञानी को राग तो आता है। है न? **अविरतसम्यग्दृष्टि...** (अर्थात्) चौथे, पाँचवें, छठवें, **चारित्रमोह के उदय से रागादिभाव तो होते हैं, तब फिर उनके सम्यक्त्व कैसे है?** तुम तो कहते हो, राग होवे तो समकित नहीं है।

उसका समाधान यह है – यहाँ मिथ्यात्व सहित अनन्तानुबन्धी राग प्रधानता से कहा है। देखो! यहाँ तो राग का प्रेम है, राग की रुचि है, ऐसा मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी—अनन्त अर्थात् मिथ्यात्व के साथ रहनेवाला, अनन्तानुबन्धी कषाय अर्थात् मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी। अनन्त अर्थात् मिथ्यात्व, जिस मिथ्यात्व के साथ रहनेवाली कषाय, उसकी अपेक्षा से यहाँ राग कहा है। वह राग ज्ञानी को है नहीं। समझ में आया? आहाहा! प्रधानरूप से उसकी मुख्यरूप से बात कही है।

जिसे ऐसा राग होता है अर्थात् जिसे परद्रव्य में तथा परद्रव्य से होनेवाले भावों में... आहाहा! शरीर में, वाणी में, स्त्री-कुटुम्ब-परिवार में अथवा यह स्त्री मेरी है, पुत्र मेरा

है, लक्ष्मी मेरी है। आहाहा! यह राग मेरा है, ऐसी आत्मबुद्धि होती है। आहाहा! प्रतिकूल संयोग देखकर द्वेष होता है तो संयोगी चीज़ है, वह तो ज्ञेय है। संयोगी चीज़ कोई दुःख का कारण नहीं है। संयोगी कोई भी चीज़। सर्प का जहर और बिच्छु का डंक, वह तो ज्ञेय है। ज्ञेय में दो भाग नहीं कि यह अनुकूल और यह प्रतिकूल, ऐसे ज्ञेय में दो भाग नहीं है। ज्ञेय तो एक प्रकार का है, उसमें अज्ञानी ने दो भाग डाल दिये हैं कि यह ठीक है और यह अठीक है। यह राग और द्वेष किये, यही मिथ्यात्व भाव है। आहाहा! वीतराग का मार्ग बहुत सूक्ष्म है, भाई!

जिससे भव का अन्त आवे। आहाहा! अनन्त-अनन्त भव किये, चौरासी लाख योनि में, नरक और निगोद में (भटका)। निगोद में एक अन्तर्मुहूर्त में अठारह भव, ऐसे (भव) अनन्त बार किये। निगोद में भी अनन्त बार एक अन्तर्मुहूर्त में अठारह भव (किये), ऐसा एक बार नहीं, अनन्त बार किया। आहाहा! प्रभु! तेरे दुःख की व्याख्या भगवान भी पूरी नहीं कह सकते। आहाहा! कैसे दुःख भोगे हैं, एक सम्यग्दर्शन के बिना (भोगे हैं)। बाकी तो पंच महाव्रतादि क्रियाएँ बहुत कीं। राग के प्रेम से, वह तो परद्रव्य का प्रेम है। आहाहा!

जब तक **आत्म-बुद्धिपूर्वक प्रीति-अप्रीति होती है, उसे स्व-पर का ज्ञान-श्रद्धान नहीं है...** राग पर है और भगवान आनन्दकन्द भिन्न है, ऐसा स्व-पर की भिन्नता का ज्ञान नहीं है। आहाहा! चाहे तो महाव्रत के परिणाम हो, परन्तु वह राग ही है और आत्मा राग नहीं है। आत्मा ज्ञायकस्वरूप है। नवतत्त्व है या नहीं? तो नवतत्त्व में पुण्यपरिणाम भिन्न है, पाप भिन्न है और ज्ञायक जीवतत्त्व भिन्न है। नौ हैं। नवतत्त्व में ज्ञायकतत्त्व है, वह राग नहीं है और रागतत्त्व है, वह ज्ञायकतत्त्व नहीं है। (ऐसा न होवे तो) नवतत्त्व कहाँ से होंगे? आहाहा! समझ में आया? तो यह पुण्यतत्त्व है, वह आत्मा नहीं है। आहाहा! और आत्मा जो ज्ञायकस्वरूप है, वह पुण्यतत्त्व नहीं है। आहाहा! ऐसी दृष्टि हुए बिना राग करके धर्म मानता है, वह स्वच्छन्दी मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! कठिन बात है।

स्व-पर का ज्ञान-श्रद्धान नहीं है-भेदज्ञान नहीं है, ऐसा समझना चाहिए। राग के कण से अपनापन मानना, उसे स्व-पर का भेदज्ञान है नहीं। छोटे में छोटा राग का कण, जिससे महाव्रत पाले, जिससे तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह तो समकिती को होता है परन्तु महाव्रतादि पाले, वह तो राग, छोटे में छोटा सूक्ष्म राग, आहाहा! उसे अपना माने, उसे स्व-

पर का भेदज्ञान नहीं है। भगवान आत्मा ज्ञायक है और महाव्रत के परिणाम राग हैं, उस स्व और पर की भिन्नता का विवेक है नहीं। आहाहा! यह तो बहुत स्थूल बात चलती है। इसमें बहुत गड़बड़ हो गयी है। आहाहा!

जो **जीव मुनिपद लेकर व्रत, समिति का पालन करे...** आहाहा! 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो' मुनि कौन? दिगम्बर मुनि। श्वेताम्बर मुनि को तो शास्त्र मुनि मानता ही नहीं। जो वस्त्रसहित मुनिपना मानते हैं, वे तो मिथ्यादृष्टि हैं। उनके शास्त्र में भी वस्त्र रखकर मुनिपना मनवाया है। वे शास्त्र भी मिथ्यादृष्टि के कहे हुए हैं। आहाहा! ऐसी बात है। ऐई! श्वेताम्बर शास्त्र में मुनि को इतने वस्त्र लेना और इतने चलते हैं, उसे धोना... सब कल्पना। मिथ्यादृष्टि ने शास्त्र बनाये हैं। यह बात कहीं रह गयी। यहाँ तो दिगम्बर धर्म में आया और पंच महाव्रत पालता है, तो पंच महाव्रत है, वह तो राग है और आत्मा तो भिन्न ज्ञायक है। तो दोनों का भेदज्ञान नहीं, तो वह तो मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! कठिन काम है। है?

(जीव) **मुनिपद लेकर व्रत, समिति का पालन करे, तथापि जब तक पर जीवों की रक्षा, तथा शरीर सम्बन्धी यत्नपूर्वक प्रवृत्ति करना इत्यादि परद्रव्य की क्रिया से...** देखा? पर जीवों की रक्षा में धर्म मानना, पर जीव की रक्षा मैं कर सकता हूँ, ऐसा मानना, वहाँ तक मिथ्यादृष्टि है। पर जीव की रक्षा कर सकता हूँ तो वह तो परद्रव्य है। उसकी पर्याय तो उससे होती है। उसका आयुष्य है और उसकी योग्यता, शरीर में रहने की योग्यता है, तब तक रहता है। आयुष्य से रहता है, वह भी निमित्त से (कथन) है। शरीर में रहने की अपनी योग्यता के कारण वहाँ तक रहता है। शरीर में रहने की योग्यता छूट गयी तो देह छूट जाती है। आहाहा! आयुष्य के कारण रहता है, ऐसा व्यवहार से कहने में आता है। बाकी तो अपनी योग्यता ही तब तक रहने की है। आहाहा! तो उसकी दया पालूँ, उसकी रक्षा करूँ। उसकी योग्यता है, तब तक तो रहता है, तू कहाँ रक्षा कर सकता है? समझ में आया? किसी जीव की रक्षा करूँ।

शरीर सम्बन्धी यत्नपूर्वक प्रवृत्ति करना... देखकर चलना, पैर में (कोई जीव) नीचे न आ जाए, ऐसे पैर रखना, (ऐसी) शरीर की प्रवृत्ति करना। **इत्यादि परद्रव्य की क्रिया से...** आहाहा! **और परद्रव्य के निमित्त से होनेवाले अपने शुभ भावों से...**

देखो! दया, दान, व्रत, पूजा, भक्ति, शुभभाव है। (उससे) **अपनी मुक्ति मानता है...** उसमें अपना धर्म मानता है। आहाहा! यह तो पण्डितजी ने स्पष्टीकरण किया है। पण्डित जयचन्दजी (ने)। आहाहा!

और पर जीवों का घात होना... पहले रक्षा की बात की थी। परद्रव्य की क्रिया है, उसे अपनी मानता है, वह मिथ्यात्व है। **और पर जीवों का घात होना...** वह तो उसके कारण से होता है। **अयत्नाचाररूप से प्रवृत्ति करना इत्यादि परद्रव्य की क्रिया से और परद्रव्य के निमित्त से होनेवाले अपने अशुभभावों से ही अपना बन्ध होना मानता है...** आहाहा! उससे अपने को बन्ध मानता है, अशुभ से बन्ध मानता है और शुभ से धर्म मानता है। आहाहा! दोनों बन्ध के कारण हैं। शुभ और अशुभभाव दोनों बन्ध के कारण हैं। आहाहा! **तब तक यह जानना चाहिए कि उसे स्व-पर का ज्ञान नहीं हुआ;...** शुभ से बन्ध होता है। उसे अपना मानता है और अशुभ से भी बन्ध होता है और अशुभ से ही बन्ध मानता है और शुभ से नहीं, तो उसे स्व-पर का ज्ञान नहीं है, मिथ्यादृष्टि है। आहाहा!

करुणा करना, वह मिथ्यात्वभाव है—ऐसा पाठ है। कुन्दकुन्दाचार्य का श्लोक है। पर तिर्यंच और मनुष्य दुःखी होते हैं तो अरर! वे दुःखी हैं, ऐसी ममता करके, मेरे हैं और मुझे दुःख होता है। उन्हें दुःख होता है, ऐसी करुणा करना, पर की ममता करके करुणा करना, वह मिथ्यात्व का लक्षण है। आहाहा! प्रवचनसार ८५ गाथा में है। समझ में आया? यह तो समयसार है। आहाहा! बहुत अन्तर, बहुत अन्तर। जन्म, जरा, मरणरहित होना, बापू! एक ज्ञायकस्वरूप प्रभु... आहाहा! उससे जो शुभ-अशुभभाव दोनों बन्ध का कारण है, तथापि एक भाव से रक्षा करूँ, उससे मुझे कल्याण होगा और पर को मारूँ, ऐसा अशुभभाव बन्ध का कारण है। दोनों बन्ध के कारण हैं (उसमें) एक को बन्ध का कारण मानना और एक को बन्ध का कारण नहीं मानना, (यह) मिथ्यात्वभाव है। आहाहा!

मुमुक्षु : अनुकम्पा, उसे क्या समझना?

पूज्य गुरुदेवश्री : अनुकम्पा क्या है? अपने राग की मन्दता होना। निश्चय से अनुकम्पा तो वीतरागी परिणति है, वह अनुकम्पा है। भगवान को करुणावन्त कहा है। षट्खण्डागम में करुणावन्त कहा है। वह करुणा अकषाय है, वीतरागी करुणा है, राग

नहीं। षट्खण्डागम में है। प्रभु को करुणावन्त कहा है, दयावन्त कहा है। १००८ नाम है न? भगवान के १००८ नाम हैं। बनारसीदास का है। उसमें कहा है, प्रभु कृपावन्त है, करुणावन्त है, दयावन्त है—ऐसा कहा है। १००८ नाम हैं, उनमें (ऐसे) नाम आये हैं। वह तो वीतरागी पर्याय के नाम हैं। दयावन्त और करुणा का राग है, वह है ही नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : भगवान का तो सन्देश है कि जीओ और जीने दो।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बात वीतराग की है ही नहीं।....

मुमुक्षु : सब लोग कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो अंग्रेजी की बात है। जीओ और जीने दो, यह वीतराग की बात ही नहीं है। अंग्रेज की बात है। आयुष्य से जीवे? यह तो अभी वह विरोध करते हैं न? सोनगढ़वाले 'जीओ और जीने दो' का विरोध करते हैं। परन्तु यह वाणी वीतराग की है ही नहीं। आयुष्य से जीवे और आयुष्य से जीने दो, यह बात वीतराग की है नहीं। वीतराग की तो जीवत्वशक्ति है, पहली। ४७ शक्तियाँ हैं, हैं? जीवत्वशक्ति से जीना। आहाहा! जीवत्व में ज्ञान, दर्शन, आनन्द और सत्ता से जीना, वह जीव का जीवन है। वह जीव का जीना है। इस आयुष्य से, शरीर से जीना, वह कहीं आत्मा का है नहीं। आहाहा! कहते हैं। लोग दिगम्बर में बोलते हैं, रथ निकलता है न? 'जीओ और जीने दो, महावीर का सन्देश, जीओ और जीने दो' क्यों माणिकचन्दभाई! सुना है या नहीं? रथयात्रा में निकलते हैं न? (तब बोलते हैं) 'महावीर का सन्देश, जीओ (और) जीने दो' यह बात ही मिथ्या है। ऐई! कौन जीवे और कौन जीने दे? जीवे तो वह। अपने ज्ञान, दर्शन, आनन्द, और सत्ता से जीना, वह जीवन है। वह अपना जीवन है और पर का जीवन भी वह है।

४७ शक्तियाँ हैं न? (उसमें) पहली शक्ति, पहला गुण ही यह लिया है। क्यों?— कि समयसार की दूसरी गाथा में ऐसा चला कि, **'जीवो चरित्तदंसणणाणठिदो तं हि ससमयं जाण।'** वह जीवत्व है। दूसरी गाथा। पहली **'वंदित्त सव्वसिद्धे'** (दूसरी में ऐसा कहा), **'जीवो चरित्तदंसणणाणठिदो तं हि ससमयं जाण।'** आहाहा! **'पोग्गलकम्मपदेसट्ठिदं च तं जाण परसमयं।'** राग में स्थित है, वह मिथ्यादृष्टि परसमय है और आत्मा में स्थित है, वह स्वसमय है। वह जीव का जीवन है। **'जीवो**

चरित्तदंसणणाणठिदो' उस गाथा में से जीवत्वशक्ति निकाली है। अमृतचन्द्राचार्य ने ४७ शक्तियों में जो पहली जीवत्वशक्ति कही, वह दूसरी गाथा का पहला शब्द **'जीवो चरित्तदंसणणाणठिदो'** वहाँ से निकाली है। वहाँ से पहली जीवत्वशक्ति निकाली है। आहाहा! दिगम्बर सन्तों की वाणी कोई अलग प्रकार है। वह कहीं दुनिया में है नहीं। आहाहा! श्वेताम्बर के पन्थ में नहीं है न! जैन नाम धराते हैं, उसमें यह है नहीं। उसमें भी कर्म से विकार होता है और विकार, शुभभाव से धर्म होता है, (ऐसा मानते हैं)। आहाहा! यह तो वीतराग सर्वज्ञदेव परमेश्वर का यह हुकम, आज्ञा यह है, यह दिव्यध्वनि है। प्रवचनसार! आहाहा!

अज्ञानी जीवरक्षा आदि में शुभ बन्ध नहीं मानता और अशुभ को बन्ध मानता है तो वह मिथ्यादृष्टि है। दोनों बन्ध के कारण हैं। महाव्रत के परिणाम, वह बन्ध का कारण, अव्रत के परिणाम, वह बन्ध का कारण। आहाहा! **अपना बन्ध होना मानता है तब तक यह जानना चाहिए कि उसे स्वपर का ज्ञान नहीं हुआ;...** शुभ से बन्ध नहीं मानता और अशुभ से भी (बन्ध) मानता है तो उसे स्व-पर का ज्ञान नहीं है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात!

क्योंकि बन्ध-मोक्ष अपने अशुद्ध तथा शुद्ध भावों से ही होता था,... बन्ध और मोक्ष। बन्ध अपने अशुद्धभाव से (होता है)। अशुद्ध अर्थात् शुभाशुभभाव। शुभ और अशुभ दोनों अशुद्ध हैं। महाव्रत और अव्रत के परिणाम, दोनों अशुद्ध हैं। आहाहा! तो अशुद्ध भाव से बन्ध होता है और शुद्ध भाव से मुक्ति होती है। उस शुभभाव से नहीं, शुद्ध भाव से। आहाहा! **अशुद्ध तथा शुद्ध भावों से ही होता था, शुभाशुभ भाव तो बन्ध के ही कारण थे...** चाहे तो महाव्रत के परिणाम, भगवान की विनय के परिणाम, भक्ति के, पूजा के, दान के, दया के, मन्दिर बनाना और पूजा, भक्ति कराना, वे सब भाव शुभभाव हैं। आते हैं, परन्तु है बन्ध का कारण। आहाहा! कठिन काम है। यह तो अपने लिये बात है। दुनिया माने, न माने और उसे कहीं सत् को संख्या की आवश्यकता नहीं है। अधिक माने तो सत् कहलाये और थोड़े माने तो सत् न कहलाये, ऐसा तो है नहीं। सत् तो सत् ही है। भले एक ही सत् को माने तो भी सत् ही है। आहाहा!

क्योंकि बन्ध-मोक्ष अपने अशुद्ध तथा शुद्ध भावों से ही होता था,... उसमें

तो आया था न? **रक्षा, तथा शरीर सम्बन्धी यत्नपूर्वक प्रवृत्ति करना इत्यादि परद्रव्य की क्रिया से और परद्रव्य के निमित्त से होनेवाले अपने शुभ भावों से अपनी मुक्ति मानता है...** यह अन्दर आया था। बन्ध-मोक्ष तो अपने परिणाम से होते हैं। **शुभाशुभ भाव तो बन्ध के ही कारण...** है। चाहे तो महाव्रत हो और चाहे तो समिति, गुप्ति आदि हो, व्यवहार। आहाहा! शरीर से आजीवन ब्रह्मचर्य पालना, वह भी शुभभाव है, वह शुद्ध नहीं। ब्रह्मचर्य तो ब्रह्म अर्थात् आनन्द अर्थात् प्रभु आत्मा आनन्दस्वरूप में चर्य अर्थात् रमना। अन्तर आनन्द में रमना, वह ब्रह्मचर्य है। आहाहा! शुभभाव भी अब्रह्म है, ब्रह्मचर्य नहीं। शुभभाव भी राग है, अनाचार है। आहाहा! स्वभाव का शुद्ध उपयोग, वही आचार है। आहाहा! नियमसार में कहा है—आचार, अनाचार। आहाहा!

शुभाशुभ भाव तो बन्ध के ही कारण थे और परद्रव्य तो निमित्तमात्र ही था,... परद्रव्य तो निमित्तमात्र है। उससे कोई बन्ध-मोक्ष होता है, (ऐसा नहीं है)। परद्रव्य की पर्याय और स्वद्रव्य की पर्याय के बीच तो अत्यन्त अभाव है। आहाहा! इस शरीर की पर्याय होती है और आत्मा की (होती है), इन दोनों के बीच तो अत्यन्त अभाव है। अत्यन्त अभाव में एक पर्याय दूसरी को करे, ऐसा कहाँ से आया? आहाहा! प्रत्येक क्षण में प्रत्येक द्रव्य की पर्याय और परद्रव्य के बीच में प्रतिक्षण अत्यन्त अभाव है। आहाहा! तो प्रतिक्षण में परद्रव्य की पर्याय परद्रव्य में कुछ करे, यह तीन काल में नहीं होता। आहाहा! **शुभाशुभभाव तो बन्ध के ही कारण थे और परद्रव्य तो निमित्तमात्र ही था, उसमें उसने विपर्ययरूप मान लिया।** परद्रव्य से शुभभाव हुआ, वह मोक्ष का कारण है; अशुभ, वह बन्धन का कारण है-ऐसा माना। आहाहा! तो **उसमें उसने विपर्ययरूप मान लिया।**

इस प्रकार जब तक जीव परद्रव्य से ही भला-बुरा मानकर... आहाहा! देव, गुरु और शास्त्र से मुझमें लाभ होगा। वे परद्रव्य हैं। परद्रव्य पर लक्ष्य जाएगा तो शुभभाव ही होगा। मोक्षपाहुड़ में तो कुन्दकुन्दाचार्य ने वहाँ तक कहा है, 'परदव्वादो दुग्गई' भगवान ऐसा कहते हैं कि, मेरे प्रति लक्ष्य जाएगा तो तुझे दुर्गति होगी। दुर्गति का अर्थ (यह कि) तेरी चैतन्य की गति नहीं होगी। चार गतियों में से गति मिलेगी, तो चारों गति तो दुर्गति है। आहाहा! मोक्षपाहुड़ की सोलहवीं गाथा। 'परदव्वादो दुग्गई' तीर्थंकर ऐसा कहते हैं। आहाहा! हम तुझसे परद्रव्य हैं। हमारे प्रति लक्ष्य जाएगा तो तुझे राग ही होगा,

चैतन्य की गति नहीं होगी। आहाहा! यह तो दिगम्बर सन्त दुनिया की परवाह किये बिना कहते हैं। दुनिया माने, न माने (स्वतन्त्र है)। आहाहा! 'परदव्वादो दुग्गई' 'सदव्वादो सुग्गई' ऐसा पाठ है। मोक्षपाहुड़, १६वीं गाथा। 'सदव्वा' स्वद्रव्य का आश्रय लेकर जो निर्मल सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र अपने आश्रय से होते हैं, वह मोक्ष का कारण है। जितना परद्रव्य के ऊपर लक्ष्य जाता है, वे सब शुभ-अशुभभाव दुर्गति है। दुर्गति अर्थात् तेरी चैतन्य की गति नहीं है। आहाहा! लोगों को कठिन पड़ता है। कुन्दकुन्दाचार्य ऐसा कहते हैं, हमें मानना और हमारे ऊपर तेरा लक्ष्य जाना, वह तेरी दुर्गति, राग है; तेरी चैतन्य की गति नहीं है। आहाहा! दिगम्बर सन्तों को जगत की कहाँ पड़ी है? वे तो सत्य को प्रसिद्ध करना, ऐसा विकल्प आया, हो गया। आहाहा! विकल्प के भी कर्ता नहीं और टीका के भी कर्ता नहीं। आहाहा!

इस प्रकार जब तक जीव परद्रव्य से ही भला बुरा मानकर राग-द्वेष करता है, तब तक वह सम्यग्दृष्टि नहीं है। परद्रव्य भला-बुरा (नहीं)। परद्रव्य तो ज्ञेय है। चाहे तो तीर्थंकर हो तो भी इस ज्ञायक का ज्ञेय है और सिर को काटनेवाला हो तो भी इस ज्ञायक का वह ज्ञेय है। वह द्वेषी है, वह शत्रु है और यह मित्र है, ऐसी कोई चीज़ ज्ञेय में नहीं है। ज्ञेय में तो ज्ञान करने का स्वभाव, प्रमेय स्वभाव है। अतः ज्ञान में प्रमेय का ज्ञान होता है। प्रमेय है, परन्तु प्रमेय में दो भाग करना कि यह मुझे दुःखदायक है, यह मुझे सुखदायक है, यह तो भ्रम, मिथ्यात्व है। आहाहा! समझ में आया? (भला-बुरा) **मानकर राग-द्वेष करता है, तब तक वह सम्यग्दृष्टि नहीं है।** विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २७८, श्लोक-१३७, गाथा-२०१, २०२, गुरुवार, आषाढ़ कृष्ण ११
दिनाङ्क १९-०७-१९७९

समयसार, २०० गाथा का अन्तिम पैरेग्राफ है। गाथा में क्या है ? कि धर्मी जीव उसे कहते हैं कि जो अपना आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप है, ऐसा अनुभव करता है और उसे जो रागादि आते हैं, उन्हें पर जानकर छोड़ देता है। यह गाथा है। समझ में आया ? धर्म ऐसी चीज़ है, अपूर्व चीज़ है। सम्यग्दृष्टि अपना पूर्ण आनन्दस्वरूप, शुद्ध अनन्त-अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु, उसके सन्मुख होकर; संयोग, निमित्त, राग और पर्याय से विमुख होकर अपनी दृष्टि सम्यग्दर्शन करता है, उसे 'अप्पाणं' आत्मा का ज्ञान हुआ। मैं तो आनन्द हूँ, मैं सुख से भरपूर भण्डार हूँ। मुझमें जो रागादि दिखते हैं, वह परवस्तु है, विपाक विकार है, वह दुःख है। ऐसा अपना स्वरूप जानकर राग को छोड़ देता है। समझ में आया ? सूक्ष्म बात है, भाई! बात तो बहुत आ गयी है।

अब यहाँ (कहते हैं), **जब तक अपने में चारित्रमोह सम्बन्धी रागादिक रहता है...** सम्यग्दर्शन हुआ। आत्मा का अनुभव (हुआ), शुद्ध चैतन्यस्वरूप पवित्र भगवान आत्मा का सम्यग्दर्शन में अनुभव हुआ परन्तु अनुभव होने पर भी सर्व राग से रहित नहीं हो जाता। यह कहते हैं। **जब तक अपने में चारित्रमोह सम्बन्धी रागादिक रहता है...** दर्शनमोह और अनन्तानुबन्धी का तो नाश किया है। अपने आनन्दस्वरूप के अनुभव में दर्शनमोह और अनन्तानुबन्धी का तो नाश होता है। दूसरा कोई उसका उपाय नहीं है। अपना आत्मा आनन्द, सच्चिदानन्द प्रभु, शुद्ध आनन्दकन्द है, उसका अनुसरकर अनुभव करना, वह अनुभव धर्म है, वह सम्यग्दर्शन है, वह सम्यग्ज्ञान है, वह सम्यक्चारित्र का अंश है। आनन्द में पूर्ण रमणता न हो, तब तक ज्ञानी को भी राग आता है। वह राग और द्वेषादि रहते हैं। रागादिक है न ? द्वेष का अंश है, विषयवासना है, रति-अरति उत्पन्न होती है।

जब तक... सम्यग्दृष्टि जीव रागादिक में। जब तक वह चारित्र का दोष होता है, तब तक धर्मी जीव उन रागादिक में **तथा रागादि की प्रेरणा...** निमित्त से कथन है। राग है तो राग का निमित्त है और उससे परद्रव्य की क्रिया—उपादान में होती है, उसमें राग की प्रेरणा निमित्त कहने में आयी है। शरीर की क्रिया आदि होती है, वह अपने से नहीं होती।

समझ में आया ? शरीर की, वाणी की क्रिया होती है, वह अपने से नहीं होती परन्तु रागादि की प्रेरणा अथवा निमित्त राग भी है तो निमित्त है और शरीर की क्रिया आदि उपादान स्वयं से होती है।

प्रेरणा से जो परद्रव्यसम्बन्धी शुभाशुभ क्रिया में प्रवृत्ति करता है... ऐसा निमित्त से कथन है। परद्रव्य की क्रिया की प्रवृत्ति आत्मा कर नहीं सकता परन्तु अज्ञानी लोग ऐसा देखते हैं कि देखो! यह ज्ञानी भी व्यापार-धन्धा करता है, विषय करता है, स्त्री के साथ विवाह करता है। तो कहते हैं कि उस प्रवृत्ति की पर्याय तो अज्ञानी का आत्मा भी नहीं कर सकता। परन्तु यहाँ उस प्रवृत्ति को देखकर लोग ऐसा कहते हैं कि देखो! प्रवृत्ति तो करता है। तो कहते हैं कि राग की प्रेरणा निमित्त है और जड़ की क्रिया स्वतन्त्र है, तो उसमें प्रवृत्ति करता है, ऐसा देखने में आता है। आहाहा! 'प्रेरणा' (शब्द) है न ?

शुभाशुभ क्रिया में प्रवृत्ति करता है... आहाहा! निश्चय से तो देह की हलन-चलन क्रिया होती है, उसे तो अज्ञानी भी नहीं कर सकता। परद्रव्य की पर्याय, क्योंकि परद्रव्य अपनी पर्यायरहित नहीं रहता। परद्रव्य अपनी पर्यायरूपी कार्य बिना द्रव्य होता नहीं तो परद्रव्य की पर्याय का कार्य परद्रव्य करता है तो आत्मा उसे करे, ऐसा कभी नहीं होता। आहाहा! बहुत सूक्ष्म, भाई! कर्म की पर्याय है, वह भी आत्मा नहीं करता और आत्मा में जो राग होता है, वह कर्म नहीं करता। अपनी कमजोरी से सम्यग्दृष्टि को राग-द्वेषादि होते हैं परन्तु उस समय प्रेरणा अर्थात् निमित्त से बाह्य की प्रवृत्ति भी दिखती है। धन्धा-पानी... आहाहा! उस शुभाशुभ क्रिया में प्रवृत्ति करता दिखायी देता है, ऐसा लेना। करता है, यह निमित्त से कथन है। कर नहीं सकता। परद्रव्य की क्रिया कर नहीं सकता परन्तु करता है, ऐसा लोगों को भासित होता है, इस अपेक्षा से कथन है।

उन प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में यह मानता है कि – यह कर्म का जोर है;... क्या कहते हैं ? कि अपनी पर्याय में विकार का बहुत जोर है तो वह कर्म का जोर निमित्त से कहने में आया है। कर्म अपनी पर्याय को करे और कर्म की पर्याय को आत्मा करे, ऐसा कभी नहीं होता। परन्तु यहाँ कर्म का जोर निमित्त से कहा है। वास्तव में तो अपनी कमजोरी का- निर्बलता का जोर है। समझ में आया ? आहाहा! अनुभव-सम्यग्दर्शन हुआ, आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु, अनन्त गुण-गम्भीर, पूर्णानन्द का नाथ प्रभु आत्मा, ऐसा अन्तर्मुख होकर

सम्यग्दर्शन हुआ तो भी उसे चारित्रमोह के राग-द्वेष तो आते हैं, परन्तु वह राग-द्वेष और (उनकी) प्रेरणा से बाह्य की क्रिया करता है, ऐसा दिखता है परन्तु उसका वह स्वामी नहीं होता। आहाहा! समझ में आया?

प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में यह मानता है कि – यह कर्म का जोर है;... कर्म का (जोर, यह) निमित्त से कथन है। अपनी कमजोरी का जोर है। सम्यग्दृष्टि को भी कमजोरी का (जोर है)। श्रेणिक राजा क्षायिक समकित और समय-समय में तीर्थंकरगोत्र बाँधते थे। श्रेणिक राजा। उनके पुत्र ने जेल में डाल दिया। पुत्र उसकी माता के पास गया (और कहा), 'माता! मैंने मेरे पिता को जेल में डाला है और मुझे राज करना है।' माता कहती है, 'अरे! बेटा! तेरे जन्म के समय पहले मुझे ऐसा स्वप्न आया था कि तेरे पिताजी का कलेजा खाना है। तेरा जन्म हुआ तो मैंने तुझे कचरे में डाल दिया था। तेरे पिता मेरे पास आये और पूछा, क्या हुआ? बालक कहाँ है? 'मैंने तो डाल दिया।' अरे! यह क्या किया? स्वप्न ऐसा आया था कि यह बालक है, वह आपका कलेजा खायेगा, ऐसा स्वप्न आया। जहाँ बालक को डाला था, वहाँ ले गये। जहाँ डाला था, वहाँ राजा गया। वहाँ कूकड़ा था, उसने चोंच मारी थी। बालक को पीड़ा हुई थी, इसलिए चिल्लाता था। उस समय श्रेणिक राजा चूसने लगा। अरे! तेरे पिता ने तो ऐसा किया है। अरे! माता! मेरी बहुत भूल हुई।

फिर जेल को तोड़ने गया तो राजा को ऐसा लगा... थे क्षायिक समकिती और समय-समय में तीर्थंकरगोत्र बाँधते हैं, तो भी ज्ञान की भूल, परद्रव्य की ऐसी हो गयी कि यह मुझे मारने आया है, तथापि वह ज्ञान अज्ञान नहीं है। समझ में आया? आहाहा! अरे! यह मुझे मारेगा तो! हीरा चूस लिया। मरण को प्राप्त हुए, तथापि वह राग का दोष है, चारित्रदोष है, उसमें समकित में दोष नहीं है और उस समय भी तीर्थंकरगोत्र बाँधते हैं, उसमें विघ्न नहीं है। आहाहा! समझ में आया? हीरा चूसा, देह छोड़ दी, अपघात किया। तो कहते हैं, नहीं। उन्होंने किया ही नहीं। वे तो राग-द्वेष हुए, उन्हें जानते थे कि, द्वेष है, वह मेरी चीज़ नहीं है और देह की क्रिया छूटने की थी तो छूटी। उसका छूटने का काल था। उसका स्वामी अपने को मानकर मैंने शरीर को छोड़ा, ऐसा धर्मी नहीं मानता। अतः चारित्र का दोष आता है, ऐसा कहते हैं और वह कर्म का जोर मानता है। अपनी निर्बलता का जोर है, उसे कर्म का (कहा), वह निमित्त से कथन है।

मेरी पर्याय में मेरी कमजोरी है। मैं द्रव्य हूँ, मैं तो शुद्ध चिदानन्दमूर्ति हूँ। उसमें तो कमजोरी या विरुद्धता या विपरीतता या अल्पता, अपनी पूर्ण चीज़ में तो है ही नहीं। आहाहा! ऐसी चीज़ की दृष्टि होने पर भी, अनुभव होने पर भी चारित्रदोष का राग आता है, वह अपनी कमजोरी से आता है। यहाँ कर्म का जोर कहा गया है। कर्म तो परद्रव्य है। परद्रव्य किसी परद्रव्य की पर्याय तीन काल में नहीं कर सकता। हैं? आहाहा!

कहते हैं कि **उससे निवृत्त होने में ही मेरा भला है।** सम्यग्दृष्टि तो ऐसा मानता है कि राग से निवृत्त होने में ही मेरा भला है। राग में प्रवृत्त होना, वह मेरा भला नहीं, वह तो दुःख है, जहर है। आहाहा! भले चौथे गुणस्थान में हो, उस सम्बन्धी आत्मा राग से भिन्न है और अपने आनन्द अनन्त स्वरूप के स्वभाव से अभिन्न है, ऐसा अनुभव हुआ तो भले वह राजपाट में पड़ा हो तो भी ४३ प्रकृतियों का बन्ध तो होता ही नहीं। क्या कहा, समझ में आया? ४३ प्रकृति है, सम्यग्दृष्टि हुआ, राजपाट में पड़ा हो, छियानवें हजार स्त्रियाँ हों और युद्ध में भी कदाचित् चढ़ गया हो तो भी आत्मा के अनुभव में मैं आनन्द हूँ, मैं यह नहीं, यह नहीं, (ऐसा अनुभव वर्तता है)। उसका कारण ४३ प्रकृति, समकिती युद्ध में खड़ा हो तो भी नहीं बँधती। आहाहा! और मिथ्यादृष्टि साधु हुआ हो, पंच महाव्रत पालन करता हो परन्तु यह राग मेरा स्वभाव है, राग से मुझे लाभ होगा—ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! छह खण्ड के राज में रहता हो, आत्मा का ज्ञान करके रागादि छोड़ने की भावना में पड़ा है तो वह मोक्षमार्गी है। और दिगम्बर सन्त हुआ, अट्ठाईस मूलगुण पालन करता है, पंच महाव्रत पालन करता है, परन्तु राग के कण को अपना मानकर लाभ मानता है तो, वह संसारमार्ग है। आहाहा! ऐसा अन्तर है, प्रभु!

यहाँ कहते हैं **उससे निवृत्त होने में ही मेरा भला है।** समकिती ऐसा मानता है। **वह उन्हें रोगवत् जानता है।** राग, वासना वह तो रोग आया। आहाहा! जैसे रोगी रोग का उपाय करता है तो भी रोग के उपाय और रोग को भला नहीं जानता, इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि को राग आता है और राग का उपचार भी करता है, शरीरादिक से और विषयादि से, परन्तु उन्हें भला नहीं मानता, अपना कर्तव्य नहीं मानता। मैं तो ज्ञाता-दृष्टा हूँ। मैं तो मेरी भूमिका में रहनेवाला ज्ञाता-दृष्टा हूँ। आहाहा! समझ में आया? **उन्हें रोगवत् जानता है। पीड़ा सहन नहीं होती...** आहाहा! अनुभवी सम्यग्दृष्टि को भी राग और द्वेष आये तो उसे सहन

नहीं होता तो वह क्रिया, चेष्टा में आ जाता है। है ?

पीड़ा सहन नहीं होती, इसलिए रोग का इलाज करने में प्रवृत्त होता है... आहाहा! **तथापि उसके प्रति उसका राग नहीं कहा जा सकता;...** राग का प्रेम ही नहीं है, छूट गया है। पूरा अमृत का पिण्ड प्रभु, अमृत के सागर का जहाँ स्वाद अन्दर सम्यग्दर्शन में आया, वहाँ राग को रोग समान जानकर उसका उपचार करता है, वह भी रोग का उपचार है, मेरी चीज़ नहीं। आहाहा! यहाँ तो मूल चीज़ की बात है, भाई! और सम्यक् आत्मा के दर्शन बिना व्रत, तप, भक्ति, पूजा लाख-करोड़ करे तो भी वह धर्म नहीं है, संसार है। शुभभाव है, संसार है। आहाहा! और छियानवें हजार स्त्रियों के साथ विवाह करे, तो भी समकिती है तो मोक्षमार्ग में है। आहाहा! वह राग को रोग समान मानता है, राग को जहर जानता है। यह तो जहर का प्याला है। जैसे काला नाग देखे, काला नाग, वैसे धर्मी राग को काले नाग समान जानता है। आहाहा! समझ में आया ?

क्या कहते हैं ? **क्योंकि जिसे वह रोग मानता है, उसके प्रति राग कैसा ? वह उसे मिटाने का ही उपाय करता है...** राग को मिटाने का ही सम्यग्दृष्टि उपाय करता है **और उसका मिटना भी अपने ही ज्ञानपरिणामरूप परिणमन से मानता है।** आहाहा! उस राग का नाश करना भी किस प्रकार होता है ? कोई क्रिया करूँ, दया, दान, व्रत से राग नाश होता है, ऐसा वह नहीं मानता। मेरा आनन्दस्वरूप प्रभु ज्ञानस्वरूप ज्ञायक आत्मा के शुद्ध परिणमन से राग मिटता है। समझ में आया ? है ? आहाहा! उसे मिटाने का उपाय, उसका मिटना भी अपने ज्ञानपरिणाम; ज्ञान अर्थात् आत्मा, शुद्ध भगवान आत्मा का परिणमन। आहाहा! वीतरागी परिणमन से राग को मिटाना चाहता है। राग से राग को मिटाना, ऐसा नहीं है। राग को राग से मिटाना, ऐसा नहीं है, कि भई! अशुभराग है तो मैं शुभराग दया, दान करूँ तो राग मिटे, ऐसा है नहीं। आहाहा! वह अशुभराग और शुभराग, धर्मी को अपने वीतरागमूर्ति स्वरूप का अनुभव होने से राग का मिटाना अपनी शुद्ध परिणति से मिटाना चाहता है। समझ में आया ? आहाहा! ऐसा मार्ग है। यह तो पण्डितजी ने लिखा है, जयचन्दजी पण्डितजी ने स्पष्टीकरण किया है कि, यह कहते हैं (कि) ज्ञानी को आत्मा का भान है और राग को छोड़ देता है, उसका अर्थ क्या है ? गाथा आयी न ? उसका यह अर्थ है। आहाहा!

पहली चीज भी यह सम्यग्दर्शन पाना, वह क्या चीज़ है? आहाहा! यह कोई व्रत, तप, यात्रा, दान, दया और लाखों-करोड़ों मन्दिर बनाना, उससे सम्यग्दर्शन होता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! भगवान आत्मा पूर्णानन्द से भरपूर, अतीन्द्रिय अनन्त, अतीन्द्रिय अनन्त गुण का पिण्ड भण्डार है और वह भी पूर्णानन्द पूर्ण है। आहाहा! उस ओर की दृष्टि झुकने से पूर्ण आत्मा को ही अपना मानता है, एक समय की पर्याय को भी अपने में नहीं मानता, वह तो हेय है। आहाहा! राग तो हेय है परन्तु जो पर्याय द्रव्य का स्वीकार करती है, वह पर्याय भी हेय है। पर्याय के ऊपर लक्ष्य जाए तो हेय है। वह पर्याय द्रव्य का लक्ष्य करती है तो अनुभव होता है, तो पर्याय द्रव्य को मानती है। मैं तो शुद्ध परिपूर्ण आनन्द हूँ। सूक्ष्म बात है, भगवान! आहाहा! धर्म कोई अलौकिक वीतराग (मार्ग है)।

वीतराग परमात्मा माने, वह अन्यत्र कहीं है नहीं। वीतराग के अतिरिक्त किसी जगह इस धर्म की चीज़ की गन्ध नहीं है। समझ में आया? आहाहा! परन्तु उसके सम्प्रदाय में समझना कठिन है। आहाहा! और इसके अतिरिक्त जन्म-मरण के अन्त नहीं आयेगा। चौरासी के अवतार, एक-एक योनि में अनन्त अवतार किये। मरण भी अकस्मात् हो जाता है। आहाहा! ख्याल भी नहीं होता कि यह क्या हुआ? निरोग बैठा हो और फू... ऐसा हो जाए, शरीर छूट जाए! निरोग बैठा हो, कोई कुछ हो नहीं, रोग भी न हो। मलकापुरवाला एक भाई कहता था। क्या स्वरूपचन्द न? मलकापुर का स्वरूपचन्द है, होशियार है। छोटी उम्र का है, अभी तो विवाह हुआ। कपड़े का बड़ा व्यापार करता है। दस-दस हजार रुपये का कपड़ा दुकान में रखता है। अभी भी दुकान है। अभी विवाह किया है। पूरा मोक्षमार्गप्रकाशक कण्ठस्थ है। मोक्षमार्गप्रकाशक कण्ठस्थ है। वह कहता था, महाराज! हम एक बार बैठे थे, मेरा मित्र बैठा था। २८ वर्ष की उम्र का था। कुछ नख में रोग नहीं। बात करते थे। बात करते-करते फू... हो गया, मैंने देखा तो मर गया, देह छूट गयी। फू... इतना हुआ, बस! आहाहा! खून अटक गया। फू... इतना हुआ। ऐसे देखूँ तो देह छूट गयी। अट्ठाईस वर्ष की उम्र। स्वरूपचन्द है, मलकापुर। लड़का बहुत होशियार है। मोक्षमार्गप्रकाशक के बहुत प्रश्न करे। वाँचन बहुत है, पहले से वाँचन है, अब तो विवाह हो गया। वह कहता था कि मेरा मित्र था, बातें करते थे। कोई रोग नहीं। ऐसे जहाँ देखा, फू... हुआ। जहाँ देखा,

वहाँ मर गया। यह देह की स्थिति! आहाहा! देह कब, किस स्थिति में छूटेगा, इसके समाचार कहीं पहले आयेंगे? कि लो, एक घण्टे बाद तुम्हारी मृत्यु होगी। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि ज्ञानी को राग आता है और राग से देह की क्रिया भी कोई होती है, वह राग से नहीं होती। यहाँ तो राग की प्रेरणा, निमित्त से बात की है। देह की क्रिया का भी स्वामी नहीं और राग का भी स्वामी नहीं है। वह तो स्वस्वरूप का स्वामी है। आत्मा में ४७ शक्तियाँ हैं। अनन्त शक्तियाँ हैं, उनमें ४७ के नाम दिये हैं, समयसार। (उसमें) ४७वीं शक्ति ऐसी ली है, स्वस्वामीसम्बन्धरूप शक्ति। धर्मी है, वह स्वस्वामीसम्बन्धरूप शक्ति का अर्थ क्या? मैं तो द्रव्य शुद्ध हूँ, गुण शुद्ध हूँ, पर्याय शुद्ध हूँ—वह मेरा स्व है, उसका मैं स्वामी हूँ, उसके साथ मेरा सम्बन्ध है। राग का स्वामी, राग के साथ मुझे कोई सम्बन्ध नहीं। आहाहा! ४७ शक्तियाँ हैं न (उसमें) अन्तिम स्वस्वामीसम्बन्ध शक्ति। अपने में ही स्वस्वामी स्वभाव पड़ा है तो द्रव्य की जहाँ दृष्टि, अनुभव हुआ तो धर्मी अपने शुद्ध द्रव्य, शुद्ध गुण और शुद्ध पर्याय, ज्ञान में इतना ही मैं आत्मा हूँ, ऐसा मानता है। आहाहा! दृष्टि में द्रव्य त्रिकाली है, परन्तु दृष्टि के साथ जहाँ ज्ञान हुआ, वह शुद्ध द्रव्य, गुण और पर्याय, वे तीन मेरे स्व हैं और मैं उनका स्वामी हूँ (ऐसा मानता है)। आहाहा! समझ में आया?

यह कहते हैं कि, रागादि आते हैं तो उनका नाश करने का उपाय क्या मानता है? कि आत्मा शुद्ध चैतन्य है, उसका परिणमन, वीतरागी परिणमन हो, उससे राग मिटाना चाहता है। राग की क्रिया करते-करते राग मिटेगा, ऐसा नहीं मानता। आहाहा! मार्ग बहुत कठिन। **अतः सम्यग्दृष्टि के राग नहीं है।** इस कारण सम्यग्दृष्टि को राग नहीं, ऐसा कहने में आया है। **इस प्रकार यहाँ परमार्थ अध्यात्मदृष्टि से व्याख्यान जानना चाहिए।** है? यहाँ अध्यात्मदृष्टि की व्याख्या है। आहाहा! चरणानुयोग में व्यवहार के कथन हैं, वे सब जाननेयोग्य हैं। यह अध्यात्मदृष्टि से व्याख्यान हैं। आहाहा!

यहाँ मिथ्यात्व सहित राग को ही राग कहा है,... राग मेरी चीज़ है और शुभराग से मुझे लाभ होगा, ऐसे मिथ्यादृष्टि के राग को ही राग कहने में आया है। सम्यग्दृष्टि को राग का राग कहने में नहीं आया है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म। यह तो बाह्य की प्रवृत्ति करे, थोड़ी क्रिया (करे), भगवान के दर्शन करे, व्रत करे और अपवास करे, (इसलिए मानो)

हो गया धर्म। धूल में भी धर्म नहीं। इससे तो अनन्तगुणी (क्रियाएँ की हैं)। नववें ग्रैवेयक में गया तो इतनी क्रिया की है कि इतनी तो अभी है नहीं। ऐसी शुक्ललेश्या की है कि नौवे ग्रैवेयक गया, परन्तु मिथ्यादृष्टि राग से धर्म मानता था और देह की क्रिया मैं कर सकता हूँ, ऐसा मानता था। वह तो देह जड़-मिट्टी है। उसका हिलना-चलना, बोलना वह क्रिया तो जड़ की जड़ से होती है। आत्मा की प्रेरणा से बिल्कुल नहीं। आहाहा! यह मानना...

यहाँ मिथ्यात्व सहित राग को ही राग कहा है, मिथ्यात्व रहित चारित्रमोह-सम्बन्धी परिणाम को राग नहीं कहा;... ठीक! **इसलिए सम्यग्दृष्टि के ज्ञानवैराग्यशक्ति अवश्य ही होती है।** अवश्य होती ही है। आहाहा! धर्म की पहली सीढ़ी, सम्यग्दर्शन धर्म की पहली सीढ़ी, सम्यग्दर्शन... आहाहा! उसमें सम्यग्दृष्टि को ज्ञान-वैराग्य शक्ति अवश्य है। अपने स्वरूप का ज्ञान और पुण्य-पाप के भाव से वैराग्य, दोनों अवश्य है। वैराग्य की व्याख्या—स्त्री, कुटुम्ब छोड़ दिया, धन्धा छोड़ दिया, वह वैराग्य नहीं। वैराग्य तो उसे कहते हैं, प्रभु! पुण्य-पाप अधिकार में गाथा आयी है कि शुभ-अशुभभाव से विरक्त होना। रक्त है, तो विरक्त होना और स्वरूप की दृष्टि में अस्तित्व का ज्ञान होना, वह ज्ञान और वैराग्य दो शक्तियाँ समकिती को होती है। आहाहा! समझ में आया? वैराग्य अर्थात् यह स्त्री, कुटुम्ब छोड़ दिया, शरीर से आजीवन ब्रह्मचर्य ले लिया तो वह वैराग्य है, वह वैराग्य नहीं।

वैराग्य तो परमात्मा उसे कहते हैं, पुण्य-पाप अधिकार में आ गया है कि शुभ-अशुभभाव से विरक्त। शुभ-अशुभभाव से विरक्त और स्वभाव में रक्त, उसे वैराग्य और उसे ज्ञान कहा जाता है। पण्डितजी! आहाहा! ऐसी बात है, प्रभु!

मुमुक्षु : पहले बाहर से उदासीन हो, फिर अन्दर से उदासीन हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : अन्दर से उदासीन है, वह उदासीन है। आहाहा! यह माता नहाती हो और एक खाट आड़े रखी हो। पहले ऐसा था न? अब माता वस्त्र बिना खड़ी हो गयी हो और उसका पुत्र घर में आ गया, नजर करता होगा? माता नग्न खड़ी हो गयी अन्दर। उसे खबर नहीं कि बालक आयेगा। वहाँ नजर करता होगा? अरे! माता, जननी, जिसके गर्भ में सवा नौ महीने (रहा)। उस जननी पर नजर कैसी? हैं? आहाहा! उसी प्रकार अपने स्वभाव की रुचि और दृष्टि से; रागादि आते हैं, उसमें वे मेरे हैं, ऐसी नजर कैसी? आहाहा!

ऐसा मार्ग है, भाई! कठिन लगे परन्तु मार्ग तो यह है। आहाहा! दुनिया को समझाना आवे, न आवे, इसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

ग्यारह अंग का ज्ञान भी अनन्त बार हुआ, करोड़ों श्लोक कण्ठस्थ! करोड़ों नहीं, अरबों, उससे क्या? उस ज्ञायकस्वभाव को स्पर्श करके ज्ञान होना, उसका नाम ज्ञान और उसकी प्रतीति (होना), ज्ञान में जो पूर्ण प्रभु भासित हुआ, उसे ज्ञान में ज्ञेय बनाकर प्रतीति हुई, वह सम्यग्दर्शन। आहाहा! और उस स्वरूप में रमणता, वह आनन्द में रमणता, रमना, वह चारित्र है। कोई पंच महाव्रत के परिणाम आदि चारित्र नहीं। आहाहा! ऐसी बात है। वीतराग परमात्मा त्रिलोकनाथ की यह दिव्यध्वनि है। आहाहा! दुनिया को बैठे, न बैठे, स्वतन्त्र है। मार्ग तो ऐसा है। आहाहा!

कहते हैं कि समकिती को मिथ्यात्व का राग नहीं होता। **ज्ञानवैराग्यशक्ति अवश्य ही होती है। सम्यक्दृष्टि के मिथ्यात्व सहित राग नहीं होता और जिसके मिथ्यात्व सहित राग हो, वह सम्यक्दृष्टि नहीं है।** आहाहा! आहाहा! चाहे तो शुभराग पंच महाव्रत का हो परन्तु यदि राग का प्रेम और रुचि हो तो वह मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! मिथ्यादृष्टि दिगम्बर जैन साधु होकर नौवे ग्रैवेयक गया। अपने आत्मा के आनन्द का स्वाद नहीं लेकर क्रियाकाण्ड में तल्लीन (हुआ), इतनी शुक्ललेश्या, शरीर के खण्ड-खण्ड करे तो भी क्रोध न करे, इतनी मिथ्यात्वभाव में क्षमा (पालन की) परन्तु वह कोई धर्म नहीं है। आहाहा! शुक्ललेश्या से नौवें ग्रैवेयक अनन्त बार गया, उसके लिये आहार-पानी कुछ भी बनाया हो, ख्याल आवे तो ले नहीं। उसके लिये चौका बनाया हो और ले, यह तो बात ही नहीं है। समझ में आया? परन्तु यह तो चौका बनाया हो, ख्याल आ गया कि यह मेरे लिये बनाया होगा? तो प्राण जाए तो भी, उसके लिये बनाया है, ऐसा ख्याल आया, शंका पड़े तो ले नहीं। समझ में आया? ऐसे नौवें ग्रैवेयक जब दिगम्बर साधु होकर गया, परन्तु आत्मज्ञान क्या चीज़ है, उस ओर की दृष्टि नहीं की। क्रियाकाण्ड की सावधानी वहाँ जिन्दगी निकाली। आहाहा!

अरे! कोई है शरण? चौरासी लाख अवतार, राग दया, दान में कोई शरण है? शरण तो प्रभु अन्दर अनन्त आनन्द, पूर्णानन्द का नाथ प्रभु शरण है। वही मांगलिक है, वही उत्तम है और वही शरण है। अरिहन्त को मांगलिक तो व्यवहार से कहने में आया है। आहाहा!

अरिहन्ता शरणं, मांगलिक में आता है न? वह तो व्यवहार है। अपना आत्मा विकल्प अर्थात् राग से रहित निर्विकल्प प्रभु आत्मा, वही अपने को शरण है। उसका आश्रय करना, वही धर्म है और वही शरण है। बाकी धूलधाणी। करोड़ों रुपये हो, अरबों रुपये हो, मिट्टी-धूल है। आहा! उस धूल अजीव को अपनी माने, वह मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! अजीव को जीव माने, वह तो अजीव है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, सम्यग्दृष्टि को... आहाहा! मिथ्यात्वसहित राग नहीं होता **और जिसके मिथ्यात्व सहित राग हो वह सम्यक्दृष्टि नहीं है। ऐसे (मिथ्यादृष्टि और सम्यक्दृष्टि के भावों के) अन्तर को सम्यग्दृष्टि ही जानता है।** आहाहा! अज्ञानी तो बाहर की प्रवृत्ति देखे, व्रत, तप और नग्नपना। आहाहा! सम्यग्दृष्टि को खबर पड़ती है, उसे खबर है कि यह क्रिया, प्रवृत्ति करता है परन्तु अन्दर राग को अपना मानता है, आत्मा का ज्ञान नहीं है। समझ में आया? उस **अन्तर को सम्यग्दृष्टि ही जानता है।** है न? **(मिथ्यादृष्टि और सम्यक्दृष्टि के भावों के) अन्तर को...** तफावत अर्थात् अन्तर, दो के बीच का अन्तर। क्या अन्तर है? मिथ्यादृष्टि का राग का प्रेम, सम्यग्दृष्टि का आत्मा का प्रेम, उसका अन्तर सम्यग्दृष्टि जानता है। आहाहा! ऐसी बात है। सम्प्रदाय को कठिन लगता है। आहाहा!

पहले तो मिथ्यादृष्टि का अध्यात्मशास्त्र में प्रवेश ही नहीं है... है? अध्यात्मशास्त्र, बापू! यह तो तीन लोक के नाथ तीर्थंकरदेव की दिव्यध्वनि है। 'ॐकार ध्वनि सुनि अर्थ गणधर विचारे' 'ॐकार ध्वनि सुनि' महाविदेह में भगवान विराजते हैं, वहाँ अभी ॐकार ध्वनि खिरती है। 'ॐकार ध्वनि सुनि अर्थ गणधर विचारे, रचि आगम उपदेशे भविक जीव संशय निवारे।' यह बनारसीदास (का लिखा हुआ है)। बनारसी विलास है, उसमें यह लिखा है। 'ॐकार ध्वनि सुनि अर्थ गणधर विचारे, रचि आगम उपदेशे भविक जीव संशय निवारे।' योग्य प्राणी है वे मिथ्यात्व का नाश कर सकते हैं। अज्ञानी ने तो अनन्त बार सुना, विदेहक्षेत्र में अनन्त बार जन्म हुआ, समवसरण में अनन्त बार गया और हीरा के थाल, मणिरत्न के दीपक और कल्पवृक्ष के फूल से समवसरण में भगवान की अनन्त बार आरती उतारी। (उससे) क्या हुआ? वह तो राग है, वह तो विकल्प है। आहाहा! सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि का अन्तर—तफावत क्या है, वह सम्यग्दृष्टि

जानता है। आहाहा! अज्ञानी को तो खबर नहीं कि धर्म क्या है, अधर्म क्या है? सूक्ष्म बात है, भाई!

पहले तो मिथ्यादृष्टि का अध्यात्मशास्त्र में प्रवेश ही नहीं है और यदि वह प्रवेश करता है तो विपरीत समझता है–व्यवहार को सर्वथा छोड़कर भ्रष्ट होता है.. अध्यात्मशास्त्र पढ़े, (उसमें) व्यवहार को हेय कहा है। तो अपने निश्चय के भान बिना व्यवहार को छोड़कर अशुभ में चला जाता है। समझ में आया? व्यवहार को छोड़कर, सर्वथा छोड़कर, हों! **भ्रष्ट होता है..** अर्थात् अशुभ भावों में प्रवर्तता है। आहाहा! **अथवा निश्चय को भलीभाँति जाने बिना...** अध्यात्म में अपना स्वरूप क्या कहा है? अपना आनन्दस्वरूप राग से भिन्न निर्विकल्प, आहाहा! उसे **निश्चय को भलीभाँति जाने बिना...** भलीभाँति अर्थात्? जैसा पूर्णानन्द स्वरूप है, ऐसा अनुभव हुए बिना, अनुभव करके जाने बिना। आहाहा! **व्यवहार से ही मोक्ष मानता है,...** वह तो व्यवहार से मोक्ष मानता है। है न? अन्तर्दृष्टि क्या वस्तु है, उसे तो जानते नहीं और अपने तो व्रत करना, तप करना, अपवास करना, भगवान की भक्ति करना, हमेशा दर्शन (करना), देव-गुरु-शास्त्र के दर्शन और दान आदि आता है न? संयम, छह आवश्यक आते हैं न? वे छह आवश्यक तो शुभभाव है। वे तो सम्यग्दृष्टि को होते हैं परन्तु जानता है कि यह तो दुःखरूप है। आहाहा! मेरी चीज़ को लाभदायक नहीं। अशुभ से बचने को आते हैं। समझ में आया? आहाहा!

व्यवहार से ही मोक्ष मानता है,... देखो! दया पालना, व्रत करना, भक्ति करना, पूजा करना, रथयात्रा निकालना, गजरथ निकालना, उसमें पाँच-दस लाख रुपये खर्च करना—उसमें क्या है? वह राग की मन्दता हो तो पुण्य है। पुण्य को अपना मानता है तो मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! ऐसा कठिन मार्ग है। **परमार्थ तत्त्व में मूढ़ रहता है।** परमार्थ तत्त्व भगवान ज्ञायकस्वरूप चिदानन्द प्रभु, उस परमार्थ तत्त्व से तो अज्ञानी मूढ़ रहता है। अध्यात्म शास्त्र पढ़कर भी (मूढ़ रहता है)। आहाहा!

यदि कोई विरल जीव... विरल जीव **यथार्थ स्याद्वादन्याय से सत्यार्थ को समझ ले...** विरल जीव स्वरूप की दृष्टि करके; राग आता है, वह व्यवहार है, दुःखरूप है; निश्चय तो मेरी आनन्द की अनुभव दशा, वह निश्चय है। ऐसा कोई विरल जीव...

आहाहा! **स्याद्वादन्याय से सत्यार्थ को समझ ले...** कि निश्चय है, जब तक पूर्णता नहीं, तब तक व्यवहार भी आता है, यह स्याद्वाद है। आता है तो भी वह धर्म नहीं है। समझ में आया? निश्चयस्वरूप राग से, विकल्प की क्रिया से अत्यन्त भिन्न है। ऐसा भान होकर राग आता है परन्तु वह राग अपना स्वरूप नहीं है, अपने को लाभदायक नहीं है, ऐसा ज्ञानी मानता है। आहाहा! है? **स्याद्वादन्याय से...** ऐसा। निश्चयपूर्वक व्यवहार होता है परन्तु वह व्यवहार बन्ध का कारण है, ऐसा न्याय जानकर उसे होता है। आहाहा! व्यवहार आता है तो उससे धर्म का लाभ होगा, ऐसा नहीं मानता।

उसे अवश्य ही सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है... कोई विरल जीव यथार्थ स्वरूप की दृष्टि करके, राग को व्यवहार मानकर हेय मानता है और स्वरूप की दृष्टि बिना अकेले व्यवहार को छोड़कर अशुभ में चला जाए, वह भी अज्ञानी है और व्यवहार से मुझे धर्म होगा, निश्चय की दृष्टि बिना, वह भी मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! समझ में आया?

वह अवश्य सम्यग्दृष्टि हो जाता है। यह २०० गाथा का भावार्थ (हुआ)। २०० गाथा का सार यह है।

गाथा - २०१-२०२

कथं रागी न भवति सम्यग्दृष्टिरिति चेत् -

परमाणु-मित्तयं पि हु रागादीणं तु विज्जदे जस्स।
ण वि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागम-धरो वि।।२०१।।

अप्पाण-मयाणंतो अणप्पयं चावि सो अयाणंतो।
कह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणंतो।।२०२।।

परमाणुमात्रमपि खलु रागादीनां तु विद्यते यस्य।
नापि स जानात्यात्मानं तु सर्वागमधरोऽपि।।२०१।।

आत्मान-मजानन् अनात्मानं चापि सोऽजानन्।
कथं भवति सम्यग्दृष्टिर्जीवाजीवावजानन्।।२०२।।

यस्य रागादीनामज्ञानमयानां भावानां लेशस्यापि सद्भावोऽस्ति स श्रुतकेवलिकल्पोऽपि ज्ञानमयस्य भावस्याभावादात्मानं न जानाति। यस्त्वात्मानं न जानाति सोऽनात्मानमपि न जानाति, स्वरूपपररूप- सत्तासत्ताभ्यामेकस्य वस्तुनो निश्चीयमानत्वात्। ततो य आत्मानात्मानौ न जानाति स जीवाजीवौ न जानाति। यस्तु जीवाजीवौ न जानाति स सम्यग्दृष्टिरेव न भवति।

ततो रागी ज्ञानाभावान्न भवति सम्यग्दृष्टिः।।२०१-२०२।।

अब पूछता है कि रागी (जीव) सम्यग्दृष्टि क्यों नहीं होता? उसका उत्तर कहते हैं:-

अणुमात्र भी रागादिका, सद्भाव है जिस जीव को।
वो सर्व आगमधर भले ही, जानता नहिं आत्म को।।२०१।।

नहिं जानता जहँ आत्म को, अनआत्म भी नहिं जानता।
वो क्योंहि होय सुदृष्टि जो, जीव अजीव को नहिं जानता?।।२०२।।

गाथार्थ : [खलु] वास्तव में [यस्य] जिस जीव के [रागदीनां तु परमाणुमात्रम् अपि] परमाणुमात्र-लेशमात्र-भी रागादिक [विद्यते] वर्तता है [सः] वह जीव

[सर्वागमधरः अपि] भले ही सर्वागम का धारी (समस्त आगमों को पढ़ा हुआ) हो तथापि [आत्मानं तु] आत्मा को [न अपि जानाति] नहीं जानता; [च] और [आत्मानम्] आत्मा को [अजानन्] न जानता हुआ [सः] वह [अनात्मानं अपि] अनात्मा को (पर को) भी [अजानन्] नहीं जानता; [जीवाजीवौ] इस प्रकार जो जीव और अजीव को [अजानन्] नहीं जानता वह [सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि [कथं भवति] कैसे हो सकता है?

टीका : जिसके रागादि अज्ञानमय भावों के लेशमात्र का भी सद्भाव है वह भले ही श्रुतकेवली जैसा हो तथापि वह ज्ञानमय भावों के अभाव के कारण आत्मा को नहीं जानता; और जो आत्मा को नहीं जानता वह अनात्मा को भी नहीं जानता क्योंकि स्वरूप से सत्ता और पररूप से असत्ता–इन दोनों के द्वारा एक वस्तु का निश्चय होता है; (जिसे अनात्मा का–राग का–निश्चय हुआ हो उसे अनात्मा और आत्मा–दोनों का निश्चय होना चाहिए।) इस प्रकार जो आत्मा और अनात्मा को नहीं जानता वह जीव और अजीव को नहीं जानता; तथा जो जीव और अजीव को नहीं जानता वह सम्यग्दृष्टि ही नहीं है। इसलिए रागी (जीव) ज्ञान के अभाव के कारण सम्यग्दृष्टि नहीं होता।

भावार्थ : यहाँ 'राग' शब्द से अज्ञानमय रागद्वेषमोह कहे गये हैं। और 'अज्ञानमय' कहने से मिथ्यात्व–अनन्तानुबन्धी से हुए रागादिक समझना चाहिए, मिथ्यात्व के बिना चारित्र–मोह के उदय का राग नहीं लेना चाहिए; क्यों अविरत–सम्यग्दृष्टि इत्यादि को चारित्रमोह के उदय सम्बन्धी जो राग है सो ज्ञानसहित है; सम्यग्दृष्टि उस राग को कर्मोदय से उत्पन्न हुआ रोग जानता है और उसे मिटाना ही चाहता है; उसे उस राग के प्रित राग नहीं है। और सम्यग्दृष्टि के राग का लेशमात्र सद्भाव नहीं है ऐसा कहा है सो इसका कारण इस प्रकार है–सम्यग्दृष्टि के अशुभराग तो अत्यन्त गौण है और जो शुभराग होता है सो वह उसे किंचित्मात्र भी भला (अच्छा) नहीं समझता–उसके प्रति लेशमात्र राग नहीं करता, और निश्चय से तो उसके राग का स्वामित्व ही नहीं है। इसलिए उसके लेशमात्र राग नहीं है।

यदि कोई जीव राग को भला जानकर उसके प्रति लेशमात्र राग करे तो–वह भले ही सर्व शास्त्रों को पढ़ चुका हो, मुनि हो, व्यवहारचारित्र का पालन करता हो तथापि–यह समझना चाहिए कि उसने अपने आत्मा के परमार्थस्वरूप को नहीं जाना, कर्मोदयजनित राग को ही अच्छा मान रक्खा है, तथा उसी से अपना मोक्ष माना है। इस प्रकार अपने और पर के परमार्थस्वरूप को न जानने से जीव–अजीव के परमार्थ स्वरूप को नहीं

जानता। और जहाँ जीव तथा अजीव-इन दो पदार्थों को ही नहीं जानता वहा सम्यग्दृष्टि कैसा? तात्पर्य यह है कि रागी जीव सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता।

गाथा - २०१-२०२ पर प्रवचन

अब पूछता है कि रागी (जीव) सम्यग्दृष्टि क्यों नहीं होता? अन्दर अमृतचन्द्राचार्य का प्रश्न है। **'कथं रागी न भवति सम्यग्दृष्टिरिति'** ऊपर संस्कृत है। संस्कृत है। महाराज! सम्यग्दृष्टि रागी नहीं? यह कैसे है? आहाहा!

परमाणु-मित्तयं पि हु रागादीणं तु विज्जदे जस्स।
ण वि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागम-धरो वि।।२०१।।

अप्पाण-मयाणंतो अणप्पयं चावि सो अयाणंतो।
कह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणंतो।।२०२।।

अणुमात्र भी रागादिका, सद्भाव है जिस जीव को।
वो सर्व आगमधर भले ही, जानता नहिं आत्म को।।२०१।।

नहिं जानता जहँ आत्म को, अनआत्म भी नहिं जानता।
वो क्योंहि होय सुदृष्टि जो, जीव अजीव को नहिं जानता?।।२०२।।

२०१ है न? और २०२, दो गाथाएँ हैं। **टीका :- जिसके रागादि अज्ञानमय भावों के लेशमात्र का भी सद्भाव है...** आहाहा! सद्भाव का अर्थ राग का अंश है, उससे लाभ होगा, ऐसा। **अज्ञानमय भावों के लेशमात्र का...** कहा न? वैसे तो ज्ञानी को राग होता है, दसवें गुणस्थान तक उसे राग होता है। लोभ का राग दसवें में है, छह कर्म भी बँधते हैं। दसवें गुणस्थान में छह कर्म बँधते हैं। सम्यग्दृष्टि को भी सात-आठ कर्म बँधते हैं। राग है परन्तु अज्ञानमय राग नहीं है। आहाहा! गुण-गुणी के भेदरूप जो विकल्प, राग होता है, उस राग का भी जिसे प्रेम है, आहाहा! और उस राग की भी जिसे रुचि है और राग में जिसे रस है... आहाहा! **वह भले ही श्रुतकेवली जैसा हो...** आहाहा! 'सर्व आगम धर्म' ऐसा शब्द लिया है न? सर्व आगम कण्ठस्थ किये हों, अरबों श्लोकों का ज्ञान हुआ हो, उससे क्या?

जिसके रागादि अज्ञानमय भावों के लेशमात्र का भी सद्भाव है... अर्थात् राग के अंश को अपना मानता हो, वह भले सब आगम पढ़ा हो, आहाहा! **श्रुतकेवली जैसा हो...** श्रुतकेवली तो नहीं परन्तु श्रुतकेवली जैसा। सच्चे श्रुतकेवली तो सम्यग्दृष्टि होते हैं, वे श्रुतकेवली होते हैं। आहाहा! अरबों श्लोक कण्ठस्थ! आहाहा! परन्तु राग के कण को अपना मानकर, राग से भिन्न स्वरूप का अनादर करके, मिथ्यादृष्टि रहता है। जिसे राग के कण का आदर है, उसे पूर्णानन्द के नाथ का अनादर है। आहाहा! राग आता है, राग होता है परन्तु राग का आदरभाव जिसे है, उसे आत्मा हेय है। परमात्मप्रकाश में कहा है कि जिसे राग के अंश का भी आदर है, उसे भगवान आत्मा हेय है। परमात्मप्रकाश में लिखा है। आहाहा! और जिसे भगवान आत्मा उपादेय है, उसे रागमात्र—जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह भाव भी अपराध है, अपराध है। आहाहा! पुरुषार्थसिद्धियुपाय में आया है। जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधता है, वह भाव अपराध है, ऐसा आया है। और पर की दया पालने का भाव / राग आया, वह भी अपराध है। आहाहा! ऐसा बहुत कठिन काम। यह तो भगवान का—वीतराग का मार्ग है। आहाहा!

कहते हैं **भले ही श्रुतकेवली जैसा हो...** श्रुतकेवली जैसा। श्रुतकेवली तो सम्यग्दृष्टि होता है। वह भावश्रुतकेवली और उसका शास्त्र का बारह अंग का विशेष ज्ञान हो तो श्रुतकेवली है। यहाँ तो श्रुतकेवली जैसा। सर्व आगम धर, पाठ है न? सर्व आगम जानता है। आहाहा! तथापि **रागादि अज्ञानमय भावों के लेशमात्र का भी सद्भाव...** यह राग लाभदायक है, ऐसा। लेशमात्र राग कहा है तो राग तो समकिती को तीन कषाय का राग है, परन्तु राग को अपना मानता है, ऐसा लेशमात्र भी भाव हो... अज्ञानमय कहा है न? आहाहा! **अज्ञानमय भावों के लेशमात्र का भी सद्भाव है... रागादि अज्ञानमय भावों के लेशमात्र का भी सद्भाव...** आहाहा! **वह भले ही श्रुतकेवली जैसा हो, तथापि वह ज्ञानमय भावों के अभाव के कारण...** आहाहा! शुभराग के अंशमात्र को भी आदरणीय मानता है, (वह) अज्ञानमय रागभाव है। वह श्रुतकेवली जैसा हो, तथापि वह **ज्ञानमय भावों के अभाव के कारण...** उसे राग से भिन्न भगवान आत्मा चैतन्यमूर्ति प्रभु के ज्ञान का अभाव है। ज्ञानी के ज्ञान का अभाव है। 'ज्ञानी' शब्द से आत्मा। आहाहा!

चिदानन्द प्रभु त्रिकाल शाश्वत् टंकोत्कीर्ण ज्ञानपिण्ड प्रभु। आत्मा तो शाश्वत्

ज्ञानपिण्ड है। आहाहा! टंकोत्कीर्ण कहा न? टंकोत्कीर्ण कहो या शाश्वत् कहो। आहाहा! शाश्वत् वस्तु अन्दर पूर्णानन्द प्रभु पड़ी है, उसका जिसे अनादर है और लेशमात्र राग है, उसका आदर है, वह **ज्ञानमय भावों के अभाव के कारण आत्मा को नहीं जानता;...** राग का एक अंश भी है, उसकी जिसे रुचि है, आदर है तो भले उसका श्रुतकेवली जैसा जानपना हो, तथापि वह अज्ञानी है, आत्मा को नहीं जानता। क्योंकि आत्मा रागरहित है, उसका ज्ञान नहीं है। आहाहा! बहुत कठिन काम। अभी तो धमाल... धमाल... धमाल.. यह करो और यह करो... यह करो और यह करो।

'सोगानी' तो कहते हैं कि जहाँ करना है, वहाँ मरना है। द्रव्यदृष्टि प्रकाश। मिला है? भैया! द्रव्यदृष्टि प्रकाश सोगानी का? मिला है? नहीं मिला। यह बहिन के वचनामृत मिले? द्रव्यदृष्टि प्रकाश नहीं मिला। सोगानी का बनाया हुआ है। द्रव्यदृष्टि प्रकाश है, दोपहर में आकर ले जाना। उसमें सोगानी ने लिखा है कि मैं कुछ करूँ, ऐसा करने का भाव, वह स्वरूप का मरना है। समझ में आया? 'करे कर्म सो ही करतारा,करे कर्म सो ही करतारा, जो जाने सो जाननहारा; जाने सो कर्ता नहीं होई, कर्ता सो जाने नहीं कोई।' बनारसीदास। है तो अमृतचन्द्राचार्य का, अमृतचन्द्राचार्य के कलश हैं, उसका इन्होंने समयसार नाटक में हिन्दी बनाया है। 'करे कर्म सो ही करतारा' राग का विकल्प है, उसे करे, वह कर्ता है, अज्ञानी है। 'जो जाने सो जाननहारा' ज्ञानी तो जानता है कि राग है। परन्तु जानता है, मेरा नहीं, मुझे लाभ नहीं, मुझमें नहीं, उसमें मैं नहीं। आहाहा! 'करे कर्म सो ही करतारा, जो जाने सो जाननहारा; कर्ता सो जाने नहीं कोई।' मैं राग का कर्ता, रचनेवाला हूँ—ऐसा माने, वह आत्मा को नहीं जानता। 'जाने सो कर्ता नहीं होई' आहाहा! आत्मा ज्ञानस्वरूप भगवान चैतन्यमूर्ति का जिसे ज्ञान हुआ, वह राग का कर्ता नहीं होता। आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं, **ज्ञानमय भावों के अभाव के कारण आत्मा को नहीं जानता; और जो आत्मा को नहीं जानता, वह अनात्मा को भी नहीं जानता...** राग अनात्मा है, आहाहा! पंच महाव्रत के परिणाम, वे अनात्मा हैं। जिसे आत्मा का ज्ञान नहीं, उसे अनात्मा का भी ज्ञान नहीं। दोनों का ज्ञान नहीं। आहाहा! है? **क्योंकि स्वरूप से सत्ता और पररूप से असत्ता...** आहाहा! देखो! अब जरा सूक्ष्म बात है। विशेष आयेगा...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २७९, गाथा-२०१, २०२, शुक्रवार, आषाढ़ कृष्ण १२
दिनाङ्क २०-०७-१९७९

समयसार, निर्जरा अधिकार। २०१-२०२ (गाथा) की टीका। **जिसके रागादि अज्ञानमय भावों के लेशमात्र का भी सद्भाव है...** क्या कहते हैं ? जिस प्राणी को, राग का अंश है, वह अज्ञान है। क्योंकि उसमें ज्ञान नहीं है। चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा ज्ञानमय स्वभाव है। उससे राग चाहे तो दया, दान, व्रत, भक्ति का हो, परन्तु वह अज्ञान है। अज्ञान का अर्थ : मिथ्यात्वसहित, उसमें ज्ञान का भाव नहीं है। ज्ञानस्वभावी भगवान आत्मा वह ज्ञानमय भाव होना चाहिए, उससे विरुद्ध (भाव) चाहे तो दया, दान, व्रत, भक्ति का विकल्प—राग हो परन्तु वह अज्ञान है। अज्ञान का अर्थ—मिथ्यात्वसहित; अपना स्वरूप जो ज्ञान है, उस ज्ञान का राग में अभाव है। आहाहा! समझ में आया ?

जिसके... राग, द्वेष, वासना इत्यादि **अज्ञानमय भावों के...** मिथ्यात्वसहित। मिथ्या अर्थात् स्वरूप के ज्ञान का भान नहीं और राग है, वह भला है, यह राग, दया, दान, व्रत का विकल्प आया, वह भला है, ऐसा मानना वह मिथ्यात्वसहित अज्ञानमय भाव है। सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा! है ? रागादि (अर्थात्) रति, अरति, शोक इत्यादि का जो शुभ-अशुभ विकल्प है, वह अज्ञानमय है। अज्ञानवाला है, ऐसा नहीं; अज्ञानमय है। उसमें आत्मा ज्ञानस्वरूप प्रभु ज्ञानमय का उसमें अभाव होने से मिथ्यात्वसहित अज्ञान अर्थात् उसमें ज्ञान नहीं है, ऐसा अज्ञानमय कहने में आया है। आहाहा! ऐसी बात है।

अज्ञानमय भावों के लेशमात्र का भी... एक अंश भी राग हो परन्तु उसे अपना मानना और राग को अपना मानने से मिथ्यात्व होता है और मिथ्यात्व के कारण उस राग में ज्ञानस्वभाव का अभाव है। आहाहा! वह **लेशमात्र का भी...** राग अज्ञान है, मिथ्यात्व सहित राग है, उस राग को भला माना तो उसने आत्मा का अनादर किया। राग का अंश अच्छा है, शुभराग को भी भला मानता है, वह भगवान ज्ञानमय चीज़ है, उसका वह अनादर करता है। राग का अंश जो अज्ञान अथवा ज्ञान का अभाव है, उसका आदर करनेवाला ज्ञानमय आत्मा का अनादर अर्थात् हेय करता है। जो हेय है, उसे उपादेय करता है तो जो उपादेय है, उसे हेय करता है। आहाहा! ऐसी सूक्ष्म बात है, भाई!

भले ही श्रुतकेवली जैसा हो... भले ग्यारह अंग पढ़ा हो, अरबों श्लोक कण्ठस्थ किये हों, अरबों क्या, एक आचारांग में अठारह हजार पद है, एक पद में इक्यावन करोड़ से अधिक श्लोक है, ऐसे दोगुने। सूयगडांग से दोगुने थाणांग। ग्यारह अंग का सब ज्ञान हो परन्तु वह कहीं ज्ञान नहीं है क्योंकि उस परलक्षी ज्ञान में राग उत्पन्न होता है। आहाहा! और यह राग है, वह ज्ञानमय प्रभु चैतन्य ज्ञानमय जो आत्मा है, उस ज्ञानमय का राग के अंश में अभाव है। इस कारण से मिथ्यात्वसहित का अज्ञानमय राग यहाँ गिनने में आया है। आहाहा!

चाहे तो नौवें ग्रैवेयक गया। 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो'। छहढाला में आता है। 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो, आतम ज्ञान बिन लेश सुख न पायो।' इसका क्या अर्थ हुआ? पंच महाव्रतादि, पाँच समिति, गुप्ति का व्यवहारभाव, वह दुःखरूप है-आस्रव है। आहाहा! 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो पै (निज) आतम ज्ञान बिन लेश सुख न पायो।' राग से भिन्न मेरी चीज़ है, यह राग तो नुकसानकारक, बन्ध का कारण, जहर है; मेरी चीज़ अमृत से भरपूर है। आहाहा! मैं चिदानन्द, अमृत का पूर मेरी चीज़ है। आहाहा! ऐसी दृष्टि हुए बिना राग के कण को भी अपना मानता है, भले वह श्रुतकेवली हो। श्रुतकेवली हो, ऐसा नहीं कहा **श्रुतकेवली जैसा हो...** (ऐसा कहा है।) श्रुतकेवली तो सम्यग्दृष्टि होते हैं। यहाँ तो ऐसा कहा है कि **श्रुतकेवली जैसा हो...** है न? **श्रुतकेवली जैसा हो...** बहुत शास्त्र पढ़ा हो। लोगों को समझावे, लाखों लोग इकट्ठे हों, उसमें क्या आया? आहाहा!

अन्दर में राग के विकल्प का छोटे में छोटा कण (हो), मिथ्याश्रद्धासहित का राग, उसे यहाँ अज्ञानमय कहने में आया है। आहाहा! सम्यग्दृष्टि को राग होता है परन्तु उस राग को अपने ज्ञानमय (स्वरूप के साथ) एकत्वरूप नहीं मानता। उस राग को हेय जानकर, परज्ञेयरूप से उसे जानता है। अपना जो ज्ञेय है, वह तो चैतन्य ज्ञानानन्दमय स्वज्ञेय है। उससे राग है, वह परज्ञेय; परज्ञेय परद्रव्य है। आहाहा! उससे लाभ (माने), व्यवहाररत्नत्रय से अपने में लाभ माने, वह तो नहीं। परन्तु यह राग है, वह अज्ञानमय भाव मेरी चीज़ नहीं है। मेरी चीज़ में वह चीज नहीं है और उस चीज़ में मैं नहीं हूँ। आहाहा! ऐसी सूक्ष्म बात है, भाई! वीतरागमार्ग परमेश्वर त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदेव ने जो देखा और जैसा था, वैसा कहा।

उनका कोई पक्ष, पन्थ नहीं है। वीतराग सर्वज्ञदेव का कोई पक्ष, पन्थ नहीं है। वह तो वस्तु का स्वरूप है। वस्तु का स्वरूप ही यह है। आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं, **श्रुतकेवली जैसा हो तथापि...** शब्द क्या पड़ा है? देखो! पहले अज्ञानमय भाव कहा है और इसमें ज्ञानमय भाव आमने-सामने लिया है। राग विकल्प जो शुभरागादि है, वह अज्ञान, मिथ्यात्वसहित, क्योंकि राग मेरी चीज़ है और राग से मुझे लाभ होगा तो वह राग मिथ्यात्वसहित राग अज्ञानमय गिनने में आया है। आहाहा! ऐसी बात है, प्रभु! सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा! भगवान अन्दर **ज्ञानमय भाव...** उसके सामने लिया। वह अज्ञानमय भाव है तो प्रभु **ज्ञानमय भावों के अभाव के कारण...** ज्ञानमय जो प्रभु चैतन्यस्वरूप है, उसके ज्ञान का ज्ञान, ज्ञानी का ज्ञान। ज्ञानी शब्द से आत्मा। पूर्णानन्द का नाथ प्रभु, यह आत्मा धर्मी, उसका पर्याय में जो धर्म—सम्यग्दर्शन, उस सम्यग्दृष्टि को राग होता है, उस राग को अपना नहीं जानता। पर जानकर उसे दृष्टि में से छोड़ देता है। आहाहा!

ज्ञानमय भाव... उसमें यह रागादि शब्द लिया, इतना। परन्तु वह अज्ञानमय भाव मिथ्यात्वसहित था और यह ज्ञानमय भाव। अकेला चैतन्यस्वरूप भगवान, वह ज्ञानमय भाव, ज्ञान का ज्ञान, ज्ञानी का ज्ञान, वस्तु का ज्ञान, उस **ज्ञानमय भावों के अभाव के कारण...** उस आत्मा के स्वभाव के ज्ञान के अभाव के कारण **आत्मा को नहीं जानता;...** आहाहा! भगवान आत्मा अन्दर राग के विकल्प से निर्विकल्प अखण्डानन्द प्रभु, सुख के सागर के जल से भरा पड़ा है। भगवान आत्मा सुखसागर के जल से भरा पड़ा है। आहाहा! उसका अनादर करके राग के कण को, अज्ञानमय को अपना मानता है, वह श्रुतकेवली जैसा हो तो भी (ज्ञानमय भाव के) **अभाव के कारण आत्मा को नहीं जानता;... ज्ञानमय भावों के अभाव के कारण आत्मा को नहीं जानता;...** इसके अर्थ क्या हुआ? कि आत्मा तो ज्ञानमय भाव है। आहाहा!

जानन... जानन... जानन... स्वभाव। भगवान आत्मा जाननस्वभाव, ज्ञान—अतीन्द्रिय ज्ञान का पिण्ड है। आहाहा! और ऐसे अनन्त-अनन्त गुण, सब अतीन्द्रिय अनन्त-अनन्त गुण। आकाश के प्रदेश अमाप, माप नहीं। आकाश का अन्त आया, (ऐसा है नहीं)। आकाश का कहाँ अन्त है? उसका अन्त नहीं, उसके भी प्रदेश हैं, अनन्त—अन्त नहीं,

उसके जो अनन्त प्रदेश हैं, उससे अनन्तगुणे आत्मा में गुण हैं। आहाहा! वे सब ज्ञानमय, आनन्दमय है। उसमें कोई रागमय गुण नहीं है। अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त को अनन्त बार गुणा कर डालो तो भी अन्तिम अनन्त नहीं आता। आहाहा! अन्तिम अनन्त नहीं आता तो अनन्त का अन्तिम एक वह तो एक आता ही नहीं। आहाहा! ऐसा भगवान ज्ञानमय प्रभु, लेशमात्र राग को अपना मानकर अज्ञानमय में रुकता है, वह भगवान ज्ञानमय को बिल्कुल नहीं जानता। आहाहा! शास्त्रज्ञान हो, वह शास्त्रज्ञान भी परज्ञेय है। शास्त्रज्ञान भी परज्ञेय है। परज्ञेय में निष्ठ है, वह भी स्वज्ञेय में निष्ठ नहीं है। आहाहा! समझ में आया? वह परज्ञेय है। आहाहा! अपने ज्ञान का ज्ञान न हुआ और मात्र शास्त्रज्ञान में रुक गया... आहाहा! तो वह परज्ञेय में निष्ठ अर्थात् लीन है। स्वद्रव्य में से छूट गया है। आहाहा! ऐसा प्रभु का मार्ग है, भाई! आहाहा!

यह कहते हैं, उस **ज्ञानमय भावों के अभाव के कारण आत्मा को नहीं जानता;...** भगवान आत्मा चिदानन्द प्रभु, राग के अंश को भी अपना माननेवाला श्रुतकेवली जैसा हो तो भी आत्मा को नहीं जानता। आहाहा! निर्जरा अधिकार है। **और जो आत्मा को नहीं जानता...** भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूपी जानन-देखन और अतीन्द्रिय आनन्द प्रभु, ऐसे आत्मा को जिसने नहीं जाना, **वह अनात्मा को भी नहीं जानता...** अनात्मा राग है, उसे भी नहीं जानता। आत्मा आनन्दमय प्रभु है। आहाहा! सच्चिदानन्द प्रभु आत्मा, सत् अर्थात् शाश्वत्, चिद्मय और आनन्दमय प्रभु है, उसका जिसे ज्ञान नहीं है, आत्मा का ज्ञान नहीं तो उसे अनात्मा-राग का भी ज्ञान नहीं है। आहाहा! सूक्ष्म है, प्रभु! अनन्त काल से चौरासी लाख योनियों में अनन्त अवतार हुए। दिगम्बर मुनि अनन्त बार हुआ, परन्तु वह राग की क्रिया करके हुआ। आहाहा! पंच महाव्रतादि, समिति, गुप्ति (पालन किये) परन्तु 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो, पै आतमज्ञान...' राग से भिन्न मेरी चीज़ है, ऐसे अनुभव बिना... आहाहा! 'लेश सुख न पायो' यह महाव्रत के परिणाम और समिति, गुप्ति व्यवहार के परिणाम दुःखरूप हैं, राग है तो 'लेश सुख न पायो' आहाहा! ऐसी चीज़ है। जगत को कठिन पड़ता है। मार्ग तो ऐसा है, भाई! अनन्त तीर्थंकर (ऐसा फरमाते हैं)।

महाविदेह में भगवान विराजमान हैं, वहाँ से यह वाणी आयी है। कुन्दकुन्दाचार्य

संवत् ४९ में वहाँ गये थे। दो हजार वर्ष पहले। आठ दिन वहाँ रहे थे और भगवान को आठ दिन सुना, कितनी ही शंका का समाधान श्रुतकेवली मुनि के निकट किया। श्रुतकेवली मुनि थे। वहाँ से आकर यह शास्त्र बनाये हैं। आहाहा! इसकी टीका करनेवाले मानो भगवान के पास गये हों, ऐसी टीका बनायी है। यह अमृतचन्द्राचार्य। यह कुन्दकुन्दाचार्य के श्लोक, अमृतचन्द्राचार्य की टीका। आहाहा!

कहते हैं, आत्मा को नहीं जानता। भगवान ज्ञातादृष्टा, वह ज्ञान का पुंज है, अतीन्द्रिय सुखसागर के जल से भरपूर है, अतीन्द्रिय श्रद्धा सम्यक् त्रिकाल, हों! अतीन्द्रिय दृष्टि से भरपूर है। सम्यग्दर्शन तो पर्याय है परन्तु अन्तर में त्रिकाली अनादि अनन्त अतीन्द्रिय दृष्टि—श्रद्धा है, उस अतीन्द्रिय श्रद्धा से भरा पड़ा है। आहाहा! सम्यग्दर्शन है, वह तो पर्याय है, परन्तु अन्दर वह पर्याय आयी किसमें से? अन्दर अनादि दृष्टि—श्रद्धा पड़ी है। शुद्ध अनादि अनन्त वह दृष्टि—श्रद्धा का स्वभाव है। आहाहा! वह अनादि दृष्टि ध्रुव है। उस ध्रुव के आश्रय से सम्यग्दर्शन की पर्याय उत्पन्न होती है। आहाहा! समझ में आया? तो जिसने आत्मा नहीं जाना, उसने अनात्मा को भी नहीं जाना है। है?

क्योंकि... यहाँ तक तो थोड़ा आया था। साधारण बात (चली थी) **क्योंकि स्वरूप से सत्ता और पररूप से असत्ता...** क्या कहते हैं? भगवान आत्मा आनन्द, सच्चिदानन्द प्रभु स्वरूप से सत्ता है और राग से असत्ता है। राग से असत्ता है, अपने द्रव्य से सत्ता—अस्तित्व है और परद्रव्य की अस्ति से असत्ता है। आहाहा! अपनी चीज़ से अस्तित्व है और रागादि परचीज़ से नास्तित्व है तो असत् है। परद्रव्य से असत् है, स्वद्रव्य से सत् है। आहाहा! ऐसा प्रभु का मार्ग बहुत सूक्ष्म है, बापू! लोग निर्णय करने का समय भी नहीं निकालते। अरे! ऐसी मनुष्यदेह, उसमें परमात्मा का मार्ग (सुनने को मिला)। आहाहा!

क्योंकि स्वरूप से सत्ता... क्या कहते हैं? कि जिसने आत्मा राग से भिन्न है, उसका भान नहीं (किया) तो उसे अनात्मा—राग का भी ज्ञान नहीं है। आत्मा का ज्ञान नहीं तो राग का ज्ञान भी सच्चा नहीं है। क्यों? है न? **क्योंकि स्वरूप से सत्ता...** अपने स्वरूप से आत्मा है और पररूप से असत्ता है। आहाहा! पंच परमेष्ठी जो जगत में हैं, उनसे भी यह आत्मा असत् है। अपने स्वरूप से अस्तित्व-सत् है। पर के अस्तित्व से आत्मा असत् है।

आहाहा! और पर परमेश्वर भी हैं, वे स्वयं से सत् हैं, उनके स्वयं से और पर से असत् हैं। आहाहा! तो जिसे अपने सत् का यथार्थ ज्ञान नहीं है, उसे सत् से विरुद्ध राग का भी यथार्थ ज्ञान नहीं है। व्यवहार का भी यथार्थ ज्ञान नहीं है। आहाहा! यहाँ तो यह कहते हैं कि व्यवहार करते-करते निश्चय होगा। आहाहा! ऐसा है नहीं, प्रभु! आहाहा! यह तो अनीन्द्रिय आत्मा, वे रागादि तो स्थूल भाव, अज्ञानभाव, मिथ्यात्वसहित का राग, उसे यहाँ राग में गिना है। स्वरूप का ज्ञान नहीं तो पर का ज्ञान भी नहीं। क्योंकि स्वसत्ता का ज्ञान नहीं तो पर की असत्ता है, उसका भी ज्ञान नहीं। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! लोग बाहर से मानकर बैठ जाते हैं, बैठो।

अन्तर आत्मा आनन्दस्वरूप प्रभु, अतीन्द्रिय आनन्द के अनुभव और ज्ञान बिना, राग मेरा है, ऐसी चीज़ में रुक जाता है। वह स्वसत्ता को नहीं जानता तो वह परसत्ता को भी नहीं जानता। आहाहा! रागादि दया, दान के विकल्प को भी वह नहीं जानता। क्योंकि निर्विकल्प स्वसत्ता को नहीं जानता, वह परसत्ता को भी नहीं जानता। आहाहा! लॉजिक से तो (बात) है। यह भगवान का मार्ग हठ से मान लेना, ऐसा कुछ है नहीं। लॉजिक, न्याय। निधातु है। नि अर्थात् निधातु में जैसी स्वरूप की स्थिति है, वहाँ ज्ञान को ले जाना, ज्ञान को ले जाना, उसका नाम न्याय कहते हैं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि स्वरूप से सत्ता है, पररूप से असत्ता है। है? **स्वरूप से सत्ता और पररूप से असत्ता...** आहाहा! भगवान आत्मा अपने स्वरूप से सत्ता है और पंच परमेष्ठी तथा पंच परमेष्ठी का राग, उससे वह असत्ता है। आहाहा! ऐसा मार्ग है। **स्वरूप से सत्ता...** स्व-रूप ऐसा है न? स्व-रूप—अपना स्वरूप ज्ञानानन्द की सत्ता का ज्ञान, सत्ता है। पररूप, पर-रूप—रागादि, देहादि, पंच परमेष्ठी आदि पररूप। उस पररूप से असत्ता है। स्वयं से सत्ता है और पर से भी सत्ता हो तो सब एक हो जाते हैं। आहाहा! यह तो स्वरूप से सत्ता है, पररूप से असत्ता है। दूसरी भाषा से कहें तो अपने स्वरूप से सत्य है, परस्वरूप से असत्य है। परस्वरूप से भी सत्य हो जाए तो सब एक हो जाते हैं। आहाहा! ऐसा मार्ग है। यह कोई पण्डिताई की चीज़ नहीं कि बहुत पढ़ा हो तो उसे यह दृष्टि है। यह तो अन्तर के अनुभव की बात है, भगवान! आहाहा! यह बात भगवान अमृतचन्द्राचार्य मूल गाथा में से निकालकर अर्थ करते हैं।

इन दोनों के द्वारा... इन दोनों के द्वारा, कौन दोनों? स्वयं से भगवान ज्ञानमय आनन्दमय है और रागादि परद्रव्य से नहीं। **इन दोनों के द्वारा एक वस्तु का निश्चय होता है;...** दोनों द्वारा एक वस्तु का निश्चय होता है। मैं मुझमें हूँ और पर मुझमें नहीं, इन दोनों के निश्चय में आत्मा का निश्चय होता है। समझ में आया? दो के निश्चय में दो का निश्चय होता है, ऐसा नहीं। दो के निश्चय में अपना निश्चय होता है। आहाहा! है? **इन दोनों के द्वारा एक वस्तु का निश्चय होता है; (जिसे अनात्मा का-राग का-निश्चय हुआ हो...)** आहाहा! रागादि दया, दान, व्रत, भक्ति—भगवान की भक्ति, अरे! पंच परमेष्ठी का स्मरण, वह सब राग है। आहाहा! वह राग अनात्मा है। अनात्मा अर्थात् क्या?—कि राग। है? लाईन है न, लाईन? **(अनात्मा का-राग का-निश्चय हुआ हो...)** कि यह विकल्प है, परसम्बन्धी परसन्मुख के लक्ष्यवाला, ऐसा जिसे निर्णय हुआ हो, उसे अनात्मा और आत्मा दोनों का निश्चय होना चाहिए। एक के निश्चय में दो का निश्चय है। और दो के निश्चय में एक अपना निश्चय अकेला है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात है, भाई!

वीतरागपरमात्मा जिनेश्वरदेव त्रिलोकनाथ परमात्मा तो विराजते हैं। 'ॐकार ध्वनि सुनि अर्थ गणधर विचारे।' भगवान को ॐध्वनि खिरती है, वहाँ ऐसी वाणी नहीं होती—भगवान को ऐसी (छद्मस्थ जैसी) वाणी नहीं होती। भगवान को ॐध्वनि खिरती है। पूरे शरीर में से, होंठ और कण्ठ कम्पित हुए बिना (ध्वनि खिरती है)। 'ॐ ध्वनि सुनि अर्थ गणधर विचारे।' वह ॐकार सुनकर गणधर उसका विचार करते हैं। आहाहा! 'रचि आगम उपदेश' और वह भगवान की वाणी सुनकर सन्त आगम की रचना करते हैं। 'रचि आगम उपदेश भविक जीव संशय निवारे।' भव्य प्राणी लायक हों, वे मिथ्यात्व का नाश करके आत्मा का ज्ञान कर सकते हैं। आहाहा! समझ में आया?

(जिसे अनात्मा का-राग का...) अनात्मा अर्थात् राग, उसका **(निश्चय हुआ हो, उसे अनात्मा और आत्मा-दोनों का निश्चय होना चाहिए।) इस प्रकार जो आत्मा और अनात्मा को नहीं जानता...** आहाहा! राग को जाने, तब तो राग से रहित अपने आत्मा को भी जाने। क्योंकि राग की सत्ता अपने में है नहीं तो उसे जाने तो मुझमें वह है नहीं, ऐसे आत्मा को जाने। आहाहा! और आत्मा को जाने, वह अनात्मा को जाने।

आहाहा! उसे व्यवहार का सच्चा ज्ञान होता है। क्या कहते हैं? जिसे आत्मा का ज्ञान होता है और अनात्मा का ज्ञान होता है, उसे ही व्यवहार का यथार्थ ज्ञान होता है। व्यवहार मेरा है और व्यवहार से मुझे लाभ होगा, यह बात तो है नहीं। परन्तु व्यवहार का ज्ञान भी सच्चा किसे होता है?

अभी 'करुणादीप' में यहाँ का विरोध आया है कि (समयसार) बारहवीं गाथा में कुन्दकुन्दाचार्य ऐसा कहते हैं कि **'अपरमे ट्ठिदा भावे'** जो व्यवहार में स्थित हैं, उन्हें तो व्यवहार ही करना चाहिए, ऐसा करुणादीप में अर्थ आया है। एक पत्रिका निकलती है न? करुणादीप। कुछ खबर नहीं है। आहाहा! ऐसा कि बारहवीं गाथा में तो निचली भूमिका है, चौथे, पाँचवें, छठवें में तो व्यवहार ही करना, ऐसा कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं। **'अपरमे ट्ठिदा भावे'** परन्तु वह बात क्या कहते हैं? कि जो कुछ अपने स्वरूप की दृष्टि, अनुभव तो हुआ। निश्चय से अपने भूतार्थ स्वभाव का आश्रय लेकर सम्यक्त्व हुआ। उसकी पर्याय में अशुद्धता बाकी है और शुद्धता अल्प है, उसको जानना, उसे व्यवहार कहने में आता है। करना और करने से लाभ होगा, यह प्रश्न यहाँ है ही नहीं। क्या हो? शास्त्र के अर्थ करने में भी बड़ी भूल। **'अपरमे ट्ठिदा भावे'** (इसका अर्थ) जो परम (भाव में) स्थित नहीं है उसे व्यवहार का उपदेश है, व्यवहार करना, ऐसा (उसका) अर्थ है ही नहीं। टीका में ऐसा अर्थ किया ही नहीं है।

टीका में तो ऐसा अर्थ किया है कि **'अपरमे ट्ठिदा भावे'** का अर्थ (यह है कि) उस समय में जितनी अशुद्ध पर्याय है और शुद्धता अल्प है, **'तदात्वे'** ऐसा संस्कृत पाठ है, संस्कृत। **'तदात्वे'**। **'तदात्वे'** (अर्थात्) जाना हुआ प्रयोजनवान है। उस समय में जानता है कि है। वह अभी व्यवहार है। उसे जानना, वह भी व्यवहार है। ऐसी बात है, भगवान! वह तो अपनी पर्याय को जानता है, उसमें यह व्यवहार जानने में आता है, ऐसा कहने में आता है। समझ में आया? भगवान लोकालोक को जानते नहीं। लोकालोक को जानते हैं, ऐसा कहना वह तो असद्भूतव्यवहारनय है। वे तो अपनी पर्याय को ही जानते हैं। आहाहा! उसी प्रकार ज्ञानी राग को जानता है, ऐसा उपचार से, व्यवहार से कथन है। राग करना और राग से लाभ होता है, ऐसा वहाँ कहना है, यह तो बात है ही नहीं। आहाहा!

संस्कृत में **'तदात्वे'** शब्द पड़ा है। **'तदात्वे'** अर्थात्? थोड़ी सूक्ष्म बात है, प्रभु!

जिस समय में जितनी राग की अशुद्धता और शुद्धता उत्पन्न हुई, उस समय में उसे जानना प्रयोजनवान है। दूसरे समय में शुद्धि की थोड़ी वृद्धि हुई और अशुद्धता घटी, उस समय में उसे जानना प्रयोजनवान है। तीसरे समय में शुद्धि की थोड़ी वृद्धि हुई, अशुद्धि घटी, उस समय में उसे जाना हुआ प्रयोजनवान है, ऐसा पाठ है। संस्कृत में है। परन्तु क्या करे? अपनी दृष्टि से विपरीत / उल्टा अर्थ करे। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने वहाँ व्यवहार करने का कहा है, निचली श्रेणी में व्यवहार ही करना, वही धर्म है। (वे लोग ऐसा मानते हैं)। आहाहा! अरे! प्रभु! तू भी प्रभु है न, प्रभु!

जिसमें जितनी बुद्धि है, इतनो दिये बताये,
वांको बुरौ न मानिये और कहाँ से लाये?

बुरा मत मान। यह वस्तु, बापू! कोई अगम्य वस्तु है। अनन्त काल में एक सेकेण्डमात्र भी इस चीज़ का वेदन, अनुभव किया नहीं। आहाहा! मुनिव्रत धारण किया, दिगम्बर हुआ, नग्न हुआ, हजारों रानियों का त्याग किया। परन्तु अन्दर में मिथ्यात्व का त्याग नहीं किया। वह भी त्याग है न? आहाहा! बाह्य के त्याग-ग्रहण से तो प्रभु रहित है। क्या कहा?

बाह्य की चीज़ के त्याग-ग्रहण से तो आत्मा रहित ही है। पर का ग्रहण कभी किया नहीं और पर का त्याग करना, वह है ही कहाँ? आहाहा! उसने अपनी पर्याय में कमजोरी से राग किया है, उसका त्याग कहना और स्वभाव का ग्रहण करना कहना, वह भी अभी व्यवहार है। आता है न ३४वीं गाथा में? कि राग का त्याग करता है, वह नाममात्र कथन आत्मा में है। ३४ में पाठ है, समयसार गाथा ३४। यह समयसार है न? आत्मा राग का त्याग करता है, यह भी नाममात्र कथन है। क्योंकि आत्मा ज्ञानमय है। यह ज्ञानमय है, वह रागमय हुआ ही नहीं। ज्ञानमय है उसमें स्थिर हो गया तो राग उत्पन्न नहीं हुआ तो राग का त्याग किया, ऐसा नाममात्र कथन है। परमार्थ से तो राग का त्यागकर्ता आत्मा है नहीं। आहाहा! पर के त्याग-ग्रहण से तो शून्य है, वह शक्ति है—त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति। पीछे ४७ शक्तियाँ हैं न? अनन्त शक्ति-गुण हैं न? उसमें एक गुण ऐसा है, त्यागोपादानशून्यत्वगुण। पर का त्याग और पर के ग्रहण से प्रभु शून्य है। आहाहा!

यहाँ तो राग का त्याग करता है... आहाहा! वह भी नाममात्र कथन है। भगवान चिदानन्द प्रभु में स्थिर हो गया तो प्रत्याख्यान हो गया। राग का त्याग किया, वह नाममात्र

कथन है। आहाहा! यहाँ तो अभी बाह्य का त्याग करता है वहाँ तो... आहाहा! (हो जाता है)। स्त्री छोड़ दी, दुकान छोड़ दी, धन्धा छोड़ा। अब परन्तु कहाँ अभी ग्रहण किया था, वह छोड़ा? आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं। **(जिसे अनात्मा का-राग का-निश्चय हुआ हो उसे अनात्मा और आत्मा-दोनों का निश्चय होना चाहिए।) इस प्रकार जो आत्मा और अनात्मा को नहीं जानता...** इस प्रकार (अर्थात्) इस विधि से.. आहाहा! **आत्मा और अनात्मा को नहीं जानता, वह जीव और अजीव को नहीं जानता;...** यह राग अजीव है। आहाहा! व्यवहाररत्नत्रय का राग, वह अजीव है। भगवान जीवस्वरूप है, उससे वह भिन्न जाति है। पहले अधिकार में आया है। जीव अधिकार। व्यवहाररत्नत्रय का राग, वह अजीव है; जीव नहीं। आहाहा! तो उससे जिसने लाभ माना, उसने अनात्मा को अपना माना, उसे आत्मा का ज्ञान है नहीं और (जिसे) आत्मा का, अनात्मा का ज्ञान नहीं है, उसे दोनों का अज्ञान है। आहाहा! **जीव और अजीव को नहीं जानता;...** उन दोनों का ज्ञान नहीं, वह जीव और अजीव को नहीं जानता। आहाहा! ऐसी बात है। सूक्ष्म पड़े परन्तु वस्तु ऐसी है। परमात्मा ने बनाया नहीं, परमात्मा में वस्तु बनायी नहीं। वस्तु है, वैसी कही है। की नहीं है, बनायी नहीं है। जैसी वस्तु है, वैसा ज्ञान में आया, वैसा कथन द्वारा, वाणी द्वारा आया। वह भी—वाणी भी उनकी नहीं है। आहाहा!

भगवान आत्मा स्व-परप्रकाशक है, तो वाणी भी स्व-पर कहनेवाली है। वह वाणी का स्वभाव है। आहाहा! भगवान आत्मा का स्व-पर जानने का स्वभाव है और वाणी में स्व-पर कहने का स्वभाव है। वह वाणी। आहाहा! भगवान के श्रीमुख से यह वाणी निकली—ऐसा कहना, वह भी व्यवहार है। आहाहा! कठिन काम है, भाई! आहाहा! वस्तु अन्दर सच्चिदानन्द प्रभु, पूर्ण आनन्द और पूर्ण अतीन्द्रिय गुणों का भण्डार भरा है, उसकी जिसे दृष्टि नहीं, स्व का आश्रय नहीं और उसमें नहीं है, ऐसे राग का आश्रय है तो उसे अनात्मा और आत्मा का दोनों का ज्ञान नहीं है। दोनों का ज्ञान नहीं है तो जीव-अजीव का ज्ञान नहीं है। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बात है।

व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प जो राग है, वह अजीव है। जीव होवे तो जीव में से निकल नहीं जाएगा। जीव में से निकल जाता है। आहाहा! व्यवहार, अजीव का जिसे

यथार्थ ज्ञान नहीं, उसे जीव का भी (ज्ञान) नहीं है। आहाहा! **जीव और अजीव को नहीं जानता; तथा जो जीव और अजीव को नहीं जानता...** आहाहा! **वह सम्यग्दृष्टि ही नहीं है।** आहाहा! साधुपना और पंचम गुणस्थान श्रावक वह तो कोई अलौकिक बातें हैं। यह तो अभी प्रथम सम्यग्दर्शन की बात चलती है। आहाहा! सम्यग्दर्शन बिना तो पाँचवाँ गुणस्थान श्रावक भी नहीं होता, सम्यग्दर्शन बिना साधु भी नहीं होता। यह तो कठिन बात है। यहाँ तो पहली सम्यक् दृष्टि की बात (चलती है)। जीव-अजीव को नहीं जानता, वह सम्यग्दृष्टि नहीं है। आहाहा!

इसलिए रागी (जीव)... राग के रागवाला जीव, मिथ्यादृष्टि **ज्ञान के अभाव के कारण...** सम्यग्ज्ञान के अभाव के कारण। आहाहा! राग को अनात्मा (स्वरूप) नहीं जाना तो आत्मा को जाना नहीं, तो **ज्ञान के अभाव के कारण सम्यग्दृष्टि नहीं होता।** दोनों के ज्ञान के अभाव के कारण वह सम्यग्दृष्टि होता नहीं। आहाहा! ऐसी बात है। २०१-२०२ (गाथा), यह तो निर्जरा अधिकार है।

भावार्थ, भावार्थ है न? पण्डित जयचन्दजी ने अर्थ किया है, पण्डित जयचन्दजी। **यहाँ 'राग' शब्द से अज्ञानमय रागद्वेषमोह कहे गये हैं।** यहाँ सम्यग्दृष्टि के राग की बात नहीं है। वह तो ज्ञान का ज्ञेय है, सम्यग्दृष्टि को तो राग ज्ञान का ज्ञेय है। ज्ञान का अपना स्वरूप राग है, ऐसा नहीं है। आहाहा! पहले तो वस्तु समझने में कठिन, सुनने को मिलती नहीं। अभी तो जहाँ हो, वहाँ व्यवहार करो, व्रत करो, अपवास करो, भक्ति करो, यात्रा करो। करना, वहाँ मरना है। मैं राग का कर्ता हूँ और पर की, शरीर की हिलने-चलने की क्रिया मुझसे हुई है ऐसा करना, मानना वही आत्मा का मरण है। वह आत्मा का अनादर है। आहाहा! आत्मा ज्ञातादृष्टा है, उसे ऐसा नहीं मानकर, राग से अपने को लाभ मानता है। आहाहा! है?

'राग' शब्द से अज्ञानमय रागद्वेषमोह कहे गये हैं। और 'अज्ञानमय' कहने से मिथ्यात्व-अनन्तानुबन्धी से हुए रागादिक समझना चाहिए,... मिथ्यात्व से राग मेरा है, ऐसी मान्यता में जो राग आया, उस राग की बात है। ज्ञानी को राग आता है, उसे ज्ञान उसका है, राग नहीं। आहाहा! राग होता है और थोड़ा बन्ध भी होता है, जब तक राग है, तब तक बन्ध भी होता है। ज्ञानी को दसवें गुणस्थान तक लोभ का अंश है तो दसवें में भी

छह कर्मों का बन्ध होता है परन्तु ज्ञानी उस राग का स्वामी नहीं होता। राग मेरा नहीं है, इस अपेक्षा से उसने राग से भिन्न कर दिया है। बाकी ज्ञानी को ख्याल है कि मेरे परिणमन में जितना राग है, उसका-परिणमन का कर्ता मैं हूँ, वह परिणमन कोई जड़ से हुआ है, कर्म से हुआ है - ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया? मेरे परिणमन में राग आया, उस परिणमन का कर्ता मैं हूँ। ४७ नय, प्रवचनसार, उसमें यह नय चला है। ज्ञानी धर्मात्मा गणधर हो, तथापि भगवान के विनय का राग आया, उसका कर्ता मैं हूँ, परिणमन का कर्ता मैं हूँ, इस अपेक्षा से (कर्ता)। करनेयोग्य है, ऐसी बात नहीं है। आहाहा! तथापि मैं कर्ता हूँ, ऐसा मानता है। अरे! आहाहा!

मिथ्यात्व के बिना चारित्रमोह के उदय का राग नहीं लेना चाहिए;... मिथ्यात्व बिना अकेला राग आता है, तो वह यहाँ नहीं लेना। यहाँ उसकी बात नहीं है **क्योंकि अविरत-सम्यग्दृष्टि...** चौथे गुणस्थान में, पाँचवें में, छठवें में **चारित्रमोह के उदय सम्बन्धी जो राग है...** सम्यग्दृष्टि को जो राग आया है, वह राग। **ज्ञानसहित है;...** भानसहित है। राग का ज्ञान होता है। आहाहा! वह भी राग है तो ज्ञान होता है, ऐसा भी नहीं है। समझ में आया? ज्ञानी की पर्याय में ज्ञान का स्व-परप्रकाशक अपना स्वभाव से राग को जानता है, ऐसा कहना व्यवहार है, परन्तु वास्तव में राग सम्बन्धी ज्ञान और अपने सम्बन्धी का ज्ञान अपनी पर्याय में अपने कारण से उत्पन्न होता है। आहाहा! अब इतना सब कब (समझे)? आहाहा! राग को जानता है—ऐसा कहना, वह व्यवहार है। राग को कर्ता है, ऐसा कहना; करनेयोग्य है, ऐसा कहना वह तो मिथ्यात्व है परन्तु परिणमन है तो राग का कर्ता मैं हूँ, ऐसा जानना, वह तो सम्यग्दर्शन है। आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : सम्यग्दृष्टि को तो बन्ध होता ही नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : बन्ध होता नहीं, यह तो दृष्टि की अपेक्षा से कहा है। बन्ध होता न हो तो चारित्र लेने की आवश्यकता नहीं है। ज्ञानी का भोग निर्जरा का हेतु है, यह तो एक दृष्टि की अपेक्षा से कहा है। भोग से निर्जरा होवे तो भोग का त्याग करके स्वरूप में स्थिर होने का, ठहरने का तो रहता नहीं। ऐसा है नहीं। आहाहा! समझ में आया? राग का अंश जब तक है, उतने अंश में ज्ञानी को भी बन्ध होता है। आहाहा! भले कर्म में स्थिति, अनुभाग अल्प हो परन्तु बन्ध है। भाव बन्ध है, वह (कर्म का) द्रव्यबन्ध है। आहाहा!

मुमुक्षु : अनन्त संसार का बन्ध ?

पूज्य गुरुदेवश्री : अनन्त संसार का बन्ध है नहीं। ज्ञानी को अनन्त संसार है नहीं। एक, दो, चार भव हों, वह ज्ञान का ज्ञेय है। आहाहा! ज्ञान का ज्ञेय है। ज्ञान शब्द से अपने ज्ञान में वह पररूप से ज्ञेय है। वह भव अपना है, भव और भव का भाव अपना है, ऐसा ज्ञानी नहीं मानता।

मुमुक्षु : राग मेरी पर्याय में है, ऐसा जानता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय में है, ऐसा जानता है। आहाहा! ऐसी बात है। कठिन बात है। वर्तमान में तो ऐसी गड़बड़ हो गयी है न! सब प्ररूपणा व्यवहार। ऐसा करो, ऐसा करो, ऐसा करो। प्रभु! बहुत अन्तर है, प्रभु! आहा! आहाहा! वीतराग त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ की उपस्थिति में जो बात आयी है, वह बात पूरी अलग है। आहाहा!

अविरत-सम्यग्दृष्टि इत्यादि को चारित्रमोह के उदय सम्बन्धी जो राग है, सो ज्ञानसहित है;... क्या कहा ? ज्ञानसहित (अर्थात्) भान है कि मैं तो आनन्द हूँ और राग दुःख है। ऐसा ज्ञानी को भान है।...व्यवहार से है, ऐसा कहने में आया है। व्यवहारनय का विषय है या नहीं ? नहीं है—ऐसा नहीं है। आदरणीय नहीं है। परन्तु व्यवहारनय का विषय है, रागादि हैं और बन्ध है, उसे जानता है। आहाहा! ज्ञानी को भोग निर्जरा का हेतु है, ऐसा मानकर स्वच्छन्द करे, (ऐसा नहीं चलता)। हम समकिती हैं, पहले आ गया है। हम समकिती हैं, हमारे क्या है ? (ऐसे स्वच्छन्द करेगा) तो मर जाएगा, सुन न!

अन्तर में अनुभव हुआ, आनन्द का स्वाद आया, उस अपेक्षा से राग को दुःख जानता है और राग से लाभ मानता है, वह तो मिथ्यादृष्टि मूढ़ जीव है। आहाहा! वह जैन ही नहीं है।

घट-घट अन्तर जिन बसे, घट-घट अन्तर जैन;
मत मदिरा के पान सौं, मतवाला समझे न।

'घट-घट अन्तर जिन बसे,' परमात्मा जिनस्वरूप घट-घट में विराजमान है और जैनपना भी घट में है। उस स्वरूप का ज्ञान करना और राग से भिन्न करना वह ज्ञान, जैनपना अन्तर में होता है। कोई बाह्य क्रिया घट जाए तो समकित हो, (ऐसा नहीं है)। चक्रवर्ती को छह

खण्ड का राज होता है। आहाहा! और दिगम्बर साधु अट्ठाईस मूलगुण पालन करता हो तो (भी) मिथ्यादृष्टि है (क्योंकि) राग को अपना मानता है और चक्रवर्ती छह खण्ड का राग (करता हो), छियानवें हजार स्त्रियाँ, छियानवें करोड़ सैनिक हों... आहाहा! तथापि उनमें राग नहीं है, वह चीज़ मेरी नहीं है, मुझमें नहीं है, उसमें मैं नहीं हूँ, (ऐसा मानता है)। आहाहा!

इन्द्र के इन्द्रासन, करोड़ों इन्द्राणियाँ हैं। अभी सौधर्म इन्द्र एक भवतारी है। सौधर्म इन्द्र है, बत्तीस लाख विमान है, एक-एक विमान में असंख्य देव रहते हैं बहुत से विमानों में। तो एक भवतारी है, शास्त्र में (पाठ है)। वहाँ से निकलकर मनुष्य होकर मोक्ष जानेवाले हैं। वे भी हजारों इन्द्राणियाँ और बत्तीस लाख विमानों (को अपना नहीं मानता)। अन्दर राग का कण उत्पन्न होता है, वह भी मेरा नहीं तो वह चीज़ तो दूर रही। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! यह तो परमात्मा त्रिलोकनाथ के पेट की बात है। उस पेट का (अभिप्राय का) स्पष्टीकरण होता है। यह बात है, प्रभु! किसी को ठीक न लगे, एकान्त लगे। कहते हैं, एकान्त है... एकान्त है... एकान्त है... कहो, प्रभु! तो भी प्रभु है। पर्याय में भूल है तो है; वस्तु तो प्रभु है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, आहाहा! सम्यग्दृष्टि को चारित्रमोह सम्बन्धी राग है, वह ज्ञानसहित है। **सम्यग्दृष्टि उस राग को कर्मोदय से उत्पन्न हुआ रोग जानता है...** देखो! राग को रोग जानता है। धर्मी राग को काला नाग देखता है। आहाहा! समयसार, मोक्ष अधिकार में आया है, राग को विषकुम्भ कहा है, जहर का घड़ा है। आहाहा! प्रभु अमृत का सागर है, प्रभु आत्मा अमृत का सागर है और शुभराग जहर का घड़ा है। यह तो अमृत का सागर है। आहाहा! तुम्हारा वह 'सागर' गाँव नहीं, हों! पण्डितजी! अमृत का सागर। आहाहा! ज्ञानी का **राग है, सो ज्ञानसहित है; सम्यग्दृष्टि उस राग को कर्मोदय से उत्पन्न हुआ रोग जानता है और उसे मिटाना ही चाहता है;...** समकिती राग को रखना नहीं चाहता। आहा! राग मिटाना ही चाहता है। आहाहा! **उसे उस राग के प्रति राग नहीं है।** राग के प्रति राग नहीं है। आहाहा! राग मेरा है, ऐसी बुद्धि ज्ञानी को नहीं है। आहाहा!

और सम्यग्दृष्टि के राग का लेशमात्र सद्भाव नहीं है, ऐसा कहा है सो इसका कारण इस प्रकार है-सम्यग्दृष्टि के अशुभराग तो अत्यन्त गौण है... अशुभराग

आता है, सम्यग्दृष्टि को आर्तध्यान होता है, रौद्रध्यान होता है, वह तो अत्यन्त गौण है। **और जो शुभराग होता है, सो वह उसे किंचित्मात्र भी भला (अच्छा) नहीं समझता...** अच्छा नहीं समझता। आहाहा! अशुभराग भी आता है परन्तु गौण है। शुभराग की मुख्यता है, तथापि उसे भला नहीं समझता। आहाहा! ऐसी बात है।

उसके प्रति लेशमात्र राग नहीं करता,... आहाहा! **और निश्चय से तो उसके राग का स्वामित्व ही नहीं है।** क्या कहते हैं? देखो! आहाहा! जो अपनी चीज़ नहीं है, उसका वह स्वामी नहीं है। सम्यग्दृष्टि राग का स्वामी नहीं है। आहा! आत्मा में एक स्वस्वामित्व नाम का गुण है। सैंतालीस शक्तियों में अन्तिम गुण है। सैंतालीस—४ और ७ गुण है न? इसमें पीछे है, पीछे। स्वस्वामीसम्बन्ध नाम का गुण आत्मा में है। धर्मी अपने निर्मल द्रव्य, गुण, पर्याय को अपना स्व मानता है। उपादेयरूप से द्रव्य है परन्तु जानता है वह तो अपने द्रव्य, गुण, पर्याय निर्मल है, उसे अपना मानता है, उसका वह स्वामी; राग का स्वामी नहीं। आहाहा! समझ में आया? **इसलिए उसके लेशमात्र राग नहीं है।** इस कारण से सम्यक्त्वी को लेशमात्र राग नहीं है। इस कारण से कहा है। मिथ्यात्व और अज्ञान को अपना नहीं मानता, उस कारण से (कहा)। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

कलश-१३८

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं, जिस काव्य के द्वारा आचार्यदेव अनादिकाल से रागादि को अपना पद जानकर सोये हुए रागी प्राणियों को उपदेश देते हैं-

(मन्दाक्रान्ता)

आसंसारात्प्रतिपद-ममी रागिणो नित्य-मत्ताः,
सुप्ता यस्मिन्नपद-मपदं तद्विबुध्यध्व-मन्धाः।
एतैतेतः पद-मिद-मिदं यत्र चैतन्य-धातुः,
शुद्धः शुद्धः स्वरसभरतः स्थायिभावत्वमेति ।।१३८।।

श्लोकार्थ : (श्री गुरु संसारी भव्य जीवों को सम्बोधन करते हैं कि-) [अन्धाः] हे अन्ध प्राणियों! [आसंसारात्] अनादि संसार से लेकर [प्रतिपदम्] पर्याय पर्याय में [अमी रागिणः] यह रागी जीव [नित्यमत्ताः] सदा मत्त वर्तते हुए [यस्मिन् सुप्ताः] जिस पद में सो रहे हैं [तत्] वह पद अर्थात् स्थान [अपदम् अपदं] अपद है-अपद है, (तुम्हारा स्थान नहीं है) [विबुध्यध्वम्] ऐसा तुम समझो। (अपद शब्द को दो बार कहने से अति करुणाभाव सूचित होता है।) [इतः एत एत] इस ओर आओ-इस ओर आओ, (यहाँ निवास करो,) [पदम् इदम् इदं] तुम्हारा पद यह है-यह है, [यत्र] जहाँ [शुद्धः शुद्धः चैतन्यधातुः] शुद्ध-शुद्ध चैतन्यधातु [स्व-रस-भरतः] निज रस की अतिशयता के कारण [स्थायिभावत्वम् एति] स्थायीभावत्व को प्राप्त है अर्थात् स्थिर है-अविनाशी है। (यहाँ 'शुद्ध' शब्द दो बार कहा है जो कि द्रव्य और भाव दोनों की शुद्धता को सूचित करता है। समस्त अन्य द्रव्यों से भिन्न होने के कारण आत्मा द्रव्य से शुद्ध है और पर के निमित्त से होनेवाले अपने भावों से रहित होने से भाव से शुद्ध है।)

भावार्थ : जैसे कोई महान् पुरुष मद्य पान करके मलिन स्थान पर सो रहा हो उसे कोई आकर जगाये-और सम्बोधित करे कि "यह तेरे सोने का स्थान नहीं है; तेरा स्थान तो शुद्ध सुवर्णमय धातु से निर्मित है, अन्य कुधातुओं के मिश्रण से रहित शुद्ध है और अति सुदृढ़ है; इसलिए मैं तुझे जो बतलाता हूँ वहाँ आ और वहाँ शयनादि करके आनन्दित हो;" इसी प्रकार ये प्राणी अनादि संसार से लेकर रागादि को भला जानकर, उन्हीं को अपना स्वभाव मानकर, उसी में निश्चिंत होकर सो रहे हैं-स्थित हैं, उन्हें श्री गुरु करुणापूर्वक सम्बोधित करते हैं-जगाते हैं-सावधान करते हैं कि "हे अन्ध

प्राणियों! तुम जिस पद में सो रहे हो वह तुम्हारा पद नहीं है; तुम्हारा पद तो शुद्ध चैतन्यधातुमय है, बाह्य में अन्य द्रव्यों की मिलावट से रहित तथा अन्तरंग में विकार रहित शुद्ध और स्थायी है; उस पद को प्राप्त होओ-शुद्ध चैतन्यरूप अपने भाव का आश्रय करो''।।१३८।।

प्रवचन नं. २८०, श्लोक-१३८, गाथा-२०३, शुक्रवार, श्रावण कृष्ण ३
दिनाङ्क १०-०८-१९७९

समयसार निर्जरा अधिकार, १३८ कलश।

आसंसारात्प्रतिपद-ममी रागिणो नित्य-मत्ताः,
सुप्ता यस्मिन्नपद-मपदं तद्विबुध्यध्व-मन्धाः।
एतैतेतः पद-मिद-मिदं यत्र चैतन्य-धातुः,
शुद्धः शुद्धः स्वरसभरतः स्थायिभावत्वमेति।।१३८।।

(श्री गुरु संसारी भव्य जीवों को सम्बोधन करते हैं कि-) हे अन्ध प्राणियों!... अन्ध अर्थात् हे प्राणियों! तेरी चीज़ आनन्दमय है, उसे तू देखता नहीं, (इसलिए तू) अन्धा है। हे अन्ध! **अनादि संसार से लेकर पर्याय पर्याय में यह रागी जीव सदा मत्त वर्तते हुए...** मैं मनुष्य हूँ, देव हूँ और मैं क्रोधी हूँ, मैं नारकी हूँ, मैं तिर्यंच हूँ, मैं सेठ हूँ, मैं दरिद्र हूँ, मैं मूर्ख हूँ, मैं पण्डित हूँ, इस प्रकार पर्याय-पर्याय में अभिमान किया है। आहाहा! **सदा मत्त वर्तते हुए...** अन्ध। भगवान चैतन्य शुद्ध आनन्दकन्द प्रभु को जो नहीं देखते, उन्हें यहाँ अन्ध कहा गया है। दूसरी चीज़ को देखते हैं, तथापि अन्ध कहा है। आहाहा!

निज स्वरूप की चीज़ क्या है, उस ओर तेरा झुकाव नहीं, उस ओर तेरा प्रेम नहीं और जो चीज़ तुझमें नहीं—शरीर, वाणी, मन, लक्ष्मी-पैसा, इज्जत, उसमें तेरा मन मत्त हो गया है, मस्त हो गया है। इसलिए भगवान आचार्य अन्ध कहकर सम्बोधन करते हैं। आहाहा! एक ओर ७२ गाथा में भगवानरूप से कहें, भगवान आत्मा! वह पुण्य और पाप के मलिनभाव से प्रभु तू भिन्न है, पृथक् है। आहाहा! और उनमें अपनापन माने और उसका फल संयोग... आहाहा!

अभी भाई ने, रमेशभाई ने गाया नहीं? 'देव ने द्वारिका नगरी रचकर दी' श्रीकृष्ण के लिये देवों ने द्वारिका (नगरी की रचना की)। सोने के गढ़ और रत्न के कंगूरे। आहाहा! वह जब धग.. धग.. धग.. अग्नि से जली, प्रजा लाखों-करोड़ों जलती है, सुलगती है। श्रीकृष्ण और बलदेव माता-पिता को रथ में बैठाकर बाहर निकालते हैं। ऊपर से हुकम होता है, आकाश में से आवाज आती है, छोड़ दो, माँ-बाप को। ये नहीं बचेंगे। आहाहा! जिनकी हजारों देव सेवा करते थे, वे माता-पिता को बचाने के लिये तैयार नहीं हुए। आहाहा! माता-पिता को रथ में बैठाकर बाहर निकालते थे, वहाँ आवाज आयी, छोड़ दो! तुम दोनों के अलावा कोई नहीं बचेगा। आहाहा! उन कृष्ण और बलदेव की हजारों देव सेवा करें, उनके माता-पिता (को) जलते देखे। सुबक-सुबक कर रोते हैं। आहाहा! उस नाशवान चीज़ को नाशवान के काल में... आहाहा! कौन रख सकता है, प्रभु! आहाहा! सोने के गढ़ और रत्न के कंगूरे सुलगते हैं। आहाहा! वह देवों ने बनायी हुई (नगरी), देवों ने उसे बनायी थी। वे देव भी जलते थी, उसमें रक्षा करने नहीं आये। आहाहा! इसी प्रकार यह शरीररूपी नगरी रची है। आहाहा! जिस समय में इसके छूटने का काल आयेगा, प्रभु! तब तेरे रखने की कोई ताकत नहीं है।

यहाँ यह कहते हैं, वह अपद है। अन्दर है। आहाहा! **सदा मत्त वर्तते हुए जिस पद में सो रहे हैं, वह पद अर्थात् स्थान अपद है-अपद है,...** इस शरीर में तेरी दृष्टि पड़ी है, प्रभु! वह तेरा अपद है, तेरा पद नहीं। आहाहा! शरीर, वाणी, लक्ष्मी, पैसा, इज्जत, कीर्ति, मकान - प्रभु! वह तेरा पद नहीं, उस अपद में तू सो रहा है, नाथ! तेरे पद की सम्हाल कर ले। आहाहा! है? **सदा मत्त वर्तते हुए जिस पद में सो रहे हैं,...** शरीर में, वाणी में, पैसा, स्त्री, कुटुम्ब, मकान। आहाहा! कोई रखने नहीं आया। आहाहा! धग.. धग.. धग.. सुलगती है। रथ में बाहर निकले और माता-पिता सुलग गये। कृष्ण और बलदेव देखते हैं। कोई शरण नहीं। अन्दर में रानियाँ पुकार करें। जिनकी अर्धांगिनी रानियाँ। हजारों रानियाँ पुकार करें, अरे कृष्ण! हमें निकालो, हमें निकालो। कौन निकाले, भाई! आहाहा! तेरी दृष्टि जहाँ पर के ऊपर अपद में पड़ी है, तेरे पद में क्या चीज़ है, उसकी तुझे खबर नहीं। आहाहा! अपद में तेरी बुद्धि रुक गयी है, प्रभु! आहाहा! आचार्य एक बार भगवानरूप से सम्बोधन करते हैं और एक बार अन्धरूप से (सम्बोधन) करते हैं।

आहाहा! प्रभु! तेरा स्वभाव तो भगवानस्वरूप है, प्रभु! उस रूप से तो आचार्य, भगवानरूप से सम्बोधन करते हैं। परन्तु तू पर्याय में, राग और द्वेष, पुण्य और पाप में और उसके फल में मत्त हो गया है, मस्त हो गया है, पागल हो गया है। आहा! वह चीज़ नाशवान है, भाई! आहाहा! यह रूपवान शरीर लगे, वह एक बार अग्नि में सुलगेगा। यहाँ से अग्नि निकलेगी। आहाहा! धग.. धग.. धग.. धग.. अग्नि सुलगेगी। इसी भव में शरीर की स्थिति! आहाहा! प्रभु! वह तेरी चीज़ कहाँ है? आहाहा! अपद में तेरी चीज़ कहाँ है? है?

दो बार कहा, **अपद है-अपद है,...** प्रभु! यह राग, पुण्य, शरीर, लक्ष्मी, इज्जत, कीर्ति, मकान, यह जमीन, मकान... आहाहा! वह दो अरब चालीस करोड़ का धनी... पोपटभाई है न? पोपटभाई का साला, इन पोपटभाई का साला। दो अरब चालीस करोड़। वलुभाई! दशाश्रीमाली बनिया था, तुम्हारी जाति का। आहाहा! वह यहाँ...

मुमुक्षु : सम्हालकर रखना नहीं आया होगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे! क्या रखे, भाई! मुझे दुःखता है, ऐसे रात्रि में डेढ़ बजे कहा। मुझे दुःखता है। घर में चालीस लाख का बँगला, दस-दस लाख के दो बँगले, साठ लाख के तीन बँगले और आहाहा! अभी यह तो वर्तमान। अभी उनका लड़का है। लड़का मुम्बई दर्शन करने आया था। वह कहे 'मेरे पिताजी को आपके दर्शन करने का भाव था।' ऐसा कुछ बोले न! यहाँ आवे इसलिए (ऐसा बोले)। होगा कुछ, एक बार कहता अवश्य था, नहीं? पोपटभाई! एक बार सोनगढ़ जाना है, कहा होगा? परन्तु ढाई अरब रुपये! फट गया प्याला! (मान का पावर चढ़ गया)। आहाहा! द्वारिका सुलगे, उसमें उस समय सुलग गया।

मुमुक्षु : अम्बाजी की मेहरबानी...

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल, वापस अम्बाजी को मानता था। स्थानकवासी था और अम्बाजी को मानता था। आहाहा! वह भाई पाँच मिनिट में देह छूट गया। बापू! वह अपद और अनित्य है। भाई! प्रभु! वह तो नाशवान चीज़ है, तेरा अविनाशी पद तो प्रभु! अन्दर है। आहाहा! अरे! अविनाशी भगवान अन्दर (विराजता) है, उस ओर तेरा लक्ष्य भी नहीं, उस पद की ओर तेरा ध्यान भी नहीं और इस अपद में तेरी प्रीति और प्रेम में घुस गया है। आहाहा! (वह) तेरा स्थान नहीं, ऐसा कहा। आहाहा! शरीर, वाणी, कर्म आदि। आहाहा!

वे माता-पिता सुलगते होंगे, तब कृष्ण और बलदेव कौन कहलाते हैं ? आहाहा! अर्ध (अर्थात्) तीन खण्ड के धनी। माता-पिता सुलगते हैं तो भी छुड़ा नहीं सके, भाई! आहाहा! कृष्ण, बलदेव को पुकार करते हैं, बड़े भाई हैं न ? स्वयं तो बड़े, पदवीरूप से वासुदेव बड़े हैं। भाई! अब हम कहाँ जायेंगे ? आहाहा! भाई! यह द्वारिका सुलग गयी। हमने पाण्डवों को तो देश बाहर कर दिया है। भाई! अपने को जाना कहा। आहाहा! वह समय तो देखो! हें ? बलभद्र कहते हैं, भाई! हमने पाण्डवों को देश बाहर किया है, परन्तु वे सज्जन हैं, भाई! सज्जन हैं। हम वहाँ जायेंगे, दूसरा कोई साधन नहीं है। अरर. ! जिनकी हजारों देव सेवा करें, वे पुकार करते हैं। भाई! अब कहाँ जायेंगे ? द्वारिका सुलग गयी। आहा..हा.. ! राजा के ऊपर तो हम स्वामी थे, वे राजा भी अपने को कुछ शरण नहीं देते। उन्हें हमारा दवाब था। जाना कहाँ ? भाई! बलदेव कहे, बापू! भाई! हम वहाँ पाण्डवों के पास जायेंगे, वे सज्जन हैं। अरे! आहाहा! वे दोनों कौशम्बी वन में गये। तब कृष्ण कहते हैं, भाई! मुझमें पैर उठाने की शक्ति नहीं है। मुझे इतनी प्यास लगी है। कृष्ण पुकारते हैं, मुझे इतनी प्यास लगी है कि पैर नहीं उठा सकता। बापू! भाई! तुम यहीं रहो। बलदेव कहते हैं, मैं पानी लेने जाता हूँ। आहाहा! वहाँ पानी का लोटा-बोटा कहाँ था ? बड़ा पत्ता था तो पत्ते को सली डालकर लोटा जैसा बनाकर पानी लेने गये। भगवान ने कहा कि इनके हाथ से ये मरेंगे। क्या नाम कहा ? जरतकुमार... जरतकुमार! भगवान ने कहा था कि इसके हाथ से (मरण को प्राप्त होंगे), इसलिए बेचारा बारह वर्ष से जंगल में (रहता था)। आहाहा! श्रीकृष्ण तो... पुण्यवन्त प्राणी, पैर में मणि, रत्न भरे हुए, ऐसे दूर से देखा। पैर पर पैर चढ़ाकर सो रहे थे। कोई हिरण है, ऐसा विचार कर तीर मारा। आहाहा! तीर मारा और वहाँ खून जमकर हजारों चींटियाँ (एकत्रित हुई), देह छूट गयी। अभी देह छूटने से पहले जरतकुमार आये कि अरे कौन है यह तो ? आहाहा! भाई! तुम बारह वर्ष से जंगल में (रहते हो) मेरे हाथ से यह स्थिति! प्रभु! मैंने गजब किया, काल किया। आहाहा! मुझे अब कहाँ जाना ? श्रीकृष्ण कहते हैं, भाई! यह कौस्तुभमणि अरबों रुपये की कीमत का वासुदेव की अंगुली में होता है। कौस्तुभमणि। यह ले जा, पाण्डवों के पास जा, वे तुझे रखेंगे कि यह मेरा चिह्न है। तीन खण्ड में कौस्तुभमणि किसी के पास नहीं है, इसलिए यह निशानी लेकर जा। भाई! तुझे रखेंगे। आहाहा! यह जहाँ वहाँ से छूटता है, तब वहाँ देह छूट जाने का

(प्रसंग बना) कौशम्बी वन में कृष्ण अकेले। आहाहा! कोई वहाँ शरण नहीं। आहाहा! उस अपद में शरण कहाँ है? प्रभु! आहाहा! उसकी सम्हाल करने तू जाता है। देह और वाणी की, बाह्य पदार्थ की। आहाहा! वह अपद है न, प्रभु! वह तेरा रहने का स्थान नहीं। आहाहा! तेरा बैठने का स्थान नहीं, प्रभु! आहाहा! तेरा बैठने का स्थान अन्दर अविनाशी भगवान है। आहाहा!

'विबुध्यध्वम्' ऐसा तुम समझो। (अपद शब्द को दो बार कहने से अति करुणाभाव सूचित होता है।) करुणा.. करुणा.. करुणा..। सन्तों की भी करुणा! अरे रे! प्रभु! मैं मनुष्य हूँ और मैं देव हूँ, मैं पैसेवाला हूँ, मैं राजा हूँ, मैं जमींदार हूँ, मैं सेठ हूँ। अरे प्रभु! यह क्या करता है? आहाहा! प्रभु! वह चीज़ तो नाशवान है। वह तेरा अपद है, वहाँ तेरे रहने का स्थान नहीं है, वह बैठक का स्थान नहीं है, प्रभु! आहाहा! शराब पीकर जैसे कोई मनुष्यों ने विष्टा की हो और वहाँ जाये, आहाहा! दूसरा व्यक्ति आया और कहा अरे! राजा तुम? शराब पिया हुआ। मनुष्यों की विष्टा थी, वहाँ सो रहा था। आहाहा! भाई! यह क्या? तुम्हारा स्थान तो राज्य में स्वर्ण का सिंहासन है और यह क्या? परन्तु शराब पिये हुए। इसी प्रकार मोह को पीये हुए अज्ञानी। आहाहा! अपना आनन्दकन्द प्रभु, सच्चिदानन्द शुद्धस्वरूप में जाकर इस अपद में तेरा स्थान (मानकर) सन्तुष्ट होकर पड़ा है, प्रभु! आहाहा!

'इतः एत एत' इस ओर आओ-इस ओर आओ,... आहा..हा..! है? यह दो बार कहा। अपद-अपद, दो बार कहा। आहाहा! यहाँ आओ, यहाँ आओ। प्रभु! यहाँ अन्दर आत्मा आनन्द का नाथ प्रभु, आहाहा! शुद्ध परमात्मस्वरूप, वह राग से रहित प्रभु तेरा स्थान यहाँ है, यहाँ आओ, यहाँ आओ। आहाहा! है? **इस ओर आओ-इस ओर आओ,...** जहाँ पूर्णानन्द का नाथ शुद्ध चैतन्यरूप से विराजमान है। आहाहा! अतीन्द्रिय चैतन्य चमत्कारिक शक्तियों का सागर पड़ा है। प्रभु! यहाँ आओ न, आओ न! दो बार कहा। ए... आओ, आओ। आओ.. आओ। आहाहा! है? **(यहाँ निवास करो,)...** यहाँ निवास करो। वास उपरान्त निवास। आहाहा! निवास करो। वहाँ रहो कि जिसमें से निकलना न पड़े, इस प्रकार निवास करो, ऐसा कहते हैं। वास, निवास। बसना और यह तो निवास। विशेष से अन्दर भगवान चैतन्यमूर्ति प्रभु है न, वहाँ आओ न! वहाँ आओ न अन्दर। आहाहा! सन्त दिगम्बर मुनि, अमृतचन्द्राचार्य। आहाहा! उस समय चलते सिद्ध!

हजार वर्ष पहले दिगम्बर सन्त ऐसे अमृतचन्द्राचार्य की यह टीका! अभी भरतक्षेत्र में अन्यत्र कहीं नहीं है। आहाहा! ऐसी टीका! एक-एक शब्द में कितना भरा है! आहाहा! समझ में आया? यह तो टीका उपरान्त कलश बनाया है।

यहाँ आओ **(निवास करो,)**... आहाहा! **'पदम् इदम् इद' तुम्हारा पद यह है- यह है,...** आहाहा! तीन बातें कही। एक तो 'अपद, अपद' दो बार कहा। यहाँ आओ, आओ, दो बार (कहा) और तुम्हारा पद यह है, यह है। यह दो बार (कहा)। है? **'पदम् इदम् इद' 'पदम् इदम् इद'** आहाहा! बहुत सरस कलश आया है। भगवान अन्दर है न, बापू! आहा! चैतन्य चमत्कारिक चीज़ अन्दर प्रभु भगवत्स्वरूप है, वहाँ आओ, वहाँ आओ। आहाहा! ये (बाह्य चीज़ें) अपद है, अपद है। शरीर, वाणी, लक्ष्मी, कीर्ति, इज्जत, यह सब अपद है, अपद है। दो बार। यहाँ आओ.. आओ, दो बार। तुम्हारा पद यह है, यह है। दो बार। प्रभु! तेरा पद तो अन्दर आनन्द अविनाशी पद है न! आहाहा!

जहाँ शुद्ध-शुद्ध चैतन्यधातु... यह दो बार। शुद्ध-शुद्ध चैतन्यधातु। शुद्ध द्रव्य से और पर्याय से शुद्ध है। आहाहा! द्रव्य से और गुण से वह शुद्ध है। आहाहा! शुद्ध-शुद्ध। पर्याय लें तो कारणशुद्धपर्याय। बाकी गुण और द्रव्य। द्रव्य से शुद्ध और गुण से शुद्ध है। यह चैतन्यधातु है न, प्रभु! जिसने चैतन्यपना धार रखा है न! उसने राग और पुण्य धार नहीं रखा। भगवान अन्दर चैतन्यधातु ने चैतन्यपना धार रखा है। आहाहा! उसने अतीन्द्रिय आनन्द को धार रखा है, प्रभु! आहाहा! वह शुद्ध-शुद्ध चैतन्यधातु।

स्व-रस-भरतः की.. **भरतः** अर्थात् **अतिशयता के कारण...** आहाहा! जिसके रस में इतना रस है, अतिशय। आनन्दरस, ज्ञानरस, शान्तरस, स्वच्छतारस, प्रभुतारस - ऐसे अनन्त गुण का रस। आहाहा! निजरस की अतिशयता। **भरतः** है न? विशेषता। ऐसा निजरस भरा है कि उसके जैसा कहीं नहीं है। आनन्दरस जिसमें-प्रभु आत्मा में है। आहाहा! अतीन्द्रिय चैतन्यधातु जिसकी है। धातु अर्थात् धारण किया है। उसने तो चैतन्यपना ही धारण किया है। राग और पुण्य उसने धारण नहीं किया, आहाहा! (यहाँ तक) जाना। कहो, पंकजभाई! इस जवाहरात के धन्धे में से निकलना और यह सब। आहाहा! बहुत आमदनी हो, पीछे हम लाख-दो लाख दान में देंगे। परन्तु उसमें... वह भी शुभभाव है। वह भी अपद है। आहाहा! ऐसी बात है, प्रभु! आहाहा!

मुमुक्षु : दुनिया को, संसार को सुलगा दिया।

पूज्य गुरुदेवश्री : संसार पूरी चीज़ ही दु:खमयी है। शरीर, वाणी, कर्म, पैसा, इज्जत, कीर्ति सब दु:ख के निमित्त हैं तो दु:खमयी कहे जाते हैं। आहाहा! ऐसे पाँच-पच्चीस लाख महीने-महीने की आमदनी हो, आहाहा! मस्तिष्क—प्याला फट जाये (अभिमान चढ़ जाये)। भाई! तू पागल हो गया है। जो तेरी चीज़ नहीं है, वहाँ शराब पीकर जैसे विष्ठा के स्थान में बैठे; वैसे प्रभु! तूने मिथ्यात्व की महा मदिरा की है। आहाहा! कि जो स्थान तेरा पद नहीं है, वहाँ तू सो रहा है। आहाहा!

शुद्ध चैतन्यधातु **'स्व-रस-भरत:'** स्व-रस से भरा पड़ा है। स्व-रस की विशेषता से, अतिशयता से भरा पड़ा है। आहाहा! अरे रे! ऐसी बात सुनने को मिलती नहीं। हैं? इसे कहाँ जाना? आहा! और यह तो आत्मा के हित की बात है, प्रभु! समझ में आया? यह पंच महाव्रत के परिणाम और उनमें रहना, वह सब अपद है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! तेरा पद तो शुद्ध-शुद्ध चैतन्यधातु अन्दर विराजमान है, भगवान! आहा! कर्म के निमित्त से राग हो, उससे भी तेरी चीज़ भिन्न है। आहाहा! तेरी चीज़ को राग की लार चिपटती नहीं, छूती नहीं। दया, दान, व्रत, काम, क्रोध के परिणाम, प्रभु! तेरी चीज़ को स्पर्श नहीं करते। ऐसी तेरी चीज़ अन्दर निर्लेप पड़ी है। आहाहा! आनन्द का सागर उछलता है, वहाँ जा न, नाथ! वहाँ आ न, प्रभु! आहाहा! यह मुनियों की करुणा तो देखो! हैं? आहाहा!

'स्व-रस-भरत:' निज शक्ति के रस के आनन्दादि अनेक गुण। अस्तित्व का आनन्द, वस्तुत्व का आनन्कद, जीवत्व का आनन्द, ज्ञान का आनन्द, दर्शन का आनन्द, शान्ति का आनन्द। शान्ति अर्थात् चारित्र का (आनन्द), ऐसे अनन्त गुण का आनन्द, ऐसे रस से भरा हुआ पड़ा है न, प्रभु! अन्दर। आहाहा!

स्थायीभावत्व को प्राप्त है... क्या कहते हैं? जब यह वस्तु—शरीर, राग नाशवान है, तब यह (आत्मा) स्थायीभाव है। स्थिर भाव अन्दर पड़ा है, स्थायी रहनेवाला है, शाश्वत् रहनेवाला है। आहाहा! कहाँ करोड़पति, सेठ, इसके माँ-बाप, अरे..! मरकर कहाँ पड़े होंगे? हरितकाय में, कन्दमूल में, लहसुन कन्द में पड़े होंगे, बापू! आहाहा! यहाँ सब कुटुम्ब कबीला और पाँच-पच्चीस लाख के मकान हों और मौज मानता हो। मानो, ओहोहो! उसमें पुत्र का विवाह हो, और उसमें दो-पाँच लाख खर्च करना हो और...

आहाहा! फलाफूला देखो इस संसार में! इसकी माँ भी गीत गाते-गाते कण्ठ बैठ जाये। दूसरे कहें कि माँ! परन्तु थोड़ा बोलो न! आहाहा! राग के रसिया के राग, कण्ठ बैठ जाये तो भी शोर किया करे। मूर्ख! आहाहा! प्रभु! तेरा रस तो यहाँ स्थायी भाव, यह है न! वे तो सब अस्थायी हैं। आहाहा! श्लोक बहुत अच्छा आ गया। निर्जरा अधिकार पढ़ते थे न? आहाहा!

स्थायीभावत्व को प्राप्त है अर्थात् स्थिर है-... भगवान अन्दर स्थायीभाव, स्थायी अविनाशी ध्रुव। ध्रुवधाम प्रभु तेरा पद है। आहाहा! उस पद में आ जा। अपद से छूट जा। आहाहा! जन्म-मरणरहित होना हो तो अपद से छूटकर पद में आ जा। आहाहा! भगवान तेरी चैतन्यधातु निजरस से अन्दर भरी पड़ी है। आनन्द का रस! आहाहा! जैसे पूरणपोली होती है न? पूरणपोली नहीं? ऐसे घी में डालते हैं। सराबोर, सराबोर (घी) टपकता है। इसी प्रकार भगवान आनन्द के रस से अन्दर भरा पड़ा है। अन्दर रस टपकता है। यदि तेरी नजर कर तो उसमें रस टपकता है। आहाहा! अरे रे! ऐसा तेरा तत्त्व, प्रभु! उसे भूलकर कहाँ तू पड़ा है? कहाँ तेरी दृष्टि पड़ी है? आहाहा! स्थायी भाव को प्राप्त अर्थात् स्थिर, अविनाशी है। आहाहा!

यहाँ 'शुद्ध' शब्द दो बार कहा है, जो कि द्रव्य और भाव दोनों की शुद्धता को सूचित करता है। द्रव्य शुद्ध है और भाव भी शुद्ध है। आहाहा! भाववान द्रव्य तो शुद्ध है परन्तु भाववान का भाव भी शुद्ध है। आहाहा! यह भाव पुण्य-पाप के भाव नहीं। वे तो अशुद्ध, मैल और दुःख हैं। आहाहा! भाववान भगवान का भाव शुद्ध आनन्दादि भाव, वह तेरा है। वह स्थायी भाव को प्राप्त है, स्थिर भाव है। अनादि-अनन्त अनन्त वह तो स्थिररूप है। जिसमें हलचल है नहीं। आहाहा! प्रभु! ऐसा तेरा ध्रुवधाम पड़ा है न! आहाहा! उस तेरी नगरी में आ। इस पर नगरी को छोड़, प्रभु! आहाहा! हमारा नगर है, हमारा गाँव है। आहाहा!

समस्त अन्य द्रव्यों से भिन्न होने के कारण... द्रव्य और भाव का स्पष्टीकरण करते हैं। **समस्त अन्य द्रव्यों से भिन्न होने के कारण आत्मा द्रव्य से शुद्ध है और पर के निमित्त से होनेवाले अपने भावों से...** अपने भावों से। देखो! पुण्य-पाप के भाव पर्याय में होते हैं, अपने भाव से भी भिन्न है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! अरे! कोई वाँचन

नहीं, श्रवण नहीं, मनन नहीं और ऐसा का ऐसा धन्धे में और स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब में लवलीन, लवलीन, मस्त, पागल जैसा दिखे। आहाहा! प्रभु! तू कहाँ है? कहाँ जाता है तू? तुझे खबर नहीं। आहाहा! इस वैश्या के घर में जाये तो व्यभिचारी होता है। इसी प्रकार राग और पर को (अपना) मानता है तो तू व्यभिचारी होता है, प्रभु! आहाहा! जो चीज़ तेरी नहीं है, उसे अपनी मानना, वह व्यभिचार है। आहाहा! जेठालालभाई! ऐसी बातें हैं, प्रभु! आहाहा! आहाहा! **भाव से शुद्ध है।**

भावार्थ : दृष्टान्त देते हैं। **जैसे कोई महान् पुरुष मद्य पान करके...** देखा? शराब पीकर। आहा! हमने तो देखा है, राजकोट में जंगल बाहर जाते थे तो एक (व्यक्ति) शराब पीकर निकलता है। राजकोट के बाहर बड़ा शराब का पीठ है। उस ओर से हम जंगल-दिशा को जाते थे। एक शराब पीकर निकला था। ऐसे पागल जैसा, पागल। अरे! कहा। आहाहा! व्यक्ति ठीक था, ऐसे परन्तु शराब पिया हुआ; इसलिए कुछ भान नहीं होता। आहाहा! राजकोट में गाँव के बाहर... आहाहा! इसी प्रकार यह तो प्रत्येक शहर में, प्रत्येक गाँव में, दारू पिये हुए हैं, कहते हैं और वह मिथ्यात्व की शराब पिये हुए, मद में आये हुए, हम लक्ष्मीवाले हैं, हम सेठ हैं, हम राजा हैं। आहाहा! स्त्री कहे हम रानी हैं, पटरानी हैं। आहा! सेठानी हैं, अरे प्रभु! तू यह क्या करता है। आहाहा! वह कहाँ तेरी चीज़ है कि तुझे अभिमान हुआ? आहाहा!

महान् पुरुष मद्य पान करके मलिन स्थान पर सो रहा हो... मलिन स्थान हो, वहाँ (सो रहा हो)। **उसे कोई आकर जगाये-और सम्बोधित करे कि यह तेरे सोने का स्थान नहीं है;...** सोने का स्थान अर्थात् स्वर्ण का नहीं। सोने का अर्थात् सोने का (नींद का) स्थान। **तेरे सोने का स्थान नहीं है; तेरा स्थान तो शुद्ध सुवर्ण...** लो, ठीक! तेरी **स्थान तो शुद्ध सुवर्णमय धातु से निर्मित है,...** आहाहा! सोने का मकान है। बौद्ध में अभी है। बौद्ध में सोने का मन्दिर है। अरबोंपति बस्ती बड़ी है और पैसेवाले बहुत हैं। सोने का मन्दिर है। अभी... अभी कलिकाल में। आहाहा!

मुमुक्षु : दीवारें भी...

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। परन्तु उसमें क्या है? सोने का क्या, रत्न का आ जाये। ऐसा कोई पुण्य का योग होवे तो अरबों रत्न जमीन में से निकले। उसमें क्या? वह चीज़ क्या

है ? आहा ! यह रत्न चैतन्य अन्दर में भरे हैं। आहाहा ! एक बार राग से भेदज्ञान करके रत्न को सम्हाल। आहा ! पर से तो ठीक परन्तु राग से भिन्न कर, प्रभु ! आहाहा ! पहली सम्यग्दर्शन की बात है। फिर चारित्र तो कहाँ था ? वह तो कोई दूसरी बात है। आहाहा !

यहाँ तो आत्मा आनन्दस्वरूप प्रभु, चैतन्य (धातु से) बना हुआ है। **शुद्ध सुवर्णमय धातु से निर्मित है,...** यह बाहर का दृष्टान्त। **अन्य कुधातुओं के मिश्रण से रहित शुद्ध है और अति सुदृढ़ है;...** आहा ! कहाँ ? वह मद्य पीकर विष्टा में सो रहा है और उसे कुछ भान ही नहीं है कि इस विष्टा में (सो रहा हूँ)। प्रभु ! तू यहाँ कहाँ सो रहा है ? तेरे बँगले में मजबूत स्थान पड़ा है न ! सोने का सिंहासन है न, वहाँ जा। यह लौकिक बात, दृष्टान्त (कहा)। आहा ! **अति सुदृढ़ है; इसलिए मैं तुझे जो बतलाता हूँ, वहाँ आ और वहाँ शयनादि करके आनन्दित हो;...** वहाँ शयन करो।

इसी प्रकार ये प्राणी अनादि संसार से लेकर... राग-द्वेष, पुण्य-पाप, उसके फल, लक्ष्मी, इज्जत, कीर्ति, धूल। आहाहा ! उसे **भला जानकर,...** आहा ! हम लक्ष्मीवान हैं, इज्जतवान हैं, हमारी बड़ी इज्जत है। आहा ! हमारे लड़के को बड़े-बड़े करोड़पतियों की आती है। परन्तु क्या है, प्रभु यह तुझे ? यह पागलपना तुझे क्या हुआ ? क्या हुआ ? आहाहा ! यह नाशवान सुलगेगा, तब बापू ! चला जायेगा, बापू ! आहाहा ! इस नाशवान का काल आयेगा। नाशवान तो अभी भी है परन्तु पृथक् पड़ने का अवसर आयेगा तो, आहाहा ! ये सब बँगले और स्त्री-पुत्र रोते रहेंगे (और तू / आत्मा) चला जायेगा। आहाहा !

बालक जन्मता है, तब पहले आँख नहीं उघाड़ता। देखा है ? सवा नौ महीने पेट में रहा, ऐसे आँख बन्द हो। बाहर जन्मे, तब पहले मुख खोलता है। मुख उघाड़कर पहले ऊं... करता है। आँखें बन्द रखता है। समझ में आया ? ऐसा कहते हैं कि यहाँ स्व को देखने की आँखें बन्द करके रोता है, बस ! यह मेरा है, यह मेरा है, यह मेरा है। बालपन से रोता आया, पश्चात् भी तू तो रोता है। आहाहा ! एक बार समाचार-पत्र में ऐसा आया था कि बालक जन्मे तब, उसे उसकी माँ अभी देखे कि यह लड़की है या लड़का, वहाँ मुँह फाड़कर ऊं... करे। आँख नहीं उघाड़े। यह सबको हुआ है, हों ! उस समय। इसी प्रकार यह अनादि से अज्ञानी, प्रभु को देखने की आँख बन्द करके यह मेरे, यह मेरे—ऐसे रोया करता है, रुदन करता है। आहाहा !

यहाँ आ जा, प्रभु! आहाहा! **रागादि को भला जानकर, उन्हीं को अपना स्वभाव मानकर,...** चाहे तो शुभराग हो। दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, वह भाव अस्थान है। आहाहा! **उसी में निश्चिंत होकर सो रहे हैं...** उन्हें ही अपना स्वभाव मानकर निश्चिंत होकर सो रहे हैं। **स्थित हैं, उन्हें श्री गुरु करुणापूर्वक सम्बोधित करते हैं-जगाते हैं-सावधान करते हैं...** तीन अर्थ लिये हैं। सम्बोधित करते हैं, जगाते हैं, सावधान करते हैं। **हे अन्ध प्राणियों!** आहाहा! **तुम जिस पद में सो रहे हो, वह तुम्हारा पद नहीं है;...** आहाहा! राग, दया-दान के राग से लेकर सब चीज़ अपद है, नाशवान है, तेरी चीज़ नहीं है। आहाहा!

तुम जिस पद में सो रहे हो, वह तुम्हारा पद नहीं है; तुम्हारा पद तो शुद्ध चैतन्यधातुमय है,... आहाहा! तुम्हारा स्थान, स्वभाव अन्दर शुद्ध चैतन्यधातु, शुद्ध चैतन्यधातु। शुद्ध चैतन्य जिसने धार रखा है, वह तेरा पद अन्दर है। आहाहा! **बाह्य में अन्य द्रव्यों की मिलावट से रहित...** यह मिलावट करते हैं न? आहाहा! मिर्च, मिर्च चरपरी मिर्च होती है न, मिर्च में पपीते के बीज, पपीते के बीज मिर्ची जैसे होते हैं, वे अन्दर डालते हैं। मिलावट, मिलावट करते हैं। यह तो मैंने दृष्टान्त दिया। ऐसा सबमें (होता है)। मिर्च की ऊपर वह भरे और अन्दर बीज भरे। चावल में कणी (टुकड़े) भरे। चावल में बहुत कणी हो, कणी समझ में आया? बारीक चूरा। दूसरे को देना हो तो सेठ ऐसा हो। दुकान भरी हो, बम्बी हो बम्बी, बम्बी समझ में आया? चावल निकालने का। ऐसे नहीं मारे। ऐसे मारे तो चावल और कणकी दोनों निकले। ऐसे मारे। यह सब (देखा है न।) इसलिए पूरे-पूरे चावल निकले। अन्दर कणी का पार नहीं, परन्तु कपट। ये बनिये ऐसा करते हैं, सब देखा है, हों! पूरी दुनिया देखी है।

हमारे तो अन्तिम, कहा था न? (संवत्) १९६८ में अन्तिम बार माल लेने हम मुम्बई गये थे, तो चार सौ मण चावल लिये थे। चार सौ मण। अन्तिम व्यापार। फिर दुकान छोड़ दी। चार सौ मण चावल और खजूर का वाडिया, क्या कहलाता है वह? खजूर का वह बहुत लिया था मुम्बई से, परन्तु सीधी बात यहाँ, हों! आड़ी-टेड़ी (बात) नहीं। यहाँ तो सीधा बताते हैं, देख भाई! यह है चावल। थोड़ी कणी है और वे कपट करनेवाले, वह लोहे की बम्बी हो, ऐसे पोली-पोली हो। ऐसे रखे, इसलिए चावल आवे और कणी न

आवे। अरे! प्रभु! तू क्या करता है यह? यह तेरा धन्धा किस प्रकार का? आहाहा! पंकजभाई! सबको देखा है, हों! एक वकालात नहीं की, भाई कहते हैं वह। परन्तु वकालात को देखा पूरा है।

हमने एक वकील किया था। (संवत्) १९६३ के वर्ष में अफीम का झूठा केस आया था। बड़ोदरा में एक बड़ा वकील रखा था। उस वकील के पास जाते, वहाँ वह कहे, वहाँ क्या कहेंगे, अमुक कहेंगे। वह सब कहे। बड़ोदरा.. बड़ोदरा.. है न? दरवाजा है न? दरवाजे के बाद इस ओर के मकान में वकील रहता था। एक बार दूसरा होगा, तब वकील। वकील के पास जाते थे, हमने हमारे लिये वकील रखा था। यह सत्रह वर्ष की उम्र की बात है। दस और सात। १९६३ का वर्ष। आहाहा! परन्तु वे सब, वकील भी सब... वह जिस मकान में हमारा केस चला था, १९६३ में, उस मकान में मैंने अभी व्याख्यान दिया था। बड़ोदरा का तालाब है न? उसके पास बड़ा है न... क्या कहलाता है वह? कोर्ट, बड़ी कोर्ट। बड़ोदरा दरवाजा बाहर और तालाब है, वहाँ हमारा १९६३ में केस चला था। वहाँ अभी व्याख्यान दिया था। सब लोग आते थे, अमलदार, अधिकारी। अपने केशवलाल एक प्रोफेसर थे न? गुजर गये। केशवलाल भट्ट। वे आये थे। सब थे, सब वकील थे। ऊपर कोर्ट चलती थी, नीचे व्याख्यान चलता था। उन लोगों को छुट्टी दी। भाई! महाराज आये हैं और लोग ज्यादा भरते हैं, अन्यत्र कहीं मिलता नहीं, वहाँ पढ़ो। आहाहा! परन्तु वे कोर्टवाले भी सुनकर, बेचारों को कुछ खबर नहीं होती। क्या कहते हैं, यह क्या करते हैं? यह भगवान रागरहित चीज़ है तो वे कहें, यह क्या कहते हैं परन्तु?

हमने तो कभी भी रागरहित चीज़ देखी नहीं और यह क्या कहते हैं? परन्तु तूने नजर ही कहाँ की है? जहाँ निधान है, वहाँ नजर नहीं की और राग-द्वेष, पुण्य-पाप और (उनके) फल (पर) तेरी नजर है। नजरबन्दी हो गयी है, नजरबन्दी हो गयी है। तुझे नजरबन्दी हो गयी है। नजरबन्दी नहीं कहते? तुझे पर में नजरबन्दी हो गयी है। अपनी नजर करने का समय रहा नहीं। आहाहा!

अन्य द्रव्यों की मिलावट... मिलावट, देखा न? आहाहा! **तथा अन्तरंग में विकार रहित...** आहाहा! खाण्ड की आती है न? पूरी चार-चार मण की बोरी। एक बार हमारी खाण्ड की बोरी में से माँस के लोथड़े निकले। बोरी में से। लोग कपट करे, मिलावट

(करे), दूसरी मिलावट करते हुए। ऐसा खोला और लोगों को हम खाण्ड निकालकर देते थे, वहाँ अन्दर से माँस निकला। ओहोहो! उसने कपट किया है। दुकान पर सब देखा है। आहाहा! यह सब मिलावट है। भगवान आत्मा में राग, वह माँस समान है। उसकी मिलावट करते हैं। खाण्ड के साथ माँस; वैसे भगवान अमृत के रस का सागर नाथ, उसके साथ राग की मिलावट, माँस की मिलावट करते हैं। आहाहा! ऐसी बात है, प्रभु! आहाहा! तेरी चीज़ मिलावटरहित है।

अन्तरंग में विकार रहित शुद्ध और स्थायी है;... स्थिर ध्रुव, ध्रुव, ध्रुव स्थिर है। **उस पद को प्राप्त होओ...** प्रभु! उस पद को प्राप्त कर। आहाहा! **शुद्ध चैतन्यरूप अपने भाव का आश्रय करो।** शुद्ध चैतन्यरूप और भाव, देखा। भाववान आत्मा, चैतन्यभाव। आहाहा! उस भाव का आश्रय करो। अन्तर ज्ञायकभाव से भरपूर प्रभु का आश्रय करो, तब तेरे कल्याण का पन्थ खुलेगा, तब तुझे धर्म होगा। आहाहा! यहाँ तो अभी बाहर के क्रियाकाण्ड में, बस! महाव्रत और व्रत और यह लिया और यह किया, यह छोड़ा और यह रखा। आहाहा!

गाथा-२०३

किन्नाम तत्पदमित्याह -

आदम्हि दव्वभावे अपदे मोत्तूण गिण्ह तह णियदं।
थिरमेगमिमं भावं उवलब्भंतं सहावेण।।२०३।।

आत्मनि द्रव्यभावानपदानि मुक्त्वा गृहाण तथा नियतम्।
स्थिर-मेक-मिमं भाव-मुपलभ्यमानं स्व-भावेन।।२०३।।

इह खलु भगवत्यात्मनि बहूनां द्रव्यभावानां मध्ये ये किल अतत्स्वभावेनोपलभ्यमानाः, अनियत-त्वावस्थाः, अनेके, क्षणिकाः, व्यभिचारिणो भावाः; ते सर्वेऽपि स्वयमस्थायित्वेन स्थातुः स्थानं भवितु-मशक्यत्वात् अपदभूताः। यस्तु तत्स्वभावेनोपलभ्यमानः, नियतत्वावस्थः, एकः नित्यः, अव्यभिचारी भावः, स एक एव स्वयं स्थायित्वेन स्थातुः स्थानं भवितुं शक्यत्वात् पदभूतः। ततः सर्वानेवास्थायिभावान् मुक्त्वा स्थायिभावभूतं परमार्थरसतया स्वदमानं ज्ञानमेकमेवेदं स्वाद्यम्।।२०३।।

अब यहाँ पूछते हैं कि (हे गुरुदेव!) वह पद क्या है? उसका उत्तर देते हैं-

जीव में अपद्भूत द्रव्यभाव को, छोड़े ग्रह तू यथार्थ से।
थिर, नियत, एक हि भाव यह, उपलभ्य जो हि स्वभाव से।।२०३।।

गाथार्थ : [आत्मनि] आत्मा में [अपदानि] अपदभूत [द्रव्यभावान्] द्रव्यभावों को [मुक्त्वा] छोड़कर [नियतम्] निश्चित, [स्थिरम्] स्थिर, [एकम्] एक [इमं] इस (प्रत्यक्ष अनुभवगोचर) [भावम्] भाव को- [स्वभावेन उपलभ्यमानं] जो कि (आत्मा के) स्वभावरूप से अनुभव किया जाता है उसे- [तथा] (हे भव्य!) जैसा है वैसा [गृहाण] ग्रहण कर। (वह तेरा पद है।)

टीका : वास्तव में इस भगवान आत्मा में बहुत से द्रव्य-भावों के मध्य में से (द्रव्यभावरूप बहुत से भावों के मध्य में से), जो अतत्स्वभाव से अनुभव में आते हुए (आत्मा के स्वभावरूप नहीं किन्तु परस्वभावरूप अनुभव में आते हुए), अनियत अवस्थावाले, अनेक, क्षणिक, व्यभिचारी भाव हैं, वे सब स्वयं अस्थायी होने के कारण स्थाता का स्थान अर्थात् रहनेवाले का स्थान नहीं हो सकने योग्य होने से

अपदभूत हैं; और जो तत्स्वभाव से (आत्मस्वभावरूप से) अनुभव में आता हुआ, नियत अवस्थावाला, एक, नित्य, अव्यभिचारी भाव (चैतन्यमात्र ज्ञानभाव) है, वह एक ही स्वयं स्थायी होने से स्थाता का स्थान अर्थात् रहनेवाले का स्थान हो सकने योग्य होने से पदभूत है। इसलिए समस्त अस्थायी भावों को छोड़कर, जो स्थायीभावरूप है ऐसा परमार्थरसरूप से स्वाद में आनेवाला यह ज्ञान एक ही आस्वादन के योग्य है।

भावार्थ : पहले वर्णादिक गुणस्थान पर्यन्त जो भाव कहे थे वे सब, आत्मा में अनियत, अनेक, क्षणिक, व्यभिचारी भाव हैं। आत्मा स्थायी है (–सदा विद्यमान हैं) और वे सब भाव अस्थायी हैं इसलिए वे आत्मा का स्थान नहीं हो सकते अर्थात् वे आत्मा का पद नहीं हैं। जो यह स्वसंवेदनरूप ज्ञान है वह नियत है, एक है, नित्य है, अव्यभिचारी है। आत्मा स्थायी है और ज्ञान भी स्थायी भाव है इसलिए वह आत्मा का पद है। वह एक ही ज्ञानियों के द्वारा आस्वाद लेने योग्य है।

गाथा - २०३ पर प्रवचन

अब यहाँ पूछते हैं कि (हे गुरुदेव!) वह पद क्या है? आप पद की बहुत व्याख्या करते हो। वह पद क्या है ? ऐसा प्रश्न जिसके हृदय में से आया है, उसे उत्तर दिया जाता है। आहाहा! क्या कहते हैं ? साधारण सुनने आया हो और गरज नहीं है, उसे यह उत्तर नहीं देते, परन्तु जिसे अन्तर में (प्रश्न) आया कि प्रभु! यह पद क्या है ? आहाहा! कहाँ है आत्मा ? और कैसी चीज़ है ? प्रभु! ऐसा जिसे हृदय से उद्गार, आवाज, पूछने की आवाज आयी है, उसे उत्तर देते हैं, ऐसा कहते हैं। आचार्य ऐसा कहते हैं, उसे हम उत्तर देते हैं। आहाहा!

आदम्हि दव्वभावे अपदे मोत्तूण गिण्ह तह णियदं।
थिरमेगमिमं भावं उवलब्भंतं सहावेण।।२०३।।

जीव में अपद्भूत द्रव्यभाव को, छोड़े ग्रह तू यथार्थ से।
थिर, नियत, एक हि भाव यह, उपलभ्य जो हि स्वभाव से।।२०३।।

टीका : वास्तव में इस भगवान आत्मा में... आहाहा! लो, यहाँ से उठाया। भगवान आत्मा... देखा ? आहाहा! इसकी महिमा का पार नहीं, जिसके चैतन्य चमत्कार

की शक्ति का अगाध समुद्र भरा है। आहाहा! ऐसा भगवान आत्मा। आहाहा! **बहुत से द्रव्य-भावों के मध्य में से (द्रव्यभावरूप बहुत से भावों के मध्य में से), जो अतत्स्वभाव से अनुभव में आते हुए (आत्मा के स्वभावरूप नहीं किन्तु परस्वभावरूप अनुभव में आते हुए),...** एक बात। **अनियत अवस्थावाले,...** यह पुण्य और पाप तथा उसके फल सब अनियत है, कायम रहनेवाली चीज़ नहीं है। आहाहा!

पहले क्या कहा? **बहुत से द्रव्य-भावों के मध्य... जो अतत्स्वभाव से अनुभव में आते हुए...** एक बोल कहा। रागादि अतत्स्वभाव है। तत् स्वभाव नहीं। **अनियत अवस्थावाले,...** है। एकरूप रहनेवाले नहीं, अनियत—निश्चय रहनेवाली चीज़ नहीं। आहाहा! **अनेक,...** है। तीसरा बोल। रागादि, पुण्यादि भाव अतत्स्वभाव है, अनियत है, अनेक है और **क्षणिक,...** हैं और **व्यभिचारी भाव हैं,...** आहाहा! राग अपना मानता है, वह व्यभिचारी जीव है। आहाहा! समझ में आया?

व्यभिचारी भाव हैं,... यह दया, दान, व्रत के परिणाम अपने मानना, वह व्यभिचारी जीव है, आहाहा! गजब बात है। करोड़ोंपति सेठिया हो और उसका लड़का हो, स्त्री / कन्या अच्छे घर की और खानदान की हो परन्तु जब वह पुत्र व्यभिचार में चढ़ गया हो और अपने सन्दूक में से माल लेकर व्यभिचारी को दे तो उसके पिताजी कहते हैं, भाई! घर में स्त्री महाखानदान की लड़की है, सिर ऊँचा करती नहीं, आँख ऊँची (करती नहीं), यह भरा बर्तन छोड़कर, प्रभु! पिता उससे कहते हैं। हैं? अरे! घर में लड़की, कन्या अच्छे घर की है, वह भरा बर्तन छोड़कर... भरयू भाणूं, समझ में आया? और वह किसी जगह व्यभिचार में बापू! जाता है, भाई! यह घर अब नहीं ठहरेगा? तू सन्दूक में से माल भी ले जाता है, मुझे खबर है। उसी प्रकार जगतपिता त्रिलोकनाथ जगत को कहते हैं कि हे आत्मा! आहाहा! तेरे अन्दर खानदान की चीज़ पड़ी है न! उसे छोड़कर तू राग के व्यभिचार में चढ़ गया, प्रभु! तेरी शोभा नहीं है, वह घर नहीं टिकेगा। आहाहा! फिर लकड़ी मारे? ऐसी करुणा। आहाहा! लक्ष्मीचन्दभाई! ऐसा कि सन्त कहीं लकड़ी मारे? प्रभु! यह तू व्यभिचार में चढ़ गया, भाई! आहाहा! खानदान की लड़की घर में है, उसे छोड़कर निम्न कुल की लड़की के साथ चलने लगा, प्रभु! इसी प्रकार यह खानदान निधान अन्दर पड़ा है, उसे छोड़कर राग और पुण्य और पाप के व्यभिचार में चढ़ गया, नाथ! आहाहा! देखो! आचार्य की करुणा तो देखो! हैं? आहाहा! ऐसा है।

वह गाना नहीं गाया था ? अभी रमेशभाई ने गाया था न ? यह तेरे दुःख देखकर ज्ञानी को रुदन आता है। आहाहा! भाई! ऐसे दुःख, बापू! आहाहा! और यहाँ किंचित् थोड़ी सुविधा होवे और ठीक होवे, वहाँ मानो हम बड़े सुखी हैं। धूल में भी नहीं है, सुन न! पागल है, बाहर की पदवी के स्थान को तू अपना मानता है (तो तू) व्यभिचारी है। आहाहा! है ? **व्यभिचारी भाव हैं,...**

वे सब स्वयं अस्थायी होने के कारण... आहाहा! रागादि, पुण्यादि के भाव और सब फलादि **वे सब स्वयं अस्थायी होने के कारण...** कायम नहीं रहने के कारण **स्थाता का स्थान अर्थात् रहनेवाले का स्थान नहीं हो सकने योग्य होने से...** आहाहा! अस्थायी होने से स्थायी का स्थान, रहनेवाले का वह स्थान नहीं है। आहाहा! क्या कहा ? राग दया, दान, व्रतादि के फल सब अस्थायी हैं। वे स्थाता का स्थान नहीं है। वह रहनेवाले का स्थान नहीं है। जिसे कायम रहना है, उसका वह स्थान नहीं है। वह तो भटकने का स्थान है। आहाहा! स्थाता का, स्थाता अर्थात् स्थिर होने का, वह स्थान नहीं है।

अपदभूत हैं;... इस कारण से अपदभूत है; **और जो तत्स्वभाव से (आत्मस्वभावरूप से) अनुभव में आता हुआ,...** आहाहा! तत्स्वभावरूप से (अर्थात्) ज्ञान और आनन्दस्वभाव से अनुभव में आता हुआ। ज्ञान और आनन्द का अनुभव करनेवाला, यह तत्स्वभाव का अनुभव है; वह रागादि का अनुभव, वह अतत्स्वभाव है। आहाहा! है ? **(आत्मस्वभावरूप से) अनुभव में आता हुआ,...** आनन्द, ज्ञान, शान्ति और स्वच्छता तो आत्मस्वभाव का अनुभव है। आहाहा! वह स्थायी है। स्थाता का स्थान है। वह रहनेवाले का स्थान है। आहाहा! कैसी टीका की है! तत्स्वभाव अनुभव में आता हुआ **नियत अवस्थावाला,...** है ? वह वस्तु त्रिकाली नियत है तो उसकी अवस्था है, वह भी नियत ही रहनेवाली है। आहाहा! **एक, नित्य, अव्यभिचारी भाव...** है। आहाहा! **वह एक ही स्वयं स्थायी होने से...** एक ही प्रकार का जो ध्रुव स्थान, वह **स्थाता का स्थान अर्थात् रहनेवाले का स्थान हो सकने योग्य होने से पदभूत है। इसलिए समस्त अस्थायी भावों को छोड़कर, जो स्थायीभावरूप है...** स्थायी भावरूप है, **ऐसा परमार्थरसरूप से स्वाद में आनेवाला यह ज्ञान एक ही आस्वादन के योग्य है।** विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २८१, गाथा-२०३, श्लोक-१३९-१४०, शनिवार, श्रावण कृष्ण ४
दिनाङ्क ११-०८-१९७९

समयसार, २०३ गाथा, उसका भावार्थ। **पहले वर्णादिक गुणस्थान पर्यन्त जो भाव कहे थे...** आहाहा! **वे सब, आत्मा में अनियत,...** है? रागादि, गुणस्थान के भेदादि, वे आत्मा में अनियत है। (अर्थात्) कायम रहनेवाली चीज़ नहीं है। आहाहा! **अनेक,...** हैं। अनेक भाव हैं। रागादि विकल्प, शुभ-अशुभ आदि, वे अनेक हैं। **क्षणिक,...** हैं। रागादिभाव क्षणिक हैं। **व्यभिचारी...** हैं। आहाहा! पूनमचन्दजी छाबड़ा गये? यह प्रश्न लाये थे। विद्यानन्दजी कहते हैं कि पुण्य को अधर्म कहा है, वह कहाँ है? आचार्यों ने कहाँ कहा है? आहाहा! यह क्या कहते हैं यह? पुण्यभाव, वह अनियत है, क्षणिक है, व्यभिचारी है। आहाहा! कठिन काम। व्यभिचारी आया न? आहाहा! व्यभिचारी भाव है। शुभराग, गुणस्थान के भेद, उस अभेद की अपेक्षा से भेद का अनुभव, वह व्यभिचार है। आहाहा! राग का अनुभव, यह तो कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा न? जहर का घड़ा। शुभभाव को विषकुम्भ कहा है। अरे! प्रभु! यह शुभविकल्प भी घोर संसार का कारण है, ऐसा नियमसार में लिखा है। आहाहा! कठिन काम है, भाई! अनादि का अभ्यास, राग और भेद का अभ्यास है, उसे यह बात (कहना)।

सत्य बात यह है कि राग—दया, दान, व्रत के भाव सब व्यभिचारी है। आहाहा! भगवान आनन्दस्वरूप का अनुभव करना, वह अव्यभिचार है। आहाहा! शुभभाव का अनुभव करना... कठिन पड़े, भाई! क्या हो? उसे व्यभिचार कहा है। आहाहा! यह तुम्हारे मन्दिर बनाने का शुभभाव... लक्ष्मीचन्दभाई! यह वस्तुस्थिति (ऐसी है)। भगवान! यह तो मार्ग है, बापू! परमानन्द का नाथ शुद्ध चैतन्यघन विराजता है, उसके अनुभव के अतिरिक्त... आहाहा! वह चाहे तो शुभ तीर्थंकरगोत्र बाँधने का भाव (हो), व्यभिचार है। तब वे ऐसा कहते हैं कि अधर्म तो... आत्मावलोकन में आया है, दीपचन्दजी का, श्रावक का धर्म-अधर्म होता है, ऐसा पाठ है। परन्तु वे तो कहते हैं। श्रावक गृहस्थ का नहीं, आचार्य का लाओ, ऐसा कहते हैं। आत्मावलोकन शास्त्र दीपचन्दजी का बनाया हुआ है। परन्तु यहाँ तो सम्यग्दृष्टि चाहे तो तिर्यंच हो या सम्यग्दृष्टि सिद्ध (हों, दोनों के) सम्यग्दर्शन में कोई

अन्तर है। इसलिए वह सम्यग्दृष्टि कथन करे या केवली (कथन) करे, वह सब एक ही समान है। आहाहा! क्योंकि वहाँ तो तिर्यंच का समकित और सिद्ध का समकित, समकित में क्या अन्तर? आहाहा!

यह शुभभाव धर्मी को आता है, परन्तु है वह व्यभिचार। अर्थात् कि धर्म के स्वरूप से विरुद्ध। परन्तु यह भाव तो (संवत्) १९८५ के पौष महीने में सम्प्रदाय में कहा था। बोटाद में, १९८५, कितने वर्ष हुए? ५०, ५० वर्ष पहले। कहा, भाई! जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधता है, वह बन्ध के कारण का भाव धर्म नहीं होता। बन्ध के कारण का भाव धर्म नहीं है, इसलिए वह धर्म नहीं है; इसलिए अधर्म है।

मुमुक्षु : कोई ऐसा कहता है कि अधर्म है, ऐसा कहा लिखा है?

पूज्य गुरुदेवश्री : विषकुम्भ कहा, फिर क्या कहा? जहर का घड़ा कहा। कुन्दकुन्दाचार्य के मूल श्लोक में शुभभाव, वह जहर का घड़ा है; प्रभु तो अमृत का सागर है। अमृत के सागर से वे शुभ-अशुभभाव, वह विरुद्ध भाव है। आहाहा! वैसे तो योगीन्द्रदेव ने नहीं कहा? 'पाप को पाप तो सब कहे, परन्तु अनुभवीजन पुण्य को पाप कहे' तब पाप अधर्म नहीं? आहाहा! और पुण्य-पाप (अधिकार की) अन्तिम गाथा, जयसेनाचार्य की टीका (में कहा है)। प्रभु! यहाँ तो अधिकार पाप का चलता है, उसमें आप रत्नत्रय की, व्यवहाररत्नत्रय की व्याख्या कैसे लाये? ऐसे टीका में प्रश्न है। कि भाई! वास्तव में तो यह व्यवहाररत्नत्रय पुण्य है, व्यवहार से पवित्र धारण करता है, ऐसा भी कहा जाता है। परन्तु व्यवहार से स्वरूप से पतित होता है, इसलिए राग आता है; इसलिए उसे पाप कहते हैं। आहाहा! अरेरे! ऐसी बात!

यहाँ यही कहा कि, शुभभाव और गुणस्थान के भेद, यह सब व्यभिचार है। भाई! तेरा स्वभाव नहीं। आहाहा! प्रभु! तुझे कलंक है। आहाहा! भव करना, वह कलंक है, तो भव का भाव शुभराग करना, वह कलंक है। पुण्य-पाप अधिकार में यहाँ तक तो कहा है कि मोक्ष का कारण ऐसी सामायिक की प्रतिज्ञा लेने पर भी, शुभभाव से हटता नहीं, वह नपुंसक है। आहाहा! सामायिक की प्रतिज्ञा लेकर भी शुभभाव से हटता नहीं। शुभभाव कोई सामायिक नहीं है। आहाहा! समझ में आया? वह क्लीब है, नपुंसकता है। आहाहा!

प्रभु... प्रभु! तेरी बात। धर्मी को भी कमजोरी से आता है, उतनी नपुंसकता है। आहाहा! मार्ग दूसरा, बापू! कोई अलौकिक है। यह तो जन्म-मरण मिटावे, ऐसी दृष्टि और दृष्टि का विषय... आहाहा! अलौकिक है। लोगों को यह बाह्य की क्रिया और पुण्य-परिणाम में धर्म मनाना है और पुण्य को कारण (मनवाना है), वह व्यभिचार नहीं परन्तु उससे धर्म होगा। भाई! ऐसा तो अनन्त बार माना, प्रभु! अरे रे! आहाहा! कहीं खो गया। आहाहा!

संसार में घर में पाँच लड़कियाँ, पाँच लड़कों के पलंग बिछाये हों और दो पलंग खाली देखे तो (पूछता है), यह लड़कियाँ अभी तक क्यों नहीं आयीं? कहाँ खेलने चली गयीं? तो खोजने जाता है। खो गयी, मानो क्या हुआ यह? बारह-बारह बजे और आयी नहीं, कहाँ है? अब जो उसकी लड़की नहीं है, उसकी वस्तु नहीं है, वह खो जाए तो भी इतना खोजना? और प्रभु! तू पूरा राग में और पुण्य में खो गया। आहाहा! तेरी चीज़ पूरी खो गयी। आहाहा! राग के प्रेम में, प्रभु! तुझे तेरा प्रेम छूट गया, नाथ! आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं, यहाँ तो गुणस्थान-भेद भी व्यभिचार है, ऐसा कहा। आहाहा! वे सब भाव व्यभिचारी हैं तो **आत्मा स्थायी है...** मूल चीज़ भगवान स्थायी है। वहाँ बैठने का स्थान है, स्थिर रहने का स्थान है, स्थाता का स्थान है। जिसे स्थिर रहना हो तो स्थाता अर्थात् ध्रुव है, उसमें रह सकता है। आहाहा! ऐसी बात है। अभी तो पुण्य की क्रिया को धर्म मनाकर लोगों को प्रसन्न-प्रसन्न रखना। अरे! लोग बेचारे वहाँ प्रसन्न-प्रसन्न होते हैं। कुछ भान नहीं होता। आहाहा! भाई! यह सब तेरे संसार में भटकने के कारण हैं।

नियमसार में तो ऐसा कहा न, भाई! विकल्प घोर संसार का कारण है। वह यहाँ पाठ है। परन्तु यह ऐसा कहते हैं, पद्मप्रभमलधारिदेव मुनि का है, ऐसा कहकर (निकाल डालते हैं)। आहाहा! रतनलालजी ऐसा कहते हैं, मुनि का नहीं, आचार्य का चाहिए। क्योंकि मुनि में वह स्पष्ट आता है और मोक्षमार्गप्रकाशक, पंचाध्यायी, समयसार नाटक में बहुत स्पष्ट, एकदम स्पष्ट बात आती है। इसलिए कहते हैं कि इन गृहस्थों का नहीं। आहाहा! यह तो वह विद्यासागर ऐसा कहते हैं, मोक्षमार्गप्रकाशक नहीं। अरर! प्रभु.. प्रभु! क्या करता है? बापू! यह तो सन्तों ने, गृहस्थों ने समकितियों ने स्पष्ट बात खुली करके ताला उघाड़ दिया है। आहाहा! जो शास्त्र में गम्भीररूप से बात होती है, उसका स्पष्टीकरण करके

खिलावट की है। आहाहा! नहीं तो भी यह कुन्दकुन्दाचार्य स्वयं कहते हैं कि विषकुम्भ है। समकिती का जो शुभभाव है, वह विषकुम्भ है। मिथ्यादृष्टि का तो मिथ्यात्वभाव विषकुम्भ-जहर है, उसकी बात तो यहाँ नहीं करते। आहाहा! परन्तु आत्मज्ञानी... आहाहा! उनके आत्मा के ज्ञान के समक्ष सम्यग्दर्शन और ज्ञान के समक्ष, यह शुभभाव उन्हें आता है परन्तु जहर है। हेमराजजी ने यह अर्थ में कोष्ठक में ऐसा डाला है कि यह कर्तापने की बुद्धि है, इसलिए ऐसा कहा। ऐसा लिखा है। समयसार, मूल समयसार। कर्तापने का अर्थ कि परिणमन राग का है, वह कर्तापना। परिणमन है, वह कर्तापना, इतना वह जहर है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि वे सब पुण्य और पाप के, दया और दान के, व्रत और भक्ति के भाव, प्रभु! अस्थायी है, व्यभिचार है। प्रभु! उनमें तेरा कल्याण नहीं है। आहाहा! अरे! इस श्रद्धा की हाँ पाड़ने में तेरा क्या चला जाता है? तेरा चला जाता है—विपरीतभाव चला जाता है। उसमें तुझे नुकसान क्या है? आहाहा! वह तो लाभ का सौदा, धन्धा है। आहाहा! वह शुभराग, गुणस्थान भेद... आहाहा! यहाँ तो आगे ले जाकर मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवल, यह लेने की यहाँ तो शुरुआत है। इसमें (आगे) आयेगा। यह भी भेद है। आहाहा! अभी आयेगा न, अभी आयेगा। अब बाद की इस गाथा में अभी आयेगा। २०४, ४ में ही आयी, इसके पश्चात् ही आयी है, देखो, २०४।

आभिणिसुदोधिमणकेवलं च तं होदि एक्कमेव पदं।
सो एसो परमट्ठो जं लहिदुं णिव्वुदिं जादि।।२०४।।

इन ज्ञान के भेदों का लक्ष्य नहीं करना। वह तो ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान, बस, आहाहा! आगे की गाथा का यह उपोद्घात है। आहाहा! राग की तो बात क्या करना, परन्तु ज्ञान के पाँच भेद करना—मति, श्रुत, अवधि, यह तो ज्ञेय की अपेक्षा से जानने की पर्याय है तो भेद पड़े हैं। ज्ञायक की अपेक्षा से यह भेद है नहीं। ज्ञायक की अपेक्षा से तो ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान... आहाहा! सूक्ष्म है, भाई! अभी तो सब बाहर की प्रतिमाएँ ले लो, यह लो और यह लिया और यह किया, इसलिए मानो धर्म हो गया। अरर! प्रभु! यह तो वीतराग का मार्ग है, भाई! आहाहा!

वीतराग के पन्थ में बैठकर वीतराग से विरुद्ध बात करना... आहाहा! प्रभु! यह तुझे

शोभा नहीं देता। होता है, राग आता है परन्तु है वह जहर और आकुलता और दुःखरूप है। आहाहा! भगवान आत्मा अनाकुल और आनन्द (स्वरूप है), उसका आश्रय लेकर जो अनाकुल और आनन्ददशा सम्यग्दर्शन, ज्ञान उत्पन्न हुए, वह अनाकुल और आनन्द की दशा है। आहाहा! और पुण्य के परिणाम, वे आकुलता और दुःख है। नियमसार में तो बहुत सख्त कहा है, परन्तु मुनि हैं, ऐसा कहकर निकाल डालते हैं। आचार्यों का लाओ। अपना बचाव करना है। मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव तो कहते हैं—विकल्प घोर संसार का कारण है। आहाहा! शुभराग घोर संसार... संसार... संसार। आहाहा! अपने कल आया न भाई? लालचन्दभाई! वह गति। मनुष्यगति आदि क्रिया, परिणाम संसार है। आहाहा! गति आदि के भाव पर्याय में, हों! पर, शरीर आदि की बात नहीं। गति आदि के भाव, रागादि के भाव... आहाहा! वे सब क्रिया के परिणाम, वे संसार हैं। आहाहा! तेरा संसार तेरी पर्याय से भिन्न नहीं होता। संसार भूल है, तो भूल तेरी पर्याय में होती है। वह भूल पर के कारण होती है, स्त्री, कुटुम्ब संसार है, (ऐसा है नहीं)। वह तो परचीज़ है, पर के साथ क्या सम्बन्ध है। तेरी पर्याय में सम्बन्ध है, उसकी यहाँ बात चलती है। जो शरीर कर्म, स्त्री, कुटुम्ब, धन्धा—उसके साथ तो कोई सम्बन्ध ही नहीं है। आहाहा! परन्तु पर्याय में राग का दया, दान, विकल्प का सम्बन्ध है, पर्याय में भेदरूप का सम्बन्ध है। आहाहा! वे क्रिया के परिणाम संसार हैं। आहाहा! पण्डितजी! ऐसी बातें हैं, बापू! आहाहा!

आत्मा स्थायी है (–सदा विद्यमान हैं) और वे सब भाव अस्थायी हैं... कौन से (भाव)? पुण्य, गुणस्थानभेद, वे सब अस्थायी हैं। भगवान स्थायी ध्रुव.. ध्रुव.. ध्रुव है। वे तो अस्थायी हैं, यह स्थायी है, वे अस्थायी हैं। यह स्थिर होनेयोग्य है और वे तो अस्थिर होनेयोग्य हैं। आहाहा! पहली सम्यग्दर्शन और उसकी दशा, बापू! वह कोई अलौकिक बात है। चारित्र तो कहाँ है, बापू! आहाहा! काल ऐसा हुआ। चारित्र तो स्वरूप के भान, अनुभवसहित आनन्द में रमणता, आनन्द में लीनता, अतीन्द्रिय आनन्द का सागर जहाँ उछले। आहाहा! ऐसी चारित्रदशा तो बापू! अलौकिक है। आहाहा!

यहाँ तो अभी सम्यग्दर्शन की दशा में क्या है, उसकी बात चलती है। सम्यग्दृष्टि रागादिभाव को, भेदभाव को क्लेश, दुःख... आहाहा! व्यभिचार जानता है। भगवान आत्मा स्थायी है। **और वे सब भाव अस्थायी हैं, इसलिए वे आत्मा का स्थान नहीं हो**

सकते... भगवान आत्मा का यह स्थान नहीं है, पद नहीं है। यह शुभ-अशुभभाव, वह आत्मा का पद नहीं है। आहाहा! वह आत्मा का पद नहीं है। आहाहा! उसमें-कलशटीका में लिया है, भाई! इसका कलश आयेगा न? पद, पद का अर्थ ऐसा किया है, व्रतादि आदि पद, वह तेरा स्थान नहीं है। टीका में है, उसमें। यह कलश टीका। व्रतादि, व्रत, नियम विकल्प जो है, वह तेरा पद नहीं है। आहाहा! अरे रे! अरे! बापू! अनन्त काल चौरासी के अवतार। आहाहा! ऐसा देखते हैं, उस काई को देखकर इतना पानी, इतने में काई के ढ़ेर हैं। अब ऐसा तो कहाँ पूरी दुनिया में स्थूल निगोद। सूक्ष्म निगोद तो पूरे लोक में भरे हैं। यह तो बादर निगोद। आहाहा! अरे! वे कब त्रस हैं, कब मनुष्य हों? कब उनको सत्य की वाणी सुनें, उसमें जन्म हो। आहाहा! ऐसी दुर्लभता, बापू! वह कोई साधारण बात नहीं है। मनुष्यपना मिला, वीतराग का वास्तविक मार्ग सुनने का योग मिला, यह तो बापू! इसकी कोई अलौकिक बात है। अरेरे! ऐसे काई के दल देखते हैं। ये कब मनुष्य हों? असंख्य-असंख्य चौबीसी के समय जितने निगोद के शरीर हैं। उनका एक शरीर तो अनन्तवें भाग बाहर आये, मोक्ष में जानेवाले। आहाहा! क्योंकि निगोद के अतिरिक्त की संख्या जो मनुष्य गति, पशु गति, पंचेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, यह सब असंख्य है। क्या कहा? दो इन्द्रिय की संख्या, तीन इन्द्रिय की संख्या, चौइन्द्रिय की, असंज्ञी पंचेन्द्रिय की, संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच, नारकी सबकी संख्या असंख्य है और निगोद के एक शरीर में अनन्तगुने जीव। अब उसके अनन्तवें भाग भी बाहर पूरे नहीं आये। असंख्यवें भाग तो कहाँ से आवे? आहाहा! क्योंकि जितनी संख्या तिर्यंच की, मनुष्य की, देव की असंख्य गिनो, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, सब भी संख्या असंख्य और निगोद के एक शरीर में उससे अनन्तगुने जीव। आहाहा! ऐसे शरीर, अरेरे! असंख्य चौबीसी के समय जितने तो निगोद के शरीर। प्रभु! तू वहाँ से निकलकर आया। कहाँ तक आया और अब क्या करना है? आहाहा! जेठालालभाई!

मुमुक्षु : निगोद का जीव भी अनन्त गुण का धनी?

पूज्य गुरुदेवश्री : सब अनन्त बार हुआ है। आहाहा! ऐसा अभी इसे निर्णय करने का समय नहीं है। आहाहा! जो आत्मा के हित के पन्थ में जाना है, वह अहित के पन्थ से हटकर हित के पन्थ का निर्णय... अरे! भले पहले विकल्पसहित निर्णय (तो करे)। आहाहा! और वह निर्णय विकल्प से किया हो, पश्चात् विकल्प छोड़कर अनुभव की दृष्टि

करे, वह सच्चा निर्णय है। आहाहा! ऐसा है। लोग फिर विरोध करते हैं। ऐई! सोनगढ़ ऐसा कहता है, ऐसा कहता है। भाई ने नहीं कहा था? पण्डितजी! हुकमचन्दजी। यह सोनगढ़िया है, ऐसी निश्चय की बात कोई बोले तो कहे, यह सोनगढ़िया है।

मुमुक्षु : सोनगढ़ गया नहीं, वहाँ सोनगढ़िया।

पूज्य गुरुदेवश्री : सोनगढ़ी की बात है, यह सोनगढ़िया है, ऐसा कहते हैं। और व्यवहार से लाभ मनावे, वह सोनगढ़िया नहीं, वह सम्प्रदाय का। अरे! प्रभु! यह तूने क्या भाग किये?

यहाँ तो परमात्मा कहते हैं, कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं, उसकी टीका अमृतचन्द्राचार्य ने की है। आहाहा! वे कहते हैं कि **आत्मा का पद नहीं हैं।** वह राग की क्रिया का भाव, वह आत्मा का पद नहीं है। आहाहा! वह तेरा स्थान नहीं है, प्रभु! वहाँ बैठने योग्य, रहनेयोग्य नहीं है। आहाहा! पण्डितजी! ऐसी बात है। आहाहा! एक बार इसकी हाँ तो कर। हाँ कर तो अन्दर हालत हो जाएगी। ना करेगा तो नरक और निगोद खड़ा है, बापू! आहाहा! आहा! क्या हो? भाई! परमात्मा का विरह पड़ा, केवलज्ञानी रहे नहीं। आहा!

मुमुक्षु : केवली के भक्त रह गये हैं न, हमारे भाग्य से।

पूज्य गुरुदेवश्री : वस्तु शास्त्र में रह गयी है। वह समझनेवाले समझते हैं। आहाहा! देव का आना भी रह गया, रुक गया। कि भाई! इससे विरुद्ध हो, उसे दण्ड करो अथवा नकार करो। यह भी अटक गया। ऋषभदेव भगवान के समय में तो... आहाहा! चार हजार साधु साथ में हुए। राजा। क्योंकि प्रभु बड़े थे तो उनके मित्ररूप से सम्बन्ध में (थे), इसलिए भगवान दीक्षा लेते हैं तो अपने भी दीक्षा लो। दीक्षा ली परन्तु कुछ वस्तु (— आत्मानुभव) नहीं था। भगवान को तो बारह महीने तक आहार नहीं मिला। इन्हें बारह महीने क्या, थोड़े महीने बीते, वहाँ आहार मिला नहीं। इसलिए वेश बदल डाला। कोई फल खाने लगे, कोई अमुक खाने लगे। जंगल में ऊपर से देव आये, इस वेश में—नग्नपने में यह करोगे तो दण्ड दूँगा। वेश छोड़ दो। आहाहा! देखो न! काल कैसा अनुकूल कि वे जरा, राजा बेचारे, भगवान के सम्बन्धी बहुत हों और भगवान जब दीक्षा ले (तो) अपने भी दीक्षा लेना, इतना। दीक्षा क्या? इसकी खबर (नहीं)। आहाहा! भगवान को छह-छह महीने तक आहार नहीं मिला। छह महीने के बाद आहार लेने गये तो भी छह महीने मिला

नहीं। पहले छह महीने तो उपवास किया था, प्रतिज्ञा की थी। छह महीने तक आहार नहीं लेना, वह प्रतिज्ञा पूरी हुई (पश्चात्) लेने गये तो भी छह महीने (आहार) मिला नहीं। वे राजा टिक नहीं सके। फिर अलग-अलग वेश धारण करके कुछ फल खाने लगे और कुछ फूल खाने लगे और कोई कुछ... (देवों ने आकर कहा), दण्ड करूँगा, छोड़ दो, नग्नवेश छोड़ दो। तुम दूसरा वेश पहन लो। दूसरे वेश में चाहे जो करो परन्तु नग्नवेश में यह नहीं हो सकता। आहाहा! देखो न काल! अनुकूल काल में विपरीत चलनेवालों को दण्ड करने देव आते थे। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, वह **आत्मा का पद नहीं हैं।** है? **जो यह स्वसंवेदनरूप ज्ञान...** स्व-संवेदनरूप ज्ञान, वह त्रिकाल, हों! अपनी पर्याय में वेदन होता है, ऐसा त्रिकाली ज्ञायक आत्मा, **वह नियत है,...** त्रिकाली वस्तु ज्ञायक है, वह नियत है। वह **एक है,...** त्रिकाली ज्ञायक भाव, वह नित्य है। यहाँ तो वह स्थायी है, उसमें रहनेयोग्य है—ऐसा बताना है। उस नित्य में (रहनेयोग्य है)। यहाँ अभी पर्याय की बात नहीं है। समझ में आया? रागादि अस्थायी, अनित्य, क्षणिक और अनेक हैं, तब भगवान आत्मा नित्य की बात है, हों! तो वहाँ जा और वहाँ स्थिर रहनेयोग्य है। आहाहा! है?

स्वसंवेदनरूप ज्ञान... त्रिकाली, हों! वह **नियत है, एक है, नित्य है,...** है न? त्रिकाली स्वभाव, वह नित्य है। वह **अव्यभिचारी है।** आहाहा! **आत्मा स्थायी है और ज्ञान भी स्थायी...** है। ज्ञान अर्थात् गुण। आत्मा स्थायी नित्य ध्रुव है। यह जितने विशेषण दिये। स्वसंवेदनज्ञान, वह ज्ञान कहो या आत्मा कहो, ऐसा। नियत ज्ञान कहो या आत्मा कहो, एक ज्ञान कहो या आत्मा कहो, नित्य ज्ञान कहो या आत्मा कहो, अव्यभिचारी ज्ञान कहो या आत्मा कहो। यह ज्ञान, सो आत्मा और आत्मा, वह ज्ञान। ऐसा ज्ञान वह आत्मा, इस रूप से लिया है।

आत्मा स्थायी है और ज्ञान भी स्थायी... है? उसका गुण, जैसे आत्मा स्थिर है, ध्रुव है; वैसे ज्ञानगुण भी स्थायी, ध्रुव है। आहाहा! **इसलिए वह आत्मा का पद है। वह एक ही ज्ञानियों के द्वारा आस्वाद लेने योग्य है।** आहाहा! ज्ञानियों द्वारा, धर्मी द्वारा इस आत्मा का एक ही स्वाद लेनेयोग्य है। आहाहा! राग का स्वाद भी लेने योग्य नहीं है। शुभराग का (स्वाद)।

कलश - १३९

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं:-

(अनुष्टुप्)

एकमेव हि तत्स्वाद्यं विपदामपदं पदम्।
अपदान्येव भासन्ते पदान्यन्यानि यत्पुरः।।१३९।।

श्लोकार्थ : [तत् एकम् एव हि पदम् स्वाद्यं] वह एक ही पद आस्वादन के योग्य है [विपदाम् अपदं] जो कि विपत्तियों का अपद है (अर्थात् जिसमें आपदायें स्थान नहीं पा सकतीं) और [यत्पुरः] जिसके आगे [अन्यानि पदानि] अन्य (सब) [अपदानि एव भासन्ते] पद अपद ही भासित होते हैं।

भावार्थ : एक ज्ञान ही आत्मा का पद है। उसमें कोई भी आपदा प्रवेश नहीं कर सकती और उसके आगे अन्य सब पद अपदस्वरूप भासित होते हैं (क्योंकि वे आकुलतामय हैं-आपत्तिरूप हैं)।।१३९।।

कलश - १३९ पर प्रवचन

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं:-

एकमेव हि तत्स्वाद्यं विपदामपदं पदम्।
अपदान्येव भासन्ते पदान्यन्यानि यत्पुरः।।१३९।।

देखो! यह श्लोक अमृतचन्द्राचार्य का है। **वह एक ही पद आस्वादन के योग्य है...** लो, यह तो आचार्य हैं, अमृतचन्द्राचार्य। एक ही आनन्दकन्द प्रभु, वह आस्वादनयोग्य है। रागादि, दया, दान, राग का स्वाद लेने योग्य नहीं है, वह आदर करनेयोग्य नहीं है। आहाहा! **एक ही पद आस्वादन के योग्य है...** आहाहा! एकान्त हो गया। 'ही' वह तो एकान्त हो गया। यही सम्यक् एकान्त है। **वह एक ही...** ऐसा है न पाठ? **'एकम् एव हि' 'एकम् एव'** निश्चय **'हि'** ऐसा। अमृतचन्द्राचार्य मुनि हजार वर्ष पहले हुए। आहाहा! २०३ गाथा का श्लोक है। समझ में आया? २०३ गाथा। कहो, समझ में आया?

'एकम् एव हि पदम् स्वाद्यं' आहाहा! एक ही, एक ही। आहाहा! प्रभु! अनेकान्त तो करो। आत्मा का स्वाद भी लेनेयोग्य है और राग, व्यवहार करनेयोग्य है, ऐसा तो कहो, तो अनेकान्त हो जाए। वह अनेकान्त नहीं। एक ही स्वाद लेनेयोग्य है और दूसरा नहीं, इसका नाम अनेकान्त है। आहाहा! व्यवहार से भी होता है, निश्चय से भी होता है, यह अनेकान्त नहीं है। निश्चय से होता है और व्यवहार से नहीं होता, यह अनेकान्त है। आहाहा! बहुत कठिन काम। पूरी प्रथा बदल डाली। समाज में सम्प्रदाय ने, उसके अधिपतियों ने पूरी लाईन बदल डाली। सेठियाओं ने भी उसे स्वीकार करके, उस पन्थ में चले। व्यवहार से लाभ होगा, राग से लाभ है। आहाहा! भाई! यह भाव तो सब आस्वादनयोग्य नहीं है।

यह **एक ही पद आस्वादन के योग्य है...** त्रिकाली, हों! त्रिकाली। आस्वादनयोग्य तो पर्याय हुई। परन्तु किसे आस्वादनयोग्य है? त्रिकाली ज्ञायकभाव आनन्द का नाथ प्रभु, उसकी एकाग्रता करके आस्वादनयोग्य है। वहाँ अतीन्द्रिय आनन्द भरा है, नाथ! तुझे अतीन्द्रिय का स्वाद आयेगा। उस स्वाद के समक्ष तुझे इन्द्र के सुख जहर जैसे लगेंगे। यह स्त्री तो धान का ढोकला है। दो दिन धान (अनाज) न खाये तो मुँह ऐसा हो जाए। यह तो चमड़ी, माँस और हड्डियाँ। देव का वैक्रियिकशरीर, देवियाँ... आहाहा! उनके भोग भी इस स्वाद के समक्ष तुझे जहर लगेंगे। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बात है। अरेरे! हित की बात को निश्चयाभास करके निकाल दिया और अहित की बात को अनेकान्त में डालकर आदर कर लिया। आहाहा!

अब यहाँ आया। देखो! [**विपदाम् अपदं**] **जो कि विपत्तियों का अपद है...** भगवान के अनुभव में, विपत्ति नहीं है, विपदा नहीं है, आकुलता नहीं है, दुःख नहीं है। **(अर्थात् जिसमें आपदायें स्थान नहीं पा सकतीं)...** भगवान अनाकुल आनन्द का स्वाद लेने में आपदा स्थान प्राप्त नहीं करती। आपदा बिल्कुल नहीं आती। आहाहा! विपदा, रागादि जो विपदा, वह आत्मा की सम्पदा के अनुभव में विपदा का स्थान है नहीं। आहाहा! **(अर्थात् जिसमें आपदायें स्थान नहीं पा सकतीं)...** आहाहा!

जिसके आगे [**अन्यानि पदानि**] कलशटीका है न वह? 'अध्यात्मतरंगिणी'।

उसमें **'अपदानि'** व्रतादिक के कहे। व्रतादि सब अपद हैं। आहाहा! वे विकल्प हैं न! आहाहा! **जिसके आगे अन्य (सब) पद... 'अपदानि' अपद ही भासित होते हैं...** आहाहा! अन्य पद अर्थात् राग, भेद आदि, वह अपद भासित होते हैं और अपना निजस्वरूप वह पद, स्थायी वह पदरूप भासित होता है। आहाहा!

भावार्थ : एक ज्ञान ही आत्मा का पद है। जानना... जानना... जानना... जानना... जानना जो स्वभाव, वह आत्मा का पद—स्थान है। जानना... जानना... जानना... जानना... जानना... तीन काल-तीन लोक के प्रमेय को प्रमाण में जानना। आहाहा! वह जानना तेरा पद है। एक ज्ञान ही। ज्ञान में एक लिया है। अनेक ज्ञान के भेद नहीं। आहाहा! मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय और केवल—ऐसे भेद नहीं। आहाहा! **एक ज्ञान ही आत्मा का पद है। उसमें कोई भी आपदा प्रवेश नहीं कर सकती...** राग की आपदा स्वरूप के अनुभव में प्रवेश नहीं पाती। आहाहा! भगवान निजपद के अनुभव में वह राग जो अपद, आकुलता, आपदा, वह सम्पदा के अनुभव में (प्रवेश नहीं करती)। निज सम्पदा... आहाहा! निज सम्पत्ति, अपनी ऋद्धि, उसका अनुभव करने में अपद का स्थान नहीं है। आहाहा! कहो, हसमुखभाई! ऐसा सब सुनने में कहाँ निवृत्ति कहाँ इसमें है? रुपये, रुपये और पैसे, यह धन्धा।

मुमुक्षु : पहला नम्बर इसका, दूसरा नम्बर रुपयों का।

पूज्य गुरुदेवश्री : दूसरा नम्बर, एक का भी नम्बर ही नहीं है। आहाहा! इस देह का विलय हो जाएगा। इसी भव में देह इस प्रकार से होगी कि उसमें तेरा कुछ नहीं चलेगा। तड़पड़ाहट करेगा। ऐसा होगा, दृष्टि वहाँ, स्वभाव के ऊपर नहीं, आकुलता... आकुलता... और उसमें रोग हो। आहाहा! एक अंगुल में छियानवें रोग। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य अष्टपाहुड़ में कहते हैं, प्रभु! एक अंगुल में (रोम में) छियानवें रोग तो पूरे शरीर में कितने? ऐसा पूछा है। स्वयं ने कहा नहीं, पूछा है। तू विचार तो कर। एक अंगुल के भाग में तसु, शरीर के एक अंगुल में छियानवे रोग। पूरे शरीर में कितने? प्रभु! वे सब प्रगट हों, तब तेरा क्या होगा? तेरा नाथ अन्दर निरोग भगवान स्थित है न! आहाहा!

मुमुक्षु : वह तो जिसे रोग हो, उसकी बात है। हम तो निरोगी हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : अभी निरोग (लगे), अन्दर कितने रोग हैं। साधारण रोग तो इसे ख्याल में न आवे। जब बहुत विशेष रोग आवे, तब ख्याल में आता है। आहाहा!

सनतकुमार चक्रवर्ती ऐसे स्नान करते थे और दूसरे किसी ने आकर देखा तो ओहो! तुम्हारा रूप बहुत सुन्दर। तब वह कहता है कि अभी नहीं, परन्तु मैं स्नान करके जब राजगद्दी में बैठूँ, ठीक से शृंगार-वृंगार कपड़े, जवाहरात और हार (पहनूँ), तब देखने आना। देव आये, देव। वे जब बैठे, तब देव ने देखा, देव ने ऐसे किया, वह नहीं, वह शरीर नहीं। क्या हुआ तुझे? अन्दर जीवाँत पड़ी है, थूकों, थूक डालो, जीवाँत हो गयी है। तुम अभिमान करते थे कि यह शरीर अभी स्नान में है, बराबर ठीक नहीं और स्नान करके सिंहासन में बैठूँ, तब बराबर (देखना)। कीड़ियाँ पड़ी, कीड़ियाँ, तेरे थूक में, शरीर में कीड़े पड़े हैं। थूक! आहाहा! एकदम वैराग्य आ गया, दीक्षा ले ली। दीक्षा में सात सौ वर्ष रोग रहा। आहाहा!

अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद के समक्ष उसकी कोई खबर भी नहीं। रोग है या नहीं? इतनी स्वरूप की सावधानी और परसन्मुख की असावधानी। आहाहा! मुनिराज किसे कहते हैं? आहाहा! जिनकी स्वरूप में रमणता की जमावट जमी है। आहाहा! जैसे बर्फ की शिला होती है, वैसे आनन्द और शान्ति की शिला में वे पोढ़े हैं। मुनिराज वहाँ ढल गये हैं, समकिती थोड़े ढ़ले हैं। आहाहा! मुनिराज तो कोई आनन्द की शिला में पोढ़ गये हैं। अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद का रस (लेते हैं) डकार भी उसी की, उन्हें मुनि कहते हैं। आहा! अरे बापू! अभी समकित किसे कहते हैं? और समकित होता है तो क्या होता है? उसकी खबर नहीं, उसे मुनिपना आ जाए, भाई! क्या हो? तुझे दुःख लगे कि यह तो क्या है? बापू! मार्ग यह है, बापू! भाई! आहाहा!

एक ज्ञान ही आत्मा का पद है। उसमें कोई भी आपदा प्रवेश नहीं कर सकती और उसके आगे अन्य सब पद अपदस्वरूप भासित होते हैं... आहाहा! भगवान के आनन्द के स्वाद के समक्ष, इस पद के समक्ष रागादि अपद भासित होते हैं। है? **अपदस्वरूप भासित होते हैं...** आहाहा! अरे! प्रभु! क्या करता है यह? दुनिया प्रसन्न हो, मेरी महिमा करे और... आहाहा! भारी आता है तुमको, हों! उसमें मर गया। समझ में आया? अपने को

भूलकर दूसरे को समझाने में अकेला लग जाता है और दूसरे प्रसन्न होते हैं, नम्बर देते हैं, उसमें क्या भला हुआ? बापू! वाणी तो जड़, राग उठता है, वह चैतन्य नहीं, जड़ (है) अरे! उसके स्वामीरूप से रहकर, अपद में रहकर पद की व्याख्या करे। आहाहा! कठिन काम, प्रभु!

अपदस्वरूप भासित होते हैं... भगवान आत्मा के आनन्दस्वभाव के निजपद के समक्ष चक्रवर्ती का राज और इन्द्र का इन्द्रासन अपद भासित होता है। आहाहा! **(क्योंकि वे आकुलतामय हैं...)**। रागादि सब आकुलता है। आहाहा! **(आपत्तिरूप हैं)**। आपदा है, आपदा। सम्पदा के समक्ष आपदा है। आहाहा! निज सम्पदा के अनुभव के समक्ष वह राग सब आपदा है। आहाहा! दुःख है। दूसरा श्लोक आया?

कलश - १४०

अब यहाँ कहते हैं कि जब आत्मा ज्ञान का अनुभव करता है तब इस प्रकार करता है:-

(शार्दूलविक्रीडित)

एक-ज्ञायकभाव-निर्भर-महास्वादं समासादयन्,
स्वादं द्वन्द्वमयं विधातुमसहः स्वां वस्तुवृत्तिं विदन्।
आत्मात्मानुभवानुभावविवशो भ्रश्यद्विशेषोदयं,
सामान्यं कलयन् किलैष सकलं ज्ञानं नयत्येकताम्॥१४०॥

श्लोकार्थ : [एक-ज्ञायकभाव-निर्भर-महास्वादं समासादयन्] एक ज्ञायकभाव से भरे हुए महास्वाद को लेता हुआ, (इस प्रकार ज्ञान में ही एकाग्र होने पर दूसरा स्वाद नहीं आता इसलिए) [द्वन्द्वमयं स्वादं विधातुम् असहः] द्वन्द्वमय स्वाद के लेने में असमर्थ (वर्णादिक, रागादिक तथा क्षायोपशमिक ज्ञान के भेदों का स्वाद लेने में असमर्थ), [आत्म-अनुभव-अनुभाव-विवशः स्वां वस्तुवृत्तिंविदन्] आत्मानुभव के-स्वाद के-प्रभाव के आधीन होने से निज वस्तुवृत्ति को (आत्मा की शुद्ध परिणति को)

जानता-आस्वाद लेता हुआ (आत्मा के अद्वितीय स्वाद के अनुभवन में से बाहर न आता हुआ) [एषः आत्मा] यह आत्मा [विशेष-उदयं भ्रश्यत्] ज्ञान के विशेषों के उदय को गौण करता हुआ, [सामान्यं कलयन् किल] सामान्यमात्र ज्ञान का अभ्यास करता हुआ, [सकलं ज्ञानं] सकल ज्ञान को [एकताम् नयति] एकत्व में लाता है-एकरूप में प्राप्त करता है।

भावार्थ : इस एक स्वरूपज्ञान के रसीले स्वाद के आगे अन्य रस फीके हैं। और स्वरूपज्ञान का अनुभव करते हुए सर्व भेदभाव मिट जाते हैं। ज्ञान के विशेष ज्ञेय के निमित्त से होते हैं। जब ज्ञानसामान्य का स्वाद लिया जाता है तब ज्ञान के समस्त भेद भी गौण हो जाते हैं, एक ज्ञान ही ज्ञेयरूप होता है।

यहाँ प्रश्न होता है कि छद्मस्थ को पूर्णरूप केवलज्ञान का स्वाद कैसे आवे? इसका उत्तर पहले शुद्धनय का कथन करते हुए दिया जा चुका है कि शुद्धनय आत्मा का शुद्ध पूर्ण स्वरूप बतलाता है इसलिए शुद्धनय के द्वारा पूर्णरूप केवलज्ञान का परीक्ष स्वाद आता है।।१४०।।

श्लोक - १४० पर प्रवचन

१४० (कलश)।

एक-ज्ञायकभाव-निर्भर-महास्वादं समासादयन्,
स्वादं द्वन्द्वमयं विधातुमसहः स्वां वस्तुवृत्तिं विदन्।
आत्मात्मानुभवानुभावविवशो भ्रश्यद्विशेषोदयं,
सामान्यं कलयन् किलैष सकलं ज्ञानं नयत्येकताम्।।१४०।।

आहाहा! **यहाँ कहते हैं कि जब आत्मा ज्ञान का अनुभव करता है, तब इस प्रकार करता है:-** भगवान आत्मा, आत्मा का आदर करके अनुभव करता है... आहाहा! तब इस प्रकार होता है। पूर्णानन्द के नाथ का, स्वभाव का आदर करते और राग का आदर छोड़ते हुए क्या होता है, वह कहते हैं। आहाहा! **एक ज्ञायकभाव से भरे हुए महास्वाद को लेता हुआ,...** आहाहा! जिसने चार सेर घी पिलाया हुआ मैसूरपाक का स्वाद लिया,

उसे लाल ज्वार की छिलके की रोटियाँ... लाल ज्वार समझते हो? लाल ज्वार होती है, उसके छिलके लाल। लाल छिलकों में मिठास नहीं होती। अभी उस ज्वार के सफेद छिलकों में मिठास होती है। हमने तो सब देखा है। (संवत्) १९७६ के वर्ष में 'विरमगाम' के एक गाँव में थे। आहार लेने गये तो बनियों का कोई घर नहीं। लाल छिलके के ज्वार की रोटियाँ मिलीं। वहाँ क्या करे? १९७६ की बात है।

मुमुक्षु : आपने खायी।

पूज्य गुरुदेवश्री : खायी, मिलने के पश्चात् खायी। खाने का वही था, दूसरा था नहीं। बनिये का घर नहीं और गरीब लोग बसते थे। 'विठलगढ़' या ऐसा कुछ नाम है। विठलगढ़। 'विरमगाम' की इस ओर है। यह तो १९७६ की बात है, बहुत वर्ष हो गये। सफेद ज्वार की रोटियाँ और छिलका वह तो मीठा होता है। यह तो लाल छिलके की ज्वार। उसमें बहुत भाग छिलका। बेचारे गरीब लोगों ने रोटियाँ बनायीं। जावें तो पधारो... पधारो... पधारो महाराज! (कहे)। होवे वह दे। (दूसरा) क्या दे?

मुमुक्षु : .... पूरे गाँव में ....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह साधारण गाँव है, साधारण गाँव। लोग बहुत साधारण। विठलगढ़ है, विठलगढ़। विरमगाम से तीन मील दूर है। १९७६ की बात है। बहुत सब देखा, बहुत जाना। आहाहा! एक बार पोरबन्दर जाते थे, चातुर्मास था। (वहाँ रास्ते में) एक गाँव आता है। नाम भूल गये। उस गाँव में सब अन्यमति साधारण। साधारण रोटियाँ और साधारण दाल। दूसरा कुछ मिले नहीं। दोपहर को सब बनिया आये। चातुर्मास में जाना था न, इसलिए सब आये। कुछ पास में वस्तु ऊँची, ऊँची। अमुक, अमुक। भाई! यह नहीं ली जाती, कहा। तब तो सख्त क्रिया थी न! जो रोटियाँ मिली और छाछ मिली, वह बस है। यह नेमिदासभाई और सब गृहस्थ थे, हरखचन्द सेठ थे। कुछ लेकर आये हों। तीन मील दूर और स्वयं को भी कुछ खाना हो। तुम्हारा यहाँ मेरे लिये लाया हुआ हमें नहीं चलता। अरे! परन्तु महाराज! यह हल्की रोटियाँ और छाछ (लोगे)? दाल भी नहीं थी, सब्जी भी नहीं थी। रोटियाँ और छाछ।

मुमुक्षु : आपने तो किसी समय तो रोटी पानी में डुबोकर खायी।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, वह क्या करे ? छाछ न मिले तो पानी में खाये। वह तो छाछ मिली। छाछ तो वहाँ बहुत मिले। गाँव में। छाछ समझते हैं ? मट्ठा। मट्ठा तो बहुत मिले। वह क्षत्रिय में, राजपूतों में, किसानों में छाछ मिले। बढ़िया छाछ भरी हो और आहार लेने जाएँ तो पधारो... पधारो... ओहोहो ! महाराज लो, लो। छाछ लो। पाँच सेर, सात सेर, दस सेर छाछ लावें। मट्ठा, रोटी और छाछ। बूँद भी पानी मिले नहीं। इतने भी कितने ही दिन निकाले हैं। आहाहा !

यहाँ कहते हैं, जिसे आत्मा का रस आया... आहाहा ! उसके समक्ष **(ज्ञान में ही एकाग्र होने पर दूसरा स्वाद नहीं आता)** आहाहा ! भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप में एकाग्र होता है तो उस स्वाद के समक्ष दूसरा स्वाद वहाँ नहीं आता। आहाहा ! देखो ! यह निर्जरा का अधिकार। [**द्वन्द्वमयं स्वादं विधातुम् असहः**] **द्वन्द्वमय स्वाद के लेने में असमर्थ (वर्णादिक, रागादिक तथा क्षायोपशमिक ज्ञान के भेदों...** आहाहा ! वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श का स्वाद नहीं। दया, दान, राग का स्वाद नहीं। अरे ! क्षयोपशम के भेद। क्षयोपशम, गुणस्थान के भेद, उस भेद का भी वहाँ स्वाद नहीं। आहाहा ! अब ऐसी बातें।

वर्णादिक अर्थात् रंग, गन्ध, रस, स्पर्श, जड़। रागादि अर्थात् विकारी परिणाम। क्षयोपशम अर्थात् भेद। गुणस्थान आदि के भेद अथवा मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि क्षयोपशम। उस **(क्षायोपशमिक ज्ञान के भेदों का स्वाद लेने में असमर्थ),...** है। आहाहा ! भगवान आत्मा जब ज्ञान में एकाग्र होता है, तब वह रंग, गन्ध, रस का तो स्वाद नहीं; रागादि का तो स्वाद नहीं, परन्तु पर्याय के भेद का भी स्वाद नहीं। आहाहा ! वह क्षयोपशम आदि की पर्याय भेदरूप, उसका भी स्वाद नहीं, वहाँ लक्ष्य नहीं। आहाहा ! दृष्टि पड़ी है भगवान आत्मा पर, जहाँ अकेली आनन्द की खान है। आहाहा ! अतीन्द्रिय आनन्द का निधान है, उसमें एकाग्रता के काल में; विकल्प हो, तब लब्धरूप स्वाद होता है परन्तु स्वाद तो होता है, परन्तु यह तो उपयोग अन्दर जम जाता है, उसकी बात है। आहाहा !

उन **(भेदों का स्वाद लेने में असमर्थ),...** आहाहा ! राग पर लक्ष्य नहीं, भेद पर लक्ष्य नहीं। आहाहा ! रंग, गन्ध, स्पर्शवाला शरीर की ओर लक्ष्य नहीं। रंगरहित राग का लक्ष्य नहीं, परन्तु ज्ञान के भेद आदि का भी लक्ष्य नहीं। आहाहा ! ऐसी बात है। कहो,

शान्तिभाई! ऐसे बाहर में लाख रुपये दें तो मानो धर्म हो जाएगा। राग मन्द हो (तो) पुण्य है। ऐसी बात। अभी लाख लिखाये न! लाख रुपये। शान्तिभाई ने इस धर्मशाला में लाख (दिये हैं)। दस लाख का बनानेवाले हैं न? उसमें लाख लिखाये हैं। नहीं वह परसों? कब? बाबूभाई और सब थे। पहले भी छोटाभाई ने लाख दिये थे, वहाँ भावनगर। सत्साहित्य। हीरालाल की ओर से निकलता है न? वहाँ लाख दिये हैं। छोटाभाई ने हांगकांग के। दो लाख का मकान लिया है न? नवनीतभाई प्रमुख का मकान था, उसने दो लाख में लिया। इनके छोटे भाई ने। अरे! यह मकान, यह पैसा और बापू! आहाहा!

जिसे अन्तर का स्वाद आया, वह राग का स्वाद लेने में असमर्थ है। वह तो ठीक, परन्तु भेद का स्वाद लेने में असमर्थ है। आहाहा! ऐसी चीज़ है, प्रभु! यह आनन्द का सागर भगवान जब अन्दर में जाता है... आहाहा! उसके स्वाद के समक्ष यह सब जगत के स्वाद लेने में असमर्थ रहता है। आहाहा! है?

आत्मानुभव के-स्वाद के-प्रभाव के आधीन होने से निज वस्तुवृत्ति को (आत्मा की शुद्ध परिणति को)... आहाहा! **जानता-आस्वाद लेता हुआ**... निज अनुभव में आस्वादन लेता हुआ। **(आत्मा के अद्वितीय स्वाद के अनुभवन में से बाहर न आता हुआ)**... आहाहा! अन्तर के स्वाद के समक्ष धर्मात्मा बाहर आने को भी आलसी हो जाता है। बाहर आने में आलसी। आहाहा! ऐसी स्थिति है। विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २८२, श्लोक-१४०, गाथा-२०४, रविवार, श्रावण कृष्ण ५
दिनाङ्क १२-०८-१९७९

समयसार कलश १४०। थोड़ा चला है। फिर से। यह अधिकार निर्जरा का है। जिसे पहले संवर हुआ हो। संवर अर्थात् चैतन्य ज्ञायक पूर्ण आनन्दस्वरूप की दृष्टिपूर्वक अनुभव हुआ हो तो उसमें पहले संवर हुआ। मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी आदि का संवर हुआ, रुक गया। परन्तु पश्चात् निर्जरा में क्या होता है ? संवरवन्त को भी निर्जरा कब होती है ? यह कहते हैं।

'एक-ज्ञायकभाव-निर्भर-महास्वादं समासादयन्' आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! **एक ज्ञायकभाव... भगवान एक ज्ञायकभाव से भरे हुए महास्वाद को लेता हुआ,...** अन्तर ज्ञायकभाव के महास्वाद से प्रभु भरा है। उसकी अन्तर में एकाग्रता होकर अन्तर में विशेष स्वाद को लेता हुआ। आहाहा! **(इस प्रकार ज्ञान में ही एकाग्र होने पर दूसरा स्वाद नहीं आता...)** आहाहा! राग का स्वाद, कर्मचेतना—कर्मफलचेतना, यह राग का स्वाद और राग का अनुभव तो अनन्त बार हुआ। यह तो अनन्त बार हुआ परन्तु उससे भिन्न, राग के विकल्प से भगवान ज्ञायकभाव के स्वाद से भरपूर प्रभु, राग से भिन्न है। ऐसा जब पहले भेदज्ञान होता है, पश्चात् उस ज्ञायकभाव के स्वभाव में विशेष एकाग्र होकर... आहाहा! उस आत्मा का स्वाद विशेष लेता है, तब अशुद्धता और कर्म की निर्जरा होती है। यह अपवास करे और तप किया, इसलिए निर्जरा (होती है), वह निर्जरा नहीं है। 'तपसाः निर्जरा' यह तत्त्वार्थसूत्र में शब्द है। वह तपसा अर्थात् यह तपसा। आहाहा!

ज्ञायकभाव भगवान में भरपूर स्वाद से, उसमें स्वाद भरा है। अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद ज्ञायक भाव में भरा है। उसके स्वाद को लेता हुआ। आहाहा! यह निर्जरा और यह संवर है। अन्तर में ज्ञायकभाव में अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद भरा हुआ है, उसका स्वाद लेता हुआ। आहाहा! राग और द्वेष, वे कहीं अन्तर ज्ञायकभाव में भरे नहीं हैं। उनका स्वाद लेना, वह तो अज्ञानभाव है। आहाहा!

ज्ञायक का स्वाद लेता हुआ। [**द्वन्द्वमयं स्वादं विधातुम् असहः**] **द्वन्द्वमय स्वाद**

के लेने में असमर्थ... अपने स्वभाव के अतिरिक्त **(वर्णादिक, रागादिक तथा क्षायोपशमिक ज्ञान के भेदों का स्वाद लेने में असमर्थ),...** आहाहा! जड़ का स्वाद तो कभी लिया नहीं परन्तु जड़ की ओर का झुकाव करके राग का स्वाद (लिया है), तो यहाँ कहते हैं कि वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श चीज़ जो है, जड़ शरीर, वाणी, मन, उसका भी स्वाद छूट गया। रागादि विकल्प का अन्दर विकार है, उसका भी स्वाद छूट गया और जो भेद है, ज्ञान की पर्याय में भेद है, उस भेद के लक्ष्य का स्वाद भी छूट गया। आहाहा! है?

(क्षायोपशमिक ज्ञान के भेदों का स्वाद लेने में असमर्थ),... क्या कहते हैं? भगवान आत्मा ज्ञायकस्वभाव, चैतन्य के स्वाद से भरपूर, उसमें अन्तर में एकाग्र होकर आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद लेता हुआ। रंग, राग और भेद—ये तीन शब्द भाई में आते हैं, नहीं? हुकमचन्दजी। हुकमचन्दजी हैं न? भजन बनाया है न? रंग, राग और भेद—तीन। उन्होंने तीन डाले हैं। रंग आदि, जड़ आदि। चैतन्य का रस छूट जाए और रागादि छूट जाए और भेद का लक्ष्य भी छूट जाए तो भेद का स्वाद छूट जाए। आहाहा! बहुत सूक्ष्म! निर्जरा अधिकार है न? आहाहा!

निर्जरा किस प्रकार होती है? अपने शुद्ध चैतन्यस्वभाव में स्वाद भरा है, उसका स्वाद एकाग्र होने पर, अन्तर ज्ञायकभाव में एकाग्र होने से जो स्वाद आता है, वह स्वाद अभेद का स्वाद है। उसमें रंग और राग और भेद का स्वाद छूट जाता है। जब अस्तिरूप से अभेद का स्वाद आया, अस्ति अर्थात् एकरूप ज्ञायकभाव है, उसकी जब दृष्टि हुई और उसमें एकाग्र हुआ, तो अस्तिपने का-अभेदपने का स्वाद आया। रंग, राग और भेद उसमें नहीं है, तो उस रंग, राग और भेद का स्वाद छूट जाता है। अरे... अरे..! ऐसी बात। समझ में आया? अरे! इसने कभी हित नहीं किया। पर में रुककर यह किया और यह किया और यह किया। आहाहा!

राग से भी अत्यन्त निवृत्तस्वरूप; शरीर, वाणी, मन, जड़ उनसे तो निवृत्तस्वरूप है ही, परन्तु राग से निवृत्तस्वरूप और भेद से भी निवृत्तस्वरूप। यह ज्ञानादि के भेद, पर्याय में भेद का लक्ष्य भी छूट जाता है। ज्ञानस्वरूप में एकाग्र होने से भेद का लक्ष्य छूट जाता है, तो भेद का स्वाद छूट जाता है। आहाहा! भेद का स्वाद, वह भी राग का स्वाद है।

आहाहा! भेद के ऊपर लक्ष्य करने से राग उत्पन्न होता है। अभेद पर दृष्टि करने से रागरहित आनन्द का स्वाद आता है। जेठालालभाई! ऐसा तो सुना नहीं होगा और पूरे दिन यह... अरेरे! अपना ज्ञायक अन्तर में एकाग्र होने से अतीन्द्रिय आत्मा के स्वाद के समक्ष दूसरे का स्वाद नहीं आता। आहाहा! है? आहाहा!

[**आत्म-अनुभव-अनुभाव-विवशः स्वां वस्तुवृत्तिंविदन्**] **आत्मानुभव के-स्वाद के-प्रभाव के आधीन होने से...** अनुभाव। **आत्मानुभव के-स्वाद के-प्रभाव के आधीन होने से... 'आत्म-अनुभव-अनुभाव-विवशः'** इसका अर्थ किया। आत्मा के अनुभव के प्रभाव के विवश। आहाहा! जो अनादि कर्म के वश में पड़ने से राग-द्वेष करता था। कर्म से राग-द्वेष नहीं होते, कर्म के वश स्वयं होता है। यह भगवान आत्मा अपने ज्ञायकस्वभाव के वश होकर... आहाहा! ज्ञायकस्वभाव, आहाहा! आत्मानुभव के अर्थात् **'अनुभाव'**। **'अनुभाव'** अर्थात् **प्रभाव के आधीन...** आधीन अर्थात् **'विवशः स्वां वस्तुवृत्तिंविदन्'** आहाहा! **निज वस्तुवृत्ति...** निज आत्मा की शुद्ध वृत्ति अर्थात् परिणति। आहाहा! अमृतचन्द्राचार्य का कथन बहुत संक्षिप्त।

आत्म-अनुभव के प्रभाव के वश होता है। तब **'स्वां वस्तुवृत्तिंविदन्'** अपनी वस्तु वृत्ति आत्मा वस्तु, उसकी वृत्ति-परिणति। अनुभूति और वीतरागी परिणति। आहाहा! **'स्वां वस्तुवृत्तिंविदन्'** आहाहा! निज वस्तु की परिणति। आहाहा! **'विदन्'** लेता हुआ। है? **(आत्मा की शुद्ध परिणति को) जानता-आस्वाद लेता हुआ...** ओहोहो! भगवान आत्मा राग से भिन्न होकर प्रथम में प्रथम जिसने सम्यग्दर्शन प्रगट किया, तब उसे मिथ्यात्व आदि की संवर दशा तो उत्पन्न हो गयी। परन्तु अब विशेष ज्ञान के अनुभव के स्वाद के वश पड़ा और वस्तु की वृत्ति। वस्तु भगवान आत्मा, उसकी वृत्ति। वृत्ति अर्थात् परिणति। आहाहा! भगवान आत्मा वस्तु ज्ञायकभाव, उसकी वृत्ति, उसकी परिणति। आहाहा! वह रागरहित वीतराग परिणति, वह वस्तुवृत्ति है। आत्मा का अनुभव, आनन्द का वीतराग पर्याय का आनन्द का स्वाद, वह वस्तु की वृत्ति है, वह वस्तु की परिणति है। वह रागादि परिणति आत्मा की वस्तु नहीं। आहाहा! बहुत सरस है। आहाहा! स-रस है। आहाहा!

(आत्मा के...) यह भाषा देखो! **'वस्तुवृत्तिंविदन्'** आहाहा! भगवान वस्तु, उस

ओर की एकाग्रता की परिणति। आहाहा! उसे अनुभवते। वस्तु की परिणति को वेदना करते। आहाहा! **(आत्मा के अद्वितीय स्वाद के अनुभवन में से बाहर न आता हुआ)**... आहा! अन्तर में एकाग्रता के स्वाद के समक्ष बाहर विकल्प में आना, वह नहीं आता। आहाहा! ऐसा मार्ग। इसका अर्थ यह हुआ कि दया, दान का विकल्प जो है, वह वस्तुवृत्ति नहीं है। समझ में आया? वह वस्तु की परिणति नहीं है। दया, दान, व्रतादि के विकल्प, वह वस्तु की वृत्ति नहीं। आहाहा! वह तो जड़ की ओर के वश से राग की वृत्ति है, राग का अनुभव है। पुण्य का अनुभव, वह राग का अनुभव है। आहाहा! वस्तुवृत्ति है न? **'विदन्' 'विदन्'** अर्थात् जानना और अनुभव करना। **'विदन्'** का अर्थ। आहाहा!

भगवान आत्मा वस्तु, उसकी वृत्ति—अनुभूति। उसके अवलम्बन से हुई वीतरागी परिणति, वह वस्तु की वृत्ति, वह आत्मा की परिणति, वह आत्मा की दशा, वह आत्मा की परिणति और भाव। आहाहा! उसे **'विदन्'** जानता अर्थात् अनुभवता हुआ। आहाहा! बहुत, अमृतचन्द्राचार्य ने संक्षिप्त शब्दों में कितना भरा है! आहाहा! प्रभु! यह तो शान्ति का मार्ग है। आहाहा! विकल्प और बाहर की क्रिया में धमाल... धमाल। उसमें धर्म मानता है, प्रभु! तू तेरी चीज़ को भूल गया। तेरी चीज़—वस्तु जो है, वह तो ज्ञायकभाव और आनन्द से भरपूर चीज़ है। उस ओर का झुकाव यदि हो तो उसकी वृत्ति, अनुभूति, परिणति उत्पन्न होती है। उस आत्मा की अनुभूति की परिणति का स्वाद लेता हुआ अथवा उसे जानते हुए, वेदते हुए, अनुभवते हुए। आहाहा! अरे! ऐसी बात है। उसे निर्जरा होती है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! यह भगवान की वाणी है। सन्त भगवान के आढ़तिया हैं। दिगम्बर सन्त-ये भगवान के आड़तिया हैं। भगवान का माल इस प्रकार से जगत को प्रसिद्ध करते हैं। आहाहा!

भगवान! तू वस्तु है न! अब यहाँ भगवान आये। भगवान ने ऐसा कहा था कि तेरा भगवान आन्दर जो वस्तु है, उस ओर की दृष्टि कर तो तेरी परिणति, वृत्ति उत्पन्न होगी, वह धर्म है। आहाहा! समझ में आया? यह कहीं पक्षपात की बात नहीं है, यह तो वस्तु की स्थिति है। ऐसा कहा न? यह कोई पक्ष नहीं, कोई पन्थ नहीं कि यह दिगम्बर धर्म एक पन्थ है और श्वेताम्बर एक पन्थ है। यह तो वस्तुवृत्ति-वस्तु की परिणति, वह यह जैनधर्म है। आहाहा! समझ में आया?

इस वस्तुवृत्ति का अनुभव होने से **निज वस्तुवृत्ति को (आत्मा की शुद्ध परिणति को)...** ऐसा। वृत्ति का अर्थ। **जानता-आस्वाद लेता हुआ (आत्मा के अद्वितीय स्वाद के अनुभवन में से...)** अन्तर के उसके स्वाद के समक्ष दूसरे की कोई जोड़ नहीं है। अजोड़ आत्मा का स्वाद। आहाहा! अन्तर में ज्ञानानन्द में एकाग्रता होकर, अन्तर की वस्तु की परिणति का स्वाद लेता हुआ। आहाहा! **(बाहर न आता हुआ)...** आहाहा! बाहर निकलना शोभा नहीं देता। परन्तु रह नहीं सकता, कमजोरी के कारण विकल्प उठता है, परन्तु अन्दर आनन्द के स्वाद में से बाहर आना रुचता नहीं, सुहाता नहीं। आहाहा! ऐसा आत्मा अब। आहाहा! ऐसे आत्मा को छोड़कर दूसरी सब बातें। यह व्रत करो और तपस्या करो, यात्रा करो और मन्दिर बनाओ। आहाहा! अभी उन भाई ने नहीं? मिश्रीलालजी... मिश्रीलालजी नहीं? कलकत्ता। काला? मिश्रीलालजी काला। अभी वहाँ पाँच लाख दिये। पाँच लाख। लोगों को ऐसा हो जाता है कि आहा! परन्तु उस चीज़ में क्या? वह तो कदाचित् एक राग की वृत्ति है, वह कहीं आत्मा की वृत्ति नहीं है। आत्मा की शुद्ध आत्मवृत्ति वह नहीं है। आहाहा! जेठालालभाई! होता है, परन्तु वह आत्मवृत्ति नहीं है। आहाहा! गजब काम किया है।

'आत्म-अनुभव-अनुभाव' आत्मा के अनुभव के अनुभाव के प्रभाव से, विवश अर्थात् उसके वश होकर। **'स्वां'** अपनी वस्तु परिणति को अनुभवता हुआ। आहाहा! इतने शब्द के अर्थ हैं। [**एषः आत्मा**] [**एषः आत्मा**] **यह आत्मा... 'एषः'** अर्थात् यह आत्मा। प्रत्यक्ष जाने। आहाहा! [**विशेष-उदयं भ्रश्यत्**] **ज्ञान के विशेषों के उदय को गौण करता हुआ,...** यह क्या कहते हैं? कि मति, श्रुत और अवधि, ऐसे भेद पड़ते हैं, (उस) भेद पर का लक्ष्य छोड़कर, भेद को गौण करके अन्तर अभेद की दृष्टि में लीन होता है। आहाहा! राग की बात तो कहीं रही, परद्रव्य की तो कहीं रही... आहाहा! परन्तु पर्याय में मति, श्रुत और अवधि—ऐसे भेद, वह भी लक्ष्य छोड़ देता है। भेद के ऊपर लक्ष्य नहीं है, अभेद तत्त्व पर दृष्टि है। आहाहा! भेद है, उसे जाने; उसका आदर नहीं। आहाहा! ज्ञान के भेदों का कोई आदर नहीं। आहाहा!

एक ज्ञायक भगवान पूर्णानन्द नाथ, वस्तु—जिसमें अनन्त गुण बसे हुए हैं, रहे हुए

हैं, वस्तु। यह वास्तु लेते हैं न? वास्तु कहीं वृक्ष के ऊपर लेते हैं? मकान में होता है, उसी प्रकार यह वस्तु, जिसमें अनन्त गुण का वास है। आहाहा! वस्तुवृत्ति। उसके सन्मुख होकर जो परिणति प्रगट हुई, उसके वेदन के समक्ष [**विशेष-उदयं भ्रश्यत्**] विशेषों के उदय को गौण करे। उस अभेद के अनुभव में भेद के विशेष को भी गौण करता हुआ अपने अभेद आत्मा का अनुभव करता है। आहाहा!

[**सामान्यं कलयन् किल**] **सामान्यमात्र ज्ञान का अभ्यास करता हुआ,...** [**सामान्यं कलयन् किल**] सामान्य अर्थात् ज्ञायकभाव त्रिकाली '**कलयन्**' अर्थात् एकाग्र करता हुआ। '**कलयन्**' अभ्यास कहो, एकाग्रता कहो, अनुभव कहो। '**कलयन्**' के इतने अर्थ होते हैं। भगवान सामान्य जो वस्तु, उसका '**कलयन्**'—उसमें एकाग्रता, उसका अभ्यास, उसका अनुभव करता हुआ। [**सकलं ज्ञानं**] **सकल ज्ञान को एकत्व में लाता है...** पर्याय के भेद का लक्ष्य छोड़कर स्वरूप में एकाग्रता करता है। अरे! ऐसी बातें हैं। '**सकलं ज्ञानं**' सकल ज्ञान की भेद की दशा को पर्याय में **एकत्व में लाता है...** भेद का लक्ष्य छोड़कर ज्ञायक में एकाग्रता लाता है। आहाहा! ऐसा मार्ग, उसे लोगों ने कुछ का कुछ कर डाला। प्रभु का मार्ग। आहाहा!

भावार्थ : इस एक स्वरूपज्ञान के रसीले स्वाद के आगे... भगवान आत्मा के स्वभाव की एकाग्रता और उस एकाग्रता के **स्वाद के आगे अन्य रस फीके हैं।** आहाहा! भेद का रस, राग का रस, सब (रस) फीके हैं। इन्द्र के इन्द्रासन के (स्वाद फीके हैं)। आहाहा! शरीर सुन्दर हो, रूपवान हो, ठीक रूप आदि (हो), लोगों को ऐसे आकर्षण करे। अरे! प्रभु! जड़ का आकर्षण? आहाहा! चैतन्य भगवान पूर्णानन्द का नाथ, जिसका ज्ञान उग्र। जिसका आनन्दशरीर, ज्ञानशरीर ऐसा स्वरूप, वह रूप तुझे आकर्षित नहीं करता? आहाहा!

इस एक स्वरूपज्ञान के रसीले स्वाद के आगे अन्य रस फीके हैं। आहाहा! **और स्वरूपज्ञान का अनुभव करते हुए सर्व भेदभाव मिट जाते हैं।** राग तो मिट जाता है परन्तु भेदभाव मिट जाता है। पर्याय के भेद का लक्ष्य नहीं। स्वरूप की एकाग्रता में भेद का लक्ष्य छूट जाता है। भेदभाव मिट जाता है। २०४ गाथा आनेवाली है न? उसका उपोद्घात है। २०४ आयेगी। आहाहा!

ज्ञान के विशेष ज्ञेय के निमित्त से होते हैं। अब क्या कहते हैं ? ज्ञान के भिन्न-भिन्न भेद वे ज्ञेय के निमित्त से (होते हैं)। मति में इतने ज्ञेय जानने में आवें, श्रुत में इतना जानने में आवे, अवधि में इतना जानने में आवे, केवल में इतना। यह ज्ञेय के भेद से भेद पड़ते हैं। आहाहा! **ज्ञान के विशेष ज्ञेय के निमित्त से होते हैं। जब ज्ञानसामान्य का स्वाद लिया जाता है...** आहा! भव के अन्त की बातें हैं, प्रभु! आहाहा! जिसमें भव का अन्त आता है और अनन्त आनन्द का स्वाद आता है, वहाँ भव का अन्त है। आहाहा!

जब ज्ञानसामान्य का स्वाद लिया जाता है... अकेले ज्ञायकभाव की ओर एकाग्रता होती है। **तब ज्ञान के समस्त भेद भी गौण हो जाते हैं, एक ज्ञान ही ज्ञेयरूप होता है।** एक अपना ज्ञान ही ज्ञेय (होता है)। आहाहा! परज्ञेय के निमित्त से भेद पड़ते हैं। मति, श्रुत, अवधि और मन:पर्यय और केवल (ज्ञान)। यह सब ज्ञेय के निमित्त के भेद हैं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया ? आहाहा! अन्दर ज्ञायकभाव महाप्रभु अनन्त गुण का रसीला रस, उसमें जब रस लेता है। आहाहा! उसमें एकाग्र होता है, तब **एक ज्ञान ही ज्ञेयरूप होता है।** अपना ज्ञान ही ज्ञान में ज्ञेयरूप होता है। परज्ञेय के भेद मिट जाते हैं। आहाहा! अपना ज्ञान ही ज्ञेय, ज्ञान ही ज्ञान और ज्ञायक ही ज्ञान। तीनों एकरूप हैं। पर ज्ञेय और आत्मा ज्ञाता, यह भी नहीं। आहाहा! अपना आत्मा ज्ञायक, अपना आत्मा अपने ज्ञायक का ज्ञेय और अपना आत्मा उस ज्ञेय का ज्ञान। निज ज्ञेय का ज्ञान। आहाहा! समझ में आया ? यह बापू! यह तो अन्तर की बातें हैं। यह कहीं बाहर की धमाल... आहाहा! उसमें मानो 'ज्ञान के मार्ग में धमाधम चली, ज्ञानमार्ग रहा दूर।' आहाहा!

यहाँ प्रश्न होता है कि छद्मस्थ को पूर्णरूप केवलज्ञान का स्वाद कैसे आवे ? छद्मस्थ है, अभी पूर्ण ज्ञान नहीं है, उसे केवलज्ञान का स्वाद किस प्रकार आवे ? तुम तो कहते हो कि, पाँचों ज्ञान की पर्याय का स्वाद अभेद में आता है। समझ में आया ? भेद का लक्ष्य छोड़कर, अभेद के स्वाद में पाँचों ज्ञान का अभेदरूप से अभेद स्वाद आता है। यह कहते हैं कि **छद्मस्थ को पूर्णरूप केवलज्ञान का स्वाद कैसे आवे ?** आहाहा! **इसका उत्तर पहले शुद्धनय का कथन करते हुए दिया जा चुका है कि शुद्धनय आत्मा का शुद्ध पूर्ण स्वरूप बतलाता है...** शुद्धनय जो सम्यग्ज्ञान का भाव, उसका विषय आत्मा, उस शुद्ध पूर्ण स्वरूप को बतलाता है। शुद्धनय आत्मा का पूर्ण स्वरूप बतलाता है। इसलिए

शुद्धनय के द्वारा पूर्णरूप केवलज्ञान का... वर्तमान में केवलज्ञान है नहीं परन्तु पाँच ज्ञान के भेद का लक्ष्य छोड़कर अभेद का अनुभव करता है, उसमें केवलज्ञान का परोक्ष स्वाद आ गया। प्रत्यक्ष तो ज्ञायक का है। समझ में आया? केवलज्ञान वर्तमान में नहीं है परन्तु केवलज्ञान की पर्याय वह भेद है, उसे छोड़कर अन्दर गया तो केवलज्ञान का स्वाद परोक्ष रीति से आया। आहाहा!

मुमुक्षु : परोक्ष या प्रत्यक्ष?

पूज्य गुरुदेवश्री : अभी केवलज्ञान प्रत्यक्ष कहाँ है? ऐसा कहते हैं। परन्तु केवलज्ञान ऐसा है और ज्ञायक स्वभाव में केवलज्ञान पड़ा है, ऐसे ज्ञायक का अनुभव होने पर केवलज्ञान अभी नहीं है परन्तु परोक्ष रीति से स्वाद आता है। पर्याय वर्तमान में नहीं है, इसलिए परोक्ष रीति से कहा है। ज्ञायकभाव में केवलज्ञान की शक्ति पड़ी है तो उसका स्वाद लेता है, केवलज्ञान का परोक्ष स्वाद कहा। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का प्रत्यक्ष स्वाद है। अरेरे! ऐसी बातें हैं।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान स्वभाव सन्मुख होता है, उसका तो प्रत्यक्ष वेदन वर्तमान प्रत्यक्ष है और केवलज्ञान वर्तमान में प्रत्यक्ष नहीं है, इसलिए प्रत्यक्ष नहीं है परन्तु केवलज्ञान की पर्याय ज्ञायक में शक्ति पड़ी है, ऐसा स्वाद लेता है। परोक्ष केवलज्ञान की पर्याय का स्वाद कहने में आता है। पर्याय का स्वाद, हों! द्रव्य में स्वाद तो प्रत्यक्ष है। शान्ति से सुनना, भाई! यह तो वीतराग मार्ग है। आहाहा! अरे! परमात्मा त्रिलोकनाथ की दिव्यध्वनि है।

प्रभु! राग का स्वाद तो नहीं... आहाहा! गजब बात है। जड़ का तो स्वाद नहीं, राग का स्वाद तो नहीं परन्तु केवलज्ञान स्वाद परोक्ष आता है। आहाहा! प्रत्यक्ष में तो ज्ञायकस्वभाव में जो मति, श्रुत प्रगट हुआ, उसका स्वाद वर्तमान प्रत्यक्ष है और केवलज्ञान प्रगट होगा, अभी है नहीं, परन्तु केवलज्ञान शक्ति में स्थित है तो शक्ति की प्रतीति होती है, केवलज्ञान की पर्याय का परोक्ष स्वाद (आता है)। द्रव्य का स्वाद प्रत्यक्ष परन्तु केवलज्ञान पर्याय वर्तमान में नहीं है, इसलिए परोक्ष स्वाद कहने में आता है। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

वास्तव में शुद्धनय की पूर्णता केवलज्ञान होने पर होती है। यह आस्रव अधिकार में आता है, दो बार आया है। शुद्धनय का पूर्ण रूप अर्थात् अन्तर में शुद्धनय का विषय जो

ध्रुव त्रिकाल (है), उसका आश्रय लेना छूट गया, तब उसे शुद्धनय की पूर्णता प्रगट हुई। आहाहा! केवलज्ञान हुआ, यह शुद्धनय की पूर्णता प्रगट हुई—ऐसा कहते हैं। आस्रव अधिकार में आ गया है। यह तो निर्जरा अधिकार है। समझ में आया? यह तो हिन्दी है न? हमारी गुजराती (पुस्तक में) चिह्न किये हैं। गुजराती वाँचन विशेष है। क्या कहा?

आस्रव अधिकार में अर्थ में ऐसा लिया है कि शुद्धनय की पूर्णता केवलज्ञान होने पर होती है। पर्याय पूर्ण हो, तब शुद्धनय पूर्ण हुआ, ऐसा आता है। है, आस्रव में है? उसमें? हिन्दी... हिन्दी... हिन्दी है? गुजराती है नहीं। यहाँ गुजराती नहीं आया। गाथा कौन सी है? १२० कलश। यह आया। **साक्षात् शुद्धनय तो केवलज्ञान होने पर होता है।** १२० कलश। इसमें चिह्न किया है। गुजराती में दो जगह है, इसमें भी दो जगह है। दूसरी जगह है कहीं। यहाँ है? १२० कलश। १२१ कलश के भावार्थ की अन्तिम लाईन। दो (जगह) है। १२० में अन्तिम शब्द। **साक्षात् शुद्धनय तो केवलज्ञान होने पर होता है।**

एक ओर कहे कि भूतार्थ को शुद्धनय कहते हैं। ग्यारहवीं गाथा में ऐसा कहा कि **'भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ'** जो त्रिकाल है, उसे हम शुद्धनय कहते हैं। दूसरा नय, शुद्धनय ध्रुव का आश्रय लेता है। **'भूदत्थमस्सिदो खलु'** पहले कहा था कि, त्रिकाली चीज़ को ही हम शुद्धनय कहते हैं। विषय और विषयी का भेद नहीं। शुद्धनय विषयी और भूतार्थ विषय, यह भेद नहीं। ऐसी बात है। त्रिकाली भगवान पूर्णानन्द का नाथ भूतार्थ, वह शुद्धनय। पश्चात् तीसरे पद में लिया, **'भूदत्थमस्सिदो खलु'** इसी त्रिकाली भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है। अब यहाँ ऐसा कहा कि केवलज्ञान की पूर्णता.... **साक्षात् शुद्धनय तो केवलज्ञान होने पर...** अर्थात् जहाँ स्वभाव सन्मुख आश्रय करना रुक गया, पूर्ण हो गया, तब शुद्धनय पूर्ण केवलज्ञान होने पर होता है, ऐसा कहा। आहाहा! शुद्धनय है तो ज्ञान का अंश और उसका विषय तो द्रव्य त्रिकाल है। परन्तु त्रिकाल में ऐसे झुकाव करना है, वहाँ तक अभी शुद्धनय की पूर्णता नहीं है, ऐसा कहने में आया है। क्या कहा?

जब तक शुद्धनय का विषय भूतार्थ है, उस ओर का झुकाव है, तब तक शुद्धनय की पर्याय में पूर्णता नहीं हुई, इसलिए केवलज्ञान होने पर शुद्धनय की पूर्णता (अर्थात्) द्रव्य का आश्रय लेना रुक गया। दशा पूर्ण हो गयी। अरेरे! आहाहा! ऐसी बातें। क्रियाकाण्डियों

को यह घड़ नहीं बैठते। क्या हो? बापू! मार्ग ही यह है वहाँ (क्या हो)? **साक्षात् शुद्धनय तो केवलज्ञान...** अब १२१ (कलश के) भावार्थ का अन्तिम। है? **केवलज्ञान होने पर साक्षात् शुद्धनय होता है।** भावार्थ की अन्तिम लाईन। आहाहा! दो बार आया। **केवलज्ञान होने पर साक्षात् शुद्धनय होता है।** भाषा देखो! केवलज्ञान हुआ, इसलिए शुद्धनय का आश्रय लेना रुक गया द्रव्य का अर्थात् पूर्ण शुद्धनय, पर्याय प्रगट हुई। है या नहीं इसमें? १२० और १२१। आहाहा!

केवलज्ञान तो पर्याय है। केवलज्ञान तो व्यवहारनय का विषय है। क्या कहा, समझ में आया? केवलज्ञान तो सद्भूत व्यवहारनय का विषय है। यहाँ कहा कि साक्षात् शुद्धनय केवलज्ञान होने पर होता है। उसका अर्थ कि स्व का आश्रय लेना पूर्ण हो गया तो वह शुद्धनय केवलज्ञान होकर पूर्ण हो गया, ऐसा। समझ में आये, उतना समझना, बापू! यह तो अन्तर की बातें हैं। आहाहा! आस्रव में दो जगह (बात आती है)। शुद्धनय केवलज्ञान होने पर पूर्ण होता है।

मुमुक्षु : एकाग्रता पूर्ण हो गयी न।

पूज्य गुरुदेवश्री : एकाग्रता पूर्ण हो गयी, इसलिए शुद्धनय पूर्ण हो गया—ऐसा कहा। आहाहा!

मुमुक्षु : ११२ कलश में भी आता है। पुण्य-पाप अधिकार में।

पूज्य गुरुदेवश्री : ११२ कलश? आस्रव (अधिकार) में दो जगह डाला है। ११२, यह तो पुण्य-पाप (अधिकार) का अन्तिम (श्लोक)। **(वहाँ तक ज्ञानज्योति केवलज्ञान के साथ शुद्धनय के बल से परोक्ष क्रीड़ा करती है,...)** यह तो क्रीड़ा करती है, यह शब्द है। **'परमकलया सार्थम् आरब्धकेलि' जिसने परम कला अर्थात् केवलज्ञान के साथ क्रीड़ा शुरु की है...** मति-श्रुत ज्ञान उत्पन्न हुआ, वह केवलज्ञान के साथ क्रीड़ा करता है। केवलज्ञान प्रगट करने का भाव है। आहाहा! **(केवलज्ञान के साथ शुद्धनय के बल से परोक्ष क्रीड़ा करता है,...)** वर्तमान केवलज्ञान तो प्रत्यक्ष है नहीं, परन्तु केवलज्ञान की पर्याय की प्रतीति (हो गयी है)। (क्योंकि) मति-श्रुतज्ञान केवलज्ञान का अवयव है। अवयव में अवयवी की प्रतीति हो गयी है परन्तु परोक्ष है। आहाहा! क्या कहा?

फिर से। मति-श्रुतज्ञान जो है, वह अवयव है, पर्याय है। किसका अवयव? कि, द्रव्य का नहीं, केवलज्ञान की पर्याय का। केवलज्ञान पर्याय अवयवी, मति-श्रुत अवयव। तो वह अवयव अवयवी के साथ परोक्ष क्रीड़ा करता है। आहाहा! अब ऐसा सब सूक्ष्म आया। कहो, लक्ष्मीचन्दभाई! इसमें नैरोबी में कहीं मिले, ऐसा नहीं है। आहाहा! यह तो परम सत्य है। आहाहा! यह तो मात्र शुद्धनय, यह। समझ में आया?

यहाँ (१४० श्लोक में) तो यह कहते हैं न? **इसका उत्तर पहले शुद्धनय का कथन करते हुए दिया जा चुका है कि शुद्धनय आत्मा का शुद्ध पूर्ण स्वरूप बतलाता है...** समझ में आया? इसलिए **शुद्धनय के द्वारा पूर्णरूप केवलज्ञान का परोक्ष स्वाद आता है।** वर्तमान तो केवलज्ञान नहीं है परन्तु केवलज्ञान—अवयवी की प्रतीति पर्याय में आयी, उतना परोक्ष स्वाद आया। आहाहा! श्रीमद् में यह आता है। सम्यग्दर्शन में केवलज्ञान की प्रतीति अर्थात् केवलज्ञान की प्रतीतिरूप केवलज्ञान प्रगट हुआ। जो केवलज्ञान अन्दर में था, उसकी प्रतीत नहीं थी, वह प्रतीति हुई। अर्थात् श्रद्धा अपेक्षा से केवलज्ञान प्रगट हुआ, ऐसे शब्द हैं। क्या कहा? केवलज्ञान की पर्याय की श्रद्धा—सम्यग्दर्शन हुआ तो त्रिकाली की श्रद्धा हुई तो उसमें केवलज्ञान की श्रद्धा आ गयी। अतः श्रद्धा अपेक्षा से केवलज्ञान प्रगट हुआ। पहले ज्ञान, त्रिकाली ज्ञान था, अकेला ज्ञान था, ऐसी प्रतीति नहीं थी, तब मात्र ज्ञानस्वरूप है ऐसी प्रतीति हुई तो उसे केवलज्ञान श्रद्धा अपेक्षा से प्रगट (हुआ)। केवल—अकेला ज्ञान श्रद्धा अपेक्षा से प्रगट हुआ तो उसमें केवलज्ञान भी अपेक्षा से—श्रद्धा अपेक्षा से प्रगट हुआ। आहाहा! तब श्रद्धा में आया कि इस त्रिकाली ज्ञायक का भाव जब पूर्ण पर्यायरूप परिणमता है, वह केवलज्ञान की श्रद्धा समकित में आयी। आहाहा! भारी कठिन। यह १४० (श्लोक) पूरा हुआ।

गाथा-२०४

तथाहि -

आभिणिसुदोधिमणकेवलं च तं होदि एक्कमेव पदं।
सो एसो परमट्ठो जं लहिदुं णिव्वुदिं जादि।।२०४।।

आभिनिबोधिक श्रुतावधिमनःपर्ययकेवलं च तद्भवत्येकमेव पदम्।
स एष परमार्थो यं लब्ध्वा निर्वृत्तिं याति।।२०४।।

आत्मा किल परमार्थः, तत्तु ज्ञानं; आत्मा च एक एव पदार्थः, ततो ज्ञानमप्येकमेव पदं; यदेतत्तु ज्ञानं नामैकं पदं स एष परमार्थः साक्षान्मोक्षोपायः। न चाभिनिबोधिकादयो भेदा इदमेकं पदमिह भिन्दन्ति तेऽपीदमेवैकं पदमभिनन्दन्ति।

तथाहि ह्न यथात्र सवितुर्घनपटलावगुण्ठितस्य तद्विघटनानुसारेण प्राकट्यमासादयतः प्रकाशनाति-शयभेदा न तस्य प्रकाशस्वभावं भिन्दन्ति, तथा आत्मनः कर्मपटलोदयाव-गुण्ठितस्य तद्विघटनानुसारेण प्राकट्यमासादयतो ज्ञानातिशयभेदा न तस्य ज्ञानस्वभावं भिन्द्युः, किन्तु प्रत्युत तमभिनन्देयुः।

ततो निरस्तसमस्तभेदमात्मस्वभावभूतं ज्ञानमेवैकमालम्ब्यम्।

तदालम्बनादेव भवति पदप्राप्तिः, नश्यति भ्रान्तिः, भवत्यात्मलाभः, सिध्यत्यनात्म-परिहारः, न कर्म मूर्छति, न रागद्वेषमोहा उत्प्लवन्ते, न पुनः कर्म आस्रवति, न पुनः कर्म बध्यते, प्राग्बद्धं कर्म उपभुक्तं निर्जीर्यते, कृत्स्नकर्माभावात् साक्षान्मोक्षो भवति।।२०४।।

अब, 'कर्म के क्षयोपशम के निमित्त से ज्ञान में भेद होने पर भी उसके (ज्ञान के) स्वरूप का विचार किया जाये तो ज्ञान एक ही है और वह ज्ञान ही मोक्ष का उपाय है' इस अर्थ की गाथा कहते हैं:-

मति, श्रुत, अवधि, मनः, केवल सबहि एक हि पद जु है।
वो ज्ञानपद परमार्थ है, जो पाय जीव मुक्ती लहे।।२०४।।

गाथार्थ : [आभिनिबोधकश्रुतावधिमनः पर्ययकेवलं च] मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान-[तत्] यह [एकम् एव] एक ही [पदम् भवति] पद है (क्योंकि ज्ञान के समस्त भेद ज्ञान ही हैं); [सः एषः परमार्थः] वह यह

परमार्थ है (शुद्धनय का विषयभूत ज्ञान सामान्य ही यह परमार्थ है-) [यं लब्ध्वा] जिसे प्राप्त करके [निर्वृतिं याति] आत्मा निर्वाण को प्राप्त होता है।

टीका : आत्मा वास्तव में परमार्थ (परम पदार्थ) है और वह (आत्मा) ज्ञान है; और आत्मा एक ही पदार्थ है; इसलिए ज्ञान भी एक ही पद है। यह ज्ञान नामक एक पद परमार्थस्वरूप साक्षात् मोक्ष का उपाय है। यहाँ, मतिज्ञानादि (ज्ञान के) भेद इस एक पद को नहीं भेदते किन्तु वे भी इसी एक पद का अभिनन्दन करते हैं (-समर्थन करते हैं)। इसी बात को दृष्टान्त पूर्वक समझाते हैं :- जैसे इस जगत में बादलों के पटल से ढका हुआ सूर्य जो कि बादलों के विघटन (बिखरने) के अनुसार प्रगटता को प्राप्त होता है, उसके (सूर्य के) प्रकाशन की (प्रकाश करने की) हीनाधिकतारूप भेद उसके (सामान्य) प्रकाशस्वभाव को नहीं भेदते, इसी प्रकार कर्मपटल के उदय से ढका हुआ आत्मा जो कि कर्म के विघटन (क्षयोपशम) के अनुसार प्रगटता को प्राप्त होता है, उसके ज्ञान के हीनाधिकतारूप भेद उसके (सामान्य) ज्ञानस्वभाव को नहीं भेदते, प्रत्युत (उलटे) अभिनन्दन करते हैं। इसलिए जिसमें समस्त भेद दूर हुए हैं ऐसे आत्मस्वभावभूत एक ज्ञान का ही-अवलम्बन करना चाहिए। उसके आलम्बन से ही (निज) पद की प्राप्ति होती है, भ्रान्ति का नाश होता है, आत्मा का लाभ होता है, और अनात्मा का परिहार सिद्ध होता है, (ऐसा होने से) कर्म बलवान नहीं होते, राग-द्वेष-मोह उत्पन्न नहीं होते, (राग-द्वेष-मोह के बिना) पुनः कर्मास्रव नहीं होता, (आस्रव के बिना) पुनः कर्म-बन्ध नहीं होता, पूर्वबद्ध कर्म मुक्त होकर निर्जरा को प्राप्त हो जाता है, समस्त कर्मों का अभाव होने से साक्षात् मोक्ष होता है। (ऐसे ज्ञान के आलम्बन का ऐसा माहात्म्य है।)

भावार्थ : कर्म के क्षयोपशम के अनुसार ज्ञान में जो भेद हुए हैं वे कहीं ज्ञान-सामान्य को अज्ञानरूप नहीं करते, प्रत्युत ज्ञान को प्राप्त करते हैं; इसलिए भेदों को गौण करके, एक ज्ञानसामान्य का आलम्बन लेकर आत्मा को ध्यावना; इसी से सर्वसिद्धि होती है।

गाथा - २०४ पर प्रवचन

अब, कर्म के क्षयोपशम के निमित्त से ज्ञान में भेद होने पर भी... यहाँ तो क्षयोपशम का निमित्त लिया है। बात ऐसी है कि कर्म के निमित्त की अपेक्षा जिसमें है,

केवलज्ञान में कर्म के निमित्त के अभाव की अपेक्षा है और चार ज्ञान में अभी कर्म का निमित्त सद्भाव रूप से भी है। इसलिए (कहते हैं कि) **कर्म के क्षयोपशम के निमित्त से ज्ञान में भेद होने पर भी...** पर्याय में भिन्न-भिन्न दशा—मति, श्रुत, अवधि ऐसे भेद होने पर भी **उसके (ज्ञान के) स्वरूप का विचार किया जाये तो ज्ञान एक ही है...** भेद नहीं। ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान... जैसे त्रिकाली ज्ञान है, ऐसे पर्याय में अभेदरूप से ज्ञान अकेला, पर्याय के भेद नहीं। आहाहा! ऐसी बात। **वह ज्ञान ही मोक्ष का उपाय है...** पर्याय लेनी है न? मोक्ष का उपाय लिया न? तो ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान में जो अभेदरूप ज्ञानपर्याय हुई, भेद नहीं। वह अभेदरूपी पर्याय हुई, वह मोक्ष का कारण है। भेद का लक्ष्य करने जाता है, तब तो विकल्प उठता है। आहाहा! भेद को गौण करके, अभेद की दृष्टि कराने के लिये उसे केवलज्ञान की परोक्ष बात की और केवलज्ञान भी भेदरूप है तो उसका भी लक्ष्य छुड़ाते हैं और त्रिकाली ज्ञायकभाव का लक्ष्य करना, वही उसका तात्पर्य और फल है। आहाहा! मोक्ष का उपाय लिया है न? ऐसा उपाय तो मति, श्रुतज्ञान, वह मोक्ष का उपाय है। **इस अर्थ की गाथा कहते हैं:-** लो।

आभिणिसुदोधिमणकेवलं च तं होदि एक्कमेव पदं।
सो एसो परमट्ठो जं लहिदुं णिव्वुदिं जादि।।२०४।।

नीचे यहाँ पाठ लिया है, कर्म के क्षयोपशम का निमित्त। केवलज्ञान में तो कर्म का क्षायिक है। समझ में आया? परन्तु यहाँ क्षयोपशम की दशा में पाँच भेद का आश्रय नहीं लेकर अभेद का आश्रय लेना, इस अपेक्षा से ज्ञान के क्षयोपशम की अपेक्षा ली है। क्योंकि उसे क्षयोपशम भाव है न? मति और श्रुतज्ञान में क्षयोपशम भाव है तो क्षयोपशम भाव के निमित्त से ज्ञान में भेद (पड़ते हैं)। आहाहा! कर्म के क्षयोपशम के निमित्त से (ऐसा) लिया है, तो केवलज्ञान तो कर्म का क्षयकरण है परन्तु यहाँ कहते हैं कि वे सब भेद हैं, ऐसा लक्ष्य में से छुड़ाना है। इस अपेक्षा से मति-श्रुतज्ञान आदि पाँच भेदवाला है तो पाँच के भेद का जो ज्ञान होता है, वह छुड़ाना है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! यह तो अध्यात्म ग्रन्थ है। आहाहा!

यहाँ शब्द ऐसा लिया है। यह तो भाई ने लिया है, हों! **'तथाहि'** शब्द है यहाँ तो।

संस्कृत में तो ऊपर **'तथाहि'** यह हम कहेंगे, इतना। २०४ है न। अमृतचन्द्राचार्य का ऊपर संस्कृत शब्द **'तथाहि'** है। यह तो इन्होंने—जयचन्द्रजी ने फिर **'तथाहि'** का अर्थ लिया। आहाहा!

मति, श्रुत, अवधि, मनः, केवल सबहि एक हि पद जु है।
वो ज्ञानपद परमार्थ है, जो पाय जीव मुक्ती लहे।।२०४।।

टीका : आत्मा वास्तव में परमार्थ (परम पदार्थ) है... परमार्थ का अर्थ परम पदार्थ। परमार्थ करना, यह बात यहाँ नहीं है। यह परम पदार्थ—परमार्थ। अर्थात् कि परम पदार्थ है। **और वह (आत्मा) ज्ञान है; और आत्मा एक ही पदार्थ है;...** आत्मा एक ही स्वरूप से है। **इसलिए ज्ञान भी एक ही पद है।** तो ज्ञान का एकपना ही होता है। **यह ज्ञान नामक एक पद परमार्थस्वरूप साक्षात् मोक्ष का उपाय है।** आहाहा! क्या कहते हैं? जो ज्ञानस्वरूपी भगवान त्रिकाल है, यह तो एक बात, परन्तु उसमें जो अभेद ज्ञान हुआ, वह एक ही प्रकार का है, पाँच प्रकार का नहीं। और वे पाँच प्रकार वास्तव में तो ज्ञान की शुद्धि बढ़ती जाती है, वह अभेद का अभिनन्दन करती है। यह टीका में आयेगा—अभेद का अभिनन्दन करती है, भेद को नहीं। आहाहा! टीका में आयेगा। **यह ज्ञान नामक एक पद परमार्थस्वरूप साक्षात् मोक्ष का उपाय है।** नाम का पद। **परमार्थस्वरूप साक्षात् मोक्ष का उपाय है।**

यहाँ, मतिज्ञानादि (ज्ञान के) भेद इस एक पद को नहीं भेदते... आहा! ज्ञायकभाव के ओर की एकाग्रता, वह मतिज्ञान आदि भेद इस पद को नहीं भेदते। ज्ञान की एकाग्रता में भेद नहीं होते। अभेद में भेद नहीं पड़ते। आहाहा! अभेद कौन? ज्ञायकस्वभाव तो अभेद है परन्तु उसकी एकाग्रता भी अभेद है। उस अभेद में भेद नहीं दिखते। उस अभेद में भेद नहीं आते। आहाहा! अरेरे! अब ऐसी बातें। अभी यहाँ तो पुण्य, वह धर्म है (ऐसा अज्ञानी कहते हैं)। और पुण्य, उसे धर्म क्यों कहा है? कि जिसे निश्चय धर्म आत्मज्ञान प्रगट हुआ है, उसके पुण्य को व्यवहार धर्म कहा है। समझ में आया? परन्तु जिसे आत्मज्ञान है ही नहीं उसे तो व्यवहाराभास, व्यवहार धर्म कहते हैं।

मोक्ष अधिकार में आता है न? भाई! मोक्ष की चिन्ता, बन्ध की चिन्ता, वह धर्ममार्ग

है, धर्मध्यान है। वह व्यवहार धर्म, राग। आहाहा! मोक्ष अधिकार में आता है। बन्ध की चिन्ता और बन्ध का ज्ञान करने से आत्मा का मोक्ष नहीं होता। शुद्ध का आश्रय ले तो आत्मा का मोक्ष होता है। आहाहा! समझ में आया? बन्ध-चिन्ता से बन्ध नहीं मिटता।

मुमुक्षु : उसे तोड़ने के लिये...

पूज्य गुरुदेवश्री : तोड़ना अर्थात् शुद्ध का आश्रय लेना, उसका अर्थ (यह है)। समझ में आया? मुझे तो दूसरा कहना है कि बन्ध की चिन्ता को वहाँ धर्म कहा है। वह पुण्यरूपी धर्म, ऐसा कहा है। वहाँ कहा है न, सब खबर है। बन्ध की चिन्ता को वहाँ धर्मध्यान कहा है। धर्म। वह पुण्य। पुण्य को धर्म कहा है। आहाहा! तब वे कहते हैं न? पुण्य को अधर्म कहाँ कहा है? परन्तु वहाँ तो निश्चय की दृष्टिपूर्वक जो पुण्य है, उसे व्यवहार धर्म कहते हैं, परन्तु है तो निश्चय से तो वह पाप। पुण्य भी पाप ही है। स्वभाव में से पतित होता है, अन्तर में नहीं रह सकता और विकल्प आता है, वह तो पवित्रता में से पतित होना, वह पाप है। आहाहा! क्या कहा?

पवित्रता का पिण्ड भगवान, उसकी परिणति में रहना और उसके अतिरिक्त बाहर आना, राग में (आना), वह तो पवित्रता में से पतित होना है, तो पवित्रता में से पतित होना, वह पाप है। यह 'पुण्य-पाप अधिकार' में संस्कृत टीका में है। पुण्य-पाप की टीका में जयसेनाचार्य की टीका में यह शब्द है कि अपना जो पवित्र स्वभाव है, उसकी दृष्टि और ज्ञान, उससे पतित हो और राग में आता है, उस पुण्य-राग को पाप कहते हैं। आहाहा! समझ में आया?

इसमें तो एक ही टीका है न? अमृतचन्द्राचार्य की है। जयसेनाचार्य की टीका में यह है। जयसेनाचार्य की टीका में है। मूल पुस्तक है न? उसमें है। दोनों टीका है न? श्रीमद् की ओर से प्रकाशित हुआ है, उसमें दोनों टीकाएँ हैं। उसमें जयसेनाचार्य की टीका में है। प्रभु! यह अधिकार पाप का चलता है और तुम यह रत्नत्रय की व्याख्या कैसे करते हो? ऐसा प्रश्न है। रत्नत्रय है, वह तो शुभभाव है और अधिकार तो पाप का चलता है तो यह अधिकार कैसे चला? तो पहले कहा कि... है? पुस्तक है? ठीक! वह मेरी पुस्तक नहीं।

'यद्यपि व्यवहारमोक्षमार्गो निश्चयरत्नत्रयस्योपादेयभूतस्य कारणभूतत्वादु-

पादेयः परंपरया जीवस्य पवित्रताकारणात्' निमित्त **'तथापि बहिर्दव्यालंबनत्वेन पराधीनत्वात्पतति'** राग में आता है तो पवित्रता से पतित होता है। आहा! क्या कहते हैं? देखो! जरा सूक्ष्म बात है। यह तो सब ख्याल है। **'अत्राह शिष्यः।... व्यवहाररत्नत्रय-व्याख्यानं कृतं तिष्ठति कथं पापाधिकार'** यह अधिकार तो पाप का है और तुमने व्यवहाररत्नत्रय का अधिकार कैसे डाला? ऐसा प्रश्न है। **'तत्र परिहार'** उसका उत्तर। **'यद्यपि व्यवहारमोक्षमार्गो निश्चयरत्नत्रयस्योपादेयभूतस्य कारणभूतत्वादु-पादेयः...** व्यवहार। **परंपरया जीवस्य पवित्रताकारणात्'** परम्परा, हों! **'तथापि बहिर्दव्यालंबनत्वेन'** राग और परद्रव्य के आलम्बन से **'पराधीनत्वात्पतति'** राग में आता है तो पराधीनता से पवित्रता से पतित होता है। **'नश्यतीत्येकं कारणं।'** दूसरा। **'निर्विकल्पसमाधिरतानां व्यवहार-विकल्पालंबनेन स्वरूपात्पतितं भवतीति द्वितीयं कारणं। इति निश्चयनयापेक्षया पापं।'** आहाहा! पुण्य-पाप का अन्तिम अधिकार है। (गाथा १६१ से १६३)। है न यह तो समयसार। आहाहा! कहाँ गया? आहाहा!

ज्ञान भी एक ही पद है। यह ज्ञान नामक एक पद परमार्थस्वरूप साक्षात् मोक्ष का उपाय है। यहाँ, मतिज्ञानादि (ज्ञान के) भेद इस एक पद को नहीं भेदते किन्तु वे भी इसी एक पद का अभिनन्दन करते हैं... ज्ञान की विशेषता से एकाग्रता होती है, ऐसा कहते हैं। वहाँ भेद के ऊपर लक्ष्य नहीं है, इसलिए अभेद के ऊपर जाने से ज्ञान की निर्मलता प्रगट हो, उसे अभिनन्दते हैं, एकाग्रता को अभिनन्दते हैं, अभेद को अभिनन्दते हैं। अभेद को **(-समर्थन करते हैं)**। विशेष व्याख्या आयेगी....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २८३, गाथा-२०४, सोमवार, श्रावण कृष्ण ६
दिनाङ्क १३-०८-१९७९

समयसार, २०४ गाथा। फिर से थोड़ा (लेते हैं)। यह **आत्मा वास्तव में परमार्थ (परम पदार्थ) है और वह (आत्मा) ज्ञान है;...** आत्मा परम पदार्थ है, वह ज्ञानस्वरूप है। **और आत्मा एक ही पदार्थ है;...** आत्मा एक ही पदार्थ है, **इसलिए ज्ञान भी एक ही पद है।** आत्मा एक स्वरूप है तो ज्ञान भी एक स्वरूप है। क्योंकि आत्मा ज्ञान है। आहाहा! **यह ज्ञान नामक एक पद परमार्थस्वरूप साक्षात् मोक्ष का उपाय है।** यह ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा, इसकी ओर की दृष्टि, एकाग्रता, वह एक मोक्ष का उपाय है। **परमार्थस्वरूप साक्षात् मोक्ष का उपाय है।** आहाहा!

यह 'मोरबी' का आज पढ़ा। आहाहा! श्मशान भूमि। तीन-तीन हजार लोग मौत की गोद में पड़े हैं, हजारों तो मर गये। पानी में मुर्दे बहते जाते हैं। आहाहा! मोरबी। अभी भाई ने बताया। आहाहा!

मुमुक्षु : पूरा मोरबी डूब गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : लगभग तीन हजार मरने के भय में है। कितने ही मरकर पानी में तैरते चले गये मुर्दे। आहाहा! नाशवान में क्या हो? आहाहा! अभी भाई अखबार लाये थे। ओहो! दिखाब... श्मशान, मोरबी श्मशान हो गया। यह नाशवान में क्या होगा? प्रभु! अविनाशी तो यहाँ भगवान है। आहा! नाशवान के ऊपर तो लक्ष्य करना नहीं है परन्तु राग और पर्याय के ऊपर भी लक्ष्य करनेयोग्य नहीं है। आहाहा!

आत्मा पदार्थ ज्ञानस्वभावी आत्मा एक है तो ज्ञान भी एक ही स्वरूप है। आहाहा! अरे! ऐसे मरण भी अनन्त बार हो गये। यह पहला-वहला मोरबी का नहीं परन्तु इस आत्मा को भी अनन्तबार (हुआ है)। क्योंकि वह पुल टूट गया। ढ़ेर हो गया और पानी आगे चलता नहीं, पानी गाँव में। आहाहा! चीखते-पुकारते हजारों लोग मर गये तो पानी में तैरते मुर्दे। अरे! भगवान! तू कौन है? उसे देख न! आहाहा! ऐसी दशाएँ अनन्त बार हुईं। प्रभु! अब ऐसे अवसर में तेरा कल्याण करना हो तो भगवान आत्मा एक स्वरूप है, तो उसका ज्ञान भी

एक स्वरूप है। आहाहा! है? वह मोक्ष का उपाय है। अन्दर एक स्वरूप ज्ञान है, उस ओर का अवलम्बन लेना, वह मोक्ष का उपाय है। जन्म-मरण से रहित होने की तो यह एक पद्धति है, भाई! आहाहा!

यहाँ, मतिज्ञानादि... भेदज्ञान की पर्याय में मति, श्रुत, अवधि **इस एक पद को नहीं भेदते....** वास्तव में तो ज्ञान की निर्मल पर्याय अनेकरूप से स्वभाव के आश्रय से उत्पन्न होती है, वह एकपने की पुष्टि करती है। आहाहा! भेद पर लक्ष्य न हो और ज्ञानस्वभाव पर नजर हो तो ज्ञान की शुद्धि, पर्याय भले मति-श्रुत आदि भेद हो, परन्तु वह अन्तर को अभिनन्दते हैं, एकपने को अभिनन्दते हैं। आहाहा! जो-जो ज्ञान की निर्मल दशा होती है, वह उस निर्मल दशा की पुष्टि करती है। आहाहा! समझ में आया? 'निर्जरा अधिकार' है न? आहा!

यह भगवान आत्मा शुद्धस्वरूप तो त्रिकाल है। उसके अवलम्बन से शुद्ध संवर, निर्जरा की पर्याय शुद्ध उत्पन्न होती है, वह पूर्ण शुद्धि का कारण है। पूर्ण शुद्धि अर्थात् मोक्ष। परन्तु यहाँ कहते हैं कि उस पर्याय में अनेकपना, निर्मल उत्पन्न होती है न? वह अनेकपना उत्पन्न हो परन्तु वह तो एकपने को अभिनन्दता है, स्वभाव की पुष्टि करता है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बातें, भाई! आहाहा!

यह चैतन्य भगवान आत्मा, एक पदरूप, एक स्वरूप होने पर भी उसका आश्रय लेकर निर्मल पर्यायें अनेक प्रगट होती हैं, तथापि वे अनेक पर्यायें एकपने को अभिनन्दती और पुष्टि देती हैं। आहाहा! समझ में आया? स्वरूप शुद्ध एकरूप चैतन्य है, उसके अवलम्बन से अनेक निर्मल पर्यायें होती हैं, वह निर्मल पर्याय एकपने की पुष्टि करती है। भेद पर लक्ष्य नहीं, दृष्टि अभेद पर है। इसलिए ज्ञान की एकाग्रता, शुद्धि बढ़ती है, वह शुद्धि एकपने की पुष्टि करती है, एकाग्रपने की पुष्टि करती है। आहाहा! एकाग्रपने की पुष्टि करती है। आहाहा! है? यहाँ तक आया था।

इसी एक पद का अभिनन्दन करते हैं... अर्थात् ज्ञायकभाव जो भगवान, उसकी ओर के अवलम्बन से अनेक प्रकार की निर्मल पर्याय मति-श्रुत आदि उत्पन्न होती है, वह सब एकपने की पुष्टि करती है। स्वभाव में एकाग्रता की वृद्धि करती है। आहाहा! राग और

दया, दान के विकल्प, वे तो कहीं बाहर रह गये। वह कहीं धर्म नहीं है, धर्म का कारण भी नहीं है। आहाहा! **इसी बात को दृष्टान्तपूर्वक समझाते हैं:-** कल यहाँ तक आया था।

जैसे इस जगत में बादलों के पटल से ढका हुआ सूर्य... बादल के दल से ढँका हुआ सूर्य **जो कि बादलों के विघटन (बिखरने) के अनुसार...** बादल के बिखरने के अनुसार **प्रगटता को प्राप्त होता है,...** प्रकाश **उसके (सूर्य के) प्रकाशन की (प्रकाश करने की) हीनाधिकतारूप भेद उसके (सामान्य) प्रकाशस्वभाव को नहीं भेदते,...** प्रकाश विशेष, विशेष, विशेष प्रगट होता है, वह सामान्य को भेदता नहीं, एकत्व होता है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म।

अन्तर में भगवान आत्मा एकरूप, ज्ञान एकरूप, उसका अवलम्बन लेने से निर्मल से निर्मल पर्याय अनेक उत्पन्न होती है परन्तु वह अनेकपने को प्राप्त नहीं होती। उस स्वरूप के अन्दर एकाग्रता की पुष्टि करती है। आहाहा! क्या कहते हैं? अरे! वीतरागमार्ग, बापू! उसमें लिखा है कि, अभी मोरबी श्मशान हो गया है। आहाहा! मोरबी बड़ा। जेठाभाई गये हैं। इस संसार में क्या, बापू! यह सब बाहर की चमक श्मशान की हड्डियों की चिंगारी की चमक जैसा है। आहाहा!

भगवान आत्मा ज्ञायकभाव से भरपूर प्रभु, उसके अवलम्बन से जो शुद्धि की वृद्धि एक के बाद एक होती है, वह वृद्धि अनेकपने की पुष्टि नहीं करती, ऐसा कहते हैं। अन्दर में एकाग्रता की पुष्टि करती है। समझ में आया? सूर्य के आड़े बादल हैं, वे जैसे-जैसे बिखरते जाते हैं, वैसे-वैसे प्रकाश विशेष-विशेष होता है। वह प्रकाश की पुष्टि करता है। अनेकपने को नहीं, प्रकाश की पुष्टि करता है। आहाहा! ऐसी धर्म की बातें। जेठालालभाई! अरेरे! यह सब करोड़ोंपति सब दुःखी हैं, यहाँ तो ऐसा कहते हैं। आहाहा! अरेरे! कहाँ है? भाई! तेरा पद कहाँ है? तेरा पद तो अन्दर है न! आहाहा! और वह एकरूप पद, भगवान आत्मारूप अथवा ज्ञानरूप एकरूप है। उस एकरूप में एकाग्रता होती है और उस एकाग्र में से शुद्धि की अनेकता उत्पन्न होती है, उस अनेकता का वहाँ लक्ष्य नहीं है। वह अनेकता एकता को पुष्टि करती है। आहाहा! समझ में आया?

जैसे सूर्य का प्रकाश बादल के बिखराव से विशेष-विशेष होता है तो वह विशेष-विशेष प्रकाश की पुष्टि करता है। समझ में आया? अरे! अब ऐसी बातें। धर्म के लिये... मुझे धर्म करना है, बापू! परन्तु भाई! धर्म इस प्रकार से होता है। आहाहा! भाई! भगवान! तू ज्ञानस्वरूप विराजमान है न। उस ओर के झुकाव से जो शुद्धि, एक के बाद एक शुद्धि अनेक प्रकार से भले उत्पन्न हो, परन्तु अनेकपना एकपने की पुष्टि करता है। शुद्धि... शुद्धि... शुद्धि... शुद्धि... शुद्धि (होने पर) शुद्धि की पुष्टि होती है, अनेकपने की पुष्टि नहीं होती। अनेकरूप से उत्पन्न होता है, वह एकपने की पुष्टि करता है। आहाहा! ऐसी बातें!

भगवान! जन्म-मरण रहित होने की चीज़ कोई अलौकिक है। आहाहा! सारे जगत से उदास होना पड़ेगा, प्रभु! आहाहा! राग और पर्याय से भी उदास होना पड़ेगा। उदास होना पड़ेगा। आहाहा! अन्दर भगवान पूर्णानन्द का नाथ (विराजता है), वहाँ तेरा आसन लगा दे। आहाहा! उदासीनो, कहा न? उदासीनो। उदासीन-पर से उदासीन होकर अपने स्वभाव में आसन लगा दे। आहाहा! वह आसन लगाने से एकपने की शुद्धि वहाँ नहीं रहती, शुद्धि वृद्धि को प्राप्त होती है, तो शुद्धि वृद्धि पाती है तो वह अनेकपने की पुष्टि नहीं करती। वह शुद्धि की वृद्धि शुद्धि में एकपने की पुष्टि करती है। आहाहा! समझ में आया?

(सूर्य के) प्रकाशन की (प्रकाश करने की) हीनाधिकतारूप भेद उसके (सामान्य) प्रकाशस्वभाव को नहीं भेदते,... प्रकाश, प्रकाश, प्रकाश बढ़ता जाता है, उसमें भेद नहीं है। भले प्रकाश बढ़ता हो परन्तु उस प्रकाश की पुष्टि वहाँ है। आहाहा! **इसी प्रकार कर्मपटल के उदय से ढका हुआ आत्मा...** देखो! इसमें से निकाले। कर्म के उदय से ढँका हुआ आत्मा। इसका अर्थ यह, कर्म के उदय के वश पड़ा, ढंका हुआ आत्मा, ऐसा। समझ में आया? इसका अर्थ यह है। कर्म के उदय से, कर्म का पटल, ढँका हुआ। उस कर्म के उदय में वश होकर अपने स्वभाव को ढाँक दिया है। आहाहा! दुश्मन के वश होकर सज्जन की सत्शक्ति को ढाँक दिया है। यह राग, कर्म का उदय दुश्मन है। उसके वश होकर अपनी शक्ति को ढाँक दिया है। आहाहा! यहाँ कर्म के उदय से ढँका हुआ, ऐसे शब्द हैं। दृष्टान्त देना है न? बादल और प्रकाश।

बादल हटते हैं तो प्रकाश होता है। परन्तु वास्तव में तो प्रकाश होने की योग्यता से

स्वयं से प्रकाश होता है। वह बादल घटने से, ऐसा कहना वह तो व्यवहार से कथन है। आहाहा! समझ में आया? इसी प्रकार यहाँ अशुद्धता की दशा, वह कर्म के उदय के वश हुई है तो उससे हटकर अन्तर में जैसे-जैसे अशुद्धता घटती जाती है, वैसे कर्म भी दूर हो जाते हैं, वैसे-वैसे विज्ञानघन आत्मा अपनी पर्याय में प्रकाश में पुष्टि होती है। आहाहा! अब ऐसा धर्म। ऐसी बातें हैं, भाई! आहाहा!

कर्म के विघटन (क्षयोपशम) के अनुसार... भाषा है न? वर्णीजी के साथ प्रश्न हुए थे तो उन्होंने यही कहा था कि, ज्ञानावरणीय कर्म का जितना क्षयोपशम हो, उतना ज्ञान आता है और तुम कहते हो कि ज्ञान की अपनी योग्यता से ज्ञान होता है। आहाहा! यह तो निमित्त से कथन कहा है। समझ में आया? परन्तु निमित्त के वश होता है, उतना आत्मा ढँक गया ओर जितना निमित्त के वश से छूटा, उतना आत्मा का विकास हुआ। आहाहा! समझ में आया? प्रभु! यह तो वीतराग के घर की बातें हैं, बापू! आहाहा! अरे! भरतक्षेत्र जैसा साधारण क्षेत्र, उसमें गरीब लोग, गरीब बस्ती, उसमें यह मालदार की बातें करना। आहाहा!

महा भगवान पूर्णानन्द का नाथ अन्तर महल में-आनन्द महल में विराजता है। वह आत्मा जितना कर्म के उदय के वश होता है, उतनी वहाँ आत्मा की पर्याय ढँक जाती है और जितना आत्मा निमित्त के वश नहीं हुआ तो कर्म का घटना हुआ, ऐसा कहने में आया। वह कर्म स्वयं पर के वश नहीं होते, वह कर्म घटे। अशुद्ध पर्याय निमित्त के वश होती थी। प्रभु! ऐसा अर्थ है। क्या करें? आहाहा! है?

कर्म के विघटन (क्षयोपशम) के अनुसार... भाषा है? जैसे बादल के घटने के कारण प्रकाश उत्पन्न होता है, उसी प्रकार यहाँ कर्म के घटने के कारण से। आहाहा! इसका अर्थ यह कि अपनी अशुद्ध पर्याय जो पर और निमित्त के आधीन होती थी, वह निमित्त की आधीनता से हट गयी तो कर्म का क्षयोपशम हुआ, ऐसा कहने में आया है। आहाहा! बात तो ऐसी है, भाई! एक ओर ऐसा कहे कि आत्मा की पर्याय जो जिस समय में, जिस प्रकार से उत्पन्न होती है, वह अपने से उत्पन्न होती है। अब एक ओर ऐसा कहे कि कर्म घटे, उतना प्रकाश होता है। उसे न्यायसर समझना पड़ेगा न? आहाहा! शास्त्र पढ़ने में भी बापू! दृष्टि यथार्थरूप से हो तो समझ सके।

मुमुक्षु : गुरुगम की चाबी मिलना चाहिए।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, वस्तु ऐसी है। आहाहा!

परद्रव्य के घटने के कारण आत्मा प्रकाशमय होता है? आहाहा! परन्तु आत्मा में एक अभाव नाम का गुण है, उस अशुद्धता के अभावरूप परिणमता है, उतनी पुष्टि—ज्ञान की वृद्धि होती है। आहाहा! साधारण व्यक्ति को अभ्यास न हो अन्दर, आहाहा! उसे कहाँ जाना है कहाँ? आहाहा! देह तो गिर जाएगी, प्रभु! यह देह तो संयोग से है, पर में है, यह तो तुझमें है ही नहीं। परन्तु इस एक क्षेत्र में इकट्ठी है, वहाँ तुझे लगता है कि हम देह में हैं। देह में नहीं, वह तो स्वयं आत्मा में है। देह का क्षेत्रान्तर होगा, तब इसे लगे कि अरे! देह छूट गयी, हम मर गये। कौन मरे? प्रभु! क्षेत्रान्तर से देह छूटती है। समझ में आया?

कल प्रश्न नहीं हुआ था? बण्डीजी! कि यह परिणमन है, वह क्रियावतीशक्ति के कारण से नहीं। क्रियावतीशक्ति तो क्षेत्रान्तर से क्षेत्रान्तर हो, वह क्रियावतीशक्ति। परन्तु उसका जो परिणमन है, वह क्रियावतीशक्ति अकेली नहीं। वह अनन्त गुण का परिणमन जो है, वह स्वयं से है। क्रियावतीशक्ति का परिणमन तो एक आत्मा या परमाणु एक क्षेत्र से ऐसे (दूसरे क्षेत्र में जाते हैं), वह क्रियावतीशक्ति। परन्तु वहीं का वहीं रहकर जो परिणमन होता है, वह क्रियावती (शक्ति) अकेली नहीं। भले उस समय स्थिर हो तो भी क्रियावतीशक्ति का परिणमन स्थिर है। गति करे, तब वह होता है। परन्तु परिणमन—उसकी दशा... आहाहा!

भगवान पूर्णानन्द के नाथ का अवलम्बन लेकर जो दशा शुद्धि, शुद्धि बढ़ती है, वह शुद्धि अनेकता से नहीं होती, वह शुद्धि बढ़ती है, वह एकता की पुष्टि करती है। आहाहा! समझ में आया? **अनुसार प्रगटता को प्राप्त होता है,...** ऐसी भाषा, अब इसमें से यह लोग निकालते हैं। कर्म का उदय घटने प्रमाण ज्ञान का उघाड़ होता है। यहाँ एक ओर ऐसा कहना कि ज्ञान की पर्याय अपने से उस समय में उस प्रकार की प्रगट होने की योग्यता से प्रगट होती है, कर्म के घटने से नहीं, क्योंकि उसमें एक अभाव नाम का गुण है। पर के अभावरूप परिणमता है, पर से नहीं, पर के अभावरूप परिणमता है, वह अपना स्वभाव है। समझ में आया? कर्म घटे, इसलिए अभावरूप परिणमता है, यह तो निमित्त का कथन

है। आहाहा! क्योंकि आत्मा में एक भाव और अभाव नाम का गुण है। भावगुण के कारण तो प्रत्येक गुण की वर्तमान पर्याय उत्पन्न होगी। वह कोई कर्म घटने से होगी, ऐसा है नहीं। वहाँ भले घटे परन्तु उसकी यहाँ अपेक्षा नहीं है। समझ में आया? ऐसा विषम। कल कोई पूछता था, अनेक अपेक्षा से कल सवेरे बात आयी। भाई! ज्ञान की विशेषता की महिमा ही कोई ऐसी है। उसके पहलू, इतने पहलू हैं... आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि ज्ञानस्वरूप भगवान जितना पर का सद्भाव और निमित्त के वश होकर भावरूप होता है, उसका अभाव नाम के गुण के कारण से यह कर्म का घटना हुआ, परन्तु यहाँ तो अपने अभाव गुण के कारण से राग के अभावस्वभावरूप परिणमना, वह अपने कारण से है। आहाहा! कर्म के घटने के कारण से शुद्धि की वृद्धि होती है, यह तो निमित्त का कथन है। आहाहा! समझ में आया?

उसके ज्ञान के हीनाधिकतारूप भेद... पहले थोड़ी शुद्धि, फिर विशेष (हुई), ऐसे हीनाधिकतारूप भेद **उसके (सामान्य) ज्ञानस्वभाव को नहीं भेदते,...** भले वह अनेकपने वृद्धि को प्राप्त हो परन्तु वह सामान्य ज्ञान की पुष्टि करते हैं। सामान्य अर्थात् त्रिकाली और उसका अवलम्बन लेना, वह सामान्य। उसकी पुष्टि करता है। आहाहा! अब ऐसी बातें। वीतरागमार्ग बहुत अलौकिक, प्रभु! ऐसी बात कहीं है नहीं। सर्वज्ञ वीतराग के अतिरिक्त (कहीं है नहीं)। परन्तु समझना अलौकिक बात है, भाई! आहाहा!

ज्ञान के अर्थात् आत्मा के स्वभाव का हीनाधिकतारूप सत्तारूप, पर्याय में, हों! भेद ज्ञानस्वभाव को भेदते नहीं। भगवान सामान्य त्रिकाल है, उसे तो भेदते नहीं परन्तु सामान्य में एकाग्रता है, उसे भेदते नहीं। एकाग्रता की तो पुष्टि करते हैं। समझ में आया? आहाहा! **प्रत्युत (उलटे) अभिनन्दन करते हैं।** आहाहा! शुद्धि की, आत्मा के अवलम्बन से शुद्धि की अनेकता उत्पन्न होने पर भी वह एकता की पुष्टि करते हैं, भेद की पुष्टि नहीं। समझ में आया? बण्डीजी! ऐसी बात है। अरेरे! लोगों को स्थूल (सुनने को) मिलता है, उसमें सुनकर सन्तोष हो जाता है। कुछ धर्म किया। अरे.. प्रभु! कब अवसर मिले? भाई! आहाहा!

सत् का स्वरूप सच्चिदानन्द प्रभु, सूर्य समान प्रकाश का पुंज, ज्ञान के प्रकाश का पुंज, वह तो त्रिकाली। परन्तु उसके अवलम्बन से शुद्धि की अनेकता उत्पन्न होने पर भी

उस एकता की पुष्टि करता है, अनेकता के खण्ड नहीं होते। एकता में खण्ड नहीं होते, एकता में पुष्टि करता है। समझ में आया? जेठालालभाई! ऐसी बातें हैं। आहाहा! अरेरे! यह दिखाव आज किया है, वह देखे तो लोगों को... आहाहा! ऐसे पानी में सैकड़ों मुर्दे तिरें, चले जाते हैं। उसे बेचारे को खबर भी नहीं कि सवेरे क्या होगा? माँ-बाप खिंचते हों, लड़के खिंचते हों, आहाहा! स्वयं भी खिंचता हो और माँ-बाप देखे। और माँ-बाप खिंचते हों (तो स्वयं देखे)। आहाहा! बापू! बाहर में कहाँ शरण है? उस समय भी यदि भगवान आत्मा के स्वभाव की दृष्टि करे तो शरण मिल जाए। समझ में आया? क्योंकि भगवान विद्यमान, त्रिकाल विद्यमान है। उसमें अविद्यमानपना तो बिल्कुल है ही नहीं। आहाहा!

ऐसा जो भगवान आत्मा त्रिकाल विद्यमान प्रभु, सत्ता वस्तु, अपनी सत्ता, अस्ति, मौजूदगी त्रिकाल रखनेवाला, उसका आश्रय लेने से शुद्धि की पर्याय में अनेकता भासित होती है, तथापि वह अन्तर की शुद्धि की पुष्टि करता है, अन्तर में एकाग्रता की पुष्टि करता है। अरे! सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा! समझ में आया? समयसार तो जैनदर्शन का अकेला मक्खन है। जैनदर्शन अर्थात् कोई पन्थ नहीं, वह तो वस्तुदर्शन है। जैसी जगत की वस्तु है, उस वस्तु की दशा कौन सी और उस वस्तु की शक्ति कौन सी, उस वस्तु का वस्तुपना क्या? यह बताता है। आहाहा!

कहते हैं कि अनेकपने की शुद्धि उत्पन्न होती है, वह भेदती तो नहीं, अपितु अभिनन्दन करती है। आहाहा! है? अपितु एकाग्रता की पुष्टि विशेष-विशेष शुद्धि हुई। आहाहा! समयसार में दूसरी जगह आता है न? भाई! ऐसा कि शुद्धि अनेक... अनेक... अनेक... अनेक... शुद्धि होती है, (ऐसा) आता है। तथापि वह शुद्धि अनेक-अनेक होने पर भी वह एकाग्रता में पुष्टि (करती) है। शुद्धि की अनेकता होती है, अनेकता होने से वह अनेकपना उसमें पुष्ट नहीं होता। आहाहा! इस दुनिया की मिठास छोड़ना... हैं? आहाहा! और आत्मा की मिठास में आना, भाई! आहाहा!

यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि, प्रभु! मिठास आनन्द से भरपूर एकरूप स्वरूप है। जैसे ज्ञान एकरूप है, वैसे आत्मा एकरूप है, वैसे आनन्द एकरूप है। उस आनन्द में एकाग्रता करते-करते आनन्द की पर्याय अनेकपने की प्रगट होती है, तो भी वह अनेकपना एकपने

की पुष्टि करता है। उस शुद्धि की वृद्धि होकर एकपने की पुष्टि करता है। निर्मल पर्याय में, हों! सामान्य तो है, वह है। यह तो निर्मल पर्याय जो प्रगट हुई, वह अनेकरूप से शुद्धि... शुद्धि... शुद्धि... शुद्धि बढ़ती जाती है, वह अनेकपने की पुष्टि नहीं करती। वह अनेकपना अन्तर एकाग्रता की पुष्टि करता है। हसमुखभाई! ऐसी पुस्तक कभी पढ़ी भी नहीं हो वहाँ। आहाहा! अरेरे! ऐसी चीज़ पड़ी है, निधान रखे हैं। आहाहा! भावरूप, हों! पृष्ठ तो जड़ है। आहाहा!

आहाहा! माल की गठड़ियाँ होती हैं न? रुई की। माल निकालकर बतावे कि ऐसा माल है। ऐसे अपने आनन्दस्वरूप में एकाग्र होता है तो आनन्द का अंश-नमूना आता है। उस नमूना द्वारा पूरा आत्मा आनन्दस्वरूप है, ऐसी प्रतीति होती है। वह आनन्द की जो पर्याय प्रगट हुई और विशेष एकाग्रता होते-होते आनन्द की विशेष पर्याय प्रगट हुई, तो वह विशेष... विशेष प्रगट हुई तो वहाँ भेद नहीं होते। वह अन्दर में ज्ञान की पुष्टि में एकाग्र होता है। आहाहा! वह आनन्द की वृद्धि होती है। अनेकपने में अनेकपने की वृद्धि नहीं, परन्तु आनन्द की वृद्धि होती है। आहाहा! अब ऐसा मार्ग।

इसलिए जिसमें समस्त भेद दूर हुए हैं... देखो! यह भेद भी दूर हो गये। भेद पर लक्ष्य नहीं। भले शुद्धि की अनेकता उत्पन्न हुई परन्तु उस पर लक्ष्य नहीं है। लक्ष्य त्रिकाली के ऊपर है अन्दर एकाग्रता में पुष्टि विशेष होती है। समझ में आया? धीरे से समझना, प्रभु! यह तो वीतरागमार्ग है। आहाहा! तीन लोक के नाथ परमात्मा हैं, ऐसा ही यह तीन लोक का नाथ परमात्मा है। यह परमात्मा स्वयं, परमात्मा स्वयं आत्मा परमात्मा है। आहाहा! उसका पन्थ, उसकी एकाग्रता होना। जहाँ एकरूप पद पड़ा है, उसमें एकाग्रता होना और एकाग्रता होने से शुद्धि की अनेकता उत्पन्न होती है, तथापि वह एकाग्रता की ही पुष्टि करती है। वहाँ शुद्धि की वृद्धि होती है, अनेकपने की पुष्टि नहीं करता। आनन्द की वृद्धि हुई, विशेष आनन्द, आनन्द... आनन्द... आनन्द... आनन्द... भले अनेकरूप आनन्द के अंश शुद्धि के बढ़े, तथापि यहाँ तो आनन्द की वृद्धि अन्दर पर्याय में आनन्द की वृद्धि होती है। समझ में आया? उस अनेकपने के कारण आनन्द की वृद्धि का भेद पड़ जाता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसी बात कहाँ है? भाई! आहाहा!

यहाँ तो पर्याय में शुद्धि बढ़े, उस पर कोई लक्ष्य नहीं करना, ऐसा कहते हैं। अन्दर में जो द्रव्य में लक्ष्य गया है, वहाँ लक्ष्य जमा देना और उससे शुद्धि भले अनेकरूप बढ़े, अनेकरूप दिखायी दे परन्तु अन्दर में तो एकरूप ही शुद्धि बढ़ती जाती है। आहाहा! विषय जरा सूक्ष्म है। आहाहा!

इसलिए जिसमें समस्त भेद दूर हुए हैं, ऐसे आत्मस्वभावभूत... आत्म-स्वभावभूत **एक ज्ञान का ही-अवलम्बन करना चाहिए।** एकरूप भगवान आत्मा का अवलम्बन करना चाहिए। आहाहा! पर्याय भले अनेक हो परन्तु तो भी अवलम्बन तो एक का, एकरूप का अवलम्बन लेना चाहिए। आहाहा! समझ में आये ऐसा है, प्रभु! आत्मा तो अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान ले सकता है। आहाहा! अरे! उसका विरह पड़ गया। पंचम काल, काल बाधक नहीं परन्तु उसकी पर्याय में हीन दशा का काल (है), पूरी दशा का काल अपने में अपने लिये नहीं है। आहाहा! अपना (कहते) हैं न, स्वयं? स्वयं को स्वयं के लिये पूर्ण (होने का) काल नहीं। काल-फाल बाधक नहीं। अपनी हीनता, (शुद्धि) वृद्धि नहीं पाती, वह बाधक है। आहाहा! समझ में आया?

ऐसे आत्मस्वभावभूत एक ज्ञान का ही... देखो! ज्ञान लिया है न? आत्म-स्वभावभूत ज्ञान। जो स्वभावभूत, आत्मा जैसे त्रिकाल है, वैसे ज्ञान त्रिकाल है, स्वभावभूत। **एक ज्ञान का ही-अवलम्बन करना चाहिए।** आहाहा! **उसके आलम्बन से ही...** भाषा देखो! भगवान ज्ञायकस्वरूप त्रिकाल ज्ञानानन्द सहजानन्द प्रभु, **उसके आलम्बन से ही...** देखा? **आलम्बन से ही...** निश्चय लिया।

मुमुक्षु : दूसरा कोई उपाय नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यही वस्तु है। आहाहा!

प्रभु पूर्णानन्द का नाथ द्रव्यस्वभाव, उसके अवलम्बन से ही। वापस दूसरे का अवलम्बन नहीं, उसके लिये 'ही' (शब्द) पड़ा है। पर्याय का अवलम्बन नहीं, राग का नहीं, निमित्त का नहीं। आहाहा! **उसके आलम्बन से ही (निज) पद की प्राप्ति होती है,...** पर्याय में। निजपद जो त्रिकाल है, उसके अवलम्बन से ही पर्याय में निज पद की प्राप्ति होती है। आहाहा! समझ में आया?

फिर से। उसमें कहीं पुनरुक्ति नहीं लगती। भावना का ग्रन्थ है न? है? आहाहा! निज स्वरूप पूर्णानन्द का नाथ, उसके अवलम्बन से ही निज पद की प्राप्ति पर्याय में होती है। द्रव्य तो निज पद तो है ही, उसके अवलम्बन से ही, पूर्ण पर्याय की, पूर्ण पर्याय की निज पद की प्राप्ति उससे होती है। आहाहा! यहाँ तो अभी बाहर में विवाद और झगड़ा। अरे! प्रभु! क्या करता है? ऐ... व्यवहार को उत्थापित करते हैं और एकान्त निश्चय स्थापित करते हैं। ऐसे सब झगड़े। प्रभु! बात तो ऐसी है।

यहाँ तो पर्याय की अनेकता भी आश्रय करनेयोग्य नहीं है तो फिर राग और दया, दान का आश्रय करनेयोग्य है, (ऐसा कहाँ से होगा)? आहाहा! यह बात वीतराग के अतिरिक्त कहीं है नहीं। वीतराग स्वभावी भगवान स्वभाव भरा है, प्रभु, वीतराग स्वभावभूत आत्मा के अवलम्बन से ही वीतराग की पर्याय की पूर्णता निज पद की प्राप्ति होती है। आहाहा! किसी राग के कारण से अथवा निमित्त के कारण से उस पूर्ण पर्याय की प्राप्ति नहीं होती। समझ में आया?

मुमुक्षु : एक ही उपाय है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा!

उसके आलम्बन से ही (निज) पद की प्राप्ति होती है,... एक बात। पहले अस्ति से लिया। **भ्रान्ति का नाश होता है,...** मिथ्यात्व का नाश निज पद के अवलम्बन से होता है। दूसरी कोई चीज़ नहीं है। भ्रान्ति अर्थात् मिथ्यात्व। पर्याय जितना मैं हूँ, राग से धर्म होगा—इत्यादि भ्रान्ति जो मिथ्यात्व, वह निज पद के अवलम्बन से ही (नष्ट होता है)। निज पद की प्राप्ति होती है, यह पहले अस्ति ली, फिर भ्रान्ति का नाश होता है (ऐसी नास्ति से बात की)। परन्तु निज पद के अवलम्बन से मिथ्यात्व का नाश होता है। आहाहा! ऐसी तो स्पष्ट बात (की है)।

अरे! दिगम्बर शास्त्र और दिगम्बर मुनि तो अलौकिक बात है, बापू! आहाहा! मुनिपना कोई अलौकिक बातें हैं। आहाहा! जिन्हें अन्तर अनन्त-अनन्त आनन्द का पर्याय में; समुद्र के किनारे जैसे ज्वार आता है, वैसे मुनियों को अन्तर में सच्चे सन्त होवें तो पर्याय में अनन्त आनन्द का ज्वार आता है। वह अतीन्द्रिय आनन्द की विशेष-विशेष दशा (प्रगट

होती है)। उस विशेष-विशेष पर लक्ष्य नहीं, सामान्य पर लक्ष्य, दृष्टि है, लक्ष्य है तो इस कारण से विशेष-विशेष आनन्द होता है, परन्तु एकाग्रता में पुष्टि होती है। आनन्द की वृद्धि होती है। आहाहा! समझ में आया?

भ्रान्ति का नाश होता है,... यह तो ऐसे अस्तिरूप से जहाँ प्राप्ति हुई, सम्यग्दर्शनरूप से; वहाँ भ्रान्ति का नाश हो गया। निज अवलम्बन से सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ तो पर्याय में उस स्वरूप की प्राप्ति हुई। उस समय भ्रान्ति का नाश होता है। आहाहा! **आत्मा का लाभ होता है,...** पहले साधारण बात की कि निज पद की प्राप्ति होती है। तो अब कहते हैं कि आत्मा का लाभ होता है। भ्रान्ति का नाश होने से भगवान आनन्दस्वरूप प्रभु का लाभ होता है। यह बनिया लाभ सवाया नहीं रखते? दिवाली पर। लक्ष्मीचन्दभाई! लाभ सवाया, बहियों में लिखते हैं। बापू! वह लाभ नहीं, वह तो नुकसान सवाया है। आहाहा! प्रभु! यह लाभ, आत्मलाभ तुझे मिलेगा। आहाहा! आत्मलाभ। आहाहा!

आत्मा का लाभ होता है,... आहाहा! अब देखो! **अनात्मा का परिहार सिद्ध होता है,...** अब यहाँ तो पुण्य के परिणाम को अनात्मा कहा। चेतनजी! यहाँ तो अनात्मा कहा। अनात्मा कहो, यहाँ धर्म से विरुद्ध अनात्मा। अनात्मा कहो या पुण्य कहो। पुण्य अनात्मा है, आहाहा! आत्मा नहीं। आहाहा! अब यह कहते हैं कि पुण्य को अधर्म कहाँ कहा है? अरे! प्रभु! तुझे क्या कहें? अरेरे! ऐसा क्या है? भाई! पुण्य है, वह अनात्मा है। आत्मा का लाभ हुआ तो अनात्मा का नाश हुआ, परिहार हुआ। यह पुण्य अनात्मा है। पुण्य को तो पहले अधिकार में—जीव अधिकार में अजीव कहा है। आहाहा! उस अजीव से जीव को लाभ होगा? और अजीव को धर्म कहा तो वह निश्चय धर्म है? वह तो उपचार से कथन किया। आहाहा!

आत्मा का लाभ होता है,... आहाहा! पूर्ण स्वरूप ध्रुव, उसका आश्रय लेने से निजपद, निज स्वरूप... रागपद, वह निज पद नहीं है। निज पद की प्राप्ति होती है, इतनी सामान्य बात की। भ्रान्ति का नाश होता है। निज पद अर्थात् आत्मलाभ प्राप्त होता है, ऐसा। वहाँ आत्मा का लाभ मिले, आत्मलाभ। इस लक्ष्मी का लाभ और धूल का (लाभ नहीं)। आहाहा! यह पुण्यभाव का लाभ, वह यहाँ नहीं। पुण्य भाव तो अनात्मा है। आहाहा!

समझ में आया ? अब ऐसा उपदेश। लोगों को निवृत्ति-फुरसत नहीं, धन्धे के कारण निवृत्ति नहीं। अरे! अपना हित कैसे हो ? आहाहा! यह जवान लड़के और लड़के की बहू पानी में खिंचते हों और स्वयं जरा ऊँचे बैठा हो, तो रह गया हो... आहाहा! आँसू की धारा बहती जाए। बापू! वह तो तेरा खेद है, दुःख है और उसे देखकर तुझे ऐसा हुआ, यह तो मिथ्यात्व भाव है। आहाहा! वहाँ तो मिथ्यात्व की पुष्टि हुई है। आहाहा! इस भगवान को तैरता अन्दर भिन्न देख। आता है न ? विश्व के ऊपर तैरता। १४४ में। विश्व के ऊपर तैरता हुआ। समयसार में आता है। याद न हो, किस जगह है ? भाव मस्तिष्क में रह गया हो। विश्व पर तैरता, वहाँ १४४ में आता है। कर्ता-कर्म (अधिकार) में नहीं ? आहाहा! बहुत जगह आता है।

भगवान ऐसा राग और पर्याय से भिन्न तैरता हुआ। पर्याय का भी जिसमें प्रवेश नहीं। ऐसा भगवान आत्मा, यदि तू इस त्रिकाली का अवलम्बन ले तो तुझे आत्मलाभ होगा। भ्रान्ति का नाश होगा, आत्मलाभ होगा, अनात्मा का परिहार सिद्ध होगा। पुण्य भाव, वह अनात्मा है। अरर! यहाँ आत्मा, वह अनात्मा है। तो यहाँ धर्म तो वह अधर्म है। यहाँ पवित्रता, तो वह अपवित्रता है। आहाहा! कठिन काम, भाई! और वह चाण्डालनी के पुत्र कहे। दोनों—पुण्य और पाप। ब्राह्मण के यहाँ पालन हुआ वह कहता है यह मुझे चलता नहीं, यह मुझे चलता नहीं, यह मुझे चलता नहीं। परन्तु कौन है तू ? मूल तो चाण्डालनी का पुत्र। उसी प्रकार पुण्य भाव वाला ऐसा मुझे यह पाप चलता नहीं, भोग चलते नहीं, अमुक चलता नहीं। परन्तु अब तेरा पुण्यभाव, वह चाण्डाल का पुत्र है, विभाव का पुत्र है, ऐसा कलशटीका में कहा है। पुण्यभाववाले शुभभाव वाले ऐसा माने, यह मुझे चलता नहीं, यह मुझे चलता नहीं। वह चाण्डालनी का पुत्र ब्राह्मण जैसा है उसे। हमारे बहुत विषय नहीं होते, हमारे स्त्री का संग नहीं होता। संग न हो, वह तेरा भाव कौन सा है ? भाव तो शुभ है, राग है। वह राग तो चाण्डालनी का पुत्र है, चाण्डालनी का पुत्र कहे कि मुझे चलता है। और यह चाण्डालनी का पुत्र कहे कि मुझे चलता नहीं। आहाहा! क्या कहा ? चाण्डालनी के दो पुत्र। एक पुत्र कहे कि यह मुझे चलता नहीं, यह चलता नहीं, हमारे माँस चलता नहीं, अमुक चलता नहीं।

मुमुक्षु : महाव्रत है, वह चाण्डालनी का पुत्र है।

पूज्य गुरुदेवश्री : महाव्रत के परिणाम चाण्डालनी का पुत्र है। महाव्रत के परिणामवाला कहे कि यह मुझे चलता नहीं, भोग चलते नहीं, अव्रत चलते नहीं, स्त्री का संग चलता नहीं। परन्तु भाव तेरा है, वह तो पुण्य है, वह चाण्डालनी का पुत्र है। आहाहा! ऐई! आहाहा!

मुमुक्षु : कठिन पड़े।

पूज्य गुरुदेवश्री : कठिन पड़े, बात सत्य।

मुमुक्षु : मुश्किल से गले उतरे।

पूज्य गुरुदेवश्री : संसार की बात कैसे गले उतर जाती है झट? यह तो अन्तर की बात है, प्रभु! आहाहा! यह साधुओं ने बाहर में सब मनवा दिया। व्रत करो और अपवास करो और सेवा करो और साधर्मी को मदद करो। आहाहा!

मुमुक्षु : बाहर में तो इसका माहात्म्य है।

पूज्य गुरुदेवश्री : है, दुनिया को बाहर का माहात्म्य है, वह तो मिथ्यात्व है।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : दरबार को नाम से बुलावे, अमुक सिंह, अमुक दरबार, ऐसा। आहाहा! मार डाला। गरासिया को एक नाम से नहीं बुलाया जाता। हरिसंघ, ऐसा नहीं बुलाया जाता। हरिसंघजी, हरिसिंह। मूल तो 'सिंह' शब्द का 'संघ' हो गया। मूल तो हरिसिंह, भावसंघ और हरिसंघ। दरबार! दुनिया की सब खबर है, हों! यह संघ क्यों हुआ? मूल तो 'सिंह' (शब्द) है। हरिसिंह, भावसिंह दरबार के नाम। परन्तु फिर साधारण में हो गये, हरिसंघ और भावसंघ हो गया। सिंह का संघ हो गया। यह देखो न बड़े... इन्दौर। वे सब बनिया हैं तो भी नाम सिंह। राजकुमारसिंह, अमुक सिंह। उनके नाम सिंह और इन गरासिया के नाम हो गये संघ। नीचे उतर गये, पुण्य कम। और बनिया करोड़पति, बीस करोड़, चालीस करोड़। उसमें सिंह है न? शान्तिप्रसाद में वह नहीं। वहाँ शान्तिप्रसाद और श्रेयांसप्रसाद वह है और यह इन्दौर में सब सिंह, राजकुमारसिंह, राजबहादुरसिंह है न? खबर है। न?

मुमुक्षु : उनकी पत्नी को रमा नहीं कहा जाता, रमारानी कहा जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : रमारानी कहा जाता है, ऐसा कहा जाता है। 'रमारानी शान्तिप्रसाद'। धूल भी नहीं रमारानी। आहाहा! वह तो आनन्द के साथ परिणति रमे, वह रमारानी है। आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं कि **अनात्मा का परिहार सिद्ध होता है,...** अनात्मा कौन? पुण्य। पाप तो ठीक परन्तु पुण्य है, वह अनात्मा है, अजीव है। आहाहा! अजीव का परिहार होता है। आहाहा! जीव भगवान आत्मा पूर्णानन्द प्रभु के अवलम्बन से निज पद की प्राप्ति होती है, भ्रान्ति का नाश होता है, आत्मलाभ होता है, अनात्मा का परिहार सिद्ध होता है। आहाहा! बहुत सरस! वे कहते हैं कि यह अनात्मा राग है, व्यवहार साधन है, निश्चय साध्य है। यहाँ तो कहते हैं कि आत्मा के स्वभाव का लाभ होता है तो अनात्मा का परिहार होता है। अरेरे! जो व्यवहार अनात्मा है, उससे आत्मा का लाभ होगा! यहाँ कहते हैं कि, आत्मा का जो लाभ अन्तर से होता है, तब अनात्मा का परिहार होता है। आहाहा! अनात्मा का त्याग होता है। आहाहा! लोकरंजन करने की बात। आहाहा! दुनिया इसमें लोकरंजन हो नहीं। पकड़ में नहीं आवे, मुश्किल-मुश्किल से वहाँ... तो भी अब लोग आते हैं। मुम्बई में पन्द्रह-पन्द्रह हजार लोग, दस-दस हजार लोग सुनने आते हैं। क्या कहते हैं, सुनो तो सही। तुम्हारे इन्दौर में पन्द्रह-पन्द्रह हजार लोग, सागर में अधिक। इन्दौर की अपेक्षा सागर (में अधिक)। भगवानदास है न? पन्द्रह-पन्द्रह हजार लोग। भोपाल में तो चालीस हजार! वह पंच कल्याणक हुआ था, नहीं? अन्तिम कल्याणक। चालीस हजार! सुनते हैं। अन्दर खलबल तो होता था लोगों को, परन्तु कठिन पड़े। एक ओर लाखों के, दस-दस लाख, पाँच लाख के मन्दिर बनावे और उसे कहना कि तुमने यह बनाया नहीं, मात्र तुम्हारा भाव शुभ होवे तो वह पुण्य है, वह पुण्य अनात्मा है।

मुमुक्षु : पुण्य कहना, अनात्मा तो नहीं कहना।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु करता कौन है? वह तो होना हो, तब होता है। उसमें भाव शुभ किये, इसलिए होता है? मन्दिर तो मन्दिर के परमाणु के पर्याय का काल उस प्रकार से रचने का होता है, तब वह रचता है।

मुमुक्षु : यह पाटिया-बाटिया करे...

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन करे पाटिया ? वह परमाणु-परमाणु उस समय वह पर्याय होने के परिणाम, उस परिणामी के परिणाम का कर्ता वह परिणामी पदार्थ है। उस पर्याय का परिणाम है, वह परिणाम का कर्ता परिणामी है। कारीगर और अमुक वह कोई उसका कर्ता नहीं है। अरे..! ऐसी बातें। यह तुम्हारी टाईल्स में डालते हैं न ? छाँटते हैं। देखा था, जामनगर। वढवाणवाले हैं न ? टाईल्सवाले, वहाँ दूध पिया था, वहाँ सब टाईल्स ऐसी थी। यह छँटे और यह छँटे और यह छँटे। जामनगर के गाँव के बाहर। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, अनात्मा का परिहार होता है। आहाहा! **(ऐसा होने से) कर्म बलवान नहीं होते,...** वे कर्म बलवान होते थे, अपनी पर्याय के जोर में, विकार में कर्म का निमित्त बलवान है, ऐसा कहने में आता है। आहाहा! यह स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा में भी आता है। 'कछवी जीवो बलियो, कछवी कम्म बलियो।' नाम डाले, देखो! कर्म का बल। अरे! परन्तु विकारी परिणाम का बलवान (पना), वह कर्म के निमित्त में बलवान कहने में आया। जहाँ विकारी परिणाम जो बलवान है, इस कारण से अन्दर अविकारी परिणाम प्रगट नहीं होते। आहाहा! परद्रव्य के कारण अपनी पर्याय में कोई घट-बढ़ हो, यह बिल्कुल झूठ बात है। माने, न माने जगत स्वतन्त्र है।

यहाँ तो यह कहा, **कर्म बलवान नहीं होते,...** यह भावकर्म को जोर था, अनात्मा का (जोर था), इसके पश्चात् आत्मा का लाभ हुआ, अनात्मा बलवान हुआ नहीं तो वह कर्म बलवान नहीं, ऐसा कहने में आया। **राग-द्वेष-मोह उत्पन्न नहीं होते,...** इस कारण से, अवलम्बन से निर्मल पर्याय उत्पन्न होती है, इस कारण से **राग-द्वेष-मोह उत्पन्न नहीं होते,...** आहाहा! थोड़ी विशेष बात है.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २८४, गाथा-२०४, श्लोक-१४१-१४२, मंगलवार, श्रावण कृष्ण ७, दिनाङ्क १४-०८-१९७९

गाथा २०४ का भावार्थ, टीका के अन्तिम थोड़े शब्द हैं। यहाँ से फिर से। **ऐसे आत्मस्वभावभूत एक ज्ञान का ही-अवलम्बन करना चाहिए।** उस ओर दो लाईन है। क्या कहते हैं? कि आत्मा जो त्रिकाली शुद्ध चैतन्यस्वभाव, उसका अवलम्बन करना चाहिए। जिसे धर्म करना हो तो यह परमात्मा भगवानस्वरूप आत्मा, भगवान कहेंगे, उसका अवलम्बन (करना) चाहिए। वहाँ दृष्टि और ज्ञान की पर्याय को लगाना। आलम्बन एक ज्ञान का, ज्ञान शब्द से आत्मा, आत्मा का ही अवलम्बन करना चाहिए। यह तो ज्ञान की पर्याय की बात चलती है न? इसलिए ज्ञान लेते हैं।

उसके आलम्बन से ही... उसके आलम्बन से ही। (निज) **पद की प्राप्ति होती है,...** दया, दान, व्रतादि और व्यवहार क्रियाकाण्ड से निर्जरा नहीं होती, बन्ध होता है। इस अवलम्बन से ही (निज) पद की प्राप्ति होती है। आहाहा! **भ्रान्ति का नाश होता है,...** स्वरूप आनन्दमूर्ति प्रभु के अवलम्बन से निज पद की, निज स्वरूप की—पद की प्राप्ति होती है, भ्रान्ति का नाश होता है, मिथ्यात्व का नाश होता है। **आत्मा का लाभ होता है,...** स्वरूप जो शुद्ध भगवान आत्मा, उसके अवलम्बन से आत्मा का लाभ होता है। शुद्धि की, आनन्द की प्राप्ति पर्याय में होती है। आहाहा! ऐसी बात। और **अनात्मा का परिहार सिद्ध होता है,...** अनात्मा अर्थात् पुण्यभाव या व्यवहाररत्नत्रय का शुभभाव, उसके अवलम्बन से अनात्मा का परिहार सिद्ध होता है, अभाव सिद्ध होता है।

(ऐसा होने से) कर्म बलवान नहीं होते,... कर्म अर्थात जो विकारी परिणाम का जोर था, इस स्वभाव के अवलम्बन से उसका बल नहीं चलता। **राग-द्वेष-मोह उत्पन्न नहीं होते,...** इस कारण से... सूक्ष्म निर्जरा का अधिकार है न? **(राग-द्वेष-मोह के बिना) पुनः कर्मास्रव नहीं होता,...** नये कर्म नहीं आते और **पुनः कर्मबन्ध नहीं होता,...** आस्रव नहीं होता तो बन्ध नहीं होता। **पूर्वबद्ध कर्म मुक्त होकर...** पूर्व में जो कर्म बँधा हुआ था वह **निर्जरा को प्राप्त हो जाता है, समस्त कर्मों का अभाव होने से...** पहली निर्जरा। शुद्ध चैतन्य के अवलम्बन से निज पद की प्राप्ति, भ्रान्ति का नाश,

आत्मा के स्वभाव का लाभ, अनात्मा का परिहार.... आहाहा! और राग का जोर नहीं, राग-द्वेष उत्पन्न नहीं होते, फिर से कर्म का आस्रव नहीं होता। कर्म-आस्रव नहीं होता तो बन्ध नहीं होता, बन्ध नहीं होता तो पूर्व कर्म की निर्जरा होती है। आहाहा! यह सब बात एक आत्मा के अवलम्बन की है। बाकी दया, दान और व्रत, भक्ति अनन्त बार किये हैं। वह अब आगे आयेगा। वह कोई धर्म नहीं, वह कोई धर्म का कारण भी नहीं। आहाहा! ऐसा अधिकार है।

निर्जरा और **समस्त कर्मों का अभाव होने से साक्षात् मोक्ष होता है। (ऐसे ज्ञान के आलम्बन का ऐसा माहात्म्य है।)** ज्ञान शब्द से भगवान आत्मा, पूर्ण स्वभाव, उसके अवलम्बन से इतने प्रकार के लाभ होते हैं। यह सब अवलम्बन के कारण से।

भावार्थ : कर्म के क्षयोपशम के अनुसार ज्ञान में जो भेद हुए हैं... मति, श्रुत आदि **वे कहीं ज्ञान-सामान्य को अज्ञानरूप नहीं करते,...** आहा! आत्मा का ज्ञानस्वभाव त्रिकाल, उसके अवलम्बन से पर्याय में मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधि उत्पन्न होते हैं, वह भेद भले उत्पन्न हो परन्तु ज्ञान को अज्ञान नहीं करते। आहाहा! समझ में आया? **जो भेद हुए हैं, वे कहीं ज्ञान-सामान्य को अज्ञानरूप नहीं करते,...** सामान्य ज्ञान जो स्वभाव है अथवा उसमें जो एकाग्रता का ज्ञान है, उसे अज्ञान नहीं करते। मति, श्रुत भेद उत्पन्न होते हैं, वह अपनी पर्याय है। समझ में आया? आहाहा! ज्ञान की पर्यायरूप भेद उत्पन्न होते हैं, वे भेद उत्पन्न होते हैं, वह अज्ञान नहीं करते। वे ज्ञान को अभिनन्दते हैं, स्वभाव में एकाग्रता की पुष्टि करते हैं। ऐसी बात है।

प्रत्युत ज्ञान को प्रगट करते हैं;... ज्ञान के भेद मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवल इत्यादि उत्पन्न होते हैं, वे आत्मा के अन्तर के ज्ञान को पर्याय में अज्ञान नहीं करते। **प्रत्युत ज्ञान को प्रगट करते हैं;..** वह पर्याय उत्पन्न होती है, वह तो ज्ञानस्वरूप जो सामान्य है, उसमें से पर्याय प्रगट होती है, पर्याय होती है, वह अपनी निर्मल पर्याय है। आहाहा! **इसलिए भेदों को गौण करके,...** मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय उत्पन्न होते हैं परन्तु उन्हें गौण करके **एक ज्ञानसामान्य का आलम्बन लेकर...** त्रिकाली आननद प्रभु, ज्ञानस्वभाव, सामान्य अर्थात् एकरूप रहनेवाला सदृश्य ध्रुव, उसके अवलम्बन से **आत्मा को ध्यावना;...** उसके अवलम्बन से आत्मा का ध्यान करना। राग से नहीं। ऐसी बात है। **इसी से सर्वसिद्धि होती है।** अब कलश कहते हैं।

कलश - १४१

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं:-

(शार्दूलविक्रीडित)

अच्छाच्छाः स्वयमुच्छलन्ति यदिमाः सम्वेदनव्यक्तयो,
निष्पीताखिल-भावमण्डलरसप्राग्भारमत्ता इव।
यस्याभिन्नरसः स एष भगवानेकोऽप्यनेकीभवन्,
वल्गत्युत्कलिकाभिरद्भुतनिधिश्चैतन्यरत्नाकरः।।१४१।।

श्लोकार्थ : [निष्पीत-अखिल-भाव-मण्डल-रस-प्राग्भार-मत्ताः इव] समस्त पदार्थों के समूहरूपी रस को पी लेने की अतिशयता से मानों मत्त हो गयी हो ऐसी [यस्य इमाः अच्छ-अच्छाः संवेदनव्यक्तयः] जिनकी यह निर्मल से भी निर्मल संवेदन-व्यक्ति (-ज्ञानपर्याय, अनुभव में आनेवाले ज्ञान के भेद) [यद् स्वयम् उच्छलन्ति] अपने आप उछलती है, [सः एषः भगवान् अद्भुतनिधिः चैतन्यरत्नाकरः] वह यह भगवान अद्भुत निधिवाला चैतन्यरत्नाकर, [अभिन्नरसः] ज्ञानपर्यायरूपी तरंगों के साथ जिसका रस अभिन्न है ऐसा, [एकः अपि अनेकीभवन्] एक होने पर भी अनेक होता हुआ, [उत्कलिकाभिः] ज्ञानपर्यायरूपी तरंगों के द्वारा [वल्गति] दौलायमान होता है-उछलता है।

भावार्थ : जैसे अनेक रत्नोंवाला समुद्र एक जल से ही भरा हुआ है और उसमें छोटी बड़ी अनेक तरंगें उठती रहती हैं जो कि एक जलरूप ही हैं, इसी प्रकार अनेक गुणों का भण्डार यह ज्ञानसमुद्र आत्मा एक ज्ञानजल से ही भरा हुआ है और कर्मों के निमित्त से ज्ञान के अनेक भेद-(व्यक्तियाँ) अपने आप प्रगट होते हैं, उन्हें एक ज्ञानरूप ही जानना चाहिए, खण्ड-खण्डरूप से अनुभव नहीं करना चाहिए।।१४१।।

श्लोक - १४१ पर प्रवचन

अच्छाच्छाः स्वयमुच्छलन्ति यदिमाः सम्वेदनव्यक्तयो,
निष्पीताखिल-भावमण्डलरसप्राग्भारमत्ता इव।

यस्याभिन्नरसः स एष भगवानेकोऽप्यनेकीभवन्,
वल्गत्युत्कलिकाभिरद्भुतनिधिश्चैतन्यरत्नाकरः ।।१४१।।

वह भावार्थ था। [**निष्पीत-अखिल-भाव-मण्डल-रस-प्राग्भार-मत्ताः इव**] आहाहा! **समस्त पदार्थों के समूहरूपी रस को पी लेने की अतिशयता से मानों मत्त हो गयी हो ऐसी...** आहाहा! क्या कहते हैं?—कि अपने त्रिकाली ज्ञानस्वभाव का अवलम्बन लेने से जो निर्मल ज्ञान की पर्याय प्रगट होती है, वह स्व-पर को प्रकाशित करती है। पर्याय जो निर्मल उत्पन्न होती है, वह स्व-पर को प्रकाशित करती है। वह आत्मा को नुकसान नहीं करती। भेद है, वह नुकसान करता है, ऐसा नहीं है। भेद का आश्रय करने से विकल्प उत्पन्न होते हैं परन्तु भेद है, वह नुकसान नहीं है। आहाहा! क्या कहते हैं?

समस्त पदार्थों के समूहरूपी रस को पी लेने की अतिशयता से मानों मत्त हो गयी हो ऐसी... परिणति। ज्ञान की मति, श्रुत, अवधि आदि पर्याय। वास्तव में तो मति-श्रुत का है। वह मति, श्रुत की पर्याय जो द्रव्य के अवलम्बन से उत्पन्न हुई, (वह) मानो समस्त पदार्थों को पी गयी। आहाहा! वह ज्ञान की पर्याय निर्मल प्रगट हुई, वह अपने को और पर को, पूरे लोक को पी गयी। उस ज्ञान की पर्याय में पूरे लोकालोक का ज्ञान आ गया। आहाहा!

अपना चैतन्यस्वरूप जो शुद्ध चैतन्य के अवलम्बन से, जो मति-श्रुत की पर्याय उत्पन्न हुई, वह स्व को जानती है। स्वद्रव्य, गुण और पर्याय को जानती है परन्तु वह पर्याय अपने से भिन्न विश्व है, उसे भी अपने में रहकर जानती है। ऐसी ज्ञान पर्याय मस्त हो गयी है, कहते हैं। आहाहा! स्व-पर को जाननेवाली पर्याय मस्त हो गयी। स्व को और पर को जानने से। आहाहा! भले पर्याय है। त्रिकाली की तो क्या बात करना? परन्तु त्रिकाली के अवलम्बन से जो मति-श्रुतज्ञान हुआ, वह सर्व पदार्थ को पी जाने से अतिशयता से मानो मत्त हो गयी। आहाहा! वह मति-श्रुतज्ञान ही मानो सारे द्रव्य-गुण को, अपनी समस्त पर्यायों को और लोकालोक को एक समय में मति-श्रुत ज्ञान इस प्रकार जानने की ताकत रखता है। मस्त हो गयी, कहते हैं। आहाहा! है?

[**यस्य इमाः अच्छ-अच्छाः संवेदनव्यक्तयः**] **जिनकी यह निर्मल से भी**

निर्मल संवेदन-व्यक्ति (-ज्ञानपर्याय, अनुभव में आनेवाले ज्ञान के भेद)... भले भेद हो। आहाहा! परन्तु अभेद के अवलम्बन से जो निर्मल उत्पन्न होती है, निर्मल से निर्मल... निर्मल... निर्मल... निर्मल... ऐसी पर्याय उत्पन्न होती है। राग और मलिनता की पर्याय उत्पन्न नहीं होती। ऐसा मार्ग है। आहाहा! संवेदन व्यक्ति अर्थात् अन्तर की अनुभव की दशाएँ, ज्ञान के भेद **अपने आप उछलती है,...** कोई पर का अवलम्बन लेकर उत्पन्न होता है, ऐसा नहीं। अपना भगवान ज्ञानस्वभाव, उसके अवलम्बन से स्वयमेव पर्याय मति, श्रुत की उत्पन्न होती है। उस अतिशयता के भार से निर्मल से निर्मल। एक के बाद एक निर्मल से निर्मल उत्पन्न होती है। बहुत सूक्ष्म विषय, भाई! आहाहा!

अपने आप उछलती है,... पर्याय अपने आप उछलती है। एक तो अवलम्बन तो लिया परन्तु वह पर्याय स्वयं के कारण से अपने आप उछलती है। मति, श्रुत आदि पर्याय है भेद, परन्तु अपने आप उछलती है। आहाहा! निर्मल से निर्मल... निर्मल... निर्मल... निर्मल... धारा। जैसे सूर्य की किरणें प्रकाशमय होती है, वैसे भगवान आत्मा की ज्ञानपर्याय प्रकाश, निर्मल पर्याय प्रकाशमय होती है। अरे! ऐसी बातें अब। **अपने आप उछलती है,..**

'सः एषः भगवान्' आहाहा! भग अर्थात् लक्ष्मी, वान अर्थात् स्वरूप की लक्ष्मी। आहाहा! अपने स्वरूप की लक्ष्मी जो अन्दर में भरी है, वह भगवान **'अद्भुतनिधिः चैतन्यरत्नाकरः' वह यह भगवान...** वह यह भगवान। **अद्भुत निधिवाला...** अद्भुत निधि से भरा हुआ चैतन्य समुद्र है। **चैतन्यरत्नाकर,...** चैतन्यसमुद्र है। आहाहा! शरीर प्रमाण अवगाहन होने पर भी अन्तर चीज़ जो है, वह तो अनन्त-अनन्त गुण के रस से, निधि भण्डार भरा है। आहा! है ?

वह यह भगवान अद्भुत निधि... जगत की निधि जो रत्न और धूल की निकले, अरबों रुपये निकले, ... निकले, (वह निधि नहीं)। आहाहा! श्वेताम्बर में एक आता है न? क्या नाम? 'वस्तुपाल-तेजपाल।' बहुत करोड़पति, अरबोंपति। फिर यात्रा करने निकले, तब पैसे बहुत, उन्हें दबाने गये, मकान में जगह खाली थी (वहाँ) दबाने गये। दबाने गये, वहाँ करोड़ों, अरबों निकले, अन्दर से निकले। इसलिए उनकी स्त्री कहती है, अन्नदाता! तुम दबाते किसलिए हो? यहाँ तुम खोदते हो, वहाँ अरबों रुपये निकलते हैं।

खर्च करो सब।' ऐसा श्वेताम्बर में आता है। ऐसा होता है, उसमें क्या है ? ऐसा शुभभाव हो, परन्तु उससे पन्थ तो वह मिथ्यादृष्टि का है। आहाहा! कठिन बातें हैं। अरबोंपति! पैसा बहुत था। अपने नलकोलिया में जमीन खाली पड़ी हो, नलकोलिया को क्या कहते हैं ? खाली। हमारे मकान के पास में था। हमारे मेरे बहुत पैसेवाले। हमारे मामा ने मकान लिया था, उसमें एक जगह खाली थी, वह नलकोलिया कहलाये। वहाँ पेशाब करे, पानी डाले। उसमें पैसा दबाने गये, वहाँ हीरा की खान निकली। हीरा का कलश निकला, कलश। स्त्री कहती है कि तुम्हारे पग-पग पर निधान और यह दबाते किसलिए हो ? खर्च तो करो।

यहाँ कहते हैं कि भगवान तो अन्दर निधि। भगवान अद्भुत निधि यह चैतन्य रत्नमणि, चैतन्यरूपी मणि का समुद्र है। चैतन्यरूपी मणि का समुद्र भगवान है। आहाहा! कहो, यह तुम्हारे हीरा-फीरा किस गिनती में होंगे ? करोड़ के, अरब के, अमुक-अमुक। यहाँ तो अद्भुत... आहाहा! चैतन्यरत्नाकर—चैतन्यरूपी मणि से भरपूर समुद्र है। ज्ञानचेतना, दर्शनचेतना, आनन्द इत्यादि अनन्त गुणरूपी चैतन्यमणि रत्न की खान आत्मा है। आहाहा! उसमें से कोई राग-द्वेष निकले, ऐसी खान नहीं है। यह तो पर्याय का आश्रय करता है तो राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं, अन्तर वस्तु में वे नहीं हैं। आहाहा!

[**अभिन्नरसः**] **ज्ञानपर्यायरूपी तरंगों के साथ जिसका रस अभिन्न है ऐसा,...** क्या कहते हैं ? कि अपने निधि चैतन्य रत्नाकर में एकाग्र हुआ, अवलम्बन लिया तो पर्याय में निर्मल से निर्मल पर्याय हुई, वह आत्मा ज्ञान से अभिन्न है, वह ज्ञान से भिन्न है नहीं। आहाहा! भिन्न-भिन्न पर्याय उत्पन्न हुई, तथापि ज्ञान से अभिन्न है, ऐसा कहते हैं। ज्ञान शब्द से आत्मा। आत्मा चैतन्यरत्नाकर का अवलम्बन लेकर जो अनेक निर्मल पर्याय उत्पन्न हुई परन्तु वह पर्याय भले हो, परन्तु वह पर्याय आत्मा से अभिन्न है। राग जैसे भिन्न है, वैसे (यह) पर्याय भिन्न नहीं है। आहाहा! समझ में आया ?

यह चैतन्यरत्नाकर, चैतन्यरूपी मणि का समुद्र, उसका अवलम्बन से जो पर्याय में निर्मल से निर्मल पर्याय उत्पन्न हुई, वह पर्याय आत्मा के साथ अभिन्न है। जैसे राग भिन्न है, वैसे यह पर्याय (भिन्न नहीं है)। पर्याय है, वह एक समय की पर्याय है, तो वह भिन्न है - ऐसा नहीं है। आहाहा! देखो! यहाँ पर्याय को सिद्ध करना है। पर्याय, उसके सामान्यस्वभाव की पर्याय है। सामान्यस्वभाव से वह पर्याय अभिन्न है। आहाहा! अभिन्न का अर्थ—उस

ओर झुकी हुई ज्ञान की पर्याय है। वह कोई राग की है या विकार की है, ऐसा नहीं है। बहुत कठिन बात। उसे यह निर्जरा होती है। आहाहा!

भगवान चैतन्यस्वभाव का समुद्र भरा है। उसके अवलम्बन से पर्याय जो अवस्था में निर्मल-निर्मल हुई, भले वह पर्याय है परन्तु वह आत्मा की पर्याय है, वह आत्मा का स्वरूप है, वह पर्याय आत्मा से अभिन्न है। आहाहा! पर्याय है तो तुच्छ है, निकाल डालने की चीज़ है, ऐसा नहीं—ऐसा कहते हैं। वह पर्याय आत्मा की है। आत्मा से उत्पन्न हुई है और वह आत्मा की है। आहाहा! राग आत्मा से उत्पन्न नहीं होता, राग परलक्ष्य से पर्याय में उत्पन्न (होता है)। क्योंकि ऐसा कोई गुण नहीं है। चैतन्यरत्नाकर समुद्र है, उसमें कोई एक गुण ऐसा नहीं है कि विकार करे। अनन्त गुण तो पवित्रता से भरपूर हैं। गुण का स्वभाव विकार करना, ऐसा उसमें है नहीं। परन्तु पर्याय पर लक्ष्य करके, द्रव्यस्वभाव को छोड़ देता है, उसे पर्याय में अध्धर से राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं। कोई गुण नहीं, द्रव्य नहीं। आहाहा! तो वह विकार आत्मा से भिन्न है, अपनी वास्तविक पर्याय नहीं है। इस अपेक्षा से (बात है, बाकी) है तो शुभाशुभ परिणाम, पर्याय उसकी। परन्तु अभी तो निर्मल बतलानी है न? वरना तो शुभाशुभभाव है तो आत्मस्वरूप। यह तो पहले आ गया, प्रवचनसार में। है तो आत्मा का स्वरूप ही। पर्याय है न? परन्तु वह स्वरूप विकारी है। अध्धर से हुई विकारी पर्याय है, उसे द्रव्य-गुण का आश्रय नहीं है। आहाहा! और जो यह निर्मल पर्याय उत्पन्न होती है, उसे द्रव्य-गुण का आश्रय है। आहाहा! ऐसा उपदेश, लो। मार्ग बहुत सूक्ष्म, बापू। आहा!

वह **ज्ञानपर्यायरूपी तरंगों...** तरंगें। जैसे समुद्र में तरंग उठती है, वह समुद्र से कोई भिन्न नहीं है। समुद्र में जो तरंग उठती है, वह समुद्र से भिन्न-पृथक् नहीं है; उसी प्रकार भगवान ज्ञानसमुद्र भगवान, उसमें से तरंग अर्थात् निर्मल पर्याय उठती है, वह भगवान आत्मा से भिन्न नहीं है। आहाहा! अभी तो ज्ञानप्रधान कथन में पर्याय आत्मा से अभिन्न है। पर से भिन्न बताकर पर्याय अपने से अभिन्न है, इतना बतलाना है और जब पर्याय तथा द्रव्य की व्याख्या चलती हो, तब पर्याय द्रव्य से भिन्न है (ऐसा कहते हैं)। यह आ गया है, ३२० गाथा। ध्यान की पर्याय भी द्रव्य से कथंचित् भिन्न है। यदि भिन्न न हो, यदि पारिणामिक -स्वभाव के साथ अभिन्न हो तो ध्यान की पर्याय का नाश होगा तो जब मोक्ष होगा, तब

पारिणामिक भाव का भी नाश हो जाएगा। अरे! ऐसी बातें। आहाहा! भगवान के घर की अलग बातें, बापू! यह निर्जरा और धर्म, कोई अलौकिक बातें है, भाई! आहाहा!

चैतन्य के मणि से भरपूर स्वयंभूरमण समुद्र है। अन्तिम स्वयंभूरमण (समुद्र है, उसमें) नीचे रेत नहीं, नीचे रत्न है। असंख्य योजन का लम्बा है, स्वयंभू। स्वयंभू! असंख्य योजन का चौड़ा। चारों ओर लिपटा हुआ। असंख्य द्वीप, समुद्र को पूरा लिपटाकर पड़े हैं। अन्तिम। उसमें नीचे रेत नहीं है, नीचे हीरा-रत्न पड़े हैं। पूरा रत्न से भरा है। उसी प्रकार यह भगवान स्वयंभू आत्मा, अन्दर तल में अनन्त रत्न भरे हैं। आहाहा! जैसे उस स्वयंभूरमण के तल में रत्न भरे हैं, वैसे भगवान स्वयंभू... प्रवचनसार की सोलहवीं गाथा में कहा, स्वयंभू—अपने से उत्पन्न हुआ है, पर्याय में, हों! है तो अनादि से, परन्तु निर्मल पर्याय अपने से उत्पन्न होती है, ऐसा स्वयंभू, उसमें अनन्त-अनन्त चैतन्य मणि के रत्न से भरपूर है। उसके अवलम्बन से जो मति, श्रुत आदि पर्याय उत्पन्न होती है, वह निर्मल है, वह आत्मा से अभिन्न है। आहाहा! है ?

ज्ञानपर्यायरूपी तरंगों... जैसे उस समुद्र में तरंग (उठती है), वैसे यह तरंगें। **(के) साथ जिसका रस अभिन्न है ऐसा, [एकः अपि अनेकीभवन्]**.... भगवान ज्ञानस्वभाव से एकरूप होने पर भी पर्याय में अनेकरूप भगवान आत्मा होता है। आहाहा! वस्तुरूप से एक होने पर भी पर्यायरूप से अनेक रूप भगवान होता है। यह आत्मा अनेकरूप होता है, हों! आहाहा! अब इसमें कहाँ पुस्तक में कुछ निकले नहीं, सम्प्रदाय में मिले नहीं, पुस्तक में निकले नहीं, आहाहा! क्या है यह बात ? बापू! यह तो भगवान चैतन्यसमुद्र प्रभु के अवलम्बन से निर्मल से निर्मल पर्याय उत्पन्न होती है, वह पर्याय स्व-पर को पी गयी। वह पर्याय स्व-पर को पी गयी है। अर्थात् स्व-पर को जानती है। वह जाननेवाली पर्याय आत्मा से भिन्न नहीं है। आहाहा! वह एक होने पर भी **[एकः अपि अनेकीभवन्]** एकरूप आत्मा सामान्य होने पर भी **अनेक होता हुआ, ज्ञानपर्यायरूपी तरंगों के द्वारा...** आहाहा! **दौलायमान होता है...** जैसे समुद्र तरंगों से दौलायमान होता है, वैसे भगवान आत्मा पूर्णानन्द का नाथ चैतन्य रत्नाकर के अवलम्बन से पर्याय में तरंगें दौलायमान होती हैं। आहाहा! जैसे समुद्र का पानी ऐसे उछलकर दौलायमान होता है, वैसे अपनी पर्याय में ज्ञानतरंगों से दौलायमान होता है। आहाहा! अब ऐसी बातें। आहाहा!

[वल्गति] **ज्ञानपर्यायरूपी तरंगों के द्वारा... 'वल्गति' दौलायमान होता है–उछलता है।** आहाहा! जैसे समुद्र में पानी उछलता है... आहाहा! तरंगें उछलती हैं, वैसे जिसने स्वरूप पूर्णानन्द के नाथ की दृष्टि की, दृष्टि में स्वीकार किया, ज्ञान की पर्याय में पूरे ज्ञेय को जान लिया, ऐसी पर्याय में, ऐसी निर्मल तरंग उठती है कि आत्मा से अभिन्न होने पर भी ध्रुव है, वह दौलायमान नहीं होता परन्तु पर्याय जो धर्म की, सम्यग्दर्शन, ज्ञान की उत्पन्न होती है, वह दौलायमान (होकर) उछलती है, उछलती है। आहाहा! गजब, भाई! जैसे समुद्र में तरंग उछले और समुद्र ऐसे दौलायमान (हो), आहा! वैसे भगवान आत्मा अनन्त चैतन्यरत्नाकर का समुद्र, उसके अन्दर में आलम्बन से अवस्था में जो पर्यायें प्रगट होती है, उससे—पर्याय से भगवान उछलता है। जैसे समुद्र के किनारे ज्वार आता है, ज्वार। उसमें पूर्णिमा के दिन पूर्ण ज्वार होता है। चन्द्र की पूर्णिमा को और उसे सम्बन्ध है। चन्द्र की पूर्णिमा होवे, तब पूर्ण ज्वार (आता है)। उसी प्रकार भगवान आत्मा में जब पूर्ण एकाग्रता होती है... आहाहा! तो केवलज्ञान आदि पर्याय अन्दर उछलती है। आहाहा! समझ में आया? यह अन्तर में एकाग्रता का फल है। यह कोई कर्म का अभाव हुआ, कोई क्रियाकाण्ड बहुत किये, इसलिए ऐसी पर्याय उत्पन्न हो गयी, ऐसा है नहीं।

भावार्थ : जैसे अनेक रत्नोंवाला समुद्र एक जल से ही भरा हुआ है... एक जलरूप सामान्य। **और उसमें छोटी बड़ी अनेक तरंगें उठती रहती हैं, जो कि एक जलरूप ही हैं,...** वे तरंगें जलरूप ही हैं। **इसी प्रकार अनेक गुणों का भण्डार...** भगवान **यह ज्ञानसमुद्र आत्मा एक ज्ञानजल से ही भरा हुआ है...** आहाहा! यह पर्याय की बात नहीं है। ज्ञानजल से भरपूर प्रभु, ध्रुव। आहा! **और कर्मों के निमित्त से ज्ञान के अनेक भेद–(व्यक्तियाँ)...** अन्दर की पर्याय की निर्मलता एक के बाद एक व्यक्ति उत्पन्न होती है, वह कर्म का निमित्त कहने में आता है। है तो अपने उपादान से, परन्तु कर्म का इतना निमित्त है। निर्मल पर्याय अल्प है, पश्चात् विशेष होती है, पश्चात् विशेष होती है तो उसमें कर्म का उतना अभाव होता है। अपने कारण से वृद्धि होती है तो कर्म का निमित्तपना उसके कारण से घट जाता है। आहाहा!

और कर्मों के निमित्त से ज्ञान के अनेक भेद–(व्यक्तियाँ) अपने आप प्रगट होते हैं, उन्हें एक ज्ञानरूप ही जानना चाहिए,... आहाहा! देखो! यह निर्जरा अधिकार।

निर्जरा के तीन प्रकार होते हैं—एक तो कर्म का खिरना, वह निर्जरा; दूसरा—अशुद्धि का गलना, वह निर्जरा; तीसरा—शुद्धता की वृद्धि होना, वह निर्जरा। एक पर की निर्जरा, एक अपनी अशुद्ध पर्याय का नाश होना और अपने शुद्ध पर्याय की पुष्टि-वृद्धि होना। तीनों को निर्जरा कहने में आता है। पर की निर्जरा, वह असद्भूतव्यवहारनय; अशुद्धता की निर्जरा—अशुद्धता का गलना, वह अशुद्धनिश्चय का विषय और शुद्धि की वृद्धि होती है... आहाहा! वास्तव में वह निर्जरा है। क्योंकि संवर में जो शुद्धि उत्पन्न होती है, उससे निर्जरा में विशेष शुद्धि है और मोक्ष में पूर्ण शुद्धि है। यह शुद्धि के प्रकार हैं। समझ में आया? आहाहा!

एक ज्ञानरूप ही जानना चाहिए,... यह जितनी पर्याय प्रगट होती है परन्तु वह ज्ञानरूप ही जानना। ज्ञानस्वभाव में से उत्पन्न हुई है और ज्ञानस्वभाव से अभिन्न है। आहाहा! वह एकस्वरूप भगवान अनेकरूप होता है। स्वयं के कारण से, हों! आहाहा! भगवान एकस्वभावी ज्ञानस्वरूपी ध्रुव एकस्वभावी, ऐसा होने पर भी पर्याय में अनेकरूप उछलता है। वह एक, अनेकरूप से होता है। एक तो एकरूप से रहता ही है, परन्तु एक एकरूप से रहता होने पर भी एक, अनेकरूप भी परिणमन करता है। आहाहा! समझ में आया? सब विषय अनजाना है। बाहर की प्रवृत्ति में लोगों को अन्दर भगवान विराजता है, (उसकी खबर नहीं है)। आहाहा! उसकी भेंट एक बार तो कर, प्रभु! आहाहा! उसका मिलन तो कर। आहा! कोई अच्छा व्यक्ति आवे तो (हाथ) मिलावे। तुम्हार महाजन में तो रिवाज है, महाजन-महाजन मिले तो हाथ मिलावे। खबर है न! उसी प्रकार एक बार भगवान के साथ मिलाप तो कर। आहाहा! यह चैतन्य भगवान रत्नाकर स्वभाव से भरपूर है, इसके साथ एक बार मिलाप तो कर। आहाहा! उसके मिलाप से तेरी पर्याय में निर्मलता अनेक उत्पन्न होगी। वह एक अनेकरूप होता है। आहाहा! एक अनेकरूप होता है, इसका अर्थ? एक तो एकरूप रहता ही है परन्तु एक पर्याय में अनेकरूप होता है, ऐसा कहा। एक अनेक में आता है और अनेक होता है, ऐसा है नहीं। क्या कहा? एक अनेकरूप होता है, (ऐसा कहा तो) एकरूप छोड़कर अनेकरूप होता है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

भगवान एकरूप तो कायम रहता है। आहाहा! एकरूप रहकर भी पर्याय में अनेकरूप होता है। आहाहा! इसका नाम निर्जरा कहते हैं। शुद्धि उत्पन्न हुई न! यह निर्जरा, अस्ति से। अशुद्धता का नाश नास्ति से (कहा जाता है) और कर्म का नाश तो असद्भूतव्यवहार (से

कहा जाता है)। उसकी पर्याय नाश होने के योग्य थी तो नाश हुई है। नाश का अर्थ? कर्मरूप पर्याय अकर्मरूप हुई, वह कर्म का नाश हुआ—ऐसा कहने में आता है। कहीं वस्तु का नाश होता है? उस कर्मरूप पर्याय का व्यय होकर अकर्मरूप हुई, वह कर्म का नाश हुआ—ऐसा कहने में आता है। आहाहा!

कलश - १४२

किञ्च -

(शार्दूलविक्रीडित)

क्लिश्यन्तां स्वयमेव दुष्करतरैर्मोक्षोन्मुखैः कर्मभिः,
क्लिश्यन्तां च परे महाव्रततपोभारेण भग्नाश्चिरम्।
साक्षान्मोक्ष इदं निरामयपदं संवेद्यमानं स्वयं
ज्ञानं ज्ञानगुणं विना कथमपि प्राप्तुं क्षमन्ते न हि।।१४२।।

अब इसी बात को विशेष कहते हैं:-

श्लोकार्थ : [दुष्करतरैः] कोई जीव तो दुष्करतर और [मोक्ष-उन्मुखैः] मोक्ष से पराङ्मुख [कर्मभिः] कर्मों के द्वारा [स्वयमेव] स्वयमेव (जिनाज्ञा के बिना) [क्लिश्यन्तां] क्लेश पाते हैं तो पाओ [च] और [परे] अन्य कोई जीव [महाव्रत-तपः-भारेण] (मोक्षोन्मुख अर्थात् कथंचित् जिनाज्ञा में कथित) महाव्रत और तप के भार से [चिरम्] बहुत समय तक [भग्नाः] भग्न होते हुए [क्लिश्यन्तां] क्लेश प्राप्त करें तो करो; (किन्तु) [साक्षात् मोक्षः] जो साक्षात् मोक्षस्वरूप है, [निरामयपदं] निरामय (भावरोगादि समस्त क्लेशों से रहित) पद है और [स्वयं संवेद्यमानं] स्वयं संवेद्यमान है [इदं ज्ञानं] ऐसे इस ज्ञान को [ज्ञानगुणं विना] ज्ञानगुण के बिना [कथम् अपि] किसी भी प्रकार से [प्राप्तुं न हि क्षमन्ते] वे प्राप्त नहीं कर सकते।

भावार्थ : ज्ञान है, वह साक्षात् मोक्ष है; वह ज्ञान से ही प्राप्त होता है, अन्य किसी क्रियाकांड से उसकी प्राप्ति नहीं होती।।१४२।।

श्लोक - १४२ पर प्रवचन

अब इसी बात को विशेष कहते हैं:-

क्लिश्यन्तां स्वयमेव दुष्करतरैर्मोक्षोन्मुखैः कर्मभिः,
क्लिश्यन्तां च परे महाव्रततपोभारेण भग्नाश्चिरम्।
साक्षान्मोक्ष इदं निरामयपदं संवेद्यमानं स्वयं
ज्ञानं ज्ञानगुणं विना कथमपि प्राप्तुं क्षमन्ते न हि।।१४२।।

[**दुष्करतरैः**] **कोई जीव तो दुष्करतर और मोक्ष से पराङ्मुख कर्मों के द्वारा...** (अर्थात्) क्रिया। अज्ञानी करता है न? व्रत और अग्नि धुनावे और अग्नि में ऐसे (डाले), मिथ्यादृष्टि। वह **कर्मों के द्वारा स्वयमेव (जिनाज्ञा के बिना)...** यहाँ तो व्यवहार की जिनाज्ञा भी नहीं है। मिथ्यादृष्टि जो अपने स्वच्छन्द से क्रियाकाण्ड करता है, वह तो जिनाज्ञा का व्यवहार भी नहीं है। समझ में आया? आहाहा! मिथ्यादृष्टि जिनाज्ञा बाहर जो अपने क्रियाकाण्ड में क्लेश, अपवास (करे), धुनी लगावे, अग्नि में जले, वह सब क्रिया जिनाज्ञा—बाहर की, व्यवहार जिनाज्ञा बाहर की है। उसमें क्लेश पाता है। है?

स्वयमेव (जिनाज्ञा के बिना)... जिनाज्ञा बिना अर्थात्? जैनदर्शन में सम्प्रदाय में नहीं और जिनाज्ञा जो व्यवहार की है, महाव्रतादि, वह नहीं। यह तो अज्ञानी अपने अज्ञान से क्रियाकाण्ड में जुड़ता है। आहाहा! बारह-बारह वर्ष तक खड़ा रहे, बैठे नहीं। सब खड़े-खड़े (करना)। हमारे पालेज में एक बाबा आया था। वहाँ बाहर (एक) धर्मशाला है। बारह वर्ष तक ऐसे का ऐसे खड़ा। ऐसा क्लेश करो तो करो। यह तो वीतराग की व्यवहार आज्ञा से भी बाहर है। आहाहा!

कोई जीव तो दुष्करतर... अज्ञानी। जैन के व्यवहार से बाहर। **मोक्ष से पराङ्मुख कर्मों...** विकारी परिणाम। क्लेश, शुभभाव, अशुभ आदि। वह करे तो करो। **(जिनाज्ञा के बिना) क्लेश पाते हैं तो पाओ...** वह तो क्लेश है। आहाहा! **और अन्य कोई जीव [महाव्रत-तपः-भारेण] (मोक्षोन्मुख अर्थात् कथंचित् जिनाज्ञा में कथित)...** व्यवहारनय से जिनाज्ञा में पंच महाव्रत, समिति, गुप्ति का अधिकार है परन्तु वह आत्मा के

भान बिना, ज्ञानस्वभाव के भान बिना उस महाव्रत से... आहाहा! और **तप के भार से बहुत समय तक...** लाखों-करोड़ों वर्ष तक **भग्न होते हुए...** मर जाए, कहते हैं। भग्न हो जाए। ऐसी क्रिया जैन की आज्ञा बाहर की, अर्थात् वह कथंचित् जिनाज्ञारूप व्यवहार है। जैन में रहे हुए। व्रत, तप और क्लेश करे तो करो। आहाहा!

मुमुक्षु : महीने-महीने के तप करे।

पूज्य गुरुदेवश्री : महीने, पहले छह-छह महीने के अपवास करते थे। अभी तो महीने के चलते हैं। पहले छह-छह महीने के (करते थे)। आहाहा! उसमें क्या है? कहते हैं। जहाँ आत्मा ज्ञानस्वरूप भगवान के आश्रय का अवलम्बन नहीं है, उसके बिना भगवान ने कही हुई व्यवहार आज्ञा, महाव्रतादि करे तो करो। महाव्रत और तप का भार, लिखा है? **(मोक्षोन्मुख अर्थात् कथंचित् जिनाज्ञा में कथित) महाव्रत और तप...** आहाहा! **'भारेण'** है न? **'महाव्रत-तपः-भारेण'** शब्द है। बोझा है, कहते हैं। आहाहा! यह शुभराग की क्रिया आत्मा का बोझा है। आहाहा! महाव्रत और तप, दोनों। महाव्रत यह आचरण व्यवहार और तप (अर्थात्) अपवासादि। महाव्रत और तप। व्यवहारचारित्र और व्यवहारतप। आहाहा!

भग्न होते हुए... यह मोक्ष की उन्मुख, आज्ञा बाहर। व्यवहार की आज्ञा कथंचित् है। परन्तु उस अकेली व्यवहार की आज्ञा में ही रहता है, वह तपोभार से भग्न होकर। आहाहा! मरकर चूरा होता है। ओहोहो! क्या कहते हैं? भग्न अर्थात् इतनी क्रिया करे, इतनी क्रिया करे, शरीर जीर्ण हो जाए। आहाहा! अभी तो कोई इतने वर्षीतप करे, आठ-आठ, दस अपवास करे, दस-बारह वर्ष की लड़की हो, वह अन्त में उपवास में मर जाए तो भी खेंचा करे, अन्त में देह छूट जाए। ऐसे बहुत होते हैं। आहाहा! कहते हैं, ऐसा क्लेश करो तो करो। भले जैन आज्ञा में आकर व्यवहार (पाले) परन्तु वह क्लेश है। आहाहा!

बहुत समय तक भग्न होते हुए क्लेश प्राप्त करें तो करो;... वह क्लेश है। आहाहा! यह वर्षीतप और आठ उपवास और पर्यूषण के दस दिन निर्जल उपवास करे... आहाहा! ऐसा करो तो करो। शरीर के कष्ट से भग्न अर्थात् मर जाए, ऐसी क्रिया हो तो भी... आहाहा! क्लेश है। **जो साक्षात् मोक्षस्वरूप है, निरामय (भावरोगादि समस्त क्लेशों**

से रहित) पद है... यह शुभ (भाव) है, वह तो रोग है। आहाहा! शुभराग की, महाव्रत की, तप की क्रिया, वह तो रोग है। आहाहा! राग है, रोग है। आहाहा!

साक्षात् मोक्षस्वरूप, तो निरामय। आमय अर्थात् रोगरहित। समस्त क्लेश से रहित। आहाहा! क्या कहते हैं? जो मोक्ष का कारण है, वह तो क्लेशरहित है। क्लेश अर्थात् शुभराग से रहित है। क्लेश (रहित) अर्थात् शुद्ध निर्मल परिणतिवाला है और आनन्द की पर्यायसहित है और राग की क्रिया तो दुःख के साथ दुःखरूप है, क्लेश है। आहाहा! आत्मा के ज्ञान बिना, अनुभव बिना वह क्रियाएँ करे तो करो, चूरा होकर मर जाओ, परन्तु उससे तुझे धर्म नहीं है। आहाहा!

निरामय—आमय अर्थात् भाव रोगादि समस्त क्लेशरहित पद है, भगवान, वह तो **स्वयं संवेद्यमान है...** अपने आनन्द का स्वयं वेदन करना, अतीन्द्रिय आनन्द का (वेदन करना), वह आनन्द मोक्ष की क्रिया है। आहाहा! ऐसी बातें, लो। बेचारे इतने-इतने अपवास करे, दस-दस, बारह वर्ष की लड़कियाँ, फोटो आवे कि बारह वर्ष की लड़की ने दस अपवास किये, किसी में आठ करे, फोटो आवे, (इसलिए) प्रसन्न-प्रसन्न हो जाए। आहाहा! यह क्लेश करो तो करो, मर जाओ, भग्न अर्थात् मरकर शरीर का चूरा हो जाए परन्तु उससे धर्म नहीं होता। आहाहा!

मुमुक्षु : कर्मकाण्ड को तो उड़ा दिया।

पूज्य गुरुदेवश्री : कहते हैं, मर जा न क्रियाकाण्ड करके। वह तो राग है, रोग है। आहाहा! यह यज्ञ करते हैं और यह सब क्रियाएँ तो जिनाज्ञा बाहर की, व्यवहारवाले की, वह तो मर जाए। करे न तपस्या, नग्न होकर बैठे और अग्नि, १०८ धूली लगावे। पाँच कण्डे यहाँ, पाँच कण्डे यहाँ, पाँच कण्डे यहाँ (ऐसे) १०८ (कण्डे रखे) और बीच में बैठे और अग्नि (सुलगावे)। ऐसे बाबा होते हैं। लोहे के सरिया, लोहा होता है न लोहा? उसके अणीदार सरिया हों, उनके ऊपर सोवे। यह अन्यमति के बाबा ऐसे होते हैं। लोहे के पच्चीस-पचास (सरिया) लम्बे हों, उनमें सोवे। अणी, हों! अणीदार, उनके ऊपर सोवे। शरीर में छिद्र पड़ जाए। उसमें क्या है? यह तो अन्यमत की बात की। यहाँ तो जैनमत में रहे हुए, कथंचित व्यवहार जिनाज्ञा में कहा है, परन्तु निश्चय के भान बिना वह व्यवहार करता है, मर जाओ, कहते हैं। आहाहा!

परन्तु यह पद है, वह तो **स्वयं संवेद्यमान है...** अपने आनन्द का वेदन होना, वह मोक्ष के कारणरूप क्रिया है। आनन्दस्वरूप भगवान की आनन्दमय पर्याय, आनन्द का वेदन है। स्वयं उपलभ्यमानं—वह आत्मा से प्राप्त होता है। आहाहा! अब ऐसी बातें। **और स्वयं संवेद्यमान है...** एक तो निरामय पद है, रागरहित पद है, और दूसरा स्वसंवेद्यमान है। उसके कारण स्व आनन्दस्वरूप भगवान, उसका स्व अर्थात् अपना वेदन, आनन्द का वेदन पर्याय में है। आहाहा!

ऐसे इस ज्ञान को ज्ञानगुण के बिना... ऐसा ज्ञानगुण अर्थात् आत्मा के स्वभाव बिना। आहाहा! **किसी भी प्रकार से...** ज्ञान को ज्ञानगुण बिना, ऐसे क्रियाकाण्ड से किसी भी प्रकार प्राप्त नहीं कर सकते। आहाहा! शुभभाव की अथाग क्रिया करो। ओहो! भगवान की पूजा में पूरे दिन बैठे और जोर-जोर से पुकारे, स्तुति किया करे। (यह) करो तो करो, कहते हैं सब क्लेश है। तब यह सब क्या करे? यह पन्द्रह लाख का मन्दिर करते हो न? यहाँ तो कहते हैं, वह तो शुभभाव है। वह शुभभाव में रहो, कहते हैं, परन्तु क्लेश है। आहाहा!

आत्मा के अनुभव की दृष्टिपूर्वक जो शुभराग आता है, वह भी ज्ञानी को तो बन्ध का कारण है। आता तो है। समझ में आया? ज्ञानी-धर्मी को अपने द्रव्य के अवलम्बन से आनन्द की शुद्ध धारा तो बहती है, निरन्तर आनन्द की धारा, वह तो मोक्ष का कारण है परन्तु उसके साथ कमजोरी से शुभभाव आता है, वह बन्ध का कारण है। समझ में आया? एक ओर ऐसा कहे कि ज्ञानी का भोग निर्जरा का हेतु है। एक ओर ऐसा कहे कि ज्ञानी को जो शुभभाव आता है, वह बन्ध का कारण है। क्या अपेक्षा है? ज्ञानी का भोग निर्जरा का हेतु होवे तो (उसे) छोड़कर चारित्र लेने की आवश्यकता नहीं है। शास्त्र में तो आया है कि ज्ञानी का भोग निर्जरा का हेतु है। वह तो किस अपेक्षा से? दृष्टि का जोर द्रव्य के ऊपर लगा है, उस दृष्टि के विषय में बन्ध का कारण है नहीं, तो जो राग आता है, वह भी छूट जाता है। ऐसी कथनशैली दृष्टि की प्रधानता से है। वह दृष्टि की निर्मलता का जोर कितना है, यह बतलाना है परन्तु भोग है, वह निर्जरा का कारण होवे तो भोग तो राग है, अशुभराग है।

यहाँ तो ज्ञानी को अपने ज्ञान के अवलम्बन से पवित्रता प्रगट हुई, उस धारा में

पवित्रता अल्प है तो साथ में भक्ति आदि का राग आता है परन्तु वह राग हेयबुद्धि से आता है। आहाहा! हेयबुद्धि से ज्ञेय है। और यह त्रिकाली स्वभाव उपादेयबुद्धि से ज्ञेय है। अरे! ऐसी बातें। आता है। धर्मी—एकावतारी इन्द्र... आठवें नन्दीश्वर द्वीप में बावन जिनालय है, वहाँ आठ दिन जाते हैं। आषाढ़ शुक्ल अष्टमी से पूर्णिमा, फाल्गुन शुक्ल अष्टमी से पूर्णिमा और कार्तिक शुक्ल अष्टमी से पूर्णिमा। नन्दीश्वर द्वीप (में) मनुष्य नहीं जा सकता। ढाई द्वीप के बाहर मनुष्य नहीं जा सकता। देव जाते हैं। हजारों, लाखों देव वहाँ घूँघरू बाँधकर नाचते हैं परन्तु जानते हैं कि वह क्रिया जड़ की है। उल्लास का भाव जरा शुभ है, वह हेय है परन्तु अभी आये बिना नहीं रहता। अशुभ से बचने को वह भाव आया, परन्तु वह धर्म नहीं। आहाहा! अभी तो यह विवाद यह बड़ा उठा है न? कि ऐसी क्रियाएँ करे, बेचारा परीषह सहन करे। परन्तु परीषह सहन (करते हैं) अर्थात् क्या? अभी सम्यक् चैतन्य क्या है, उसका भान तो नहीं। उसे परीषह कहते ही नहीं। उसे परीषह कहते ही नहीं। परीषह तो जिसे आत्मज्ञान हुआ है, राग का अभाव होकर थोड़ी स्थिरता हुई, उसमें जो प्रतिकूलता आयी, उसे परीषह कहते हैं। ज्ञानी को ही परीषह है। अज्ञानी को परीषह है नहीं। अज्ञानी को तो अकेला दुःख का कारण है, परीषह नहीं। आहाहा! बहुत अन्तर।

ऐसे इस ज्ञान को ज्ञानगुण के बिना... अपने स्वभाव को स्वभाव के आश्रय की परिणति बिना **किसी भी प्रकार से...** किसी भी प्रकार से, किसी भी प्रकार से। भगवान का विनय करो, भगवान की भक्ति करो, नवकार गिनो, चौबीस घण्टे निद्रा नहीं लेना, णमो अरिहंताणं, णमो अरिहंताणं, णमो अरिहंताणं... क्लेश करो तो करो। परन्तु ज्ञानगुण बिना ज्ञान। अपना ज्ञानस्वभाव अन्तर ज्ञान की एकाग्रता बिना उस ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। आहाहा! समझ में आया?

ज्ञान को ज्ञानगुण के बिना... यह क्या कहते हैं? ज्ञान को अपने ज्ञानगुण के बिना। अपने ज्ञानगुण के आश्रय बिना ज्ञान को किसी भी प्रकार से। अपना ज्ञानस्वरूपी भगवान, उसके अवलम्बन बिना। ज्ञान को किसी भी प्रकार से प्राप्त नहीं कर सकते। पर्याय में निर्मल पर्याय, ज्ञानगुण के अवलम्बन बिना प्राप्त नहीं कर सकते। आहाहा! बारह-बारह महीने के अपवास करे, (पूरी) जिन्दगी बालब्रह्मचारी (रहे), जिन्दगी में स्त्री का संग न

हो, उससे क्या ? वह तो परलक्षी भाव शुभ है। मूल ब्रह्मचर्य नहीं। आहाहा! मूल ब्रह्मचर्य तो ब्रह्म अर्थात् आनन्द का नाथ, उसमें रमना, वह ब्रह्मचर्य है। शरीर से स्त्री का त्याग हुआ; इसलिए वह ब्रह्मचारी है, ऐसा है नहीं। समझ में आया ? ब्रह्म अर्थात् आत्मा के आनन्द में चरना अर्थात् रमना।

कहा था न एक बार ? पद्मनन्दि पंचविंशतिका। ब्रह्म की व्याख्या करते-करते (आचार्य कहते हैं), ब्रह्मानन्द भगवान में रमना, वह ब्रह्मचर्य है। ब्रह्म अर्थात् आनन्द में चरना अर्थात् रमना। बहुत विस्तार किया, पश्चात् मुनि कहते हैं, अरे.. युवकों! तुम्हें भोग के रस में, स्त्री का शरीर अच्छा रूपवान, उसका रूपवान, पैसा करोड़, दो करोड़, पाँच करोड़ (हो), बँगला दो-पाँच लाख का हो, आहाहा! वह तेरी शैय्या, रेशम के गद्दे, उसमें तुझे रस पड़ता हो, प्रभु! तो यह मेरी बात तुझे नहीं रुचेगी। मेरी बात नहीं रुचे तो माफ करना, प्रभु! हम तो मुनि हैं, हमसे तुम क्या आशा रखोगे ? लक्ष्मीचन्दभाई! मुनि-दिगम्बर सन्त, आत्मा के आनन्द में झूलनेवाले, वे ब्रह्मचर्य की व्याख्या करते... करते... करते... ऐसा कहा, हे युवको! तुम्हें यह बात, इस रस में... आहाहा! गहलता के रस में तुझे यह बात न रुचे, यह क्या बकते हैं ? ऐसा तुझे लगेगा, प्रभु! माफ करना। हम तो मुनि हैं, दूसरा क्या कहें ? हमसे क्या आशा रखोगे ? विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २८५, श्लोक-१४२, १४३, गाथा-२०५, बुधवार, श्रावण कृष्ण ८, दिनाङ्क १५-०८-१९७९

---

२०४ गाथा पूरी हुई। भावार्थ है। **ज्ञान है, वह साक्षात् मोक्ष है;**... ज्ञानस्वरूप, वह तो साक्षात् मोक्ष है। **वह ज्ञान से ही प्राप्त होता है,**... आहा! पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है, वह मोक्ष ज्ञान है, तो उसकी क्रिया, उपाय जो ज्ञानस्वरूप भगवान, उसमें एकाग्र होना, वह ज्ञान से प्राप्त होता है। आहाहा! **अन्य किसी क्रियाकांड से उसकी प्राप्ति नहीं होती।** यह विशेष कहेंगे।

गाथा-२०५

णाणगुणेण विहीणा एदं तु पदं बहु वि ण लहंते।
तं गिण्ह णियद-मेदं जदि इच्छसि कम्म-परिमोक्खं ।।२०५।।

ज्ञानगुणेण विहीना एतत्तु पदं बहवोऽपि न लभन्ते।
तद्गृहाण नियत-मेतद् यदीच्छसि कर्म-परिमोक्षम् ।।२०५।।

यतो हि सकलेनापि कर्मणा, कर्मणि ज्ञानस्याप्रकाशनात्, ज्ञानस्यानुपलम्भः। केवलेन ज्ञानेनैव, ज्ञान एव ज्ञानस्य प्रकाशनात्, ज्ञानस्योपलम्भः। ततो बहवोऽपि बहुनापि कर्मणा ज्ञानशून्या नेदमुपलभन्ते, इदमनुपलभमानाश्च कर्मभिर्न मुच्यन्ते।

ततः कर्ममोक्षार्थिना केवलज्ञानावष्टम्भेन नियतमेवेदमेकं पदमुपलम्भनीयम् ।।२०५।।

अब यही उपदेश गाथा द्वारा कहते हैं:-

रे ज्ञानगुण से रहित बहुजन, पद नहीं यह पा सके।
तू कर ग्रहण पद नियत ये, जो कर्ममोक्षेच्छा तुझे।।२०५।।

गाथार्थ : [ज्ञानगुणेन विहीनाः] ज्ञानगुण से रहित [बहवः अपि] बहुत से लोग (अनेक प्रकार के कर्म करते हुए भी) [एतत् पदं तु] इस ज्ञानस्वरूप पद को [लभंते] प्राप्त नहीं करते; [तद्] इसलिए हे भव्य! [यदि] यदि तू [कर्मपरिमोक्षम्] कर्मों से सर्वथा मुक्ति [इच्छसि] चाहता हो तो [नियतम् एतत्] नियत इस ज्ञान को [गृहाण] ग्रहण कर।

टीका : कर्म में (कर्मकाण्ड में) ज्ञान का प्रकाशित होना नहीं होता इसलिए समस्त कर्म से ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती; ज्ञान में ही ज्ञान का प्रकाश होता है इसलिए केवल (एक) ज्ञान से ही ज्ञान की प्राप्ति होती है। इसलिए बहुत से ज्ञानशून्य जीव, बहुत से कर्म करने पर भी इस ज्ञानपद को प्राप्त नहीं कर पाते और इस पद को प्राप्त न करते हुए वे कर्मों से मुक्त नहीं होते; इसलिए कर्मों से मुक्त होने के इच्छुक को मात्र (एक) ज्ञान के आलम्बन से, यह नियत एक पद प्राप्त करना चाहिए।

भावार्थ : ज्ञान से ही मोक्ष होता है; कर्म से नहीं; इसलिए मोक्षार्थी को ज्ञान का ही ध्यान करना ऐसा उपदेश है।

गाथा - २०५ पर प्रवचन

२०५ (गाथा)

णाणगुणेण विहीणा एदं तु पदं बहु वि ण लहंते।
तं गिण्ह णियद-मेदं जदि इच्छसि कम्म-परिमोक्खं।।२०५।।

रे ज्ञानगुण से रहित बहुजन, पद नहीं यह पा सके।
तू कर ग्रहण पद नियत ये, जो कर्ममोक्षेच्छा तुझे।।२०५।।

टीका : कर्म में (कर्मकाण्ड में)... हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग वासना वह तो पाप है। परन्तु दया, दान, पूजा, व्रत, भक्ति यह क्रियाकाण्ड पुण्य है। आहाहा! यह 'कर्म' शब्द से... है? **कर्म में**... अर्थात् **(कर्मकाण्ड में)**... आहाहा! दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, तप यह सब क्रिया शुभभाव है। इस शुभभाव से **ज्ञान का प्रकाशित होना नहीं होता**... आत्मा चिदानन्द भगवान, वह राग की क्रिया से विकास नहीं होता, उससे शुद्ध परिणति नहीं होती। ऐसी बात। आहाहा!

कर्म में अर्थात् कर्मकाण्ड अर्थात् राग की क्रिया में ज्ञान का प्रकाशन नहीं होता। आत्मस्वभाव उससे विकसित नहीं होता। आहाहा! वह तो राग है। आहाहा! चाहे तो बारह प्रतिमा हो, चाहे तो पंच महाव्रत हो, चाहे तो महीने-महीने के अपवास के भाव हों, सब राग है, क्रियाकाण्ड है, उसमें कोई धर्म नहीं है।

मुमुक्षु : तप भी राग?

पूज्य गुरुदेवश्री : तप भी राग है। व्रत और तप, दया और दान, पूजा और भक्ति छह बोल आ गये। आहाहा! यह सब शुभराग है, कर्मकाण्ड है, राग के कार्यरूपी कर्मकाण्ड है। आहाहा! ऐसी बात।

इसलिए **समस्त कर्म से ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती;**.... पहले साधारण बात की कि राग की क्रिया से ज्ञान अर्थात् आत्मा के धर्म का लाभ आत्मा को नहीं होता। इसलिए समस्त कर्म, चाहे तो भगवान का विनय करे, भगवान की भक्ति करे, पंच नवकार गिना करे, णमो अरिहंताणं... णमो अरिहंताणं... णमो सिद्धाणं... (करे), आहाहा! (वह)

समस्त क्रियाकाण्ड राग है। ऐसी बात है। समस्त कर्म अर्थात् क्रियाकाण्ड से ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। आहाहा! जिसमें भगवान आनन्दस्वरूप ज्ञायकस्वभाव, वह क्रियाकाण्ड समस्त रागादि क्रिया से—शुभ, हों! अशुभ की तो बात ही क्या करना? आहाहा! हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग वासना, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, रति, अरति, यह तो पाप परिणाम, ओहो! दुर्गति का कारण है। परन्तु पुण्य परिणाम भी चैतन्यगति का कारण नहीं है। आहा! उस कर्मकाण्ड से आत्मा की प्राप्ति किंचित नहीं होती। उस कर्मकाण्ड से आत्मा को किंचित् धर्म नहीं होता। आहाहा!

ज्ञान में ही ज्ञान का प्रकाश होता है... भगवान यह ज्ञानस्वरूप, इस ज्ञान की अन्तर एकाग्रता से, ज्ञान से उसकी प्राप्ति होती है। ज्ञान में ही ज्ञान का प्रकाश होता है। स्वरूप में एकाग्रता से ज्ञान का प्रकाश अर्थात् शुद्ध परिणति प्रगट होती है। आहाहा! समझ में आया? यह लोगों को कठिन पड़ता है। समस्त कर्मकाण्ड। चाहे तो भगवान का विनय करो, शास्त्र का विनय करो। आहाहा! देव-गुरु की भक्ति, व्रत और तप उससे आत्मा की-धर्म की प्राप्ति (नहीं होती)। आहाहा! यहाँ तो पूरे दिन अभी पाप में पड़ा हो, उसे पुण्य की तो (बात कहाँ है?) आहाहा!

इस ज्ञान में ही ज्ञान का प्रकाश होता है। स्वरूप की अन्तर एकाग्रता, अतीन्द्रिय आनन्द और ज्ञानस्वभाव में एकाग्रता (करने से) आत्मा का प्रकाश होता है। शुद्ध धर्म सम्यग्दर्शन-ज्ञान आत्मा के स्वभाव में एकाग्र होने से होता है। आहाहा! व्यवहाररत्नत्रय जो हो, वह तो राग है। उससे आत्मा के धर्म की प्राप्ति नहीं होती। आहाहा! अब कहीं ऐसा लिखा हो कि व्यवहाररत्नत्रय साधक है। वहाँ यह पकड़ता है। वह तो साधक का अर्थ वहाँ निमित्त कैसा था, उसका ज्ञान कराया है। आहाहा! ज्ञानसमुद्र प्रभु, चैतन्य रत्नाकर आ गया न? चैतन्यमणि का सागर भगवान, उसमें एकाग्र होने से ज्ञान अर्थात् आत्मा की शुद्ध परिणति की प्राप्ति होती है। राग की क्रिया से आत्मा को बिल्कुल धर्म का लाभ नहीं होता। आहाहा!

इसलिए **केवल (एक) ज्ञान से ही ज्ञान की प्राप्ति होती है।** ओहो! इस कारण से केवल ज्ञान से ही। निज शुद्ध स्वरूप की अन्तर में एकाग्रता से ही। एकान्त किया, देखो!

राग से भी होता है और ज्ञान में एकाग्रता से भी होता है, ऐसा नहीं है। यह अनेकान्त तो यह कहा कि ज्ञान से ही अन्तर ज्ञान की प्राप्ति (होती है); राग से नहीं, यह अनेकान्त है। आहाहा! अनेकान्त के नाम से मार्ग फुदड़ीवाद बनाते हैं। आहा! यहाँ तो पहली बात की है न? **समस्त कर्म से ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती;...** ज्ञान से ही ज्ञान का प्रकाश होता है। इसलिए इस कारण से **केवल (एक) ज्ञान से ही...** आत्मा का शुद्धस्वरूप, उसकी अन्तर में एकाग्रता से ही शुद्ध आत्मा की प्राप्ति होती है। समझ में आया? अभी इसकी श्रद्धा का ठिकाना नहीं। यह व्रत करो और तप करो और ऐसा करो और वैसा करो, दान दो-पाँच-दस लाख के दे तो दूसरे को मदद मिले, दूसरे को जरा सुख का कारण मिले तो तुमको भी लाभ हो। (यह सब) राग है, अधर्म है। आहाहा!

केवल ज्ञान से ही... भाषा देखो! अकेला भगवान आत्मा पूर्णानन्दस्वरूप, उसके अन्तर में एकाग्रता से ही। बाकी दूसरी किसी बात से धर्म नहीं, मुक्ति नहीं। 'ही' है न? **ज्ञान की प्राप्ति होती है।** भगवान आनन्दस्वरूप प्रभु, उस आनन्द में एकाग्रता से ही आनन्द की, शान्ति की प्राप्ति होती है। आहाहा! जिसमें अतीन्द्रिय आनन्द भरा है, ऐसे भगवान अतीन्द्रिय आनन्द में लीनता से पर्याय में अतीन्द्रिय आनन्द की प्रकाश शक्ति प्रगट होती है। प्रकाश शक्ति क्यों कहा? संवेदन। बारहवीं शक्ति है न? प्रकाश शक्ति। वह स्वसंवेदन—स्व (अर्थात्) अपना, सं (अर्थात्) प्रत्यक्षरूप से आनन्द का वेदन, वह आत्मा के आश्रय से होता है; वह क्रियाकाण्ड के आश्रय से नहीं होता। आहाहा! ४७ शक्तियों में एक प्रकाश शक्ति है। प्रकाश होता है अर्थात् स्वसंवेदन प्रकाश होता है। राग का प्रकाश होना, वह तो अधर्म का प्रकाश है। आहाहा! लोगों को कठिन पड़ता है। इसलिए वह विद्यानन्द कहते हैं न? पुण्य को अधर्म कहाँ कहा है? प्रभु! आत्मा के स्वभाव की शुद्धि की परिणति जब धर्म (कहलाती है), तब उससे विरुद्ध राग, वह अधर्म (कहलाता है)। भले उसे पुण्यरूप से, व्यवहार रूप से धर्म कहा हो परन्तु वह तो व्यवहार का आरोप करके कहा है। जिसे अन्तर में आत्मा के आश्रय से शुद्धता प्रगट हुई है, वह निश्चय धर्म और उसे जो राग आता है, उसे व्यवहारधर्म का आरोप करके कहा। व्यवहार से कहा, वह निश्चय से तो अधर्म है। अरर! ऐसी बातें... प्रभु... प्रभु! आहाहा!

आज तो भाई कोई कहता था, मोरबी का, पच्चीस-तीस हजार लोग मर गये, ऐसा

कोई कहता था। आहाहा! यह दुनिया नाशवान में क्या? आहा! एक तो अपने वह घडियाली, उसकी बुआ थी, वह पानी में खिंच गयी। बस! मुमुक्षु में से एक को नुकसान (हुआ), बाकी किसी को कुछ नहीं। घडियाली थे न? पानी देते, बड़ा संघ इकट्ठा हुआ हो, तब पानी देते, घड़ियाली। कान्तिभाई या क्या नाम? उसकी बुआ या कोई ऐसा कहा। पानी में वह एक खिंच गयी, बस! बाकी कोई नहीं। मुमुक्षु में से किसी को नुकसान नहीं हुआ, ऐसा कहते हैं। बाकी कोई तो यह कहता है, सरकार की ओर से तो पच्चीस-तीस हजार मर गये, ऐसा प्रकाशित हुआ है। आहाहा! यह संसार! कहाँ सुखबुद्धि में पड़ा है, इसकी यह दशा। देह छूट जाए। आहाहा! अरेरे! वापस कहाँ जन्म (होगा)? उसका वापस जन्म भी कहाँ (होगा)? यहाँ तो आर्तध्यान हो, हाय.. हाय..! जीने की आशा में तड़फड़ाहट (करे)। अरे! प्रभु! ऐसा अवसर कब मिले? भाई! आहाहा!

सिद्धान्त तो ऐसा कहता है कि किसी मुनि को देव समुद्र में डाल दे, वहाँ आगे अन्दर एकाग्र होकर, केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष जाता है। आहाहा! समझ में आया? क्योंकि समुद्र जो दो लाख (योजन) है, उसमें एक बिन्दु खाली नहीं कि जहाँ अनन्त (जीव) मोक्ष में नहीं गये। अब वे किस प्रकार समुद्र में से गये होंगे? स्वर्ग के कोई विरोधी देव (हों), सन्त तो सच्चे हों परन्तु विकल्प में आते हैं, तब उन्हें उठा ले जाता है, समुद्र में डाल देता है। विरोधी (देव)। उस समुद्र में भाई! उस समुद्र में अन्दर में ध्यान में उतर जाते हैं। आहाहा! और वहीं के वहीं केवलज्ञान प्राप्त (करते हैं)। देह छूटकर वहाँ से मुक्ति होती है। ऐसे पानी के एक-एक बिन्दु से अनन्त मोक्ष में गये हैं। दो लाख योजन का समुद्र है। आहाहा! वे सब अन्तर में आत्मा में ध्यान में उतरकर (केवलज्ञान प्राप्त करते हैं)। आहाहा! जिन्हें परीषह और उपसर्ग की खबर भी नहीं। अन्तर में आत्मा की गहराई में उतर गये। स्वभाव का भान तो था, अनुभव तो था, परन्तु इससे विशेष अवगाहन अन्दर में गये। आहाहा! उस समुद्र में पड़ने पर भी महासमुद्र चैतन्य रत्नाकर में पड़े, उनकी मुक्ति होती है, कहते हैं। आहाहा! समझ में आया?

यह यहाँ कहते हैं, **केवल ज्ञान से ही...** यह तो एक हुआ। कथंचित् राग से और कथंचित् ज्ञान से, (ऐसा नहीं कहा)। आहाहा! यह तो अमृतचन्द्राचार्य, आहाहा! उनकी टीका है और कुन्दकुन्दाचार्य के पाठ में है न? **णाणगुणेण विहीणा एदं तु पदं बहु वि**

ण लहंते। बहुत क्रियाकष्ट हो, तो भी (स्वरूप प्राप्ति नहीं होती)। बस! इसका अर्थ टीकाकार करते हैं। आहा! भगवान पूर्णानन्द का नाथ अनन्त चैतन्यमणि है, सागर—समुद्र भरा है, उसमें डुबकी लगा। आहाहा! उस स्वरूप में अवगाहन कर। अवगाहन का अर्थ (यह कि) स्वरूप की ओर सन्मुख हो। अवगाहन अर्थात् ध्रुव में कहीं प्रवेश नहीं होता है। है तो निर्मल पर्याय, वह कहीं ध्रुव में प्रवेश नहीं करती, परन्तु इस ओर अवगाहन है, वह ऐसे कर, इसलिए अवगाहन कहा। आहाहा! बाकी ध्रुव परमात्मस्वरूप में कोई प्रवेश नहीं कर सकता परन्तु सन्मुख हुआ, उसमें अवगाहन किया, ऐसा कहने में आता है। आहाहा!

केवल ज्ञान से ही... (अर्थात्) आत्मा के शुद्ध स्वरूप की एकाग्रता से ही। यह 'ज्ञान' शब्द से ज्ञान की शुद्धपरिणति, उससे ही। **ज्ञान की...** आत्मा की **प्राप्ति होती है।** आहाहा! **इसलिए...** इस कारण से **बहुत से ज्ञानशून्य जीव,...** अपने ज्ञानस्वरूप की श्रद्धा और ज्ञान से शून्य, वे **बहुत से कर्म करने पर भी...** बहुत-सा क्रियाकाण्ड करे। ओहो! सवेरे से रात तक क्रियाकाण्ड में लवलीन। शुभभाव, शुभभाव, भगवान का स्मरण, स्मरण, स्मरण। आहाहा!

इस ज्ञानपद को प्राप्त नहीं कर पाते... इस ज्ञान पद को प्राप्त नहीं कर सकते। **और इस पद को प्राप्त न करते हुए वे कर्मों से मुक्त नहीं होते;...** आहा! वे तो कर्म से मुक्त नहीं होते और कर्म में, राग में आ जाते हैं तो चार गति में भटकते हैं। आहाहा! **इसलिए कर्मों से मुक्त होने के इच्छुक को...** आहाहा! मोक्ष का इच्छुक को, कर्म से छूटने के इच्छुक को **मात्र (एक) ज्ञान के आलम्बन से,...** एक भगवान आत्मा आनन्दस्वरूप प्रभु के अवलम्बन से ही **यह नियत एक पद प्राप्त करना चाहिए।** नियत अर्थात् निश्चय एक पद—परमात्मपद / मोक्षपद प्राप्त करना चाहिए। आहाहा! ऐसी बात है।

भावार्थ : ज्ञान से ही मोक्ष होता है;... यह ज्ञान अर्थात् शास्त्र का जानपना, वह ज्ञान नहीं है। ज्ञानस्वरूप भगवान की एकाग्रता होने से जो ज्ञान प्रगट हुआ, वीतरागी पर्याय प्रगट हुई, वह ज्ञानपर्याय। आहाहा! वीतरागस्वरूप भगवान आत्मा के अवलम्बन

से वीतरागी पर्याय उत्पन्न हुई, उसे ज्ञान कहने में आता है। राग नहीं तो ज्ञान, ऐसा। चारित्र की पर्याय साथ में रागरहित है। ज्ञान में एकाग्रता से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और चारित्र तीनों आ जाते हैं। आहाहा! परन्तु वह चारित्र अर्थात् अन्तर स्वरूप में रमणता, वह चारित्र। पंच महाव्रत के परिणाम तो अचारित्र हैं। अरे... अरे! ऐसी बातें। आहा! कितने मनुष्य मरे हुए बेचारे चले गये। आहाहा! बहुत काल में तो मनुष्यपना मिले, उसमें ऐसा हो, इसलिए वापस कहीं (जाए)। आहाहा! अरे! प्रभु! तुझे दुर्लभ (मनुष्यपना) मिला है न? यह कहेंगे, देखो!

इसलिए मोक्षार्थी को ज्ञान का ही ध्यान करना... है न? **ज्ञान से ही मोक्ष होता है; कर्म से...** क्रियाकाण्ड; कर्म अर्थात् रागादि क्रिया। **इसलिए मोक्षार्थी को ज्ञान का ही ध्यान करना, ऐसा उपदेश है।** आत्मा का ध्यान। अपनी पर्याय ध्यान में ध्येय बनाना। पर से, देह से छूटकर स्व का ध्येय करके जो निर्मल शुद्धपरिणति हुई, वही मोक्ष का कारण है। क्रियाकाण्ड का कोई भी व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प, वह मोक्ष का कारण नहीं है। आहाहा!

कलश - १४३

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं:-

(द्रुतविलम्बित)

पदमिदं ननु कर्मदुरासदं सहजबोधकलासुलभं किल।
तत इदं निजबोधकलाबलात् कलयितुं यततां सततं जगत्।।१४३।।

श्लोकार्थ : [इदं पदम्] यह (ज्ञानस्वरूप) पद [ननु कर्मदुरासदं] कर्मों से वास्तव में *दुरासद है और [सहज-बोध-कला-सुलभं किल] सहज ज्ञान की कला के द्वारा वास्तव में सुलभ है; [ततः] इसलिए [निज-बोध-कला-बलात्] निज ज्ञान की कला के बल से [इदं कलयितुं] इस पद को अभ्यास करने के लिए (अनुभव करने के लिये) [जगत् सततं यततां] जगत सतत प्रयत्न करो।

* दुरासद=दुष्प्राप्य; न जीता जा सके ऐसा

भावार्थ : समस्त कर्मों को छुड़ाकर ज्ञानकला के बल द्वारा ही ज्ञान का अभ्यास करने का आचार्यदेव ने उपदेश दिया है ज्ञान की 'कला' कहने से यह सूचित होता है कि–जब तक सम्पूर्ण कला (केवलज्ञान) प्रगट न हो तबतक ज्ञान हीनकलास्वरूप–मति–ज्ञानादिरूप है; ज्ञान को उस कला के आलम्बन से ज्ञान का अभ्यास करने से केवलज्ञान अर्थात् पूर्ण कला प्रगट होती है।।१४३।।

श्लोक - १४३ पर प्रवचन

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं:–

पदमिदं ननु कर्मदुरासदं सहजबोधकलासुलभं किल।
तत इदं निजबोधकलाबलात् कलयितुं यततां सततं जगत् ।।१४३।।

आहाहा! हे जगत! अर्थात् जगत के जीवो। आहा! हे प्रभु! ऐसा कहते हैं। आहाहा! कुन्दकुन्दाचार्य तो अष्टपाहुड़ में (कहते हैं), हे मित्र! द्रव्यलिंगी साधु हो, उसे कहते हैं कि हे मित्र! तू इसमें—क्रियाकाण्ड में कहाँ रुक गया? प्रभु! अन्दर में जा न। आहाहा! हे महाजस! ऐसा कहते हैं। हे मित्र! महाजस! इत्यादि बहुत शब्द अष्टपाहुड़ में प्रयोग किये हैं। आहा! प्रभु! जहाँ भगवान विराजता है, वहाँ अन्दर जा न, बाहर में कहाँ भटका भटक करता है? आहाहा! शुभाशुभपरिणाम में भटकना, प्रभु! वह तो संसार है। आहाहा!

मुमुक्षु : शुभ तो दु:ख है।

पूज्य गुरुदेवश्री : घोर संसार है और संसार, वह दु:ख है। शुभभाव... यह तो आ गया। शुभभाव, वह आकुलतारूप दु:ख है। शुद्धभाव, वह अनाकुलतारूप सुख है। साधक जीव को... पण्डितजी! तुम्हारा प्रश्न था न? समकितदृष्टि को एकसाथ यह होता है। मिथ्यादृष्टि को तो अकेला कर्मकाण्ड और राग के दु:खरूप फल होता है। केवली को अकेले ज्ञानकाण्ड की परिणति शुद्ध होती है; कर्मकाण्ड जरा भी नहीं है। साधक जीव को तीनों एक समय में होते हैं। इसलिए ऐसे तो एक समय में दो होते हैं। ज्ञानस्वरूप की एकाग्रता, वह ज्ञानकाण्ड और या शुभ की एकाग्रता, वह शुभभाव, वह कर्मकाण्ड परन्तु शुभ के समय अशुभ नहीं होता। एकसाथ दो होते हैं। और जब अशुभ आता है तो ज्ञान की

परिणति भी शुद्ध है और अशुभ भी है, वह दुःखरूप भी है। वह अशुभभाव तीव्र दुःखरूप है, शुभभाव मन्द दुःखरूप है मन्ददुःखरूप और ज्ञान की शुद्धि का आनन्द एक समय में होता है तथा या ज्ञान की शुद्धि का आनन्द और अशुभभावरूपी भाव एकसाथ होता है परन्तु शुभ और अशुभ एक साथ नहीं होते। दो होते हैं। अज्ञानी को तो एक ही अज्ञान, राग-द्वेष, शुभ-अशुभ दुःखरूप है। आहाहा! अभी उसके यथार्थ ज्ञान का ठिकाना नहीं है। आहाहा!

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं:- यह (ज्ञानस्वरूप) पद... ज्ञानस्वरूप भगवान, उसका पद। [**ननु कर्मदुरासदं**] कर्म अर्थात् क्रियाकाण्ड से **वास्तव में दुरासद है...** दुःप्राप्त है। न जीता जा सके। आहाहा! यह लाख, करोड़ क्रियाकाण्ड करे। आहाहा! क्लेश करो तो करो परन्तु उस आत्मा को लाभ नहीं है। यह तो आ गया। ऐसी बातें लोगों को कठिन पड़ती हैं। और शास्त्र में जयसेनाचार्य की टीका में तो बहुत जगह साधन-साधक (आता है)। व्यवहार, वह साधक है और निश्चय, वह साध्य है, ऐसा आता है। वह तो जिसे निश्चय हुआ है, उसे साधक का ज्ञान कराया व्यवहार, कि वहाँ राग की ऐसी मन्दता है, उसका ज्ञान कराया। अरेरे! क्या हो परन्तु? शास्त्र के अर्थ भी अपनी दृष्टि से करना, जो शास्त्र को कहना है, उस ओर दृष्टि ले जाना नहीं और अपनी दृष्टि से उसका अर्थ कर डालना। आहाहा! अनन्त काल से...

मुमुक्षु : अपनी दृष्टि से अर्थ करता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यही कहते हैं कि अपनी दृष्टि से (करता है) परन्तु शास्त्र की दृष्टि से नहीं करता। शास्त्र को क्या कहना है? इस दृष्टि से नहीं करता। अपनी दृष्टि जोड़कर उसका अर्थ करता है। आहाहा! और दृष्टि, वैसी सृष्टि। मिथ्यादृष्टि है तो वह शास्त्र में से निकाले तो विकार की सृष्टि उत्पन्न होती है। सम्यग्दृष्टि शास्त्र में से निकाले तो निर्मल पर्याय की सृष्टि उत्पन्न होती है। आहाहा! ऐसा काम है।

'कर्मदुरासदं' 'कर्म' शब्द से जड़कर्म नहीं। 'कर्म' शब्द से पुण्य की क्रिया। दया, दान, व्रत, तप, भक्ति, पूजा। आहाहा! ऐसे जो शुभभावरूपी कर्म। कर्म अर्थात् विकारी कार्य। उससे वास्तव में **'दुरासदं'** उसमें वास्तव में उससे धर्म की प्राप्ति है नहीं। उससे मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। आहाहा! यह बात। एक तो जवान शरीर हो, हमेशा पाँच-पच्चीस

लाख की व्यवस्था हो, आहा! पत्नी ठीक हो, मकान ठीक हो, खाने-पीने के (साधन हों), आहा! अब उसमें इसे यह कहाँ सूझ पड़े? अकेले पाप में पचा है, उसकी तो बात क्या करना परन्तु कहते हैं कि पुण्य में आया और पुण्य की क्रिया उसने बहुत की, इससे धर्म नहीं होता। उसमें आत्मा की प्राप्ति नहीं होती। उस दुःख से आत्मा के आनन्द की प्राप्ति होगी? आहाहा! कठिन काम।

अरे! इसने अनन्त बार... आहाहा! ऐसे जीवित सिंह निकले, सिंह पकड़े, जीवित खाये। आहाहा! बापू! जीवता जीव है, उसे खा न, उसे अनुभव कर न! आहाहा! अभी तो ऐसा सुना है, एक देश ऐसा है कि बकरी के नये बच्चे आवें, नये जन्में, (उन्हें) सीधे खाते हैं, बटका भरते हैं। बकरी के बच्चे। कोमल, सीधे ऐसे खाते हैं। फोटो में आया था, फोटो में आया था। एक मनुष्य खाता था। सीधे जीवित बकरी का बच्चा जन्मा हुआ, ऐसे खाता था। फोटो में आया था। आहाहा! ऐसे अनार्य देश में जन्म, उसे यह बात सुनने को मिलती नहीं। आहाहा! अरे! वर्तमान दुःखी, भविष्य में दुःखी। दुःख की गति में जानेवाले। वह तो नरक और पशु आदि (होते हैं)। ऐसे तो सीधे नरक में जानेवाले हैं। आहाहा! अरेरे!

यह ज्ञान कर्मों से दुरासद है। [**सहज-बोध-कला-सुलभं किल**] **सहज ज्ञान की कला...** आहाहा! उसका अनुभव। सहज ज्ञान के अनुभव द्वारा **वास्तव में सुलभ...** आहाहा! यह कला। यह कला। आहाहा! ज्ञान की कला अर्थात् ज्ञान का अनुभव, वह ज्ञान की कला है। आहाहा! जगत राग की कला और दुनिया की कला मानकर होशियारी मानता है। आहाहा! कलाबाज, ऐसा कहते हैं न? आहाहा! दुनिया की कला को बाज, जैसे पक्षी को पकड़ता है, वैसे अज्ञानी कला को पकड़ता है। यहाँ कहते हैं, इस कला को पकड़ न! आहाहा!

[**सहज-बोध-कला-सुलभं किल**] निश्चय से। आहाहा! **'किल'** का अर्थ किया न? **वास्तव में...** वास्तव में है, यह **'किल'** का अर्थ है। **सहज ज्ञान की कला के द्वारा... 'सुलभं किल' 'किल'** अर्थात् **वास्तव में सुलभ है;...** आहा! भगवान आनन्द की कला का पिण्ड प्रभु, उसकी पर्याय में आनन्द की प्रगट दशा (होती है), वह आनन्द की कला, वह ज्ञान की कला, उससे मुक्ति सुलभ है। उससे मुक्ति प्राप्त होती है। क्रियाकाण्ड लाख, करोड़ करे तो उसे संसार-प्राप्ति होगी, क्योंकि वह शुभभाव है, वह घोर संसार है।

आहाहा! नियमसार में आता है न? भाई! विकल्प, वह घोर संसार है। नियमसार में आता है। शुभराग, बापू! वह संसार है। आहाहा! उस संसार से मुक्ति होगी? ऐसा काम है।

सहज ज्ञान की कला... स्वाभाविक ज्ञान की कला। सहज ज्ञान जो त्रिकाल, उसकी सहज ज्ञानकला। आहाहा! हठ कहीं नहीं। स्वाभाविक अन्तर आनन्द के अनुभव की कला से अथवा ज्ञान और आनन्द के अभ्यास से। आहाहा! यह कला अर्थात् अन्तर के अभ्यास से। आहाहा! इस द्वारा वास्तव में सुलभ है। आत्मा का पद ऐसी कला से सुलभ है और कर्मों से दुर्लभ है, ऐसा। दुरासद था न? यह दुरासद अर्थात् दुर्लभ है, उससे (-ज्ञानकला से) सुलभ है। आहाहा!

इसलिए [**निज-बोध-कला-बलात्**] फिर से कला। **निज ज्ञान की कला के...** अनुभव के **बल से...** आहाहा! वापस भाषा, पर का ज्ञान नहीं, परमात्मा का ज्ञान नहीं। आहाहा! शास्त्रज्ञान नहीं। **निज ज्ञान की कला के बल से...** आहाहा! भगवान आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप। अरे! पंचम काल में भी वस्तु तो यह है। पंचम काल में भी भगवान तो विराजता है तो उसका अनुभव करना, वह तो पंचम काल की परिणति है। कहीं पंचम काल उसे अवरोधक है... आहाहा! समझ में आया? ऐसा है नहीं। आहाहा! निजज्ञान **निज-बोध** है न? **निज-बोध** भगवान आत्मा स्वरूप पूर्णानन्द का बोध-ज्ञान, निज का ज्ञान। उसकी कला (अर्थात्) उसका अनुभव। उसके बल से।

[**इदं कलयितुं**] **इस पद को अभ्यास करने के लिए...** आहाहा! **'कलयितुं'** अर्थात् अभ्यास करो, **'कलयितुं'** अर्थात् अनुभव करो, ऐसा। **इस पद को अभ्यास करने के लिए...** देखो! अर्थ किया। **'कलयितुं'** का यह एक दूसरा अर्थ—**अभ्यास करने के लिए... 'कलयितुं'** का अर्थ ऐसा है। अभ्यास या अनुभव। आहाहा! **निज ज्ञान की कला के बल से...** निजज्ञान के अनुभव के बल से इस पद को अनुभव करनेयोग्य है। आहाहा!

जगत... जगत अर्थात् जगत में रहे हुए जीवो, ऐसा। हे जीवो! जगत कहकर समस्त जीवों को कहते हैं। आहाहा! तुम सब भगवान आत्मा हो न! आहाहा! हे जीवो! सततं प्रयत्न करो। आहाहा! निरन्तर स्वभावसन्मुख प्रयत्न करो। स्वभाव से विमुख का प्रयत्न

छोड़ दो। आहाहा! अन्तर भगवान पूर्णानन्द का नाथ प्रभु, उसका सततं-निरन्तर— **'यततां'**। **'यततां'** (अर्थात्) यत्न करो। यत्न करो अर्थात् प्रयत्न करो। आहाहा! निजस्वरूप में प्रयत्न। निज बोध अन्दर। आहाहा!

अरे! तब कोई कहता है कि क्रमबद्ध में होता है, उसमें निज प्रयत्न हमें क्या करना? परन्तु इस क्रमबद्ध के निर्णय में यह निज कला का अनुभव होता है। समझ में आया? क्योंकि क्रमबद्ध का निर्णय करने जाता है, तब अकर्तापने की, ज्ञातापने की परिणति प्रगट होती है। समझ में आया? यह प्रयत्न करो (ऐसा कहते हो तो) क्रमबद्ध बिना हमारा प्रयत्न कैसे चलेगा? ऐसा कोई प्रश्न करे (तो कहते हैं), सुन तो सही! आहाहा! जिसे क्रमबद्ध का अनुभव हुआ, उसे तो ज्ञाता-दृष्टा का अनुभव हुआ। उसे कहते हैं कि सतत क्रमबद्ध पर्याय के क्रम का लक्ष्य छोड़कर, ज्ञाता का अनुभव कर। आहाहा!

जगत के प्राणियों। जगत अर्थात् वे। हे जगत के प्राणियों! पहले एक कलश आ गया है। जगत अर्थात् जगत के प्राणियों। **'सततं'** आहाहा! प्रभु! तुझे अन्तराय न पड़े, वैसे **'सततं'**। स्वभाव सन्मुख की दशा **'सततं'** प्रगट करो। आहाहा! पंचम काल के प्राणी को कहते हैं, पंचम काल के श्रोता को कहते हैं। अप्रतिबुद्ध है, उसे कहते हैं। आहाहा!

कितने ही ऐसा कहते हैं कि यह समयसार तो मुनि के लिये है। यहाँ तो जिसे अनुभव नहीं है, ऐसे को कहते हैं। उसमें यह कहाँ मुनि के (लिये है, ऐसा आया)? आहाहा! वास्तविक में पर की मिठास हटती नहीं और इसीलिए यह बात ऐसी कि मुनि के लिये है, हमारे लिये नहीं। अरे! परन्तु सुन तो सही, यह क्या कहते हैं? जगत के जीवो (कहकर) पूरा सब समूह लिया और वह भी वर्तमान पंचम काल के प्राणी को कहते हैं। कहनेवाले सन्त पंचम काल के हैं। है? वे पंचम काल के श्रोता को कहते हैं। आहाहा! तो हो सकता है तो कहते हैं या नहीं? आहाहा! तो हो सकता है, उसे कहते हैं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! ओहोहो! क्या गम्भीर! वाणी की गम्भीरता! पंचम काल के अमृतचन्द्राचार्य तो हजार वर्ष पहले हुए। इस कलश, टीका (के रचनेवाले)। हजार वर्ष पहले हुए। पंचम काल के कितने वर्ष निकल गये? ढाई हजार। पन्द्रह सौ वर्ष के बाद श्रोता को कहते हैं। आहाहा! आत्मा है, उससे ऐसा हो सकता है। आत्मा है, ऐसा जिसे प्रतीति में आया तो उसे ऐसा अनुभव हो सकता है। आहाहा!

सतत **'कलयितुं'** (अर्थात्) अनुभव करो। आहाहा! **'कलयितुं'** अर्थात् **'इदं कलयितुं' अभ्यास करने के लिए...** [**जगत् सततं यततां**] निरन्तर प्रयत्न करो। आहाहा! प्रभु! परन्तु क्रमबद्ध में होगा या नहीं और आप यह कहते हो। अरे! सुन तो सही प्रभु! यह क्रमबद्ध में तेरी पर्याय आनेवाली है। तेरी दृष्टि अन्दर में जाने से निर्मल पर्याय प्रगट होगी। वह क्रमबद्ध में क्रमबद्ध का कार्य अकर्तापना अथवा ज्ञाता-दृष्टा के परिणाम, वह क्रमबद्ध का फल है। आहाहा! यह कितने ही ऐसा कहते हैं, क्रमबद्ध है तो हम क्या करें? हें? भगवान! ऐसा न ले। क्रमबद्ध में क्रमबद्ध की पर्याय का जब निर्णय प्रयत्न से करता है तो अकर्तापना उत्पन्न होता है। अकर्तापना उत्पन्न होता है, वहाँ ज्ञाता-दृष्टा के परिणाम उत्पन्न होते हैं। वह ज्ञाता का परिणमन होता है, वह अनुभव से होता है। आहाहा! ऐसा मार्ग! आहाहा! अरे रे! सुनने को मिलता नहीं और कितना बेचारा मनुष्यपना चला गया। हें? आहाहा!

देखो! अमृतचन्द्राचार्य (कहते हैं), **'कर्मदुरासदं'** क्रियाकाण्ड से दुर्लभ अर्थात् (उससे) प्राप्त नहीं होगा और इस अभ्यास से सतत प्रयत्न करे तो प्राप्त होता है। आहाहा! अस्ति-नास्ति की। राग की लाख, करोड़ क्रिया तू अनन्त कर, उससे **'दुरासदं'** उससे आत्मा प्राप्त नहीं होता, उससे धर्म नहीं होता और अन्तर भगवान आत्मा के **'कलयितुं'** अन्तर के अभ्यास और अनुभव से हे जगत के जीवो! सतत प्रयत्न करो, प्राप्ति होगी ही। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! यह श्लोक तो देखो! एक-एक श्लोक में कमाल कर डाला है! हें? आहाहा! दिगम्बर सन्तों की वाणी (उसका) अपनी कल्पना से अर्थ करे परन्तु अन्दर क्या कहते हैं? आहाहा! मुनियों का पुकार क्या है?

(समयसार) ३८ गाथा में और (प्रवचनसार) ९२ गाथा में ऐसा कहा कि पंचम काल के श्रोता को पंचम काल के सन्त कहते हैं, अप्रतिबुद्ध को प्रतिबुद्ध समझाते हैं तो समझ जाता है और ऐसे ज्ञान, दर्शन (प्रगट) होते हैं कि कभी गिरे नहीं, ऐसे ज्ञान, दर्शन उसे उत्पन्न होते हैं। पंचम काल के प्राणी को ऐसा कहते हैं और यह सुननेवाला प्राणी अपने अनुभव से ऐसा कहता है कि मुझे जो अनुभव हुआ, मुझे जो यह सम्यग्दर्शन हुआ, अब कभी भी मिथ्यात्व नहीं आयेगा। हम पंचम काल के प्राणी, तुम ऐसा कहते हो तो हम पंचम

काल में नहीं, हम तो हमारे स्वकाल के आत्मा हैं। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! बहुत गम्भीर है।

'कर्मदुरासदं' 'सहज-बोध-कला-सुलभं किल' निश्चय। आहाहा! राग की क्रिया से प्राप्त नहीं होता और स्वभाव के अनुभव से प्राप्त होता है, सहज स्वभाव से प्राप्त होता है। कलश टीकाकार ने जरा लिया है कि सहज साध्य है, यत्नसाध्य नहीं। यहाँ तो यत्न लिया है। वहाँ उन्हें काललब्धि पर वजन देना है। परन्तु यहाँ तो वास्तविक काललब्धि (अर्थात्) काललब्धि की धारणा कर ली, वह नहीं। तुझे तो खबर नहीं काललब्धि किसे कहते हैं? काललब्धि में प्राप्त होता है, उसका ज्ञान किसे हुआ? कि जिसने अपना प्रयत्न किया तो, उसे ख्याल में आया कि मेरी काललब्धि पक गयी। उसे काललब्धि का यथार्थ ज्ञान हुआ। उसका पुरुषार्थ यथार्थ हुआ, उसका स्वभाव भी यथार्थ हुआ, उसका भवितव्य भाव जो होनेवाला था, वह भी यथार्थ हुआ। आहाहा! और काललब्धि भी पक गयी, ऐसा ज्ञान में आ गया। आहाहा! समझ में आया? यहाँ ऐसा नहीं कहा कि तेरी काललब्धि पकेगी, तब होगा। इस काललब्धि का ज्ञान भी तब होगा। अन्तर पुरुषार्थ से स्वभाव की ओर प्रयत्न करेगा तो पर्याय में तेरी काललब्धि पक गयी। स्वभाव सन्मुख का एक कारण जहाँ मिलाया तो सब कारण एक साथ आ जाते हैं। समझ में आया? आहाहा!

भावार्थ : समस्त कर्मों को छुड़ाकर... 'कर्म' शब्द से शुभभाव। शुभभावरूपी कार्य। दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा। कर्म अर्थात् जड़कर्म नहीं तथा यहाँ अशुभभाव भी नहीं। यहाँ अशुभभाव से तो छूटा है, शुभभाव आया है। समस्त शुभभाव के कार्य को छुड़ाकर **ज्ञानकला के बल द्वारा ही...** भगवान आत्मा के स्वभाव की एकाग्रता की कला अर्थात् बल द्वारा ही। आहाहा! वीर्य भी आ गया। ज्ञानकला के बल के वीर्य द्वारा ही, बल द्वारा ही **ज्ञान का अभ्यास करने का...** भगवान आत्मा का अन्तर में अभ्यास करने का **आचार्यदेव ने उपदेश दिया है।**

आचार्यदेव भगवान सन्त-मुनि अमृतचन्द्राचार्य। कुन्दकुन्दाचार्य को ऐसा कहना है, ऐसा टीका में निकाला है। आहाहा! क्योंकि पाठ ऐसा है न? **'तं गिण्ह णियदमेदं'** ग्रहण कर, (ऐसा) कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं। तुझसे ग्रहण नहीं होगा, ऐसा कहाँ कहा है? हें?

कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं, **'णाणगुणेण विहीणा एदं तु पदं बहु वि ण लहंते।'** लाख, करोड़ क्रियाकाण्ड से भी वह प्राप्त नहीं होता। **'तं गिण्ह णियदमेदं'** भगवान आत्मा पूर्णानन्द का नाथ **'इदं'** अन्दर प्रत्यक्ष है, उसे ग्रहण कर। आहाहा! समझ में आया? बहुत अलौकिक बातें है, बापू! यह तो वीतराग के घर की बात है, बापू! आहाहा! **'तं गिण्ह णियदमेदं'** निश्चय को ग्रहण कर, ऐसा कहते हैं। भगवान आत्मा पूर्णानन्दस्वरूप विराजता है, विद्यमान है।

बहिन के (वचनामृत में) एक शब्द आया है, नहीं? जागता जीव खड़ा है, कहाँ जाए? ध्रुव चैतन्यमूर्ति विद्यमान प्रभु है, वह कहाँ जाए? क्या वह पर्याय में आवे? क्या वह राग में आवे? कहाँ जाए? आहाहा! जागता ज्ञायकभाव खड़ा अर्थात् ध्रुव। जागता अर्थात् ज्ञायकभाव, खड़ा अर्थात् ध्रुव। हिन्दी में उसका विद्यमान अर्थ किया है। जागता जीव विद्यमान है, ऐसा अर्थ किया है। हिन्दी। बहिन के वचन का हिन्दी हुआ है न? उसमें 'ऊभो छे' इसका अर्थ 'विद्यमान' (किया है)। जागता जीव विद्यमान है, इतना लिया है। खबर है। यहाँ जागता जीव खड़ा है। खड़ा है, विद्यमान पड़ा है, प्रभु! आहाहा! कहाँ जाए? अवश्य प्राप्त होगा। आहाहा!

यहाँ नपुंसक का काम नहीं, कहते हैं। यह तो पुरुष का काम है। पुरुष उसे कहते हैं, पुरुषार्थसिद्धि उपाय में आता है, पुरुषार्थसिद्धि (उपाय), पुरुष उसे कहते हैं कि चेतना में सोवे और चेतना में रमे, उसका नाम पुरुष। बाकी राग में रमे, वह नपुंसक, पावैया, हीजड़ा है। आहाहा! अमृतचन्द्राचार्य का कलश है, उसमें पुरुषार्थ क्यों कहा? पुरुषार्थसिद्धि। कि पुरुष अपने चेतन में स्थिति (करे), वह पुरुषार्थ। अपने आनन्द में, चेतना में सोवे, रमे, वह पुरुष (है); बाकी राग में रमे, वह पुरुष नहीं। आहाहा! पण्डितजी! ऐसी बातें हैं। आहाहा!

ज्ञान की 'कला' कहने से यह सूचित होता है कि–जब तक सम्पूर्ण कला (केवलज्ञान) प्रगट न हो... देखो! केवलज्ञान भी एक कला है। है? **जब तक सम्पूर्ण कला (केवलज्ञान)...** 'कला' शब्द से पूर्ण केवलज्ञान प्रगट न हो, **तबतक ज्ञान हीनकलास्वरूप–मति–ज्ञानादिरूप है;...** वहाँ तक सम्यक्ज्ञान—मतिज्ञान, श्रुतज्ञानरूपी

कला है। आहाहा! पूर्ण कला केवलज्ञान है। वह कला प्रगट न हो, तब तक **मति-श्रुतज्ञानादिरूप है;**... वह हीन कलारूप कला है। वह अनुभव अल्प है, हीन है। आहाहा!

ज्ञान की उस कला के आलम्बन से... आहाहा! **ज्ञान की उस कला के आलम्बन से ज्ञान का अभ्यास करने से...** अन्दर एकाग्रता करने से **केवलज्ञान..** कला **अर्थात् पूर्ण कला प्रगट होती है।** आहाहा! मोक्ष की इच्छा कहा तो वह केवलज्ञान लिया। उस केवलज्ञान की कला की प्राप्ति होती है, उस मतिज्ञान, श्रुतज्ञान की हीन कला से वह अति पूर्ण कला प्राप्त होगी। दूज उगी, वह पूर्णिमा लायेगी। आहाहा! दूज का प्रकाश जो है, वही पूर्णिमा का प्रकाश लायेगा। इसी प्रकार मति, श्रुत कला है, वही केवलज्ञान की कला प्रगट करने के योग्य है। आहाहा!

धवल में तो यहाँ तक कहा है कि जब आत्मा में से मति, श्रुतज्ञान हुआ, वह मतिज्ञान केवलज्ञान को बुलाता है। आहाहा! ऐसा पाठ है। हे भाई! यह मार्ग कहाँ है? ऐसा मनुष्यों को बुलावे न? इसी प्रकार इस केवलज्ञान को मतिज्ञान बुलाता है, आओ... आओ... आओ... आओ। अल्प काल में केवलज्ञान आओ, मैं तुझे पुकार करता हूँ, बुलाता हूँ। आहाहा! अथवा मैं तुझे स्मरण करता हूँ। है? तुझे—केवलज्ञान तो मैं स्मरण करता हूँ। मतिज्ञान में केवलज्ञान को स्मरण करते हैं। आहाहा! अल्प काल में केवलज्ञान (होगा)। आहाहा! पंचम काल के प्राणियों का पुकार तो देखो! आहाहा!

इस मतिज्ञान की हीन कला से केवलज्ञान की कला—पूर्ण कला प्रगट होती है। वह पूर्ण कला कहो या मोक्ष कहो, मोक्ष कहो या केवलज्ञान कहो। आहाहा! मोक्ष की पूर्ण कला मतिज्ञानादि की हीन कला से प्राप्त होती है, राग से नहीं—ऐसा यहाँ कहना है। राग के क्रियाकाण्ड से वह कला प्राप्त नहीं होती। क्योंकि राग कला, वह उसकी ज्ञानकला है ही नहीं। वह तो अन्धकार की कला है। आहाहा! उस तेरी चीज़ में भले हीनाधिक हो, मति-श्रुत हीन कला स्वरूप हो, परन्तु उससे केवलज्ञान की कला प्राप्त होगी। अर्थात् उस मति, श्रुतज्ञान की पर्याय से मोक्ष प्राप्त होगा। मोक्ष अर्थात् केवलज्ञान। तेरे राग और क्रिया से, कर्मकाण्ड से तो प्राप्त नहीं होगा। विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा-२०६

किञ्च -

एदम्हि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदम्हि।
एदेण होहि तित्तो होहदि तुह उत्तमं सोक्खं।।२०६।।
एतस्मिन् रतो नित्यं सन्तुष्टो भव नित्यमेतस्मिन्।
एतेन भव तृप्तो भविष्यति तवोत्तमं सौख्यम्।।२०६।।

एतावानेव सत्य आत्मा यावदेतज्ज्ञानमिति निश्चित्य ज्ञानमात्र एव नित्यमेव रतिमुपैहि। एतावत्येव सत्याशी: यावदेतज्ज्ञानमिति निश्चित्य ज्ञानमात्रेणैव नित्यमेव सन्तोषमुपैहि। एतावदेव सत्यमनुभवनीयं यावदेतज्ज्ञानमिति निश्चित्य ज्ञानमात्रेणैव नित्यमेव तृप्तिमुपैहि। अथैवं तव नित्यमेवात्मरतस्य, आत्मसन्तुष्टस्य आत्मतृप्तस्य च वाचामगोचरं सौख्यं भविष्यति।

तत्तु तत्क्षण एव त्वमेव स्वयमेव द्रक्ष्यसि, मा अन्यान् प्राक्षी:।।२०६।।

अब इस गाथा में इसी उपदेश को विशेष कहते हैं:-

इसमें सदा रतिवंत बन, इसमें सदा संतुष्ट रे।
इससे हि बन तू तृप्त, उत्तम सौख्य हो जिससे तुझे।।२०६।।

गाथार्थ : (हे भव्य प्राणी!) तू [एतस्मिन्] इसमें (ज्ञान में) [नित्यं] नित्य [रत:] रत अर्थात् प्रीतिवाला हो, [एतस्मिन्] इसमें [नित्यं] नित्य [सन्तुष्ट: भव] सन्तुष्ट हो और [एतेन] इससे [तृप्त: भव] तृप्त हो; (ऐसा करने से) [तव] तुझे [उत्तमं सौख्यम्] उत्तम सुख [भविष्यति] होगा।

टीका : (हे भव्य!) इतना ही सत्य (-परमार्थस्वरूप) आत्मा है, जितना यह ज्ञान है-ऐसा निश्चय करके ज्ञानमात्र में ही सदा ही रति (-प्रीति, रुचि) प्राप्त कर; इतना ही सत्य कल्याण है, जितना यह ज्ञान है-ऐसा निश्चय करके ज्ञानमात्र से ही सदा ही सन्तोष को प्राप्त कर; इतना ही सत्य अनुभव करने योग्य है, जितना यह ज्ञान है-ऐसा निश्चय करके ज्ञानमात्र से ही सदा ही तृप्ति प्राप्त कर, इस प्रकार सदा ही आत्मा में रत, आत्मा में सन्तुष्ट और आत्मा से तृप्त ऐसे तुझको वचनगोचर सुख प्राप्त होगा;

और उस सुख को उसी क्षण तू स्वयमेव देखेगा, *दूसरों से मत पूछ। (वह अपने को ही अनुभवगोचर है, दूसरों से क्यों पूछना पड़ेगा?)

भावार्थ : ज्ञानमात्र आत्मा में लीन होना, उसी से सन्तुष्ट होना और उसी से तृप्त होना परम ध्यान है। उससे वर्तमान आनन्द का अनुभव होता है और थोड़े ही समय में ज्ञानानन्दस्वरूप केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। ऐसा करनेवाला पुरुष ही उस सुख को जानता है, दूसरे का इसमें प्रवेश नहीं है।

प्रवचन नं. २८६, गाथा-२०६, शुक्रवार, ज्येष्ठ कृष्णा १०
दिनाङ्क १७-०८-१९७९

समयसार २०६ गाथा। **अब इस गाथा में इसी उपदेश को विशेष कहते हैं:-**

एदम्हि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदम्हि।
एदेण होहि तित्तो होहदि तुह उत्तमं सोक्खं।।२०६।।

इसमें सदा रतिवंत बन, इसमें सदा संतुष्ट रे।
इससे हि बन तू तृप्त, उत्तम सौख्य हो जिससे तुझे।।२०६।।

(हे भव्य!) तू ऐसा कर, ऐसा पाठ में कहा न? तो हे भव्य! निकाला है। तू ऐसा कर, ऐसा कहा है न? तो हे भव्य! आहा..! **इतना ही सत्य (-परमार्थस्वरूप) आत्मा है...** इतना ही परमार्थ—परमस्वरूप आत्मा है। **जितना यह ज्ञान है...** आत्मा, ज्ञानप्रमाण; ज्ञान, आत्माप्रमाण। आत्मा, ज्ञानप्रमाण और ज्ञान (आत्माप्रमाण)। आत्मा, ज्ञानप्रमाण और दर्शनप्रमाण आदि है और ज्ञानप्रमाण आत्मा। आत्मा ऐसे लें तो ज्ञानप्रमाण, दर्शनप्रमाण, आनन्दप्रमाण, परन्तु ऐसे लें तो ज्ञान, आत्माप्रमाण। जितना अन्दर ज्ञान है, उतना आत्मा है। जितने अन्दर दया, दान, व्रतादि विकल्प उठते हैं, वह आत्मा नहीं है। आहाहा! वह ज्ञानस्वरूप चैतन्यसूर्य चैतन्य के प्रकाश से प्रकाशित भगवान आत्मा, उतना वह आत्मा है कि जितना यह ज्ञान है। आहाहा!

---

* मा अन्यान् प्राक्षी: (दूसरों को मत पूछ) का पाठान्तर-माऽतिप्राक्षी। (अति प्रश्न न कर)

ऐसा निश्चय करके... ज्ञानस्वरूप आत्मा है—**ऐसा निश्चय करके ज्ञानमात्र में ही सदा ही रति...** ज्ञानमात्र भगवान आत्मा, उस ज्ञानमात्र में ही। निश्चय कहा। उस **ज्ञानमात्र में ही सदा ही...** सदा ही। आहाहा! **रति (-प्रीति, रुचि) प्राप्त कर;...** आहाहा! वहाँ तुझे भगवान मिलेंगे, कहते हैं। आहाहा! आत्मा, ज्ञानप्रमाण तो ज्ञान, वह आत्मा—ऐसा निश्चय करके उसमें रुचि कर, प्रेम कर, रति कर। आहाहा! प्रीति कर। यह बात है। बाकी सब व्यर्थ है। दुःखी.. दुःखी है। आहाहा! राग में आवे, वह भी दुःखी है। आहाहा!

यह ज्ञानमात्र इतना आत्मा है, ऐसा निश्चय करके। यह निर्णय करके ज्ञानमात्र में रति, प्रीति कर। राग और पुण्य, निमित्त की प्रीति छोड़ दे—ऐसे नास्ति से नहीं कहा, अस्ति से कहा। वह छोड़ दे, ऐसा नहीं कहा। इसमें प्रीति कर तो वह छूट जाती है। आहाहा! ऐसा कठिन। उस **ज्ञानमात्र में ही...** राग का विकल्प उठे, वह कहीं आत्मा नहीं है; वह तो अनात्मा है, अजीव है। दया, दान का विकल्प उठे, भक्ति, पूजा (का), वह विकल्प तो अजीव है, वह जीव नहीं, प्रभु! आहाहा!

ज्ञानमात्र में ही... आत्मा इतना है, ऐसा निश्चय करके इतने में-ज्ञानमात्र में तू प्रीति कर। अस्ति से बात की है। राग की प्रीति छोड़ दे और निमित्त की प्रीति (छोड़ दे)। देव-शास्त्र-गुरु ऐसा कहते हैं। आहाहा! देव, गुरु और शास्त्र ऐसा कहते हैं कि तू ज्ञानमात्र है, वहाँ प्रीति कर; हमारी प्रीति छोड़ दे। आहाहा! तेरा भगवान चैतन्य शीतलचन्द्र है। जैसे शीतल ऐसे अनन्त चन्द्र की शीतलता (होती है) परन्तु वह शीतलता जड़ की है। यह तो शान्त चैतन्य चन्द्रमा की शीतलता शान्ति, उस शान्ति से भरपूर है, ज्ञान से - ऐसे ज्ञानप्रधान कथन है।

इससे आत्मा, वह ज्ञानप्रमाण-ऐसा निश्चय करके। आत्मा, वह आनन्दप्रमाण; आत्मा, वह शान्तिप्रमाण; आत्मा, वह वीतरागस्वभावप्रमाण। आहाहा! ऐसा निश्चय करके... ज्ञानप्रधान से कथन है। आहाहा! **सदा...** निश्चय करके करना क्या? **ज्ञानमात्र में ही सदा...** अन्तर प्रेम कर। आहाहा! दृष्टि के ध्येय में ज्ञानमात्र आत्मा लगा, वहाँ प्रीति कर, वहाँ रति कर। आहाहा! वहाँ रुचि कर।

दूसरा बोल, **इतना ही सत्य कल्याण है...** पहले (ऐसा कहा), उतना ही सत्य आत्मा है, ऐसा कहा था कि जितना ज्ञान है। अब (कहते हैं) इतना ही सत्य कल्याण है... आहाहा! **इतना ही सत्य कल्याण है, जितना यह ज्ञान है...** जितना ज्ञान है, उतना ही कल्याण है, अन्दर स्वरूप। कल्याणस्वरूप, वह ज्ञानस्वरूप है, वह कल्याणस्वरूप है। आहाहा! तुझे कल्याण करना हो तो कल्याणस्वरूपी आत्मा है। आहाहा! सत्य कल्याण इतना है, जितना यह ज्ञान है। यह ज्ञान, कल्याणस्वरूप है। **ऐसा निश्चय करके...** ओहो..! ऐसा निर्णय करके **ज्ञानमात्र से ही...** आत्मा इतना कल्याण है कि जितना ज्ञान है। आहाहा!

ऐसा निश्चय करके ज्ञानमात्र से ही... एकान्त, सम्यक् एकान्त (किया)। **सदा ही सन्तोष को प्राप्त कर;...** किसी समय भी राग में आकर सन्तोष न कर। आहाहा! वहाँ सन्तोष नहीं है। कल्याणस्वरूप भगवान आत्मा जितना ज्ञानस्वरूप है, ऐसा निर्णय करके **सदा ही सन्तोष को प्राप्त कर;..** यह सन्तोष, हों! बाहर के पच्चीस लाख में से पाँच लाख घटाये, इसलिए सन्तोष, वह सन्तोष नहीं। आहाहा! **सन्तोष को प्राप्त कर;...** कार्य। आहाहा! सन्तोष.. सन्तोष, आनन्द की दशा की प्राप्ति में सन्तोष। आहाहा! प्राप्त कर।

यह गाथा बहुत सरस है। २०६ (गाथा) मक्खन है, बापू! यह वाँचन, श्रवण और मनन में भी विकल्प उठता है, वह आत्मा नहीं है। आहाहा! इतना आत्मा कि जितना ज्ञान; इतना आत्मा कि जितना कल्याण। जितना ज्ञान, उतना कल्याण, त्रिकाल। आहाहा! यहाँ तो पर्याय से दृष्टि छोड़ दे। ज्ञानमात्र त्रिकाल है, वहाँ रति कर, सन्तोष कर। आहाहा! यह कल्याण वहाँ है। आहाहा!

इतना ही सत्य अनुभव करने योग्य है... आहाहा! अस्ति से बात की है। दया, दान, व्रतादि के विकल्प का अनुभव करनेयोग्य नहीं है। वह तो राग का वेदन है। आहा..! परम सत्य यह है। लोगों को (कठिन) लगता है, (क्योंकि) अभ्यास नहीं, अन्तर चीज़ की महिमा नहीं। अन्दर प्रभु कौन है? प्रभु तो ऐसा कहते हैं कि तेरी प्रभुता में तू प्रीति कर। तेरे ज्ञानस्वभाव में प्रीति, वहाँ सन्तोष कर। तेरा कल्याण वहाँ है। आहाहा! मेरे सामने देखेगा तो, प्रभु! तुझे राग होगा, प्रभु ऐसा कहते हैं। आहा..! तेरा भगवान आत्मा इतना ही सन्तोष करनेयोग्य है और इतना ही अनुभव करनेयोग्य है, देखो।

इतना ही सत्य... आहाहा! बाकी व्यवहाररत्नत्रय आदि का विकल्प भी असत्य है। आहा..! बहुत सूक्ष्म, कठिन। लोगों को फुर्सत नहीं और अपनी चीज़ की कितनी महिमा है, महान शक्तियों का भण्डार भगवान... आहाहा! ऐसा हीरा कहीं है नहीं। मैं ही हीरा हूँ। लो, और तुम्हारा हीरा आया। आहाहा! ज्ञानप्रमाण आत्मा है। यह पहले एक बार प्रवचनसार में आ गया है। आत्मा, ज्ञानप्रमाण; ज्ञान, ज्ञेयप्रमाण; ज्ञेय, लोकालोकप्रमाण। भगवान आत्मा, ज्ञानप्रमाण; ज्ञान, ज्ञेय को पूर्ण जाने, ऐसे ज्ञेयप्रमाण; ज्ञेय, लोकालोक प्रमाण। आहाहा! लोकालोक को जाने, वैसा ज्ञानप्रमाण आत्मा है। वह तो पर्याय में, हों! वस्तु तो त्रिकाल है। आहाहा!

इतना ही सत्य... बाकी रागादि तो असत्य हैं। आहा..! देव-गुरु-धर्म ऐसा कहते हैं कि तू इतना सत्य है। यह परमार्थस्वरूप सत्य, वह अनुभव करनेयोग्य है। आहा..! देव, सर्वज्ञ परमात्मा परमगुरुसर्वज्ञदेव परमगुरु ऐसा कहते हैं कि प्रभु! इतना ही सत्य अनुभव करनेयोग्य है कि जितना तू ज्ञानप्रमाण है। आहाहा! मेरी ओर का लक्ष्य करके भी अनुभव करनेयोग्य तू नहीं है। अरे! ऐसी बात वीतराग की है, भाई! आहाहा! परमात्मा त्रिलोकनाथ तीर्थंकर और उनके सन्त, केवलज्ञान के पथानुगामी, वे ऐसा कहते हैं कि प्रभु! इतना सत्य अनुभव करनेयोग्य है। हमारी ओर देखकर अनुभव करनेयोग्य नहीं है। आहाहा!

तेरा आत्मा, ज्ञानप्रमाण है, उतना अनुभव करनेयोग्य है कि जितना यह ज्ञान है। आहाहा! त्रिकाल ज्ञान है, वही अनुभव करनेयोग्य है। आहाहा! इस संसार के काम कब करना फिर? आहाहा! भाई! तू तो ज्ञेय का ज्ञाता है न, नाथ! इन ज्ञेय का कार्य करूँ, ऐसा तू नहीं है। इन ज्ञेय का व्यवहार से ज्ञाता है। आहाहा! निश्चय से तो तू तेरी पर्याय का और द्रव्य-गुण का ज्ञाता है और व्यवहार से पर का, परज्ञेय का ज्ञाता (कहा जाता है) परन्तु उस ज्ञेय का हित करनेयोग्य है और उस ज्ञेय से आत्मा को लाभ होता है, ऐसी चीज़ नहीं है। आहाहा! ज्ञेय को जाननेवाला ज्ञानस्वरूप भगवान। यह ज्ञान, वह शास्त्रज्ञान नहीं है। जिसका स्वभाव ज्ञानस्वभाव। चैतन्य प्रकाशस्वभाव आत्मा, उतना अनुभव करनेयोग्य है। समझ में आया? आहाहा! ऐसी बात है।

यह एकान्त लगे परन्तु एकान्त ही है। 'ही' आया न? (इसलिए) सम्यक् एकान्त।

आहाहा! निश्चयनय सम्यक् एकान्त है और सम्यक् एकान्त हित में लिये प्रगट हुई दशा, पश्चात् वह दशा रागादि पर्याय को जाने, वह अनेकान्त है। आहा..! श्रीमद् में आता है न 'अनेकान्त भी सम्यक् एकान्त, ऐसे निजपद की प्राप्ति के अतिरिक्त अन्य प्रकार से हितकारी नहीं है।' प्रभु! आहाहा! श्रीमद् कहते हैं। अनेकान्त भी; पर्याय है, गुणभेद है, राग है, वह अनेकान्त भी सम्यक् एकान्त की निजपद की प्राप्ति के अतिरिक्त वह अनेकान्त भी हितकारी नहीं है। आहाहा! अरे रे! ऐसा सुनने को मिलना मुश्किल पड़े। महापुण्य का योग हो, तब तो यह सुनने को मिले, तथापि यह कहते हैं कि सुनने को मिला, वह सुनने का विकल्प आया, वह अनुभव करनेयोग्य नहीं है। आहाहा!

आहाहा! **इतना ही सत्य अनुभव करने योग्य है, जितना यह ज्ञान है...** त्रिकाल स्वभाव। **ऐसा निश्चय करके ज्ञानमात्र से ही सदा...** देखो! ज्ञानमात्र से ही सदा ही - (ऐसा कहकर) सम्यक् एकान्त किया है। सदा ही.. सदा ही..। आहाहा! किसी क्षण में भी राग का अनुभव करनेयोग्य नहीं है। आहा..! राग आता है परन्तु अनुभव करनेयोग्य तो यह चीज़ है।

ज्ञानमात्र से ही सदा ही तृप्ति प्राप्त कर,... तृप्ति.. तृप्ति.. तृप्ति। आहाहा! जैसे क्षुधा बहुत लगी हो और फिर चूरमे के लड्डू और अरबी के भुजिया (खाये तो) तृप्ति.. तृप्ति.. तृप्ति.. (होती है)। आहाहा! हें?

मुमुक्षु : थोड़ी देर बाद...

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो थोड़ी देर हो, वहाँ दस्त हो जाये। आहाहा!

यह (आत्मा) तो आनन्द का नाथ प्रभु, ज्ञानमात्र का, ज्ञान की प्रधानता से कथन है परन्तु आत्मा, आनन्दप्रमाण है और आनन्दप्रमाण, आत्मा है। समझ में आया? ऐसे अनन्त गुणप्रमाण आत्मा है और आत्मा अनन्त गुणप्रमाण है तथा अनन्त गुण, आत्माप्रमाण है। आहाहा! ऐसा निश्चय करके वहाँ तृप्ति प्राप्त कर, तृप्ति प्राप्त कर, वहाँ तृप्ति प्राप्त कर। आहाहा! रति प्राप्त कर, सन्तोष प्राप्त कर, तृप्ति प्राप्त कर - यह तीन बोल लिये हैं। आहाहा! यह तुम्हारे रुपये में तो पाँच करोड़, दस करोड़, बीस करोड़, अरब आवे तो भी सन्तोष नहीं। धूल में अकेला पाप है। आहाहा! ए... हसमुखभाई! आहाहा!

आहाहा! भगवान आत्मा ज्ञानप्रमाण में प्रेम कर, ज्ञानप्रमाण में सन्तुष्ट हो, ज्ञानप्रमाण में अनुभव करके तृप्ति कर। आहाहा! पहले ज्ञान में यह निर्णय तो करे कि वस्तु यह है और अन्तर में अनुभव करनेयोग्य चीज़ हो तो वह आत्मा है। आहाहा! वेदन, वेदन, वेदन करनेयोग्य हो तो यह आत्मा है। आहाहा! और वहाँ आगे सन्तोष है, वहाँ प्रेम कर, तुझे आनन्द आयेगा, कहते हैं। आहा..! ऐसा कहते हैं। आहाहा! **तृप्ति प्राप्त कर,...** आहाहा!

इस प्रकार... इस प्रकार **सदा ही आत्मा में रत,...** इन बोलों का योगफल करते हैं। **सदा ही आत्मा में रत,...** आहाहा! सदा आत्मा में लीन **आत्मा में सन्तुष्ट और आत्मा से तृप्त...** आहाहा! ऐसा भगवान आचार्य सन्त जगत को उसकी ऋद्धि की प्रसिद्धि करते हैं। आहा..! प्रभु! तेरी ऋद्धि तो आनन्द है न, नाथ! तेरी सम्पत्ति ज्ञान और आनन्द वह तेरी सम्पत्ति है। आहाहा! राग भी नहीं तो बाहर की लक्ष्मी-धूल तो कहीं रह गयी। आहाहा! **इस प्रकार सदा ही आत्मा में रत, आत्मा में सन्तुष्ट और आत्मा से तृप्त ऐसे तुझको...** आहाहा! भगवान! तुझे ज्ञानप्रमाण, आनन्द और सन्तोष करने से **वचनअगोचर सुख प्राप्त होगा;...** वह वचनगम्य नहीं, नाथ! ऐसे आनन्द की शान्ति तुझे प्राप्त होगी। अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति होगी। आहाहा! यह सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र है। ऐसा लोगों को एकान्त लगता है। भई! यह करना परन्तु इसका कोई साधन है या नहीं? हें?

मुमुक्षु : वह आवे सही न?

पूज्य गुरुदेवश्री : आवे, वह तो निमित्त का कथन है। आहाहा! जैसे निश्चय - सम्यग्दर्शन, ज्ञानमात्र आत्मा का अनुभव हुआ, उसमें प्रतीति (हुई), वह निश्चयसम्यग्दर्शन है। बाकी राग रहा, उसे व्यवहारसम्यक्त्व का आरोप (किया है)। आरोप का अर्थ (यह कि) वह सम्यक्त्व है नहीं परन्तु निश्चयसम्यक्त्व के साथ में राग है तो व्यवहारसम्यक्त्व का आरोप (किया है)। है तो वह राग; चारित्र का दोष, उसे व्यवहारसम्यक्त्व कहा गया है। आहाहा! समझ में आया? ऐसे साधन, साधक। अपने स्वरूप का अनुभव हुआ, तब जो राग मन्द था, वह साधकपना अन्दर प्रगट हुआ, तब राग जो मन्द है, उसे व्यवहार साधक का आरोप आया। व्यवहार साधक कहने में आया। जयसेनाचार्य में यह शब्द बहुत है। यह लोग कहते हैं। आहाहा!

यह ३२० गाथा चली न ? इन्दौर में एक बंशीधरजी थे न ? पण्डित बंशीधरजी, यहाँ आ गये थे, तब कितनी ही बात तो उन्हें बहुत जँचती थी। अन्त में कलकत्ता आये, तब तो ऐसा भी बोल गये थे, अब तो मुझे वहाँ रहने का विचार है अन्तिम घड़ी में। परन्तु वापस गंगा किनारे गंगा जैसे (बदल गये)। आँख में आँसू, व्याख्यान देकर नीचे उतरा। कलकत्ता, मोटर के निकट आये और (कहा) अब तो मुझे अन्तिम पूरी जिन्दगी वहाँ रहने का भाव है। अब एक बार ऐसा कहते थे। यहाँ हाँ करे, वहाँ फिर एक बार ऐसा कहते थे कि यह ३२० गाथा की जयसेनाचार्य की टीका क्यों पसन्द की ? दूसरे अधिकार उसमें हैं, साधक-साधन हैं, अमुक है और वह नहीं (लिया) और यह गाथा क्यों पसन्द की ? परन्तु उनकी दृष्टि से अनुकूल है, इसलिए यह पसन्द की, ऐसा बोले थे। अरे! भाई! ऐसा बोले थे। नहीं तो जयसेनाचार्य की टीका में व्यवहार बहुत है। व्यवहार, साधक है; निश्चय, साध्य है, व्यवहार से निश्चय होता हैऐसा कथन बहुत (आता है)। वह तो निमित्त का ज्ञान कराने को (कहा है) जब आत्मा स्वभाव का साधक होकर शान्ति और आनन्द की प्राप्ति हुई, तब राग जो मन्द था, उसे आरोप से साधक कहा। जैसे निश्चयसम्यक्त्व हुआ, तब राग को व्यवहारसम्यक्त्व का आरोप कहा; वैसे राग से भिन्न पड़कर आत्मा का अनुभव हुआ, तब राग बाकी रहा, उसे व्यवहार साधक कहा। अब क्या हो? भाई! समझ में आया? जयसेनाचार्य की टीका में बहुत आता है। व्यवहार, साधक; निश्चय साध्य। आहाहा! तब उन्होंने ऐसा कहा कि यह अधिकार नहीं लिया और यह ३२० गाथा क्यों पसन्द की ? ऐसा कहा। उनकी दृष्टि से यह अनुकूल है तो यह पसन्द की। परन्तु वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है, प्रभु! ५०-५०, ६०-६० वर्ष तक दूसरे अंक (पढ़ाई) घोंटे हों। व्यवहार से होता है, शुभराग होवे तो होता है।

अभी कलश टीका बनायी है न ? जगन्मोहनलाल। ऐसे दूसरी लाईन कितनी ही ठीक रखी है परन्तु उसमें अन्तिम योगफल यह रखते हैं कि शुभभाव करते-करते यह (निश्चय) होता है क्योंकि स्वयं प्रतिमा के धारक हैं। अरे! प्रभु! यह क्या करता है ? क्या कहलाता है ? गाथा (कलश) की टीका की है न ? 'अध्यात्म अमृत कलश' पुस्तक है न यहाँ ? जैसे वह राजमलजी की टीका है न, वैसे इन्होंने पूरी टीका, सब श्लोकों की टीका बनायी है परन्तु उसमें यह एक डाला है कि उसे अन्त में शुभ उपयोग होता है, जब शुद्ध

(उपयोग) होता है तब, इसलिए शुभ उपयोग साधन है क्योंकि जब वह शुभ से हटकर अन्तर में अनुभव में जाता है, तब अन्तिम उसे शुभ उपयोग होता है, इसलिए उसे साधन कहा जाता है। आहाहा! ऐसा नहीं है। उससे छूटा, तब साधन कहाँ से आया? राग की रुचि छूटी और ज्ञान की रुचि, दृष्टि, अनुभव हुआ, वहाँ राग का साधकपना कहाँ रहा? आहाहा! समझ में आया? उससे तो भिन्न पड़कर अनुभव किया तो साधनपना कहाँ रहा? परन्तु जब अनुभव के साथ सन्तोष हुआ, ज्ञानमात्र आत्मा—ऐसा अनुभव में सन्तोष हुआ, तब राग बाकी था, उसे व्यवहार साधक का आरोप करके कथन किया है। इसके अतिरिक्त उल्टा -सुल्टा कुछ करने जाये तो पूरा तत्त्व बदल जायेगा। आहाहा! उसमें कथन बहुत है, खबर है न, जयसेनाचार्य की टीका।

परन्तु अन्त में तो ३२० गाथा में तो कहा... आहाहा! कि ज्ञानी-धर्मी त्रिकाल निरावरण सकल निरावरण अखण्ड एक प्रत्यक्ष प्रतिभासमय अविनश्वर शुद्ध पारिणामिक परमभाव लक्षण निज परमात्मद्रव्य वह मैं हूँ - ऐसा अनुभव कर। निज परमात्मद्रव्य मैं हूँ। पर्याय भी नहीं, तो राग तो कहीं रह गया। आहाहा! पर्याय ऐसा कहती है कि त्रिकाली सकलनिरावरण एक परमात्मद्रव्य वह मैं हूँ, वह मैं हूँ। आहाहा!

ऐसे तुझको वचनगोचर सुख प्राप्त होगा;... कब? यह ज्ञानस्वरूप मैं हूँ, ऐसा अनुभव करने से। यह राग था, उसकी मदद है—ऐसा नहीं है। आहाहा! अब इसमें पैसा और धन्धा के कारण निवृत्ति कहाँ है? बापू! आहाहा!

मुमुक्षु : आप कोई उपाय बताओ।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह उपाय है, बापू! उससे रुचि बदलना और पर्याय को त्रिकाली की रुचि कराना। पर्याय को पर की रुचि ऐसी है, उस पर्याय में पर्याय को त्रिकाल की रुचि कर। क्योंकि कार्य, रुचि और सन्तोष तो पर्याय में होता है न? हैं? आहाहा! द्रव्य तो जो है, वह है परन्तु यह द्रव्य ज्ञान पूर्ण है, कल्याणस्वरूप पूर्ण है, यह तो पर्याय जानती है। द्रव्य तो ध्रुव है। समझ में आया? आहाहा! और तुझे सुख प्राप्त होगा, प्रभु! तू सुख के पन्थ में जाएगा। आहाहा! अनादि राग के पन्थ में, दुःख के पन्थ में है, प्रभु! वह अन्तर के ज्ञानमात्र आत्मा के अनुभव में सुख के पन्थ में तेरी दृष्टि—पन्थ वहाँ बँध गया। सुख के पन्थ

में चला जाएगा। आहाहा! राग के पन्थ में, दुःख के पन्थ में प्रभु! तू अनादि से दौड़ गया है। आहाहा! यह हीरा, माणिक के धन्धे का विकल्प दुःखपन्थ है, ऐसा कहते हैं। ऐसा है।

मुमुक्षु : पर्याय को फिराये बिना छुटकारा नहीं। दूसरा कुछ उपाय है?

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा है। वह कुछ दूसरा होता ही नहीं। दान में तो बहुत पैसा खर्च करते हैं, वहाँ हमारा आवास उस समय था न? तो एक लाख साठ हजार तो जयन्ती में खर्च किये और एक लाख यहाँ अभी दिये। पैसे बहुत थे। यह तो राग की मन्दता हो, शुभ, पुण्य है।

मुमुक्षु : आपके जैसे गुरु तो मिले न!

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो संयोगी भाव है, तो संयोग मिले परन्तु यहाँ स्वभाव का भाव प्राप्त हो, वह संयोग के कारण से प्राप्त होगा? संयोग देव-गुरु-शास्त्र का मिले, लो! परन्तु उस संयोग से असंयोगी स्वभाव का लाभ होगा? आहाहा!

मुमुक्षु : संयोग तो प्रभु वर्तमान में मिलता ही है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसी बात है।

वह इस मोरबी के एक भाई थे, वे ऐसा कहते थे। दलीचन्दभाई के भाई की बहू थी न? विधवा थी, वह बह गयी। उसके रिश्तेदार होते होंगे? घडियाली के? उसकी बुआ, बुआ कहते, ऐसा कोई कहता था। दलीचन्दभाई के छोटे भाई थे। छोटी उम्र में विधवा (हो गयी)। दूसरा एक गाँव है, वहाँ उसका मकान था। कौन सा गाँव कहलाता है उसे? 'सनाला'। सनाला में उनका मकान है, वहाँ उतरे थे। सनाला में एक शक्ति का मन्दिर है। अन्यमति की शक्ति का मन्दिर है। मैं आहार करके घूमा। नजदीक था, वहाँ मैं गया, वहाँ एक बाबा बैठा था। पधारो... पधारो... पधारो... मैंने कहा, यह शक्ति वह नहीं। शक्ति तो ज्ञान और आनन्द शक्ति देवी है, उसकी पूजा कर, ऐसा कहा। वहाँ उतरे थे, मोरबी से सनाला। वहाँ बेन का मकान था। छोटी उम्र में विधवा हुई। यहाँ दलीचन्दभाई है न? आहाहा! वे कहें, बह गयी। इस बार उसके घर गये अवश्य थे, मोरबी गये तब। पलंग-खाट में थी, वे चल सकी नहीं, पानी का जोर एकदम आया (तो) पानी में बह गयी। बाकी

मुमुक्षु मण्डल में दूसरे को कुछ (नुकसान) हुआ नहीं। आहाहा! ऐसी स्थिति। अरेरे! बाहर में डूब मरे, उसकी अपेक्षा अन्तर में डूबकर जी, न!

भगवान ज्ञान का समुद्र भरा है न, नाथ! अनन्त-अनन्त शान्ति और आनन्द का सागर। आहाहा! कल तो दोपहर में बहुत नहीं आया था? प्रभु! अनन्त मुख करूँ, प्रभु! और एक-एक मुख में अनन्त जीभ करूँ। तेरे गुण का पार नहीं आता, प्रभु! आहाहा! तो भी रात्रि में दूसरा दिया, १५० में आया था, हे प्रभु! तेरे गुण की दशा की संख्या क्या कहूँ? यह धरती पूरी पृथ्वी का कागज बनाऊँ और समुद्र के जल की स्याही बनाऊँ, आहाहा! और पूरी वनस्पति की कलम बनाऊँ, तो भी प्रभु! तेरे गुण लिखे नहीं जा सकते। आहाहा! कल एक भक्ति में हिम्मतभाई ने नहीं गाया था? उसके सामने १५० पृष्ठ पर यह है। उस समय निकाला था, रात्रि में बताया था। आहाहा! पूरी धरती का कागज, पूरे समुद्र के जल की स्याही और पूरी वनस्पति, वनराज की सब कलमें (बनाऊँ)... आहाहा! परन्तु प्रभु! तेरे गुण की संख्या नहीं लिखी जा सकती। आहाहा! ऐसे गुण का समुद्र भरा है न, प्रभु तू। आहाहा! वहाँ जा न नाथ! वहाँ सन्तोष कर, वहाँ प्रेम कर। उसे अनुभवने योग्य बना। आहाहा! भारी कठिन काम। अकेला व्यवहार के रसिया हों, उन्हें तो ऐसा होता है। आहाहा! व्यवहार तो क्या राग कुछ घटावे, बाहर से छोड़ा, यह छोड़ा। उसमें भला क्या हुआ? मिथ्यात्व तो पूरा पड़ा है। आहाहा!

पहले त्याग में त्याग तो मिथ्यात्व का चाहिए, उसके बदले पहले अन्य त्याग करके माने। आहाहा! क्या हो? वह मिथ्यात्व का त्याग तो इस प्रकार से होता है। आत्मा ज्ञानमात्र है, उसमें प्रीति कर, उसमें सन्तुष्ट हो, उसे कल्याणरूप मान और उसमें तुझे आनन्द और तृप्ति होगी। आहाहा! और वैसा सुख तू स्वयं अनुभव करेगा, किसी को पूछना नहीं पड़ेगा। आहाहा! है?

उस सुख को उसी क्षण तू स्वयमेव देखेगा,... आहाहा! उस सुख को-अतीन्द्रिय आनन्द को **उसी क्षण**... उसी क्षण में **तू स्वयमेव**... स्वयं ही। 'एव' का (अर्थ) ही। स्वयमेव ही देखेगा। आहाहा! है न? **स्वयमेव**... है। स्वयं-एव—स्वयं ही। तुझसे तुझे स्वयं ही अनुभव ख्याल में आ जाएगा। आहाहा! अरे! बाहर की सिरपच्ची और

आहाहा! पाप के भाव तथा पुण्य के भाव कर-करके तू हैरान हो गया है। भगवान है, वह तो पुण्य-पाप के विकल्प से पार है। स्वभाव से भरपूर है और विकल्प से पार है। जो विकल्प से पार है, वह विकल्प से मिलेगा? जिससे रहित है, उससे वह मिलेगा? आहाहा! ऐसा मार्ग है। सम्प्रदाय को कठिन पड़ता है। अभी सम्प्रदाय ऐसे चल गये हैं और यह सोनगढ़िया... सोनगढ़िया, ऐसा कहते हैं। अरे! प्रभु! क्या करता है? यह सोनगढ़ का नहीं, बापू! आहाहा!

प्रभु! यह तो तेरे घर की बात है। परघर में से निकलकर स्वघर में जाना, इसकी यह बात है। आहाहा! तेरा घर तो प्रभु! ज्ञान से भरपूर घर है न! अकेला ज्ञान का पुंज, चैतन्य का सूर्य, चैतन्यचन्द्र शीतलता का भरपूर भगवान। आहाहा! उसके ऊपर नजर कर न, नाथ! वहाँ निधान पड़ा है। आहाहा! उसका पहले विश्वास तो ला कि यह भगवान पूर्णानन्द का नाथ अनन्त गुण का सागर है। विश्वास करके, विश्वास से जहाज तिरेंगे तो अन्दर में जाया जाएगा। आहाहा! कहो, हसमुखभाई! ऐसी बाते हैं, बापू! कहीं मुम्बई में मिले, ऐसा नहीं है। छह भाई बैठकर बातें करो तो यह मिले, ऐसा वहाँ नहीं है। आहाहा! ऐसी बात, प्रभु! आहाहा! अमृत का सागर उछलता है। आहाहा!

अमृत के सुख के भण्डाररूप स्वरूप की रुचि कर, उसकी प्रीति कर, उसका सन्तोष कर, वह कल्याणस्वरूप है, उससे तृप्त हो। आहाहा! तुझे वहाँ आनन्द आयेगा, प्रभु! आहाहा! ऐई! आहाहा! इससे (अधिक) क्या कहें? आहाहा! उसका अभी विश्वास और प्रतीति नहीं होती। व्यवहार की प्रतीति और उससे (मिलेगा, ऐसा माने)। अरे! प्रभु! जो तुझमें है नहीं, उसका तुझे भरोसा और है, उसका भरोसा नहीं! आहाहा!

उस सुख को उसी क्षण तू स्वयमेव देखेगा, दूसरों से मत पूछ। (वह अपने को ही अनुभवगोचर है, दूसरों से क्यों पूछना पड़ेगा?) एक न्याय यह दिया है। नीचे इसका दूसरा एक अर्थ है। **'मा अन्यान् प्राक्षीः'** (दूसरों को न पूछ) का पाठान्तर— **'माऽतिप्राक्षीः'** (अति प्रश्न न कर)। अब बहुत विशेष प्रश्न न कर, ऐसा कहते हैं। है नीचे? आहाहा! दूसरों को न पूछ और अब अति प्रश्न न कर। आहाहा!

तीन लोक के नाथ तीर्थंकर सर्वज्ञ परमात्मा, वे दिव्यध्वनि द्वारा ऐसा कहते हैं, उसे

सन्त वाणी द्वारा जगत को प्रसिद्ध करते हैं। आहाहा! तीन लोक के नाथ सीमन्धर भगवान समवसरण में दिव्यध्वनि में से यह आया था। आहाहा! यह सन्तों ने अनुभव कर बाहर में जगत के लिये रखा है। आहाहा! यह भगवान का सन्देश है। हम भगवान के पास गये थे। हमने भगवान के दर्शन किये, सन्त ऐसा कहते हैं। आहाहा! हमें भगवान का साक्षात्कार हुआ, हमने भगवान की वाणी आठ दिन सुनी। कुन्दकुन्दाचार्य सप्ताह आता है न? समवसरण में सप्ताह रखते हैं न? अपने समवसरण स्तुति में सप्ताह का आठ दिन। वह तीन लोक के नाथ ऐसे सन्देश कहलवाते हैं। आहाहा!

प्रभु! तू पूर्णानन्द का नाथ तू है न! ज्ञान से भरपूर, आनन्द से भरपूर, शान्ति से (भरपूर)। शान्ति अर्थात् चारित्र, आनन्द अर्थात् सुख। स्वच्छता से भरपूर, प्रभुता से भरपूर, ईश्वरता के गुणों से पूर्ण भरपूर है। आहाहा! यह ज्ञानमात्र कहो या ईश्वरमात्र कहो। प्रभु! प्रभुता की पूर्णतामात्र भगवान आत्मा है। आहाहा! उसकी रुचि कर, प्रभु! रुचि वहाँ पोषाण (कर), पोषाण में वह ले। तुझे दूसरा पोसाता है, उसे छोड़ दे। यह हमें पोसाता है और यह माल हमें पोसाता है। हीरे पचास हजार के लावे परन्तु यहाँ साठ हजार उपजे तो लावे न? पचास हजार के चालीस हजार आते हों तो लाते होंगे? आहाहा! यहाँ आत्मा का पोषाण लाओ। आहाहा! अरे! तुझे राग के पोषाण में ठीक लगता है परन्तु वह तो नुकसानकारक है, भाई! आहाहा! तेरे प्रभु को पोषाण में ले। वह पोसाता है, ऐसा ले। आहाहा! ऐसी बात है। अधिक लोगों में तो यह बात कठिन पड़े लोगों को। क्या हो? भाई! मार्ग यह है, बापू! अनन्त तीर्थंकर, अनन्त केवलियों को यह आवाज-दिव्यध्वनि है। दूसरों को न पूछ अथवा अति प्रश्न न कर। करने तो यह है। अब वहाँ जा। आहाहा! गाथा बहुत (अच्छी आयी), अकेला माल (भरा है)।

भावार्थ : ज्ञानमात्र आत्मा में लीन होना,... उस रति का अर्थ लीन किया। **ज्ञानमात्र आत्मा में लीन होना,...** आहाहा! ज्ञान जानने के स्वभावस्वरूप भगवान, ज्ञान, स्वभाव और भगवान, स्वभाववान। ज्ञान, स्वभाव और भगवान स्वभाववान। आनन्द, स्वभाव और भगवान आनन्दस्वभाववान। तो कहते हैं कि आनन्दस्वभाववान ऐसा भगवान, उसमें लीन हो। आहाहा! भाव का भाववान प्रभु। भाव का भाववान। यह भाव उसका रूप है। आहाहा! वहाँ लीन हो। आहाहा!

उसी से सन्तुष्ट होना... उससे ही सन्तुष्ट होना। आहाहा! **और उसी से तृप्त होना परम ध्यान है।** वह परम ध्यान है। आहाहा! मूल तो यह ध्यान है, ऐसा कहते हैं। यह विकल्प छूटकर यह स्वभाव ऐसा है, वह तो अन्दर ध्यान में आता है, कहते हैं। निर्विकल्पदशा-ध्यान, ध्यान में यह आवे। कोई विकल्प की विचारधारा चलती हो और यह निर्विकल्प दृष्टि में आवे, ऐसे नहीं आवे। आहाहा! उसके स्वभाव का ध्यान। उस ध्यान की दशा का यह वर्णन है। आहाहा!

परम ध्यान... भाषा देखी? आहा! आत्मा में लीन कब होता है? ध्यान में अन्दर लीन होता है। आहाहा! तब वह संकल्प-विकल्प की विचारधारा नहीं रहती। समझ में आया? इन्होंने भी स्पष्टीकरण कैसा सरस (किया है)! टीकाकार भी कितना स्पष्ट सत्य को रखते हैं! उसमें लीन हो, परन्तु लीन हो का अर्थ कि उसका ध्यान कर, तब लीन हुआ जाए। आहाहा! तेरे ध्यान में पर के लक्ष्य में ढला हुआ ध्यान है, वह तो आर्तध्यान और रौद्रध्यान है। आहाहा!

निश्चय धर्मध्यान। धर्मध्यान के दो प्रकार। रागादि को व्यवहार कहा जाता है परन्तु निश्चय धर्मध्यान अन्दर वस्तु का ध्यान, वह धर्मध्यान है। आहाहा! धर्मध्यान होता है? ऐसा पूछे। व्रतादि पाले (तो पूछे)। ऐसा है न स्थानकवासी में? धर्मध्यान होता है? तो कहे, हाँ। सामायिक, प्रौषध, प्रतिक्रमण की क्रिया करे, वह धर्मध्यान। बापू! वह नहीं, भाई! जहाँ धर्म का धारक धर्मी स्थित है, वहाँ उसका ध्यान लगा। आहाहा! द्रव्य और गुण तो परिपूर्ण पड़े हैं, परिपूर्ण! वहाँ ध्यान लगा तो पर्याय में तुझे पूर्ण प्राप्ति होगी। आहाहा! पहले तो पूर्ण स्वरूप की प्राप्ति ध्यान में (होती है)। ध्यान की अपूर्ण दशा है, उसमें होगी और फिर ध्यान करते-करते पूर्ण पर्याय की प्राप्ति होगी। आहाहा!

उससे वर्तमान आनन्द का अनुभव होता है... यह तो वर्तमान उससे, ज्ञानमात्र भगवान का ध्यान करने से, ध्यान में 'एकाग्र चिन्ता निरोधो ध्यानं' 'एकाग्र चिन्ता निरोधो ध्यानं'। एक अग्र अर्थात् मुख्य वस्तु को दृष्टि में लेकर अन्दर एकाग्र होना और चिन्ता अर्थात् विकल्प का निरोध हो जाना। आहाहा! एकाग्र चिन्ता। 'एकाग्र चिन्ता निरोधो ध्यानं' आहाहा! पर के विकल्प का ध्यान छूट जाता है। आहाहा! द्रव्यसंग्रह में ४७ गाथा में कहा

है न? **'दुविहं पि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा।'** आहाहा! दो प्रकार का मोक्षमार्ग अर्थात् एक सच्चा और एक आरोपित, परन्तु वे दोनों ध्यान में प्राप्त होंगे। आहाहा! वह यह कहा। अन्तर के ध्यान में ध्येय को पकड़कर एकाकार हो, विकल्परहित दशा (हो), उस ध्यान में निश्चय मोक्षमार्ग—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और ध्यान में जो राग बाकी रहा, वह व्यवहारमोक्षमार्ग का आरोप करके ध्यान में प्राप्त होगा, प्रभु! आहाहा!

लोग कहते हैं, ध्यान। अभी स्थानकवासी में यह चला है। परन्तु वस्तु कैसी है, उसे जाने बिना ध्यान किसका? वे आये हैं। 'नथुमल' तेरापन्थी है। बुद्धिवाला, ध्यान की पुस्तक बनायी हैं। अरे! परन्तु तेरा पन्थ ही मिथ्यात्व का है, उसमें ध्यान कहाँ आया? आहाहा! समझ में आया? कठिन बात, भाई! बहुत कठिन काम है। अब बहुत शिविर सीखे, शिक्षणशिविर। यहाँ का निकालते हैं न? वे सब तेरापन्थी निकालते हैं, मन्दिरमार्गी करते हैं, स्थानकवासी करते हैं। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, प्रभु! तेरा ध्यान द्रव्य में लगा। तब लीनता होगी, तब तुझे विकल्प छूटेगा। आहाहा! ऐसा मार्ग है। आहाहा! **वर्तमान आनन्द का अनुभव होता है और थोड़े ही समय में ज्ञानानन्दस्वरूप केवलज्ञान की प्राप्ति होती है।** आहाहा! अल्प काल में तुझे केवलज्ञान प्राप्त होगा, प्रभु! आहाहा! **ऐसा करनेवाला पुरुष ही उस सुख को जानता है,...** ऐसा करनेवाला आत्मा ही सुख को जानता है। **दूसरे का इसमें प्रवेश नहीं है।** विशेष कहेंगे..... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

कलश - १४४

अब, ज्ञानानुभव की महिमा का और आगामी गाथा की सूचना का काव्य कहते हैं:-

(उपजाति)

अचिन्त्यशक्तिः स्वयमेव देवश्चिन्मात्रचिन्तामणिरेष यस्मात्।
सर्वार्थसिद्धात्मतया विधत्ते ज्ञानी किमन्यस्य परिग्रहेण।।१४४।।

श्लोकार्थ : [यस्मात्] क्योंकि [एषः] यह (ज्ञानी) [स्वयम् एव] स्वयं ही [अचिंत्यशक्तिः देवः] अचिंत्य शक्तिवाला देव है और [चिन्मात्र-चिन्तामणिः] चिन्मात्र चिन्तामणि है, इसलिए [सर्व-अर्थ-सिद्ध आत्मतया] जिसके सर्व अर्थ (प्रयोजन) सिद्ध हैं, ऐसा स्वरूप होने से [ज्ञानी] ज्ञानी [अन्यस्य परिग्रहेण] दूसरे के परिग्रह से [किम् विधत्ते] क्या करेगा? (कुछ भी करने का नहीं है।)

भावार्थ : यह ज्ञानमूर्ति आत्मा स्वयं ही अनन्त शक्ति का धारक देव है और स्वयं ही चैतन्यरूपी चिंतामणि होने से वांछित कार्य की सिद्धि करनेवाला है; इसलिये ज्ञानी के सर्व प्रयोजन सिद्ध होने से उसे अन्य परिग्रह का सेवन करने से क्या साध्य है? अर्थात् कुछ भी साध्य नहीं। ऐसा निश्चयनय का उपदेश है।।१४४।।

प्रवचन नं. २८७, श्लोक-१४४, गाथा-२०७ शनिवार, श्रावण कृष्ण ११
दिनाङ्क १८-०८-१९७९

कलश १४४

अचिन्त्यशक्तिः स्वयमेव देवश्चिन्मात्रचिन्तामणिरेष यस्मात्।
सर्वार्थसिद्धात्मतया विधत्ते ज्ञानी किमन्यस्य परिग्रहेण।।१४४।।

आहाहा! **क्योंकि...** अनुभवी धर्मी जीव, जिसे आत्मा ज्ञानस्वरूप शुद्ध पवित्र भगवान की दृष्टि सहित अनुभव हुआ। आहाहा! निर्जरा अधिकार है न? जो आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु, अचिन्त्य देव कहेंगे। वह धर्मात्मा, धर्म जिसे आत्मा ज्ञान और आनन्दस्वरूप

है, ऐसी दृष्टि पूर्वक अनुभव हुआ, वह धर्मी **स्वयं ही...** स्वयंमेव, स्वयं ही। आहाहा! [**अचिंत्यशक्तिः देवः**] **अचिंत्य शक्तिवाला देव है...** आहाहा! धर्मी स्वयं ही। अपना भगवान आत्मा अचिन्त्य शक्ति। अतीन्द्रिय आनन्द, अतीन्द्रिय शान्ति, अतीन्द्रिय प्रभुता इत्यादि अनन्त शक्तिवाला वह देव है। प्रभु-आत्मा अचिन्त्य शक्तिवन्त देव है। आहाहा! दिव्य शक्ति। ज्ञान, आनन्द, शान्ति इत्यादि दिव्य शक्तिवाला देव है। आहाहा!

और चिन्मात्र चिन्तामणि है... वह तो चैतन्यमात्र चिन्तामणि। अन्तर की चीज़ जहाँ दृष्टि में, अनुभव में आयी, तो कहते हैं कि, चैतन्य चिन्तामणि। जैसे चिन्तामणि की प्राप्ति से जगत के जीव (को) इच्छा प्रमाण प्राप्त होता है; उसी प्रकार यह वस्तु प्राप्त हुई.... आहाहा! वह तो चिन्तामणि रत्न, उसकी एकाग्रता से क्या नहीं प्राप्त होगा? आहाहा! दिव्यशक्ति का भण्डार भगवान, उसके अनुभव की दृष्टि से उसमें एकाग्रता से दिव्यशक्ति का देव, उसमें एकाग्रता से क्या नहीं प्राप्त होगा? आहाहा! शान्ति, आनन्द, स्वच्छता, प्रभुता की पर्याय में प्राप्ति होती है। सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा!

चिन्मात्र चिन्तामणि है... यह ज्ञानमात्र स्वभाव भगवान अनन्त गुण, ऐसा चिन्तामणि रत्न। आहाहा! जिसे दृष्टि में प्राप्त हुआ और जिसका जिसे अनुभव हुआ, वह अचिन्त्यदेव शक्तिवन्त देव चिन्तामणि। जितनी उसमें एकाग्रता हो, उतने रत्न पकते हैं। आनन्द, शान्ति, स्वच्छता और प्रभुता के रत्न पर्याय में पके। लो, यह तुम्हारे रत्न नहीं, यह तो दूसरे रत्न आये। आहाहा!

(चैतन्यरूप चिन्तामणि रत्न है) इसलिए... [**सर्व-अर्थ-सिद्ध आत्मतया**] आहाहा! **जिसके सर्व अर्थ (प्रयोजन) सिद्ध हैं...** निज स्वरूप की प्रतीति और अनुभव हुए तो सर्व अर्थ की सिद्धि है। आहा! जो कुछ शान्ति, आनन्द, स्वच्छता, प्रभुता चाहिए तो उसकी प्राप्ति होती है। आहा! ऐसी बातें। सर्व प्रयोजन सिद्ध है। आहाहा! **ऐसा स्वरूप होने से ज्ञानी...** धर्मी [**अन्यस्य परिग्रहेण**] निज चैतन्यस्वरूप भगवान के अतिरिक्त, जड़ की क्रिया, रागादि परिणाम और भेद के विकल्पों से उसे क्या प्रयोजन है? आहाहा! समझ में आया?

चिन्तामणि भगवान आत्मा नजर में जहाँ निधान आया, अब सर्व अर्थ सिद्धि है।

आहाहा! ज्ञान की प्राप्ति, समकित की प्राप्ति, शान्ति की प्राप्ति, आनन्द की प्राप्ति (होती है)। यह वस्तु है। उसे [**अन्यस्य परिग्रहेण**] निज स्वभाव के अतिरिक्त जड़ की क्रिया की सावधानी, आचरणपना और स्मरण से क्या प्रयोजन? आहाहा! इसी तरह अन्दर राग के विकल्प आदि शुभाशुभभाव आते हैं, वह भी एक परिग्रह है। तो कहते हैं, उससे क्या प्रयोजन? रागादि में सावधानी, आचरणपना, स्मरणपना, उसका क्या प्रयोजन है? आहाहा! और अन्दर भेद पड़े, वह भेद के विकल्प उठते हैं। आहाहा! अभेद भगवान आत्मा में, गुण-गुणी के भेद के विकल्प उठते हैं, उसमें परिग्रह (अर्थात्) सावधानपना, आचरणपना और स्मरणपना का क्या प्रयोजन? आहाहा! समझ में आया?

जड़ की क्रिया, राग की क्रिया, भेद के विकल्प, ये तीनों ही परिग्रह अन्य है। आहाहा! उनसे धर्मी को अन्य से सावधानपना क्या? ओहोहो! व्यवहाररत्नत्रय के विकल्प उठते हैं, उसमें क्या सावधानपना? उसका तुझे क्या आचरण? उसका तुझे क्या स्मरण है? भगवान आत्मा अपना शुद्ध स्वरूप सन्मुख सावधानी, उसका आचरण... आहाहा! और उसका ही स्मरण। सूक्ष्म बात है, भाई! अमृतचन्द्राचार्य के कलश... आहाहा! अमृत से भरे हैं। जिसकी ज्ञान में भान-प्राप्ति हुई, उसे जड़ की क्रिया, राग की क्रिया और भेद की क्रिया—ऐसे विकल्प, उस ओर सावधानी रखना, आचरण करना, उससे क्या प्रयोजन है? आहाहा! वह परिग्रह है। अभेद में भेद (उपजाना), वह परिग्रह है, अन्य है। आहाहा! वीतराग की बातें (ऐसी हैं)।

जड़ की क्रिया मैं कर सकता हूँ, यह भी एक मिथ्यात्व का परिग्रह है। रागक्रिया करूँ, यह भी एक मिथ्यात्व का परिग्रह है। आहाहा! और अभेद भगवान आत्मा में भेद उठाना, यह भी एक विकल्प और परिग्रह अन्य है। अन्य परिग्रह से धर्मी को क्या काम है? आहाहा! बहुत कठिन काम। पैसे-बैसे की क्रिया उस क्रिया में गयी और उनके प्रति का दया, दान का राग वह विकार में गया और अभेद में भेदविकल्प अन्य परिग्रहेण। ये तीनों अन्य परिग्रह है। इनसे भगवान आत्मा चैतन्य परिग्रह जो हाथ आया, परिग्रह (अर्थात्) पूरा चैतन्य पकड़ लिया, समस्त प्रकार से परि-ग्रह। भगवान पूर्णानन्द का नाथ समस्त प्रकार से अनुभव में ले लिया। आहाहा! ऐसा धर्मी, वह धर्मी है। आहाहा! उसे क्रियाकाण्ड के राग से क्या प्रयोजन? जड़ के अनुकूल-प्रतिकूल हलन-चलन हों, उससे क्या प्रयोजन?

आहाहा! अचिन्त्यदेव प्रभु अनन्त-अनन्त दिव्यशक्ति का भण्डार भगवान, जिसे अनुभव में आया, परिग्रह-पकड़ लिया, उस धर्मी को वह परिग्रह है। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

मुमुक्षु : अधर्मी का परिग्रह क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : अधर्मी का यह परिग्रह—रागादि मेरा, यह। पैसा आदि मेरे, शरीर आदि मेरे, रागादि मेरे और भेदादि मेरे (माने), वह अज्ञानी का परिग्रह है।

मुमुक्षु : पैसा...

पूज्य गुरुदेवश्री : पैसा तो क्रिया में, पर में गये। पर की क्रिया...

मुमुक्षु : मात्र ममत्व।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह मेरा, यह परिग्रह मिथ्यात्व है और रागादि परिग्रह मेरा, यह भी मिथ्यात्व है और भेद के विकल्प मेरा स्वरूप है, यह भी मिथ्यात्व है, परिग्रह है, प्रभु! कठिन बात है, भाई! यह तो निर्जरा अधिकार है। आहाहा! जिसे भगवान आत्मा शुद्ध पवित्र का जिसे प्रयाण उपयोग में हुआ। आहाहा!

एक बार भाई ने गायन बनाया था। भाई ने—भाईचन्दजी नहीं? भाई! लींबड़ीवाले भाईचन्दजी। दिगम्बर सम्प्रदाय छोड़ दिया था।

मुमुक्षु : राजकोट से वहाँ जाते थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, गये थे, खबर है। गुजर गये तब गये थे। यहाँ थे। रामजीभाई, नारणभाई। लींबड़ी में गुजर गये। अन्यमति के मन्दिर में। उन्होंने एक बार कहा था, 'उपयोगभूमि पावन करने पधारजो, हे नाथ!' मेरी उपयोगभूमि में पावन करने प्रभु पधारो। आहाहा! मेरी निर्मल उपयोगभूमि। 'उपयोगभूमि पावन करने पधारना।' मेरी उपयोगभूमि में प्रभु आओ और आये, उसे पर का अब क्या काम है? कहते हैं। लक्ष्मी की, पर की तो बात ही नहीं, राग की बात नहीं परन्तु भेद का भी उसे क्या काम है? जहाँ अभेद भगवान की भेंट हुई। आहाहा!

मुमुक्षु : अभेद की भेंट हुई, उसमें भेद का क्या काम?

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या काम है? उस परिग्रह को पकड़कर क्या काम है? महाप्रभु

अभेद पूरा परिग्रह पकड़ा है। आहाहा! सम्यग्दर्शन ने पूरे पूर्णानन्द के नाथ को कब्जे में कर लिया। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात, भाई! यह तो निर्जरा अधिकार है न? ऐसे जीव को निर्जरा होती है। आहाहा! यह कर्मादि, रागादि आते हैं, वे खिर जाते हैं। आहाहा! और कर्म का उदय भी खिर जाता है, भेद का विकल्प भी छूट जाता है। आहाहा!

अचिन्त्यदेव चैतन्य चिन्तामणि भगवान। अचिन्त्यदेव कहा परन्तु देव का क्या स्वरूप? चिन्मात्र चिन्तामणि। आहाहा! अचिन्त्यदेव, वह तो परन्तु अचिन्त्यदेव इतना कहा। परन्तु इसका-देव का स्वरूप क्या? ज्ञानमात्र चिन्तामणि भगवान आत्मा। आहाहा! ऐसा भगवान चैतन्य चिन्तामणि, अचिन्त्यदेव। आहाहा! जिसे पर्याय में जिसका आदर हुआ, पर्याय में उसे पकड़कर भगवान को निज का परिग्रह माना। आहाहा! पर्याय में अपने परमात्मा को परिग्रह माना, पकड़ा। ऐई! ऐसी बातें सुनना मुश्किल पड़े। आहाहा!

'सर्व-अर्थ-सिद्ध' आहाहा! जिसे चिन्तामणि अचिन्त्यदेव प्रभु की सम्यग्दर्शन में प्राप्ति हुई, सम्यग्ज्ञान में ज्ञेय बनाकर प्राप्ति हुई... आहाहा! ऐसे जीव को [**सर्व-अर्थ-सिद्ध आत्मतया**] **'सर्व-अर्थ-सिद्ध'**। **'आत्मतया'** अर्थात् स्वरूप। **'सर्व-अर्थ-आत्मतया' 'सर्व-अर्थ-सिद्ध-आत्मसिद्ध'** आहाहा! सम्यग्दर्शन हुआ... आहाहा! तो कहते हैं कि अचिन्त्य देव चिन्तामणि (प्राप्त हुआ)। अचिन्त्यदेव तो व्याख्या आयी, परन्तु उसका स्वरूप क्या? कि चैतन्य चिन्तामणि भगवान। आहाहा! ऐसा भगवान जिसे दृष्टि में, अनुभव में आया (उसे) सर्व अर्थ सिद्धि है। जो अपना प्रयोजन था वह सिद्ध हो गया। आहाहा! शान्ति, वीतरागता, सुख वह प्रयोजन था, वह प्रयोजन सिद्ध हो गया।

मुमुक्षु : उससे घर कैसे चले?

233

पूज्य गुरुदेवश्री : घर कब? यह घर (-आत्मा) है या वह घर है? ऐई! हसमुखभाई! इन्हें पाँच-पाँच लाख के मकान हैं, छहों भाईयों को। रहने का वहाँ हॉल... हॉल क्या कहलाता है? छहों भाईयों के छह। और पिता का अलग। ऐसा लोग कहते थे, हमने कहाँ (देखे हैं)? एक बार गये अवश्य थे, हों! वहाँ मकान में आये थे। देखने गये थे एक बार। आहाहा! प्रभु! वह तेरा घर कहाँ है?

तेरा घर तो अचिन्त्यदेव—चिन्तन में ले—आवे, वह तेरा घर है। उस घर में जिसने

प्रवेश किया, (उसे) सर्व सिद्धि है। आहाहा! उसे सर्व प्रयोजन की सिद्धि (हो गयी)। अर्थ अर्थात् प्रयोजन। **'सर्व-अर्थ-सिद्ध-आत्मतया' 'सर्व-अर्थ-सिद्ध-आत्मतया'** सर्व अर्थ सिद्ध हुआ स्वरूप। सर्व अर्थ का सिद्ध हुआ स्वरूप। आहाहा! अरे! ऐसा उपदेश। आहाहा! आत्मा अभी पकड़ में आया नहीं, अनुभव में आया नहीं, वहाँ सीधी प्रतिमा और महाव्रत ले, वह तो बालव्रत और बालतप है। आहाहा!

अमृतचन्द्राचार्य इस श्लोक में बहुत कहना चाहते हैं, बहुत गहरा कहना चाहते हैं। ओहोहो! भगवान! तू अचिन्त्य चिन्तामणि, आनन्द चिन्तामणि, शान्ति चिन्तामणि... आहाहा! अनन्त गुण का चिन्तामणि स्वरूप प्रभु तेरा। तेरा स्वरूप है, उसे पकड़ लिया, अनुभव हुआ (तो) **'सर्व-अर्थ-सिद्ध-आत्मतया'** सर्व अर्थ के स्वरूप की सिद्धि हुई। सर्व प्रयोजन के भाव की सिद्धि हुई। आहाहा! जो प्रयोजन सुख का था, सम्यग्ज्ञान का था, वे सब प्रयोजन सिद्ध हुए। आहाहा!

दूसरे के परिग्रह से... निज अभेद चिदानन्दस्वरूप की अनुभवदृष्टि के अतिरिक्त [**अन्यस्य परिग्रहेण**] इस जड़ की कोई पैसा-लक्ष्मी, इज्जत, स्त्री, कुटुम्ब, वह चीज़ तेरी कहाँ है? तुझे इसकी सावधानी, स्मरण, आचरण का तुझे क्या काम है? अरे! राग के भी आचरण, स्मरण, सावधानी का क्या काम है? भगवान महाप्रभु तुझे सावधानी में प्राप्त हुआ है न! आहाहा! भगवान आत्मा में सावधान हुआ। 'समय वर्ते सावधान' नहीं कहते, उस विवाह के समय? समय हो साढ़े आठ और दस मिनिट (तो कहे), समय हो गया। 'समय वर्ते सावधान, लाओ कन्या को।' यहाँ कहते हैं, 'समय वर्ते सावधान' समय अर्थात् आत्मा। आहाहा! दुनिया से अलग बात है, प्रभु! आहाहा! दुनिया के साथ कुछ मेल खाये, ऐसा नहीं है। आहाहा! इसलिए एकान्त है, ऐसा नहीं है। यह सम्यक् एकान्त है। आहाहा!

जिसे अचिन्त्यदेव चिन्मात्र चिन्तामणि प्रतीति में, अनुभव में, ज्ञान की पर्याय में आया, आहाहा! उस जीव को धर्मी, समकितदृष्टि जीव को अपने स्वभाव के परिग्रह-पकड़ के अतिरिक्त अन्य परिग्रह का क्या काम है? आहाहा! यह लक्ष्मी आदि, शरीरादि की क्रिया से तुझे क्या काम है? आहाहा! लक्ष्मी की क्रिया आवे और जावे, उससे तुझे क्या प्रयोजन है? शरीर निरोग और रोग रहे, उससे तुझे क्या प्रयोजन है? ऐसा है, प्रभु! यह तो

वीतराग तीन लोक के नाथ का जगत के समक्ष पुकार है। अचिन्त्यदेव का नाथ प्रभु तू अन्दर, चिन्मात्र चिन्तामणि, वह देव मैं नहीं परन्तु तू। आहाहा! मैं तेरा देव नहीं, (ऐसा) प्रभु का पुकार है। तेरा देव अन्दर अचिन्त्य शक्ति का भण्डार है न प्रभु! आहाहा! चिन्तामणि रत्न है, प्रभु! जैसे-जैसे एकाग्रता करेगा, वैसे-वैसे तुझे आनन्द प्राप्त होगा। आहाहा! आचार्य महाराज के हृदय में बहुत गम्भीरता, गहराई है।

निर्जरा किसे होती है? संवरपूर्वक निर्जरा किसे होती है? कि जिसको अपना भगवान अचिन्त्य चिन्तामणि रत्न पर्याय में प्राप्त हुआ। वस्तु तो थी परन्तु पर्याय में राग और पर प्राप्त थे। आहाहा! उस पर्याय में भगवान प्राप्त हुआ (तो) सर्व प्रयोजन सिद्ध हो गये। तीन लोक का नाथ प्रतीति में, अनुभव में आया। तीन लोक का नाथ देव का देव, आहाहा! तू ही देवाधिदेव।

मुमुक्षु : अन्तिम लाईन।

पूज्य गुरुदेवश्री : 'शिवरमणी रमनार तू' एक बार आया था। (संवत्) १९६४, १९६४ के वर्ष की बात है। 'शिवरमणी रमनार तू, तू ही देव का देव' ऐसी छह लाईनें थीं परन्तु इतनी आधी लाईन याद आयी। छह लाईनें बनायी थीं। वह सलवटवाला कागज होता है न? आंकेला। घर में बहियाँ थी, व्यापार था न, उसमें लिखा था। दीक्षा ली, तब भाई को कहा कि पुस्तक (चाहिए)। वहाँ तालाब बड़ा है, उस तालाब में पानी बहुत आ गया, अन्दर घुस गया। मनसुख को खबर है? पानी बहुत था। तेरा जन्म तो (संवत्) १९७४ में (हुआ)। मैंने पुस्तक माँगी, सत्तर के पश्चात्, हों! परन्तु दुकान में अन्दर पानी घुस गया था, वह पुस्तक डूब गयी। आहाहा!

पहली लाईन यह थी। 'शिवरमणी रमनार तू' तुझे यह स्त्री नहीं। तू तो मोक्ष की रमणी का रमनेवाला है, प्रभु! आहाहा! 'तू ही देव का देव' यह अन्दर से आया था। यह १९६४ के वर्ष, संवत् १९६४। आहाहा! कितने वर्ष हुए? ७१ वर्ष पहले आया था। पश्चात् तो बहुत आया चाहिए, यह बाहर निकलता तो ख्याल में आता कि पूर्व का अन्दर कितना (था)! आहाहा! पुस्तक डूब गयी। उस समय हम तो व्यापारी थे परन्तु यह कवित्त की छह लाईन जुड़ गयी थी। कौन जाने कहाँ से क्या हुआ? रामजीभाई खोजते थे। हमारे कुंवरजीभाई

चुन्नीलाल की दुकान के सामने। चुन्नीलाल की तुम्हारे दुकान थी न पहले? 'चुन्नीलाल मोतीलाल' उसके पीछे जीन है न? अब तेरा मकान वहाँ हुआ। उस जीन में सामने यन्त्र था पूरी गाड़ी को तोलने का, यन्त्र होता है न? पूरी गाड़ी तुलती है। जमीन के ऊपर है, देखा था। बड़ा यन्त्र था। पूरी गाड़ी तुलती है। वह वापस तोलकर, वापस निकले तब गाड़ी तोल ले, यह कपास कितना था, वह (खबर पड़े)। यन्त्र था उस जमीन में। अब वह लोगों का मकान हो गया। आहाहा! वह जीन था। बड़ा जीन। खबर है। वहाँ रामचन्द्र और लक्ष्मण और सीता, उन लड़कों ने भी ऐसा वेश बनाया, बापू! क्या कहें? आहाहा! ऐसी याद आती है, तब की बात। आहाहा!

गाँव का एक मन्दिर का बड़ा बाबा था, वह लक्ष्मीचन्दभाई का गोदाम नहीं? वहाँ मन्दिर है न? रामजी मन्दिर, उसको वृद्ध बाबा था। ऐसे रामचन्द्र, लक्ष्मण और सीताजी आये परन्तु देख लो, वह तो मानो हू-बहू! बाबाजी को विचार हुआ तो आरती उतारी। राम, लक्ष्मण, सीताजी वैराग्य की मूर्ति। वनवास में जाते हैं। आहाहा! वह बाबा वृद्ध था, हों! वह रामजी मन्दिर है न? उस गोदाम में। पहले लक्ष्मीचन्दभाई थे न? सगे थे, अपने सम्बन्धी। वहाँ लड़के हैं न? भरुच। मोहन को खबर है। वैष्णव। वहाँ ले गये थे। सबको प्रेम था। ऐ, आहाहा! बाबाजी को प्रेम हो गया। यह तो रामचन्द्र और लक्ष्मण आये। ऐसे गम्भीर धुन यह थी। 'जो स्वरूप समझे बिना, पाया दुःख अनन्त' उनके गायन की यह धुन थी। 'समझाया उन पद नमुं, श्री सद्गुरु भगवन्त' लड़कों के गायन की यह धुन थी परन्तु धुन वह शान्ति से (गाये)। तब तो दस-पन्द्रह रुपये का वेतन। तब कहाँ... आहाहा! तीन रुपये का, चार रुपये का महीने में खर्च हो। आहाहा!

उसमें यह धुन चढ़ गये, उसे सुनकर। तू कौन है? आहाहा! 'शिवरमणी रमनार' यह स्त्री नहीं होती। और तू तो देवाधिदेव है। मुझे खबर भी नहीं तब तो क्या आया यह? इसका अर्थ कि तू तीर्थंकर का जीव है। ऐसा आया, भाई! यह तो फिर अन्दर आया। यह क्या आया यह? १९६४ का वर्ष, अठारह वर्ष की उम्र। १९४६ में जन्म, अठारह वर्ष की उम्र थी। परन्तु पूर्व का था न! अन्दर से आता था। आहाहा! भगवान के पास (थे)।

यहाँ कहते हैं, प्रभु! तू यहाँ है न देवाधिदेव साक्षात्! आहाहा! तुझे तेरे देव का विरह

कहाँ है ? आहाहा ! परमात्मा का-भगवान का विरह पड़ा परन्तु तेरे देव का तुझे विरह नहीं है, प्रभु ! आहाहा ! 'सीमन्धर' सीमं—गुण की मर्यादा धरनेवाला भगवान अचिन्त्य देव। वह सीमन्धर भगवान यह है। आहाहा ! उसे सर्व अर्थ सिद्ध हुए।

ऐसा स्वरूप होने से... आहाहा ! **ज्ञानी...** अर्थात् धर्मी को **दूसरे के परिग्रह से क्या करेगा ?** [**किम् विधत्ते**] किसलिए विशेष धारण करेगा ? आहाहा ! दूसरी चीज़ को क्यों अनुभव में ले ? ऐसा कहते हैं। उसे **'विधत्ते'** क्यों धारण करे ? आहाहा ! सूक्ष्म बात है, प्रभु ! तेरी प्रभुता का पार नहीं, नाथ ! तू बालक होकर ऐसा माँगे कि यह चाहिए, यह चाहिए। बापू ! तू तो प्रभु है अन्दर। आहाहा ! तेरी प्रभुता की बातें वाणी में पूरी नहीं आती, ऐसा भगवान अचिन्त्यदेव जिसे दृष्टि में आया, अनुभव में ले लिया, (उसे) सर्व अर्थ की सिद्धि हो गयी, कहते हैं। आहाहा ! उसे अन्य परिग्रह से क्या प्रयोजन ? भेद, गुण-गुणी के भेद के विकल्प से भी तुझे क्या प्रयोजन ? आहाहा ! बाह्य परिग्रह तो नहीं, राग से तो नहीं परन्तु भेद के विकल्प से नाथ ! तुझे क्या प्रयोजन है ? आहाहा ! ऐसे भगवान ने अमृत बहाया है। अमृतचन्द्राचार्य ने अमृत बहाया। आहाहा ! श्लोक में बहुत गहराई है। उनके हृदय में उस समय का जो अभिप्राय था, (वह) बहुत गहरा था। आहाहा ! **कुछ भी करने का नहीं है।** आहाहा !

भावार्थ : यह ज्ञानमूर्ति आत्मा... चिन्मात्र चिन्तामणि कहा था न ? उसका अर्थ किया। ज्ञानमूर्ति ज्ञानस्वरूप भगवान। ज्ञानस्वरूप की प्रधानता से (कथन किया है)। अनन्त-अनन्त गुण सम्पन्न प्रभु **स्वयं ही अनन्त शक्ति का धारक देव है...** स्वयं ही, अपने ही अनन्त शक्ति का धारक देव है। **और स्वयं ही चैतन्यरूपी चिंतामणि होने से...** आहाहा ! शक्ति का देव है परन्तु कैसी शक्ति का (देव) ? कि स्वयं ही चैतन्यरूपी चिन्तामणि। वह तो चैतन्यरूपी चिन्तामणि है। आहाहा ! उसमें चिन्तवन अर्थात् एकाग्र हो तो केवलज्ञान भी प्राप्त होगा, ऐसा चिन्तामणि रत्न प्रभु तुझे मिला, कहते हैं। आहाहा ! ऐसा कभी सुना नहीं होगा। ऐई ! हें ? ऐसी बात है। आहाहा !

अमृत का नाथ अन्दर डोलता है। ऐसी चीज़ के समक्ष तुझे क्या प्रयोजन ? आहाहा ! अमृत के भण्डार भरे हैं। चैतन्य चिन्तामणि रत्न। वह **चिंतामणि होने से वांछित कार्य**

की सिद्धि करनेवाला है;... आया था न वह? **'सर्व-अर्थ-सिद्ध'** वांछित कार्य। धर्मात्मा का वांछित कार्य क्या? सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और केवलज्ञान। पर्याय है न? कार्य है न? आहाहा! **वांछित कार्य की सिद्धि करनेवाला है; इसलिए ज्ञानी के सर्व प्रयोजन सिद्ध होने से उसे अन्य परिग्रह का सेवन करने से क्या साध्य है?** भाषा इतनी बढ़ाई। सेवन का अर्थ सावधानी, आचरण और स्मरण। यह सब पर का सेवन है। इससे क्या प्रयोजन है? आहाहा! याद करे, याद कि ऐसा राग आया। परन्तु क्या है? समझ में आया? मेरा शरीर ऐसा निरोगी रहा। प्रभु! इस स्मरण से तुझे क्या काम है? तेरी निरोगमूर्ति भगवान अन्दर (विराजमान है)। हैं? आहाहा! उसका स्मरण कर न, उसमें सावधान हो न, उसका आचरण कर न! पर की सावधानी, आचरण और स्मरण से क्या प्रयोजन? स्मरण। आहाहा!

ज्ञानी के सर्व प्रयोजन सिद्ध होने से उसे अन्य परिग्रह का सेवन करने से क्या साध्य है? इस विकल्प के सेवन और भेद के सेवन से तुझे क्या लाभ है? आहाहा! **अर्थात् कुछ भी साध्य नहीं। ऐसा निश्चयनय का उपदेश है।** ऐसा यथार्थ दृष्टि का और यथार्थ वस्तु का उपदेश है।

गाथा-२०७

कुतो ज्ञानी परं न परिगृह्णातीति चेत् -

को णाम भणिज्ज बुहो परदव्वं मम इमं हवदि दव्वं।
अप्पाण-मप्पणो परिग्गहं तु णियदं वियाणंतो।।२०७।

को नाम भणेद्बुधः परद्रव्यं ममेदं भवति द्रव्यम्।
आत्मानमात्मनः परिग्रहं तु नियतं विजानन्।।२०७।।

यतो हि ज्ञानी, यो हि यस्य स्वो भावः स तस्य स्वः स तस्य स्वामी इति खरतरतत्त्वदृष्ट्यवष्टम्भात्, आत्मानमात्मनः परिग्रहं तु नियमेन विजानाति, ततो न ममेदं स्वं, नाहमस्य स्वामी इति परद्रव्यं न परिग्रह्णाति।।२०७।।

अब प्रश्न करता है कि ज्ञानी पर को क्यों ग्रहण नहीं करता? इसका उत्तर कहते हैं:-

'परद्रव्य यह मुझ द्रव्य', यों तो कौन ज्ञानीजन कहे।
निज आत्म को निज का परिग्रह, जानता जो नियम से।।२०७।।

गाथार्थ : [आत्मानम् तु] अपने आत्मा को ही [नियतं] नियम से [आत्मनः परिग्रहं] अपना परिग्रह [विजानन्] जानता हुआ [कः नाम बुधः] कौनसा ज्ञानी [भणीत] यह कहेगा कि [इदं परद्रव्यं] यह परद्रव्य [मम द्रव्यम्] मेरा द्रव्य [भवति] है?

टीका : जो जिसका स्वभाव है, वह उसका '*स्व' है और वह उसका (स्व भाव का) स्वामी है-इस प्रकार सूक्ष्म तीक्ष्ण तत्वदृष्टि के आलम्बन से ज्ञानी (अपने) आत्मा को ही नियम से आत्मा का परिग्रह जानता है, इसलिए ''यह मेरा 'स्व' नहीं है, मैं इसका स्वामी नहीं हूँ'' ऐसा जानता हुआ परद्रव्य का परिग्रह नहीं करता (अर्थात् परद्रव्य को अपना परिग्रह नहीं करता)।

भावार्थ : यह लोकरीति है कि समझदार सयाना पुरुष दूसरे की वस्तु को अपनी नहीं जानता, उसे ग्रहण नहीं करता। इसी प्रकार परमार्थज्ञानी अपने स्वभाव को ही

* स्व=धन; मिल्कियत; अपनी स्वामित्व की चीज।

अपना धन जानता है, पर के भाव को अपना नहीं जानता, उसे ग्रहण नहीं करता। इस प्रकार ज्ञानी पर का ग्रहण-सेवन नहीं करता।

गाथा - २०७ पर प्रवचन

अब प्रश्न करता है कि ज्ञानी पर को क्यों ग्रहण नहीं करता? जिसे आत्मा शुद्ध चिदानन्द प्रभु दृष्टि में आया, पर्याय में पूरे ज्ञेय का ज्ञान हुआ, पर्याय में पूरे ज्ञेय ज्ञायक आत्मा का ज्ञान हुआ, पर्याय में पूरी चीज़ की प्रतीति ज्ञानपूर्वक हुई और उसमें लीनता का अंश भी हुआ, वह पर को क्यों ग्रहण नहीं करता? **पर को क्यों ग्रहण नहीं करता? इसका उत्तर कहते हैं:-**२०७

को णाम भणिज्ज बुहो परदव्वं मम इमं हवदि दव्वं।
अप्पाण-मप्पणो परिग्गहं तु णियदं वियाणंतो।।२०७।

'परद्रव्य यह मुझ द्रव्य', यों तो कौन ज्ञानीजन कहे।
निज आत्म को निज का परिग्रह, जानता जो नियम से।।२०७।।

जानता जो नियम से। 'णियदं' है न पाठ में? **'णियदं वियाणंतो'** चौथा पद। ओहोहो! अमृतचन्द्राचार्य की तो क्या बातें! उनके श्लोक में तो अमृत के नाथ को जगाने के लिये अमृत भरा है। जाग रे जाग अब, बापू! तुझे सोना नहीं पोसाता। आहाहा! इस राग में जागना नहीं पोसाता, प्रभु! ऐसा कहते हैं। आहाहा! तेरी चीज़ में जागृत हो, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

टीका : जो जिसका स्वभाव है, वह उसका 'स्व' है... स्व का अर्थ नीचे। धन, मिलकत, अपनी स्वामित्व की चीज़। **जिसका स्वभाव है...** आहाहा! अरेरे! ऐसे अवतार। क्या कहते हैं? **जो जिसका स्वभाव है, वह उसका...** धन है, वह उसकी मिलकत है। **जो जिसका स्वभाव है, वह उसका...** धन, मिलकत है और अपने स्वामित्व की वह चीज़ है। समझ में आया? जो जिसका स्वभाव है, स्वभाव है। भाववान का, स्वभाववान का स्वभाव है। स्वभाववान का स्वभाव है, वह उसका धन है, वह उसकी लक्ष्मी है, उसके स्वामित्व की वह चीज़ है, उसकी मिलकत है। आहाहा!

वह उसका (स्व भाव का) स्वामी है... नीचे अर्थ आया था न? **इस प्रकार सूक्ष्म तीक्ष्ण तत्वदृष्टि के आलम्बन से...** आहाहा! सूक्ष्म मति और श्रुतज्ञान के उपयोग से। **सूक्ष्म तीक्ष्ण तत्वदृष्टि के आलम्बन से ज्ञानी...** आहाहा! **ज्ञानी (अपने) आत्मा को ही नियम से आत्मा का परिग्रह जानता है,...** आहाहा! धूल के परिग्रह मेरे, यह तो मूढ़ मानता है, कहते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : चक्रवर्ती को मूढ़ कहना?

पूज्य गुरुदेवश्री : मोटा मूढ़। ब्रह्मदत्त मरकर नरक में गया, भाई! आहाहा! बापू! यह भाषा ठीक परन्तु बड़ा सोलह हजार देव सेवा करे, छियानवें हजार स्त्रियाँ, छियानवें करोड़ सैनिक, अड़तालीस हजार पाटण, बहत्तर हजार नगर। आहाहा! हीरा के पलंग में सोता (हो)। 'कुरुमति' स्त्री थी। हजार देव सेवा करे। 'कुरुमति... कुरुमति' आहाहा! वह मरकर सातवें नरक में गया। इस कुरुमति को याद किया, भगवान को याद नहीं किया। आहाहा! अभी भी ऐसा होता है न? मरते समय छोटी उम्र का मरता हो तो उसकी बहू को उसके पास अन्त में भेजते हैं। क्या उसमें?

हमारा छोटा भाई था न? 'मगन... मगन'। वह तेरे जन्म से पहले मर गया था। (संवत्) १९७१ में विवाह (हुआ)। छोटी उम्र का, बीस वर्ष का। शरीर बड़ा जवान लठ्ठ जैसा। खाया-पिया हुआ शरीर। बीस वर्ष की उम्र में विवाह (हुआ)। मेरी दीक्षा के बाद। सगाई तो मेरी दीक्षा के पहले (हो गयी थी)। उसकी सगाई में मैं गया था, साथ में था। और १९७१ में विवाह और १९७३ में गुजर गया। दो वर्ष (रहा)। आहाहा! लोगों को ऐसी आदत न, बहू को उसके पास भेजा। अब मरने का समय। 'नर्मदा' थी, रूपवान बहू थी, बहुत रूपवान लड़की। उसके पास भेजा। सब (बाहर) निकल गये। आहाहा! ऐसा कुछ सुना था कि, उसने हाथ पकड़ा, फिर छह महीने में झूरकर पीछे मर गयी। आहाहा! यह लेख संसार के, देखो दशा। आहाहा! उसे याद करने गये, पर को बापू! परन्तु अब है क्या? सगे-सम्बन्धी ऐसे। कि इसे अब अन्तिम मिलाप करने दो। क्या है परन्तु अब यह? आहाहा!

यहाँ अभी नहीं, डॉक्टर गुजर गया? 'दस्तूर' डॉक्टर बड़ा था न? ६१ वर्ष की उम्र

में। यहाँ से गये कैम्प में। उसे अन्त में ऐसा हो गया कि मैं नहीं बचूँगा। तो भी स्त्री को बुलाओ। ऐसा समाचारपत्र में आया था। स्त्री को बुलाया, वह स्त्री आकर रोने लगी। अब रोवे क्या? अन्तिम समय। यह भगवान को याद कर न! आहाहा! कहाँ जाना है?

अभी भाई के कल समाचार थे न? भाई कहता था। 'सुगधराज भभूतमल'। दो करोड़ रुपये की आमदनी है। कल पत्र था। महाराज ऐसा कहते थे कि कहाँ जाएगा यहाँ से तू? यह मुझे भणकार बजता है। कहाँ जाऊँगा? बापू! तेरी देह की स्थिति तो पूरी हो जाएगी। आहाहा! यह देह की स्थिति तो पूरी हो जाएगी, पश्चात् कहाँ जाएगा? प्रभु! आहाहा! चौरासी लाख के अवतार पड़े हैं, प्रभु! यदि आत्मा का ज्ञान और आत्मा का भान नहीं किया, कहाँ जाएगा? प्रभु! तू कहाँ जाएगा? आहाहा! कल 'भभूतमल' के समाचार थे। भाई कहते थे, शुकनलालजी। पत्र में आया था। आहाहा! नहीं तो उसके पास पैसे बहुत हैं, अभी दो करोड़ से ऊपर पैसे हैं। स्वयं ने धन्धा बन्द किया है, लड़के करते हैं। ऐसा सुना है। सुना हो, वह कहते हैं, अपने को कहाँ (खबर हो)? परन्तु तो भी लोगों को यह प्रेम बहुत है। आहाहा! अरेरे! महाराज ऐसा कहते हैं कि यह देह छूटकर जाएगा कहाँ? तू तो रहनेवाला है। हैं? देह का नाश होगा, तेरा नाश होगा? अब तू कहाँ जाएगा? प्रभु! आहाहा! किस जगह जाएगा? कहाँ तुझे अवतरित होना है? अरेरे! ऐसी जिसे अन्तर में चोट, चोट लगे न, भव के डर का, ऐसा पाठ है न? 'भवभय से डरी चित्त' योगसार में है। भव... भव... भाव... अरे! आहाहा! उससे डरकर चित्त को आत्मा पर (झुका), प्रभु! आहाहा! जहाँ भव और भव के भाव का अभाव है, ऐसे भगवान के पास जा, तुझे भव नहीं रहेगा। आहाहा! और एकाध-दो भव रहेंगे तो भी वहाँ साधकरूप से रहेंगे। समझ में आया? पूरा करने में देरी लगे, इसलिए रहेंगे, बाकी दूसरा नहीं रहे अब। आहाहा!

देह छूटकर जाना तो है या नहीं? कहीं तो जाएगा या नहीं? तो कहाँ जाएगा? बापू! अरेरे! स्वरूप का भान नहीं किया और राग की रुचि के प्रेम में पड़ा। प्रभु! कहाँ अवतरेगा तू? आहाहा! यह एक भी रजकण कोई साथ नहीं आयेगा। जिसके लिये ममता की है (कि) यह मेरा पुत्र और यह मेरी पुत्री और यह मेरी स्त्री। अरे! प्रभु! क्या किया तूने यह? आहाहा! प्रभु! तुझे कहाँ जाना है? किसमें अवतरित होना है? ऐसी ममतावाली चीज़ में जाना है? उसमें अवतरित होना है? आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं, आहाहा! जिसे स्वस्वभाव, वह जिसका धन है। स्वस्वभाव जिसकी मिलकत है। स्वस्वभाव जिसके स्वामित्व की चीज़ है, मालिकता की चीज़ है वह। आहाहा! वह **सूक्ष्म तीक्ष्ण तत्वदृष्टि के आलम्बन से...** आहाहा! सूक्ष्म तीक्ष्ण तत्त्वदृष्टि—दो शब्द हैं। ऐसी दृष्टि के अवलम्बन से **ज्ञानी (अपने) आत्मा को ही आत्मा का...** आहाहा! धर्मी जीव तो अपने आत्मा को ही सूक्ष्म, तीक्ष्ण, बारीक तत्त्वदृष्टि के अवलम्बन से। आहाहा! अपने आत्मा को ही; पर को नहीं। आहाहा! नियम से, वापस। निश्चय से आत्मा का परिग्रह जानता है। मेरी चीज़ तो यह है, यह मेरा परिग्रह है। आहाहा! मैं तो पूर्णानन्द का नाथ, वह मेरा परिग्रह है, वह मेरी चीज़ है, वह मेरा स्वभाव है, मेरी स्वामित्व की चीज़ वह है, वह मेरा धन है, वह मेरी मिलकत है। आहाहा!

यहाँ अरबों रुपये आये हों। मरकर चले जाए, बापू! कहीं पता नहीं। मरकर कहाँ जाएगा? आहाहा! बहुत तो ममता में मरते हैं, पशु में अवतरते हैं। आहाहा! जो इसका नियम है, तत्प्रमाण होगा। कषाय तीव्र की हो, माँसादि न हों। अपने बनिया को कुछ ऐसा नहीं होता। उसे धर्म की खबर नहीं। आहाहा! बहुत पशु में (जानेवाले हैं)। आहाहा! अरे! प्रभु! तेरे मकान और महल में से छूटकर गिलहरी के कूख से या बकरी के कूख से या सूकर के कूख से (अवतरेगा)। आहाहा! प्रभु! यह क्या है तुझे यह? आहाहा! एक बार दृष्टि की गुलाँट मार, कहते हैं।

जिसका स्वभाव, वह उसका धन और मिलकत, स्वामित्व की चीज़ है। मेरा भगवान तो पूर्णानन्द का नाथ, वह मेरा स्वभाव है। आहाहा! ऐसी चीज़ का जिसने तीक्ष्ण दृष्टि से अवलम्बन लिया है, वह **आत्मा को ही नियम से आत्मा का परिग्रह जानता है,...** आहाहा! सर्वत्र से उठा दिया। पर्याय के अंश से उठाया, विकल्प से उठाया, निमित्त से उठाया। आहाहा! **आत्मा को ही...** ऐसा शब्द है न? **नियम से...** निश्चय से आत्मा का परिग्रह जानता है। मेरा प्रभु, वह मेरा परिग्रह है। अनन्त गुण का नाथ, वह मेरा परिग्रह है। परि अर्थात् समस्त प्रकार से पकड़ा। परिग्रह। समस्त प्रकार से मेरा शुद्ध स्वभाव, वह मेरा, ऐसा पकड़ लिया, सम्यग्दर्शन में। आहाहा! लोगों को क्रियाकाण्ड की प्रवृत्ति के कारण यह सत् क्या है, उसे विचारने का समय नहीं निकालते। वहीं के वहीं (पड़े रहते हैं।)।

एक साधु बेचारा कहता था। साधु आया था। दक्षिणी साधु था। ९५ वर्ष की उम्र कहते, परन्तु ९५ तो नहीं, ८५ तो होगी। पालीताणा से आया। चातुर्मास 'इन्दौर' था। वहाँ अपने एक नेमिचन्दजी पण्डित हैं। उनके पास से यहाँ का वाँचन किया और फिर यहाँ कहते, महाराज! हम साधु नहीं, हों! साधु तो हम नहीं परन्तु मैं तो ऐसा मानता हूँ कि हिन्दुस्तान में कोई भावलिंगी साधु नहीं। यहाँ आये थे। परन्तु अरेरे! हमारे पाप का उदय, हमें यह लिंग आ गया बाहर, अब हमें क्या करना? द्रव्यलिंग आया, अब तत्प्रमाण आहार लेने (जाते हैं), उसमें फेरफार होवे तो लोग... क्या करे? हमारे पाप का उदय। द्रव्यलिंग हाथ आया, दर्शन बिना। ऐसा तब कहते थे। है। ऋषभसागर न? ऋषभसागर दक्षिण में है। इन्दौर में चातुर्मास था। तब आये थे। इन्दौर में अपने एक नेमिचन्द पण्डित हैं। उन्हें यहाँ का 'समकित' पुस्तक पढ़ाया। पुस्तक पढ़ी। ओहोहो! बात तो अलौकिक बात है।

एक भव्यसागर दिगम्बर साधु है। १८-१९ वर्ष की दीक्षा। वे मिले नहीं परन्तु पत्र बहुत आते हैं। आपका वाँचन करके हमें ऐसा लगा है कि हम साधु नहीं हैं। हमने समकित बिना दीक्षा ले ली। अब हमें करना क्या? हमें वहाँ बुलाओ, हों! ऐसा कहे। हमें सोनगढ़ बुलाओ। परन्तु यहाँ तो बुलाने का पत्र-फत्र (कुछ नहीं)। यहाँ रखना कहाँ? यहाँ रखना कहाँ? तो भी निकले थे गिरनार के नाम से। कहा, क्या हुआ? अरे! बापू! बाह्य के त्याग में वहाँ रुकना पड़े और अन्तर के तत्त्व के विचार सुनने को मिले नहीं। उन्होंने तो यहाँ तक लिखा। अरे! धन्य काल, जिस दिन आपकी सभा में मैं व्याख्यान सुनूँ। हमारा धन्य काल, ऐसा लिखा है। भव्यसागर साधु है। आहाहा! अरे! बापू! भगवान! यह तो अन्तर के भगवान की बातें हैं। आहाहा!

यहाँ तो प्रभु! तेरा स्वभाव जो स्व-भाव; स्व—अपना भाव, आनन्द, ज्ञान, शान्ति, स्वच्छता ऐसा भाववान प्रभु, उसका स्वभावभाव, वह उसका धन है, वह उसकी स्वामित्व की मिलकत है। आहाहा! उस धर्मी ने अपने आत्मा की पकड़ कर ली तो उस स्वामित्व की चीज़ को परिग्रह बनाया। आहाहा! बहुत फेरफार, भाई! दुनिया से पूरा... ओहोहो! हसमुखभाई! यह दुनिया का उत्साह तो उड़ जाए, ऐसा है। आहाहा! किसका हर्ष? भाई! तुझे पर में किसके हर्ष का आवेगा आता है? भाई! यह पाप का आवेग है? अन्तर अनन्त आनन्द का नाथ, उसे सूक्ष्म दृष्टि से पकड़, वह तेरा परिग्रह है। है न? टीका है या नहीं?

सूक्ष्म तीक्ष्ण तत्वदृष्टि... वास्तविक तत्त्व है, उसकी दृष्टि। आहाहा! **आत्मा को नियम से आत्मा का परिग्रह जानता है, इसलिए ''यह मेरा 'स्व' नहीं है,...** कौन? रागादि, भेदादि मेरा स्व नहीं है। **मैं इसका स्वामी नहीं हूँ''...** आहाहा! मेरे अतिरिक्त जो चीज़ है, रागादि, पर आदि, वह मेरा स्व नहीं, मेरा धन नहीं, मेरी चीज़ नहीं। अरे! दया, दान, का विकल्प भी मेरी चीज़ नहीं, वह मेरा स्व नहीं, मेरा धन नहीं, मेरी मिलकत नहीं। आहाहा! मैं उसका स्वामी नहीं। **ऐसा जानता हुआ परद्रव्य का परिग्रह नहीं करता...** स्वद्रव्य का परिग्रह करता है, परद्रव्य का परिग्रह नहीं करता। आहाहा! **(परद्रव्य को अपना परिग्रह नहीं करता)।** उसे निर्जरा होती है। आहाहा! उसे अशुद्धता टलती है और शुद्धता वृद्धि को प्राप्त होती है। (विशेष कहेंगे....)

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २८८, गाथा-२०७, २०८, रविवार, श्रावण कृष्ण १२
दिनाङ्क १९-०८-१९७९

समयसार, २०७ (गाथा का) भावार्थ। **यह लोकरीति है...** भावार्थ है न? **लोकरीति है कि समझदार सयाना पुरुष दूसरे की वस्तु को अपनी नहीं जानता,...** दृष्टान्त दिया। लोकरीति ऐसी है कि समझदार चतुर अर्थात् लौकिक मनुष्य-पुरुष **दूसरे की वस्तु को अपनी नहीं जानता, उसे ग्रहण नहीं करता।** यह दृष्टान्त। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात, बापू! **इसी प्रकार परमार्थज्ञानी...** जिसे धर्म का ज्ञान, आत्मज्ञानी है। आत्मा पुण्य-पाप के राग से भिन्न है, ऐसा जिसे अन्तर ज्ञान हुआ, वह ज्ञानी, परमार्थ ज्ञानी। अकेले शास्त्र के ज्ञानी, ऐसा नहीं। आहाहा! परम पदार्थ भगवान आत्मा के अवलम्बन से जो ज्ञान हुआ, वह परमार्थ ज्ञानी है। बहुत सूक्ष्म बात, बापू! वह **अपने स्वभाव को ही अपना धन जानता है,...** सच्चा ज्ञानी और सच्चा धर्मी, अपना आनन्द और ज्ञानादि अपनी चीज़ है, उसे अपना धन मानता है। आहाहा!

पर के भाव को अपना नहीं जानता,... पर के भाव। यह पुण्य और पाप के

भाव, वे तो पर के हैं। आहाहा! अभी चिल्लाहट मचा जाते हैं न! दया, दान, व्रत, भक्ति करो (तो) कल्याण होगा। यहाँ कहते हैं कि वह तो परभाव अज्ञानभाव है। आहाहा! इन्दुभाई आये थे, गये? हैं? ठीक! ऐसे पानी के जोर में ऊपर चढ़ गये। बहुत लोग। रतिभाई! क्या नाम? उनका लड़का, ज्ञायक... ज्ञायक... ज्ञायक... धुन लगायी थी। पानी ऊपर। २५-२५, ३० फीट। मुर्दे मरकर चले जाएँ। स्वयं ऊपर। कहते थे। आहाहा! आत्मा तो ज्ञायक चिदानन्दस्वरूप है। उसमें पुण्य और पाप के भाव भी अन्य हैं। वह अपना स्वरूप नहीं है। अरे! यह बात जगत को बैठना (कठिन पड़ती है)। यह कहा न?

पर के भाव को अपना नहीं जानता,... वह पुण्य और पाप के भाव तो विकारी अजीव परभाव हैं और उनके फलरूप जो संयोग, वे तो परभाव अत्यन्त भिन्न हैं। आहाहा! **अपना नहीं जानता, उसे ग्रहण नहीं करता।** आहाहा! धर्मी तो शुभभाव को भी अपनेरूप ग्रहण नहीं करता। वह भाव अपना नहीं। अरर! ऐसी बात है। सूक्ष्म बात, भाई! जिसे—पुण्य भाव को तो प्रभु ने अजीव कहा। 'जीव अधिकार' में। यह जीव भगवान ज्ञानस्वरूप का जिसे भान हुआ, वह पुण्य ऐसे अजीव को कैसे ग्रहण करे? आहाहा! वह अजीव मेरे हैं, पुण्य मेरा है, (ऐसा किसलिए ग्रहण करे?) वे विद्यानन्दजी कहते हैं कि पुण्य को अधर्म कहाँ कहा है? परन्तु यह कुशील कहा, अन्य भाव कहा, वह क्या है? आहाहा!

पुण्य को जो 'धर्म' शब्द प्रयोग किया है, उसका कारण है। व्यवहार धर्म की उपमा दी है। अपने निश्चय स्वभाव का अनुभव हुआ, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के परिणाम हुए, उसमें जो शुभभाव है, उसे धर्म का-व्यवहारधर्म का आरोप दिया है। निश्चयधर्म का व्यवहार धर्म में आरोप किया है, वह धर्म है नहीं, अतः उसे व्यवहार कहने में आया है। आहाहा! बहुत कठिन काम, भाई!

भगवान चैतन्यस्वरूप, अकेला ज्ञानरस का आनन्दकन्द प्रभु, उसे जिसने अपना जाना, वह अपने स्वभाव के अतिरिक्त दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम आते हैं परन्तु उन्हें अपना नहीं मानता। आहाहा! वे तो पर के हैं। लौकिक में चतुर पुरुष किसी पर की चीज़ को अपनी नहीं मानता। उसी प्रकार यहाँ लोकोत्तर में... आहाहा! आत्मा ज्ञानस्वरूप

ज्ञायक, उसका जिसे अन्तर में भान हुआ, वह ज्ञानी अपना स्वभाव निज धन है, वह रागादि अपना स्वधन नहीं है, वह तो पर की चीज़ है, (ऐसा मानता है)। आहाहा! ऐसा मार्ग लोगों को कठिन (लगता है)। दिगम्बर धर्म यह पुकार करता है। अब दिगम्बर में जन्मे, उन्हें खबर नहीं होती। आहाहा! व्यवहार करो और यह करो और यह करते-करते होगा।

यहाँ तो कहते हैं कि धर्मी जीव को व्यवहार आता है परन्तु उसे अपना मानकर ग्रहण नहीं करते। आहाहा! है? **उसे ग्रहण नहीं करता। इस प्रकार ज्ञानी पर का ग्रहण-सेवन नहीं करता।** आहाहा! धर्मी जीव सम्यग्दृष्टि वास्तविक धर्मी, वह पुण्य के परिणाम को अपना नहीं मानता, अपना मानकर ग्रहण नहीं करता। भिन्न करके उसका ज्ञाता रहता है। आहाहा! कहो, हसमुखभाई! ऐसी बात है। आहाहा!

कल इन्दुभाई मोरबी की बात करते थे। आहाहा! पानी के धोध में मुर्दे चले जाते हैं, बापू! ऊपर से देखे कि... आहाहा! यह पानी कहाँ चढ़ जाएगा? बापू! यह सब संसार के मार्ग हैं। आहाहा! राग का वेग आया, वह पानी का पूर आया परन्तु वह आत्मा का नहीं। आहाहा! हें? वह पुण्य के परिणाम का प्रभु वेग आया, वह पानी का प्रवाह है, वह तेरा स्वरूप नहीं है। आहाहा! वह अजीव का प्रवाह है, प्रभु! वह जीव का प्रवाह नहीं। आहाहा! यह यहाँ कहते हैं, **इस प्रकार धर्मी (ज्ञानी) पर का ग्रहण-सेवन नहीं करता।**

गाथा - २०८

अतोऽहमपि न तत् परिगृह्णामि –

मज्झं परिग्गहो जदि तदो अहमजीवदं तु गच्छेज्ज।
णादेव अहं जम्हा तम्हा ण परिग्गहो मज्झ।।२०८।।

मम परिग्रहो यदि ततोऽहमजीवतां तु गच्छेयम्।
ज्ञातैवाहं यस्मात्तस्मान्न परिग्रहो मम।।२०८।।

यदि परद्रव्यमजीवमहं परिगृह्णीयां तदावश्यमेवाजीवो ममासौ स्वः स्यात्, अहमप्यवश्यमेवा–जीवस्यामुष्य स्वामी स्याम्। अजीवस्य तु यः स्वामी, स किलाजीव एव। एवमवशेनापि ममाजीवत्वमापद्येत। मम तु एको ज्ञायक एव भावः यः स्वः, अस्यैवाहं स्वामी; ततो मा भून्ममाजीवत्वं, ज्ञातैवाहं भविष्यामि,न परद्रव्यं परिगृह्णामि।।२०८।।

''इसलिए मैं भी परद्रव्य को ग्रहण नहीं करूँगा'' इस प्रकार अब (मोक्षाभिलाषी जीव) कहता है:–

परिग्रह कभी मेरा बने, तो मैं अजीव बनूं अरे।
मैं नियम से ज्ञाता हि, इससे नहिं परिग्रह मुझ बने।।२०८।।

गाथार्थ : [यदि] यदि [परिग्रहः] परद्रव्य–परिग्रह [मम] मेरा हो [ततः] तो [अहम्] मैं [अजीवतां तु] अजीवत्व को [गच्छेयम्] प्राप्त हो जाऊँ। [यस्मात्] क्योंकि [अहं] मैं तो [ज्ञाता एव] ज्ञाता ही हूँ [तस्मात्] इसलिए [परिग्रहः] (परद्रव्यरूप) परिग्रह [मम न] मेरा नहीं है।

टीका : यदि मैं अजीव परद्रव्य का परिग्रह करूँ तो अवश्यमेव वह अजीव मेरा 'स्व' हो, और मैं भी अवश्य ही उस अजीव का स्वामी होऊँ; और जो अजीव का स्वामी होगा वह वास्तव में अजीव ही होगा। इस प्रकार अवशतः (लाचारी से) मुझमें अजीवत्व आ पड़े। मेरा तो एक ज्ञायकभाव ही जो 'स्व' है, उसी का मैं स्वामी हूँ; इसलिए मुझको अजीवत्व न हो, मैं तो ज्ञाता ही रहूँगा, मैं परद्रव्य का परिग्रह नहीं करूँगा।

भावार्थ : निश्चयनय से यह सिद्धान्त है कि जीव का भाव जीव ही है, उसके साथ जीव का स्व–स्वामी सम्बन्ध है; और अजीव का भाव अजीव ही है, उसके साथ

अजीव का स्व-स्वामी सम्बन्ध है। यदि जीव के अजीव का परिग्रह माना जाए तो जीव अजीवत्व को प्राप्त हो जाए; इसलिए परमार्थतः जीव के अजीव का परिग्रह मानना मिथ्याबुद्धि है। ज्ञानी के ऐसी मिथ्याबुद्धि नहीं होती। ज्ञानी तो यह मानता है कि परद्रव्य मेरा परिग्रह नहीं है, मैं तो ज्ञाता हूँ।

गाथा - २०८ पर प्रवचन

इसलिए मैं भी... अब धर्मी जो सच्चा धर्मी है, वह कहता है कि **मैं भी परद्रव्य को ग्रहण नहीं करूँगा' इस प्रकार अब (मोक्षाभिलाषी जीव) कहता है:-** २०८

मज्झं परिग्गहो जदि तदो अहमजीवदं तु गच्छेज्ज।
णादेव अहं जम्हा तम्हा ण परिग्गहो मज्झ।।२०८।।

नीचे हरिगीत

परिग्रह कभी मेरा बने, तो मैं अजीव बनूं अरे।
मैं नियम से ज्ञाता हि, इससे नहिं परिग्रह मुझ बने।।२०८।।

आहाहा! २०८ की टीका—**यदि...** है? भाई कान्तिभाई को आया? **यदि मैं अजीव परद्रव्य का परिग्रह करूँ...** आहाहा! दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम, वे अजीव हैं, वह जीव की जाति नहीं है, प्रभु! आहाहा! कठिन बात है, प्रभु! आहाहा! पानी में अभी कितने हजार, इन्दुभाई कहते हैं, बीस हजार लोग मर गये। अरेरे! ऐसे अनन्त काल से अज्ञान में डूबकर अनन्त मर गये। आहाहा! उसे तिरने का रास्ता तो भगवान आत्मा ज्ञान है। उसका अनुभव करके रागादि के प्रवाह को अपना नहीं मानकर... आहाहा! क्योंकि **यदि मैं अजीव परद्रव्य का परिग्रह करूँ...** यदि यह पुण्य परिणाम, राग का भाव आया, परन्तु उसे यदि मेरा करूँ **तो अवश्यमेव वह अजीव मेरा 'स्व' हो,...** आहाहा! वह पुण्य परिणाम है, वह अजीव है। आहाहा! कठिन बात है। मैं जीव ज्ञायकस्वरूप, वह पुण्य परिणाम अजीव है, उसे यदि मैं ग्रहण करूँ, परिग्रह करूँ अर्थात् मेरा है—ऐसा मानूँ तो अवश्यमेव, अवश्यमेव—जरूर वह **वह अजीव मेरा 'स्व' हो,...** आहाहा! इतना तो स्पष्टीकरण है परन्तु अब... आहाहा! वस्तु चैतन्यमूर्ति प्रभु! प्रथम इसकी श्रद्धा में तो

पक्का करे, फिर अनुभव बाद में। परन्तु श्रद्धा में ही अभी बाधा, वहाँ अनुभव हो कहाँ से? आहाहा! क्या कहते हैं?

कहते हैं कि **यदि मैं अजीव परद्रव्य का परिग्रह करूँ...** यह पुण्य-पाप, दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध ये सब अजीवभाव हैं, मेरे भाव नहीं। आहाहा! अब इसमें पैसा-बैसा धूल तो कहीं रह गयी। ऐई!

मुमुक्षु : हीरा कहाँ रहे?

पूज्य गुरुदेवश्री : हीरा, हीरा में रहे। हीरा कहाँ आत्मा में थे? इनका पंकज इनका कहाँ था? हीरा तो कहीं रह गया।

इन्हें भी लागू पड़े न कि सुमनभाई कहाँ इनके थे? प्रभु! अरे! तेरी चीज़ तो प्रभु आहाहा! जिसे जन्म-मरण का नाश करना हो और जन्म-मरण में अवतार में उत्पत्ति का नाश करना हो तो जन्म-मरण का और जन्म-मरण के कारणरूप भाव से आत्मा भिन्न ज्ञायकस्वरूप है। (उसका अनुभव करना)। आहाहा!

वह शब्द आया है न यहाँ ? पहले हिम्मतभाई ने नहीं गाया था, वहाँ अभी पढ़ा। जीवराजजी की पाट पर पत्र लिखा है, 'प्रभु मेरे तुम सब बातें पूरा, प्रभु मेरे तुम सब बातें पूरा। पर की आश कहाँ करे प्रीतम किस बात से तू अधूरा? किस बात से तू अधूरा प्रिय? मेरा प्रभु मेरा तुम सब बातें पूरा, पर की आश कहाँ करे प्रियवर' यह दया, दान के विकल्प की आशा नहीं कर, ये मेरे हैं—ऐसा नहीं मान, प्रभु! आहाहा! तेरी चीज़ में पूर्णता भरी है, नाथ! सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ का पुकार है। वीतराग जिनेश्वरदेव का (पुकार है)। आहा! 'प्रभु मेरे तुम सब बातें पूरा' आहा! अभी जीवराजजी के पास पढ़ा। कागज लिखा है। जीवराजजी को कहा, यह ध्यान रखना, कहा यह। शरीर ढीला हो गया है न। 'पर की आश कहाँ करे प्रीतम' शरीर ठीक रहे तो ठीक, शरीर में निरोगता रहे (तो ठीक)। अरे! प्रभु! तुझे पर के साथ क्या काम है? आहाहा!

यह आगे आयेगा। **'छिज्जदु भिज्जदु'** २०९ में आयेगा। शरीर, वाणी और मन छिदते हैं तो छिदो, भिंदते हैं भींदो, नाश होवे तो नाश होओ, मुझे क्या? आहाहा! ऐसे पुण्य-पाप के भाव नाश होंवे तो नाश होओ, वह मेरी चीज़ नहीं है, और उसका फल संयोग

मिले, उसका अभाव होओ, नाश हो तो नाश होओ, मुझे क्या? मेरी चीज़ में वह चीज़ है नहीं। आहाहा! बहुत भारी कठिन काम। वर्तमान में तो पूरा वेग, सम्प्रदाय का पूरा वेग व्यवहार किया और यह करो और यह करो, भक्ति करो और पूजा करो, मन्दिर बनाओ और यह करो, इससे होगा (इसमें चढ़ गया)। अरर!

यहाँ तो कहते हैं कि धर्मी जीव अपने को ऐसा मानता है कि मैं अजीव परद्रव्य का परिग्रह करूँ (अर्थात्) इस पुण्य परिणाम को अपना मानूँ तो **अवश्यमेव वह अजीव मेरा 'स्व' हो,...** तो वह पुण्य परिणाम अजीव है, वह मेरा स्वधन हो। आहाहा! और **मैं भी अवश्य ही उस अजीव का स्वामी होऊँ;...** बहुत सरस गाथा है। आहाहा! मैं आत्मा आनन्द और ज्ञान का रसिक मैं हूँ। आहाहा! उस ज्ञान के साथ, ज्ञान आनन्द का भोजन करनेवाला, अतीन्द्रिय आनन्द का भोजन करनेवाला, ऐसा जो मैं आत्मा... आहाहा! अकेला ज्ञान नहीं, सम्यग्ज्ञान के साथ आनन्द का अनुभव साथ में—ऐसा जो ज्ञान, वह मैं (हूँ)। ये रागादि जो अज्ञान और दुःख, उस अजीव को मेरा मानूँ तो मैं अजीव हो जाऊँ। आहाहा! भारी कठिन काम, बापू! वीतरागमार्ग, आहाहा! अरे! लोगों ने लूट डाला। दूसरे प्रकार से कर डाला। आहाहा!

अजीव मेरा 'स्व' हो,... पुण्य मेरा धन हो और **मैं भी अवश्य ही उस अजीव का स्वामी होऊँ;...** आहाहा! **और जो अजीव का स्वामी...** होगा। भैंस का मालिक पाड़ा होता है। भैंस का मालिक कोई बनिया, सेठिया नहीं होता। इसी प्रकार इस राग का मैं स्वामी होऊँ... आहाहा! तो मैं अजीव हो जाऊँ। गजब बात है, प्रभु! ऐसी बात सुनने को मिलना मुश्किल। आहाहा! सम्प्रदाय के आग्रह में पड़े हैं, उन्हें ऐसी बात सुनना मुश्किल पड़ती है। आहाहा!

प्रभु कहते हैं, प्रभु! तू आत्मा है न! और आत्मा है तो वह तो ज्ञान और आनन्द का भण्डार प्रभु है। उसमें यह रागादि परिणति उत्पन्न (हो), वह मेरी चीज़ नहीं है। अब जो चीज़ तेरी नहीं, उससे तुझे लाभ होगा? आहाहा! पुण्य परिणाम करूँ (तो) मुझे लाभ होगा। अरे! प्रभु! तू यह क्या करता है? तू अजीव हो गया? उसका स्वामी होकर मेरे (हैं ऐसा) माने, वह तो अजीव हो गया। **वास्तव में अजीव ही होगा।** है? **अजीव का स्वामी होगा, वह वास्तव में अजीव ही होगा।** आहाहा! यह दया, दान, व्रत का राग,

उसे मैं मेरा मानूँ तो वह अजीव है, तो मैं अजीव हो जाऊँ। आहाहा! ऐसा वीतराग का मार्ग है। यह जिन वीतराग के अतिरिक्त कहीं किसी मार्ग में यह बात नहीं है। वेदान्त और वैष्णव और अन्य सब अनेक प्रकार के, सभी कल्पित बातें हैं। अरे! श्वेताम्बर में कल्पित बातें हैं तो अन्यत्र तो... श्वेताम्बरमत भी कल्पित निकाला हुआ है। यह तो वस्तु का स्वरूप है। आहाहा!

सर्वज्ञ परमात्मा का पुकार (है कि) प्रभु! तू आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप है न? तेरी स्वामित्व की चीज़ तो ज्ञान और आनन्द है न, प्रभु! और उस राग को यदि अपना मानेगा तो तू अजीव हो जाएगा। आहाहा! अब वह कहता है कि पुण्य को अधर्म कहाँ कहा है? परन्तु यहाँ पुण्य को अजीव कहा है, यह क्या है? जीव नहीं, वह अजीव। धर्म नहीं, वह अधर्म। आहाहा!

यह तो उस 'सर्वविशुद्ध' में आता है न? भाई! ४०४ गाथा, नहीं? ऐसा कि आत्मा ज्ञान है, दर्शन है, आनन्द है और पुण्य-पाप, वह आत्मा है। 'धर्म-अधर्म' शब्द वहाँ पड़ा है। धर्म अर्थात् पुण्य। ऐसा कहकर अपनी पर्याय का अस्तित्व सिद्ध किया पर्याय में परन्तु फिर कहा कि शुभाशुभभाव परसमय है, उसे दूर कर दे। आहाहा! ४०४ गाथा है न? आहाहा! **'धम्माधम्मं'** आत्मा, वहाँ तो ऐसा लिया है। पुण्य और पाप आत्मा है, इसकी पर्याय में है न? इस अपेक्षा से। यहाँ यह बात नहीं है। यहाँ तो निर्जरा का अधिकार है तो वह पुण्य और पाप अजीव है। वहाँ तो जीव की स्थिति का वर्णन होता है कि अपनी पर्याय में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हुए, वे अपने और पुण्य-पाप भी अपने हैं। वे कोई जड़ में हैं और जड़ के हैं, ऐसा नहीं है। फिर कहा कि, वे पुण्य-पाप जो अपने हैं, ऐसा जो कहा था, वह परसमय है, उसे दूर कर दे। तेरा स्वसमय ग्रहण कर ले। है न भाई उसमें? पीछे है। क्या है वह? ४०४ है? ४०४ है। देखो! ४०४ (गाथा) की टीका। पाठ ले लो, पाठ। देखो! ४०४ गाथा!

ज्ञानं सम्यग्दृष्टिं तु संयमं सूत्रमङ्गपूर्वगतम्।
धर्माधर्म च तथा प्रव्रज्यामभ्युपयान्ति बुधाः।।४०४।।

धर्माधर्म (अर्थात्) पुण्य-पाप, यह आत्मा है, ऐसा कहकर। आहाहा! उसमें अन्त

में है। यहाँ है, देखो! ५५२ (पृष्ठ है)। **ज्ञान ही सम्यग्दृष्टि है,...** दूसरी लाईन है। है? **ज्ञान ही सम्यग्दृष्टि है, ज्ञान ही संयम है, ज्ञान ही अंगपूर्वरूप सूत्र है,...** ज्ञान... ज्ञानपर्याय। इस शास्त्र के पृष्ठ, यह नहीं। **ज्ञान ही धर्म-अधर्म (अर्थात् पुण्य-पाप) है, ज्ञान ही प्रव्रज्या (-दीक्षा, निश्चयचारित्र) है-इस प्रकार ज्ञान का जीवपर्यायों के साथ भी अव्यतिरेक निश्चयसाधित देखना (अर्थात् निश्चय द्वारा सिद्ध हुआ समझना-अनुभव करना) चाहिए।**

अब, इस प्रकार सर्व परद्रव्यों के साथ व्यतिरेक के द्वारा और सर्व दर्शनादि जीवस्वभावों के साथ अव्यतिरेक के द्वारा अतिव्याप्ति को और अव्याप्ति को दूर करता हुआ, अनादि विभ्रम जिसका मूल है, ऐसे धर्म-अधर्म... देखो! पहले पर्याय में उसके कहे, परन्तु फिर कहते हैं कि, वह धर्म-अधर्म है, वह परसमय है। स्वसमय आत्मा (है)। है? पुण्य-पापरूप **परसमय को दूर करके,...** है? पहले इसकी पर्याय में है, ऐसा सिद्ध किया। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, आनन्द आदि धर्म भी अपनी पर्याय में है और पुण्य-पाप भी अपनी पर्याय में सिद्ध किये। पश्चात् कहा कि, उस परसमय को दूर कर दे। आहाहा! है? आहाहा! **परसमय को दूर करके,...**

धर्म-अधर्मरूप (पुण्य-पापरूप, शुभ-अशुभरूप,) परसमय को दूर करके, स्वयं ही प्रव्रज्यारूप को प्राप्त करके दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थितिरूप स्वसमय को प्राप्त करके,... आहाहा! अपना जो शुद्ध स्वरूप, स्व दर्शन-ज्ञान-चारित्र, उसे प्राप्त करके। रागादि परसमय है, उसे दूर करके। पहले कहा कि इसकी पर्याय में है। पश्चात् कहा कि उस परसमय को दूर करके। आहाहा! अब परसमय कहा, कुशील कहा, अजीव कहा, शुभभाव। आहाहा! यह तो जरा प्रव्रज्या का याद आया। प्रव्रज्या यह कौन है? बापू! यह पुण्य-पाप से रहित अपने स्वरूप की आनन्द सहित की रमणता, वह प्रव्रज्या है। प्रव्रज्या कोई नग्न हो गया और पंच महाव्रत के परिणाम, ये भी अभी कहाँ है? अभी तो उनके लिये चौका बनाकर लेते हैं। व्यवहार का भी ठिकाना नहीं है। देनेवाला भी पापी और लेनेवाला भी पापी है। दोनों (पापी) हैं। उसके लिये चौका बनावे। बोले (ऐसा कि) आहार शुद्ध, मन शुद्ध... परन्तु यह बनाया उसके लिये तो शुद्ध कहाँ से आया तेरा? झूठ बोले और उसे मान्य रखकर ले। मार्ग, बापू! यह तो वीतराग का है, भाई! समझ में आया?

और यह तो हमने पन्द्रह-बीस वर्ष किया था न? हमारे लिये पानी की बूँद होवे तो नहीं लेते थे। सम्प्रदाय में इस रीति का मान्य था न। दो-दो दिन तक पानी की बूँद नहीं मिलती थी। छाछ, मट्ठा मिले। गरासिया या राजपूत के यहाँ से ले आवें। रोटी और छाछ। उस समय तो जो क्रिया मानी थी, वह सख्त करते थे। स्थानकवासी में। पानी की बूँद भी हमारे लिये की हो तो बिल्कुल उस गृहस्थ के घर में आहार नहीं लें। परन्तु वह अज्ञान की क्रिया। आहाहा! आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि प्रभु! एक बार सुन तो सही। निर्जरा उसे होती है कि जिसने अपने ज्ञायकस्वभाव को स्वधन माना और रागादि को परधन और अजीव माना... आहाहा! समझ में आया? उस पुण्यभाव को अजीव माना, शुभभाव और अपने चैतन्य भगवान को जीव ज्ञायकरूप जाना, वह कहते हैं कि मैं यदि अजीव को ग्रहण करूँ... आहाहा! तो अजीव का स्वामी होऊँ। **और जो अजीव का स्वामी होगा, वह वास्तव में अजीव ही होगा।** आहाहा! दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के भाव अजीव हैं। अरे! वहाँ पर्याय में जीव कहा। यहाँ कहते हैं कि वह अजीव है। वहाँ फिर परसमय कहकर दूर कर दिया। आहाहा! अरे! अशरण (संसार में) शरण कहीं नहीं मिलती। शरण जो प्रभु है अन्दर, चिदानन्दस्वरूप उसकी जहाँ दृष्टि हुई, उसका ज्ञान हुआ, वह शरण है। तब वह धर्मी जीव ऐसा मानता है कि राग, वह पुण्य, वह अजीव है। यदि उसे मैं ग्रहण करूँ तो मैं अजीव हो जाऊँगा क्योंकि अजीव का स्वामी अजीव होता है। भैंस का स्वामी पाड़ा होता है, भैंस का स्वामी बनिया, सेठिया नहीं होता। आहाहा! वहाँ तो कहे न हमारी भैंस है। वहाँ तो कहते हैं कि भैंस तेरी है, ऐसा तू माने तो भैंस का पाड़ा हुआ। ऐई! यह मेरी घोड़ी है और यह मेरा घोड़ा है। घोड़ा होता है न?

हमारे दामोदर सेठ था न, दामनगर? इतनो में पैसेवाले वे ही थे। तब २७ वर्ष (पहले) दस लाख रुपये। दामोदर सेठ, दामनगर के हैं और घर में घोड़ा। एक घोड़ा, दो घोटा ऐसा नहीं। अलग-अलग प्रकार की घोड़ी और अलग-अलग प्रकार के घोड़े और अरबी घोड़ा घर में। अरबी। बन्दूक का अरबी घोड़ा बैठा हो। यह दामनगर। वहाँ हमारे बहुत चातुर्मास थे न? आहाहा! यह सब धूल की साहिबी। आहाहा! और अपनी माने, वह तो बाहर की चीज़, परन्तु यहाँ तो अन्तर के पुण्यभाव हैं।

वह तो यहाँ 'पुण्य-पाप (अधिकार में)' कहा है न, दोनों भाव अज्ञान है। 'पुण्य-पाप' में कहा है न? 'पुण्य-पाप' नहीं? शुरुआत (में कहा है)। १४५ गाथा, १४५ गाथा। है? नीचे टीका का अन्तिम पैराग्राफ। **शुभ या अशुभ जीव परिणाम केवल अज्ञानमय होने से एक है...** है? १४५ गाथा। अमृतचन्द्राचार्य की टीका। आहाहा! और कुन्दकुन्दाचार्य की गाथा। है? शुभ या अशुभ जीव परिणाम, जो जीवपरिणाम कहे। **केवल अज्ञानमय होने से एक है...** दोनों एक हैं, अज्ञान है। आहाहा! समझ में आया? दोनों एक ही हैं तो पुण्य-पाप में भेद है, ऐसा हम नहीं कहते। आहाहा! है? **वे एक होने से कर्म के परिणाम में भेद नहीं है...** कर्म के परिणाम जो बन्धन का कारण है, उसमें भेद नहीं है। जो शुभ और अशुभ दोनों अज्ञानभाव हैं। आहाहा! ऐसी बात, कहाँ लोगों को पड़ी है? संसार में भटक कर मरते हैं, अनादि से चौरासी (के) अवतार (चलते हैं)। वाडा में धर्म के बहाने भी पुण्य की क्रिया करके धर्म माने और हम धर्म करते हैं, (ऐसा मानते हैं)। अरे! जन्म-मरण नहीं मिटेंगे, प्रभु! आहाहा! यह तो संसार है। शुभभाव, वह तो संसार है, अजीव है। अजीव में (धर्म) मानना तो संसार में भटकना है। आहाहा!

अब चलता अधिकार। **वास्तव में अजीव ही होगा।** आहाहा! धर्मी जीव समकिती ज्ञानी ऐसा विचार करता है कि मैं तो ज्ञायकस्वरूप हूँ। पुण्य और पाप तो अजीव, अजीव जड़ है, वे अज्ञानभाव हैं क्योंकि उनमें मेरा ज्ञानस्वभाव नहीं है। मेरा ज्ञानस्वभाव उन शुभ-अशुभभाव में है नहीं, तो उन शुभभाव, अशुभभाव को अज्ञान कहकर मेरे नहीं, (ऐसा कहा)। और यदि मैं मेरे मानूँ तो मैं अजीव हो जाऊँगा। कहो, शान्तिभाई! तो फिर पंकज और अमुक और अमुक...

मुमुक्षु : आत्मा के अतिरिक्त कोई मेरा नहीं। ऐसा सुनने को मिले तब न, ऐसा कौन सुनावे?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु भाग्यशाली तुम छोड़कर आये हो। कितना उत्साह किया है। वहाँ प्रमुख है। छोड़कर यहाँ आये हैं। मार्ग यह है, बापू! कान्तिभाई! यह तो परमात्मा का मार्ग है। आहाहा! पहले तो सुनने मिलना मुश्किल है। यह सिद्ध है, हमने तो पूरा हिन्दुस्तान देखा है न! आहाहा!

यहाँ कहते हैं, कि आहाहा! गाथा बहुत (अच्छी आयी है)। मैं अवश्य अजीव का

स्वामी होऊँ। यदि मैं पुण्य मेरा मानूँ, शुभभाव, हों! तो मैं अवश्य उसका स्वामी होऊँ। **और जो अजीव का स्वामी होगा, वह वास्तव में अजीव ही होगा। इस प्रकार अवशत: (लाचारी से) मुझमें अजीवत्व आ पड़े।** आहाहा! मेरी लाचारी से, पुण्य-परिणाम मेरा माने तो मुझे लाचारी से अजीवपना आ पड़े, मैं तो अजीव हो जाऊँ। आहाहा! ऐई!

मेरा तो एक ज्ञायकभाव ही जो 'स्व' है,... आहाहा! जाननेवाला-देखनेवाला भगवान ज्ञाता-दृष्टा वह, (मैं हूँ)। **मेरा तो एक ज्ञायकभाव ही...** पुण्य भाव नहीं और ज्ञायकभाव ही। आहाहा! जो **'स्व' है,...** ज्ञायकभाव ही जो स्व है। अपना जो ज्ञायकभाव, वह स्व है, वह मेरा धन है, वह मेरी लक्ष्मी है। **उसी का मैं स्वामी हूँ;...** आहाहा! मैं तो ज्ञायकभाव, वह मेरा स्व है, उसका मैं स्वामी हूँ। आहाहा! उस अजीव का स्वामी हो जाऊँ तो मैं अजीव हो जाऊँ, (परन्तु) मैं ऐसा हूँ ही नहीं। आहाहा! यह सब पैसे-बैसे के मालिक और तुम्हारे मकान के मालिक, नहीं? तुम्हारे छह भाईयों को पाँच-पाँच लाख का एक-एक वह है, क्या कहलाता है? ब्लॉक... ब्लॉक। छह भाईयों के रहने के पाँच-पाँच लाख का एक। पैसा तो करोड़ों रुपये हैं। धूल... धूल। आहाहा! ऐसा सुना है। परन्तु आये थे, नहीं? एक बार आये थे वहाँ मकान में आये थे। पोपटभाई थे। आहाहा! छह भाईयों का अलग और उनके पिता का अलग। आहाहा! चले गये। किसकी चीज़ थी? बापू!

यहाँ तो कहते हैं कि वह संयोग तो पुण्य के फल हैं। वे तो कहीं दूर रह गये। परनतु तुझमें जो राग की मन्दता का शुभभाव आया, वह भी अजीव है, वह अज्ञान है, उसमें आत्मा—ज्ञान नहीं है। उस ज्ञायकस्वरूप का उसमें अभाव है। आहाहा! उसके भाव में तो अजीवपना है। जीवपना तो ज्ञायकभाव है। राग तो अजीवपने का अज्ञानभाव है। आहाहा! ऐसी बात है, बापू! कठिन पड़े, क्या हो? पश्चात् सोनगढ़ का एकान्त है, एकान्त है, ऐसा लोग कहते हैं। क्योंकि व्यवहार से लाभ होता है, यह तो कहते नहीं। परन्तु व्यवहार, वह अजीव-जड़ है। व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प, वह अजीव जड़ है। जड़ से तुझमें लाभ होगा? तेरी चीज़ में है, उससे तुझे लाभ होगा। तेरी चीज़ में तो ज्ञान और आनन्द है (तो) ज्ञान, आनन्द से तुझे लाभ होगा। आहाहा! ऐसी बात मिलना मुश्किल पड़ती है।

अरे! प्रभु! आहा! चौरासी लाख (योनियों में) डुबकी मारते हुए परिभ्रमण करता

है। मोरबीवालों ने तो नजरों से देखा, पानी में मुर्दे तैरते हुए। आहाहा! इसी प्रकार इन चौरासी में भटकते प्राणी मुर्दे-मुर्दे हैं। चैतन्य के भानरहित प्राणी को मृतक कलेवर कहा है। आहाहा! संसार में डूबकर मरते हैं, जो प्राणी अज्ञान में राग मेरा, पुण्य मेरा... आहाहा! वे मरे हुए मुर्दे हैं। चैतन्य जीवित जागता जीव है, उसे पुण्य मेरा मानकर मार डाला है, मुर्दा बना दिया। यह है न? कलश टीका में है। मरणतुल्य कर डाला। है न? इसमें है? २८, २८ न? २८ कलश। देखो!

जिस प्रकार ढ़ँकी हुई निधि प्रगट की जाती है, उसी प्रकार जीवद्रव्य प्रगट ही है परन्तु कर्मसंयोग से ढ़ँका हुआ होने से... राग मेरा है, इस राग से ढँका हुआ होने से **मरण को प्राप्त हो रहा था...** आहाहा! कलश की राजमलजी की टीका है। मरण को प्राप्त हो गया। अरेरे! राग मेरा (मानकर) प्रभु! तूने आत्मा को मार डाला। यह जीवित ज्योति ज्ञायक, उसे इस मुर्दे, राग मेरा (मानकर) जीव को मरणतुल्य कर डाला। आहाहा! है? **यह भ्रान्ति...** आहाहा! **परमगुरु श्री तीर्थंकरदेव का उपदेश सुनने से मिटती है,...** तीन लोक के नाथ का उपदेश यह है... आहाहा! कि पुण्य के परिणाम अजीव हैं, प्रभु! (वे) तेरे नहीं हैं। आहाहा! जो पुण्य के परिणाम मेरे हैं, ऐसा मानकर तेरे आत्मा को मरणतुल्य कर डाला। वह भ्रान्ति तीन लोक के नाथ के उपदेश से (मिटती है)।

उनका—प्रभु का उपदेश क्या है? राग पुण्य है, अजीव है, वह तेरी चीज़ नहीं। अन्दर में भगवान ज्ञायकस्वरूप, वह तेरी चीज़ है। ऐसी वीतराग की वाणी सुनने से भ्रान्ति का नाश होता है। बाकी वीतराग के अतिरिक्त कहीं यह बात है नहीं। तीर्थंकर के अतिरिक्त, जैन परमेश्वर के अतिरिक्त कहीं यह बात है नहीं। आहाहा! यह टीकाकार है। पूरे कलश है न? उनकी टीका राजमल ने (की है)। 'राजमल जैनधर्मी, जैनधर्म के मर्मी' बनारसीदास ने कहा। बनारसीदास। समयसार नाटक में आया है। आहाहा! क्या कहा?

धर्मी कहता है कि **(लाचारी से) मुझमें अजीवत्व आ पड़े।** राग को मेरा मानूँ तो लाचारी से मुझमें अजीवपना आ जाए। आहाहा! **मेरा तो एक ज्ञायकभाव ही जो 'स्व' है, उसी का मैं स्वामी हूँ;...** आहाहा! धर्मी आत्मा के ज्ञानी, अपना स्वभाव ज्ञायकरूप है, वह मैं हूँ, वह मेरा स्व है, वह मेरा धन है (—ऐसा मानता है)। स्व अर्थात् धन। आहाहा! वह मेरी लक्ष्मी है। अब यह तुम्हारे हीरा-फीरा की लक्ष्मी तो कहीं धूल में

रह गयी। पच्चीस व्यक्ति इनके घर काम करते हैं, हीरा को घिसने का। बड़े-बड़े एक-एक महीने में हजार रुपये के।

मुमुक्षु : आप तो कहते हो कि पर का काम कर नहीं सकता।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह कर नहीं सकता, परन्तु वहाँ करता है—ऐसा मानता है न? पच्चीस व्यक्ति काम करते हैं। एक-एक को एक हजार रुपये महीने मिलते हैं। पच्चीस हजार तो एक महीने में देते हैं। हीरा को घिसने के एक महीने के पच्चीस हजार। वहाँ गये थे न दुकान में, सब आये थे, वन्दन करने। कहा, यह कौन है यह? कि हीरा को घिसनेवाले हैं। बारह महीने में तीन लाख तो घिसने के देते हैं। इसलिए मानो दूसरे पैसे तो कितने पैदा होते होंगे, धूल। आहाहा! यह कहते हैं कि यह पैसे मेरे हैं, मर गया प्रभु तू, मार डाला तुझे। तेरा जीव स्वरूप है, उसे अजीवरूप (मानकर) मार डाला। आहाहा!

यहाँ यह आया। **उसी का मैं स्वामी हूँ; इसलिए मुझको अजीवत्व न हो,...** आहाहा! वाणी तो मेरी नहीं, कर्म तो मेरे नहीं परन्तु उपदेश में जो विकल्प उठता है, वह मेरा नहीं। समझ में आया? धर्मी ऐसा जानता है कि, वाणी की पर्याय, वह तो जड़ की है; वह तो मेरी नहीं, मुझसे नहीं परन्तु समझाने का जो विकल्प आता है, वह भी पुण्य है, शुभभाव है, वह अजीव है। आहाहा! ऐसा कठिन काम। वह **अजीवत्व न हो,...** मुझमें अजीवपना न हो। आहाहा!

मैं तो ज्ञाता ही रहूँगा,... आहाहा! धर्मी सम्यग्दृष्टि धर्म की शुरुआतवाला, धर्म की पहली सीढ़ीवाला ऐसा मानता है। आहाहा! **मैं तो ज्ञाता ही रहूँगा,...** राग आता है, परन्तु वह मेरा नहीं है। मैं तो उसे जाननेवाला रहूँगा। आहाहा! समझ में आया? देखो न, इसमें यह तो स्पष्ट बात है। यह तो दो हजार वर्ष पहले कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा। यह टीका हजार वर्ष (पश्चात्) अमृतचन्द्राचार्य दिगम्बर सन्त, चलते सिद्ध हजार वर्ष पहले (हुए), उनकी टीका, वह टीका। हिन्दुस्तान में अन्यत्र तो नहीं परन्तु दिगम्बर जैन में भी ऐसी टीका दूसरी नहीं है। ऐसी टीका! आहाहा! देखो न! कितना बताते हैं! आहाहा! संस्कृत टीकाकार हैं।

कहते हैं, धर्मी ऐसा जानता है कि राग तो अजीव है। उसे मेरा मानूँ तो मैं अजीव का

स्वामी हो जाऊँ और अजीव का स्वामी होऊँ तो अजीव हो जाऊँगा। आहाहा! मैं पुण्य को अजीव मानकर मेरा नहीं मानता। आहाहा! **मैं तो ज्ञाता ही रहूँगा, मैं परद्रव्य का परिग्रह नहीं करूँगा।** आहाहा! इस शुभभाव की भी पकड़ नहीं करूँगा कि यह मेरा है। आहाहा! भाषा तो सादी है, प्रभु! यह तेरे घर की बात चलती है, नाथ! आहाहा!

आनन्द का नाथ अन्दर डोलता है। आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द से भरपूर भगवान भरा है। जैसे अतीन्द्रिय ज्ञान से भरपूर भरा है, वैसे अतीन्द्रिय आनन्द से भरपूर (भरा है)। जब उसका ज्ञान होता है तो ज्ञान के साथ आनन्द भी आता है। आहाहा! उसे जीव कहने में आता है। और साथ में जो राग है, वह यदि मेरा हो जाए तो मैं जीव नहीं रहूँगा, अजीव हो जाऊँगा। (वह) मैं नहीं करूँ, मैं तो ज्ञाता हूँ। आहाहा! ऐसा मार्ग है।

मैं परद्रव्य को... देखो! पुण्य को परद्रव्य कहा। यह दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का विकल्प राग है, अरे! जिस भाव से तीर्थंकर गोत्र बँधे, वह भाव परद्रव्य है। आहाहा! मैं परद्रव्य का परिग्रह नहीं करूँगा। परद्रव्य मेरे हैं, ऐसा नहीं मानूँ। आहाहा! मैं उनकी पकड़ नहीं करूँगा, मैंने तो भगवान ज्ञायक को पकड़ में लिया है तो राग की पकड़ नहीं करूँगा। आहाहा! राग आयेगा, धर्मी को भी राग तो आयेगा परन्तु पकड़ नहीं करूँगा कि वह मेरा है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। ऐसी बात सुनना भी मुश्किल पड़े, बापू! है न?

हमें तो ९० वर्ष हुए। शरीर को ९० (हुए)। (संवत्) १९६४ के वर्ष से। कहा था न? १९६४ में १८ वर्ष की उम्र (थी), ७२ वर्ष पहले अन्दर में यह आया था। आहाहा! प्रभु! तू कौन है? 'शिवरमणी रमनार तू, तू ही देव का देव' १८ वर्ष की उम्र में, १९६४ के वर्ष। संवत १९६४। वहाँ दो दुकानें थीं न? १९६३ में दूसरी दुकान थी। १९५९ में हमारे पिताजी की दुकान थी, पालेज। १९६३ में कुँवरजीभाई और मेरे बड़े भाई की दुकान (की)। दोनों दुकानें बन्द रखी थी। कुँवरजीभाई की बहिन का विवाह था तो सब चले गये थे। मैं और एक नौकर दोनों रहे थे। आहाहा! उस समय रामलीला आयी थी और बराबर देखने गये। उसमें से अन्दर से ऐसा आया। यह आधी लाईन याद रह गयी। बाकी छह लाईनें होती तो खबर पड़ती कि यह क्या है? यह शब्द आया अन्दर से। हम तो बनिया-व्यापारी, यहाँ कहाँ कवि-बवि थे। परन्तु उस समय (आया)। 'शिवरमणी रमनार तू, तू ही देव का देव' यह लाईन शुरु हो गयी। लालचन्दभाई! अन्दर से, हों! आहाहा! हमारा

नौकर साथ में बैठा था। वीरचन्द था। आहाहा! तू तो प्रभु! देव का देव है। यह देव जो हैं, उनका भी देव तू है। आहाहा! यह चीज़ बापू! ऐसी कोई है अन्दर।

उसे अन्तर में राग रुचे नहीं, आहाहा! (राग) आवे, हो, परन्तु वह रुचता नहीं। उसे अपना मानता नहीं। आहाहा! ऐसा काम, इसलिए लोगों को लगे न, व्यवहार को तो उत्थापित करते हैं। उत्थापित क्या? नाश करते हैं, सुन न! व्यवहार अजीव है, ऐसा कहते हैं। देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा का भाव, शास्त्र के ज्ञान का विकल्प और पंच महाव्रत का विकल्प, वह अजीव है, वह जीव नहीं है। आहाहा! चिल्लाहट मचावे न! किशोरभाई! यह कहाँ वहाँ नैरोबी में है वहाँ? पैसा है वहाँ, धूल। अजीतभाई वहाँ रहते हैं उनका छोटा भाई। अजीतभाई बहुत बार यहाँ रहते हैं। प्रेमचन्दभाई आने से पहले। मकान था। आहाहा!

इतना शब्द प्रयोग किया। एक तो राग को अजीव कहा, दूसरा राग को परद्रव्य कहा। इस एक श्लोक में यह दया, दान, व्रत परद्रव्य है। आहाहा! नियमसार में तो निर्मल पर्याय को परद्रव्य कहा है। पर्याय से दृष्टि हटाने को। समझ में आया? यह तो परद्रव्य वास्तविक है। आहाहा! मैं परद्रव्य का परिग्रह—राग मेरा है, ऐसा नहीं मानूँगा। आहाहा! देखो! यह धर्म की दृष्टि। यह सम्यग्दृष्टि का भाव। आहाहा!

भावार्थ : निश्चयनय से यह सिद्धान्त है... निश्चय अर्थात् वास्तविक दृष्टि में ऐसा सिद्धान्त है, सिद्ध हुई वस्तु है कि **जीव का भाव जीव ही है,...** ज्ञायकपना, जानना, आनन्दादि, वह जीव का भाव जीव ही है। **उसके साथ जीव का स्व-स्वामी सम्बन्ध है;...** अपना ज्ञायक और आनन्दस्वरूप प्रभु, वह अपना स्व और उसका स्वामी अपना आत्मा। अपना स्व-स्वामीपना उसमें है। राग स्व और उसका स्वामीपना अपने में नहीं है। आहाहा! तो यह स्त्री, पुत्र और यह सब... आहाहा! पलटन खड़ी (की), वह तो तुझमें है नहीं और तेरे है नहीं। आहाहा!

उसके साथ जीव का स्व-स्वामी सम्बन्ध है। अपना आनन्द, ज्ञान स्वभाव के साथ। **अजीव का भाव अजीव ही है,...** रागादि तो अजीव का भाव, वह अजीव है। **उसके साथ अजीव का स्व-स्वामी सम्बन्ध है;...** अजीव का स्व-स्वामी सम्बन्ध है। अजीव उसका स्व और अजीव उसका स्वामी। आहाहा! समयसार का एक-एक श्लोक भगवान की दिव्यध्वनि का मक्खन। आहाहा! कुन्दकुन्दाचार्य की गाथा और

अमृतचन्द्राचार्य की टीका। आहाहा! जीव को अन्दर डोला देती है। आहाहा! प्रभु! तू ज्ञायक में झूल। आहाहा! यह राग तेरी चीज़ नहीं है, प्रभु! आहाहा!

राग, दया, दान परिणाम तेरे नहीं तो अब कौन सी चीज़ तेरी है? आहाहा! शरीर ठीक होवे तो ठीक होगा। अरे! परन्तु वह तो जड़ है, ठीक होवे तो तुझे क्या है? आहाहा! लो, हसमुखभाई को हुआ था, नहीं? कैसा रोग हुआ था इन्हें? पैसे तो करोड़ों पड़े थे। ऐसे स्वप्न आवे और ऐसे भाव आवें, मानो ऐसा... अन्त में गये थे न वहाँ? एकदम वह हो गया, अनुकूलता हो गयी। अन्तिम स्थिति ऐसी। ऐसे स्वप्न आवें मानो मार डाला, मार डाला, यह किया और यह किया। उन्हें हुआ था, लालचन्दभाई! उन्हें हुआ था। बहुत अन्तिम स्थिति थी। ऐसे घबरा गये। उसमें हम गये। सहज में सब बदल गया।

मुमुक्षु : आपके चरण से...

पूज्य गुरुदेवश्री : वह सहज होने की पर्याय है। आहा! उस समय स्वप्न में मार डाला किसी ने। मार डाला। ऐसे स्वप्न आते थे। ऐसी कल्पना आती थी। आहाहा! पैसा तो करोड़ों रुपये थे, अन्दर धूल (क्या) करे? आहाहा!

यहाँ कहते हैं, आहाहा! **यदि जीव के अजीव का परिग्रह माना जाए तो जीव अजीवत्व को प्राप्त हो जाए;...** जो भगवान है आत्मा, वह पामररूप से अजीव हो जाए। आहाहा! प्रभु गरीब हो जाए, अजीव हो जाए। आहाहा! **इसलिए परमार्थतः जीव के अजीव का परिग्रह मानना मिथ्याबुद्धि है।** आहाहा! वास्तव में भगवान को अजीव का, राग और पुण्यादि को अपना मानना, वह मिथ्याबुद्धि / मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! ऐसी बात है। ऐसा सुनने का, भाई! बोले नहीं? कान्तिभाई, नहीं? सुनने को मिलना मुश्किल है। कान्तिभाई! भाग्यशाली। वहाँ के प्रमुख हैं, छोड़कर आये हैं। दो-चार दिन से देखा तुम्हें। कान्तिभाई आते हैं। आहा! बापू! मार्ग... आहाहा!

ज्ञानी के ऐसी मिथ्याबुद्धि नहीं होती। राग को अपना मानना और उससे लाभ मानना, ऐसी बुद्धि नहीं होती। **ज्ञानी तो यह मानता है कि परद्रव्य मेरा परिग्रह नहीं है,...** रागादि मेरी चीज़ ही नहीं, मैं तो ज्ञायकस्वरूप चिदानन्द हूँ। आहाहा! **मैं तो ज्ञाता हूँ।** मैं तो जाननेवाला-देखनेवाला भगवान ज्ञायक हूँ। आहाहा! दूसरा कोई मेरी चीज़ में है नहीं। विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा - २०९

अयं च मे निश्चय: -

छिज्जदु वा भिज्जदु वा णिज्जदु वा अहव जादु विप्पलयं।
जम्हा तम्हा गच्छदु तह वि हु ण परिग्गहो मज्झ।।२०९।।

छिद्यतां वा भिद्यतां वा नीयतां वाथवा यातु विप्रलयम्।
यस्मात्तस्मात् गच्छतु तथापि खलु न परिग्रहो मम।।२०९।।

छिद्यतां वा, भिद्यतां वा, नीयतां वा, विप्रलयं यातु वा, यत-स्ततो गच्छतु वा, तथापि न परद्रव्यं परिगृह्णामि; यतो न परद्रव्यं मम स्वं, नाहं परद्रव्यस्य स्वामी, परद्रव्यमेव परद्रव्यस्य स्वं, परद्रव्यमेव परद्रव्यस्य स्वामी, अहमेव मम, स्वं अहमेव मम स्वामी इति जानामि।।२०९।।

'और मेरा तो यह (निम्नोक्त) निश्चय है' यह अब कहते हैं:-

छेदाय या भेदाय, को ले जाय, नष्ट बनो भले।
या अन्य को रीत जाय, पर परिग्रह न मेरा है अरे।।२०९।।

गाथार्थ : [छिद्यतां वा] छिद जाए, [भिद्यतां वा] अथवा भिद जाए; [नीयतां वा] अथवा कोई ले जाए, [अथवा विप्रलयम् यातु] अथवा नष्ट हो जाए, [यस्मात् तस्मात् गच्छतु] अथवा चाहे जिस प्रकार से चला जाए, [तथापि] फिर भी [खलु] वास्तव में [परिग्रह:] परिग्रह [मम न] मेरा नहीं है।

टीका : परद्रव्य छिदे, अथवा भिदे, अथवा कोई उसे ले जाए, अथवा वह नष्ट हो जाए, या चाहे जिस प्रकार से जाए, तथापि मैं परद्रव्य को परिग्रहण नहीं करूँगा; क्योंकि 'परद्रव्य मेरा स्व नहीं है,-मैं परद्रव्य का स्वामी नहीं हूँ, परद्रव्य ही परद्रव्य का स्व है-परद्रव्य ही परद्रव्य का स्वामी है, मैं ही अपना स्व हूँ-मैं ही अपना स्वामी हूँ' - ऐसा मैं जानता हूँ।

भावार्थ : ज्ञानी को परद्रव्य के बिगड़ने-सुधरने का हर्ष विषाद नहीं होता।

प्रवचन नं. २८९, गाथा-२०९, २१०, श्लोक-१४५ सोमवार, श्रावण कृष्ण १३
दिनाङ्क २०-०८-१९७९

समयसार, निर्जरा अधिकार २०९ गाथा। **'और मेरा तो यह (निम्नोक्त) निश्चय है' (यह अब कहते हैं:-)** २०९ (गाथा) के ऊपर। धर्मी जिसे आत्मा का राग से भिन्न अनुभव दृष्टि हुई है, उसका नाम धर्मी और सम्यग्दृष्टि है। राग से, पर से तो भिन्न है ही परन्तु 258
दया, दान के विकल्प से, राग से भी भिन्न ऐसी चैतन्यप्रकाश की मूर्ति प्रभु, जिसे वह दृष्टि में, अनुभव में और ज्ञान में वह ज्ञात हुआ, उसे यहाँ धर्मी अथवा धर्म का धारक कहने में आता है।

वह धर्मी ऐसा विचार करता है कि **'और मेरा तो यह (निम्नोक्त) निश्चय है' यह अब कहते हैं:-** २०९।

छिज्जदु वा भिज्जदु वा णिज्जदु वा अहव जादु विप्पलयं।
जम्हा तम्हा गच्छदु तह वि हु ण परिग्गहो मज्झ।।२०९।।

छेदाय या भेदाय, को ले जाय, नष्ट बनो भले।
या अन्य को रीत जाय, पर परिग्रह न मेरा है अरे।।२०९।।

टीका : परद्रव्य छिदे,... टुकड़े हो जाए। आहा! मेरे आत्मा के अतिरिक्त कोई भी चीज़ शरीर, वाणी, कुटुम्ब का छेद हो जाए, भेद हो जाए। छेदाओ अर्थात् छिदना, भेद अर्थात् भिंदना। छेदने में टुकड़े हो जाए, भिंदने में टुकड़े न हों। **अथवा कोई उसे ले जाए,...** मेरी चीज़ कहाँ है? आहाहा! शरीर, परिग्रह छिदे, भिंदे, चाहे जो हो, धर्मी को उसकी दृष्टि शरीर से छूट गयी है। आहाहा! धर्म दुर्लभ चीज़ है। जिसे देह की क्रिया की तो दृष्टि छूट गयी है परन्तु पुण्य, दया, दान, भक्ति के, व्रत के परिणाम से भी जिसकी दृष्टि छूट गयी है। आहाहा! जिसकी दृष्टि चैतन्यप्रकाश की मूर्ति प्रभु, चेतनस्वरूप जिसका त्रिकाली ऐसा जिसे दृष्टि में, अनुभव में आवे, उसे यहाँ धर्म और धर्मी कहा जाता है।

वह धर्मी ऐसा विचारता है, परद्रव्य छिंदे, शरीर, लक्ष्मी, इज्जत, कीर्ति, स्त्री, कुटुम्ब सब चीज़ें मेरी नहीं हैं। छिदे, टुकड़े हो जाएँ, भिंदे-चूरा (होओ)। भिंदने में चूरा (हो),

छिदने में टुकड़े (हो)। आहाहा.! **अथवा कोई उसे ले जाए,...** चाहे जिसमें ले जाओ। आहाहा! **अथवा वह नष्ट हो जाए,...** सर्वथा प्रकार से नाश होओ, मेरी चीज़ कहाँ है? आहा! देखो! धर्मी की दृष्टि में ऐसी भावना है। आहाहा! मेरे अतिरिक्त कोई भी परिग्रह, वस्तु नाश हो जाओ **या चाहे जिस प्रकार से जाए,...** किसी भी प्रकार से जल जाओ, बह जाओ, राख हो जाओ। आहाहा!

तथापि मैं परद्रव्य को परिग्रहण नहीं करूँगा;... वह चीज़ मेरी है, ऐसा मैं कभी नहीं मानूँगा। मेरा नाश हुआ, मेरी चीज़ चली जाती है—ऐसा मैं कभी नहीं मानूँगा। आहाहा! धर्म, जैनधर्म। अपने अतिरिक्त परचीज..... आगे विषय लेंगे। **परद्रव्य को परिग्रहण नहीं करूँगा; क्योंकि 'परद्रव्य मेरा स्व नहीं है,...** परवस्तु मेरी चीज़ नहीं है। आहाहा! शरीर, कर्म, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, पैसा, लक्ष्मी, इज्जत वह कोई मेरी चीज़ नहीं है। आहाहा! वह चीज (मेरी) नहीं तो **'परद्रव्य मेरा स्व नहीं है,...** मेरा धन, मेरी मिलकत, वह चीज़ नहीं। **मैं परद्रव्य का स्वामी नहीं हूँ,...** आहाहा! पत्नी का स्वामी पति, (यहाँ) इनकार करते हैं, मैं स्वामी नहीं। मैं तो मेरे स्वरूप का स्वामी हूँ। चैतन्य शुद्ध। आहाहा! धर्म अलौकिक चीज़ है। लोगों ने बाहर में मनवा दिया। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि परद्रव्य मेरा स्व नहीं, मैं स्वामी नहीं। **परद्रव्य ही परद्रव्य का स्व है...** वह तो उसका स्व है। आहा! **परद्रव्य ही परद्रव्य का स्वामी है,...** उसका स्वामी वह है। आहाहा! **मैं ही अपना स्व हूँ...** मैं आनन्द और ज्ञानमूर्ति प्रभु, वही मैं हूँ। **मैं ही अपना स्वामी हूँ – ऐसा मैं जानता हूँ।** उसे निर्जरा होती है। समझ में आया? आहाहा! मैं तो मेरा स्व और स्वामी मैं हूँ। मैं पर का स्व और स्वामी मैं नहीं। उसका स्वामी वह है और वह उसका स्व है। आहा!

भावार्थ : ज्ञानी को परद्रव्य के बिगड़ने-सुधरने का हर्ष-विषाद नहीं होता। आहाहा! वह बिगड़े, इसलिए शोक हो जाता है या सुधरे इसलिए हर्ष (हो जाता है), ऐसा नहीं है। पर्याय में कमजोरी के कारण से आवे, वह अलग बात है। आहाहा! परन्तु परद्रव्य के बिगड़ने—सुधरने के कारण से धर्मी को बिगड़ने—सुधरने का विकल्प नहीं आता है। आहाहा! **हर्ष-विषाद नहीं होता। बिगड़ने-सुधरने का हर्ष-विषाद नहीं होता।** आहाहा!

लक्ष्मी सब जाए तो भी हर्ष नहीं, नाश हो जाए तो भी शोक नहीं। मेरी चीज़ कहाँ है, वह मुझे मिली? आहा!

इसी प्रकार चक्रवर्ती समकिती हो, छियानवें हजार स्त्रियाँ मेरी नहीं। आहाहा! वह स्त्री चाहे तो परद्रव्य, चाहे वह नाश हो जाए, कोई ले जाओ। आहाहा! वह चीज़ मेरी नहीं है। आहाहा! रामचन्द्रजी तो ज्ञानी थे। सीताजी को रावण ले गया तो अस्थिरता के राग का भाव (आता है)। समझ में आया? सीताजी को रावण ले गया। रामचन्द्रजी तो ज्ञानी धर्मात्मा थे। आहाहा! वे जानते थे कि वह मेरी चीज़ नहीं है, परन्तु अस्थिरता का राग आया, उसका भी मैं स्वामी नहीं हूँ। आहाहा! वह राग मेरा नहीं है। अब यह बात (बैठना)... और पर्वत-पर्वत से पूछे—सीता—कहाँ है सीता? हें? तो भी उनकी चीज़ नहीं। आहाहा! वह तो कोई चारित्र के दोष का विकल्प था। आहाहा! बहुत जगत को (बैठना कठिन पड़ता है)।

ज्ञानी को परद्रव्य के बिगड़ने-सुधरने का हर्ष-विषाद नहीं होता। आहाहा! भरत चक्रवर्ती समकिती थे। भाई ने आज्ञा नहीं मानी तो युद्ध करने खड़े हुए, मारने के लिए खड़े हुए। बाहुबलीजी। वह मेरा है, ऐसा नहीं मानते थे, वह अस्थिरता का राग था। वह अस्थिरता का राग था, वह मेरा स्व और मैं उसका स्वामी, ऐसा भी नहीं। यह बात। आहाहा! दृष्टि में अपनी दौलत दिखायी दी। चिदानन्द सहजात्मस्वरूप प्रभु जहाँ परमात्मस्वरूप दृष्टि में आया, उसे कोई परचीज़ में मेरी है, ऐसा दृष्टि में नहीं आता। आहाहा! तथापि भरत ने बाहुबली के साथ युद्ध किया, वह स्वामीपने के कारण से नहीं, अस्थिरता के कारण से वह राग आया। आहाहा! यह मेल कैसे करना? आहाहा!

मुमुक्षु : अस्थिरता और मिथ्यादृष्टिपना दोनों...

पूज्य गुरुदेवश्री : अस्थिरता अलग है, मिथ्यादृष्टिपना अलग है। आहाहा! वह मेरी चीज़ है—ऐसा मानना, वह मिथ्यात्व है। परन्तु उस चीज़ के कारण से नहीं किन्तु अपनी कमजोरी के कारण से रागादि आते हैं, तो वह चारित्रदोष है। वह अज्ञान, मिथ्यात्व नहीं। आहाहा! ऐसी बातें।

कलश - १४५

अब इस अर्थ का कलशरूप और आगामी कथन का सूचनारूप काव्य कहते हैं:-

(वसन्ततिलका)

इत्थं परिग्रह-मपास्य समस्त-मेव,
सामान्यतः स्वपरयो-रविवेक-हेतुम्।
अज्ञानमुज्झितुमना अधुना विशेषाद्,
भूयस्तमेव परिहर्तु-मयं प्रवृत्तः।।१४५।।

*श्लोकार्थ : [इत्थं] इस प्रकार [समस्तम् एव परिग्रहम्] समस्त परिग्रह को [सामान्यतः] सामान्यतः [अपास्य] छोड़कर [अधुना] अब [स्वपरयोः अविवेकहेतुम् अज्ञानम् उज्झितुमना अयं] स्व-पर के अविवेक के कारणरूप अज्ञान को छोड़ने का जिनका मन है ऐसा यह [भूयः] पुनः [तम् एव] उसी को (-परिग्रह को ही-) [विशेषात्] विशेषतः [परिहर्तुम्] छोड़ने को [प्रवृत्तः] प्रवृत्त हुआ है।

भावार्थ : स्व-पर को एकरूप जानने का कारण अज्ञान है। उस अज्ञान को सम्पूर्णतया छोड़ने के इच्छुक जीव ने पहले तो परिग्रह का सामान्यतः त्याग किया और अब (आगामी गाथाओं में) उस परिग्रह को विशेषतः (भिन्न भिन्न नाम लेकर) छोड़ता है।।१४५।।

कलश - १४५ पर प्रवचन

अब इस अर्थ का कलशरूप और आगामी कथन का सूचनारूप काव्य कहते हैं:-

इत्थं परिग्रह-मपास्य समस्त-मेव,
सामान्यतः स्वपरयो-रविवेक-हेतुम्।
अज्ञानमुज्झितुमना अधुना विशेषाद्,
भूयस्तमेव परिहर्तु-मयं प्रवृत्तः।।१४५।।

नीचे अर्थ है। **इस प्रकार समस्त परिग्रह को सामान्यतः छोड़कर अब...** नीचे थोड़ा दूसरा अर्थ है। उसमें सामान्य परिग्रह छोड़कर स्व-पर के हेतु को, अज्ञान को छोड़ता है (ऐसा अर्थ है)। और दूसरा अर्थ ऐसा है, **इस प्रकार स्व-पर के अविवेक के कारणरूप समस्त परिग्रह को सामान्यतः छोड़कर...** पहले यह लिया (कि) अविवेक का कारण है, उसे छोड़कर। और यहाँ (परिग्रह को) छोड़कर, फिर अविवेक का कारण है अज्ञान, इतना अन्तर। वस्तु तो वह की वह है। **अज्ञान को छोड़ने का जिनका मन है, ऐसा यह पुनः उसी को (-परिग्रह को ही-) विशेषतः छोड़ने को प्रवृत्त हुआ है।**

कलश। **इस प्रकार स्व-पर के अविवेक के कारणरूप...** आहाहा! परचीज़ मेरी है और परचीज़ मेरी नहीं। परचीज़ मेरी, यह अविवेक का कारण है। आहाहा! परचीज़ लक्ष्मी, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार आदि, यहाँ तो पुण्य भी लेंगे। वह सब मेरी चीज़ ही नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : मेरी है नहीं तो राग किसलिए करता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : राग करता नहीं, अस्थिरता के कारण आ जाता है। करने योग्य है, इसलिए करता है, ऐसा है नहीं। परन्तु परिणमन राग का है तो कर्ता है, ऐसा जानने में आता है। आहाहा!

मुमुक्षु : दोनों वचन में सूक्ष्म अन्तर है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बड़ा-बड़ा अन्तर है। एक तो करनेयोग्य है, ऐसा करता है और एक करनेयोग्य है नहीं परन्तु मेरी कमजोरी के कारण से परिणमता है, उसे जानता है। कर्ता और भोक्ता मैं हूँ, ऐसा मानता है। गजब! जैनदर्शन, उसके विकल्प का इन्द्रजाल जैसा है। आहाहा! अलौकिक बात है, बापू! अन्दर भगवान चैतन्य के प्रकाश का पूर का जहाँ भान और अनुभव हुआ, आहाहा! उसे परचीज़ क्या है? मेरी है नहीं। मेरा स्व नहीं, मैं उसका स्वामी नहीं, तो फिर वह छिंद जाए, भिंद जाए, चाहे जो हो, मुझे कुछ लेना-देना नहीं है।

यह कहते हैं, अविवेक को **छोड़ने का जिनका मन है, ऐसा यह पुनः उसी को (-परिग्रह को ही-) विशेषतः छोड़ने को प्रवृत्त हुआ है।** सामान्यरूप से तो पर मेरा नहीं है, ऐसा कहा। अब विशेषरूप से भेद पाड़कर कहते हैं।

भावार्थ : स्व-पर को एकरूप जानने का कारण अज्ञान है। आहाहा! शरीर, कुटुम्ब, पैसा, लक्ष्मी, मकान इन स्व-पर को एकत्व मानना, वह अज्ञान है। स्व-पर को एक माना। स्व भिन्न है, पर भिन्न है। आहाहा! मेरा मकान पाँच लाख, दस लाख का है। दस लाख, चालीस लाख का, इन भाई को सत्तर लाख का है। रमणीकभाई आमोदवाले, नहीं? नहीं समुद्र के किनारे? सत्तर लाख का मकान। पाँच-छह करोड़ रुपये हैं। सत्तर लाख। उतरे थे, उसमें ही उतरे थे न। परन्तु किसका मकान? एक मकान सत्तर लाख का।

मुमुक्षु : उसे देखें तो मन हो जाए वैसा मकान बनाने का।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी नहीं। वह तो परचीज़ उसके कारण से खड़ी हुई है और उसके कारण से रही है। उसके कारण से खड़ी है, उसके कारण से टिकी है और उसके कारण से नाश होगी। मेरे और उसके कुछ सम्बन्ध है नहीं। आहाहा! कठिन बात, भाई!

भावार्थ : स्व-पर को एकरूप जानने का कारण अज्ञान है। है न? स्व और पर दोनों भिन्न हैं, तथापि मेरा है—ऐसा मानना अज्ञान है। **उस अज्ञान को सम्पूर्णतया छोड़ने के इच्छुक जीव ने पहले तो परिग्रह का सामान्यतः त्याग किया...** कोई चीज़ मेरी नहीं—ऐसा अन्दर (निश्चय किया) परन्तु फिर जैसे-जैसे संयोग अपने को मिलते हैं, उन्हें **अब (आगामी गाथाओं में) उस परिग्रह को विशेषतः (भिन्न भिन्न नाम लेकर) छोड़ता है।** अब यह तो ठीक। अब यह गाथा समझने की आयी।

गाथा - २१०

(उपजाति)

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णेच्छदे धम्मं।
अपरिग्गहो दु धम्मस्स जाणगो तेण सो होदि।।२१०।।

अपरिग्रहोऽनिच्छो भणितो ज्ञानी च नेच्छति धर्मम्।
अपरिग्रहस्तु धर्मस्य ज्ञायकस्तेन स भवति।।२१०।।

इच्छा परिग्रहः। तस्य परिग्रहो नास्ति यस्येच्छा नास्ति। इच्छा त्वज्ञानमयो भावः, अज्ञानमयो भावस्तु ज्ञानिनो नास्ति, ज्ञानिनो ज्ञानमय एव भावोऽस्ति। ततो ज्ञानी अज्ञानमयस्य भावस्य इच्छाया अभावाद्धर्मं नेच्छति। तेन ज्ञानिनो धर्मपरिग्रहो नास्ति। ज्ञानमयस्यैकस्य ज्ञायकभावस्य भावाद्धर्मस्य केवलं ज्ञायक एवायं स्यात्।।२१०।।

पहले यह कहते हैं कि ज्ञानी के धर्म का (पुण्य का) परिग्रह नहीं है:-

अनिच्छक कहा अपरिग्रही, नहिं पुण्य इच्छा ज्ञानि के।
इससे न परिग्रहि पुण्य का जो, पुण्य का ज्ञायक रहे।।२१०।।

गाथार्थ : [अनिच्छः] अनिच्छक को [अपरिग्रहः] अपरिग्रही [भणितः] कहा है [च] और [ज्ञानी] ज्ञानी [धर्मम्] धर्म को (पुण्य को) [न इच्छति] नहीं चाहता, [तेन] इसलिए [सः] वह [धर्मस्य] धर्म का [अपरिग्रहः तु] परिग्रही नहीं है, (किन्तु) [ज्ञायकः] (धर्म का) ज्ञायक ही [भवति] है।

टीका : इच्छा परिग्रह है। उसको परिग्रह नहीं है-जिसको इच्छा नहीं है। इच्छा तो अज्ञानमयभाव है और अज्ञानमय भाव ज्ञानी के नहीं होता, ज्ञानी के ज्ञानमय ही भाव होता है; इसलिए अज्ञानमय भाव-इच्छा के अभाव होने से ज्ञानी धर्म को नहीं चाहता; इसलिए ज्ञानी के धर्म का परिग्रह नहीं है। ज्ञानमय एक ज्ञायकभाव के सद्भाव के कारण यह (ज्ञानी) धर्म का केवल ज्ञायक ही है।

गाथा - २१० पर प्रवचन

अब कहते हैं कि **ज्ञानी के धर्म का...** यह लोगों को विवाद है न? उसे धर्म क्यों कहा? अधर्म क्यों नहीं? धर्म को पुण्य कहा। जयसेनाचार्य की टीका में उसे पुण्य कहा है। समझ में आया? और धर्म क्यों कहा? स्वसंवेदन चैतन्य का अनुभव, शुद्ध उपयोगरूपी वेदन है, वह निश्चयधर्म है और साथ में वे रागादि आये, देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति आदि, उसे व्यवहारधर्म आरोप करके, व्यवहारधर्म कहा ज्ञानी को, यहाँ अज्ञानी की बात नहीं है। आहाहा!

धर्मी जीव को अपना शुद्ध वेदन, चैतन्यमूर्ति वीतरागस्वरूप का वेदन है, वह धर्म का वेदन है। और उसके सामने कमजोरी के कारण राग आता है, देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति, व्रत, तप का विकल्प (आता है), उसे व्यवहारधर्म (कहते हैं)। निश्चयधर्म यह (कहा) तो उसे व्यवहारधर्म का आरोप आया। व्यवहारधर्म अर्थात् कि धर्म नहीं, पुण्य। परन्तु व्यवहारधर्म क्यों कहा? कि जिसे निश्चयधर्म प्रगट हुआ है, (उसके लिये व्यवहार धर्म कहा है)। जयसेनाचार्य की टीका में है। जयसेनाचार्य की टीका। उसके अर्थ में (कहा है)।

२१० (गाथा की) संस्कृत टीका है। **'अपरिग्रहो भणितः। कोसौ? अनिच्छः। तस्य परिग्रहो नास्ति यस्य बहिर्द्रव्येण्विच्छा वांछा महो नास्ति।'** परद्रव्य की इच्छा, मोह की समकिती को नास्ति है। **'तेन कारणेन स्वसंवेदनज्ञानी'** आहाहा! जिसे अपना स्व आत्मा आनन्द का वेदन हुआ है, सम्यग्दर्शन हुआ है। स्वसंवेदन ज्ञानी। **'शुद्धोपयोगरूपं निश्चयधर्म'** अपने में शुद्ध उपयोगरूपी धर्म (प्रगटे), वह निश्चय सत्यधर्म है और शुभ उपयोग... देखो! **'निश्चयधर्म विहाय शुभोपयोगरूप धर्म'** अर्थात् पुण्य। पाठ में, टीका में है। ज्ञानी के शुभभाव को व्यवहारधर्म का आरोप दिया है। अज्ञानी की बात यहाँ नहीं है। समझ में आया? आहाहा!

ज्ञानी को अपना स्वसंवेदन शुद्ध उपयोग निश्चयधर्म प्रगट हुआ है। वह **'विहाय'** उससे रहित, **'शुभोपयोगरूपं धर्म'** अर्थात् पुण्य। दोनों शब्द हैं। संस्कृत में है। धर्म अर्थात्

पुण्य। धर्म क्यों कहा? कि निश्चयधर्म स्व शुद्धोपयोग प्रगटा है, शुद्ध परिणति (प्रगट हुई है), उसके पास जो शुभभाव है, उसे व्यवहारधर्म का आरोप करके व्यवहारधर्म कहा। इस निश्चय का उसमें आरोप करके व्यवहार कहा। आहाहा! अज्ञानी को व्यवहारधर्म का प्रश्न है ही नहीं। यहाँ तो ज्ञानी को अपने शुद्धस्वरूप का भान, प्रतीति और वेदन हुआ है, इस कारण से उससे विपरीत जो शुभभाव पुण्य (होता है,) उसे यहाँ धर्म कहा। इस निश्चय का वहाँ आरोप किया। आहाहा! धर्म है नहीं; है पुण्य। टीका में लिखा है। शुभ उपयोग, व्रत, तप, भक्ति, पूजा का शुभभाव धर्मी को आता है। वह शुभ उपयोगरूपी धर्म अर्थात् पुण्य **'नेच्छति'** (अर्थात्) धर्मी उसे चाहता नहीं। धर्म को चाहता नहीं तो, उसका अर्थ क्या हुआ? आहाहा! अपने शुद्ध उपयोगरूपी धर्म को ही भाता है, परन्तु शुभभाव को नहीं चाहता। क्योंकि शुभभावरूपी व्यवहारधर्म, वह पुण्य है। आहाहा! और उस व्यवहारधर्म का आरोप भी ज्ञानी को आता है, अज्ञानी को तो निश्चय नहीं तो व्यवहार है नहीं। क्या कहा, समझ में आया? आहाहा!

यहाँ पुण्य को धर्म क्यों कहा?—कि ज्ञानी को शुद्ध स्वसंवेदन चैतन्य के प्रकाश का वेदन हुआ है। आहाहा! उसके पास **'विहाय'** रहित जो शुभ उपयोगरूपी धर्म। यहाँ निश्चय है तो व्यवहार का आरोप करके (धर्म कहा)। है पुण्य, है विकार, है दुःख। परन्तु ज्ञानी को उसको व्यवहारधर्म कहने में आया है। जो बन्ध का कारण है। आहा! अब ऐसी बातें कहाँ? समझ में आया? यह विवाद है न? पुण्य को अधर्म कहाँ कहा है? यह शुद्ध उपयोगरूपी धर्म, उसका **'विहाय'** निश्चयधर्म **'विहाय'**, शुभ उपयोगरूपी धर्म—पुण्य **'नेच्छति'**। इसका अर्थ क्या? कि शुभ उपयोगरूपी धर्म, वह अधर्म है। यह शुद्ध उपयोगरूप धर्म है तो शुभ उपयोग वह अधर्म है। उसे यहाँ धर्म का व्यवहाररूप से कहकर, पुण्य को कहकर निषेध किया है। आहाहा! भारी कठिन।

यह कहा है, देखो! टीका में है। जयसेनाचार्य की टीका। **'स्वसंवेदनज्ञानी'** आहा! उसे व्यवहारधर्म कहने में आता है। शुभभाव आया, शुभ उपयोग देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति, विनय-आदर (करने का) शुभभाव आया परन्तु यह निश्चय शुद्धधर्म जो अपना है, उसके समक्ष उस शुभ को व्यवहारधर्म का आरोप करके कहा। है पुण्य, है धर्म से

विरुद्ध अधर्म। उसे व्यवहारधर्म कहा। व्यवहारधर्म कहो या निश्चय से अधर्म कहो। आहाहा! बहुत कठिन बातें। अपनी दृष्टि में उल्टी बैठी हो, उसे जिस प्रकार से अपने को बैठे, उस प्रकार से खतौनी कर डालता है परन्तु शास्त्र क्या कहते हैं, यह दृष्टि में लेना चाहिए न? आहाहा! देखो! बहुत सरस लिया है।

यहाँ धर्म कहा, पुण्य को ज्ञानी चाहता नहीं। धर्म को चाहता नहीं तो इसका अर्थ क्या? कि निश्चयधर्म है, उसकी उसे भावना है। इसलिए **'विहाय'** शुभ उपयोगरूपी धर्म अर्थात् पुण्य, उसे चाहता नहीं। समझ में आया? अरेरे!

यह कहा नहीं? मोक्षमार्गप्रकाशक में नहीं कहा? कि आत्मा का निश्चय सम्यग्दर्शन शुद्ध चैतन्यमूर्ति पूर्णानन्द का नाथ, उसका अन्दर ज्ञान होकर प्रतीति का अनुभव हुआ, उसे निश्चय समकित कहते हैं और साथ में देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा आदि का जो राग रहा, उसे व्यवहार (समकित कहते हैं)। क्यों व्यवहार (कहा)? है तो राग। वह तो व्यवहार समकित नहीं परन्तु इस निश्चय समकित के साथ सहचर, है न उसमें शब्द? सहचर, साथ में देखकर उसका आरोप करके उसे धर्म कहा गया है। आहाहा! अब ऐसा लम्बा कौन (समझे)? यह पकड़ हो गयी, पुण्य धर्म, पुण्य वह धर्म। परन्तु कौन सा धर्म वह? वह तो व्यवहारधर्म, परन्तु किसे? अज्ञानी की तो बात ही नहीं। ऐई! आहा! ऐसी बात है। व्यवहारधर्म किसे? कि जिसे निश्चयधर्म प्रगट हुआ है उसे। आहाहा! जिसे निश्चयधर्म प्रगट नहीं हुआ और राग को ही धर्म मानता है, उसे (कि) व्यवहारधर्म का आरोप भी नहीं होता। आहा!

मुमुक्षु : लोग धर्म माने तो क्या करे?

पूज्य गुरुदेवश्री : माने तो स्वतन्त्र है, अनादि से माना है। आहाहा! राग की क्रिया करे और हम धर्मी (हैं), ऐसा तो मिथ्यादृष्टि ने अनादि से माना है। व्रत, तप, भक्ति, पूजा और मन्दिर बनाये, इसलिए मुझे धर्म हो गया... धूल भी धर्म नहीं है, वह तो राग है। उस अज्ञानी के राग की तो यहाँ बात भी नहीं है। उस राग को तो व्यवहारधर्म भी नहीं कहा जाता क्योंकि वहाँ तो मात्र मिथ्यादृष्टि, अज्ञान है, वहाँ फिर व्यवहार और निश्चय आये कहाँ से? आहाहा! समझ में आया? भाई! मार्ग प्रभु का... ओहो!

इस पुण्य के विकल्प से भी भिन्न आत्मा का भान तो हुआ है। समझ में आया? उसे निश्चयधर्म प्रगट हुआ है। उसके राग को धर्म कहकर व्यवहारधर्म कहने में आया है। व्यवहारधर्म अर्थात् निमित्त का ज्ञान कराया। मोक्षमार्गप्रकाशक में है कि भाई! व्यवहार कहा न? (तो कहते हैं), उस निमित्त के साथ अन्दर राग की मन्दता कैसी थी, उसका ज्ञान कराया। आहाहा! अरेरे! थोड़े अन्तर से कहाँ अन्तर पड़ता है? ऐसा कहकर अज्ञानी को मिथ्यादृष्टिपने में जो शुभभाव था, उसे धर्म मनाना है और धर्म करते... करते... करते... निश्चय होगा। व्यवहारधर्म करते-करते निश्चयधर्म होगा, ऐसा उसे मनवाना है। भाई! ऐसा नहीं, बापू! तेरे हित का मार्ग है, भाई! आहाहा! तेरा अनादर करने की बात नहीं, प्रभु! उसमें तेरा अहित होता है। तू राग को धर्म मानकर आगे बढ़ना चाहता है, प्रभु! वह तो नुकसान, मिथ्यात्व का पोषण है। और मिथ्यात्व का पोषण (होना अर्थात्) प्रभु! अनन्त भव जिसके गर्भ में रहे हैं। मिथ्याव में तो अनन्त भव का गर्भ है। आहाहा! उसे बचाने के लिये प्रभु कहते हैं, सुन तो सही, प्रभु! कि राग से भिन्न शुद्ध चैतन्य का जिसे वेदन हुआ... आहाहा! उसे देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का जो राग आता है, उसे व्यवहारधर्म का (आरोप किया जाता है)। है पुण्य, है राग, है अधर्म। व्यवहार से धर्म का आरोप किया गया है। आहाहा! हीराभाई! ऐसी चीज़ है। इसमें किसके साथ वाद करना?

यह टीका देखो न, जयसेनाचार्य में स्पष्ट कर दिया कि ऐसा ही है। राग को व्यवहारधर्म का कथन किया, वह क्यों? कि जिसे राग से भिन्न निज स्वरूप का वेदन शुद्धोपयोग का है, उससे रहित जो शुभ उपयोग है, उसे व्यवहारधर्म का आरोप करके व्यवहारधर्म कहा। है पुण्य, है राग, है दुःख। आहाहा! शुद्ध उपयोगरूपी धर्म है सुख, तब शुभ उपयोगरूपी राग है दुःख। आहाहा! परन्तु उसे व्यवहारधर्म कहा, वह आरोप से कथन है। मोक्षमार्गप्रकाशक में कहा है। मोक्षमार्गप्रकाशक में (कहा है कि), निश्चय है, उसका सहचर देखकर, साथ में देखकर, व्यवहार देखकर, निमित्त देखकर व्यवहार का आरोप किया है। समझ में आया? आहाहा!

अब कितने ही कहते हैं कि, यह नहीं। टोडरमल, बनारसीदास कहे, गृहस्थ कहे वह नहीं। (क्योंकि) स्वयं की दृष्टि को पोसाता नहीं। ज्ञानी तो चौथे गुणस्थान में तिर्यंच हो

या सिद्ध हो। दोनों एक ही बात है। प्ररूपणा में जो बात है, वह समकिती और ज्ञानी की एक ही है। अस्थिरता में अन्तर है। उसका स्थापन करने में बिल्कुल जरा भी अन्तर नहीं है। आहाहा! चाहे तो चौथावाला कहे, चाहे तो छठवेंवाला कहे, चाहे तो केवली कहे। सत्यधर्म की प्रतीति में कोई अन्तर नहीं है। उसकी प्ररूपणा में जरा भी अन्तर नहीं है। आहाहा! समझ में आया? चौथेवाला भी यह प्ररूपणा करे कि पुण्य, वह धर्म नहीं है। भगवान की भक्ति आदि आवे परन्तु निश्चय (का) भान है, उसे व्यवहारधर्म का आरोप करके पुण्य कहने में आया है। आहाहा! अब ऐसी लम्बी बातें। यह तो अभी अकेला आत्मज्ञान नहीं होता, प्रतीति, अनुभव नहीं होता। राग से भिन्न का तो भान नहीं होता और यह व्यवहार क्रियाकाण्ड में उसे धर्म मनवाना है। उसे तो व्यवहारधर्म का आरोप भी नहीं है। हें? आहाहा! ऐसा है, प्रभु! क्या हो? आहाहा!

अरे! कल भाई नहीं कहता था? 'इन्दु'। आहाहा! पानी चढ़ा। हमारे तो कमरे में अन्दर सीढ़ी थी तो (ऊपर) चढ़ गये। एकदम पानी आया। सामने मकान था, वहाँ पानी आया परन्तु उनकी सीढ़ी बाहर, घर के बाहर, इसलिए निकल नहीं सके। पानी इतना! पाँचों मर गये, पूरा घर मर गया। इन्दु तो कहता था कि हम तो अन्दर से पुकार करते थे, ज्ञायक आत्मा हूँ। ऐसा कहता था। लड़के को जानपना है, वाँचन बहुत है। कल इन्दु नहीं(कहता था)? तुम्हारे चिमनभाई के दामाद। चिमनभाई। बहुत जानपना बहुत है, हों! हाँ, परन्तु वह तो पानी ऐसे देखकर ऊपर चढ़ गये परन्तु पुकार (किया)। हम तो ज्ञायक हैं, ज्ञायक हैं, ज्ञायक हैं। कहता था न कल। भाई थे, लालचन्दभाई थे। आहाहा! अवसर पर काम न आवे तो कब काम आवे? जाने कि यह पानी चढ़ता जाए, यहाँ खड़े हैं और (यहाँ तक) आ गया, मरण का अवसर आया। आहाहा! परन्तु फिर तो ऊपर थे। पूरा घर बच गया। घर में नीचे पानी घुस गया। कमरे में था, वह निकल गया। कीचड़ पड़ा रहा। वह भोंयरा होता है, वहाँ पानी भर गया। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, प्रभु! एक बार सत्य को, सत्य को सत्यरूप से तो समझ। आहाहा! प्रभु! तेरा आत्मा वीतरागमूर्ति है न, नाथ! आहाहा! तू वीतरागस्वरूप है, प्रभु! भगवतस्वरूप है, आहाहा! भगवतस्वरूप की यह भागवत कथा है। नियमसार में अन्तिम शब्द में आता है। यह भागवत कथा है। भगवन्त की कथा भागवत है। अन्य में भागवत

कहते हैं, वह नहीं। आहाहा! यह तो भगवन्तस्वरूप परमानन्द का नाथ, आहाहा! जिसकी नजर करने से चैतन्य के नूर प्रकाश में दिखायी दे। आहाहा! ऐसा जो भगवान आत्मा, उसका जिसे आश्रय लेकर भान हुआ, उसे शुद्ध उपयोगरूपी धर्म प्रगट हुआ। भले शुद्ध उपयोग कायम न रहे परन्तु शुद्ध परिणति रहे, वह कायम रहती है। उस शुद्ध परिणति के काल में जो राग, देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति आदि का राग आता है, उसे व्यवहारधर्म का आरोप किया। उसे भी व्यवहारधर्म (कहते हैं), निश्चयधर्म नहीं। व्यवहारधर्म (का) आरोप किया। ऐसी बात, परन्तु अब क्या हो? आहाहा!

मोक्षमार्गप्रकाशक में है न? मोक्षमार्गप्रकाशक, है? अन्तरंग में तो अपना निर्धार करके निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग को तो पहिचानते नहीं परन्तु जिनाज्ञा मानकर निश्चय-व्यवहार दो प्रकार का व्यवहार मानते हैं। अब मोक्षमार्ग तो कहीं दो नहीं है। धर्म दो नहीं, मोक्षमार्ग दो नहीं परन्तु मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार से है। कथन में दो प्रकार हैं। जहाँ सच्चे मोक्षमार्ग को मोक्षमार्ग कथन किया, वह निश्चय। जहाँ मोक्षमार्ग तो नहीं परन्तु मोक्षमार्ग का निमित्त है, सहचारी है, (उसे) उपचार से मोक्षमार्ग कहें, वह व्यवहार-मोक्षमार्ग है। आहाहा! क्योंकि निश्चय-व्यवहार का सर्वत्र ऐसा लक्षण है। निश्चय-व्यवहार का सर्वत्र ऐसा लक्षण है। आहाहा! यह क्या कहा?

जहाँ निश्चय स्वभाव की धर्मदृष्टि हुई, वहाँ राग आता है, उसे व्यवहार समकित, धर्म को व्यवहारधर्म, यहाँ निश्चयधर्म है तो व्यवहारधर्म, निश्चय समकित है तो व्यवहार समकित, निश्चयज्ञान है तो व्यवहारज्ञान कहा जाता है। आहाहा! समझ में आया? निश्चय स्वरूप की दृष्टिपूर्वक चारित्र हुआ है तो निश्चय चारित्र वीतरागता है और राग आया, उसे व्यवहार चारित्र का आरोप देकर व्यवहार चारित्र कहा। राग को व्यवहार चारित्र कहा। आहाहा! क्या हो? भाई! अरे! इस बाहर के भपका में मर गया मनुष्य। यह देह, पैसा, इज्जत और कीर्ति... आहाहा!

मुमुक्षु : पैसा होवे तो...

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी नहीं। पैसा होवे तो क्या हुआ? पैसे बहुत हैं। कहाँ रहते हैं? यह करोड़पति चले, लो अभी। हसुभाई। कोई कहता था, छह करोड़ है। छह भाई को

एक-एक को एक करोड़ है। उनके पिता के पचास-साठ लाख अलग। गुजर जाए तो उत्तराधिकार में (आये उसमें से) बाईस लाख सरकार को भरना पड़े। उसके पिता के पैसे में से बाईस लाख भरना पड़े। कोई कहता था कि प्रत्येक के पास एक-एक करोड़ है। ऐसा कहता था, हम कहाँ गिनने गये हैं? परन्तु सबको प्रेम, हों! छहों को। यह तो मरते-मरते बच गये हैं। अन्तिम ऐसी स्थिति थी (कि) चोट लगती है, मार डालते हैं, टुकड़े होते हैं। तब अन्त में मैं गया। गया और मांगलिक सुनाया, फिर एकदम बदल गया। सहज बदलने का होवे न, स्थिति ऐसी हो गयी थी। पैसे तो करोड़ों थे, वहाँ धूल-पैसा क्या करे? आहाहा!

यहाँ तो ऐसा कहना है कि मोक्षमार्ग का निमित्त, राग को निमित्त कहने में आया। निमित्त कुछ करता नहीं। निमित्त उसे कहते हैं कि निमित्त कुछ निश्चय को करता नहीं। करे तब तो निमित्त रहता नहीं। आहाहा! समझ में आया? यह तो वीतरागमार्ग, बापू! आहाहा! जैनदर्शन कोई अलौकिक चीज़ है। लोगों को सुनने मिली नहीं। बाहर की सिरपच्ची, व्यवहार करो और यह करो और यह करो। व्रत पालो और भक्ति करो और पूजा करो... आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, सुन तो सही, प्रभु! उस पूजा में भी ऐसे स्वाहा (बोले), वह वाणी की क्रिया जड़ की क्रिया होती है, वह तुझसे नहीं। आहाहा! और हाथ ऐसे चलता है, वह तो क्रियावतीशक्ति के कारण से उस परमाणु में गति होने का (काल है), उस परमाणु के कारण से, परमाणु की क्रियावर्तीशक्ति के कारण से ऐसा होता है, तुझसे नहीं। यह बात कहाँ है? आहा! वीतराग... वीतराग... वीतराग... वीतराग... वीतराग... वीतराग...मार्ग कोई अलौकिक है, भाई!

वीतराग प्रभु आत्मा, वह जिसे दृष्टि में आया, अनुभव में आया, प्रतीति में आया, उसे जो राग उत्पन्न होता है, देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति, व्रत, तप का विकल्प आवे, उसे व्यवहारधर्म का आरोप कहते हैं। समझ में आया? यहाँ तो कहा कि निश्चय जो शुद्धस्वरूप आत्मा है, उसका अनुभव (हुआ), वह निश्चय समकित। तो राग को व्यवहार समकित (कहने में आता है)। तो राग तो चारित्र का दोष है। उसे व्यवहार समकित कहना? वह तो यह समकित है, उसके साथ सहचर देखकर, निमित्त देखकर, उपचार से व्यवहार कहने में आया है। आहाहा! समझ में आया? प्रवीणभाई! ऐसा सूक्ष्म है। आहाहा!

यह देखो न, ऐसा लिखा ? और सच्चा निरूपण, वह निश्चय; उपचार निरूपण, वह व्यवहार। तब यह जो व्यवहारधर्म कहा, वह तो उपचार से कहा है। क्योंकि निश्चयधर्म आत्मा का अनुभव सम्यग्दर्शन, ज्ञान हुआ है, उसके साथ इस राग को सहचर देखकर, निमित्त देखकर, उपचार से व्यवहारधर्म का आरोप किया गया है। आहाहा! बहुत स्पष्टीकरण किया है। मोक्षमार्गप्रकाशक को कितने ही मानते नहीं हैं। अभी विद्यासागर निकला है। वह कहे, मोक्षमार्गप्रकाशक नहीं, बनारसीदास का नहीं, समयसार नाटक नहीं। क्योंकि उसमें पोल खुल जाए ऐसा है। शास्त्र में तो गम्भीर बात संक्षिप्त में भरी हो, इन्होंने स्पष्ट कर डाली। वह कहे, नहीं। गृहस्थ के बनाये हुए नहीं। हम तो बड़े साधु हैं न! अरे! अभी बापू! आहाहा! तेरी क्रियाकाण्ड देखकर तुझे ऐसा हो जाए कि, आहा! वह तो मन्द राग की क्रियाएँ हैं, वह सब अधर्म है। आहाहा! मोक्षमार्गप्रकाशक में बहुत (स्पष्ट किया है)। पूरे मोक्षमार्गप्रकाशक में तत्त्व को स्पष्ट कर डाला। टोडरमलजी को बीस पंथी मानते नहीं क्योंकि इसमें उनकी पोल खुल जाती है।

मुमुक्षु : बीस पंथी को तो खोटा कहा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : क्योंकि बीस पंथी को तो देव-देवला मानना। यहाँ तो देव-देवला को माने तो मिथ्यादृष्टि कहे। पद्मावती और फलानीवती और ढीकनीवती। आहाहा!

तीन लोक का नाथ देव, अचिन्त्य देव नहीं आया ? अचिन्त्य देव तो तू है। तेरे देव की मान्यता करने से अनुभव में प्रतीति हो, वह समकित। और भगवान—देव की श्रद्धा, वह राग है। परमात्मा की श्रद्धा का भाव, वह राग है। इस परमात्मा का अनुभव, प्रतीति वह सम्यग्दर्शन, वह अराग। आहाहा!

यहाँ क्या कहा ? देखो! २१० है न ? **इच्छा परिग्रह है।** देखो! २१०। टीका की पहली लाईन। आहाहा! पाठ यह आया न ? **'अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णेच्छदे धम्मं।'** धर्म शब्द से पुण्य, व्यवहारधर्म। यह समकिती व्यवहारधर्म को इच्छता नहीं। ऐसा है। है या नहीं ? **'अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णेच्छदे धम्मं। अपरिग्गहो दु धम्मस्स जाणगा'** वह तो पुण्य का, व्यवहारधर्म का, जाननेवाला है। समकिती व्यवहारधर्म का जाननेवाला है। व्यवहारधर्म को इच्छता नहीं और व्यवहारधर्म

मेरा है, ऐसा मानता नहीं। आहाहा! ऐसी बातें हैं। यह तो भगवान का पेट है। परमात्मा को यह कहना है, भाई! तीन लोक के नाथ का यह अभिप्राय है। अपने बचाव के लिये गड़बड़ करना—ऐसा नहीं चलता, भाई! भगवान की गद्दी पर बैठकर उल्टी बातें करना! आहाहा! (यह शोभा नहीं देता)।

यहाँ कहते हैं, **अनिच्छक कहा अपरिग्रही, नहिं पुण्य इच्छा ज्ञानि के।** यहाँ स्पष्टीकरण कर डाला। जयसेनाचार्य की टीका में पुण्य लिया है। पाठ में धर्म लिया। इसलिए कोई कहे कि वहाँ पुण्य कैसे कहा? वहाँ उसे पुण्य कहा है। यहाँ पुण्य की ही बात है। **इससे न परिग्रहि पुण्य का जो, पुण्य का ज्ञायक रहे।** आहाहा! अब इसमें कहाँ निवृत्ति, फुरसत (मिले)? यह तो जो सिर पर बैठा हो, वह कहे, वह हाँ, चल निकले।

मुमुक्षु : आज के युवक यह सब मानें, ऐसा नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसका उल्टा माने, ऐसा नहीं है, यह माने ऐसा है। युवकों को विपरीतता घुसी न हो और यह सत्य सुने तो माने क्योंकि विपरीतता घुसी नहीं है और पचास-साठ वर्ष के हो गये हों, उन्हें विपरीतता बहुत घुस गयी हो, उन्हें यह कठिन पड़े। ऐई! सुरेशभाई! यह हमारे सुरेशभाई जवान नहीं? आहाहा! आत्मा जवान कब कहलाये? शरीर की जवान और वृद्ध अवस्था, वह तो जड़ की है। आहाहा! राग को अपना माने, वह बालक है, अज्ञानी है और राग से, व्यवहार से भिन्न मेरी चीज़ है, उसे माने वह युवक-अन्तर आत्मा है और केवलज्ञान हो, वह वृद्ध आत्मा है। यह बाल, वृद्ध तो जड़-मिट्टी की अवस्था है।

आत्मा में बाल, युवक और वृद्ध अवस्था क्या? राग की क्रिया को अपनी माने, धर्म (माने), वह मिथ्यादृष्टि बालक है और राग से मेरी चीज़ भिन्न है, मैं तो शुद्ध चैतन्य हूँ, राग धर्म नहीं है, राग पुण्य है, विकार है, उससे मेरी चीज़ भिन्न है, (वह) अन्तरात्मा है। अर्थात् वह पुण्य परिणाम और कर्म से भिन्न अन्तर में रहा है। पुण्य में एकाकार नहीं, कर्म में एकाकार नहीं। आहाहा! वह पुण्य के परिणाम से अन्तरात्मा अन्दर भिन्न है। कर्म के मध्य में पड़ा भगवान अन्तरात्मा भिन्न है। उसकी दृष्टि और अनुभव करे, वह युवक है। वह आत्मा में युवक है; और अन्तर में एकाग्र होकर केवलज्ञान प्रगट करे, वह वृद्ध आत्मा है।

कान्तिभाई! ऐसी बातें हैं। कान्तिभाई रुकनेवाले हैं। मफाभाई और दोनों। मफाभाई आये हैं? आये हैं, लो! अच्छा किया, हों! आहा! बापू! वस्तु ऐसी है, भाई! क्या करें? लोगों को सुनने को मिलता नहीं, उन्हें उल्टा लगता है। क्या हो? भाई!

मुमुक्षु : लोगों को ऐसा होता है कि हमारी सब क्रिया उत्थापते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तुझे लाभदायक नहीं। उसका निषेध करते हैं, वह तेरे हित के लिये बात है। आहा! व्यवहार क्रिया लाभदायक नहीं, वह राग है, वह नुकसानकर्ता है। इसलिए तुझे लाभ की बात करते हैं। आहाहा!

(यहाँ) टीका। **इच्छा परिग्रह है। उसको परिग्रह नहीं है–जिसको इच्छा नहीं है। इच्छा तो अज्ञानमयभाव है...** आहाहा! पुण्य की इच्छा करना, परपदार्थ की इच्छा करना, वह तो अज्ञानभाव है, कहते हैं। आहाहा! **और अज्ञानमय भाव ज्ञानी के नहीं होता,...** आहाहा! निर्जरा अधिकार है न? **अज्ञानमय भाव ज्ञानी के नहीं होता,...** अर्थात् उसे पर की इच्छा का परिग्रह नहीं है। आहाहा! उसे पुण्यभाव की भी इच्छा नहीं है। आहाहा!

ज्ञानी के ज्ञानमय ही भाव होता है;... धर्मी को धर्ममय ही भाव होता है। आहाहा! वह राग ज्ञानमय नहीं है, वह तो अज्ञान है। आहाहा! 'पुण्य-पाप अधिकार' में तो कहा, शुभ-अशुभभाव दोनों अज्ञान हैं। उसमें ज्ञानस्वरूप का कोई अंश भी नहीं है। आहाहा! तो यहाँ कहते हैं कि **ज्ञानी के ज्ञानमय ही भाव होता है;** ज्ञानी को ज्ञानमय **'ही'** भाव होता है। राग अज्ञान है, उसमय भाव उसे नहीं है। आहाहा! **इसलिए अज्ञानमय भाव–इच्छा के अभाव होने से...** अज्ञानमय भाव। अर्थात्? इच्छा का अभाव होने से **ज्ञानी धर्म को नहीं चाहता;...** धर्म शब्द से शुभभाव। धर्म शब्द से शुभ उपयोग, शुभराग, दया, दान, व्रत, भक्ति का राग, उसे धर्मी इच्छता नहीं है। अरर! ऐसी बातें। समझ में आया? समझ में आता है न? किशोरभाई! नैरोबी में यह सब नहीं है, वहाँ तुम्हारी धूल में। बात सच्ची। आहाहा!

इच्छा के अभाव होने से ज्ञानी धर्म को... धर्म अर्थात् व्यवहार धर्म को अर्थात् पुण्य को अर्थात् शुभ उपयोग को **नहीं चाहता;...** आहाहा! होता है, परन्तु चाहता नहीं।

जाननेवाला रहता है, ऐसा कहते हैं। **इच्छा के अभाव होने से ज्ञानी धर्म...** अर्थात् पुण्य अर्थात् शुभ उपयोग को **नहीं चाहता;...** आहाहा! **इसलिए ज्ञानी के धर्म का परिग्रह नहीं है।** धर्म का परिग्रह नहीं है, इसका अर्थ क्या हुआ? कि शुभ उपयोग जो व्यवहार से धर्म कहा गया है, उसकी पकड़ नहीं। वह मेरा है, ऐसा मानता नहीं। आहाहा! कितना स्पष्ट श्लोक है! आहा! प्रभु! परन्तु पूर्व के आग्रह पकड़कर (बैठे) हों। आहा!

धर्म को नहीं चाहता;.. अरे रे! धर्मी धर्म को न चाहे? कौन सा धर्म? व्यवहारधर्म अर्थात् पुण्य, शुभ उपयोग। उसे आरोपित धर्म कहकर, ऐसे आरोपित धर्म को धर्मी नहीं चाहता। आहाहा! समझ में आया? इच्छा का अभाव होने से धर्मी धर्म को नहीं चाहता। धर्मी धर्म को चाहता नहीं (तो) कौन सा धर्म? व्यवहार अर्थात् राग। शुभ उपयोग। आहाहा! अरेरे! अनन्त काल से भटकता है। आहाहा! एक मिनिट पहले बेचारे को पानी की खबर नहीं। मोरबी। कोई कहता था, एक मिनिट में एक फीट चढ़ता हुआ। पानी का वह तालाब फटा न? बाँध टूटा, बाँध टूटा। एक मिनिट में एक फीट, दो मिनिट में दो फीट। आहाहा! आठ मिनिट में तो आठ फीट ऊँचा आ गया। लोग डूब गये। आहाहा! उस समय शरीर को मेरा मानकर जीने के लिये तड़फड़ाहट मारे। हें? परन्तु मैं एक आत्मा हूँ, मेरा जीवन कोई पर के कारण से नहीं है, भले देह छूट जाए, भले देह डूब जाए। मैं कहाँ डूबता हूँ। आहाहा! मैं तो भगवान आत्मा भगवत्स्वरूप। आहाहा! उस मेरी चीज़ में मैं तो विराजता हूँ। आहाहा! विराजने का अर्थ शोभा। मेरी शोभा तो मुझमें रहना, वह मेरी शोभा है। आहाहा!

राग आता है परन्तु इच्छता नहीं। **इसलिए ज्ञानी के धर्म का परिग्रह नहीं है।** लो! कौन सा धर्म? पुण्य, राग शुभ उपयोग। ज्ञानी को शुभ उपयोगरूप परिग्रह नहीं है। शुभ उपयोग मेरा है, ऐसा वह नहीं मानता। आहाहा! **ज्ञानमय एक ज्ञायकभाव के सद्भाव के कारण...** तब कैसे? ज्ञानमय एक ज्ञायकभाव मैं हूँ। वर्तमान पर्याय में ज्ञायकभाव का भान है, वह ज्ञायकभाव मैं हूँ। ज्ञायकभाव तो त्रिकाली है परन्तु पर्याय में भान हुआ, तब मैं ज्ञायकभाव हूँ। है न? **ज्ञानमय एक ज्ञायकभाव के सद्भाव के कारण यह (ज्ञानी) धर्म का केवल ज्ञायक ही है।** पुण्य का समकिती जाननेवाला रहता है, जाननेवाला है। पुण्य को अपना माननेवाला है नहीं। विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा - २११

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णेच्छदि अधम्मं।
अपरिग्गहो अधम्मस्स जाणगो तेण सो होदि।।२११।।

अपरिग्रहोऽनिच्छो भणितो ज्ञानी च नेच्छत्यधर्मम्।
अपरिग्रहोऽधर्मस्य ज्ञायकस्तेन स भवति।।२११।।

इच्छा परिग्रहः। तस्य परिग्रहो नास्ति यस्येच्छा नास्ति। इच्छा त्वज्ञानमयो भावः, अज्ञानमयो भावस्तु ज्ञानिनो नास्ति, ज्ञानिनो ज्ञानमय एव भावोऽस्ति। ततो ज्ञानी अज्ञानमयस्य भावस्य इच्छाया अभावादधर्मं नेच्छति। तेन ज्ञानिनोऽधर्मपरिग्रहो नास्ति। ज्ञानमयस्यैकस्य ज्ञायकभावस्य भावादधर्मस्य केवलं ज्ञायक एवायं स्यात्।

एवमेव चाधर्मपदपरिवर्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकाय-श्रोत्रचक्षुर्घ्राण-रसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि। अनया दिशाऽन्यान्यप्यूह्यानि।।२११।।

अब, यह कहते हैं कि ज्ञानी के अधर्म का (पाप का) परिग्रह नहीं है:-

अनिच्छक कहा अपरिग्रही; नहिं पाप इच्छा ज्ञानि के।
इससे न परिग्रहि पाप का वो, पाप का ज्ञायक रहे।।२११।।

गाथार्थ : [अनिच्छः] अनिच्छक को [अपरिग्रहः] अपरिग्रही [भणितः] कहा है [च] और [ज्ञानी] ज्ञानी [अधर्मम्] अधर्म को (पाप को) [न इच्छति] नहीं चाहता, [तेन] इसलिए [सः] वह [अधर्मस्य] अधर्म का [अपरिग्रहः] परिग्रही न हीं है, (किन्तु) [ज्ञायकः] (अधर्म का) ज्ञायक ही [भवति] है।

टीका : इच्छा परिग्रह है। उसको परिग्रह नहीं है-जिसके इच्छा नहीं है। इच्छा तो अज्ञानमय भाव है और अज्ञानमय भाव ज्ञानी के नहीं होता, ज्ञानी के ज्ञानमय ही भाव होता है; इसलिए अज्ञानमय भाव-इच्छा के अभाव होने से ज्ञानी अधर्म को नहीं चाहता; इसलिए ज्ञानी के अधर्म का परिग्रह नहीं है। ज्ञानमय एक ज्ञायकभाव के सद्भाव के कारण यह (ज्ञानी) अधर्म का केवल ज्ञायक ही है।

इसी प्रकार गाथा में 'अधर्म' शब्द बदलकर उसके स्थान पर राग, द्वेष, क्रोध,

मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन और स्पर्शन– यह सोलह शब्द रखकर, सोलह गाथा सूत्र व्याख्यानरूप करना और इस उपदेश से दूसरे भी विचार करना चाहिए।

प्रवचन नं. २९०, गाथा-२११, मंगलवार, श्रावण कृष्ण १४
दिनाङ्क २१-०८-१९७९

समयसार, २१० गाथा हुई। २११। **अब, यह कहते हैं कि ज्ञानी के अधर्म का (पाप का) परिग्रह नहीं है:–** पहले ऐसा कहा कि धर्मी जीव अपने को ज्ञायकस्वभाव (स्वरूप) अनुभव करता है, जानता है। उसे शुभभाव आता है परन्तु शुभभाव मेरा है और मुझे लाभदायक है, ऐसी दृष्टि नहीं है। आया न? **इच्छा परिग्रह है।** यह पुण्य-शुभभाव की इच्छा होती है, वह परिग्रह है। धर्मी को उस इच्छा का परिग्रह, शुभ उपयोगरूपी भाव की इच्छा नहीं है तो उसे वह परिग्रह नहीं है। सूक्ष्म बात है, भाई! यह तो पहली श्रेणी की बात है।

जिसे ज्ञायकस्वभाव सर्वज्ञस्वभाव मैं हूँ—ऐसा दृष्टि में, अनुभव में आया, उस जीव को शुभभाव मेरा है, ऐसी इच्छा नहीं होती। आहाहा! बाहर की चीज़ तो कहीं रह गयी। शुभ उपयोग वह पुण्य है, इच्छा नहीं कि वह मेरी चीज़ है। इच्छा हो तो मेरी चीज़ है, यह तो परिग्रह (हुआ), मिथ्यादृष्टि हुआ। आहाहा! शुभ उपयोग की इच्छा है और मेरी चीज़ है, ऐसा माने तो वह तो मिथ्यात्व है। सूक्ष्म बात, भगवान! ऐसे आओ, हरिभाई! समझ में आया? आहाहा!

धर्म, जिसे धर्मी ऐसा भगवान ज्ञायक सर्वज्ञस्वभावी प्रभु के आश्रय से, दृष्टि-सम्यग्दर्शन हुआ और उसके आश्रय से जो सम्यग्ज्ञान हुआ, उस ज्ञानी को शुभभाव की इच्छा नहीं है। आहाहा! यदि शुभभाव की इच्छा होवे तो वह परिग्रह-पकड़ हो गयी, तो त्रिकाली ज्ञायक की पकड़ छूट गयी। आहाहा! त्रिकाली चैतन्यमूर्ति, चैतन्यप्रकाश का पुंज प्रभु, उसकी जिसे पकड़-अनुभव है तो (उसे) राग, शुभभाव की भी पकड़ नहीं है, इच्छा नहीं है। आहाहा! और शुभभाव का परिग्रह-पकड़ हुई कि मेरा है, तो ज्ञायकभाव की

दृष्टि-पकड़ छूट गयी। आहाहा! बहुत कठिन काम। इस शुभ उपयोग की बात २१० में कही। शुभ उपयोग। आहाहा! भगवान की भक्ति, भगवान की विनय... आहाहा! ऐसा जो शुभभाव, धर्मी को वह शुभभाव मेरा है, ऐसी दृष्टि नहीं है। आहाहा! और यदि वह शुभभाव मेरा है, ऐसी दृष्टि होवे तो सम्यग्दर्शन छूट जाए। त्रिकाली ज्ञायक की दृष्टि, अपना भाव छूट जाता है। आहाहा! बात बहुत (कठिन), बापू! प्रभु! (यह) जन्म-मरण के अन्त की बातें हैं, भाई!

यहाँ तो लोग कहते हैं कि सम्यग्दर्शन सातवें (गुणस्थान में) होता है, ऐसा कल आया था। अरे! प्रभु! फिर एक ओर कहे कि भरत चक्रवर्ती क्षायिक समकिती थे। कहीं मेल नहीं। आहाहा! क्षायिक समकित, वह समकित नहीं? सातवें में तो चारित्र, वहाँ तो समकितपूर्वक चारित्र है। आहाहा! छठवें गुणस्थान में ऐसा कि प्रमाद है, तब तक सम्यग्ज्ञान नहीं। अरर्र! ऐसा (लोग) कहते हैं।

यहाँ तो पहले धड़ाके भगवान शुद्ध चैतन्यघन का अनुभव स्व-अनुसार हुआ तो उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं और उस सम्यग्दर्शन में स्वरूपाचरण का अंश और आनन्द का वेदन भी साथ में होता है। आहाहा! अरे! यह बात। अब उसे सम्यग्दृष्टि नहीं कहना और सातवें में कहना! लोग अभी क्रियाकाण्ड के जोर में चढ़ गये हैं, अज्ञान में। आहाहा! सम्यग्दर्शन चौथे गुणस्थान में, अविरति सम्यग्दृष्टि-ऐसा कहा है न? आहाहा! राग की आसक्ति छूटी नहीं है। चारित्रदोष छूटा नहीं है परन्तु अन्तर स्वरूप की दृष्टि अन्दर प्रगट हुई है। आहाहा! तो सम्यग्दृष्टि है और अविरति है। उसका अर्थ क्या हुआ? अभी अस्थिरता के राग का त्याग नहीं है। राग की एकताबुद्धि का त्याग (हुआ है) परन्तु राग की अस्थिरता का त्याग नहीं है। नहीं तो अविरती सम्यग्दृष्टि कैसे कहने में आता है? बहुत सूक्ष्म बात, बापू! आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं, धर्मी को तो ज्ञानमय एक भाव ही अपना है। आहाहा! चैतन्य रस से भरपूर सर्वज्ञस्वरूपी प्रभु, आहा! ज्ञायकभाव, वह मैं हूँ। राग का विकल्प होता है, वह मैं नहीं हूँ। आहाहा! क्योंकि वास्तव में तो वह इच्छा, शुभ उपयोगरूपी भाव, वह अचेतन है। आहाहा! चैतन्यस्वरूप भगवान, यह कहा न छठी गाथा में? कि ज्ञायकभाव भगवान यदि शुभ और अशुभ उपयोगरूप हो जाए तो जड़ हो जाए। आहाहा! क्या कहा?

कि भगवान ज्ञायकस्वरूप चैतन्य, वह यदि शुभ-अशुभरूप हो जाए तो शुभ-अशुभ है, वह अचेतन-जड़ है, तो आत्मा जड़ हो जाए। आहाहा! छठी गाथा में है। मुद्दे की रकम है। आहाहा! आत्मा (कि) जो ज्ञायकभाव है, वह यदि शुभ उपयोगरूप हो जाए (तो) जड़ हो जाए, ऐसा कहते हैं। ऐसी बात है, प्रभु! आहाहा!

चौथे गुणस्थान में सम्यग्दृष्टि जीव, शुभ उपयोगरूपी मैं नहीं, (ऐसा मानता है)। आहाहा! क्योंकि शुभ उपयोग में ज्ञायक का, चेतना का अंश नहीं। इसलिए 'पुण्य-पाप' (अधिकार में) कहा न? कि शुभाशुभभाव तो अज्ञानमय भाव है न! पहली गाथा-१४५। आहाहा! शुभ-अशुभभाव तो अज्ञानरूप है न! 'पुण्य-पाप' में आया है न? पहली (गाथा) है १४५। **शुभ या अशुभ जीवपरिणाम...** १४५ (गाथा की टीका का) दूसरा पेराग्राफ। **शुभ या अशुभ जीवपरिणाम केवल अज्ञानमय होने से...** आहाहा! १४५ गाथा, दूसरा पेरेग्राफ। जयन्तीभाई! सूक्ष्म बात है, बापू! बहुत सूक्ष्म। आहाहा! शुभ उपयोग और अशुभ उपयोग, दोनों अज्ञानमय है। अज्ञानमय अर्थात् मिथ्यात्वमय, ऐसा नहीं। उनमें ज्ञान-चैतन्य भगवान ज्ञायकभाव का अंश, शुभाशुभ में (वह) अंश नहीं है। चेतन का अंश नहीं है, इसलिए अचेतन-अज्ञान कहा। ज्ञान का अंश नहीं है, इसलिए अज्ञान कहा। मिथ्यात्व नहीं। मिथ्यात्व तो उन शुभाशुभभाव को अपना माने तो मिथ्यात्व (कहा जाए), परन्तु शुभाशुभभाव हैं, वे अज्ञानमय हैं। आहाहा!

उन अज्ञानमय भाव को अपना माने, आहाहा! यह वर्तमान २१० (गाथा में) है न? वे शुभभाव अज्ञानमय हैं। आहाहा! भगवान तो ज्ञानमय है। भगवान अर्थात् आत्मा। आहा! वह तो चैतन्यप्रकाश की मूर्ति, चैतन्य का प्रकाश के नूर का तेज है। आहाहा! वह ज्ञानप्रवाही भगवान, ध्रुव ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान, ऐसे भगवान में शुभभाव का अभाव है और यदि शुभभाव का भाव हो जाए तो ज्ञानस्वरूपी भगवान जड़ हो जाए। आहाहा! क्योंकि शुभ उपयोग, वह अचेतन-अज्ञान है। अज्ञान अर्थात् उसमें ज्ञान नहीं है। ज्ञायकभाव यदि अज्ञानमय हो जाए तो ज्ञायकभाव नहीं रहता। रागमय हो गया, अचेतन हो गया। आहाहा! भारी कठिन बातें।

यह हरिभाई अभी मोरबी की बात करते थे। ऐसे दिखाव ऐसा लगता है। हें? मोरबी

का दिखाव, आहाहा! भाई कहते थे। भाई! इन्दुभाई आये थे, उन्होंने कहा। आहाहा! ऐसे भगवान आत्मा... आहाहा! रागमय हो जाए तो उज्जड़ हो जाए। समझ में आया? चैतन्य वस्तु भगवान ज्ञायकभाव, वह रागमय हो जाए तो चैतन्य उज्जड़ हो जाए, जड़ हो जाए। आहाहा! यहाँ बात है, भाई! सूक्ष्म बात है, प्रभु! तेरी प्रभुता का पार नहीं, नाथ! आहाहा!

ज्ञान की प्रभुता, ईश्वर की प्रभुता, आनन्द की प्रभुता। आहाहा! उसके समक्ष शुभभाव तो दुःखरूप है। भगवान आनन्दमूर्ति प्रभु, आनन्द के रस से भरा पड़ा, उसके समक्ष शुभराग तो दुःखरूप है और दुःखरूप है, वह आत्मा का हो जाए तो आत्मा दुःखमय हो जाए। आहाहा! ऐसी बातें, बापू! बहुत प्रभु! क्या करें? अरे! दुनिया कहाँ पड़ी है? सम्प्रदाय को कहाँ चला रहे हैं और मार्ग कहाँ है? आहाहा! अभी इसके ख्याल में भी बात न आवे, उसे अन्दर में परिणमन कैसे होगा? आहाहा!

यह यहाँ शुभ की बात में टीका में ऐसा लिया है, भाई! इच्छा, वाँछा, मोह तीन शब्द लिये हैं। संस्कृत टीका। शुभभाव की इच्छा, वाँछा और मोह तीनों नहीं है। संस्कृत टीका में है, भाई! जयसेनाचार्य की टीका में है। आहाहा! और पाप में 'मोह' शब्द नहीं लिया और सहज ही इच्छा और वाँछा दो लिये हैं। अभी आयेगा उसमें। आहाहा! भाई! यह तो भगवत् कथा है। आहाहा! प्रभु! भगवत्स्वरूप, भगवानस्वरूप प्रभु को रागरूप मानना, प्रभु! वह तो अभगवत्—जड़रूप हुआ। आहाहा! जिसमें चैतन्य का अंश नहीं... आहाहा! उसमें सुखबुद्धि मानना, इस शुभ में, हों! अशुभ में तो ठीक, आहाहा! शुभभाव में भी मेरा है, ऐसी सुखबुद्धि मानना, वह सुख का दुःखरूप परिणमन मिथ्यात्व हुआ। आहाहा!

ज्ञानी को शुभभाव आता है, परन्तु तन्मय होकर मेरा है—ऐसी दृष्टि नहीं है, तथापि परिणमन में शुभभाव है, ऐसा ज्ञानी जानता है, मेरी पर्याय में है परन्तु दुःखरूप है। समझ में आया? आहाहा! और उस राग की पर्याय का मैं कर्ता हूँ। परिणमता है न, तो इस अपेक्षा से कर्ता (कहा)। करने योग्य है, इसलिए करता है—ऐसा नहीं है। आहाहा! कितनी अपेक्षाएँ पड़ती हैं प्रभु में। आहाहा! एक ओर कहे कि, शुभभाव मेरा नहीं और पर्याय में है तो मेरा परिणमन है, ऐसा जानना। आहाहा! परिणमन में मेरा है, वस्तु में मेरा नहीं। आहाहा! बहुत मार्ग, बापू...!

यह अब यहाँ पाप में कहते हैं। अब कहते हैं कि धर्मी को अधर्म (का परिग्रह नहीं)। लोग तो ऐसा कहते हैं कि वहाँ धर्म क्यों कहा? वहाँ अधर्म तो कहा नहीं। आहाहा! परन्तु उसे पुण्य कहा है, उसका अर्थ क्या हुआ? पुण्य, वह कहीं धर्म नहीं है, वह तो अधर्म है। कठिन बात, बापू! प्रभु! तेरी बलिहारी है, नाथ! आहाहा! निर्मलानन्द आनन्द का नाथ प्रभु, अतीन्द्रिय आनन्द का सागर, ऐसा जो अतीन्द्रिय भगवान... आहाहा! उसका जिसे अन्तर में स्वाद आया, वह राग का स्वाद लेने को अतत्पर है। स्वाद आता है, दुःख है परन्तु वह ठीक है, ऐसा (स्वाद) लेने को अतत्पर है। समझ में आया? दुःख का परिणमन मुझमें है, ऐसा जानता है, तथापि उस दुःख के परिणमन में सुखरूप नहीं है। मुझे करनेयोग्य नहीं परन्तु मेरी कमजोरी से आता है तो वह मेरा परिग्रह नहीं, वह मेरे द्रव्य में नहीं। आहाहा! पर्याय में होने पर भी द्रव्य में नहीं। ऐसी दृष्टि राग से भिन्न पड़कर हुई तो उस राग को अपना नहीं मानता। ऐसा शान्तिभाई! बहुत सूक्ष्म, बापू! यह तो वीतरागमार्ग परमात्मा तीन लोक के नाथ इन्द्रों के बीच, गणधरों के बीच ऐसा कहते थे। इन्द्र और गणधरों के बीच जो बात कहते हैं, वह बात है, प्रभु! आहाहा!

अब, यह कहते हैं कि ज्ञानी के अधर्म का (पाप का) परिग्रह नहीं है:- क्योंकि पाप वह अचेतन है। पाप, वह अज्ञान अर्थात् ज्ञान का अभावस्वभावरूप है तो धर्मी को ज्ञान के अभावस्वभावरूप चीज़, उसकी परिग्रह-पकड़ नहीं है। आहाहा! आता है, ज्ञानी को पाप के परिणाम आते हैं। विषय, आसक्ति आदि के (परिणाम आते हैं) आहाहा! परन्तु उनकी पकड़ नहीं है। पकड़ नहीं का अर्थ उनमें तन्मय, ज्ञायकस्वभाव तन्मय हो जाए, ऐसा नहीं है। पर्याय में तन्मय है। ऐसी बात। आहाहा! समझ में आया? यह गाथा कहते हैं। २११।

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णेच्छदि अधम्मं।
अपरिग्गहो अधम्मस्स जाणगो तेण सो होदि।।२११।।

अनिच्छक कहा अपरिग्रही; नहिं पाप इच्छा ज्ञानि के।
इससे न परिग्रहि पाप का वो, पाप का ज्ञायक रहे।।२११।।

टीका : इच्छा परिग्रह है। आहाहा! इच्छा, वही परिग्रह है। चाहे तो पुण्य की

इच्छा हो, पाप की इच्छा हो, वह इच्छा ही परिग्रह है। क्योंकि भगवान में इच्छा है ही नहीं। आहाहा! इच्छा, वह अज्ञानमयभाव है। उस ज्ञानमय भगवान आत्मा में इच्छा का अभाव है। आहाहा!

इच्छा परिग्रह है। आहाहा! ज्ञानी... यह तो अपने आ गया है। मेरा परिग्रह तो ज्ञायक मेरा परिग्रह है। मेरा परिग्रह तो ज्ञायक है। आहाहा! परि—समस्त प्रकार से पकड़ में—अनुभव में लेने में आवे कि यह मेरा ज्ञायकभाव है, वह मेरा परिग्रह है। आहाहा! पहले आ गया है। **एक ज्ञायकभाव ही जो 'स्व' है, उसका ही मैं स्वामी हूँ; इसलिए मुझे अजीवपना न हो, मैं तो ज्ञाता ही रहूँगा...** २०८ वीं टीका के अन्तिम शब्द हैं। आहाहा! क्या समयसार! आहाहा! अब यह कहते हैं कि समयसार मुनियों के लिये है। अरे! प्रभु! तू यह क्या करता है? ऐसा बचाव करके भगवन्त! तूने यह क्या किया? ऐसी चीज़ है, वह आत्मा को बतानेवाली चीज़ है, तो जिसे आत्मा को जानना हो, उसके लिये यह समयसार है। तो वह तो कहे, नहीं। यह तो मुनियों के लिये है। नीचेवालों के लिये नहीं। आहाहा! ऐसे लेख आते हैं। अरेरे!

इच्छा परिग्रह है। भगवान आत्मा ज्ञायकभावरूपी परिग्रह है। उसे इच्छा परिग्रह है ही नहीं। आहाहा! उसे ज्ञायकभावरूपी परिग्रह, ज्ञानी को—धर्मी को ज्ञायकभावरूपी परिग्रह है। उसे इच्छा का परिग्रह नहीं है। आहाहा! **उसको परिग्रह नहीं है...** किसके? कि **जिसके इच्छा नहीं है।** क्योंकि इच्छा परिग्रह कहा। इच्छा, वही परिग्रह है। आहाहा! तो जिसे परिग्रह नहीं, उसे इच्छा नहीं। आहाहा! क्योंकि इच्छा परिग्रह है और जिसे वह परिग्रह मेरा है, ऐसा नहीं, उसे इच्छा नहीं। आहाहा! क्या टीका! गजब बात है। इच्छा परिग्रह है। भगवान आत्मा इच्छास्वरूप नहीं है। आहाहा! यह तो अभी सम्यग्दर्शन की—पहली श्रेणी की बात चलती है। चारित्र और स्वरूप की रमणता, वह तो धन्य भाग्य! आहाहा!

यह आनन्दमूर्ति भगवान, उसका जिसे परिग्रह है, उसे इच्छा परिग्रह नहीं है। आहा! चौथे गुणस्थान से, हों! चक्रवर्ती का राज हो। आहाहा! भाई ने नहीं कहा? भाई! लालचन्दभाई! सोगानी (ने)। छह खण्ड को नहीं साधते। गजब बात की है। चक्रवर्ती

समकिती छह खण्ड को नहीं साधते; वे तो अखण्ड को साधते हैं। आहाहा! ऐसा ही है। उस छह खण्ड को साधने के काल में भी अखण्ड को साधते हैं। हैं? आहाहा! ज्ञायकभाव की अखण्डता जिनकी दृष्टि में से कभी भी नहीं छूटती। वे अखण्ड को साधते हैं। सोगानी में आता है। द्रव्यदृष्टि प्रकाश पढ़ा है? कितनी बार? पैसे तो कितनी बार फिराये हैं। आहाहा! जगत ऐसे चलता है न, भाई! वह समकिती चक्रवर्ती छह खण्ड को नहीं साधता। आहाहा! वह अखण्ड को साधता है। प्रभु अखण्डानन्द नाथ, यह आता है न, ३२० गाथा में?

सकल निरावरण अखण्ड एक प्रत्यक्ष प्रतिभासमय अविनश्वर शुद्ध पारिणामिक परमभाव लक्षण, ऐसा निज परमात्मद्रव्य वह मैं, उसे साधता है। आता है न, ३२० में, अखण्ड एक। अखण्ड एक। आहाहा! जिसमें पर्याय का खण्ड का भी भेद नहीं। आहाहा! और उस ३२० में आया है, ज्ञानी—धर्मी सकल निरावरण, जो सकल निरावरण वस्तु ध्रुव जो अखण्डरूप से पर्याय का भेद नहीं, ऐसा एकरूप, अविनश्वर—अविनाशी ध्रुव, परमशुद्धभाव परमलक्षण निजात्मद्रव्य, निजात्मद्रव्य, उसे धर्मी साधता है। आहाहा! और फिर उसमें लिखा है, खण्ड-खण्ड ज्ञान को नहीं साधता। आहाहा! छह खण्ड को तो साधता नहीं (परन्तु खण्ड-खण्ड ज्ञान को साधता नहीं)। आहाहा! ३२० का व्याख्यान आ गया है। समझ में आया? आहाहा! है यहाँ? हाँ, यह, देखो!

'जो सकल निरावरण अखण्ड एक प्रत्यक्ष प्रतिभासमय अविनश्वर शुद्ध पारिणामिक परमभाव लक्षण निज परमात्मद्रव्य, वही मैं हूँ। परन्तु ऐसा नहीं भाता कि खण्ड-खण्ड ज्ञानरूप मैं हूँ।' छह खण्ड तो नहीं परन्तु खण्ड-खण्ड ज्ञान को भाता नहीं। आहाहा! ३२० गाथा का व्याख्यान आ गया है। आहाहा!

इच्छा परिग्रह है। उसको परिग्रह नहीं है—जिसके इच्छा नहीं है। आहाहा! **इच्छा तो अज्ञानमय भाव है...** देखो! आहाहा! यह ज्ञानमय प्रभु (है और) इच्छा तो अज्ञानमय भाव है। भगवान ज्ञान और आनन्दमय है तो इच्छा अज्ञान और दुःखरूप है। आहाहा! अरेरे! ऐसी बात सुनने को नहीं मिलती, वह बेचारा कैसे करे? आहाहा! यह करो और यह करो। अरेरे! यहाँ तो कहते हैं, इच्छामात्र परिग्रह है। आहाहा! जिसे इच्छा नहीं, उसे उसका परिग्रह नहीं, उसकी पकड़ नहीं। आहाहा!

यह (एक) स्तवन में आता था। दुकान पर पढ़ते थे न? चार सज्झायमाला है। तब की, यह तो (संवत्) १९६४-६५ की बात है। 'सहजानन्दी रे आत्मा' बड़ी सज्झाय। 'सूतो कांई निश्चिंत रे' वह राग में सो रहा है, अपना मानकर, प्रभु! तुझे यह क्या हुआ? 'सहजानन्दी रे आत्मा, सूतो कांई निश्चिंत रे, मोह तणा रे रणिया भमे' राग की एकता में, मिथ्यात्वभाव सिर पर चोर घूमता है। 'जाग जाग रे मतिवन्त रे, ऐ लूटे जगतना जंत रे' स्त्री, पुत्र, कुटुम्बी लुटेरे, ठग तुझे लूटते हैं। हमें ऐसा दो और हमें ऐसा दो और हमें... किसलिए प्राप्त किया था? हमें सुविधा दो। ये जगत के प्राणी तुझे लूटते हैं। 'लूटे जगतनां जंत, विरला कोई उगरंत' बड़ी सज्झाय आती है न? उस समय पढ़ते थे। चार सज्झायमाला है। चार सज्झायमाला है। एक-एक में दो सौ-ढाई सौ सज्झाय है। तब दुकान पर मँगायी थी। पिताजी की घर की दुकान थी, निवृत्ति (थी), कुछ उपाधि नहीं थी। आहाहा! आहाहा!

यहाँ कहते हैं, सहजानन्दी रे आत्मा। यह सहजानन्द वह स्वामीनारायण का नहीं, हों! यह सहजानन्दी प्रभु, सहजानन्दी आत्मा क्यों निश्चिन्त सो रहा है। राग में क्यों निश्चिन्त (होकर) सो गया। यह तुझे क्या हुआ? आहाहा! तू इच्छा में पूरा चला गया, नाथ! आहाहा! तेरा परिग्रह तो आनन्द और शान्ति तेरी चीज़ है। प्रभु! इस राग में तुझे क्या हुआ? आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं, **इच्छा तो अज्ञानमय भाव है...** आहाहा! इच्छा मिथ्यात्व भाव है, ऐसा नहीं। इच्छा हो, इसलिए मिथ्यात्व होगा, ऐसा नहीं। इच्छा को अपनी माने तो मिथ्यात्व है, परन्तु इच्छा स्वरूप है, वह अज्ञानमय है। क्या कहा? इच्छा, वह मिथ्यात्वरूपी भाव है, ऐसा नहीं है। परन्तु इच्छा अज्ञानमय भाव है। जो निज ज्ञानस्वभाव भगवान, उसकी इच्छा का अभाव तो अज्ञानमय भाव है। आहाहा! हीराभाई! ऐसी बातें, बापू! आहाहा!

यह देखो न, मोरबी की बातें सुनते हैं, वैराग्य... वैराग्य हो जाए, ऐसा है। पूरी मोरबी। पन्द्रह-पन्द्रह हजार लोग, बीस हजार लोग (मर गये), ऐसा कहते हैं। कितने ही दस हजार, कोई पन्द्रह-बीस (हजार कहते हैं)। परन्तु दस हजार तो कम से कम कहते हैं। लोग मर गये। आहाहा! वे वापस मरकर (कहाँ जाए)। उस समय तो आर्तध्यान हो।

ऐसे बचूँ और ऐसे बचूँ। वे मरकर बहुत से तो पशु में जाए। माँस और शराब न खाते (पीते) हों वे, हों! अरे! उस पशु में अवतरे, प्रभु! उसे अब मनुष्यपना कब मिले और उसे कब सुनने को मिले? आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि **इच्छा तो अज्ञानमय भाव है...** अर्थात् उसमें ज्ञान का भाव नहीं है। यह राग, वह अज्ञानमय भाव है **और अज्ञानमय भाव ज्ञानी के नहीं होता,...** आहाहा! धर्मी को ज्ञानमय भाव है तो उसे इच्छा-अज्ञानमय भाव नहीं होता। आहाहा! समझ में आया? आहा!

इन्दु परसों आया था, भाई! जयन्तीभाई! रतिभाई का। वह कहे, जैसे पानी अन्दर घुसा तो हमारे तो अन्दर घर में सीढ़ी थी, इसलिए (ऊपर) चढ़ गये। और सामने घर था, उसमें उन्हें सीढ़ी बाहर थी। पानी इतना आया तो वे बाहर निकल नहीं सके। वहीं मर गये। पूरा घर समाप्त। परन्तु हमने तो वह पानी देखा तो मुर्दे जाएँ। पुकार अन्दर (उठी), ज्ञायकभाव-जाननेवाला हूँ। उसे जानपना है। इन्दु नहीं छोटा, रतिभाई का? बापूजी और माँ और सब ऊपर चढ़ गये परन्तु अन्दर में पुकार (उठी)। कौन जाने कहाँ से एकदम (आया)। कोई विकल्प संयोग का आता परन्तु फिर भी पुकार (यह थी), ज्ञायक हूँ। मैं दूसरी कोई चीज़ हूँ नहीं। जवान व्यक्ति है। इन्दु, रतिभाई का, नहीं? चिमनभाई का दामाद है। आहाहा! उस कटोकटी के काल में, हें? उसे ज्ञायकभाव में रहना। मैं ज्ञायक हूँ, बस! दूसरा कुछ रहना-फहना नहीं। आहाहा! उस प्रकार का भणकार भी, बापू! अलौकिक है न? हें? भाई थे न, लालचन्दभाई? हें?

मुमुक्षु : सही अवसर पर।

पूज्य गुरुदेवश्री : सही अवसर पर। बात की तब खड़े थे। आहाहा!

ओहोहो! आचार्यों ने क्या (बात की है)! **इच्छा परिग्रह है।** गजब काम किया है, प्रभु! **उसको परिग्रह नहीं है-जिसके इच्छा नहीं है।** आहाहा! ज्ञानी को इच्छा नहीं है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! जिसने आनन्द के सागर को देखा है, जिसने अतीन्द्रिय आनन्द के सागर को हिलोलें मारता प्रभु (देखा है), आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द के हिलोरें चढ़ा हुआ प्रभु, ऐसा जिसने अन्दर अनुभव किया और जाना है... आहाहा! उसे अज्ञानमय भाव— इच्छा नहीं होती, कहते हैं। आहाहा! सूक्ष्म बात, बापू!

यह तो परमात्मा तीन लोक के नाथ इन्द्र और गणधरों के बीच कहते थे, वह बात है। आहाहा! परमात्मा विराजते हैं। भगवान तो विराजते हैं। सीमन्धर प्रभु साक्षात् सभा में। आहाहा! ये कुन्दकुन्दाचार्य आठ दिन रहे और यह सन्देश लाये। स्वयं तो मुनि थे, भावलिंगी सन्त। आनन्द के... आहाहा! आनन्द का उग्र अनुभव करते थे, परन्तु जरा सुनने गये और फिर विशेष निर्मलता हुई और विकल्प आया कि मैं शास्त्र बनाऊँ। आहाहा! परन्तु मैं श्रोताओं को कहता है कि हे श्रोता! अनन्त सिद्धों को पर्याय में स्थापित करके सुनना। आहाहा! है! आहाहा! प्रभु! तू पामर नहीं है। तेरी पर्याय में अनन्त सिद्धों को स्थापित कर। राग को दूर कर दे। आहाहा! श्रोता को कहते हैं। **'वंदित्तु सव्वसिद्धे'** सर्व सिद्धों को **'वंदित्तु'** अर्थात् आदर करके, आदर करके अर्थात् पर्याय में स्थापित करके। आहाहा! अब सिद्धपने की पर्याय को स्थापित किया तो तू अब स्वलक्ष्य से सुन। आहाहा! गजब बातें हैं। समयसार का एक-एक पद, एक-एक गाथा अलौकिक है, बापू! आहाहा!

वह यह (कहते हैं) **इच्छा तो अज्ञानमय भाव है...** गजब बात है। एक ओर भगवान ज्ञानमय चैतन्यप्रकाश की मूर्ति और एक ओर इच्छा, अन्धकार, अज्ञान, उसमें ज्ञान का अभाव है। अन्धकारमय है। यह ज्ञानमय प्रभु है तो इच्छा अन्धकारमय है। यह ज्ञानमय है तो वह अज्ञानमय है। भगवान आनन्दमय है तो इच्छा दुःखमय है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! दुनिया माने, न माने; वस्तु स्वतन्त्र है। प्रभु! तुझे भी सुखी होना हो तो यह रास्ता लेने से ही सुखी है, बाकी सब बातें हैं। आहाहा!

वह अज्ञानमय भाव है। आहाहा! है तो भाव है। है? आहाहा! जैसे भगवान आनन्दमय भाव है, वैसे इच्छा अज्ञानमय भाव है। आहाहा! समझ में आया? भाई! यह तो भगवान का उपदेश है, प्रभु! आहाहा! **अज्ञानमय भाव ज्ञानी के नहीं होता,...** आहाहा! जिसने आत्मा ज्ञानमय, आनन्दमय जाना, उसे यह अज्ञानमय इच्छा भाव नहीं होता। आहाहा! समझ में आया? (इच्छा) **अज्ञानमय भाव है और अज्ञानमय भाव ज्ञानी के नहीं होता,...** इच्छा ही उसे नहीं होती, ऐसा कहते हैं। आहाहा! भगवान आनन्द के नाथ की अन्दर की भावना में इच्छा का अवकाश कहाँ है? आहाहा! जिसे राग से भिन्न पड़कर भगवान की ओर प्रयत्न ढल गया है... आहाहा! प्रयत्न—प्र-विशेष, पुरुषार्थ वहाँ अन्दर ढल गया है। आहाहा! उसे यह अज्ञानमय इच्छा नहीं होती। आहाहा!

ऐसा काम है। अब इस वस्तु को अन्दर समझे बिना यह व्रत करो और अपवास करो। सब बालव्रत और बालतप है। मूर्खाई से भरपूर तप और मूर्खाई से भरे (अपवास है)। आहाहा! यह तेरे हित की बात है, प्रभु! तुझे दुःख लगे कि अरे रे! हम यह सब करते हैं, व्रत और तप, और यह सब झूठा? भाई! तुझे दुःख का कारण है, भाई! आहाहा! उसमें दुःख है। इच्छामात्र में दुःख है, वह अज्ञानमय है। ज्ञानमय नहीं तथा आनन्दमय नहीं, इसलिए दुःखमय है। आहाहा! कहो।

यह तो सब युवकों को और वृद्धों को सबको समझना है। जवान, वृद्ध तो जड़ है। भगवान कहाँ जवान, वृद्ध है? अनन्त आनन्द और अनन्त ज्ञान और अनन्त शान्ति से भरपूर सागर भगवान पूर्णानन्द प्रभु, आहा! उसके समक्ष ज्ञानी को राग जो अज्ञानमय और दुःखमय है, उसे वह नहीं होता। आहाहा! जिसका अस्तित्व आनन्दमय और ज्ञानमय ऐसी सत्ता का स्वीकार हुआ है। आहाहा! जिसके अस्तित्व में, सत्ता के स्वीकार में अनन्त आनन्द, अनन्त ज्ञान, अनन्त ईश्वरता, अनन्त शान्ति... शान्ति... शान्ति... शान्ति... शान्ति, अकषायभावरूपी अनन्त शान्ति। आहाहा! उसका जिसे अन्तर ज्ञान की पर्याय में स्वीकार हुआ है, दृष्टि ने उसे प्रतीति में लिया है। आहाहा! ऐसे धर्मी को यह इच्छा अज्ञानमय नहीं होती, कहते हैं। गजब काम, बापू! आहाहा!

अज्ञानमय भाव ज्ञानी के नहीं होता, ज्ञानी के ज्ञानमय ही भाव होता है;... देखो! 'ही', 'ही' कहा न? धर्मी को तो धर्ममय ही भाव होता है। आहाहा! राग होता है परन्तु वह मेरा है, ऐसा नहीं है। इसलिए उसे तो धर्ममय, ज्ञानमय भाव होता है। आहाहा! **इसलिए...** इस कारण से। किस कारण से? कि अज्ञानमय भाव—राग, वह ज्ञानी को नहीं होता। ज्ञानी को तो ज्ञानमय भाव ही, ज्ञानमय ही। आहाहा! जानना-देखना, आनन्दादि का भाव ज्ञानी को होता है। आहाहा! **इसलिए...** किस कारण से? **ज्ञानी के ज्ञानमय ही भाव होता है; इसलिए...** ऐसा। आहाहा! **अज्ञानमय भाव-इच्छा के अभाव होने से...** अज्ञानमय भाव, ऐसी **इच्छा के अभाव होने से ज्ञानी अधर्म को नहीं चाहता;...** धर्मी को पाप की इच्छा नहीं है। पाप के परिणाम होते हैं, परन्तु उनकी इच्छा नहीं है। आहाहा! समझ में आया? आनन्द के नाथ की जहाँ भावना है, वहाँ अधर्म की इच्छा कहाँ से होगी? आहाहा!

इसलिए अज्ञानमय भाव-इच्छा के अभाव होने से ज्ञानी अधर्म को नहीं चाहता;... धर्मी जीव को पाप की इच्छा ही नहीं है। पाप मेरा है, ऐसी इच्छा नहीं है। मैं तो ज्ञानी ज्ञानमय हूँ, तो पाप की इच्छा ज्ञानी को है नहीं। आहाहा! अपने ज्ञानमय भाव के समक्ष अधर्म पाप, अज्ञानमय दुःखरूप की इच्छा नहीं होती। आहाहा! ओहोहो! जो प्रभु सुख के पन्थ में आत्मा चल पड़ा है, आहाहा! उसे दुःख के पन्थ की इच्छा नहीं है। आहाहा! भगवान आनन्दस्वरूप प्रभु और ज्ञानस्वरूपमय, उस पन्थ में जहाँ दृष्टि चढ़ गयी है, आहाहा! उसके दुःख के पन्थ में, इच्छा के भाव होते नहीं। आहाहा! अब इसमें (कहाँ) वाद और विवाद करना! आहाहा! समकिती अप्रमत्तदशा में हो, वह बिना चारित्र हो, अरे! गजब करते हैं, प्रभु! चारित्र पहला, समकित बाद में? चारित्र अर्थात् उसका क्रियाकाण्ड है, उसे चारित्र कहते हैं। आहाहा!

यहाँ तो पहली श्रेणी में, धड़ाके जहाँ भगवान पूर्णानन्द के नाथ का जहाँ सम्यग्दर्शन में स्वीकार हुआ और ज्ञान की पर्याय में परमात्मा का ज्ञान हुआ, परमात्मा पर्याय में आया नहीं परन्तु परमात्मा की जितनी सामर्थ्य और स्वरूप है, उतना सब ज्ञान की पर्याय में आ गया। आहाहा! ऐसी बात, भाई! मार्ग तो यह है, बापू! इसे भले एकान्त ठहराओ, निश्चयाभास ठहराओ। करो! आहाहा!

इसलिए इच्छा के अभाव के कारण **ज्ञानी अधर्म को नहीं चाहता; इसलिए ज्ञानी के अधर्म का परिग्रह नहीं है।** आहाहा! इस कारण से। किस कारण से? ज्ञानी को अधर्म की चाहना नहीं है, इस कारण से। आहाहा! भावना तो भगवान आत्मा के ओर की है। आहाहा! उसे इस अधर्म की चाहना नहीं है। इस कारण से ज्ञानी को अधर्म का परिग्रह नहीं है। आहाहा! क्या भरा है न! अमृतचन्द्राचार्य की टीका। अमृत बहाया है। जिसे अमृत का स्वाद आया, उसे जहर के स्वाद की इच्छा कैसे होगी, ऐसा कहते हैं। आहाहा! जिसे अमृत का सागर नाथ, ज्ञान की पर्याय में पूरा ज्ञेय—वस्तु अमृत की सागर, ज्ञान में आ गयी, ज्ञेयरूप से ज्ञान में आ गया और आनन्द का नाथ पर्याय में पूरा जानने में आ गया, उसे अधर्म की इच्छा कैसे होगी? आहाहा!

अब यह तो कहते हैं कि चौथे गुणस्थान में ज्ञानी नहीं कहा जाता, ज्ञानी तो सातवें

में समकित हो, तब (कहलाता है)। अरे! प्रभु! क्या (कहता है)? आहाहा! भाई! सम्यग्दर्शन कोई अलौकिक चीज़ है। आहाहा! पूरे परमेश्वर को स्वीकार करके दृष्टि अन्दर पड़ी और वह विकल्प तोड़कर निर्विकल्प होकर दृष्टि वहाँ पड़ी। आहाहा! उस दृष्टि और दृष्टि के विषय की बातें क्या करना? प्रभु! आहाहा! वह दृष्टि भरत चक्रवर्ती जैसे चक्रवर्ती पद में भी प्रगट हो सकती है। वह पद कहाँ आत्मा में है? आहाहा! यह आ गया है न? (१३८ कलश) **'पदम् इदम् अपदम् अपदं'** आ गया है पहले निर्जरा में। राग, वह अपद है, अपद है, प्रभु! वह तेरा पद नहीं है। आहाहा! पहले कलश में आ गया है। यहाँ आओ, यहाँ आओ। दो-दो बार आया है वहाँ। वह अपद-अपद है, यह पद है, पद है। आहाहा! यह तेरा आवास—तेरा रहने का स्थान भगवान है। यह राग तेरा रहने का स्थान नहीं है। प्रभु! आहाहा! ब्राह्मण चाण्डालनी के घर में जाए (तो) वह कहीं उसका स्थान कहलाता है? आहाहा! इसी प्रकार भगवान अलौकिक आनन्द का नाथ, वह राग के स्थान में जाए, वह रागस्थान उसका नहीं। वह पद तेरा नहीं, प्रभु! आहाहा!

कहा था न एक बार, नहीं? अठारह वर्ष की उम्र में बड़ोदरा माल लेने गये थे। फिर फुरसत से रात्रि में (नाटक) देखने गये, उसमें अनुसूया का नाटक (था)। अनुसूया स्वर्ग में जाती थी तो इनकार किया। यहाँ पुत्र को लोरियाँ गाकर सुलाती है। सुलाते हुए कहती है, आहाहा! बेटा! तू निर्विकल्प है। अरेरे! आहाहा! उसके नाटक में यह और इस सम्प्रदाय में यह नहीं। बड़ोदरा की बात है, (संवत्) १९६४ का वर्ष। ६४-६४। अठारह वर्ष की उम्र, माल लेने गये थे। पिताजी गुजर गये, इसलिए माल लेने मैं जाता था। हमारे भागीदार तो वहाँ बैठते। मुम्बई, भावनगर, अहमदाबाद। भावनगर क्या, मुम्बई, अहमदाबाद, बड़ोदरा (जाते थे)। उसमें बड़ोदरा गये थे। (रात्रि में निवृत्ति थी) टिकिट लिया बारह आने का, बारह आने की पुस्तक ली थी। तुम क्या कहते हो? (यह देखने के लिये)। ऐसा कहते हैं, आहाहा! बेटा! तू निर्विकल्प है। उदासीनोसि! नाथ! तू तो राग से उदासीन है, तेरा आसन तो चैतन्य में है। आहाहा! जयन्तीभाई! नाटक में ऐसा आता था। यहाँ तो तुम्हारे सम्प्रदाय में भी निर्विकल्प आनन्द और निर्विकल्प हो, यह बात थी? राग करो, बस! यह करो, शुभ करो। आहाहा! उदासीनोसि, शुद्धोसी, बुद्धोसी। प्रभु! तू शुद्ध है। तू बुद्ध अर्थात्

ज्ञान का पिण्ड है। चार बोल याद रहे थे, थे तो बहुत। यह तो बहुत वर्ष हो गये न! हें? ७१ वर्ष हो गये। सत्तर और एक। यह चार बोल याद रह गये। वह छह लाईनें बनायी थीं, उसमें आधी लाईन याद रह गयी। कहा न? यह (संवत्) १९६४ में बनायी थी, यह भी, हों! 'शिवरमणी रमनार तू, तू ही देव का देव।' यह १९६४ में। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, प्रभु! ज्ञानी को अधर्म का परिग्रह क्यों नहीं है? (क्योंकि) इच्छा के अभाव के कारण **ज्ञानी अधर्म को नहीं चाहता; इसलिए ज्ञानी के अधर्म (पाप) का परिग्रह नहीं है।** आहाहा! **ज्ञानमय एक ज्ञायकभाव के सद्भाव के कारण...** आहाहा! कैसा ज्ञायकभाव? ज्ञानमय एक ज्ञायकभाव। भेद और पर्याय भी नहीं। आहाहा! ज्ञानमय **एक ज्ञायकभाव के सद्भाव के कारण...** श्रद्धा और ज्ञान में ज्ञायक के एक भाव के सद्भाव के कारण। आहाहा! यह सिद्धान्त। ऐसी टीका तो अभी अन्यमत में तो नहीं परन्तु जैन में दिगम्बर में ऐसी टीका अन्यत्र नहीं है। ऐसी यह अमृतचन्द्राचार्य ने टीका में अमृत बहाया है। आहाहा!

ज्ञानमय एक ज्ञायकभाव... भाषा देखो! धर्मी को तो **ज्ञानमय एक ज्ञायकभाव के सद्भाव के कारण...** इस कारण से। पाप की और पुण्य की क्यों इच्छा नहीं? कि ज्ञायकमय एक ज्ञायकभाव के सद्भाव के कारण। आहाहा! उसका सद्भाव अस्ति, त्रिकाली ज्ञायक वह दृष्टि में आया है। इस कारण **(ज्ञानी) अधर्म का केवल ज्ञायक ही है।** आहाहा! धर्मी तो अधर्म का केवल ज्ञायक 'ही' है। आहाहा! अपने में जानता है। अपने को जानता है तो उसे अपनी भूमिका में जानता है। आहाहा! ऐसा मार्ग है। है? **अधर्म का केवल ज्ञायक ही है। इसी प्रकार गाथा में 'अधर्म' शब्द बदलकर उसके स्थान पर...** दूसरे लेना। विशेष आयेगा..... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २९१, गाथा-२११, गुरुवार, भाद्र शुक्ल १
दिनाङ्क २३-०८-१९७९

समयसार, २११ गाथा। इसका अन्तिम पेरेग्राफ है। धर्मी उसे कहते हैं कि जिसे राग से भिन्न भगवान ज्ञायकभाव दृष्टि में आया है और वह ज्ञायकभाव, वह मैं हूँ, ऐसा जिसे अन्तर में दृष्टिसहित अनुभव है, उसे यहाँ ज्ञानी कहो या धर्मी कहो। कोई ऐसा कहे कि, ज्ञानी तो ऐसे होंगे भले परन्तु हमें तो धर्म करना है। परन्तु यह धर्मी कहो या ज्ञानी कहो, दोनों एक ही बात है। आहाहा! यह तो निर्जरा अधिकार है न?

धर्मी ने चैतन्य ज्ञायकभाव का आश्रय लिया है, इसलिए उसकी अन्तर में शान्ति और आनन्द और ज्ञान की दशा निर्मल प्रगट हुई है, उसके कारण धर्मी को पुण्य का परिग्रह नहीं, यह आ गया; पाप का नहीं, यह आ गया। अब उसे बदलाते हैं। **'अधर्म' शब्द बदलकर उसके स्थान पर राग,...** क्या कहते हैं? धर्मी को राग का परिग्रह नहीं। क्योंकि इच्छा, वह परिग्रह है और उसे परिग्रह नहीं कि जिसे इच्छा नहीं। और वह राग अज्ञानमय भाव है। ज्ञानमय चैतन्यस्वभाव से वह भिन्न भाव है। चाहे तो वह दया का, दान का, भगवान की (विनय का भाव) हो। कल कहा था न? कि मुनि को जो द्रव्यलिंग नग्नपना है, वह बाह्य उपकरण है। वह उपकरण है। आहाहा! वह अज्ञानमय है, उसमें ज्ञानस्वभाव नहीं है। इसलिए वह उपकरण ज्ञानी को परिग्रह नहीं है। वह उपकरण लिंग तथा गुरुवचन... आहाहा! गजब बातें! तथा विनय, देव-गुरु-शास्त्र का विनय और सूत्र अध्ययन, शास्त्र का अध्ययन, वह बाह्य उपकरण है, प्रभु! आहाहा! जैसा यह लिंग बाह्य उपकरण है, वैसा यह गुरुवचन, सूत्र अध्ययन, शास्त्र परपदार्थ है न! आहाहा! और विनय, देव-गुरु-शास्त्र का विनय, वह उपकरण है। वह आत्मा का स्वरूप नहीं। आहाहा! ऐसी बातें हैं, भाई! समझ में आया?

राग, इच्छा नहीं। इच्छा जिसे परिग्रह है, वह इच्छा जिसे नहीं है, उसे इच्छा परिग्रह नहीं है। क्योंकि इच्छा, वह अज्ञानमय भाव है। आहाहा! वैसे यह राग है, वह अज्ञानमय भाव है। अरेरे! ऐसी बातें। यह तो कल आया था न? पुण्य-पाप का। शुभाशुभभाव, वह अज्ञानमय भाव है। आहा! भाई! मार्ग बहुत अलौकिक है। आहाहा! कोई शुभराग की

इच्छा ज्ञानी को नहीं है। क्योंकि इच्छा, वह परिग्रह है तो वह इच्छा ज्ञानी को नहीं है, इसलिए राग की इच्छा उसे नहीं है। आहाहा! राग है, वह अज्ञानमय है और अज्ञानमय है; इसलिए ज्ञानी को उस अज्ञानमय भाव की पकड़ नहीं, परिग्रह-पकड़ नहीं। आहाहा! कठिन बातें, बापू! वीतरागमार्ग बहुत अलौकिक है, भाई!

ज्ञानी को ज्ञायकभाव होने से, धर्मी को तो ज्ञायकभाव पर्याय में अनुभवने से उसे राग, दया, दान, भक्ति, पूजा का राग का उसे परिग्रह नहीं है। क्योंकि उसे इच्छा नहीं है। इच्छा नहीं है, इसलिए राग का परिग्रह उसे नहीं है। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बात है, भाई! आहाहा! यह राग... आहाहा! गजब बात है। यह तो वीतरागधर्म है, प्रभु! वीतरागता, द्रव्यस्वरूप भगवान आत्मा, वीतरागमूर्ति के आश्रय से वीतराग पर्याय होती है। सम्यग्दर्शन, वह वीतरागी पर्याय है। आहाहा! धर्मी को इच्छा नहीं होती। क्योंकि इच्छा, वह परिग्रह है। जिसे परिग्रह नहीं, उसे इच्छा नहीं है और इच्छा नहीं है, इसलिए राग का परिग्रह भी उसे नहीं है। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

तथा **द्वेष,...** द्वेष की इच्छा नहीं है। इच्छा, वह परिग्रह है। उसे परिग्रह नहीं कि जिसे इच्छा नहीं। धर्मी को द्वेष की इच्छा नहीं है। आहाहा! द्वेष का भाव, वह अज्ञानमय भाव है। उस अज्ञानमय भाव की ज्ञानी को इच्छा नहीं है। आहाहा! छबीलभाई! ऐसा है यह। तुम्हारे गुणगान करते थे, छबीलभाई के। यह रमणीक, रमणीक संघवी कहे, बहुत अच्छा पढ़ते हैं। पोपटभाई के पुत्र के पुत्र। पोपटभाई के पुत्र। हें?

मुमुक्षु : इन्हें भगत कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सब उनकी अपेक्षा यह अलग प्रकार का है। यह अलग प्रकार का पका है। आहाहा! रमणीकभाई कहते थे। रमणीकभाई नहीं? संघवी... संघवी। छबीलभाई बहुत अच्छा पढ़ते हैं। इकलौता पुत्र मर गया न? तो भी शोक नहीं किया। स्थानकवासी लोगों को तो अजब हो गया! इकलौता लड़का, दो वर्ष का विवाहित, गाँव की कन्या, विधवा महिला, उसे समाधान करावे। आवे उन्हें स्वयं समाधान करे। भाई! यह चीज तो परिग्रह, मेहमान ही है न! मेहमान की अवधि कितनी हो? उसकी अवधि प्रमाण रहा, ऐसा कहता था। आहाहा! सही अवसर पर सम्यक् ज्ञान—सच्चा काम न आवे तो कब काम आवे? आहाहा!

यहाँ कहते हैं, द्वेष, वह अज्ञानमय भाव है। आहाहा! अरुचि होती है, वह द्वेष है। आहाहा! इकलौता लड़का मर गया हो और विधवा स्त्री छोड़कर जाए और घर में दो व्यक्ति। आहाहा! और पैसेवाले हैं। दस हजार रुपये खर्च किये, लड़के के पीछे दस हजार खर्च किये। आहाहा! इसमें किसे कहना, बापू! पैसेवाले? यहाँ तो कहते हैं कि अरुचि होना, वह अज्ञानमय भाव है। आहाहा! प्रतिकूल संयोग आने पर उसमें द्वेष हो, वह द्वेष अज्ञानमय भाव है। धर्मी को अज्ञानमय भाव नहीं होता क्योंकि उसे इच्छा नहीं होती। इच्छा नहीं होती, इसलिए उस द्वेष का उसे परिग्रह नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

अब तो यह गुजराती चलता है, स्पष्ट चलता है, हिन्दी में इतना स्पष्ट नहीं चलता। इसलिए कैलाशचन्दजी ने कहा था, हिन्दी लोगों को यहाँ आकर गुजराती सीखकर आना, तो गुजराती उन्हें स्पष्ट होगी और समझ में आयेगी। तो भी इस बार एक महीने और तीन दिन हिन्दी चला। आषाढ़ कृष्ण १३ से। नहीं? शिक्षण शिविर चला न? अभी तो यह आये हैं न? पर्यूषण है, गुजराती आये हैं। आहाहा!

क्रोध,... क्रोध, वह अज्ञानमय भाव है। भगवान तो ज्ञानमय स्वरूप है। आहाहा! उस ज्ञानमय भाव में ज्ञायकरूप से क्रोध आया, उसे जाननेवाला रहे। आहाहा! ज्ञायकरूप से उसका जाननेवाला रहे। परन्तु वह मेरा भाव है... आहाहा! क्रोध मेरा भाव है, ऐसा परिग्रह धर्मी को नहीं होता। आहाहा! गजब बात, प्रभु! आहाहा! जिसने भगवान पूर्णानन्द का नाथ परिग्रहरूप से पकड़ा, कहा न? यह तो भाई! आ गया न? ज्ञायक, वह धर्मी का परिग्रह है। आहाहा! यह पहले आ गया है। आहाहा! अकेले आनन्द का रस और ज्ञान का रसकन्द प्रभु, वह ज्ञायकभाव, वह धर्मी का परिग्रह है। आहाहा! लोगों को ऐसी बातें बहुत कठिन लगती है। लोग बाहर से मनवा दें। आहा! पूजा और भक्ति, दया और दान और व्रत, यह तो सब राग है। यहाँ तो कहते हैं कि राग, वह अज्ञानमय भाव है। आहाहा! आता है, होता है परन्तु वह अज्ञानमय भाव है, इसलिए वह मेरा है, ऐसा नहीं है। आहाहा! अरे! वीतराग...

अपने को ठीक न लगे और वहाँ क्रोध हो, परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि कदाचित् क्रोध आया, परन्तु धर्मी को उसकी पकड़ नहीं है। आहाहा! यह मेरा है, ऐसा नहीं मानता।

मैं तो एक ज्ञायकभावमय स्वरूप, उसका मुझे परिग्रह है, इस क्रोध का मुझे परिग्रह नहीं है, क्योंकि यह अज्ञानमय भाव है। आहा! अरे! लोग कहाँ पड़े हैं और वस्तु कहाँ है? उन्हें ख्याल में भी नहीं आता कि यह क्या चीज़ है? अनुभव में तो बाद में। समझ में आया? आहा! किस प्रकार यह वस्तु है और किस प्रकार यह रागादि वस्तु है (इसकी खबर नहीं)।

मान,... मान, वह अज्ञानमय भाव है और मान की इच्छा, वह तो परिग्रह है। उसे परिग्रह है कि जिसे इच्छा है उसे। जिसे इच्छा नहीं, उसे वह परिग्रह नहीं है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। यह मान (हुआ)।

माया,... आहाहा! माया आवे परन्तु माया की इच्छा नहीं है, इसलिए उसे माया का परिग्रह नहीं है और वह माया तो अज्ञानमय भाव है, वह ज्ञानमय भाव से तो भिन्न चीज़ है। उसकी पकड़ ज्ञानी को कैसे हो? आहाहा! जिसे भगवान ज्ञायकमय अकेला आनन्द का सागर नाथ, दृष्टि में और ज्ञान की पर्याय में ऐसा ज्ञायकभाव का ज्ञान हुआ, आहाहा! उसे इच्छामात्र का त्याग है। तो इच्छा जहाँ नहीं वहाँ... आहाहा! माया का परिग्रह उसे नहीं है। अरे रे!

इसी प्रकार **लोभ,...** लोभ, वह अज्ञानमय भाव है। आहाहा! अज्ञानमय भाव की इच्छा, उस ज्ञानमय भाववाले को कैसे होगी? आहाहा! ज्ञानमय ज्ञायकभाव के कारण वह लोभ है, उसका भी जाननेवाला कहना, वह भी व्यवहार है। परन्तु यहाँ तो उसे समझाना है। आहाहा! क्योंकि स्वपरप्रकाशक ज्ञान की दशा प्रगट हुई है, इसलिए उस लोभ को भी परप्रकाशकरूप से जानता है, परन्तु वह इच्छा और लोभ मेरा है, ऐसा धर्मी को नहीं होता। ऐसी बातें! आहाहा! अमृत की धारा बहती है। आहाहा! भगवान! तेरा मार्ग अर्थात् यह भगवान, हों! आहाहा! जिसने अन्दर आत्मा की अमृत आनन्द की धारा जानी है, अनुभव की है... आहाहा! वह लोभ को अपना कैसे माने? आहाहा! निर्लोभ वीतरागी स्वरूप जहाँ अपना माना है, वह लोभ, अज्ञानमय भाव है। वह ज्ञानमय भाववाला उस अज्ञानमय भाव को कैसे इच्छे? आहाहा! समझ में आया? भाषा तो सादी है। हिन्दीवालों को समझ में आये ऐसा है। यह कहीं ऐसी (कठिन) भाषा नहीं है। आहाहा! सब हिन्दीवाले आज आये

थे, भाई! कहा, भाई! अब हिन्दी हो गया। तुम महीने-महीने से सुनते हो और गुजराती समझने की दरकार की नहीं। आहाहा! आषाढ़ के तीन दिन और श्रावण पूरा (हिन्दी में) चला है। कल दोपहर से फिर त्रंबकभाई का हुआ न... आहाहा!

लोभ,... यह अज्ञानमय भाव है, उसमें चैतन्य भगवान का अभाव है। आहाहा! कर्म का जोर है, ऐसा जो परिणति मानती थी, आहाहा! वह परिणति ज्ञायक की ओर ढल गयी, इसलिए कहते हैं कि कर्म मेरी चीज़ है ही नहीं, कर्म मेरे है ही नहीं। मुझे कर्म ही नहीं और मेरे कर्म है ही नहीं। गजब बात है। अब यहाँ कहते हैं कि, छह कर्म तो दसवें गुणस्थान तक बँधते हैं। यह तो उनका ज्ञान कराया है। आहाहा! समझ में आया? भाई! मार्ग अलग, बापू! लोगों को मार्ग सुनने को मिला नहीं। आहाहा! साधु नाम धरानेवाले भी क्रियाकाण्ड से धर्म मनवानेवाले, उनका उपदेश भी ऐसा। वह तो मिथ्यात्व का उपदेश है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, प्रभु!

कहते हैं कि कर्म, वह इसका परिग्रह नहीं है। अरे! मुझे कोई असाता कर्म है। आहाहा! मुझे ज्ञानावरणीय कर्म है... अरे! प्रभु! आहाहा! मुझे मोहकर्म है, अन्तराय कर्म है—ऐसा धर्मी नहीं मानता। आहाहा! पंकज तो मेरा नहीं परन्तु कर्म मेरा नहीं, ऐसा यहाँ तो कहते हैं, भाई! आहाहा! यह लड़का आया है न, पंकज। जिज्ञासु लगनवाला है। आहाहा! परन्तु किसका? है? आहाहा! यह उसमें सब आ गया न? इच्छा परिग्रह है, उसे परिग्रह नहीं, जिसे इच्छा नहीं। इच्छा अज्ञानमय भाव है। वैसे कर्म अज्ञानमय भाव है। आहाहा! अज्ञानमय भाव ज्ञानी को नहीं होता। आहाहा! ज्ञानी को ज्ञानमय भाव (होता है)। अज्ञानमय भाव जो इच्छा, उसके अभाव के कारण धर्मी को कर्म की इच्छा नहीं है। आहाहा!

कर्म का परिग्रह अज्ञानमय भाव के कारण कर्म, उसकी ज्ञानी को पकड़ नहीं—मेरे हैं, ऐसा भाव नहीं। उसे तो ज्ञानमय भाव है। आहाहा! यह तो गजब बात की है। अमृत के सागर को उछाला है। आहाहा! अन्दर से उछला है तो कहते हैं कि कर्म मेरी चीज़ ही नहीं है। मुझे कर्म है ही नहीं। अरे! आहाहा! शास्त्र में आवे कि समकिती को इतने कर्म हैं। यह शब्द सुनकर उनका ज्ञान करता है। वे कर्म मेरे हैं, ऐसा वह नहीं मानता। गजब बात

है, बापू! आहाहा! यहाँ तो कहे, कर्म के कारण ज्ञान का उघाड़ होता है। कर्म (हटे) तो उघाड़ हो। कर्म का उदय होवे तो इसका ज्ञान रुक जाए। अरे! प्रभु! सुन न, भाई! यह बात ऐसी है ही नहीं। तेरी ज्ञान की पर्याय का क्षयोपशम है, वह तेरे कारण से तूने किया है। कर्म के क्षयोपशम से हुआ है, यह है ही नहीं। यहाँ तो कहते हैं, आहाहा! कर्म तो ठीक परन्तु जो कर्म (शब्द) सुनकर जो ज्ञान हुआ, सुनकर ज्ञान हुआ, उसका भी इसे परिग्रह नहीं है। क्योंकि वह ज्ञान परलक्षी है। आहाहा!

स्वयं भगवान स्व के ज्ञानमय स्वरूप है, आहाहा! उसे यह परलक्षी का ज्ञान, उसका परिग्रह उसे नहीं है। आहाहा! ऐसी बात है। कर्म नहीं। आहाहा! कर्म तो केवली के भी ईयापथ कर्म बँधते हैं न? ईर्यावथ आता है न? ग्यारहवे, बारहवें, तेरहवें में। यह तो ज्ञान कराया है। ज्ञानी स्वयं अपने को अन्दर में ईर्यावथ न, आहाहा! अरे! आहाहा! ज्ञानस्वरूपी भगवान त्रिकाली चैतन्य चन्द्र, उस चैतन्य के चन्द्र का परिग्रह जिसने पकड़ा, यह मेरा परिग्रह है। ज्ञायकभाव, यह मेरा परिग्रह है। उसे इस कर्म का परिग्रह नहीं होता। आहाहा! एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकतीं, उसी प्रकार जिसे ज्ञायकभाव मेरा परिग्रह है, आहाहा! उसे कर्म मेरा परिग्रह है, ऐसा नहीं होता। आहाहा! गजब बातें हैं। यह तो कहते हैं कि कर्म के कारण ऐसा होता है और कर्म के कारण ऐसा होता है। आहाहा! बापू! कर्म के कारण नहीं, तेरे कारण तेरे ज्ञान का उघाड़ और ढँकना तुझसे होता है। परन्तु वह चीज़ भी इच्छा योग्य नहीं है। आहाहा! उसकी पकड़ नहीं। मुझे ज्ञान अल्प है। आहाहा! पूरा ज्ञायकभाव जहाँ प्रभु पकड़ा है, आहाहा! उसे जानने की पर्याय का, पर का जानना, हों! उसकी पकड़—परिग्रह नहीं है। आहाहा!

नोकर्म,... बाह्य की जितनी चीज़ें हैं, वे सब नोकर्म, उसका परिग्रह (नहीं है)। स्त्री, कुटुम्ब, राग, छह खण्ड के चक्रवर्ती के राज, इन्द्र के इन्द्रासन, करोड़ों अप्सराएँ धर्मी को उनका परिग्रह नहीं है क्योंकि वे इस ज्ञानमय से विपरीत अज्ञानमय है। वह ज्ञान नहीं, इसलिए वह अज्ञानमय है। समझ में आया? आहाहा! लोग फिर कहे न, सोनगढ़ का मार्ग तो निश्चयाभास है। अरे! प्रभु! सुन न भाई! तू क्या कहता है, बापू! हमें खबर नहीं? भाई! वीतरागमार्ग में परवस्तु वह मेरी है, यह आत्मा में नहीं होता। वीतरागस्वभावी भगवान आत्मा का जहाँ आदर हुआ, वीतरागी स्वभाव भगवान का जहाँ परिग्रह हुआ, आहाहा! उसे

बाह्य कोई भी चीज़ मेरी है, ऐसी इच्छा नहीं होती। क्योंकि इच्छा अज्ञानमय है और परवस्तु भी अज्ञानमय भाव है। यह ज्ञान वहाँ नहीं है। आहाहा! यह नोकर्म (हुआ)।

मन,... आहाहा! मन अज्ञानमय भाव, परमाणु मन में है न? वह अज्ञानमय भाव है। आहाहा! मन के सम्बन्ध से मुझे विचार आदि आते हैं और लाभ होता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! मन, वह अज्ञानमय भाव है और अज्ञानमय भाव, वह ज्ञानमय भाववाला भाव नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : मन तो जड़ है।

पूज्य गुरुदेवश्री : जड़ है, इसलिए अज्ञानमय कहा न! अरे..! भावमन संकल्प-विकल्प है, वह भी मेरा स्वरूप नहीं। वह राग में आ गया। भावमन अर्थात् अकेला ज्ञान नहीं, वह संकल्प-विकल्प। आहाहा! उन अज्ञानमय भाव संकल्प-विकल्प में; प्रभु चैतन्य ज्ञानमय स्वभाव के परिग्रह में वह अज्ञानमय भाव नहीं होता। आहाहा! यह तो तीन लोक के नाथ के भाव हैं, भाई! आहाहा! हें? परमात्मा का सन्देश है, प्रभु! आहाहा! यह मन... मन (हुआ)। मन मेरा है... आहाहा! ऐसा परिग्रह धर्मी को नहीं है। मेरा तो भगवान ज्ञायकभाव है, वहाँ मन अज्ञानमय भाव, उसकी पकड़ उसे कैसे होगी? आहाहा!

वाणी... वचन अज्ञानमय है। वचन है, वह अज्ञानमय भाव है। इच्छा जिसे नहीं है, उसे अज्ञानमय भाव का परिग्रह नहीं है। धर्मी को कोई इच्छा ही नहीं है। आहाहा! उसे तो ज्ञायकभाव की अन्दर में भावनावाला, उसे इच्छा का परिग्रह है ही नहीं। इसलिए, आहाहा! उसे वचन का परिग्रह नहीं है। यह वचन बोला जाता है, वह मुझसे बोला जाता है और मेरा है, आहाहा! ऐसा नहीं है। आहाहा! वचन तो वाणीवर्गणा में से उत्पन्न होता है।

मुमुक्षु : भाषावर्गणा।

पूज्य गुरुदेवश्री : भाषावर्गणा। वाणी कहो या भाषावर्गणा (कहो)। उसकी वर्णणा में से वचन उत्पन्न होते हैं। वे कहीं आत्मा से उत्पन्न नहीं होते। आहाहा! अब यहाँ गले तक रचे-पचे संसार में रस... रस... बस। आहाहा! अब उसे कहे कि धर्मी, तो भी उसे ऐसा नहीं होता। वह तो अधर्म की दशा में यह सब मिठास और लाल... लाल लार सब लगे।

धर्मदशा प्रगट होने पर उस वचन की वर्गणा का परिग्रह नहीं कि मैं ऐसा बोलूँ।

आहाहा! ऐसी भाषा होवे तो लोगों को ठीक पड़े, तो मुझे ऐसी भाषा करना। अरे! प्रभु! ऐसा कहाँ है? आहाहा!

मुमुक्षु : शास्त्र में आता है, मीठा बोलना।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो राग की मन्दता की बातें की हैं। बोले कौन? सब बातें व्यवहार की बहुत आती है। एक-दूसरे का उपकार करना, ऐसा मोक्षमार्गप्रकाशक में आता है। आठवे अध्ययन में। भगवान ने भी उपकार किया था। इसलिए उपकार का अध्ययन पढ़ता हूँ। यह सब निमित्त की बातें हैं। अभी तो यह चला है, लोक का पूरा नक्शा दे और नीचे (लिखे), 'परस्परोग्रहो जीवानाम्' जीव का परस्पर उपकार करो। अरे! यह शब्द आता है। सर्वत्र अब अभी यह चला है। चौदह ब्रह्माण्ड का नक्शा और नीचे यह शब्द रखे। 'परस्परोग्रहो जीवानाम्' इस जीव को दूसरे जीव का उपकार और इस जीव को इसका उपचार। आहाहा!

'सर्वार्थसिद्धि वचनिका' में इस उपकार की व्याख्या की है। यह उपकार अर्थात् कि निमित्त है, उसे उपकार कहने में आया है। परन्तु निमित्त से वहाँ पर में कुछ होता है, ऐसा नहीं है। सर्वार्थसिद्धि है, सर्वार्थसिद्धि (नाम) की बड़ी पुस्तक है, तत्त्वार्थसूत्र की टीका की, उसमें उपकार का अर्थ किया है। परन्तु उपकार कौन करे? किसी की पर्याय किसी के पास है? आहाहा! हें?

मुमुक्षु : साहूकार हो, वह गरीब को रास्ते चढ़ावे।

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन चढ़ावे? धूल। यह तो पोपटभाई कहते थे। इनके साला को कहा था। उसको तो पैसे दो अरब, चालीस करोड़। ढाई अरब। यह पोपटभाई। इतने पैसे और तुम यह सब क्या करते हो? तब जवाब दिया... अभिमान चढ़ गया हो न अज्ञानी के। कहे, यह तो लोगों का निर्वाह हो, इसलिए करते हैं। हजारों लोग निर्वाह पाते हैं, हजारों लोग। आहाहा! कौन निर्वाह करे? प्रभु! तुझे यह क्या हुआ? आहाहा!

वाणी का परिग्रह... आहाहा! जहाँ ज्ञानस्वरूप भगवान जाननेवाला-देखनेवाला नाथ जगा और देखा... आहाहा! कि यह प्रभु तो चैतन्य का गंज है, आनन्द का पुंज है। आहाहा! शान्ति का सागर है। आहाहा! ऐसी जहाँ अन्तर्दृष्टि और अनुभव हुआ तो ज्ञानी को

उस वचन का परिग्रह कैसे होगा ? आहाहा ! समझ में आया ? वह जड़ की पर्याय है । वाणी तो जड़ की पर्याय है । इच्छा परिग्रह है । उसे परिग्रह नहीं कि जिसे इच्छा नहीं । इसी प्रकार जिसे, आहाहा ! वचन का परिग्रह जिसे नहीं है, क्योंकि उसकी इच्छा नहीं है । आहाहा !

काय... यह शरीर—काय । औदारिक, वैक्रियक, आहारक, कार्मण, तैजस काय । आहाहा ! वह अज्ञानमय है । भगवान ज्ञानमय है । उसे अज्ञानमय भाव की इच्छा-परिग्रह कैसे होगा ? आहाहा ! यह तो मेरा शरीर, मुझे रोग हुआ है, मैं निरोग हूँ, आहाहा ! कौन है ? प्रभु ! आहाहा ! यह शरीर की दशाएँ और शरीर अज्ञानमय है । ज्ञानमय ऐसे धर्मी जीव को यह शरीर मेरा है, ऐसा परिग्रह नहीं है । गजब बातें, बापू ! धर्मी की शर्तें बहुत बड़ी हैं । आहाहा ! हें ? आहाहा ! दो-पाँच लाख देने से कहीं धर्म नहीं होता, ऐसा कहते हैं ।

मुमुक्षु : रुपया तो देता है ।

पूज्य गुरुदेवश्री : करोड़ों दे देवे, परन्तु कहाँ इसकी चीज़ थी वह दे ? वह तो जड़ है । उसकी क्रियावतीशक्ति के कारण से जाना हो, तब जाए और रहना हो तो रहे । आहाहा ! प्रभु ! मार्ग बहुत अलग, भाई !

जिसे काया का परिग्रह नहीं । क्योंकि काया, वह अज्ञानमय वस्तु है । आहाहा ! अज्ञानमय चीज़, वह ज्ञानमय भगवान की कैसे होगी ? आहाहा ! यह काया... आहाहा ! अब उसमें ऐसा आवे, भाई ने कहा, 'शरीर आध्यम् खलु धर्म साधनम्' 'पुरुषार्थसिद्धि उपाय' । यह तो निमित्त का कथन है । पुरुषार्थसिद्धि उपाय में आता है । पहले पाठ में शुरुआत में (आता है) । यहाँ तो कहते हैं कि धर्मी (को) भगवान सच्चिदानन्दमय प्रभु जहाँ अनुभव में आया, जिसकी पकड़ होकर, वही परिग्रह मेरा है, उसे काया का परिग्रह कैसे होगा ? आहाहा !

श्रीमद् ने नहीं कहा ? कल नहीं कहा था ? 'एकाकी विचरता फिर श्मशान में, और पर्वत में बाघ, सिंह संयोग जो, अडोल आसन और मन में नहीं क्षोभता, परम मित्र का मानों पाया योग जो, अपूर्व अवसर ऐसा किस दिन आयेगा ?' ऐसी समता में झूलूंगा । आहाहा ! शरीर को खाने के लिये मित्र सिंह आवे, आहा ! वह तो मित्र है । मेरा कहाँ था यह मेरा शरीर ले ? मेरा कहाँ था, वह मेरा लेता है ? पर का शरीर लेता है । आहाहा ! परन्तु इसे ऐसा दिखता

है न ? क्रिया में, बाहर से। वास्तव में तो इस शरीर को छूता भी नहीं, उसका मुँह उसे। बाघ का या सिंह का (मुँह)। बहुत कठिन बापू! परन्तु जब यह बनना हो तो अपने कारण से छूट जाता है। आहाहा!

धर्मी को काया का परिग्रह नहीं है। शरीर ठीक होगा तो धर्म होगा... आहाहा! शास्त्र में भी ऐसा आता है, इन्द्रियाँ शिथिल न पड़ें, शरीर में जरा, रोग न आवे, आहाहा! वहाँ धर्म कर लेना। देखो! कुन्दकुन्दाचार्य में आता है। वह तो इसे पुरुषार्थ की जागृति के लिए कहते हैं। वृद्धावस्था आयेगी तो चल नहीं सकेगा, बापू! आहाहा! पानी के देखो न लोढ इतना आया, घर में पानी घुसा कि अब वहाँ से दरवाजा से निकला नहीं जा सकता। खुल्ला दरवाजा। पानी का जोर ऐसा दल... ऐसा आया। इन्दु (है न)। रतिभाई के मकान के बाहर गृहस्थ का मकान था, वहाँ हम दो बार उतरे, रतिभाई के यहाँ। वहाँ उसे बेचारे को पानी का इतना जोर आया कि दरवाजे के बाहर नहीं निकल सके। नहीं तो बाहर ऊपर जाने की सीढ़ियाँ थीं। बस! वहीं के वहीं पाँचों समाप्त। यह दशा ही देह की होनेवाली है। बापू! इस देह की अवस्था का भाव ही ऐसा था। ज्ञानी को उसका परिग्रह नहीं होता। आहाहा! ऐसी बातें।

श्रोत्र... इन्द्रिय का परिग्रह नहीं है, ठीक! श्रोत्र इन्द्रिय अच्छी हो तो मुझे सुनने का रहे। यहाँ तो कहते हैं कि श्रोत्र इन्द्रिय द्वारा भगवान सुनता ही नहीं।

मुमुक्षु : १७२ गाथा में आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : १७२ गाथा में आता है, रस। आहाहा! एक तो अलिंगग्रहण है और एक तो ४९ गाथा में आता है, भाई! रस। एक-एक में। वहाँ तो मात्र अमुक ही इन्द्रिय का (आता है)। उसमें तो भावेन्द्रिय द्वारा रस नहीं चखता, द्रव्येन्द्रिय द्वारा रस नहीं जानता। क्षयोपशमभाव है, वह भी इसका नहीं। उसके द्वारा रस नहीं चखता और रस चखने में एक ओर का जिसे ज्ञान नहीं, उसका सामान्य—सबके लिये ज्ञान है। ४९ (गाथा में) अव्यक्त के छह बोल है न ? है न, है। आहाहा!

श्रोत्र... इन्द्रिय। द्रव्येन्द्रिय, जो श्रोत्र इन्द्रिय भावेन्द्रिय, दोनों का परिग्रह नहीं है। आहाहा! श्रोत्र इन्द्रिय ठीक रहे तो मुझे सुनने का मिले। परन्तु वह सुनता नहीं, कहते हैं।

श्रोत्र इन्द्रिय द्वारा आत्मा सुनता ही नहीं। आत्मा तो ज्ञान द्वारा ज्ञान की पर्याय को प्रगट करता है। ऐसी बातें हैं। साधारण लोगों को ऐसा लगे कि यह अकेला निश्चय है, परन्तु निश्चय अर्थात् सत्य और व्यवहार अर्थात् आरोपित उपचार। आहाहा! ऐसा तीन लोक के नाथ वीतराग परमात्मा का यह हुक्म है। आहाहा! श्रोत्र... आहाहा! इन्द्रिय का परिग्रह नहीं है। क्योंकि इच्छा ही श्रोत्र की नहीं। श्रोत्र इन्द्रिय ठीक रहे, ऐसी इच्छा ही नहीं है। आहाहा! अस्थिरता की इच्छा आती है, उसकी इच्छा नहीं है। आहाहा!

श्रोत्र इन्द्रिय जड़... वह तो ३१ गाथा में आ गया न? श्रोत्र जड़ शरीर परिणाम को प्राप्त। यह तो शरीर परिणाम को प्राप्त। यह तो ठीक परन्तु भाव जो है, आहाहा! भावेन्द्रिय, वह भी जीव का स्वरूप नहीं। खण्ड... खण्ड... खण्ड... खण्ड... खण्ड... वह जीव का स्वरूप नहीं। आहाहा! जिसने अखण्ड के नाथ को देखा, जाना और माना, उसे खण्डज्ञान का परिग्रह कैसे होगा? आहाहा! ऐसी बातें अब। उसमें पाँच-दस लाख पैसे (रुपये) हों, पच्चीस-पचास हों, वहाँ तो ऐसा हो जाए कि धनाढ्य हैं, श्रीमन्त हैं, श्रीमन्त के घर अवतरित हुए हैं। यहाँ कहते हैं, प्रभु! तू क्या कहता है? श्रीमन्त तो प्रभु आत्मा है। श्री अर्थात् स्वरूप की लक्ष्मीवाला प्रभु है। आहाहा! वहाँ तू जन्मा है? वहाँ उसकी उत्पत्ति की है उसने? आहा! उसका श्रीमन्त किसका तू? धूल का? आहाहा! श्रोत्र (हुआ)। आहाहा!

चक्षु... चक्षु ठीक रहे तो मुझे भगवान के दर्शन हों। इस भगवान के दर्शन जिसने किये हैं, उसे चक्षु का परिग्रह नहीं है। आहाहा! धर्मी चक्षु द्वारा देखता ही नहीं। वह तो ज्ञान द्वारा जानता है। यह भगवान पर है, वह ज्ञान द्वारा जानता है, चक्षु द्वारा नहीं। यह ४९ गाथा में बहुत आया है। छह बोल आते हैं। क्षयोपशमभाव भी इसका नहीं है। आहाहा! और ३२० गाथा में आया न? कि ज्ञानी है वह, सकल निरावरण अखण्ड एक प्रत्यक्ष प्रतिभासमय अविनश्वर शुद्ध पारिणामिक परमभाव लक्षण निज परमात्मद्रव्य वह मैं... आहाहा! यह खण्ड-खण्ड ज्ञान, वह मैं नहीं। खण्ड-खण्ड ज्ञान की भावना धर्मी को नहीं है। अरे! आहाहा! चक्षु का परिग्रह नहीं है।

घ्राण... नाक ठीक हो तो अनाज बिगड़ा हुआ है या सड़ा हुआ है या नहीं सड़ा हुआ, इसकी खबर पड़े। यह कहीं नाक का परिग्रह धर्मी को नहीं है। आहाहा! अरे रे!

कहाँ जीव को अभी तो बाहर में... आहाहा! लौकिक की अनुकूलता के लिये व्यर्थ प्रयास करते हैं बेचारे। हैं? अपनी सुविधा के लिये कुछ गुलामी, लोगों के पास ऐसे करे-वैसे करे और ऐसे करे। अरेरे! भिखारी हैं। अपना काम कुछ करना हो तो पैसेवाले हों या वे हों, उनके पास, मेरा काम होगा। आहाहा! बाहर जाने के लिये भी इनकी कुछ अनुकूलता करूँ तो मुझे बाहर जाने का कुछ दें, हो। अरे रे! तू क्या करता है? प्रभु! बाहर जाना है न तुझे? अन्दर नहीं जाना न! आहा! यह घ्राण इन्द्रिय भगवान का स्वभाव नहीं है, अज्ञानमय है।

रसन... जीभ इन्द्रिय। आहाहा! लोगों को कितनों को ऐसा है कि जीभ द्वारा ऐसे स्वाद का ख्याल भी नहीं आवे। ऐसी जीभ हो जाए, फिर जीभ को अच्छी करने के लिए प्रयत्न करते हैं। लूखा होता है न मुँह? पानी... क्या कहलाता है यह? अमी। अमी न आवे तब, अमी लाने के लिये फिर इमली के टुकड़े रखे और अमी आवे, ऐसा। इमली के टुकड़े नहीं? आम रखे, घर में रखे फिर अमी आवे। आता है न पानी। कितनों को बन्द हो जाता है, इसलिए अमी लाने के लिए ऐसा करे। है, सब देखा है, हों! आहाहा! प्रभु! अमी तो अमृत का सागर अमी लाने को तो वहाँ है। आहाहा! मुँह में अमी बन्द हो गयी, इसके द्वारा अमी आयेगी, किसकी झपट्टे मारे तूने यह? आहाहा! अमृत का सागर, उसमें अमी नहीं, ऐसी तेरी पर्याय में अमी नहीं, उसकी तुझे खबर नहीं? वहाँ अमी ला, न! आहाहा! परम सत्य की बातें, बापू! बहुत अलग प्रकार है। यह वीतराग के अतिरिक्त कहीं ऐसी बात है नहीं। रसन (हुआ)।

स्पर्शन... यह स्पर्शन, इसका परिग्रह ज्ञानी को नहीं है। यह स्पर्श ठीक रहे तो मैं स्पर्श का काम कर सकूँ। आहाहा! हाथ में सुन्न चढ़ जाए, (तब) दूसरे को पकड़ सकता हूँ या नहीं, वह छू नहीं सकता। दो पृष्ठ भिन्न करना हो तो अंगुली ऐसी हो जाए कि उन्हें भिन्न नहीं कर सके। दो पृष्ठों को ऐसे भिन्न नहीं कर सके। ऐसी अन्दर हाथ में सुन्न चढ़ जाए। स्पर्श... स्पर्श का परिग्रह (नहीं है)। स्पर्श अज्ञान है। यह अज्ञानमय स्पर्श है। आहाहा!

यह सोलह शब्द रखकर, सोलह गाथा सूत्र व्याख्यानरूप करना... देखा? सोलह का व्याख्यान करना, कहते हैं। जैसा ऊपर कहा था, वैसा इसका करना। आहाहा! **और इस उपदेश से दूसरे भी विचार करना चाहिए।** जितने विकल्पों की जाति उठती

हो, उन सबके लिये विचार करना। आहाहा! यह सब मैं नहीं। आहाहा! २११ हुई। यहाँ मुख्य मुनिपने की अपेक्षा से बात है। इसलिए यहाँ पुण्य, पाप, आहार और पानी बस! चार तक आयेगा। टीका में बीच में सब बोल आये परन्तु मूल यह पुण्य का परिग्रह धर्मी को नहीं है, पाप का परिग्रह धर्मी को नहीं है। अब आहार का परिग्रह नहीं, फिर कहेंगे पानी का परिग्रह (नहीं)। वस्त्र का परिग्रह नहीं, यह नहीं लेंगे, क्योंकि यह मुनिपने की प्रधानता से कथन है। समझ में आया?

अब, ज्ञानी के आहार का भी परिग्रह नहीं है... लो! यह आहार ले तो परिग्रह नहीं है। यह गजब बात है। आहाहा! उस समय ज्ञाता-दृष्टा, आहार आवे, उसे जानता है कि यह आहार आया। आत्मा में नहीं आया, ऐसा जानता है। आहाहा! उस आहार का भी धर्मी को परिग्रह नहीं है। आहार अज्ञानमय चीज़ है। आहाहा! समझ में आया? इसकी गाथा विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा - २१२

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णेच्छदे असणं।
अपरिग्गहो दु असणस्स जाणगो तेण सो होदि।।२१२।।

अपरिग्रहोऽनिच्छो भणितो ज्ञानी च नेच्छत्यशनम्।
अपरिग्रहस्त्वशनस्य ज्ञायकस्तेन स भवति।।२१२।।

इच्छा परिग्रहः। तस्य परिग्रहो नास्ति यस्येच्छा नास्ति। इच्छा त्वज्ञानमयो भावः, अज्ञानमयो भावस्तु ज्ञानिनो नास्ति, ज्ञानिनो ज्ञानमय एव भावोऽस्ति। ततो ज्ञानी अज्ञानमयस्य भावस्य इच्छाया अभावादशानं नेच्छति। तेन ज्ञानिनोऽशनपरिग्रहो नास्ति। ज्ञानमयस्यैकस्य ज्ञायकभावस्य भावादशन-स्य केवलं ज्ञायक एवायं स्यात्।।२१२।।

अब, यह कहते हैं कि ज्ञानी के आहार का भी परिग्रह नहीं है:-

अनिच्छक कहा अपरिग्रही, नहिं अशन इच्छा ज्ञानि के।
इससे न परिग्रह अशन का वो, अशन का ज्ञायक रहे।।२१२।।

गाथार्थ : [अनिच्छः] अनिच्छक को [अपरिग्रहः] अपरिग्रही [भणितः] कहा है [च] और [ज्ञानी] ज्ञानी [अशनम्] भोजन को [न इच्छति] नहीं चाहता, [तेन] इसलिए [सः] वह [अशनस्य] भोजन का [अपरिग्रहः तु] परिग्रही नहीं है, (किन्तु) [ज्ञायकः] (भोजन का) ज्ञायक ही [भवति] है।

टीका : इच्छा परिग्रह है। उसको परिग्रह नहीं है-जिसको इच्छा नहीं है। इच्छा तो अज्ञानमय भाव है और अज्ञानमय भाव ज्ञानी के नहीं होता, ज्ञानी के ज्ञानमय ही भाव होता है, इसलिए अज्ञानमय भाव-इच्छा के अभाव के कारण ज्ञानी भोजन को नहीं चाहता; इसलिए ज्ञानी के भोजन का परिग्रह नहीं है। ज्ञानमय एक ज्ञायकभाव के सद्भाव के कारण यह (ज्ञानी) भोजन का केवल ज्ञायक ही है।

भावार्थ : ज्ञानी के आहार की भी इच्छा नहीं होती इसलिए ज्ञानी का आहार करना वह भी परिग्रह नहीं है। यहाँ प्रश्न होता है कि-आहार तो मुनि भी करते हैं, उनके इच्छा है या नहीं? इच्छा के बिना आहार कैसे किया जा सकता है? समाधान:- असातावेदनीय कर्म के उदय से जठराग्निरूप क्षुधा उत्पन्न होती है, वीर्यांतराय के उदय

से उसकी वेदना सहन नहीं की जा सकती और चारित्रमोह के उदय से आहार ग्रहण की इच्छा उत्पन्न होती है। उस इच्छा को ज्ञानी कर्मोदय का कार्य जानते हैं, और उसे रोग समान जानकर मिटाना चाहते हैं। ज्ञानी के इच्छा के प्रति अनुरागरूप इच्छा नहीं होती अर्थात् उसके ऐसी इच्छा नहीं होती कि मेरी यह इच्छा सदा रहे। इसलिए उसके अज्ञानमय इच्छा का अभाव है। परजन्य इच्छा का स्वामित्व ज्ञानी के नहीं होता इसलिए ज्ञानी इच्छा का भी ज्ञायक ही है। इस प्रकार शुद्धनय की प्रधानता से कथन जानना चाहिए।

प्रवचन नं. २९२, गाथा-२१२, २१३, शुक्रवार, भाद्र शुक्ल २
दिनाङ्क २४-०८-१९७९

समयसार, गाथा-२१२। पुण्य और पाप का परिग्रह नहीं, ऐसा पहले आ गया। उसमें मुख्य अभी मुनिपने की मुख्यता से अधिकार है। इसलिए इसमें पुण्य और पाप, आहार और पानी (ऐसे) चार लिये हैं। वस्त्र और पात्र का परिग्रह नहीं। यह बात नहीं ली है। मुख्य तो मुनि के योग्य की अपेक्षा से इसमें बात है। इसमें हों! अभी। वैसे तो नौवीं गाथा में तो **'सुद्देणहिगच्छदि'** ज्ञान का अकेला। ज्ञानस्वरूप से आत्मा जाने। ग्यारहवीं गाथा में सम्यग्दर्शन का अधिकार है। **'भूदत्थमस्सिदो खलु'** ऐसे। चौदहवीं गाथा में सम्यग्दर्शन का अधिकार है। पन्द्रह में सम्यग्ज्ञान का अधिकार, सोलह में दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीन का अधिकार है। ऐसे गौणरूप से सम्यग्दर्शन का अधिकार है परन्तु कहीं तो मुख्यरूप से मुनिपने की अपेक्षा से कथन है। जयसेनाचार्य की टीका में है। पंचम गुणस्थान के ऊपर हों, वीतराग सम्यग्दृष्टि का मुख्यरूप से कथन है, गौणरूप से सम्यग्दृष्टि का है, ऐसा संस्कृत में पाठ है। इसलिए अभी इस निर्जरा अधिकार में मात्र मुनिपने की मुख्यता से (बात की है)। क्योंकि उन्हें शुभभाव आता है परन्तु उसका उन्हें परिग्रह नहीं है। आहाहा!

वह शुभभाव मेरा है और मुझे उससे लाभ होगा, यह दृष्टि धर्मी की नहीं है। धर्मी की दृष्टि तो ज्ञायक चिदानन्दस्वभाव, पूर्ण घन अमृत का सागर परमात्मा, वह धर्मी की दृष्टि में है। आहाहा! इससे उसे रागादि या पुण्यादि का परिग्रह तो सम्यग्दृष्टि को परमार्थ से नहीं है। वैसे आहारादि का भी परिग्रह (नहीं है)। सम्यग्दृष्टि को आहार लेने की इच्छा हो, आहार हो परन्तु उस इच्छा का भी परिग्रह नहीं और आहार की भी उसे पकड़ नहीं।

आहाहा! मुनि को तो साक्षात् आहार, पानी की इच्छा होने पर भी, उसके वे स्वामी नहीं हैं। अशन की बात करेंगे।

ज्ञानी के आहार का भी परिग्रह नहीं है... आहाहा! आनन्दमूर्ति भगवान जिसे अन्तर्दृष्टि में आया, प्रभु! आहाहा! चैतन्यस्वरूप वीतराग आनन्द अमृत का सागर प्रभु की सत्ता का जहाँ सम्यग्ज्ञान में, दर्शन में स्वीकार हुआ, उसे आहार का परिग्रह नहीं है। आता है, स्पष्टीकरण कहेंगे।

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णेच्छदे असणं।
अपरिग्गहो दु असणस्स जाणगो तेण सो होदि।।२१२।।

अनिच्छक कहा अपरिग्रही, नहिं अशन इच्छा ज्ञानि के।
इससे न परिग्रह अशन का वो, अशन का ज्ञायक रहे।।२१२।।

टीका : इच्छा परिग्रह है। आहाहा! भगवान अमृत के सागर का जहाँ भान है, वहाँ इच्छा नहीं होती—ऐसा कहते हैं। आहाहा! इच्छा होती है, परन्तु उसका परिग्रह नहीं। पकड़ नहीं कि यह मेरी इच्छा है। इससे इच्छा, वह परिग्रह है।

उसको परिग्रह नहीं है–जिसको इच्छा नहीं है। यह बात आ गयी है। **इच्छा तो अज्ञानमय भाव है...** आहाहा! राग इच्छा तो अज्ञानमय है, भगवान तो आनन्द और ज्ञानमय है। इच्छा तो अज्ञानमय और दुःखमय है। ऐसी कठोर बातें हैं। आत्मा ज्ञानमय और आनन्दमय है, जबकि इच्छा अज्ञानमय और दुःखमय है। आहाहा! इसलिए उस इच्छा का परिग्रह **अज्ञानमय भाव ज्ञानी के नहीं होता,...** अथवा वह दुखःमय भाव ज्ञानी को नहीं होता। आहाहा!

ज्ञानी के ज्ञानमय ही भाव होता है,... आहाहा! सम्यग्दृष्टि को भी गौणरूप से इसमें लिया है। आहाहा! आत्मा का ज्ञायकस्वरूप, ऐसा जहाँ अन्तर में पर्याय को ज्ञायक में झुकाकर जहाँ आनन्द का स्वाद आया... आहाहा! ऐसे समकिती को अज्ञानमय राग और दुःखमय भाव, वह मेरा है, (ऐसा) उसे होता नहीं। आहाहा! **अज्ञानमय भाव ज्ञानी के नहीं होता, ज्ञानी के ज्ञानमय ही भाव होता है,...** आहाहा! आत्मा आनन्द और ज्ञान प्रभु है, इसलिए समकितदृष्टि को वह ज्ञानमय आत्ममय स्वभावमय भाव होते हैं। आहाहा!

इसलिए अज्ञानमय भाव-इच्छा के अभाव के कारण ज्ञानी भोजन को नहीं चाहता;... कहो, आहार तो तीर्थंकर ऋषभदेव भगवान ने छह महीने तक आहार नहीं किया। नियम था, पश्चात् छह महीने तक आहार लेने जाते थे। नहीं मिलता था और वापस मुड़ जाते थे। उन्हें अवधिज्ञान में खबर नहीं थी? परन्तु वे अवधिज्ञान में उपयोग नहीं लगाते। आहाहा! नहीं तो अवधिज्ञान में ख्याल न आवे कि आहार-पानी मिलेगा या नहीं मिलेगा? आहाहा! जिसे अवधिज्ञान हुआ है, (तो भी) उपयोग नहीं लगाते। क्या काम है? आहाहा! स्वरूप की दृष्टि और स्थिरता के समक्ष दूसरा क्या काम है? आहा! सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा! इससे अज्ञानी को जो इच्छा अपनी होकर आती है, ज्ञानी को उस इच्छा का परिग्रह नहीं है; इसलिए ज्ञानी को आहार का परिग्रह नहीं है। आहाहा!

भरत चक्रवर्ती सम्यग्दृष्टि, बत्तीस ग्रास का आहार। शास्त्र में पुरुष को बत्तीस ग्रास का आहार चला है, स्त्री को अट्ठाईस ग्रास का आहार चला है। सिद्धान्त में चार ग्रास कम लिये हैं। और बत्तीस ग्रास, उन्हें ऐसे बत्तीस ग्रास हैं कि जिन्हें छियानवें करोड़ सैनिक खा न सके। आहाहा! ऐसे बत्तीस ग्रास का भस्म का, हीरा की भस्म को गेहूँ में डालकर हलुआ बनावे, रोटी बनावे। आहाहा! यहाँ कहते हैं कि धर्मी को-सम्यग्दृष्टि को उस अशन की इच्छा नहीं है। इच्छा की इच्छा नहीं है, इसलिए इच्छा नहीं है। आहाहा! कठिन काम, भाई! वीतरागमार्ग कोई अलौकिक है। आहाहा! बत्तीस ग्रास। एक ग्रास की अरबों रुपये की कीमत। अकेली हीरा की भस्म। घी में डालकर गेहूँ के दाने उसमें डाले और उस गेहूँ के दाने का बनावे हलुआ और रोटी। वह बत्तीस ग्रास खाये कि जो छियानवें करोड़ (सैनिक) खा न सके, तो भी कहते हैं कि उन्हें... आहाहा! उनकी दृष्टि में उसका स्वीकार नहीं है। आहाहा!

मेरा प्रभु तो अनाहारी... आहाहा! अमृत के अनुभव का करनेवाला, जिसे अमृत का आहार है। आहाहा! अमृतस्वरूप भगवान है, उसे जानने पर भान हुआ। आहाहा! उस अमृत का जिसे आहार है, उसे यह धूल का आहार (कैसे हो)? यह तो धूल है। आहाहा! इसकी उन्हें इच्छा नहीं है। इच्छा है, उसकी इच्छा नहीं; इसलिए इच्छा नहीं। आहाहा!

ज्ञानमय एक ज्ञायकभाव के सद्भाव के कारण... क्या कहते हैं? ज्ञानमय ऐसे

ज्ञायकभाव की अस्ति के, सत्ता के स्वीकार के कारण, पर्याय में ज्ञानमय भाव, आनन्दमय भाव—ऐसा प्रगट है, उसके कारण **(ज्ञानी) भोजन का केवल ज्ञायक ही है।** आहाहा! ज्ञानी—धर्मी तो उस आहार का जाननेवाला है। एक समय में ज्ञायक का ज्ञान और उसका ज्ञान वह स्वयं से उत्पन्न होता ज्ञायकरूप से उसे जानता है। आहाहा! जैसे ज्ञेय ज्ञान के विषय हैं, वैसे वे आहार ज्ञान का व्यवहार विषय है। वह जानता है कि यह है। आहाहा!

भोजन का केवल ज्ञायक ही है। ऐसा है न? अधर्म में भी ऐसा लिया। **अधर्म का केवल ज्ञायक ही है।** आहाहा! अकेला जाननेवाला-देखनेवाला ही है। आहाहा! आहार आवे तो भी उसका जाननेवाला-देखनेवाला ही है। क्यों? तब शिष्य ने प्रश्न किया। ओहोहो! तीर्थंकर जैसे भी आहार लेते थे, मुनि आहार लेते हैं। आहाहा! और मुनि को या धर्मी को आहार नहीं, क्या कहते हो आप? क्या कहना चाहते हो? मुझे शंका नहीं परन्तु मैं समझ नहीं सकता, आशंका है। आपका कहना मिथ्या है, ऐसा मुझे नहीं लगता। परन्तु किस अपेक्षा से कहते हो, ऐसी आशंका रखता हूँ। मुझे समझना है।

भावार्थ : ज्ञानी के आहार की भी इच्छा नहीं होती इसलिए ज्ञानी का आहार करना, वह भी परिग्रह नहीं है। आहाहा! उसमें सुखबुद्धि नहीं है। सुखबुद्धि तो भगवान आत्मा में है। आहाहा! आहार आता है, लेता है, उसमें सुखबुद्धि नहीं है। आहाहा! **यहाँ प्रश्न होता है कि-आहार तो मुनि भी करते हैं,...** महामुनि सन्त, आत्मध्यानी, ज्ञानी, अमृत के स्वादिया। आहाहा! प्रचुर अमृत के स्वादिया। सम्यग्दृष्टि को अमृत का स्वाद है परन्तु अल्प—जघन्य है। आहाहा! मुनि को तो अमृत के सागर का समुद्र अन्दर बहता है। आहाहा! शान्ति... शान्ति... शान्ति... तीन कषाय का अभाव (हुआ), इतनी शान्ति है। आहाहा! उस शान्ति का वेदन जिसे मुख्यपना है, ऐसे भी आहार तो लेते हैं, कहते हैं। तुम कहते (हो) कि धर्मी को आहार का परिग्रह नहीं, तो आहार तो भगवान—ऋषभदेव भगवान जैसे तीर्थंकर भी जब छह महीने के आहार की प्रतिज्ञा पूरी हो गयी, (पश्चात्) लेने जाते थे। वहाँ मिलता नहीं, वापस मुड़कर आत्मा के ध्यान में जाते। आहाहा! तो आहार तो मुनि भी करते हैं न! मुनि भी अर्थात् क्या? कि, समकिती तो करता ही है परन्तु मुनि भी करते हैं न! आहाहा! गजब मार्ग। **उनके इच्छा है या नहीं?** शिष्य

का प्रश्न है। मुनि आहार करते हैं तो उन्हें इच्छा है या नहीं? **इच्छा के बिना आहार कैसे किया जा सकता है?** आहाहा!

समाधान:– असातावेदनीय कर्म के उदय से... तीन बोल लेंगे। **असातावेदनीय कर्म के उदय से जठराग्निरूप क्षुधा उत्पन्न होती है,...** आहाहा! असातावेदनीय के उदय का निमित्त। जठराग्नि अन्दर उत्पन्न होती है। आहाहा! **वीर्यांतराय के उदय से उसकी वेदना सहन नहीं की जा सकती...** आहाहा! मुनि को भी अभी पर्याय में कमजोरी है, उसे यहाँ वीर्यान्तराय का निमित्त कहा। आहाहा! पर्याय में निर्बलता है तो वेदना सही नहीं जा सकती। आहार न लूँ, ऐसा नहीं। वहाँ उसकी वेदना सहन नहीं होती। क्षुधा... क्षुधा अग्नि जलती है और आहा! आहार लेने की वीर्यान्तराय के उदय से वेदना सही नहीं जा सकती, इसलिए **चारित्रमोह के उदय से...** यह निमित्त से कथन है, हों! अपने को अन्दर राग की मन्दता के कारण राग आता है। पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण इच्छा आती है। आहाह! **आहार ग्रहण की इच्छा उत्पन्न होती है।** आहाहा!

उस इच्छा को... अब तीन बोल यह कहे, सामने तीन बोल कहते हैं, चार कहेंगे। **उस इच्छा को ज्ञानी कर्मोदय का कार्य जानते हैं,...** एक बात। मेरा कार्य नहीं; मैं तो आनन्दस्वरूप प्रभु हूँ। आहाहा! मेरी पर्याय का कार्य तो आनन्द का है। यह राग का कार्य मेरा नहीं है। आहाहा! यह कर्म का कार्य है। आहाहा! यह कर्म की पर्याय है। प्रभु धर्मी आत्मा की यह पर्याय नहीं है। आहाहा! भगवान अमृत का सागर नाथ, उसकी यह पर्याय नहीं, उसका यह कार्य नहीं। आहाहा! इसलिए राग है, वह कर्म का कार्य है, ऐसा लिखा है। परन्तु उसमें से कोई ऐसा ले लेवे कि देखो! कर्म का उदय आया, इसलिए इसे राग करना ही पड़ा। ऐसा नहीं है। वहाँ अपनी कमजोरी के कारण कर्म के उदय में जुड़ जाता है। इसलिए वहाँ उसे राग की उत्पत्ति होती है परन्तु वह राग का कार्य मेरा है, (ऐसा नहीं मानता)। आहाहा! गजब बात है। कार्य अर्थात् पर्याय। पर्याय को कार्य कहते हैं, वस्तु को कारण कहते हैं। मेरा कार्य यह नहीं है। आहाहा! यह इच्छा तो कर्म जो जड़ है, उसका कार्य है। आहाहा! मेरी निर्बलता है, इस बात को गौण करके (कहते हैं)। यह राग कर्म का कार्य है। यह आगे आता है न? कर्म विपाकरूप। कर्म का विपाक वह राग है। प्रभु!

आहाहा! मेरा पाक नहीं। मैं तो अमृत के... आहाहा! अमृत के सागर उछले, अमृत का आहार मेरा है।

आत्मा अमृत को पकावे, उसका वह क्षेत्र है। 'सुखधाम अनन्त सुसंत चही' यह आत्मा सुखधाम। मेरा क्षेत्र ही ऐसा है कि उसमें से अमृत ही पके। आहाहा! पत्थर के बहुत भाग हों और धूल हों, वहाँ कलथी पकती है और बढ़िया जमीन हो, उसमें चावल पकते हैं। चावल पकने की जमीन अलग प्रकार की होती है। आहाहा! इसी प्रकार मेरे पाक में तो प्रभु मैं तो आत्मा हूँ न! आहाहा! मेरे पाक में तो शान्ति और आनन्द पकते हैं। आहाहा! उस राग का पाक मेरा कार्य नहीं है। आहाहा! ऐसी बात। आहाहा!

मुमुक्षु : अपनी कमजोरी तो लगती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कमजोरी है, उसे तो जानता है, ख्याल है। वह तो मेरा परिणमन है, ऐसा तो प्रवचनसार में आया है न! राग का परिणमन मुझमें है, परन्तु यह बात ज्ञान जानता है। यहाँ दृष्टि की प्रधानता में उसे गौण करके वह कार्य मेरा नहीं, ऐसा है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भगवान! बाकी धर्मी तो राग हो, उसका परिणमन मेरा है, (ऐसा जानता है)। वह कहीं कर्म के कारण है, ऐसा नहीं है। आहाहा! तथा उस राग का कर्ता भी मैं हूँ और राग का भोक्ता भी मैं हूँ। उस ज्ञान की दशा से उसे स्व-पर का भोक्ता और कर्ता कहने में आता है। आहाहा! स्व के ज्ञान का भी कर्ता और इस ज्ञान की दशा का भोक्ता। साथ में राग का परिणमन, उतना कर्ता और उसका उतना भोक्ता है। परन्तु यहाँ तो यह बात ज्ञानप्रधान में जाननेवाला जानता है कि मुझमें मेरे कारण से यह है, परन्तु यहाँ दृष्टिप्रधान के कथन में तो... आहाहा! अरे! ऐसी बातें हैं। वीतरागमार्ग, बापू! सम्यग्दर्शन कोई अलौकिक चीज़ है। आहाहा!

आहार ग्रहण की इच्छा उत्पन्न होती है। उस इच्छा को ज्ञानी कर्मोदय का कार्य जानते हैं,... मेरी निर्बलता है, इस बात को गौण करके (उदय का कार्य कहा)। भाई! पंचास्तिकाय में ऐसा लिया है न? विषय में रुकने के कारण मेरा घात है। पूर्ण केवलज्ञान का घात क्यों है? कर्म के कारण से नहीं। 'विषय प्रतिबद्ध' ऐसा शब्द है। पंचास्तिकाय। मैं जानने में अल्प में रुका हुआ हूँ, वह प्रतिबद्ध है। आहाहा! प्रभु आत्मा

सर्वज्ञस्वरूपी प्रभु होने पर भी मेरी पर्याय में अल्पपने के विषय में रुका हुआ हूँ, वही मुझे प्रतिबद्ध है। आहाहा! है, पंचास्तिकाय? कितनी है? क्या कहा? विषय प्रतिबद्ध। लिखा तो होगा यहाँ कहीं। गाथा-१६३।

वास्तव में सौख्य का कारण स्वभाव की प्रतिकूलता का अभाव है। भगवान आत्मा में आनन्द, उसका कारण स्वभाव की प्रतिकूलता का अभाव है। **आत्मा का स्वभाव वास्तव में दृशि-ज्ञप्ति (दर्शन और ज्ञान) है।** आहाहा! **उन दोनों को विषय प्रतिबन्ध होना, वह प्रतिकूलता है।** आहाहा! कर्म प्रतिकूलता है, ऐसा नहीं लिया। मेरा जानना-देखना कम में अटक गया है, वह मुझे प्रतिकूल है। आहाहा! मैं सर्वज्ञ और सर्वदर्शी मेरी शक्ति और पर्याय में वह होना चाहिए। आहाहा! मेरा नाथ सर्वज्ञ, सर्वदर्शी प्रभु है तो उसकी पर्याय में सर्वज्ञ और सर्वदर्शी पर्याय आना चाहिए परन्तु मैं अल्प विषय में रुक गया हूँ, इससे मुझे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी (पना) नहीं होता। आहाहा! विषय अर्थात? भोग, वह विषय नहीं। ज्ञान का विषय जो अल्प है वह। आहाहा! जानने-देखने की मेरी पर्याय अल्प विषय में रुक गयी है। आहाहा! वही मुझे प्रतिकूल है, कहते हैं। आहाहा! आहाहा! दिगम्बर सन्तों की बलिहारी है, जिन्होंने केवलज्ञानी के पेट (अभिप्राय) खोल दिये हैं। आहाहा! और यह अन्दर में बैठ जाए, ऐसी बात है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

दोनों को... दर्शन, ज्ञान दोनों को **विषय प्रतिबन्ध...** नीचे (फुटनोट है)। विषय में रुकावट, मर्यादितपना। दर्शन, ज्ञान में जानने का मर्यादितपना है, वही प्रतिकूलता है। आहाहा! भगवान तो जाननेवाला-अमर्यादित जानने-देखने का उसका स्वभाव है। त्रिकाल तो है परन्तु पर्याय में भी अमर्यादित जानने-देखने का स्वभाव होना चाहिए। आहाहा! ऐसे जानने-देखने के पूर्ण स्वभाव का अमर्यादितपना नहीं और अल्प विषय में रुक जानेवाला मेरा ज्ञान, दर्शन... आहाहा! यह मुझे प्रतिकूलता है। आहाहा! यह मुझे मुझसे प्रतिकूलता है। समझ में आया? आहाहा! १६३ गाथा है।

जेण विजाणदि सव्वं पेच्छदि सो तेण सोक्खमणुहवदि।
इदि तं जाणदि भविओ अभव्वसत्तो ण सद्दहदि।।

(पंचास्तिकाय-१६३)

आहाहा! भव्य जीव या लायक प्राणी ऐसा जाने, अभव्य को खबर नहीं पड़ती। अरे! मेरा ज्ञान और दर्शन, पूर्ण स्वभावी मेरा प्रभु, उसकी पर्याय में पूर्ण देखना-जानना होना चाहिए, उसके बदले अपूर्ण में रुक गया... आहाहा! वह मुझे प्रतिकूलता है। कर्म की प्रतिकूलता है, वह नहीं। देखो तो सही वाणी! आहाहा! माँगीलालजी! यह भाषा तो सादी है, बहुत वैसी नहीं। तुम तो यहाँ आते हो। आहाहा! यह पंचास्तिकाय है, कुन्दकुन्दाचार्य (कृत) इसकी टीका अमृतचन्द्राचार्य (की है)।

यहाँ कहते हैं, इच्छा को ज्ञानी कर्म का कार्य जानता है। अर्थात् कि मेरी पर्याय में कमजोरी है। मेरी दृष्टि वहाँ नहीं है। मेरी दृष्टि में तो भगवान पूर्ण स्वरूप है, वह है। इसलिए मेरा कार्य तो ज्ञान, दर्शन और आनन्द आना चाहिए। उसके बदले इच्छा आयी, वह कर्म का कार्य है, ऐसा करके निकाल डाला है। आहाहा! उसका मैं तो ज्ञाता हूँ, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

दूसरा बोल। **रोग समान जानकर मिटाना चाहते हैं।** पहले बोल में यह कहा कि ज्ञानी इच्छा को कर्म के उदय का कार्य जानता है, परन्तु अपना कार्य नहीं, (ऐसा जानता है)। आहाहा! अरे! जिसे अन्दर से निधान मिले हैं... आहाहा! पूर्णानन्द का नाथ जहाँ उछलकर पर्याय में आता है। आहाहा! उसका कार्य तो ज्ञान और आनन्द है। उसका कार्य राग नहीं होता क्योंकि उसके स्वभाव में वह कुछ है नहीं। आहाहा! जितने स्वभाव और शक्तियाँ हैं, वे सब पवित्र हैं। आहाहा! उस पवित्रता में अपवित्रता का कार्य नहीं हो सकता। क्या कहा, समझ में आया? भगवान आत्मा में तो जितने अनन्त गुण... कल आया था कि आकाश के प्रदेश से भी आत्मा में अनन्तगुने गुण हैं। जबकि श्वेताम्बर में आया है (वह) इसमें से लिया हुआ आया है, वहाँ कहाँ था? इसमें कहाँ है, यह ख्याल में नहीं आता। कल बताया था न? अजितनाथ की स्तुति। एक जीव में आकाश में के प्रदेश, कि जिनका अन्त नहीं, आहाहा! दसों दिशाओं का कहीं अन्त नहीं। इतने जो आकाश के प्रदेश, उनकी अपेक्षा एक भगवान आत्मा में अनन्तगुने गुण हैं। आहाहा! तुम्हारे पैसे करोड़, दो करोड़, अरब... हमारे समय में तो दूसरा था जरा। अरब के पश्चात् खर्ब, निखर्ब ऐसा था। खर्ब, निखर्ब, महासंघदी, जगदी, और मध्यम, यह उस समय था। अठारह बोल थे।

अभी तो चला गया। अरब ही है। आहाहा! परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि अभी प्रारम्भ है, अठारहवाँ अंक, वह भी अभी उसकी मर्यादा है। भगवान को तो... आहाहा! आकाश के प्रदेश का अन्त नहीं, क्या कहते हैं, प्रभु! इस क्षेत्र का-क्षेत्र का जहाँ अन्त नहीं, इस क्षेत्र के जाननेवाले के गुण का अन्त नहीं। ऐसे अनन्त गुण प्रभु अन्दर में ठूँसकर भरे हैं। उन अनन्त में से कोई गुण अपवित्ररूप से परिणमे, ऐसा कोई गुण नहीं है। यह जानकर यहाँ ऐसा कहा है कि इच्छा, वह मेरा कार्य नहीं है। मैं तो पवित्र हूँ और पवित्र का कार्य तो पवित्र है। लालचन्दभाई! कार्य क्यों कहा? कर्म के सिर पर क्यों डाला? समझ में आया? है तो अपनी कमजोरी परन्तु कर्म के सिर पर क्यों डाला? स्वयं भगवान अनन्त गुण का पिण्ड पवित्र प्रभु, उसमें कोई गुण विकार करे, ऐसा कोई गुण ही नहीं है। उस पर्याय में अध्धर से विकार होता है, इसलिए उसे पवित्रता का कार्य नहीं गिनकर कर्म का कार्य गिना है। आहाहा! अरे! भगवान का मार्ग तो देखो, भाई! आहाहा!

त्रिलोक के नाथ जिनेश्वर परमात्मा... आहाहा! वापस ऐसा है कि जितने अनन्त गुण आत्मा में हैं, आकाश के प्रदेश से अनन्तगुणे, उतने ही गुण एक परमाणु में है। भले वह जड़ है। जड़ के जड़ गुण। इतने ही सरीखे। द्रव्य है न! आहाहा! यह कल आया था न? आकाश के प्रदेश से प्रत्येक द्रव्य के गुण अनन्तगुणे हैं। कितने समय से कहा था परन्तु हाथ नहीं आता था। कल आया। उसे आना हो, तब आवे न! बापू! आहाहा!

यहाँ क्या कहना है? कि भगवान में अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... थोक के थोक अनन्त, इतने अनन्त कि अन्तिम अनन्त जिसमें आ नहीं सकता। और अन्तिम अनन्त का वापस अन्तिम अंक भी नहीं आता, इतने अनन्त। आहाहा! इतने पवित्र गुणों में कोई भी एक शक्ति विकार करे, ऐसी शक्ति नहीं है। शिष्य ने यह प्रश्न किया है उसमें कि प्रभु! अनन्त शक्ति का धनी है तो किसी का कार्य करे, ऐसी शक्ति है या नहीं? प्रश्न है न? समझ में आया? इतनी सब शक्तियाँ आप आत्मा में वर्णन करते हो तो एक शक्ति ऐसी भी क्यों नहीं हो कि पर का कर सके? पाटनीजी! आहाहा! भगवान! तेरी महिमा तो देख, प्रभु! आहाहा! तूने कभी सुनी नहीं, बैठी नहीं, भाई! आहाहा!

कहते हैं, प्रभु! अनन्त... अनन्त... इतने महा गुणों का अनन्त का अन्त कहीं नहीं

आकाश की भाँति। आहाहा! ऐसे का ऐसा जान लेना, (ऐसा नहीं) परन्तु इसके भाव में ख्याल आना, भासन (होना चाहिए)। दसों दिशाओं में आकाश की अनन्त श्रेणी, धारा एक-एक आकाश की श्रेणी ऐसे कहीं गयी, उसका पूरा नहीं, ऐसे गयी उसमें पूरा नहीं, ऐसे गयी वहाँ पूरा नहीं, नीचे गयी उसमें पूरा नहीं। आहाहा! ऐसे आकाश के प्रदेश कितने होंगे? एक आकाश में अनन्त श्रेणियाँ ऐसी। उस एक-एक श्रेणी में अन्तरहित प्रदेश। ऐसी अनन्त श्रेणी के प्रदेश, जिनका पार नहीं होता। आहाहा! भगवान! तेरी महिमा तो देख! तू कहाँ रुक गया? कहाँ मिठास में तू रुक गया? प्रभु! आहाहा!

ऐसे अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त गुणों का अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त में अनन्त... अनन्त... अन्तिम अनन्त जिसमें नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! जैसे आकाश में अन्तिम कोई भाग ही नहीं है। आहाहा! कहो, ऐसा सुना था कहीं? यह दिगम्बर धर्म यह है। सुना था कहीं? आहाहा! इतनी... इतनी शक्तियाँ हैं। शिष्य ने पूछा कि प्रभु तो अनन्त शक्ति का धनी है तो एक शक्ति कर्म का करे, पर का करे ऐसी शक्ति का किसलिए स्वीकार करते हैं? भाई! अनन्त शक्तियाँ हैं, परन्तु पर का करे, ऐसी एक भी शक्ति नहीं है। आहाहा! समझ में आया? हाथ को हिलावे, ऐसी भी उसमें शक्ति नहीं है। ऐसी अनन्त शक्ति का धनी, हाथ को हिलावे, ऐसी शक्ति नहीं। प्रभु! परन्तु यह तो पर का कार्य, इसमें शक्ति कहाँ है? आहाहा! अपने अनन्त गुण पवित्र हैं, उनका-पवित्र का पर्याय का कार्य, वह इसका कार्य है। आहाहा! इस हिसाब से गिनकर यहाँ इच्छा को कर्म के उदय का कार्य जानता है। गजब बात, प्रभु! आहाहा! लोगों को आत्मा क्या है, इसकी खबर नहीं। आत्मा अर्थात् है, बस! शरीर से भिन्न। परन्तु भिन्न है कितना और कैसा? आहाहा!

इस शरीर में परमाणु जितनी संख्या में है, इससे अनन्तगुणे उसमें गुण हैं। आहाहा! उस एक परमाणु में भी उतने ही गुण हैं। ओहोहो! ऐसे पवित्र का पिण्ड का कार्य पवित्र होता है, ऐसा गिनकर यहाँ राग का कार्य कर्म का है, ऐसा कहने में आया है। समझ में आया? आहाहा! क्या प्रभु की रटना! आहाहा! त्रिलोकनाथ के भाव का यह उपदेश है। उसके यह सब लेख है। केवली के मार्गानुसारियों ने केवली की बातें की, प्रभु! आहाहा! एक (हुआ)।

रोग समान जानकर मिटाना चाहते हैं। मेरी दशा तो अनन्त आनन्द, अनन्त पवित्रता का भाव, वह निरोग है। आहाहा! यह राग तो रोग है। आहाहा! मैं तो अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त गुण के कार्य का निरोगतावाला प्रभु मैं; उसमें राग रोग है। आहाहा! इच्छा, वह रोग है। आहाहा! यह शरीर के रोग नहीं, हों! शरीर का रोग वह रोग ही नहीं है, वह तो शरीर की पर्याय का वह काल है, तत्प्रमाण पर्याय होती है। उसमें वह रोग है, ऐसा भी नहीं। यह तो परमाणु की पर्याय का काल ही तद्नुसार परिणमने का है। आहाहा! समझ में आया? परमाणुओं में उस समय उसी प्रकार की पर्यायरूप होने का स्वभाव है। उसे रोग कहो परन्तु वह तो परमाणु की क्रमबद्ध में आती हुई पर्याय है। आहाहा! समझ में आया? किशोरभाई! थोड़ा-थोड़ा समझना, बाकी इसमें तो ढ़ेर आते हैं। अजीतभाई तो यहाँ बहुत रहते। इन्हें तो, आहाहा! पैसे की पाई* प्रमाण रुपये की पाई की गिने और पाई के वापस... क्या कहलाता है वह? बादाम और अखरोट और कुछ ऐसा। उसका आवे न? एक पाई के बहुत आते हैं, उसकी यहाँ कुछ कीमत नहीं है। आहाहा!

यह तो अनन्त गुण का नाथ... उत्तर तो कैसा, पण्डितजी ने स्पष्टीकरण किया है। हें? आहाहा! प्रभु! तुझमें तो अनन्त पवित्र गुण के पिण्ड पड़े हैं न! दल के दल पड़े हैं न! आहाहा! वे लड्डू नहीं होते, दल के? दल लड्डू होते थे, दल (के) गेहूँ के दल के लड्डू (घी डालकर बनावे) जैसे एक सेर चने के आटे में चार सेर घी (डालकर बनावे), उसे मैसूरपाक कहते हैं और गेहूँ के एक सेर के शक्करपारा अथवा दल कहते हैं। पहले दल के लड्डू होते थे। अभी तो अब कहाँ? इसी प्रकार आत्मा आनन्द का दल और अनन्त गुण का दल है प्रभु अन्दर। यह दल, परन्तु नजर नहीं, इसलिए दिखता नहीं। नजर बाहर में रुक गयी है। हें? आहाहा!

जो नजर की पर्याय है, वह पर्याय रुक गयी बाहर में। उस पर्याय को अन्दर में रोके तो अनन्त गुण का दल इसकी दृष्टि में आवे। आहाहा! उसकी अपेक्षा से इच्छा को रोग कहने में आता है। मेरा स्वरूप तो निरोग है। अनन्त-अनन्त पवित्रता के परिणमनवाला मेरा स्वरूप तो निरोग है। आहाहा! उसमें यह राग, रोग है। आहाहा! दो (बातें हुई)। एक तो

* पाई—प्राचीन समय की मुद्रा का एक नाम

इच्छा कर्म का कार्य (कहा)। उसमें तीन आये थे। असाता के कारण जठराग्नि का उत्पन्न होना; वीर्यान्तराय के कारण सहनशक्ति का अभाव; चारित्रमोह के कारण इच्छा का होना (ऐसे) तीन आये थे। अब उस इच्छा का समाधान करते हैं।

वह इच्छा, प्रभु आत्मा का कार्य नहीं, भाई! उसके पवित्र गुणों का परिणमन पवित्र ही होता है। वह अपवित्र का कार्य कहाँ आत्मा का है? आहाहा! इच्छामात्र रोग है। उस लोगस्स में नहीं आता? 'आरुग्गबोहिलाभं' लोगस्स में आता है, श्वेताम्बर में। अपने भी लोगस्स है, दिगम्बर में। 'आरुग्गबोहिलाभं' निरोगता में सम्यग्दर्शन का लाभ। आहाहा! 'समाहिवरमुत्तमं दिंतु' नहीं आता? लोगस्स में आता है, शान्तिभाई! पहाड़े किये हैं या नहीं पहले? आहाहा! रोग समान जानकर उसे मिटाना चाहता है। आहाहा! धर्मी को तो ज्ञानानन्द अनन्त गुण का कार्य है, उसमें राग को रोग समान जानकर उसे तो मिटाना चाहता है, रखना नहीं चाहता। आहाहा!

ज्ञानी के इच्छा के प्रति अनुरागरूप इच्छा नहीं होती... क्या कहा? इच्छा के प्रति इच्छा नहीं है। इच्छा की इच्छा नहीं है। इच्छा के प्रति अनुराग, प्रेमरूप इच्छा नहीं है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! **उसके ऐसी इच्छा नहीं होती कि मेरी यह इच्छा सदा रहे।** यह अनुराग। यह इच्छा सदा रहो, ऐसा है ज्ञानी को? आहाहा! **इसलिए उसके अज्ञानमय इच्छा का अभाव है।** आहाहा! ऐसी बात। और न्याय से सिद्ध किया है, हों! आहाहा! परमात्मा स्वयं अनन्त पवित्रता का पिण्ड, उसकी पर्याय भी निरोग पवित्र है। पवित्रता में यह अपवित्रता, वह तो रोग है। आहाहा! **इसलिए उसके अज्ञानमय इच्छा का अभाव है।** इसलिए धर्मी को अज्ञानमय रोग समान वस्तु का अभाव है। स्वरूप में नहीं, पर्याय में नहीं। वह पर्याय पर का कार्य है, उसे वह जानता है। आहाहा! ऐसी बातें। भारी कठिन काम। आहाहा!

परजन्य इच्छा का स्वामित्व ज्ञानी के नहीं होता... यह चौथा बोल। परजन्य इच्छा, भाषा देखो! परजन्य है; स्वभावजन्य नहीं। मेरा प्रभु अनन्त पवित्रता के अनन्त के पार रहित गुण, परन्तु कोई गुण ऐसा नहीं कि जो अपवित्ररूप परिणमे। पवित्र, अपवित्ररूप परिणमे ऐसा कोई गुण नहीं है। आहाहा! **परजन्य इच्छा का स्वामित्व ज्ञानी के नहीं**

होता... आहाहा! किसी का लड़का किसी को आया हो तो वह ऐसा मानता है कि यह मेरा लड़का है? आहाहा! इसी प्रकार राग की प्रजा कर्म की है, मेरी नहीं। आहाहा! ऐसा स्वरूप है। अरे! सुनने को मिलता नहीं, वह तत्त्व की बात का प्रयोग कब करे? आहाहा!

परजन्य इच्छा का स्वामित्व ज्ञानी के नहीं होता, इसलिए ज्ञानी इच्छा का भी ज्ञायक ही है। पर क्यों कहा? कि उस पुण्य का भी ज्ञायक है, पाप का भी ज्ञायक है और अशन का भी ज्ञायक है। 'भी' शब्द अर्थात् दूसरा कुछ हो गया है, उसका अर्थ हो गया है। **इस प्रकार शुद्धनय की प्रधानता से कथन जानना चाहिए।** शुद्धनय की दृष्टि की प्रधानता से यह कथन जानना चाहिए। जब पर्यायनय से जाने, तब पर्याय अपने में है, उसे जाने। समझ में आया? आहाहा! क्योंकि द्रव्य तो शुद्ध-अशुद्ध पर्याय का पिण्ड है। मोक्षमार्गप्रकाशक में दो जगह आता है, क्योंकि अनन्त जो अशुद्ध पर्यायें हुईं, उनकी योग्यता तो अन्दर है न? और वह अशुद्ध पर्याय और शुद्ध सब पर्याय का पिण्ड, वह आत्मा है। उसमें से एक अशुद्ध पर्याय निकाल डालो तो द्रव्य सिद्ध नहीं होगा। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! अब यह तो कितनी अपेक्षाएँ लागू पड़ती हैं। ज्ञान का पार नहीं, प्रभु! अनेकान्त ज्ञान का पार नहीं। आहाहा!

इस प्रकार शुद्धनय की प्रधानता से कथन जानना चाहिए। अशुद्धनय का कथन चलता हो तब पर्याय इसकी है, इसका कार्य है—ऐसा जाने। दो नय का कथन है न भगवान का। कोई एक ही नय का नहीं। आहाहा!

गाथा - २१३

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णेच्छदे पाणं।
अपरिग्गहो दु पाणस्स जाणगो तेण सो होदि।।२१३।।

अपरिग्रहोऽनिच्छो भणितो ज्ञानी च नेच्छति पानम्।
अपरिग्रहस्तु पानस्य ज्ञायकस्तेन स भवति।।२१३।।

इच्छा परिग्रहः। तस्य परिग्रहो नास्ति यस्येच्छा नास्ति। इच्छा त्वज्ञानमयो भावः, अज्ञानमयो भावस्तु ज्ञानिनो नास्ति, ज्ञानिनो ज्ञानमय एव भावोऽस्ति। ततो ज्ञानी अज्ञानमयस्य भावस्य इच्छाया अभावात् पानं नेच्छति। तेन ज्ञानिनः पानपरिग्रहो नास्ति। ज्ञानमयस्यैकस्य ज्ञायकभावस्य भावात् केवलं पानकस्य ज्ञायक एवायं स्यात्।।२१३।।

अब, यह कहते हैं कि ज्ञानी के पानी इत्यादि के पीने का भी परिग्रह नहीं है:-

अनिच्छक कहा अपरिग्रही, नहिं पान इच्छा ज्ञानि के।
इससे न परिग्रहि पान का वो, पान का ज्ञायक रहे।।२१३।।

गाथार्थ : [अनिच्छः] अनिच्छक को [अपरिग्रहः] अपरिग्रही [भणितः] कहा है [च] और [ज्ञानी] ज्ञानी [पानम्] पान को (पेय को) [न इच्छति] नहीं चाहता, [तेन] इसलिए [सः] वह [पानस्य] पान का [अपरिग्रहः तु] परिग्रही नहीं, किन्तु [ज्ञायकः] (पान का) ज्ञायक ही [भवति] है।

टीका : इच्छा परिग्रह है। उसको परिग्रह नहीं है कि जिनको इच्छा नहीं है। इच्छा तो अज्ञानमय भाव है और अज्ञानमय भाव ज्ञानी के नहीं होता, ज्ञानी के ज्ञानमय भाव ही होता है; इसलिए अज्ञानमय भाव जो इच्छा, उसके अभाव से ज्ञानी पान को (पानी इत्यादि पेय को) नहीं चाहता; इसलिए ज्ञानी के पान का परिग्रह नहीं है। ज्ञानमय एक ज्ञायकभाव के सद्भाव के कारण यह (ज्ञानी) पान का केवल ज्ञायक ही है।

गाथा - २१३ पर प्रवचन

अब, ज्ञानी के पानी इत्यादि के पीने का... अर्थात् पीने की जितनी चीज़ें हो, उन्हें साथ में डालना। उसका भी **परिग्रह नहीं है यह कहते हैं :-**

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णेच्छदे पाणं।
अपरिग्गहो दु पाणस्स जाणगो तेण सो होदि।।२१३।।

'भणिदो' (अर्थात्) भगवान ने कहा है। आहाहा!

अनिच्छक कहा अपरिग्रही, नहिं पान इच्छा ज्ञानि के।
इससे न परिग्रहि पान का वो, पान का ज्ञायक रहे।।२१३।।

यह पानी पीते हुए भी पानी नहीं पीता, कहते हैं। आहाहा! ऐसी बातें हैं। पानी का परिग्रह नहीं है। उस पानी की इच्छा ही नहीं है। आहाहा! इच्छा तो परिग्रह है। उस पानी की इच्छा नहीं, इसलिए उसे परिग्रह नहीं है। परिग्रह—पानी को वह पकड़ता नहीं। पानी है, उसे ज्ञातारूप से जानता है। आहाहा! यह चीज़ जगत में है, वैसे स्व-परप्रकाशक ज्ञान में पर को जानता है, परन्तु वह पर मेरा है, ऐसा वह नहीं मानता। आहाहा! यह सब पहले शब्द आये हैं, तत्प्रमाण ले लेना।

इच्छा परिग्रह है। उसको परिग्रह नहीं है कि जिनको इच्छा नहीं है। इच्छा तो अज्ञानमय भाव है और अज्ञानमय भाव ज्ञानी के नहीं होता, ज्ञानी के ज्ञानमय भाव ही होता है; इसलिए अज्ञानमय भाव जो इच्छा... अज्ञानमय भाव जो इच्छा, दुःखरूप भाव जो इच्छा, उसके अभाव के कारण ज्ञानी को दुःखरूप और अज्ञानमय भाव नहीं है। आहाहा! **ज्ञानी पान को नहीं चाहता;...** धर्मी को पानी की इच्छा नहीं है। आहाहा! बापू! क्या अपेक्षा है, भाई! आहाहा! इच्छा मेरा कार्य नहीं, मैं तो ज्ञायक हूँ न! जाननेवाला जाने या जाननेवाला इच्छा करे? आहाहा! पानी (पीते) समय भी मैं तो जाननेवाला हूँ और वह भी उस काल में, पानी आने के काल में उसे जानता हुआ ज्ञान प्रगट होता है। स्व-परप्रकाशक ज्ञान के कारण ज्ञायकभाव में स्व-पर को जानता हुआ ज्ञान प्रगट होता है। वह अपने में से प्रगट होता है, पानी आया; इसलिए उसका ज्ञान प्रगट हुआ है, ऐसा नहीं है। आहाहा! पानी को जाननेवाला ज्ञान पानी है, इसलिए हुआ है, ऐसा नहीं है। आहाहा! पानी के काल में जो स्व-परप्रकाशक पर्याय का सामर्थ्य वह स्वयं से प्रगट हुआ है। उसे पर का जाननेवाला-देखनेवाला कहते हैं। आहाहा! विशेष कहेंगे.....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा - २१४

एमादिए दु विविहे सव्वे भावे य णेच्छदे णाणी।
जाणगभावो णियदो णीरालंबो दु सव्वत्थ।।२१४।।

एवमादिकान्स्तु विविधान् सर्वान् भावान्श्च नेच्छति ज्ञानी।
ज्ञायकभावो नियतो निरालम्बस्तु सर्वत्र।।२१४।।

एवमादयोऽन्येऽपि बहुप्रकाराः परद्रव्यस्य ये स्वभावास्तान् सर्वानेव नेच्छति ज्ञानी, तेन ज्ञानिनः सर्वेषामपि परद्रव्यभावानां परिग्रहो नास्ति। इति सिद्धं ज्ञानिनोऽत्यन्त-निष्परिग्रहत्वम्। अथैवमयमशेष-भावान्तरपरिग्रहशून्यत्वादुद्दान्तसमस्ताज्ञानः सर्वत्राप्यत्यन्त-निरालम्बो भूत्वा प्रतिनियतटंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावः सन् साक्षाद्विज्ञानघनमात्मान-मनुभवति।।२१४।।

ऐसे ही अन्य भी अनेक प्रकार के परजन्य भावों को ज्ञानी नहीं चाहता, यह कहते हैं:-

ये आदि विधविध भाव बहु ज्ञानी न इच्छे सर्व को।
सर्वत्र आलम्बन रहित बस, नियत ज्ञायकभाव वो।।२१४।।

गाथार्थ : [एवमादिकान् तु] इत्यादिक [विविधान्] अनेक प्रकार के [सर्वान् भावान् च] सर्व भावों को [ज्ञानी] ज्ञानी [न इच्छति] नहीं चाहता, [सर्वत्र निरालम्बः तु] सर्वत्र (सभी में) निरालम्ब वह [नियतः ज्ञायकभावः] निश्चित ज्ञायकभाव ही है।

टीका : इत्यादिक अन्य भी अनेक प्रकार के जो परद्रव्य के स्वभाव है उन सभी को ज्ञानी नहीं चाहता इसलिए ज्ञानी के समस्त परद्रव्य के भावों का परिग्रह नहीं है। इस प्रकार ज्ञानी के अत्यन्त निष्परिग्रहत्व सिद्ध हुआ।

अब इस प्रकार, समस्त अन्य भावों के परिग्रह के शून्यत्व के कारण जिसने समस्त अज्ञान का वमन कर डाला है ऐसा यह (ज्ञानी), सर्वत्र अत्यन्त निरालम्ब होकर, नियत टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव रहता हुआ, साक्षात् विज्ञानघन आत्मा का अनुभव करता है।

भावार्थ : पुण्य, पाप, अशन, पान इत्यादि समस्त अन्यभावों का ज्ञानी को परिग्रह नहीं है क्योंकि समस्त परभावों को हेय जाने तब उसकी प्राप्ति की इच्छा नहीं होती।*

प्रवचन नं. २९३, गाथा-२१४, श्लोक-१४६, शनिवार, भाद्र शुक्ल ३
दिनाङ्क २५-०८-१९७९

समयसार, २१४ गाथा। **ऐसे ही अन्य भी...** ऐसा कहा कि ज्ञायकस्वरूप भगवान सब गुणों से पूरा-पूरा प्रभु, ऐसा जिसे अन्तर में भान और स्वीकार दृष्टि में हुआ, उसे पुण्य और पाप, अशन, पान इत्यादि की इच्छा उसे नहीं होती। भगवान आत्मा ज्ञायक पूर्ण, ज्ञान से पूर्ण, दर्शन से पूर्ण, आनन्द से पूर्ण, शान्ति से पूर्ण... आहाहा! ऐसा जो पूर्णानन्द प्रभु अनुभव में—दृष्टि में—ज्ञान में आया, उसे आत्मा के भाव के अतिरिक्त दूसरी पर इच्छा का राग, इच्छा की इच्छा नहीं होती। आहाहा! जिसने भरे भण्डार देखे... आहाहा! भगवान पूर्ण आनन्द, पूर्ण शान्ति, पूर्ण ज्ञान, पूर्ण दर्शन, पूर्ण वीर्य—ऐसे अनन्त-अनन्त गुणों से पूर्ण है, ऐसा भासित हुआ, देखा —ऐसे धर्मी को तो... आहाहा! इच्छा मात्र की इच्छा नहीं होती। ऐसी बात है, भाई! यह दूसरे भी ये चार तो कहे। किसी भी प्रकार से वस्त्र, गहने इस शरीर पर हो और उसे दूसरे को दिखाने की भावना हो, यह ज्ञानी को नहीं होता। आहाहा! समझ में आया?

ऐसे ही अन्य भी अनेक प्रकार के परजन्य भावों को ज्ञानी नहीं चाहता,... आहाहा! उसे यहाँ धर्मी और ज्ञानी कहा जाता है।

एमादिए दु विविहे सव्वे भावे य णेच्छदे णाणी।
जाणगभावो णियदो णीरालंबो दु सव्वत्थ।।२१४।।

ये आदि विधविध भाव बहु ज्ञानी न इच्छे सर्व को।
सर्वत्र आलम्बन रहित बस, नियत ज्ञायकभाव वो।।२१४।।

* पहले, मोक्षाभिलाषी सर्व परिग्रह को छोड़ने के लिए प्रवृत्त हुआ था; उसने इस गाथा तक में समस्त परिग्रहभाव को छोड़ दिया, और इस प्रकार समस्त अज्ञान को दूर कर दिया तथा ज्ञान-स्वरूप आत्मा का अनुभव किया।

टीका : इत्यादिक... अर्थात् कि पुण्य, पाप, आहार, पानी इत्यादि। **अन्य भी अनेक प्रकार के...** विकल्प या बाह्य की अनुकूल सामग्रियाँ या प्रतिकूल सामग्रियाँ, (वे) **परद्रव्य के स्वभाव है उन सभी को ज्ञानी नहीं चाहता...** आहाहा! जिसे आनन्द का स्वाद आया, भगवान... उस स्तवन में कहा नहीं? 'प्रभु तुम सब भाव से पूरा, प्रभु तुम, प्रभु मेरे तुम सब भाव से पूरा।' आहाहा! 'पर की आश कहाँ करे प्रियवर? पर की आश कहाँ करे प्रीतम, किस बात से तू अधूरा, किस बात से तू अधूरा, किस भाव से तुम अधूरा।' आहाहा! 'प्रभु मेरे सब भाव से पूरा' ऐसा जो भगवान आत्मा... आहाहा! ज्ञायकभाव वीतरागस्वभाव से भरपूर पूर्ण वीतराग, पूर्ण ज्ञान, पूर्ण दर्शन, पूर्ण शान्ति, पूर्ण आनन्द, पूर्ण स्वच्छता... आहाहा! ऐसा जो भरपूर भगवान, जिसे प्रतीति में (आया), पर्याय में स्वीकार किया... आहाहा! पर्याय में आदर किया, अनुभव किया... आहाहा! उसे इन सब भावों का (आदर नहीं है)। ज्ञानी उन्हें चाहता नहीं है। आहाहा!

धर्मी को ज्ञायकभाव के प्रति प्रयत्न शुरु है। भगवान ज्ञायकभाव उसके प्रति के झुकाव में प्रयत्न है। आहाहा! इसलिए उसे परद्रव्य के विकल्प आदि या परद्रव्य की उसे इच्छा नहीं होती, उनका उसे प्रेम नहीं होता। आहाहा! वे सब (भाव) ज्ञानी चाहता नहीं। सब परद्रव्य स्वभाव... आहाहा! उन्हें ज्ञानी (चाहता नहीं)।

इसलिए ज्ञानी के... निर्जरा अधिकार है न? भाई! आहाहा! **समस्त परद्रव्य के भावों का परिग्रह नहीं है।** भगवान ज्ञायकभाव का परिग्रह जिसने पकड़ा... आहाहा! ज्ञायकभाव का परिग्रह जिसे हुआ, परि अर्थात् समस्त प्रकार से अनुभव किया-पकड़ा, उसे आत्मा के ज्ञायकभाव के अतिरिक्त किसी पदार्थ का परिग्रह (अर्थात् कि) वह मेरा है, ऐसी पकड़ उसे नहीं होती। आहाहा! छह खण्ड के राज्य में चक्रवर्ती पड़ा हो, ऐसा लोग कहे। वह छह खण्ड के राज्य में नहीं है; वह तो अखण्ड ज्ञायकभाव के राज में है। आहाहा! इसलिए वह खण्ड-खण्ड को नहीं साधता, वह अखण्ड को साधता है। आहाहा! पर खण्ड तो नहीं परन्तु पर्याय के खण्ड को वह नहीं साधता। आहाहा! आता है न, ३२० (गाथा) में? ज्ञान में खण्ड-खण्ड को वह नहीं भाता। आहाहा! भाई! धर्म कोई अलौकिक बात है, भाई! आहाहा!

परिपूर्ण वीतरागभाव से भरपूर प्रभु और परिपूर्ण आनन्द और परिपूर्ण शान्ति... शान्ति... शान्ति, आहाहा! पूर्ण शान्त के रस से भरपूर भगवान का जिसे अन्तर में अनुभव हुआ, उस ज्ञानी को इस भावना के अतिरिक्त दूसरी कौन सी इच्छा पर की होगी? आहाहा! समझ में आया? आहाहा! उस परद्रव्य के भावों का परिग्रह नहीं है। **इस प्रकार...** धर्मी को.। और कोई ऐसा कहे, (यह तो) ज्ञानी को, धर्मी को; हमारे क्या? परन्तु धर्मी कहो या ज्ञानी कहो। आहाहा! जिसे आत्मा के धर्म जो परिपूर्ण स्वरूप, सर्वज्ञ जैसे ज्ञान में पूर्ण स्वरूप है, वैसे पूर्ण स्वरूप दर्शन का, पूर्ण स्वरूप शान्ति का, पूर्ण स्वरूप वीतरागता का, पूर्ण स्वरूप स्वच्छता का, पूर्ण स्वरूप स्वसंवेदन प्रकाशगुण का इत्यादि पूर्ण स्वरूप का नाथ प्रभु! आहाहा! उसका जहाँ अन्तर में आदर और स्वीकार हुआ, उसे पर इच्छामात्र का अथवा परपरिग्रह के रागादि का भी उसे परिग्रह नहीं है। आहाहा! ऐसी बात है।

ज्ञानी के अत्यन्त निष्परिग्रहत्व सिद्ध हुआ। आहाहा! धर्मी जीव... अरे! आठ वर्ष की बालिका हो... आहाहा! जिसे आत्मा का अनुभव और आनन्द का स्वाद आया, वह पश्चात् भले विवाह करे, परन्तु उस विवाह करने की इच्छा का वह स्वामी नहीं है। आहाहा! शरीर तो मिट्टी है। स्वयं अनन्त गुण का मालिक प्रभु... आहाहा! अनन्त गुण का धनी, अनन्त गुण का साहेबा, राजा। आहाहा! अनन्त गुण का साहेब प्रभु राजेन्द्र आत्मा। आहाहा! उसका जहाँ अन्तर में स्वीकार हो गया... आहाहा! उसे कौन सी इच्छा पर की हो? भाई! मार्ग ऐसा है, प्रभु! यद्यपि यहाँ मुनिपने की मुख्यता से बात है परन्तु सम्यग्दृष्टि की बात भी गौण में शामिल है। आहाहा!

उस **ज्ञानी के अत्यन्त निष्परिग्रहत्व सिद्ध हुआ।** आहाहा! अकेला निष्परिग्रहपना नहीं, अत्यन्त निष्परिग्रहपना। आहाहा! जिसे पुण्य का राग आवे, उसे पुण्य के फलरूप में संयोग भाव आवे, उनकी उसे पकड़ नहीं अर्थात् यह मेरा है, ऐसा भाव नहीं। आहाहा! **अब इस प्रकार, समस्त अन्य भावों के परिग्रह के...** अन्य भावों की पकड़ से—मेरे हैं—ऐसे भाव से **शून्यत्व के कारण...** आहाहा! स्वयं भगवान भरपूर पूर्ण और परभाव की भावना से शून्य। आहाहा! समझ में आया? यह बात, ऐसी मूल बातें ऐसी सूक्ष्म हैं। आहाहा!

समस्त अन्य भावों के परिग्रह के शून्यत्व के कारण... अर्थात्? पूरे गुण का

भगवान भरपूर, उसे अनुभव में आया है, वह अन्य परिग्रह से तो शून्य हुआ। स्वभाव से अशून्यपना जहाँ प्रगट हुआ है... आहाहा! उसे परभाव से शून्यपना प्रगट हुआ है। समझ में आया? **जिसने समस्त अज्ञान का वमन कर डाला है...** आहाहा! कोई भी विकल्प मेरा है, ऐसे भाव को जिसने वमन कर डाला है। आहाहा! **ऐसा यह, सर्वत्र...** सर्व स्थान से, विकल्प से लेकर सर्व संयोग से **अत्यन्त निरालम्ब...** है। पर से अत्यन्त निरालम्ब है। आहाहा! स्व से अत्यन्त आलम्बित है। अपना स्व से पूर्ण आलम्बन है, पर से पूर्ण निरालम्ब ही है। आहाहा!

ऐसा यह (ज्ञानी), सर्वत्र अत्यन्त निरालम्ब... सर्वत्र आत्मा आलम्बन में आया है, आत्मा का आलम्बन जिसने लिया है... आहाहा! उसे पर का सर्वत्र अत्यन्त निरालम्ब है। आहा! **नियत टंकोत्कीर्ण...** नियत अर्थात् निश्चय टंकोत्कीर्ण—जैसा वह स्वभाव है, वैसा अन्दर पूर्णानन्द का नाथ शाश्वत्। टंकोत्कीर्ण अर्थात् शाश्वत्। आहाहा! ध्रुव। 'ध्रुवपद रामी रे प्रभु मारा' ध्रुव स्वभाव के पद का रामी आतमराम। आहाहा! उसे पर में रमने की बात कैसे रुचे? आहाहा! धर्म वीतराग भाई! वीतराग का धर्म कोई अपूर्व अलौकिक है। वह कोई साधारण बाहर से... आहाहा! दया, दान, भक्ति और व्रत में से मिल जाए, ऐसी चीज़ नहीं है। वह प्रभु तो निरालम्बी है। जिसे इच्छा और देव-गुरु का आलम्बन भी नहीं। आहाहा! त्रिलोक के नाथ का भी आलम्बन जिसे नहीं। क्योंकि तीन लोक का नाथ जहाँ स्वीकार में आया, वह सब चीज़ के आलम्बन से रहित है। आहाहा!

आलम्बन का विवाद है न? स्थानकवासी और मन्दिरमार्गी में। वे कहे, मूर्ति का आलम्बन चाहिए, वे कहे, आलम्बन नहीं। यह बात किस अपेक्षा से है? परमार्थ से तो आत्मा निरालम्बन ही है, परन्तु जब राग आता है, तब उसे पर का निमित्तपना है। वह परालम्बीपना इतना ज्ञान में आवे परन्तु उसकी उसे पकड़ नहीं है। आहाहा! तब वे कहते हैं कि वह है ही नहीं। यह बात झूठी है। समझ में आया? यह स्व का अवलम्बन होने पर भी जब तक पूर्ण नहीं है, उसे राग में परालम्बीपने का भाव आता है, वह चीज़ है। तो भी उस परालम्बी भाव में से भगवान आत्मा तो अत्यन्त निरालम्बी है। अरेरे! ऐसी बातें।

सर्वत्र अत्यन्त निरालम्ब होकर,... पाठ है न? आहाहा! **'णेच्छदे णाणी।**

जाणगभावो णियदो णीरालंबो' है न पाठ में ? निश्चय से निरालम्बी है। आहाहा! जिसे तीन लोक के नाथ, पूर्णानन्द प्रभु आत्मा का जिसे अवलम्बन आया, अब दूसरे आलम्बन का क्या (काम) है ? आहाहा! निश्चय से तो पर का अवलम्बन उसे एक भी है ही नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : आलम्बन दे सकता है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : आलम्बन देता नहीं परन्तु लेने जाता है यहाँ ? यह मुझे अवलम्बन मिलता है, मुझे आलम्बन है। वह कहाँ आलम्बन है ? वह तो ज्ञेय है। वह तो ज्ञान में ज्ञात होनेयोग्य ज्ञेय है। परवस्तु चाहे तो परमात्मा और चाहे तो मूर्ति हो और चाहे तो मन्दिर हो। आहाहा! नव देव नहीं कहे ? जिनभवन देव, जिनवाणी देव, जिनधर्म देव। आहाहा! है न ? जिनभवन, जिनप्रतिमा, जिनवाणी, जिनधर्म—चार तथा पंच परमेष्ठी, (इस प्रकार) नव देव कहे हैं परन्तु उन देव का अवलम्बन भी निश्चय में नहीं है। जब व्यवहार का विकल्प उठता है, तब उन नव देव की भक्ति और विनय उसे होता है परन्तु तो भी उस भाव की उसे पकड़ नहीं। आहाहा! वह भाव मेरा है, ऐसा ज्ञानी को नहीं है, प्रभु! भारी सूक्ष्म बात, प्रभु! आहाहा!

तेरी प्रभुता की बातें करते हुए प्रभु कह सके नहीं। आहाहा! ऐसा महाप्रभु अनन्त-अनन्त गुण से पूरा प्रभु, भाई! क्षेत्र में शरीर प्रमाण है, इसलिए छोटा है, ऐसा नहीं है। और वह अरूपी है; इसलिए वह छोटा है, ऐसा नहीं है। आहाहा! उसका कद असंख्य प्रदेश है परन्तु अनन्त-अनन्त भाव का कद तो अनन्त है। आहाहा! वह अनन्त कद, दल का पिण्ड है वह तो। आहाहा! जैसे बर्फ की शिला होती है न, पचास-पचास मण की। मुम्बई में। उसी प्रकार यह अनन्त गुण की महाशिला है, शान्त शिला है, शान्त शिला है। यह तो वीतरागभाव की शिला है। आहाहा! अरे! ऐसा आत्मा इसने सुना नहीं है। उसे आत्मा ऐसा है, उसकी इसे महिमा नहीं आती और धर्म के नाम से बाहर से (क्रिया) करके मानता है कि हम धर्म करते हैं। आहाहा! समझ में आया ?

यहाँ तो कहते हैं, **नियत टंकोत्कीर्ण...** निश्चय शाश्वत् वस्तु ध्रुव जो है, 'ध्रुवपद रामी प्रभु म्हारा' तू ध्रुवपद का रामी प्रभु तू। आहाहा! राग के पद का रामी प्रभु तू नहीं है।

आहाहा! ऐसी बातें हैं। लोगों को कठिन पड़ती है। क्या हो? भाई! आहाहा! ज्ञानार्णव में कहा है कि भरतक्षेत्र में अभी दो-तीन-चार साधु हों, होवें तो। तो यह बात इन्होंने ली, देवचन्दजी ने। श्वेताम्बर में कहीं है नहीं। परन्तु एक ज्ञानार्णव दिगम्बर का (शास्त्र) है, शुभचन्द्राचार्य कृत। उसमें है कि भाई! मुश्किल से दो और तीन साधु भावलिंगी होवे तो, न भी हो। उसमें तो ऐसा लिखा है। इसमें तो दो-तीन लिखे। दो-तीन का अर्थ थोड़े हैं। समकिती थोड़े होते हैं। आहाहा!

जिसे भगवान का तल हाथ आया, जिसके पाताल के... आहाहा! अनन्त गुण से भरपूर ध्रुव (वह पाताल)। पर्याय की अपेक्षा से उसका ध्रुव पाताल है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! ऐसे भगवान को जिसने अनुभव किया, जाना और उसका परिग्रह अर्थात् यह ज्ञायक, वह ही मैं, ऐसा जिसे परिग्रह हुआ। यह आ गया, निर्जरा में। ज्ञायक, ज्ञानी को ज्ञायक का परिग्रह है। आहाहा!

टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव रहता हुआ,... आहाहा! जाननेवाला... जाननेवाला... जाननेवाला... जाननेवाला... जाननेवाला स्वभाव जाननेवाला, पर्याय में जाननेवाला। आहाहा! ऐसे जाननेवालेरूप रहता प्रभु... आहाहा! **साक्षात् विज्ञानघन आत्मा का अनुभव करता है।** आहाहा! व्यक्तपने में-पर्याय में वह नहीं था। अब साक्षात् हो गया। अनुभव में वह प्रत्यक्ष साक्षात् हो गया। आहाहा! चैतन्य के आनन्द का रसकन्द प्रभु। साक्षात् विघानघन। वह विज्ञानघन हुआ, पर्याय में, हों! आहाहा! ऐसे विज्ञानघन आत्मा को अनुभव करता है। वह पर्याय में विज्ञानघन हुआ परन्तु मूल विज्ञानघन है। है और अनुभव करता है। आहाहा! यहाँ तो ऐसा नहीं कहा कि, पर को अनुभव करता है तो नहीं, राग को अनुभव करता है तो नहीं, पर्याय को अनुभव करता है तो नहीं। यह बात। आहाहा! यह तीन लोक के नाथ के मार्ग में बात है, अन्यत्र कहीं यह है नहीं। ऐसा प्रभु अन्दर है, उसे पामररूप से स्वीकार किया है न! आहाहा! उसे भिखारीवत् किया है। यहाँ से मुझे सुख मिलेगा, यहाँ से मुझे सुख मिलेगा, यहाँ से मुझे सुख मिलेगा। अरे! बादशाह चक्रवर्ती... आहाहा!

एक दृष्टान्त आता है। चक्रवर्ती के घर में एक बहुत अच्छी निम्न जाति की स्त्री आयी। ऐसा कहे, यह दृष्टान्त है। चक्रवर्ती को तो ऐसी नहीं होती परन्तु बड़ा राजा और निम्न

जाति की रखी। परन्तु उसको आदत ऐसी कि दातुन डालकर रोटी लेना। वह हमेशा... क्या कहलाता है वह ? गोखला... गोखला। थोड़ा दातुन ले और अन्दर रोटी रखे। दातुन और रोटी। ऐसी आदत। अच्छे राजा के घर में आयी तो भी यह आदत रही। आहाहा! उसी प्रकार भगवान आत्मा परमानन्द का नाथ, उसे हाथ नहीं आया और शुभभाव में आया, उसमें उसे भिखारीवत् किया। यह पैसा लाओ, स्त्री लाओ, पुत्र लाओ, अनुकूल लाओ, इज्जत लाओ। प्रभु तो किसका माँगता है। प्रभु! तुझमें क्या पूर्णपने की कमी है। आहाहा! यह तो कहा, 'प्रभु मेरे तुम सब भाव से पूरा' बातें पूरा नहीं कहा, भाव से पूरा। आहाहा!

यह यहाँ कहा न ? **साक्षात् विज्ञानघन आत्मा...** ऐसा जो प्रभु साक्षात् विज्ञानघन है, उसे समकिती धर्मी अनुभव करता है। आहाहा! वह आनन्द की लहर के, आनन्द की घूँटें लेता है, कहते हैं। आनन्द का नाथ भगवान आनन्द से भरपूर, उसके सामने देखने पर उसकी पर्याय में आनन्द आता है, कहते हैं। आहाहा! उस पर्याय को विज्ञानघन आत्मा को अनुभवता है। आत्मा को अनुभवता है, इसका अर्थ कि त्रिकाल को अनुभवता है ? अनुभव तो पर्याय का है परन्तु विज्ञानघन आत्मा की ओर सन्मुखता है, इसलिए उसे अनुभवता है, ऐसा कहा जाता है। आहाहा! बहुत सरस गाथा! आहाहा! **'नियत' 'निरालम्ब'** शब्द पड़ा है। आहाहा! प्रभु! तू निश्चय से पर से निरालम्बी चीज़ है। आहाहा! तो फिर ऐसी सब बात करना हो तो फिर यह मूर्ति और पूजा यह क्या ? बापू! भाई! अनेकान्त मार्ग है, समझ। ऐसा भाव वीतराग न हो, तब तक आता है। उसे उड़ा ही दे कि मूर्ति और पूजा नहीं है, वह दृष्टि विरुद्ध है। समझ में आया ? और उस मूर्ति तथा मूर्तिपूजा में धर्म है, यह दृष्टि खोटी है। आहाहा! समझ में आया ? ऐसा मार्ग। एक ओर कहे कि किसी का अवलम्बन नहीं है। और फिर मूर्ति और देव, नव देव। वह तो शुभभाव आता है; वीतराग न हो, पूर्ण वीतराग न हो तो अन्तर वीतराग दशा तो प्रगट हुई है परन्तु पूर्ण वीतरागता न हो, इसलिए राग आता है, व्यवहार आता है और उस व्यवहार में पर का, निमित्त का लक्ष्य जाता है। आहाहा! परन्तु परमार्थ से अन्दर में व्यवहार और निमित्त का आश्रय नहीं है। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

नियत टंकोत्कीर्ण... निश्चय शाश्वत वस्तु प्रभु। है, है, है—ऐसा ध्रुव भगवान

शाश्वत् वस्तु। ऐसे ज्ञायकभाव से रहता हुआ। आहाहा! वह है तो पर्याय। ज्ञायकभाव त्रिकाल है, उस पर्याय में ज्ञायकभाव से रहता हुआ, ऐसा। समझ में आया? **साक्षात् विज्ञानघन आत्मा का अनुभव करता है।** ओहोहो! गाथा तो गजब है। **'जाणगभावो णियदो णीरालंबो'** और **'सव्वत्थ'** आहाहा! **सर्वत्र अत्यन्त निरालम्ब...** आहाहा! पर से, राग से और निमित्त से मुझे लाभ होगा, यह दृष्टि छूट गयी है, तो भी पर्याय में कमजोरी के कारण शुभराग आता है और राग में लक्ष्य प्रतिमा, भगवान, देव-गुरु-शास्त्र को कहा था न? चार उपकरण है। मुनि को भी नग्नपना एक उपकरण है। उपकरण, हों! धर्म नहीं। बाह्य निमित्त। आहाहा! नग्नपना, वह बाह्य उपकरण है; अन्तर (उपकरण) नहीं। उसे गुरुवचन भी एक बाह्य उपकरण है। आहाहा! और आहाहा! विनय एक उपकरण है। देव-गुरु-शास्त्र का विनय उपकरण है, राग है। पर उपकरण है तथा सूत्र अध्ययन। शास्त्र का अध्ययन करना, वह भी एक उपकरण है। आहाहा! तीन लोक के नाथ को भूलकर अन्दर में न जाकर सूत्र का अध्ययन करे... आहाहा! ऐसी बातें हैं। एक ओर कहे कि आगम का अभ्यास करना, तेरा कल्याण होगा। वह किस अपेक्षा? इसके स्वलक्ष्य से आगम का अभ्यास होना चाहिए। भगवान क्या कहते हैं? क्योंकि साधु को आगमचक्षु कहा है। सिद्धान्त में सन्तों को आगमचक्षु—आगम जिनकी आँखें हैं। भगवान क्या कहते हैं, ऐसा उनके ज्ञान में तैरता है। आहाहा! सर्व चक्षु सिद्ध, आगमचक्षु साधु, अवधिचक्षु देव। आहाहा!

भावार्थ :- पहले पुण्य आया था न? **पुण्य, पाप, अशन, पान इत्यादि समस्त अन्यभावों का (धर्मी को) ज्ञानी को...** मेरे हैं, ऐसा भाव नहीं। मेरा तो मेरे पास है, मेरा तो मेरे पास है, ये मेरे नहीं। आहाहा! मेरा तो भगवान आनन्द का नाथ, वह मेरा मुझमें है। ये मेरे नहीं। आहाहा! दृष्टि उठ गयी। है? दृष्टि में पर को मुझको मार डाला। आहाहा! और अपने में मेरेपन का जहाँ स्वीकार, अनुभव हुआ,... आहाहा! पर का मेरापना जिसकी दृष्टि में रहा नहीं। अरे! ऐसी बात। देवचन्दजी डाले वापस, भगवान का आलम्बन है, भगवान के निमित्त से उपादान की जागृति होती है। सब बातें कर-करके यह डाले। बापू! यह नहीं। यहाँ तो जो भाव आवे, उसका भी अन्दर आदर नहीं, निश्चय से आदर नहीं, व्यवहार से आवे। आहाहा! पद्मनन्दि पंचविंशति में तो लिया है, व्यवहारनय व्यवहार से पूज्य है।

आहाहा! परन्तु उसकी मर्यादा है, हों! निश्चय तो भगवान आत्मा पूजने के योग्य है। आहाहा! परन्तु जब तक वीतरागता न आवे, तब तक दृष्टि में पूर्ण का स्वीकार होने पर भी पर्याय में कमजोरी के कारण राग आता है। आहाहा! वह भगवान की पूजा, भक्ति का राग होता है तो भी उसे हेयरूप से जानते हैं। आहाहा! समझ में आया?

पुण्य, पाप आदि **समस्त अन्यभावों का ज्ञानी को...** सर्व अन्य भावों का। आहाहा! सर्वज्ञस्वभावी भगवान जहाँ हाथ आया, सर्वज्ञस्वभावी कहो या पूर्ण ज्ञानस्वभावी कहो, पूर्ण आनन्दस्वभावी कहो। आहाहा! पूरे स्वभाव का नाथ अनन्त पूर्ण प्रभु... आहाहा! उसे **समस्त अन्यभावों का ज्ञानी को परिग्रह नहीं है क्योंकि समस्त परभावों को हेय जाने...** देखा? आता है, होता है परन्तु हेय जानता है। हेयरूप से ज्ञेय है, प्रभु उपादेयरूप से ज्ञेय है। जाननेयोग्य तो दोनों हैं परन्तु यह उपादेयरूप से ज्ञेय है, राग हेयरूप से ज्ञेय है। आहाहा!

उसमें आता है न? उपदेशक भी ऐसे... नहीं आता? क्या करे जीव नवीन? 'बहु क्रियारुचि जीवडा', 'क्रियारुचि जीवड़ा' बाहर की। पुण्य और दया, दान, आहाहा! 'उपदेशक भी तेहवा, शुं करे जीव नवीन?' बेचारा नवीन क्या करे?

मुमुक्षु : प्रायः देवचन्दजी का है।

पूज्य गुरुदेवश्री : देवचन्दजी का है। वे कहते हैं निमित्त से ही उपादान जागता है।

यहाँ तो कहते हैं, उपादान स्वयं शुद्ध उपादान से जगता है। जिसे पर का कोई अवलम्बन ही नहीं है। आहाहा! ऐसा मार्ग है, भाई! पराधीनपने की वस्तु कैसी इसमें? स्वतन्त्रता का नाथ, कर्तागुण से भरपूर, कर्तागुण से भी पूर्ण भरा हुआ। आहाहा! अकार्यकारणभाव से भी पूर्ण भरपूर। जिसे राग का कारण नहीं और राग का कार्य नहीं। आहाहा! ऐसा पूर्णानन्द का नाथ अकार्यकारण शक्ति से पूर्ण भरपूर है। आहाहा! जिसे पर का कारण नहीं और पर का स्वयं कार्य नहीं। आहाहा! निश्चय से तो निर्मल पर्याय षट्कारक से स्वयं से परिणमती है, उसे कारण और परकारक की-फारक की कोई अवश्यकता नहीं है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! जिसे निर्मल परिणति षट्कारक से परिणमती है, उसे द्रव्य की भी जहाँ अपेक्षा नहीं, उसे पर की अपेक्षा कहाँ से लाना? आहाहा!

निर्मल सम्यग्दर्शन, ज्ञान की पर्यायरूप से परिणमता प्रभु, षट्कारकरूप से, हों! वह पर्याय कर्ता, पर्याय कर्म, पर्याय साधन, पर्याय सम्प्रदान, स्वयं करके स्वयं ने रखी, पर्याय से पर्याय हुई और पर्याय के आधार से पर्याय हुई। आहाहा! द्रव्य के आधार से नहीं, द्रव्य से नहीं। आहाहा! तो पर की तो बात कहाँ करना? प्रभु! ऐसा उस पर्याय का सत् अहेतुक, आहाहा! यह यहाँ कहते हैं। **समस्त परभावों को हेय जाने, तब उसकी प्राप्ति की इच्छा नहीं होती।** हेय जाने, उसे पाना और प्राप्त करना, ऐसी इच्छा कहाँ से (होगी)?

कलश - १४६

अब आगामी गाथा का सूचक काव्य कहते हैं:-

(स्वागता)

पूर्वबद्धनिजकर्मविपाकाज्ज्ञानिनो यदि भवत्युपभोगः।
तद्भवत्वथ च रागवियोगात् नूनमेति न परिग्रहभावम् ।।१४६।।

श्लोकार्थ : [पूर्वबद्ध-निज-कर्म-विपाकात्] पूर्वबद्ध अपने कर्म के विपाक के कारण [ज्ञानिनः यदि उपभोगः भवति तत् भवतु] ज्ञानी के यदि उपभोग हो तो हो [अथ च] परन्तु [रागवियोगात्] राग के वियोग (-अभाव) के कारण [नूनम्] वास्तव में [परिग्रहभावम् न एति] वह उपभोग परिग्रहभाव को प्राप्त नहीं होता।

भावार्थ : पूर्वबद्ध कर्म का उदय आने पर उपभोगसामग्री प्राप्त होती है यदि उसे अज्ञानमय रागभाव से भोगा जाए तो वह उपभोग परिग्रहत्व को प्राप्त हो। परन्तु ज्ञानी के अज्ञानमय रागभाव नहीं होता। वह जानता है कि जो पहले बाँधा था वह उदय में आ गया और छूट गया है; अब मैं उसे भविष्य में नहीं चाहता। इस प्रकार ज्ञानी के रागरूप इच्छा नहीं है इसलिए उसका उपभोग परिग्रहत्व को प्राप्त नहीं होता।।१४६।।

कलश - १४६ पर प्रवचन

अब आगामी गाथा का सूचक काव्य कहते हैं:-

पूर्वबद्धनिजकर्मविपाकाज्ज्ञानिनो यदि भवत्युपभोगः।
तद्भवत्वथ च रागवियोगात् नूनमेति न परिग्रहभावम्।।१४६।।

भाषा देखो, **'निजकर्मविपाकात्'** समझाना है तो किस प्रकार समझावे? **'पूर्वबद्ध-निज-कर्म-विपाकात्'** तथा एक ओर कहना, अपने को कर्म नहीं, राग नहीं। परन्तु उसे समझाना है। पर का कर्म नहीं परन्तु तेरे पास पड़ा है उस कर्म से। भाई! समझाने में क्या करना? ज्ञानी को धर्म का भान हुआ, धर्म-समकित प्रगट हुआ, अनुभव हुआ तथापि **पूर्वबद्ध अपने कर्म के विपाक...** अज्ञानभाव से बँधे हुए जो कर्म वह अन्दर विपाक होकर आये। आहाहा! ऐसी बातें अब। आहाहा! यह तो अमरपुरी की बातें हैं। आहाहा! यह संसारपुरी की बातें नहीं। आहाहा!

पूर्वबद्ध अपने कर्म के विपाक के कारण... ज्ञानी को पूर्व में अज्ञानभाव से जो कर्म बँधे हुए हैं, उन्हें यहाँ निजकर्म (कहा)। (निजकर्म) अर्थात् किसी के कर्म नहीं परन्तु इसके क्षेत्रावगाह में रहे हुए कर्म, ऐसा। अज्ञानभाव से बँधे हुए पूर्व के। वर्तमान ज्ञानी को उसका फल आवे। **अपने कर्म के विपाक के कारण... 'ज्ञानिनः यदि उपभोगः भवति तत् भवतु'** आहाहा! **ज्ञानी के यदि उपभोग हो तो हो...** आहाहा! उसे राग हो तो हो, भले सामग्री भी हो तो हो। आहाहा! धर्मी को अन्दर निर्बलता के कारण राग आवे, छियानवें हजार स्त्रियाँ हों, लो! आहाहा! पूर्व के पाक के कारण राग आवे, कहते हैं। आहाहा! और वह उपभोग हो। आहाहा! एक ओर कहे कि ज्ञानी को राग का उपभोग नहीं है। यहाँ कहते हैं कि उसे राग आवे, उसका उपभोग मलिनपने हो, ज्ञातापने उसे जानता है। मलिन का वेदन है। आहाहा! निर्जरा की दूसरी गाथा में आया न? भाई! ऐसा कि ज्ञानी को भी कर्म का भाव सुख-दुःखरूप होता है परन्तु खिर जाता है। दूसरी गाथा में आता है। पहली गाथा में द्रव्यनिर्जरा (कही), दूसरी गाथा में भावनिर्जरा (कही)। अर्थात् कि कर्म का पाक आवे और अन्दर सुख-दुःख की कल्पना तो हो परन्तु वह कल्पना खिर जाती है।

आहाहा! गजब बातें, बापू! ओहोहो! 'ग्रन्थाधिराज तारामां भावो ब्रह्मांडना भर्या' समयसार की स्तुति में आता है न? 'ग्रन्थाधिराज तारामां'।

उस कल्पसूत्र को कहते हैं। भद्रबाहुस्वामी ने कल्पसूत्र बनाया, उसकी प्रतिज्ञा ले। कल्पसूत्र लाये न भाई अभी? कल्पसूत्र की महिमा लाये थे। भद्रबाहुस्वामी ने बनाया है। सब खबर है, भाई! प्रभु! हें? सब कल्पना। क्या करे? प्रभु! उसे दुःख हो। सारे ४५ शास्त्र कल्पित बनाये हैं वहाँ और... आहाहा! मुनि को वस्त्र लेना और कपड़े धोना... है? ऐसा करना। ऐसा पाठ आता है। एक 'निशितसूत्र' है। सब कण्ठस्थ किया था, उसमें ऐसा सब आता है। कपड़े धोना और सुखाना, उसे ऐसा करना। अरे! है? अरे प्रभु! मुनि को वस्त्र कैसा? अन्दर में जहाँ आनन्द का नाथ जागकर उठा और वीतरागभाव का अवलम्बन जहाँ (आया), आहाहा! उसे वस्त्र के टुकड़े के आलम्बन का राग कहाँ से आया? आहाहा! गृहस्थी में होता है। धर्मी को भान होने पर भी उसे राग होता है परन्तु उस राग को वास्तव में तो हेयरूप जानकर वह ज्ञायक रहता है। आहाहा! ऐसी बहुत कठिन शर्तें, बापू!

पूर्वबद्ध अपने... 'निज' है न? **'निज'**। स्वयं अर्थात् पूर्व में शुभ-अशुभभाव किया था, उसमें से बँधा हुआ कर्म। (उसके) **विपाक के कारण ज्ञानी के यदि उपभोग हो तो हो..** आहाहा! यह तो एक ज्ञान कराते हैं, हों! ऐसा राग का उपभोग हो तो हो। सामग्री का भी उपभोग हो तो हो। आहाहा! **परन्तु राग के वियोग के कारण...** अपनेपने की मान्यता के अभाव के कारण, यह मेरा है—ऐसा नहीं। आहाहा! सर्प को पकड़ा होता है, वह छोड़ने के लिये। पकड़ते हैं न ऐसे? संडासी न हो तो एकदम हाथ में पकड़ना पड़े। होशियार मनुष्य हो तो ऐसा करके ऊँचा कर डाले। जहर न कर सके। परन्तु उसे पकड़ा है, वह छोड़ने के लिये (पकड़ा है)। उसी प्रकार ज्ञानी को राग आता है, वह छोड़ने के लिये है, रखने के लिये नहीं। आहाहा! समझ में आया?

ज्ञानी के यदि उपभोग हो तो हो परन्तु... उसका आदर अर्थात् **राग के वियोग के कारण...** उसे आदर का वियोग है, उसका आदर नहीं है। आहाहा! **राग के वियोग के कारण...** आहाहा! अर्थात् कि वह मेरा है, ऐसे भाव के अभाव के कारण। आहाहा! **वास्तव में... 'नूनम्'** है न? **'नूनम्'** अर्थात् निश्चय। निश्चय से—वास्तव में **वह उपभोग**

परिग्रहभाव को प्राप्त नहीं होता। वह राग का और संयोगी चीज़ का वह परिग्रह अपनेरूप है, ऐसा नहीं मानता। आहाहा! ज्ञानी का भोग निर्जरा का हेतु है, ऐसा कहा है न? वह तो किस अपेक्षा से? भोग है, वह राग है, दुःख है। उतनी दशा भी दुःख है, परन्तु दृष्टि के जोर में उसका आदर नहीं, उसका प्रेम नहीं और आ गया है, इसलिए उसे—भोग को निर्जरा कहा है। यदि भोग से निर्जरा होवे तो फिर भोग छोड़कर चारित्र लेना, वह तो रहता नहीं। हैं? वह भोग, भोग में ही रहा करे। ऐसा नहीं है, बापू! किस अपेक्षा से कहा? उसे दृष्टि के जोर में उसका आदर नहीं है, उसका स्वीकार नहीं है, इसलिए उसे भोग निर्जरा का कारण कहा है। बाकी जितना भोग है, उतना तो राग है और उतना तो बन्धन है। ज्ञानी को उतना राग और बन्धन है। आहाहा! ऐसा कर डाले कि उसे कुछ राग नहीं, तब तो वीतराग हो गया हो। आहाहा!

यहाँ तो ज्ञानी को **'उपभोगः भवति तत् भवतु'** हो तो हो, ऐसा कहते हैं। है न? यह तो ज्ञान कराया है। भोग हो, ऐसा स्वीकार कराना है? उसे होता है, वह जाननेयोग्य है। परन्तु मेरेपन के भाव के अभाव के कारण **वास्तव में वह उपभोग परिग्रहभाव को प्राप्त नहीं होता।** निश्चय से वह राग और बाह्य सामग्री मेरी है, वैसा भाव नहीं होता। आहाहा!

यह तो अपने आ गया न, पहले? मुनि का। असाता के उदय के कारण क्षुधा होती है, वीर्यान्तरा कर्म के कारण सहन नहीं होता, चारित्रमोह के कारण इच्छा होती है परन्तु वे तीनों हेय, रोग-समान हैं। ऐसा आया न? आहाहा! ज्ञानी को राग, वह रोग समान है। आहाहा! आ गया न पहले? रोग समान है, मिटाना चाहता है, इच्छा के प्रति इच्छा ज्ञानी को नहीं है। मेरी यह इच्छा सदा रहो, ऐसा भाव है उसे? तीन लोक का नाथ सदा मेरे अनुभव में रहो, ऐसा है। आहाहा! यह अन्त में आता है न? भविष्य की आवलीकाएँ मेरे अनुभव में रहो। आहाहा! अन्तिम श्लोक आता है। मेरा प्रभु अनुभवुं, उस अनुभव में सदा सादि अनन्त रहूँ परन्तु उसे राग की भावना नहीं होती। आहाहा! अज्ञानमय इच्छा का अभाव है। ज्ञानी के परजन्य इच्छा का स्वामीपना नहीं है। आहाहा! इसलिए इच्छा का ज्ञायक है। इसी प्रकार इस उपभोग के राग का भी, सामग्री का भी वह ज्ञायक—जाननेवाला है। मुझे सामग्रियाँ मिलीं, छियानवें हजार स्त्रियाँ और यह इन्द्रपद (मिला), ऐसा वह नहीं

मानता। आहाहा! इन्द्र समकिती है, शकेन्द्र एकावतारी है। मनुष्य होकर मोक्ष जानेवाला है। करोड़ों अप्सराएँ हैं। वे मेरे नहीं, मेरे नहीं। निर्बलता के कारण से राग आता है परन्तु वह मेरा स्वरूप नहीं। आहाहा!

भावार्थ : पूर्वबद्ध कर्म का उदय आने पर उपभोगसामग्री प्राप्त होती है... धर्मी को भी चक्रवर्ती का राज मिले। आहाहा! इन्द्रपद मिले। **यदि उसे अज्ञानमय रागभाव से भोगा जाए...** आहाहा! वे मेरे हैं, ऐसे अज्ञानभाव से **भोगा जाए तो वह उपभोग परिग्रहत्व को प्राप्त हो।** तो वह सामग्री और सामग्री का भाव—राग परिग्रहपने को प्राप्त हो। **परन्तु ज्ञानी के अज्ञानमय रागभाव नहीं होता।** उस राग का मेरापना जिसे दृष्टि में से छूट गया है। आहाहा! चक्रवर्ती को... आहाहा! स्फटिक रत्न के तो जिसे महल होते हैं, मकान स्फटिक रत्न के, हों! एक स्फटिक की करोड़ों की (कीमत), यह टाईल्स है, वह स्फटिक की टाईल्स उसके होती है। पूर्व के पुण्य के कारण आवे, कहते हैं, हो! और उस ओर का जरा राग हो तो हो, परन्तु आदर नहीं है। आहाहा! ऐसी बातें! आहाहा!

यह 'नोखावली' में नहीं हुआ? मुसलमान। माता चालीस वर्ष की, बीस वर्ष का जवान लड़का। उन्हें नग्न करके दोनों को भिड़ावे, ऐसा। उस लड़के और माँ को क्या होता होगा? दिखाव तो ऐसा होता है। अरे! यदि जमीन मार्ग दे तो समा जाएँ परन्तु यह हम देख नहीं सकते। लड़के की इन्द्रिय नहीं देख सकते, माँ की इन्द्रिय नहीं देख सकते। आहाहा! इसी प्रकार ज्ञानी को राग और पर सामग्री आवे परन्तु वह मेरी है, ऐसा नहीं देख सकते। आहाहा! हमारी नजर वहाँ से उठ गयी है। आहाहा! 'नोखावली' में हुआ था। गाँधीजी गये थे। मुसलमान बहुत करते थे। दो सगे भाई-बहिन को नग्न करके एक-दूसरे को मिलावे। अरर! अन्दर से त्रास... त्रास... ऐसा कहते हैं कि यहाँ उपभोग मिला और राग हुआ तो उसका उसे त्रास है। आहाहा! उसमें उसे खेद है, दुःख है। आहाहा!

अज्ञानमय रागभाव से भोगा जाए तो वह उपभोग परिग्रहत्व को प्राप्त हो। परन्तु ज्ञानी के अज्ञानमय रागभाव नहीं होता। अर्थात् कि राग मेरा है, ऐसा भाव नहीं है। मेरा तो वीतरागस्वभाव, वह मेरा है। आहाहा! **वह जानता है कि जो पहले बाँधा था, वह उदय में आ गया और छूट गया है;...** उसमें उसे रस नहीं है। रस अर्थात् कि

एकाकार होना, ऐसा नहीं है। रस की व्याख्या यह है। स्वरूप में एकाकार है, इस ज्ञान का- आत्मा का रस है। राग में एकाकार नहीं, इसलिए उसका रस नहीं। पहले अध्याय में आता है, समयसार में नव रस की व्याख्या शुरुआत में आती है न? वहाँ रस अर्थात् क्या? इसका अर्थ वहाँ किया है। पहले शुरुआत में। एकाकार होना। ज्ञानी को आत्मा के आनन्द का रस है, राग का रस नहीं है। आता है, होता है। आहाहा! स्वामीपना नहीं है। आहाहा! पूर्व में बाँधा था, वह खिर गया।

अब मैं उसे भविष्य में नहीं चाहता। आहाहा! ऐसा रहना, राग और यह सामग्री मिलना, ऐसी भविष्य की भावना भगवान आत्मा को नहीं होती। आहाहा! धर्मी आत्मा। **इस प्रकार ज्ञानी के रागरूप इच्छा नहीं है, इसलिए उसका उपभोग परिग्रहत्व को प्राप्त नहीं होता।** यह वर्तमान की बात की। आहाहा! **इस प्रकार ज्ञानी के रागरूप...** वर्तमान राग और वर्तमान सामग्री की **इच्छा नहीं है, इसलिए उसका उपभोग परिग्रहत्व को प्राप्त नहीं होता।** अब वह वर्तमान नहीं है, ऐसे तीनों काल नहीं है, इस बात की गाथा कहेंगे। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा - २१५

उप्पण्णोदय-भोगो वियोग-बुद्धीए तस्स सो णिच्चं।
कंखा-मणागदस्स य उदयस्स ण कुव्वदे णाणी ।।२१५।।

उत्पन्नोदयभोगो वियोगबुद्ध्या तस्य स नित्यम्।
कांक्षामनागतस्य च उदयस्य न करोति ज्ञानी ।।२१५।।

कर्मोदयोपभोगस्तावत् अतीतः प्रत्युत्पन्नोऽनागतो वा स्यात्। तत्रातीतस्तावत् अतीतत्वादेव स न परिग्रहभावं बिभर्ति। अनागतस्तु आकांक्ष्यमाण एव परिग्रहभावं बिभृयात्। प्रत्युत्पन्नस्तु स किल रागबुद्ध्या प्रवर्तमान एव तथा स्यात्। न च प्रत्युत्पन्नः कर्मोदयोपभोगो ज्ञानिनो रागबुद्ध्या प्रवर्तमानो दृष्टः, ज्ञानिनोऽज्ञानमयभावस्य रागबुद्धेरभावात्। वियोगबुद्ध्यैव केवलं प्रवर्तमानस्तु स किल न परिग्रहः स्यात्। ततः प्रत्युत्पन्नः कर्मोदयोपभोगो ज्ञानिनः परिग्रहो न भवेत्।

अनागतस्तु स किल ज्ञानिनो नाकांक्षित एव, ज्ञानिनोऽज्ञानमयभावस्याकांक्षाया अभावात्। ततोऽनागतोऽपि कर्मोदयोपभोगो ज्ञानिनः परिग्रहो न भवेत्।।२१५।।

अब, यह कहते हैं कि ज्ञानी के त्रिकाल सम्बन्धी परिग्रह नहीं है:-

सांप्रत उदय के भोग में जु वियोबुद्धी ज्ञानि के।
अरु भावि कर्मविपाक की, कांक्षा नहीं ज्ञानी करे।।२१५।।

गाथार्थ : [उत्पन्नोदयभोगः] जो उत्पन्न (वर्तमान काल के) उदय का भोग है [सः] वह, [तस्य] ज्ञानी के [नित्यम्] सदा [वियोगबुद्ध्या] वियोगबुद्धि से होता है [च] और [अनागतस्य उदयस्य] आगामी उदय की [ज्ञानी] ज्ञानी [कांक्षाम्] वांछा [न करोति] नहीं करता।

टीका : कर्म के उदय का उपभोग तीन प्रकार का होता है-अतीत, वर्तमान और भविष्य काल का। इनमें से पहला, जो अतीत उपभोग है, वह अतीतता (व्यतीत हो चुका होने) के कारण ही परिग्रहभाव को धारण नहीं करता। भविष्य का उपभोग यदि वांछा में आता हो तो ही वह परिग्रहभाव को धारण करता है; और जो वर्तमान उपभोग है, वह यदि रागबुद्धि से हो रहा हो तो ही परिग्रहभाव को धारण करता है।

वर्तमान कर्मोदय उपभोग ज्ञानी के रागबुद्धि से प्रवर्तमान दिखाई नहीं देता क्योंकि ज्ञानी के अज्ञानमयभाव जो रागबुद्धि उसका अभाव है; और केवल वियोगबुद्धि (हेयबुद्धि) से ही प्रवर्तमान वह वास्तव में परिग्रह नहीं है। इसलिए वर्तमान कर्मोदय-उपभोग ज्ञानी के परिग्रह नहीं है (-परिग्रहरूप नहीं है)।

अनागत उपभोग तो वास्तव में ज्ञानी के वांछित ही नहीं है (अर्थात् ज्ञानी को उसकी इच्छा ही नहीं होती) क्योंकि ज्ञानी के अज्ञानमय भाव-वांछा का अभाव है। इसलिए अनागत कर्मोदय-उपभोग ज्ञानी के परिग्रह नहीं है (-परिग्रहरूप नहीं है)।

भावार्थ : अतीत कर्मोदय-उपभोग तो व्यतीत ही हो चुका है। अनागत उपभोग की वाँछा नहीं है; क्योंकि ज्ञानी जिस कर्म को अहितरूप जानता है, उसके आगामी उदय के भोग की वांछा क्यों करेगा? वर्तमान उपभोग के प्रति राग नहीं है; क्योंकि वह जिसे हेय जानता है, उसके प्रति राग कैसे हो सकता है? इस प्रकार ज्ञानी के जो त्रिकाल सम्बन्धी कर्मोदय का उपभोग है, वह परिग्रह नहीं है। ज्ञानी वर्तमान में जो उपभोग के साधन एकत्रित करता है, वह तो जो पीड़ा नहीं सही जा सकती, उसका उपचार करता है-जैसे रोगी रोग का उपचार करता है। यह, अशक्ति का दोष है।

प्रवचन नं. २९४, गाथा-२१५, २१६, रविवार, भाद्र शुक्ल ४
दिनाङ्क २६-०८-१९७९

निर्जरा अधिकार है, भाई! जिसकी दृष्टि प्रथम राग से भिन्न पड़ी। भगवान पूर्णानन्दस्वरूप की अन्तर्दृष्टि होकर निर्विकल्प अनुभव होना, यह पहला कर्तव्य है। आहाहा! यह ज्ञानी किसे कहना, उसकी व्याख्या है। **अब, ज्ञानी के...** शब्द पड़ा है न? ज्ञानी किसे कहना? भाई! आहाहा! बहुत जानपना हो, वह यहाँ प्रश्न नहीं है। यहाँ तो अब बाद के श्लोक में कहेंगे। वेद्य-वेदक का कहेंगे। विद्वान। है? श्लोक है या नहीं? १४७ श्लोक है न? १४७ श्लोक में तीसरे पद में विद्वान (लिखा है)। श्लोक, हों! कलश, कलश। १४७ कलश है और उसमें 'विद्वान' शब्द प्रयोग किया है। तीसरा पद है। विद्वान अर्थात् कि आत्मज्ञान है, वह विद्वान है। आहाहा!

आत्मा अखण्डानन्द प्रभु, आहाहा! शुद्ध चैतन्यघन, उसका जिसे अन्तर में सम्यग्दर्शन

में, सम्यग्ज्ञान में आदर हुआ है, उसे यहाँ विद्वान कहा जाता है। आहाहा! उसे यहाँ ज्ञानी कहा जाता है। यह शब्द है न? **अब, ज्ञानी के...** यह शब्द है न? आहाहा! जिसे आत्मा आनन्द का कन्द प्रभु, उसकी जिसे दृष्टि हुई है। आहाहा! वही पहला कर्तव्य और करनेयोग्य है। आहाहा! **ज्ञानी के त्रिकाल सम्बन्धी परिग्रह नहीं है...** परिग्रह जहाँ ज्ञायकभाव का परिग्रह पकड़ा... आहाहा! उसे तीनों काल के दूसरे पदार्थ का परिग्रह नहीं है। आहाहा! **ज्ञानी के त्रिकाल...** वर्तमान, भूत और भविष्य तीनों काल में, तीनों काल का, त्रिकाली भगवान ज्ञायकभाव की दृष्टि होने से उसकी उसे पकड़ और परिग्रह होने से पर का परिग्रह उसे नहीं है। आहाहा! यह बात कहते हैं। है न? आहाहा! २१५।

उप्पण्णोदय-भोगो वियोग-बुद्धीए तस्स सो णिच्चं।
कंखा-मणागदस्स य उदयस्स ण कुव्वदे णाणी।।२१५।।

सांप्रत उदय के भोग में जु वियोबुद्धी ज्ञानि के।
अरु भावि कर्मविपाक की, कांक्षा नहीं ज्ञानी करे।।२१५।।

आहाहा! **टीका - कर्म के उदय का उपभोग तीन प्रकार का होता है...** है। यह मूल रकम है, भाई! आहाहा! जिसे आत्मा पूर्णानन्द का नाथ है, ऐसा प्रतीति में आया है, जिसका भरोसा पूर्णानन्द परमात्मा हूँ—ऐसा अनुभव होकर भरोसा हुआ है... आहाहा! ऐसे धर्मी जीव को **कर्म के उदय का उपभोग तीन प्रकार का होता है...** यह तीन प्रकार का नहीं है, ऐसा कहकर पहले समझाते हैं। आहाहा!

अतीत, (व्यतीत हो चुका काल)... परिग्रह। वर्तमान का परिग्रह (और) अनागत का। **इनमें से पहला, जो अतीत उपभोग है...** भूतकाल का उपभोग तो बीत गया है। **वह अतीतता (व्यतीत हो चुका होने) के कारण ही परिग्रहभाव को धारण नहीं करता।** अब वह तो गया है, उसे परिग्रहपना अभी (नहीं है)। आहाहा! अब रही बात वर्तमान और भविष्य, **भविष्य का उपभोग यदि वांछा में आता हो...** आहाहा! भविष्य का उपभोग (यदि) वाँछा की जाती हो तो ही परिग्रह होता है। **तो ही वह परिग्रहभाव को धारण करता है;...** आहाहा! यह तो सीधा पहले न्याय रखते हैं।

और जो वर्तमान... (अर्थात्) वर्तमान है। **वह यदि रागबुद्धि से हो रहा हो**

तो ही परिग्रहभाव को धारण करता है। तीन प्रकार कहे। भूतकाल का परिग्रह था, व्यतीत हो गया; इसलिए अब वह है नहीं। यदि भविष्य की वाँछा करे तो वह परिग्रहपने को पावे। वर्तमान में भी **वर्तमान उपभोग है, वह यदि रागबुद्धि से हो रहा हो...** आहाहा! **तो ही परिग्रहभाव को धारण करता है।** तीन न्याय समझ में आये? फिर क्या है, वह बाद में कहेंगे।

धर्मी जीव को आत्मा के आनन्द का नाथ प्रभु है, आहाहा! ऐसी जिसे अन्दर प्रतीति, विश्वास, वेदन—अनुभव सम्यग्दर्शन की पहली दशा (प्रगट) हुई है.... आहाहा! उसे तीन प्रकार का परिग्रह (नहीं है)। जो भूतकाल का था, वह बीत गया है, इसलिए वह परिग्रहपने को प्राप्त नहीं होता। भविष्य की वाँछा करे तो परिग्रहपने को पाता है और वर्तमान में... आहाहा! रागबुद्धि से प्रवर्ते तो परिग्रहपने को पाता है, यह तीन सिद्धान्त रखे हैं। आहाहा!

अब दूसरा पैराग्राफ। यह तीन तो सिद्धान्त कहे कि धर्मी को गत काल का परिग्रह तो परिग्रहपने को पाता नहीं, क्योंकि है नहीं। भविष्य का परिग्रह वाँछा करे तो परिग्रहपने को पावे। वर्तमान परिग्रह—राग बुद्धि करे, राग (रूप) प्रवर्ते तो परिग्रहपने को पावे। आहाहा! **वर्तमान कर्मोदय उपभोग...** अर्थात् वर्तमान। **कर्मोदय उपभोग ज्ञानी के रागबुद्धि से प्रवर्तमान दिखाई नहीं देता...** आहाहा! वर्तमान उपभोग राग का आदर होकर देखने में आता नहीं, कहते हैं। आहाहा! जहाँ भगवान ज्ञायकस्वरूप का आदर है, वहाँ रागबुद्धि से ज्ञानी को उपभोग देखने में नहीं आता, कहते हैं। आहाहा! समझ में आया?

वर्तमान कर्मोदय उपभोग... धर्मी को **रागबुद्धि से प्रवर्तमान दिखाई नहीं देता...** यह मेरे हैं, ऐसी मान्यता से उसकी प्रवृत्ति नहीं है। आहाहा! राग की रुचि से प्रवर्तता नहीं दिखता। आहाहा! ऐसा मार्ग। **क्योंकि ज्ञानी के अज्ञानमयभाव...** आहाहा! **जो रागबुद्धि उसका अभाव है;...** राग की रुचि का प्रेम, वह तो अज्ञानभाव है। उसका तो उसे अभाव है। आहाहा! **ज्ञानी के अज्ञानमयभाव जो रागबुद्धि...** राग का रस और प्रेम। आहाहा! वह अज्ञानभाव तो उड़ गया है, कहते हैं। उसका उसे अभाव है। आहाहा! समझ में आया? प्रभु! यह बात ऐसी है, भगवान! आहाहा!

वर्तमान में ज्ञानी को रागबुद्धि से अर्थात् आदरबुद्धि से प्रवर्तता उपभोग दिखायी नहीं देता। आहाहा! **ज्ञानी के अज्ञानमयभाव जो रागबुद्धि उसका अभाव है;...** इसलिए रागबुद्धि से प्रवर्तता देखने में नहीं आता। आहाहा! समझ में आया? ऐसा मार्ग। आहाहा! तीन तो पहले बात की। अब तीन की वास्तविकता बताते हैं कि प्रत्युत्पन्न जो भोग है... आहाहा! वह रागबुद्धि से अर्थात् राग की रुचि से, राग के स्वीकार से वर्तमान भोग नहीं दिखायी देता। आहाहा! समझ में आया? कारण? दिखायी नहीं देता, उसका कारण? धर्मी को अज्ञानमय भाव (जो) राग। राग तो अज्ञानमय है, प्रभु तो आनन्द और ज्ञानमय है। आहाहा! ओहोहो! ऐसी जिसकी दृष्टि हुई है कि मैं तो चैतन्य आनन्द ज्ञानमय हूँ, ज्ञायक हूँ, ऐसा जहाँ स्वीकार अन्दर अनुभव में (हुआ है), उसे वर्तमान भोग रागबुद्धि से प्रवर्तता दिखायी नहीं देता। कारण? कारण? रागबुद्धि, वह अज्ञानभाव है, उसका उसे अभाव है। आहाहा! यह शैली तो देखो! उसकी श्रद्धा में तो पहले निर्णय करे। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! क्या शैली? क्या वस्तु की स्थिति की मर्यादा के कथन! ओहोहो!

धर्मी को आत्मा तत्त्व है, वह चिह्नया है, अनुभव किया है, जाना है; इसलिए उसे कर्मोदय का वर्तमान उपभोग सामग्री, शरीर, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, पैसा, इज्जत-कीर्ति इत्यादि उसे मेरेपने प्रवर्तता देखने में नहीं आता। आहाहा! कारण? मेरेपने देखने में नहीं आता, इसका कारण?—कि राग में अपनेपने की बुद्धि जिसे उड़ गयी है। आहाहा! देखो तो सिद्धान्त! आहाहा! समझ में आया?

यह भावनगर के विवाद का कल पत्र आया है। वह शोभा देता है भावनगरवालों को? ऐसे तीन व्यक्ति मुख्य लोग, उनका अनादर और उन्हें अलग होना पड़ा। ऐसी दशा, ऐसा मार्ग मिला उसे यह? आहाहा! लालचन्दभाई! लालचन्दभाई को उसमें कहीं पड़ना पड़ेगा। तुम्हारा मित्र है। तीन तो भले आदमी हैं। तीन को स्वयं को भिन्न होना पड़ा बेचारों को। आहाहा! हम तो पत्र पढ़कर... किसी मुमुक्षु का पत्र है। नाम नहीं है, नाम नहीं है, नाम नहीं है। किसका नाम है, उसके नाम भी दिये हैं। अरे! दोष किसका? प्रभु! यह क्या है यह?

भगवान! तू तो ज्ञाता-ज्ञायक है न? नाथ! आहाहा! उस ज्ञायक को वर्तमान में भोग की वाँछा हो तो उसे परिग्रहपना (होता है), उसे रागपना तो अज्ञानभाव है। आहाहा! रागबुद्धि से प्रवर्तता दिखायी नहीं देता, आचार्य ऐसा कहते हैं, भाई! आहाहा! कारण? रागभाव से—बुद्धि से—रागबुद्धि से **प्रवर्तमान दिखाई नहीं देता...** आहाहा! धर्मी को तो अज्ञानमय भाव, रागबुद्धि का तो अभाव है। आहाहा! राग, वह तो अज्ञानभाव है। उसमें मेरेपन का तो अभाव है। आहाहा! क्या शैली! आहाहा! गजब बात है। वस्तु की प्रसिद्ध करने की (पद्धति), इसका नाम आत्मख्याति है न? संस्कृत टीका आत्मख्याति है। आत्मा की प्रसिद्धि की रीति कोई अलौकिक है। आहाहा!

धर्मी जीव उसे कहते हैं कि जिसे वर्तमान भोग रागबुद्धि से नहीं प्रवर्तते। आहाहा! क्योंकि राग तो अज्ञानमय भाव है। उसकी बुद्धि ज्ञानी को नहीं होती। आहाहा! एक बात। दूसरी बात, **और केवल वियोगबुद्धि (हेयबुद्धि) से ही प्रवर्तमान...** दिखता है। आहाहा! रागबुद्धि से प्रवर्तता नहीं दिखता, इसका कारण कि रागबुद्धि, वह अज्ञानभाव है, उसका अभाव है। दूसरा, कि केवल वियोगबुद्धि से प्रवर्तता दिखायी देता है। आहाहा! राग में वियोग बुद्धि से प्रवर्तता दिखायी देता है। आहाहा! स्वभाव की आदरबुद्धि से दिखायी देता है, कहते हैं। आहाहा! अरे! यह बात कहाँ मिले? प्रभु! आहाहा! ऐसा मार्ग।

केवल वियोगबुद्धि से... केवल वियोगबुद्धि से। जैसे दुश्मन का वियोग चाहे, वैसे राग का वियोगबुद्धि से भाव है। आहाहा! राग का रसबुद्धि से भाव नहीं है। आहाहा! आत्मा के आनन्द के रसबुद्धि से राग की रसबुद्धि उड़ गयी है। आहाहा! अमृतचन्द्राचार्य ने तो अमृत बहाया है। आहाहा! ऐसे सन्तों का विरह पड़ा। ऐसे काल में ऐसे सन्त और ऐसी (बात)। आहाहा!

भूतकाल का परिग्रह तो नहीं, इसलिए कि उसकी कुछ रागबुद्धि परिग्रहपना नहीं है। वर्तमान में है, वह वाँछा हो तो परिग्रह है, ऐसा पहले सिद्धान्त कहा। भविष्य की भी वाँछा, वर्तमान रागबुद्धि से प्रवर्ते तो उसका परिग्रह गिना जाए। भविष्य की वाँछा होवे तो उसे परिग्रह गिना जाए। अब कहते हैं कि वर्तमान में, आहाहा! रागबुद्धि से प्रवर्तता देखने में नहीं आता। आहाहा! हम तो ऐसा कहते हैं, (ऐसा) मुनिराज कहते हैं और हम ऐसा

जानते हैं। राग की बुद्धि से धर्मी को राग का रस—अज्ञानभाव का अभाव होने से रागबुद्धि से प्रवर्तता हमें दिखायी नहीं देता। हमारा भाव भी हमें रागबुद्धि से दिखायी नहीं देता। आहाहा! अरे! ऐसा मार्ग। आहाहा! इसकी हाँ पाड़कर रुचि करे तो अन्दर आगे बढ़ जाए। आहाहा! ऐसा मार्ग मुश्किल से मिला। आहाहा! है? (श्रोता—अपूर्व)। आहाहा!

अरे! सवेरे जरा हो गया था कि रामजीभाई का पहला जन्मदिन, पहला दूध क्यों नहीं लाये? खबर है? बहिनों को जरा कहा, क्यों नहीं लाये? ऐसा कहा। रामजीभाई ने नहीं सुना होगा। सबेरे भाई दूध आया न दूध। उसमें पहले तुम्हारा आना चाहिए, ऐसा मुझे लगा। बाद में... बाद में... लाये। मैंने बहिनों को कहा। पहले दूसरे आये। पहले रामजीभाई आना चाहिए। उनके लोग ऐसे ढीले अभी, मैंने कहा था, बहिनों को कहा था। यह क्या करते हो? आहाहा!

यहाँ तो परमात्मा... सन्तों का परमात्मा ही है। आहाहा! परम आत्मा है। इस जगत के धर्मी जीवों की स्थिति क्या होती है, उसका वर्णन अपने अनुभव से कहते हैं। आहाहा! धर्मी को... आहाहा! अज्ञानमय भाव जो रागबुद्धि, उसका अभाव है, इसलिए रागबुद्धि से प्रवर्तता दिखायी नहीं देता। आहाहा! **और केवल वियोगबुद्धि से ही प्रवर्तमान...** राग की भी हेयबुद्धि से प्रवर्तता दिखायी देता है। आहाहा! उसकी उपादेयबुद्धि टल गयी है। आहाहा! भगवान आत्मा को जहाँ उपादेयरूप से जाना, उसने राग को हेयबुद्धि से टाला है। आहाहा! और जिसने राग की उपादेयबुद्धि की, उसने भगवान आत्मा का अनादर, हेय किया। यह क्या कहा? जिसने वर्तमान राग की उपादेयबुद्धि की, उसने भगवान अनाकुल आनन्द का नाथ, उसने हेय किया। आहाहा! और जिसने भगवान ज्ञायकमूर्ति उपादेयरूप से जाना, उसे राग हेयबुद्धि से प्रवर्तता है। आहाहा!

अरे! यह अवसर कहाँ है? भाई! देखो न! इस मोरबी में कितना (हो गया)? आहाहा! वह बहिन थी, नहीं? बेचारी अपंग। दलीचन्दभाई के छोटे भाई। उस बेचारी को ऊपर चढ़ाया। ऊपर यहाँ तक पानी आया, अन्त में बह गये, मर गये। खेंच लिया (मुर्दा) हो गया। आहाहा! ऐसी स्थिति, बापू! आहाहा! ऐसा करने का तो यह है।

धर्मी जीव की कैसी बुद्धि होती है, यह पहला यहाँ वर्णन करते हैं। धर्मी रागबुद्धि

से नहीं प्रवर्तता होता है, क्योंकि राग, वह अज्ञानमय भाव है, उसका उसे अभाव है और ज्ञानमय भाव ऐसा भगवान, उसका उसे सद्भाव है। आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म पड़े, परन्तु मार्ग यह है। आहाहा! **केवल वियोगबुद्धि से...** रागबुद्धि का अभाव है, यह तो सिद्धान्त कहा और केवल वियोगबुद्धि से, राग है अवश्य। हें? आहाहा! परन्तु वियोगबुद्धि से—आहाहा! हेयबुद्धि से। आहाहा! चाहे तो शुभ प्रशस्त राग हो, धर्मी को हेयबुद्धि से प्रवर्तता है। आहाहा! समझ में आया? **(हेयबुद्धि) से ही प्रवर्तमान वह वास्तव में परिग्रह नहीं है।** आहाहा! राग को हेयबुद्धि से प्रवर्तता देखे, उसे परिग्रह कहाँ से आया? आहाहा! उसे राग का और पर का परिग्रह कहाँ है? आहाहा! **इसलिए वर्तमान कर्मोदय-उपभोग...** इस कारण से वर्तमान में मिले हुए कर्म के उदय से हुआ राग और सामग्री, उनके प्रति उपभोग ज्ञानी को परिग्रह नहीं है। आहाहा! समझ में आया? अब अनागत रहा, भविष्य।

अनागत उपभोग तो वास्तव में ज्ञानी के वांछित ही नहीं है... भविष्य में मुझे यह भोग मिले और अनुभव करूँ, ऐसा भाव ज्ञानी को तो होता नहीं। आहाहा! **(अर्थात् ज्ञानी को उसकी इच्छा ही नहीं होती)...** भविष्य में भोग की, राग की अनुकूलता मिले, इसकी वाँछा ही नहीं है। आहाहा! भविष्य में तो मैं केवलज्ञान को पाऊँ, ऐसी भावना में यह भावना उसे नहीं होती। समझ में आया? भविष्य में मैं तो केवलज्ञान को पाऊँ, वह सादि-अनन्तपने (रहूँ), ऐसी जिसे भावना है, उसे भविष्य के भोग की वाँछा नहीं होती। आहाहा! देखो! यह सन्तों की कथनी! ऐसी बात दिगम्बर सन्तों के अतिरिक्त कहीं नहीं है, परन्तु उनके माननेवालों को ही खबर नहीं। कान्तिभाई! आहाहा! ऐसी बात!

चैतन्य सूर्य जहाँ उदित हुआ, उसे राग के अन्धकार का आदर कैसे होगा? कहते हैं। आहाहा! चैतन्य सूर्य के प्रकाश में... आहाहा! वह राग का अन्धकार कैसे होगा? आहाहा! राग अन्धकार है, अजीव है, जड़ है। आहाहा! समझ में आया? वह अनागत-भविष्य का उपभोग... बहुत ऊँची बात, सरस, मीठी, मधुर बात है, हों! ऐसा नहीं समझ में आता, ऐसा नहीं है। वस्तु की स्थिति ऐसी है, उसका यह ज्ञान तो करे। आहाहा! ज्ञान में तो निर्णय करे कि मार्ग तो यह है। आहाहा।

अनागत उपभोग तो वास्तव में ज्ञानी के वांछित ही नहीं है (अर्थात् ज्ञानी को उसकी इच्छा ही नहीं होती)... आहाहा! वर्तमान राग की बुद्धि से (न) प्रवर्ते, उसे भविष्य के राग की इच्छा कहाँ से होगी कि अनुकूलता मिलना और यह मिलना और यह मिलना। आहाहा! आहाहा! अमृत बहाया है। परम सत्य की वाणी का प्रवाह है। आहाहा! 'वेणला भले वाव्या' महिलाएँ नहीं गाती वह विवाह के समय? वहाँ वेणला कहाँ था, वहाँ तो सब अन्धकार है। यह विवाह करे तब गाते हैं न? यह वेणला वाया अन्दर हैं, कहते हैं।

भगवान चैतन्यसूर्य का प्रकाश हुआ, ऐसे धर्मी को वर्तमान भोग हेयबुद्धि से वर्ते, उसे भविष्य की वांछा नहीं होती। वर्तमान ही जहाँ हेयबुद्धि से वर्ते वहाँ भविष्य की वांछा कहाँ से होगी? आहाहा! देखो! यह सम्यग्दृष्टि की दशा! यह सम्यग्दृष्टि की भूमिका! आहाहा! समझ में आया?

क्योंकि ज्ञानी के अज्ञानमय भाव-वांछा... आहाहा! उसमें वर्तमान था, (वहाँ) 'अज्ञानमय भाव जो रागबुद्धि', ऐसा था। इसने **अज्ञानमय भाव-वांछा का अभाव है।** आहाहा! यह श्रुतज्ञान और मतिज्ञान जो सम्यक् हुआ, वह केवलज्ञान को झंखता है, केवलज्ञान को बुलाता है। धवल में पाठ है, केवलज्ञान को बुलाता है। आहाहा! वह केवलज्ञान को बुलावे, वह मतिज्ञान भविष्य के भोग की वांछा किस प्रकार करेगा? आहाहा! सुमनभाई! यहाँ सब ऐसा है। आहाहा! मीठा महेरामण आत्मा जहाँ जागता है। आहाहा!

महेरामण माझा न मूके, आता है न उसमें? चेलैयो सत न चूके, ऐसी बात अन्य में आती है। बाबा आया, वह ऐसा कहे कि तेरे लड़के का मुझे आहार लेना है। ऐसी बात उन लोगों में आती है। पोरबन्दर के पास गाँव है, वहाँ वह कहे कि मेरा लड़का पढ़ने गया है। यह सुना है, वहाँ है। वह गाँव कौन सा? 'विलखा... विलखा', सच्ची बात है। नाम भूल जाते हैं 'विलखा' में खबर है। आहाहा! उस चेला को-लड़के की खबर पड़ती है कि घर में मेरा पिता मुझे बुलाता है तो वह ऐसा बोलता है, 'महेरामण माझा न मूके, चेलैयो सत् न चूके' मैं वहाँ जानेवाला हूँ, भले टुकड़े करे। आहाहा!

इसी प्रकार भगवान आत्मा महेरामण—मीठा महेरामण आनन्द से उछला, उसे

भविष्य के राग की वांछा कैसे होगी ? आहाहा ! समझ में आया ? मार्ग, बापू ! अभी तो बाहर में बहुत फेरफार कर डाला, प्रभु ! उसकी पद्धति और उसकी रीति और उसका पहलू क्या है ? धर्मी का पहलू तो आत्मा है, राग के पहलू से तो छूट गया है। आहाहा ! उसने पहलू बदल डाला है, भाई ! आहाहा ! दायीं करवट सो रहा हो और फिर बहुत ऐसा लगे तो बायीं करवट सोवे। अधिक तो दायें सोने की आदत होती है। वहाँ भी थक जाए तो बायीं करवट आवे। यह भी दायें पहलू में अज्ञान में थक गया, पश्चात् दायें पहलू चैतन्य में अन्दर आया है। आहाहा ! जो भगवान चैतन्य के पहलू में चढ़ा, वह अब राग के पहलू में कैसे चढ़े। आहाहा ! ऐसा मार्ग है, बापू !

अज्ञानमय भाव-वांछा का अभाव है। इसलिए अनागत कर्मोदय-उपभोग ज्ञानी के परिग्रह नहीं है। आहाहा ! वर्तमान वियोग में वर्ते, इसलिए नहीं और भविष्य में उसकी वांछा नहीं, इसलिए नहीं। आहाहा ! गत काल का तो है नहीं, इसलिए दो का समाधान किया।

भावार्थ : अतीत कर्मोदय-उपभोग तो व्यतीत ही हो चुका है। भूतकाल का। आहाहा ! **अनागत उपभोग की वाँछा नहीं है;...** जहाँ चैतन्य प्रकाश का नूर प्रगटा... आहाहा ! उसके समक्ष भविष्य में राग की इच्छा और पर की सामग्री की इच्छा कैसे होगी ? आहाहा ! **क्योंकि ज्ञानी जिस कर्म को अहितरूप जानता है...** वह राग को (अर्थात्) रागरूपी कर्म, उसे अहितरूप जानता है। **उसके आगामी उदय के भोग की वांछा क्यों करेगा ?** आहाहा ! भविष्य में मुझे राग हो और मैं भोगूँ, यह भावना उसे नहीं होती। भारी काम, भाई !

वर्तमान उपभोग के प्रति राग नहीं है; क्योंकि वह जिसे हेय जानता है, उसके प्रति राग कैसे हो सकता है ? आहाहा ! जिसे छोड़नेयोग्य है, ऐसा जहाँ अन्तर से जाना, उसके प्रति राग की रुचि कैसे होगी ? आहाहा ! समझ में आया ? धीर का मार्ग है, भाई ! **इस प्रकार ज्ञानी के जो त्रिकाल सम्बन्धी कर्मोदय का उपभोग है, वह परिग्रह नहीं है।** आहाहा ! तीनों काल रहनेवाला ऐसा ज्ञायकभाव का परिग्रह जहाँ पकड़ा, अनुभव (हुआ), उसे तीन काल के बाह्य परिग्रह का उपभोग नहीं होता। आहाहा ! समझ में आया ?

ज्ञानी वर्तमान में जो उपभोग के साधन एकत्रित... अब कहते हैं। तब किसी को ऐसा लगे कि यह धर्मी है और अभी यह स्त्री से विवाह करता है, कमाता है, दुकान में बैठता है। सुन तू, भाई! **ज्ञानी वर्तमान में जो उपभोग के साधन एकत्रित करता है,...** आहाहा! उसे राग आता है और उसके समाधान के लिये उसे बाहर के साधन भी होते हैं। आहाहा! **वर्तमान में जो उपभोग के साधन एकत्रित करता है,...** भाषा देखो! ऐसा कि धर्मी भी विवाह करता है, स्त्री से विवाह करता है, व्यापार-धन्धा दुकान पर बैठकर करता है न? दिखता है न? आहाहा! वह **वर्तमान में जो उपभोग के साधन एकत्रित करता है, वह तो जो पीड़ा नहीं सही जा सकती...** वह राग आता है, वह पीड़ा है, दुःख है। वह (पीड़ा) **नहीं सही जा सकती, उसका उपचार करता है...** जरा सूक्ष्म बात है। आहाहा! वासना राग आया, उसकी पीड़ा सहन नहीं होती, इसलिए राग के निमित्त अनुकूल को इकट्ठा (करता हुआ) दिखता है। समझ में आया?

जैसे रोगी रोग का उपचार करता है। आहा! यह राग आया वह रोग है। उसका इलाज करता है, वह रोगी जैसे रोग का इलाज करता है, ऐसा है, कहते हैं। आहाहा! **रोग का उपचार करता है। यह, अशक्ति का दोष है।** आहाहा! रागभाव आया और उसे मिटाने के लिये विषय के साधन इकट्ठे करे, ऐसा दिखता है। इकट्ठे कौन कर सकता है? परन्तु कहते हैं, यह कमजोरी का दोष है, उसे धर्मी जानता है। आहाहा! यह मेरी चीज़ नहीं परन्तु अन्दर वीतरागता नहीं और स्थिरता का सहनशीलपना नहीं, इसलिए यह राग आया और इस राग के उपाय के साधन (करता है)। जैसे रोगी रोग को मिटाना चाहता है, वैसे रोग मिटाना चाहता है। रागभाव से रखना नहीं चाहता। आहाहा! जरा सूक्ष्म बात है, हों! आहाहा!

एक ओर कहते हैं कि वर्तमान में रागबुद्धि नहीं, इसलिए परिग्रह नहीं, तो भी कहते हैं कि उसे राग दिखता है और वह साधन विषय का और स्त्री का, धन्धे का। उस राग को रोग जानकर उसका इलाज करता है, उस राग को छोड़ना चाहता है। आहाहा! ऐसा मार्ग। तलवार की धार जैसा। आहाहा! 'धार तलवारनी सोह्यली, दोह्यली जिन तणी चरणसेवा'।

जिन अर्थात् आत्मा। 'धार पर नाचता देख बाजीगरा, सेवना धार पर रहे न देवा' असिधारा। आहाहा! आनन्द के नाथ को सम्हालते हुए राग आया... आहाहा! उस राग की सेवा नहीं करता, परन्तु राग टालने का उपाय करता है। आहाहा! तो भी उसका उसे प्रेम नहीं है। रोग को मिटाने के लिये जैसे करे, वैसे यह राग रोग है, उसे मिटाने के लिये करता है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! यह तो तीन लोक के नाथ के पन्थ की अन्तर की बातें हैं। आहाहा! यह कोई ऐरों-गैरों का कथन नहीं।

रोगी रोग का उपचार करता है। ऐसे इलाज में जुड़ जाता है, तो भी उसका आदर नहीं है, अन्दर रस नहीं है। आहाहा! राग को मिटाने के लिये उसके उपाय करे, परन्तु उसमें सुखबुद्धि नहीं है। आहाहा! समझ में आया? अब यह तो अन्तर की बातें हैं।

गाथा - २१६

कुतोऽनागतमुदयं ज्ञानी नाकांक्षतीति चेत् –

जो वेददि वेदिज्जदि समए समए विणस्सदे उभयं।
तं जाणगो दु णाणी उभयं पि ण कंखदि कयावि ।।२१६।।

यो वेदयते वेद्यते समये समये विनश्यत्युभयम्।
तद्ज्ञायकस्तु ज्ञानी उभयमपि न कांक्षति कदापि।।२१६।।

ज्ञानी हि तावद् ध्रुवत्वात् स्वभावभावस्य टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावो नित्यो भवति, यौ तु वेद्य-वेदकभावौ तौ तूत्पन्नप्रध्वन्सित्वाद्विभावभावानां क्षणिकौ भवतः। तत्र यो भावः कांक्षमाणं वेद्यभावं वेदयते स यावद्भवति तावत्कांक्षमाणो वेद्यो भावो विनश्यति; तस्मिन् विनष्टे वेदको भावः किं वेदयते ?

यदि कांक्षमाणवेद्यभावपृष्ठभाविनमन्यं भावं वेदयते, तदा तद्भवनात्पूर्वं स विनश्यति; कस्तं वेदयते ? यदि वेदकभावपृष्ठभावी भावोऽन्यस्तं वेदयते, तदा तद्भवनात्पूर्वं स विनश्यति; किं स वेदयते ? इति कांक्षमाणभाववेदनानवस्था।

तां च विजानन् ज्ञानी न किञ्चिदेव कांक्षति।।२१६।।

अब प्रश्न होता है कि ज्ञानी अनागत कर्मोदय-उपभोग की वांछा क्यों नहीं करता ? उसका उत्तर यह है:-

रे! वेद्य वेदक भाव दोनों, समय समय विनष्ट है।
ज्ञानी रहे ज्ञायक, कदापि न उभय की कांक्षा करे।।२१६।।

गाथार्थ : [यः वेदयते] जो भाव वेदन करता है (अर्थात् वेदकभाव) और [वेद्यते] जो भाव वेदन किया जाता है (अर्थात् वेद्यभाव) [उभयम्] वे दोनों भाव [समये समये] समय समय पर [विनश्यति] नष्ट हो जाते हैं-[तद्ज्ञायकः तु] ऐसा जाननेवाला [ज्ञानी] ज्ञानी [उभयम् अपि] उन दोनों भावों की [कदापि] कभी भी [न कांक्षति] वांछा नहीं करता।

टीका : ज्ञानी तो, स्वभावभाव का ध्रुवत्व होने से, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावस्वरूप

नित्य है; और जो *वेद्य-वेदक (दो) भाव हैं वे, विभावभावों का उत्पन्न-विनाशत्व होने से, क्षणिक हैं। वहाँ, जो भाव कांक्षमाण (अर्थात् वांछा करनेवाला) ऐसे वेद्यभाव का वेदन करता है अर्थात् वेद्यभाव का अनुभव करनेवाला है, वह (वेदकभाव) जब तक उत्पन्न होता है, तब तक कांक्षमाण (-अर्थात् वांछा करनेवाला) वेद्यभाव विनष्ट हो जाता है; उसके विनष्ट हो जाने पर, वेदकभाव किसका वेदन करेगा? यदि यह कहा जाए कि कांक्षमाण वेद्यभाव के बाद उत्पन्न होनेवाले अन्य वेद्यभाव का वेदन करता है, तो-(वहाँ ऐसा है कि) उस अन्य वेद्यभाव के उत्पन्न होने से पूर्व ही वह वेदकभाव नष्ट हो जाता है; तब फिर उस दूसरे वेद्यभाव का कौन वेदन करेगा? यदि यह कहा जाए कि वेदकभाव के बाद उत्पन्न होनेवाला दूसरा वेदकभाव उसका वेदन करता है, तो-(वहाँ ऐसा है कि) उस दूसरे वेदकभाव के उत्पन्न होने से पूर्व ही वह वेद्यभाव विनष्ट हो जाता है; तब फिर वह दूसरा वेदकभाव किसका वेदन करेगा? इस प्रकार कांक्षमाण भाव के वेदन की अनवस्था है, उस अनवस्था को जानता हुआ ज्ञानी कुछ भी नहीं चाहता।

भावार्थ : वेदकभाव और वेद्यभाव में काल भेद है। जब वेदकभाव होता है, तब वेद्यभाव नहीं होता और जब वेद्यभाव होता है, तब वेदकभाव नहीं होता। तब वेदकभाव आता है, तब वेद्यभाव विनष्ट हो चुकता है; तब फिर वेदकभाव किसका वेदन करेगा? और जब वेद्यभाव आता है, तब वेदकभाव विनष्ट हो चुकता है; तब फिर वेदकभाव के बिना वेद्य का कौन वेदन करेगा? ऐसी अव्यवस्था को जानकर ज्ञानी स्वयं ज्ञाता ही रहता है, वांछा नहीं करता।

यहाँ प्रश्न होता है कि-आत्मा तो नित्य है, इसलिए वह दोनों भावों का वेदन कर सकता है; तब फिर ज्ञानी वांछा क्यों न करे? समाधान - वेद्य-वेदक भाव विभावभाव हैं, स्वभावभाव नहीं, इसलिए वे विनाशीक हैं; अत: वांछा करनेवाला वेद्यभाव जबतक आता है, तबतक वेदकभाव (भोगनेवाला भाव) नष्ट हो जाता है, और दूसरा वेदकभाव आये, तब तबतक वेद्यभाव नष्ट हो जाता है; इस प्रकार वांछित भोग तो नहीं होता। इसलिए ज्ञानी निष्फल वाँछा क्यों करे? जहाँ मनोवांछित का वेदन नहीं होता, वहाँ वांछा करना अज्ञान है।

---

* वेद्य=वेदन में आने योग्य, वेदक=वेदनेवाला; अनुभव करनेवाला।

गाथा - २१६ पर प्रवचन

अब प्रश्न होता है कि अनागत कर्मोदय-उपभोग... भविष्य के उपभोग को **ज्ञानी वांछा क्यों नहीं करता?** भविष्य के उपभोग को ज्ञानी क्यों नहीं वाँचता? ऐसा शिष्य का प्रश्न है। **'कुतोऽनागतमुदयं ज्ञानी नाकांक्षतीति'** संस्कृत है। गाथा बहुत अच्छी है। यह गाथा (संवत्) १९९१ में उमराला से यहाँ आये न? तब 'दास' ने यह प्रश्न पूछा था। 'पुरुषोत्तमदास' आये हैं? नहीं आये। उन्होंने इस गाथा का प्रश्न पूछा था। १९९१ का फाल्गुन महीना। उमराला। फिर फाल्गुन कृष्ण तीज को यहाँ आये न? यह प्रश्न किया था—वैद्य-वेदक का। आहाहा! मूल पाठ।

जो वेददि वेदिज्जदि समए समए विणस्सदे उभयं।
तं जाणगो दु णाणी उभयं पि ण कंखदि कयावि।।२१६।।

रे! वेद्य वेदक भाव दोनों, समय समय विनष्ट है।
ज्ञानी रहे ज्ञायक, कदापि न उभय की कांक्षा करे।।२१६।।

आहाहा! टीका। **ज्ञानी तो, स्वभावभाव का ध्रुवत्व...** आहाहा! भगवान ध्रुव, उसकी जिसे पकड़ हुई और स्वभावभाव जो ध्रुव... आहाहा! नित्यानन्द का नाथ भगवान ध्रुव। **स्वभावभाव का ध्रुवत्व होने से,** धर्मी को तो स्वभावभाव के ध्रुवपने का आदर है। आहाहा! वह स्वभावभाव ध्रुव आनन्द, ज्ञान, शान्ति ऐसा जो स्वभावभाव ध्रुव। ज्ञानी को **स्वभावभाव का ध्रुवत्व होने से,...** आहाहा! उसकी दृष्टि में तो ध्रुवपना तैरता है, कहते हैं। आहाहा! धर्मी की दृष्टि में ध्रुवपना, स्वभावभाव ऐसा जो ध्रुव... आहाहा! वह जिसकी दृष्टि फेरता है, दृष्टि में उसका आदर है। आहाहा! गजब बातें, भाई! धर्मी की दृष्टि स्वभावभाव के ध्रुवपने पर होती है। आहाहा! चाहे जिस प्रसंग में भी वह दृष्टि वहाँ से हटती नहीं। आहाहा!

धर्मी को... आहाहा! गाथा भारी ऊँची! **स्वभावभाव का...** स्वभावभाव—त्रिकाल स्वभावभाव आनन्द ज्ञायकस्वभावभाव, उसका **ध्रुवत्व होने से, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावस्वरूप नित्य है;...** आहाहा! टंकोत्कीर्ण अर्थात् शाश्वत् **ज्ञायकभावस्वरूप**

नित्य है;... ज्ञायक स्वभावभाव—ध्रुव स्वभावभाव है, वह नित्य है। धर्मी की दृष्टि वहाँ है। आहाहा! समझ में आया?

और जो वेद्य-वेदक (दो) भाव हैं... आहाहा! पाठ में आगे-पीछे अर्थ है। पाठ में वेद्य-वेदक है। इसमें वेदक-वेद्य है और उसमें वेद्य-वेदक है। आहाहा! है यह पहली बात हो गयी है। पाठ में वेदकभाव और वेद्यते... है न? वेद्यते अर्थात् वेदन में आवे वह, ऐसा पहले है। इसमें वेदन में आवे, वह और वेदनेवाला। वेद्य-वेदक (अर्थात्) वेदनयोग्य। वेदन—वेदनेवाला वर्तमान। वर्तमान वेदनयोग्य, उसकी इच्छा जो यह पदार्थ की, और उस समय वेदना, वह वेदनेवाला। आहाहा! इच्छा के काल में वेदने की वस्तु है नहीं और वेदने की वस्तु आवे, तब वह इच्छा रहती नहीं। इसलिए दोनों का मेल नहीं है। क्या कहा यह?

जो पदार्थ भोगने की इच्छा होती है, उस इच्छा के काल में तो सामने वस्तु नहीं है और वस्तु आयी, तब उस इच्छा का काल रहा नहीं। इसलिए तो इच्छा का नाश हो गया। इसलिए वेद्य-वेदक भाव का मेल नहीं है। दोनों नाशवान हैं। आहा! परवस्तु को भोगने की इच्छा हुई, तब परवस्तु नहीं है और परवस्तु आयी, तब वह इच्छा नहीं है, इसलिए दोनों क्षणिक नाशवान की इच्छा कैसे होगी? आहाहा! अविनाशी ध्रुव स्वभाव की दृष्टि के कारण ऐसे नाशवान की इच्छा ज्ञानी को नहीं होती। न्याय समझ में आता है कुछ? आहाहा!

एक वासना हुई अन्दर रति कि मेरी इज्जत हो तो ठीक। अब जब इज्जत हुई, तब वह वृत्ति उस काल में नहीं रहती, तो दोनों का मेल नहीं खाता। मेल नहीं खाता, इसकी वांछा ज्ञानी को कैसे हो? आहाहा! समझ में आया? इच्छा आयी कि मैं व्यापार करूँ और जब व्यापार करता है, तब वह इच्छा नहीं है; इसलिए वेदक और वेद्य का मेल नहीं खाता। वे दोनों नाशवान हैं। आहाहा! बहुत सरस बात है।

वेद्य-वेदक (दो) भाव हैं वे, विभावभावों का उत्पन्न... अर्थात् इच्छा होना, इसका नाश हो और जो इच्छित वस्तु आयी, तब उसका नाश हो और वह इच्छित वस्तु आयी, तब यह इच्छा नहीं थी। इच्छा का नाश हो गया। जो इच्छित वस्तु आयी, तब इच्छा का नाश हो गया और वस्तु आयी, तब दूसरी इच्छा है, परन्तु वह तो बाद की इच्छा की बात

है। वह इच्छा और इच्छा का उपभोग, दो का मेल नहीं है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। आहाहा! दोनों **विभावभावों का उत्पन्न-विनाशत्व होने से, क्षणिक हैं।** इच्छा, वह विभावभाव है, वह क्षणिक है वह नाश होती है। वस्तु सामग्री आयी, वह भी नाश होती है। क्योंकि (वस्तु) आयी तब उसकी इच्छा नहीं रहती; इसलिए इच्छा का नाश और आयी, तब उस वस्तु की इच्छा नहीं। आहाहा! वह वस्तु आयी, तब वह नाशवान है और इच्छा हुई, वह भी नाशवान है। आहाहा! समझ में आया?

वहाँ, जो भाव कांक्षमाण (अर्थात् वांछा करनेवाला) ऐसे वेद्यभाव का वेदन करता है अर्थात् वेद्यभाव का अनुभव करनेवाला है, वह (वेदकभाव) जब तक उत्पन्न होता है, तब तक कांक्षमाण... जो चीजें वेदनेयोग्य है, वह आयी, उसके पहले वांछा जो थी, उस वांछा का नाश हो जाता है। आहाहा! थोड़ी सूक्ष्म बात है, हों! यह गाथा सूक्ष्म है। ज्ञायकभाव का ध्रुवपना जो स्वभावभाव का होने से, वर्तमान जो पदार्थ को इच्छे, उस काल में वह पदार्थ नहीं है। नहीं तो इच्छा कैसे हो? और जब पदार्थ आता है, तब यह इच्छा नहीं है। आहाहा! क्योंकि पदार्थ भी अनित्य है, इसलिए इच्छा के काल में अनित्य पदार्थ नहीं आता और अनित्य पदार्थ आया, तब इच्छा अनित्य है, वह नहीं रहती। इसमें समझ में आया? ऐसी बातें हैं। आहाहा!

कांक्षमाण (अर्थात् वांछा करनेवाला) ऐसे वेद्यभाव का वेदन करता है अर्थात् वेद्यभाव का अनुभव करनेवाला है, वह (वेदकभाव) जब तक उत्पन्न होता है, तब तक... इच्छा जो थी, वह नहीं रहती। आहाहा! **वेद्यभाव विनष्ट हो जाता है;...** वेदनेयोग्य जो चीज़ आती है, तब वेदने की इच्छा है, उसका नाश हो जाता है। आहाहा! ऐसे क्षणिक का मेल नहीं, उसकी इच्छा ज्ञानी को कैसे हो? आहाहा! नित्य भगवान की जिसे भावना है, उसे क्षणिक की वेदन की इच्छा और वेदनेयोग्य का मेल नहीं है, उसे वह इच्छे क्यों? आहाहा! थोड़ी सूक्ष्म बात है।

उसके विनष्ट हो जाने पर, वेदकभाव किसका वेदन करेगा? क्योंकि पूर्व की इच्छा का नाश हुआ, (वस्तु) आयी तब वेदना का क्या वेदे वह? वह इच्छा तो रही नहीं **यदि यह कहा जाए कि कांक्षमाण वेद्यभाव के बाद उत्पन्न होनेवाले अन्य वेद्यभाव का वेदन करता है,...** परन्तु उस समय वेदने का आवे, वहाँ उस भाव का नाश

होता है और उस भाव का नाश, तब वह वेदनेयोग्य वस्तु आती है। आहाहा! दास ने यह प्रश्न किया था। तब भावनगर थे न? 'उमराला' से जब यहाँ आना था। फाल्गुन कृष्ण तीज को यहाँ आये हैं। उससे पहले उमराला में प्रश्न किया था। यदि दूसरा वेद्य भाव उत्पन्न हो वेदनेयोग्य, उससे **पूर्व ही वह वेदकभाव नष्ट हो जाता है;**... वस्तु है, वह नाश को प्राप्त हो जाती है।

फिर उस दूसरे वेद्यभाव का कौन वेदन करेगा? यदि यह कहा जाए कि वेदकभाव के बाद उत्पन्न होनेवाला दूसरा वेदकभाव उसका वेदन करता है, तो– (वहाँ ऐसा है कि) उस दूसरे वेदकभाव के उत्पन्न होने से पूर्व ही वह वेद्यभाव विनष्ट हो जाता है; तब फिर वह दूसरा वेदकभाव किसका वेदन करेगा? इस प्रकार कांक्षमाण भाव के वेदन की अनवस्था है,... इच्छित भाव का वेदना, उसकी अनवस्था / मेल नहीं है। **उस अनवस्था को जानता हुआ ज्ञानी कुछ भी नहीं चाहता।** आहाहा! इच्छा की इच्छा नहीं है, इसलिए चाहता नहीं। अन्तर की भावना में— नित्य स्वभावभाव की दृष्टि होने से उसकी भावना में है, इस भाव में आता नहीं।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २९५, गाथा-२१६, २१७, श्लोक-१४६-१४७ सोमवार, भाद्र शुक्ल ५
दिनाङ्क २७-०८-१९७९

यह पर्यूषण का पहला दिन है। दसलक्षणी पर्व गिना जाता है। मुनि के दस प्रकार के धर्म है न? उनकी प्रधानता का यह पर्यूषण (पर्व है)। मुनि के दस प्रकार जो उत्तम क्षमा वह सम्यग्दर्शनसहित की बात है। अकेली क्षमा को यहाँ क्षमा नहीं कहते। भगवान आत्मा शान्त... शान्त... शान्त... पूर्ण शान्ति का सागर, उसका जिसे अन्तर अनुभव है, ऐसे सम्यग्दृष्टि को उत्तम क्षमा होती है। यहाँ मुनि को मुख्यरूप से कहते हैं। श्वेताम्बर में उनका आज अन्तिम दिन है, इससे पहले सात दिन हो गये। यह लौकिक रीति थी, यह तो वास्तविक रीति है। विवाह में होता है न जो मण्डप का दिन? विवाह का। उससे बधी

पहले डालते हैं लौकिक में। उसमें ऐसा है। एक पंचमी का ही पर्यूषण। श्वेताम्बर में शास्त्र में एक पंचमी का ही है, चौथ के बाद एक साधु ने किया हुआ। मूल पंचम है। बाकी सात दिन तो उन लोगों ने बढ़ाये हैं। यह तो अनादि सनातन जैनधर्म है। पंचमी से चतुर्दशी, यह दसों धर्म वास्तविक मुनि के हैं। उसमें पहला उत्तम क्षमा। ४४ पृष्ठ है। यह गुजराती लेते हैं। ४५ पृष्ठ की पहली (लाईन) ऊपर।

अज्ञानीजनों द्वारा, आहाहा! अज्ञानीजनों द्वारा शारीरिक बाधा या अपशब्दों का प्रयोग या हास्य और मश्करी करें। आहाहा! या दूसरे अप्रिय कार्य करने पर भी जो निर्मल और विपुल ज्ञान के धारक साधु... आहाहा! उनके मन में क्रोधादि विकार को प्राप्त नहीं होते। आहाहा! ऐसा प्रसंग खड़ा हो, जो मश्करी करे, अप्रिय वचन करे। आहाहा! अज्ञानीजन द्वारा बाधा उपजे (तो भी) शान्ति। आहाहा! उसका नाम क्षमा है, वह मोक्षमार्ग में चलनेवाले पथिकजनों को सर्व प्रथम सहायक है। पश्चात् मुनिधर्मरूपी पवित्र वृक्ष उन्नत गुणों के समूहरूपी डालियाँ, पत्ते, फूलों से परिपूर्ण होता हुआ, ऐसा होने पर भी यदि अतिशय तीव्र क्रोधरूपी दावानल से... आहाहा! यदि तीव्र क्रोध करे तो वे सब नाश को प्राप्त हो जाते हैं। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि। जैसे वृक्ष में अग्नि गिरे और नाश हो... आहाहा! वन फलाफूला हो परन्तु यदि अग्नि आवे तो जल जाए। इसी प्रकार अन्दर सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र के परिणाम हुए हों परन्तु यदि क्रोध तीव्र करे तो सब भस्म हो जाता है। आहाहा!

हम रागादि दोषों से रहित होकर शुद्ध मन से स्पष्ट स्थिर होते हैं। मुनिराज कहते हैं। आहाहा! यथेष्ठ आचरण करनेवाले लोग अपनी कल्पना से आचरण करनेवाले स्वच्छन्दी अपने हृदय में चाहे जैसा माने, लोक में शान्ति अभिलाषी मुनियों को अपनी आत्मशुद्धि सिद्ध करना चाहिए। दुनिया चाहे जो माने परन्तु धर्मात्मा को तो अपने आत्मा की शुद्धि - वृद्धि करना चाहिए। आहाहा! उत्तम क्षमा शब्द है न? अकेली क्षमा नहीं। सम्यग्दर्शन सहित यह उत्तम क्षमा है। आहाहा! वह मुनि का धर्म है। सच्चे सन्त जिन्हें अन्तर सम्यग्दर्शन, ज्ञान, शान्ति... शान्ति... शान्ति प्रगट हुई है, उन्हें ऐसे प्रसंग में अशान्ति का क्रोध नहीं होता, (ऐसा कहते हैं)। आहाहा!

दुर्जन मनुष्य मेरे दोष प्रसिद्ध करके सुखी होओ। आहाहा! धर्मात्मा ऐसा विचारता

है। दुर्जन दोष देखकर सुखी होओ। प्रभु! आहाहा! धन का अभिलाषी मनुष्य मेरा सर्वस्व ग्रहण करके सुखी होओ तो होओ। यदि शत्रु मेरा जीवन ग्रहण करके सुखी होता हो, प्राण लेकर सुखी होता हो तो होओ। आहाहा! दूसरा कोई मेरा स्थान लेकर सुखी होते हों तो होओ। आहाहा! और जो मध्यस्थ है—राग-द्वेष रहित है, ऐसे मध्यस्थ बनकर रहे। जो मध्यस्थ वीतरागी हैं, वे उसमें रहो। पूरा ही जगत अतिशय सुख का अनुभव करो, प्रभु! यहाँ तो कहते हैं। आहाहा! मेरे निमित्त से किसी भी संसारी प्राणी को किसी भी प्रकार से दुःख न हो, ऐसा मैं ऊँचे स्वर से पुकारता हूँ, कहते हैं। आहाहा! देखो! व्याख्या।

हे मन! क्या तू सम्पूर्ण तीन लोक में चूड़ामणि समान ऐसे श्रेष्ठ वीतराग जिन को नहीं जानता? आहाहा! सर्वज्ञ परमात्मा जगत में हैं, उन्हें प्रभु! तू नहीं जानता? तेरे हृदय में वे सर्वज्ञ कैसे हैं, यह नहीं बैठा? आहाहा! क्या तूने वीतराग कथित धर्म का आश्रय नहीं लिया? आहाहा! परमानन्द का सागर नाथ आत्मा का आश्रय, प्रभु! तूने नहीं लिया? क्या जनसमूह जड़ अज्ञानी नहीं है? जगत तो अज्ञानी है, खबर है। आहाहा! जिससे तू मिथ्यादृष्टि और अज्ञानी दुष्ट पुरुषों द्वारा किये गये थोड़े से उपद्रव से भी विचलित होकर बाधा उपजती है कि जो कर्म आस्रव का कारण है। आहाहा! दुनिया सुखी होओ, चाहे जिस प्रकार से। मेरे दोष देखकर, लूटकर—जीवन लूटकर, मेरा स्थान लेकर सुखी होओ, बापू! आहाहा! इसका नाम अन्दर क्षमा कही जाती है। यह पद्मनन्दि पंचविंशति (ग्रन्थ) नया आया है न?

अब अपने यह वेद्य-वेदक। **भावार्थ :-** सूक्ष्म बात है, प्रभु! आहाहा! **वेदकभाव और वेद्यभाव में काल भेद है।** अर्थात्? कि जो कोई पदार्थ को चाहता है, ऐसा जो वेद्यभाव और जब सामग्री आती है और वेदनेयोग्य भाव, दोनों का कालभेद है। आहाहा! यह क्या कहा? **वेदकभाव और वेद्यभाव में काल भेद है। जब वेदकभाव होता है...** जब वेदनेयोग्य, भोगनेयोग्य सामग्री मिले और भाव होता है, तब वह वेद्यभाव जो इच्छा थी, वह नहीं होती। आहाहा! इच्छा के समय वेदक और सामग्री आदि वेदने का भाव नहीं था और वह जब वेदने का काल आवे, तब वह इच्छा नहीं रहती। आहाहा!

जब वेद्यभाव होता है, तब वेदकभाव नहीं होता। इच्छा होती है, तब सामग्री को वेदने का नहीं होता। आहाहा! **तब वेदकभाव...** भोगनेयोग्य **आता है, तब...** वह इच्छारूपी भाव **विनष्ट हो चुकता है;...** समझ में आया? आहाहा! यह प्रश्न किया था

न? पुरुषोत्तमभाई ने किया था। उमराला में। यहाँ आने से पहले। परिवर्तन करने से पहले उमराला में (संवत्) १९९१ के फाल्गुन महीने में प्रश्न किया था। इस २१६ गाथा का। उसमें (—स्थानकवासी में) थे न तब? आहाहा!

भाई! धर्मात्मा को, जिसे आत्मज्ञान और अनुभव है, उसे इच्छा—परपदार्थ को भोगूँ ऐसी इच्छा ही नहीं होती। क्योंकि इच्छा जो है, उस काल में उसे भोगने के काल में सामग्री नहीं है और भोगने की सामग्री आवे, तब वेदने की इच्छा जो थी, वह इच्छा नहीं रहती। आहाहा! समझ में आया? दोनों क्षण-क्षण में नाशवान है। इच्छा भी नाशवान है और वेदनेयोग्य की सामग्री आवे, वह भी नाशवान है और उसे वेदने का भाव भी नाशवान है। आहाहा! समयसार, गजब बात है। अभी भरतक्षेत्र में अजोड़ समयसार है। आहाहा! भगवान की साक्षात् वाणी तीन लोक के नाथ की वाणी के सब भनकार है। आहाहा!

तब वेदकभाव आता है, तब वेद्यभाव विनष्ट हो चुकता है;... भोगने का काल आवे, तब भोगने की जो इच्छा थी, वह तो होती नहीं। समझ में आया इसमें? **वेद्यभाव विनष्ट हो चुकता है;...** तब वेदकभाव आवे, भोगने का काल, तब जो इच्छा थी, वह इच्छा तो रहती नहीं। आहाहा! **वेदकभाव किसका वेदन करेगा? और जब वेद्यभाव आता है, तब वेदकभाव विनष्ट हो चुकता है;...** और वापस इच्छा हो, तब वेदकभाव होता नहीं। **फिर वेदकभाव के बिना वेद्य का कौन वेदन करेगा? ऐसी अव्यवस्था को जानकर ज्ञानी स्वयं ज्ञाता ही रहता है,...** आहाहा! इच्छा और सामग्री का भोगना, दोनों का मेल नहीं है। इसलिए ज्ञानी ज्ञातारूप से (रहता है)। आहाहा! ज्ञानी को इच्छा हो, वह तो कमजोरी का काम है। वह इच्छा भोगने की चीज़ मिले और भोगना, ऐसा नहीं है। समझ में आया? उस इच्छा का भी अन्तर आत्मा के आनन्द और ज्ञाता द्वारा जानता है, इसलिए उसे वह इच्छा कि इसे भोगूँ, ऐसी इच्छा उसे नहीं होती। आहाहा!

यहाँ प्रश्न होता है कि–आत्मा तो नित्य है, इसलिए वह दोनों भावों का वेदन कर सकता है;... इच्छा हुई और फिर वेदनेयोग्य वस्तु हुई तो दोनों को नित्य है तो कर सकता है, ऐसा शिष्य का प्रश्न है। आहाहा! **तब फिर ज्ञानी वांछा क्यों न करे?** बात बहुत सूक्ष्म।

समाधान – वेद्य-वेदक भाव विभावभाव हैं,... इच्छा होना और भोगने का काल आवे, वह भी सामग्री और उसका राग, वह सब नाशवान है। आहाहा! धर्मी, जिसे ध्रुव चिदानन्द प्रभु, आनन्द का सागर जिसे दृष्टि में आया है, उसे वह भोगने की इच्छा और भोगने का भाव, दोनों नहीं होते। आहाहा! ऐसा है। वह वेदकभाव विभाव है, **स्वभावभाव नहीं, इसलिए वे विनाशीक हैं; अतः वांछा करनेवाला वेद्यभाव..** देखा? इच्छा होती यह नहीं। वह वांछा करनेवाला ऐसा वेद्यभाव जहाँ आवे **तबतक वेदकभाव नष्ट हो जाता है,...** भोगनेयोग्य भाव है, वह तो नाश को पाता है। **और दूसरा वेदकभाव आये, तबतक वेद्यभाव नष्ट हो जाता है;...** भोगने का दूसरा भाव आवे, वहाँ (तक में) पहली जो इच्छा है-वेद्यभाव, उसका नाश हो जाता है। **इस प्रकार वांछित भोग तो नहीं होता।** इच्छावाला वांछित भोग सामग्री उसे मिलती नहीं, इसलिए वांछित भोग भोगा नहीं जाता। आहाहा!

लो, इस क्षमा के दिन पहले यह आया। पर्यूषण है न? आत्मा की सेवा करना, उपासना (करना), इसका नाम पर्यूषण है। भगवान आत्मा ज्ञान और आनन्द का सागर प्रभु, उसने सन्मुख होकर उसकी सेवा करना, उसमें एकाग्र होना, यह पर्यूषण का कर्तव्य है। आहाहा!

इस प्रकार वांछित भोग तो नहीं होता। इच्छावाली सामग्री नहीं होती और सामग्री हो, आवे, तब दूसरी इच्छा हो जाती है। आहाहा! **इसलिए ज्ञानी निष्फल वांछा क्यों करे?** जरा अटपटी बात है। संक्षित तो यह बात है कि जिसे भोगना चाहता है, तब वह भोग नहीं होता, यदि होवे तो इच्छा कैसे रहे? और इच्छा के समय भोगने की सामग्री या भोगने का भाव और भोगने का भाव, जब आवे, तब वह वेद्य का—इच्छा का काल नहीं रहता। आहाहा! है सूक्ष्म, भाई! यह तो समयसार है। परमात्मा की दिव्यध्वनि। आहाहा!

जहाँ मनोवांछित का वेदन नहीं होता... आहाहा! मन में जो इच्छा आवे, उस वस्तु को वेदा नहीं जाता। **वहाँ वांछा करना अज्ञान है।** इसलिए उस भोगने की भावना-इच्छा करना, वह अज्ञान है। समझ में आया इसमें? इसका श्लोक।

कलश - १४७

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं:-

(स्वागता)

वेद्यवेदकविभावचलत्वाद् वेद्यते न खलु कांक्षितमेव।
तेन कांक्षति न किञ्चन विद्वान् सर्वतोऽप्यतिविरक्तिमुपैति।।१४७।।

श्लोकार्थ : [वेद्य-वेदक-विभाव-चलत्वात्] वेद्य-वेदकरूप विभावभावों की चलता (अस्थिरता) होने से [खलु] वास्तव में [कांक्षितम् एव वेद्यते न] वांछित का वेदन नहीं होता; [तेन] इसलिए [विद्वान् किञ्चन कांक्षति न] ज्ञानी कुछ भी वांछा नहीं करता, [सर्वतः अपि अतिविरक्तिम् उपैति] सबके प्रति अत्यन्त विरक्तता को (वैराग्यभाव को) प्राप्त होता है।

भावार्थ : अनुभवगोचर वेद्य-वेदक विभावों में काल भेद हैं, उनका मिलाप नहीं होता, (क्योंकि वे कर्म के निमित्त से होते हैं, इसलिए अस्थिर हैं); इसलिए ज्ञानी आगामी काल सम्बन्धी वांछा क्यों करे?।।१४७।।

श्लोक-१४७ पर प्रवचन

(स्वागता)

वेद्यवेदकविभावचलत्वाद् वेद्यते न खलु कांक्षितमेव।
तेन कांक्षति न किञ्चन विद्वान् सर्वतोऽप्यतिविरक्तिमुपैति।।१४७।।

[**वेद्य-वेदक-विभाव-चलत्वात्**] वेद्य अर्थात् कांक्षित भाव और वेदक अर्थात् भोगने योग्य सामग्री और उस समय का भोगने का भाव। इन **विभावभावों की चलता (अस्थिरता) होने से**... आहाहा! जिसे अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव और भोग है, उसे ऐसी इच्छा और भोगने के भाव का मेल नहीं है। इसलिए इच्छा कैसे करे? आहाहा! यह इच्छा अज्ञानभाव है। यह पहले आ गया है न? निर्जरा अधिकार। यह अज्ञानभाव है, यह ज्ञानभाववाला भगवान उस अज्ञानभाव को कैसे करे? आहाहा! कमजोरी की इच्छा आती

है वह इच्छा, भविष्य को भोगना—ऐसा नहीं। वह तो वर्तमान में कमजोरी की इच्छा हुई, उसे जानता है। आहाहा! वैसे तो ऐसा भी आया कि ज्ञानी को ऐसा राग आता है और इलाज भी करता है। आया था न? वह इलाज करे, इसका अर्थ कि उसकी वृत्ति राग आया, दूर नहीं होता, उतनी वीतरागता प्रगट नहीं होती; इसलिए उसे राग आवे और इलाज करे। आहाहा! परन्तु वह इलाज और राग दोनों को वह जाननेवाला रहता है। आहाहा! अरे! वीतरागमार्ग तो देखो! आहाहा! दिगम्बर सन्तों की शैली तो देखो! आहाहा!

भेदज्ञान के, पर से भिन्न के भानवाले की यहाँ तो बातें हैं। आहाहा! समझ में आया? जिसने पर से भिन्न करके भगवान को देखा है और जिसे राग की एकताबुद्धि का भुक्का उड़ा दिया है। आहाहा! ऐसे धर्मी को वांछित भोगा नहीं जाता, इसलिए वांछा कैसे हो? क्या कहा, समझ में आया? जो इच्छा होती है, तब वह भोगने की वस्तु नहीं और भोगने की वस्तु आवे, तब वह इच्छा नहीं रहती। इसलिए वह वांछित भोगा नहीं जाता, इसलिए वांछा कैसे करे? ऐ... सुमनभाई! यह सब ऐसा कठिन है। वहाँ घर में समझ में आये, ऐसा वहाँ नहीं है। २१६ गाथा। आहाहा!

मुमुक्षु : होशियार व्यक्ति हो, वह न समझ जाए?

पूज्य गुरुदेवश्री : होशियार किसे कहना? पैसा मिले वहाँ की बाहर की होशियारी कहलाये। अज्ञान की (होशियारी)। आहाहा!

चैतन्य भगवान आनन्द का सागर, उसकी जिसे दृष्टि और वेदन हुए, वह जीव **वांछित का वेदन नहीं होता; इसलिए...** वांछा नहीं करता। यह इसका सार है। समझ में आया? क्योंकि धर्मी को तो इच्छा और सामग्री दोनों नाशवान हैं। आहाहा! उस नाशवान की, अविनाशी के आश्रयवाले धर्मी को नाशवान की इच्छा कैसे होगी? आहाहा! अविनाशी भगवान नित्यानन्द प्रभु, आहाहा! उसके पक्ष में चढ़ गया है, उसे यह नाशवान इच्छा और उसका भोगना, यह भाव कैसे होगा? कान्तिभाई! ऐसी बातें हैं, सुनी न हो वहाँ। यह कहते हैंन, यह कहते हैं, भाई! सुनने को मिलती नहीं। बात तो ऐसी है, बापू! आहाहा! क्या कहें? आहाहा!

वीतराग परमात्मा का पुकार है कि प्रभु! तू उत्तम क्षमा कर। अर्थात् कि इस वेदन

को वेद तो तुझे उत्तम क्षमा प्रगट होगी। आत्मा वेदनेयोग्य है, उसे वेद। यह इच्छा और वेदनेयोग्य वस्तु, वह तेरी नहीं है। समझ में आया? भगवान आत्मा ही वेदक है और वेद्य है। स्वयं ही वेदनयोग्य और वेदक स्वयं ही है। आहाहा! समझ में आया? भगवान आनन्दस्वरूप प्रभु, अतीन्द्रिय आनन्द से छलाछल प्रभु भरा है, उसका जिसे भणकार पक्ष में चढ़कर बजा है, आया है। आहाहा! ऐसे धर्मी को वांछा और वांछा को भोगने का काल, उसका मेल नहीं है; इसलिए वह वांछा कैसे करे? समझ में आया? कमजोरी की इच्छा आवे, वह अलग वस्तु है और वांछा भोगना, उसकी वांछा आना, वह अलग चीज़ है। आहाहा! क्या कहा?

कमजोरी की, राग की वृत्ति उठे, वह तो एक कमजोरी के कारण से, परन्तु उस वृत्ति में भविष्य की चीज़ को भोगना, ऐसी वृत्ति उसमें नहीं है। आहाहा! यहाँ तो जिसे इच्छा हो, तब भोगने की सामग्री नहीं होती और भोगने की सामग्री आवे, तब इच्छा नहीं होती। ऐसी अवस्था का मेल कहीं नहीं है। इसलिए जो भगवान आत्मा वेदनेयोग्य और वेदक स्वयं ही है। आहाहा! वेदनयोग्य और वेदन करनेवाला वह स्वयं ही है। आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म बात है, भाई! यह तो अपूर्व बात है। उसमें यह तो पर्यूषण के दिन। आहाहा! पूरा संसार भूल गया और भगवान को स्मरण किया। आहाहा! वीतरागस्वरूपी प्रभु का जिसे स्मरण आया, अनुभव तो था परन्तु वापस स्मरण-याद आया, आहाहा! तब उसके वेदन में आत्मा का आनन्द वेदा जाता है और वेदनयोग्य ही स्वयं तथा वेदन करनेवाला भी स्वयं। आहाहा! उसे वांछा और वांछा का भोगने का समय, दोनों का मेल नहीं है, उसे वह कैसे इच्छे? वह तो अज्ञानभाव है। आहाहा! क्या पद्धति है? जैनधर्म की क्या पद्धति है, वह कोई अलौकिक है, बापू! आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं, **वेद्य-वेदकरूप विभावभावों की चलता (अस्थिरता) होने से वास्तव में [कांक्षितम् एव वेद्यते न] वांछित का वेदन नहीं होता;...** जिसकी इच्छा है, उस काल में वह वस्तु वेदन में नहीं आती। आहाहा! उस काल में वह वस्तु नहीं है। **वांछित का वेदन नहीं होता; इसलिए... 'विद्वान्'** आहाहा! है, यह विद्वान कहा न? भाई, लालचन्दभाई! यह विद्वान, बापू! आहाहा! दुनिया का जानपना हो, न हो, अरे!

शास्त्र का भी विशेष जानपना हो, न हो, उसके साथ कुछ (सम्बन्ध नहीं है)। आहाहा! विद्वान तो उसे परमात्मा कहते हैं, भगवान आत्मा राग से रहित पूर्णानन्द का नाथ जिसे वेदन में आया, ऐसा विद्वान पर की इच्छा कैसे करे? आहाहा! यह विद्वान। यह बड़े पण्डितों का नाम धरावे परन्तु सम्यग्दर्शन और वेदन नहीं है, वह विद्वान नहीं है। आहाहा! भाषा देखो न!

विद्वान अर्थात् ज्ञानी, विद्वान अर्थात् सम्यग्दृष्टि, विद्वान अर्थात् धर्मात्मा। आहाहा! **'किञ्चन कांक्षति न' ज्ञानी कुछ भी वांछा नहीं करता,...** आहाहा! स्वर्ग गति मिले या यह गति मिले, परन्तु वह कुछ चाहता नहीं। आहाहा! जिसे भगवान आत्मा शुद्ध सामान्य जिसका स्वभाव है, उसमें जिसकी दृष्टि पड़ी, आहाहा! ध्रुव, ध्यान में जहाँ ध्रुव आया, ध्यान की पर्याय में ध्रुव जहाँ आया, वह धीरज से... आहाहा! इस अनुभव की धुनी धखाता है-धखाता है। आहाहा! वे बोल कहे थे न? तेरह बोल कहे थे। आये, तब आये, पश्चात् अभी याद भी न हो। आहाहा! धीरज से ध्रुव की धुनी धखा। उसे धर्मी धर्म धुरन्धर कहते हैं। आहाहा! बाकी सब राग की क्रिया और यह और वह और यह सब धर्मी नहीं है। आहाहा! सूक्ष्म, बापू! आहाहा!

भगवान तेरी महिमा का पार नही, प्रभु! तेरी महिमा पूर्ण सर्वज्ञ भी कह नहीं सकते। 'जो स्वरूप सर्वज्ञ ने देखा ज्ञान में, जो स्वरूप सर्वज्ञ ने देखा ज्ञान में'—ऐसा कैसे लिया है? श्रुतज्ञानी है, देखता है परन्तु वह प्रदेश को नहीं देखता और सर्वज्ञ हैं, वे तो सब पूर्ण देखते हैं। असंख्य प्रदेश और अनन्त गुण प्रत्यक्ष सब देखते हैं। 'जो स्वरूप सर्वज्ञ ने देखा ज्ञान में, कह सके नहीं वह भी श्री भगवान जब।' अपेक्षा से कहा है। पाँचवीं गाथा में तो पूर्ण कहा, ऐसा भी आता है। समयसार की पाँचवीं गाथा। सब कहा, ऐसा भी आता है। यहाँ वह पूर्ण नहीं कहा, इस अपेक्षा से (बात है)। क्योंकि जितना जानने में आवे, उससे अनन्तवें भाग कथन में आता है। आहाहा!

मुमुक्षु : उस कथन का अनन्तवाँ भाग गणधर पकड़ते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : उस स्वरूप को सर्वज्ञ वाणी, वह क्या कहे? अन्य वाणी वह क्या कहे? सर्वज्ञ न कहे तो उस स्वरूप को अन्य वाणी क्या कहे? 'अनुभवगोचर मात्र रहा वह

ज्ञान जो, अपूर्व अवसर ऐसा किस दिन आयेगा ?' मुझे सर्वज्ञपने की दशा कब प्रगट होगी ? यह बात कहते हैं। इतनी दशा से मुझे सन्तोष नहीं है। आहाहा! सम्यग्दर्शन, ज्ञान और स्वरूप की स्थिरता का अंश आया, उतना सन्तोष नहीं। आहाहा! मेरा नाथ पूर्ण मुझे पर्याय में अनुभव में आवे, ऐसी जो सर्वज्ञदशा, अपूर्व अवसर कब आयेगा ? आहाहा! तब हमारे यहाँ इसकी टीका (आलोचना) करते थे कि अपूर्व अवसर, मुनिपना ले तो कौन इंकार करता था ? अपूर्व अवसर कब आयेगा ? कब आयेगा ? ऐसा कहते थे। (संवत्) १९८० के वर्ष में। अरे! भगवान! तुझे मुनिपना किसे कहना, यह तुझे (कहाँ खबर है) ? ऐसा करके मजाक करते थे। 'बाह्यान्तर निर्ग्रन्थ जो' आता है न पहले ? बाह्य निर्ग्रन्थ होना हो, मुनि होना हो तो कौन रोकता था उन्हें ? मुनि अर्थात् यह माने ऐसे। अरे! भाई! भावमुनिपना कोई अलौकिक चीज़ है। आहाहा! उसकी भावना भायी है। तब उनकी टीका की कि भावना लेने की ताकत नहीं। यह मुनिपना हम लेकर बैठे। तुम मुनिपना नहीं ले सकते ? परन्तु मुनिपना था कब तुझे ? हें ? गृहीत मिथ्यात्व है। अरे रे! क्या हो ?

ज्ञानी कुछ भी वांछा नहीं करता, 'सर्वतः अपि' अर्थात् सर्वतः परन्तु **'अतिविरक्तिम् उपैति' सबके प्रति अत्यन्त विरक्तता को...** आहाहा! धर्मी तो सर्वत्र अति विरक्त अर्थात् वैराग्यपने को पाता है। आहाहा! चाहे जैसे प्रसंग में वह तो वैराग्यपने को पाता है। आहाहा! धर्मात्मा पर से उदासीन है। ज्ञान और वैराग्य शक्ति दोनों साथ में प्रगट हुई होती है। आहाहा! पहले यह आ गया न ? पहली गाथा में द्रव्यनिर्जरा, दूसरी गाथा में भावनिर्जरा। पश्चात् कहा कि ज्ञान और वैराग्य, दो शक्तियाँ हैं।

पूर्ण प्रभु परमात्मा का अन्दर ज्ञान तथा पुण्य और पाप के विकल्प से विरक्त, ऐसा वैराग्य। आहाहा! वैराग्य अर्थात् यह स्त्री, पुत्र छोड़े, वह नहीं। वह ग्रहण-त्याग प्रभु में है ही नहीं। आहाहा! परन्तु यहाँ तो ऐसा कहा... आहाहा! राग का त्याग। अर्थात् पुण्य-पाप के भाव का विरक्तपना जो था। रक्तपना था, वह विरक्त हो गया, इसका नाम वैराग्य है। आहाहा! 'पुण्य-पाप अधिकार' में आता है। शुभ और अशुभ दोनों भाव से विरक्त है। रक्त था, वहाँ मिथ्यादृष्टि था। आहाहा! विरक्त है, वह ज्ञानी वैरागी है। आहाहा! समझ में आया ? आहाहा!

सबके प्रति... आहाहा! **अत्यन्त विरक्तता को प्राप्त होता है।** आहाहा!एक प्रसंग नाटक में देखा था। बहुत वर्ष की बात है—(संवत्) १९६८-६९। उन लोगों में 'ध्रुव' आता है न? ध्रुव और प्रहलाद। वह ध्रुव राजकुमार था। फिर उसकी माता मर गयी, इसलिए उसके पिता ने दूसरा विवाह किया परन्तु स्वयं साधु हुआ। अन्यमति का बाबा। भावनगर थियेटर में देखा था। यह १९६८ का वर्ष। ६७ वर्ष हुए। वहाँ थियेटर है। तब वह ध्रुव ऐसे लापी होती है न ऐसे बैठक की? तब उसे देवियाँ डिगाने को आती हैं। नाटक में ऐसे हरे पर्दे हों, वनस्पति दिखायी दे न ऐसा वन जैसा? भावनगर की बात है। वहाँ बाहर थियेटर है। फिर देवियाँ आती हैं और ललचाती हैं कि हे राजन् पुत्र! यह देखो, हमारा शरीर सुन्दर मक्खन जैसा, ऐसे हमारे गाल, हमारा शरीर ऐसा, हाथ ऐसे, पैर ऐसे। फिर ध्रुव कहता है, 'माता! मुझे एकाध शरीर धारण करना हो तो आपके गर्भ में आऊँगा, बाकी दूसरी बात नहीं है।' कान्तिभाई! यह तुम्हारे भावनगर में सुना हुआ, तब १९६८। पहले थियेटर में ऐसे वैराग्य के नाटक बहुत थे। इसलिए वैराग्य का देखने का (बने), निवृत्ति बहुत थी, इसलिए देखने जाते। नरसिंह मेहता का, मीराबाई का, अनुसूया का, ऐसे नाटक बहुत देखे हैं। आहाहा!

वह ध्रुव कहता है, पर्दे में ऐसा विशाल वन (था)। पर्दा होता है न ऐसा हरा? और ऐसे गहरे वन में बैठा हुआ। देवियाँ ऊपर से उतरती हैं। दो वह होवे सूत, डोरियाँ और एक पाटिया हो उसमें पैर रखा हुआ हो। दोनों ओर से उतरती हैं और ललचाती हैं। आहाहा! तब सुना, (ऐसा हुआ) वहा! माता! यदि मुझे शरीर धारण करना होगा, एकाध भव (होगा तो) तेरे गर्भ में आऊँगा। माता! दूसरी बात रहने दे। आहाहा! ऐसा तो अन्यमति में नाटक में दिखाते थे। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि वैरागी धर्मात्मा को **सबके प्रति अत्यन्त विरक्तता को (वैराग्यभाव को) प्राप्त होता है।** आहाहा! यह इन्द्र के इन्द्रासन भी जिसे वैराग्य उपजाते हैं। आहाहा! यह नहीं, यह नहीं, यह सब होली सुलगती है। अरे! मेरी चीज़ नहीं। मुझमें तो आनन्द का भण्डार भरा है, प्रभु! आहाहा! उसकी धखती धुनि में रहनेवाला मैं। आहाहा! चक्रवर्ती के राज से भी वैराग्य होता है। समझ में आया? उसे निर्जरा होती है, ऐसा

यहाँ कहना है। उसे पूर्व के कर्म आवें, वे खिर जाते हैं। आहाहा! ऐसा कहते हैं कि अपवास करे तप कहलाये। तप करे, उसे निर्जरा कहलाये। सब गप्प है, सुन न! यह अपवास, अपवास है; उपवास नहीं। उपवास तो भगवान आनन्द का नाथ, उसके उप अर्थात् समीप में जाकर अन्दर बसना, (वह उपवास है)। आहाहा! ऐसे उपवास को यहाँ निर्जरा का कारण कहते हैं। यह तो सब लंघन है। पापानुबन्धी पुण्य बाँधता है। आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं, **भावार्थ : अनुभवगोचर वेद्य-वेदक विभावों में काल भेद हैं,...** इच्छा और वेदने का भाव दोनों को कालभेद है। आहाहा! **उनका मिलाप नहीं होता,...** इच्छा के काल को और भोगने के काल को मेल नहीं है। आहाहा! **(क्योंकि वे कर्म के निमित्त से होते हैं, इसलिए अस्थिर हैं);...** आहाहा! इच्छा भी कर्म के निमित्त से अस्थिर और सामग्री मिलना, वह भी कर्म के निमित्त से अस्थिर। **इसलिए ज्ञानी आगामी काल सम्बन्धी वांछा क्यों करे?।** आहाहा! भविष्य के भोगों की वांछा परमात्मा वैरागी कैसे करे? आहाहा! समझ में आया? बातें बहुत ऐसी हैं, बापू! आहाहा!

गाथा - २१७

तथाहि -

बंधुवभोगणिमित्ते अज्झवसाणोदएसु णाणिस्स।
संसार-देह-विसएसु णेव उप्पज्जदे रागो।।२१७।।

बन्धोपभोग-निमित्तेषु अध्यवसानोदयेषु ज्ञानिनः।
सन्सार-देह-विषयेषु नैवोत्पद्यते रागः।।२१७।।

इह खल्वध्यवसानोदयाः कतरेऽपि सन्सारविषयाः, कतरेऽपि शरीरविषयाः। तत्र यतरे सन्सारविषयाः ततरे बन्धनिमित्ताः, यतरे शरीरविषयास्ततरे तूपभोगनिमित्ताः। यतरे बन्धनिमित्तास्ततरे रागद्वेषमोहाद्याः, यतरे तूपभोगनिमित्तास्ततरे सुखदुःखाद्याः। अथामीषु सर्वेष्वपि ज्ञानिनो नास्ति रागः, नानाद्रव्यस्वभावत्वेन टङ्कोत्कीर्णैकज्ञायकभावस्वभावस्य तस्य तत्प्रतिषेधात्।।२१७।।

इस प्रकार ज्ञानी को सर्व उपभोगों के प्रति वैराग्य है, यह कहते हैं।

संसारतनसम्बन्धि, अरु बन्धोपभोगनिमित्त जो।
उन सर्व अध्यवसानउदय जु, राग होय न ज्ञानि को।।२१७।।

गाथार्थ : [बन्धोपभोगनिमित्तेषु] बन्ध और उपभोग के निमित्तभूत [संसारदेह-विषयेषु] संसारसम्बन्धी और देहसम्बन्धी [अध्यवसानोदयेषु] अध्यवसान के उदयों में [ज्ञानिनः] ज्ञानी के [रागः] राग [न एव उत्पद्यते] उत्पन्न नहीं होता।

टीका : इस लोक में जो अध्यवसान के उदय हैं, वे कितने ही तो संसारसम्बन्धी हैं और कितने ही शरीरसम्बन्धी हैं। उनमें से जितने संसारसम्बन्धी हैं, उतने बन्ध के निमित्त हैं और जितने शरीरसम्बन्धी हैं, उतने उपभोग के निमित्त हैं। जितने बन्ध के निमित्त हैं, उतने तो रागद्वेषमोहादिक हैं और जितने उपभोग के निमित्त हैं, उतने सुख-दुःखादिक हैं। इन सभी में ज्ञानी के राग नहीं है; क्योंकि वे सभी नाना द्रव्यों के स्वभाव हैं इसलिये, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव स्वभाववाले ज्ञानी के उनका निषेध है।

भावार्थ : जो अध्यवसान के उदय संसारसम्बन्धी हैं और बन्धन के निमित्त हैं,

वे तो राग, द्वेष, मोह इत्यादि हैं तथा जो अध्यवसान के उदय देहसम्बन्धी हैं और उपभोग के निमित्त हैं, वे सुख, दुख इत्यादि हैं। वे सभी (अध्यवसान के उदय), नाना द्रव्यों के (अर्थात् पुद्गलद्रव्य और जीवद्रव्य जो कि संयोगरूप हैं, उनके) स्वभाव हैं; ज्ञानी का तो एक ज्ञायकस्वभाव है। इसलिए ज्ञानी के उनका निषेध है; अत: ज्ञानी को उनके प्रति राग या प्रीति नहीं है। परद्रव्य, परभाव संसार में भ्रमण के कारण हैं; यदि उनके प्रति प्रीति करे तो ज्ञानी कैसा?

गाथा - २१७ पर प्रवचन

इस प्रकार ज्ञानी को... जहाँ आत्मा के निधान ज्ञात हुए... आहाहा! उसका प्रवाह बदल गया है। राग और निमित्त पर तथा पर्याय पर झुकाव था, वह झुकाव झुकाया ध्रुव में। आहाहा! जो झुकाव को-पर्याय को ध्रुव में ले गया। ऐसे धर्मात्मा को **सर्व उपभोगों के प्रति वैराग्य है, यह कहते हैं।** आहाहा! २१७।

बंधुवभोगणिमित्ते अज्झवसाणोदएसु णाणिस्स।
संसार-देह-विसएसु णेव उप्पज्जदे रागो।।२१७।।

संसारतनसम्बन्धि, अरु बन्धोपभोगनिमित्त जो।
उन सर्व अध्यवसानउदय जु, राग होय न ज्ञानि को।।२१७।।

टीका :- इस लोक में जो अध्यवसान के उदय हैं... विकारी भाव, **वे कितने ही तो संसारसम्बन्धी हैं...** संसार सम्बन्धी कितने ही विकारी भाव होते हैं। **कितने ही शरीरसम्बन्धी हैं...** शरीर को प्राप्त करना और शरीर को प्राप्त करूँ और शरीर को ऐसा करूँ, ऐसा होता है। **उनमें से जितने संसारसम्बन्धी हैं, उतने बन्ध के निमित्त हैं...** आहाहा! 'संसरण इति संसार' विकारी भाव पूरा, उसकी जिसे एकत्व-भावना है, वह सब बन्ध के निमित्त हैं। क्या कहा, समझ में आया?

संसार जो विकारी भाव संसार है। संसार कोई स्त्री, कुटुम्ब-परिवार संसार नहीं है। स्वरूप में से संसरण—हटकर विकारभाव में आया, वह संसार कहलाता है। आहाहा! उस संसार को, आहाहा! संसारसम्बन्धी जो विकार, वे सब बन्ध के निमित्त हैं। शरीरसम्बन्धी

जो भाव वे **उपभोग के निमित्त हैं।** भोगने के भाव हैं वे। आहाहा! क्या कहा, समझ में आया? शुभाशुभभाव जो संसार, उसके सम्बन्धी के जो अध्यवसाय—एकताबुद्धि, वे सब बन्ध के कारण हैं और शरीरसम्बन्धी के अध्यवसाय, यह उपभोग, मैं शरीर को भोगूँ, इसे भोगूँ, इसे भोगना, इसे भोगना... आहाहा! **उपभोग के निमित्त हैं, उतने सुख-दुःखादिक हैं।** वे तो सुख-दुःख की कल्पना के उपभोग के परिणाम हैं। क्या कहा?

संसार अर्थात् विकारी भाव के जो अध्यवसाय, वे तो सब बन्ध के निमित्त, एक बात। अब शरीरसम्बन्धी के जो अध्यवसाय, जो भोग के भाव सुख-दुःख, वे भी बन्ध के कारण हैं। आहाहा! यह संसारी सुख-दुःख की बात है, हों! आत्मा के सुख (की नहीं)। आहाहा! **जितने उपभोग के निमित्त हैं, उतने सुख-दुःखादिक हैं।** इतनी सुख-दुःख की कल्पनाएँ। आहाहा! शरीरसम्बन्धी, स्त्रीसम्बन्धी, पैसेसम्बन्धी, परिवारसम्बन्धी, इज्जतसम्बन्धी—इत्यादि के जो भोगने के भाव, वे सब उपभोग के निमित्त वह सुखदुःखादि है। सुख-दुःख अर्थात् संसारी कल्पना का।

इन सभी में ज्ञानी के राग नहीं है;... आहाहा! संसारसम्बन्धी विकारी भाव का राग नहीं, प्रेम नहीं तथा शरीरसम्बन्धी आदि भोगने के भाव का उसे प्रेम नहीं। आहाहा! धर्मी वास्तव में तो उदयभाव से मर गया है और पारिणामिकभाव से जीता है। बहुत कठिन बातें, भाई! आहाहा! राग आता है, तथापि उसका जीवन वह नहीं है। आहाहा! ज्ञायकभाव... पारिणामिक तो फिर परमाणु में भी होता है, परन्तु यह ज्ञायकभावरूपी पारिणामिकभाव, वह उसका वेदन और वह उसका भाव है। वह मोक्ष का कारण है। तथा संसार और शरीरसम्बन्धी भोग, शरीरसम्बन्धी में उपभोग के सुख-दुःख परिणाम; संसारसम्बन्धी के भाव सब विकार, बन्ध के कारण हैं। दोनों हैं तो बन्ध के कारण, परन्तु यहाँ तो भोग कर्तापने के और भोक्तापने के (लेना है)। आहाहा! समझ में आया? एक संसारसम्बन्धी के विकार के कर्तापने के भाव और एक शरीर आदि के भोगने के भाव, ये दोनों विकारी भाव हैं। आहाहा! बहुत काम, भाई! इसमें।

इन सभी में ज्ञानी के राग नहीं है;... आहाहा! इन सबमें। जिसे आत्मा के स्वभाव का प्रेम जगा... आहाहा! रुचि अनुयायी वीर्य। जिसका पोषण रुचि का आया।

भगवान आनन्द के नाथ का पोषण आया। आहाहा! उसे राग पोषाता नहीं। समझ में आया? अरे! ऐसी बात। कल एक व्यक्ति कहता था, हिम्मतलाल। बाबा होवे तो समझ में आये? परन्तु बाबा ही है, सुन न! ऐसा कि स्त्री, पुत्र छोड़कर बाबा होवे तो ऐसा बैठे। परन्तु अभी ही बाबा है। राग से रहित है, सुन न! आहाहा! है? ज्ञानी को उसमें प्रेम नहीं है। आहाहा! संसारसम्बन्धी के विकारी भाव या शरीरसम्बन्धी के भोगने के भाव, संसारीसम्बन्धी के कर्ता के विकारी भाव, शरीरसम्बन्धी आदि भोगने के भाव, दोनों में राग नहीं है। आहाहा! अब ऐसी बातें। और छह खण्ड के राज में हो, तो भी कहते हैं, छह खण्ड के राज का राग नहीं है और राग आवे, उसका राग नहीं है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

क्योंकि वे सभी नाना द्रव्यों के स्वभाव हैं... नाना अर्थात् अनेक प्रकार के विकारी भाव होने से। अनेक द्रव्यों के अर्थात् विकारी भावों के। आहाहा! यह आत्मा का द्रव्य नहीं। संसारसम्बन्धी के कर्ता के राग-द्वेष के भाव और शरीरादि के भोगने के सुख-दुःख के भाव, वे नाना द्रव्यों अर्थात् अनेक प्रकार के द्रव्यों का वह तो स्वभाव है। वह प्रभु का स्वभाव नहीं। आहाहा!

टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव जिनका स्वभाव है... वे अनेक प्रकार के रागादि नाना—अनेक द्रव्यों के स्वभाव विकारी, तब भगवान आत्मा टंकोत्कीर्ण—शाश्वत् एक ज्ञायकभाव, **जिनका स्वभाव है...** शाश्वत् एक ज्ञायकभाव जिसका स्वभाव है, **ऐसे ज्ञानी के उनका निषेध है।** आहाहा! संसारसम्बन्धी के कर्तापने के विकारी भाव और भोगने सम्बन्धी के सुख-दुःख के भाव... आहाहा! उस धर्मी को उनका निषेध है। आहाहा! इन्द्रासन में स्थित, करोड़ों अप्सराएँ, इन्द्राणियाँ भोगे? तो कहते हैं, नहीं। वह भोगना है ही नहीं। आहाहा! उस भाव के प्रति प्रेम छूट गया है। जिसमें से सुखबुद्धि उड़ गयी है। आहाहा! राग और राग के साधनों की सुखबुद्धि उड़ गयी है। आहाहा! अरे! ऐसी बातें।

दो बातें ली हैं। एक ओर संसारसम्बन्धी के विकारी भाव कर्तापने के, एक ओर शरीरादि के भोगने के भाव। इन्द्रियाँ, विषय, स्त्री आदि। इन सब ज्ञानी को उनमें राग नहीं है। आहाहा! क्योंकि वे अनेक द्रव्यों के, अपने द्रव्य के स्वभाव के अतिरिक्त के दूसरे द्रव्यों

का वह तो स्वभाव है। आहाहा! वे राग-द्वेष संसारसम्बन्धी के और सुख-दुःख के भाव, वह जीवद्रव्य का स्वभाव नहीं है, अन्य द्रव्यों का स्वभाव है। नाना अर्थात् जगत के अनेक प्रकार के जड़ द्रव्य, उनका वह स्वभाव है। आहाहा!

मेरा स्वभाव शाश्वत् एक ज्ञायकभाव है। आहाहा! वे तो क्षणिक भाव, सुख-दुःख के और कर्तापने के। प्रभु आत्मा... रूखा लगे, ऐसी बातें हैं। आहाहा! मूल रकम की बात है न! जिसे आत्मा आनन्द के नाथ का स्वीकार हुआ है, उसे ऐसे कर्ता और भोगने के विकार का स्वीकार कैसे होगा? आहाहा! एक म्यान में दो तलवार नहीं रह सकती। जिसे विकार और सुख-दुःख के परिणाम का आदर है, उसे भगवान आत्मा का अनादर है। जिसे आत्मा का आदर है... आहाहा! उसे उस कर्ता और भोक्तापने के भाव का आदर नहीं है। क्योंकि वह तो विकारी भाव अनेक द्रव्यों के स्वभाव हैं। भगवान एकरूप द्रव्य का स्वभाव। आहाहा! अब ऐसी बातें। वे व्रत करो और तप करो और अपवास करो वह (तो) झट समझ में आये। अज्ञान है। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि करने का और भोगने का जो विकल्प है, ज्ञानी को उसके प्रति राग और प्रेम नहीं है, उसकी रुचि उड़ गयी है। रुचि में भगवान देखा है, अन्दर भगवान का पोषण हुआ है। आहाहा! दृष्टि में तो भगवान पोषाण में आया है। उसे राग नहीं पोसाता। कान्तिभाई! ऐसी बात है, भगवान! आहाहा! भगवान है अन्दर, बापू! आहाहा! कौन बेरी और कौन शत्रु जगत में? हैं? भगवान है न, बापू! आहाहा! उस भगवान का जिसे भान हुआ है, आहाहा! वह दूसरे को भी दृष्टि के विषयरूप से भगवान ही देखता है। आहाहा! परन्तु यह भगवान भूला हुआ है, वह भले जाने। आहाहा! परन्तु भूल जिसने मिटायी है, वह दूसरे की भूल नहीं देखता। भूल का ज्ञान करे परन्तु वस्तु जो द्रव्य है, उसे वह साधर्मी स्वीकारता है। आहाहा! ऐसा आया है।

अनन्त आत्माएँ हैं, वे अनन्त आत्माएँ हैं, वे आदरणीय हैं, साधर्मीरूप से—ऐसा लिया है, भाई! फिर अनन्त आत्माओं में पंच परमेष्ठी आदरणीय हैं। पंच परमेष्ठी में अरिहन्त और सिद्ध आदरणीय हैं। अरिहन्त और सिद्ध में वापस सिद्ध आदरणीय हैं, उसमें भी फिर आदरणीय आत्मा, अन्त में। आहाहा! समझ में आया? क्योंकि उन पाँच पद के होने योग्य,

वह पाँच पदस्वरूप ही है। आहाहा! भगवान अरिहन्त स्वरूप है, सिद्ध स्वरूप है, आचार्य-उपाध्याय-साधु स्वरूप है अन्दर। एक बाथा आती है, नहीं? आहाहा!

ऐसे अनेक द्रव्यों के स्वभाव के समीप में न जाकर, धर्मी तो टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव जिसका सवभाव है, ऐसे ज्ञानी को वह कर्ता और भोक्ता के भाव का निषेध है। आहाहा! वहाँ उसे ज्ञाता-दृष्टा के भाव का आदर है। आहाहा! अब ऐसी बातें। सन्तों ने जगत को प्रसिद्ध करके ढिंढ़ोरा पीटा है, प्रभु! आहाहा! भगवान! तू पूर्णानन्द का नाथ है न, नाथ! आहाहा! उसका जिसे भान और आदर हुआ, उसे वे विकारी संसारी भाव और बन्ध के भोगने के भाव का आदर उसे नहीं होता। समझ में आया? सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में ऐसा स्वरूप होता है। बातें करना और वह वहाँ नहीं है। आहाहा!

भावार्थ : जो अध्यवसान के उदय संसारसम्बन्धी हैं और बन्धन के निमित्त हैं वे तो राग, द्वेष, मोह इत्यादि हैं तथा जो अध्यवसान के उदय देहसम्बन्धी हैं... देखा? अब देहसम्बन्धी। **और उपभोग के निमित्त हैं, वे सुख, दुख इत्यादि हैं।** हैं तो वे सब भी बन्ध के कारण, परन्तु उस संसार को कर्तापने के रूप से बन्ध के कारण (कहा), इन्हें भोक्तारूप से बन्ध के कारण (कहा)। आहाहा! **वे सभी (अध्यवसान के उदय), नाना द्रव्यों के (अर्थात् पुद्गलद्रव्य और जीवद्रव्य जो कि संयोगरूप हैं, उनके)...** ऐसा, अनेक अर्थात्। नाना द्रव्य आया था न? नाना द्रव्य अर्थात् जीव और कर्म के सम्बन्ध से उत्पन्न हुए। एक द्रव्य के नहीं। आहाहा! भगवान आत्मा पर के निमित्त के वश में पड़ा तो संयोगी भाव उत्पन्न हुआ। वे नाना द्रव्य हुए। एक जीव और पुद्गल दो के सम्बन्ध से उत्पन्न हुए विकारी भाव। आहाहा! कर्म से हुए, ऐसा यहाँ नहीं कहना परन्तु कर्म के निमित्त के वश हुआ तो वह संयोगी भाव हुआ और दो द्रव्यों के भाव हुए। आहाहा!

नाना द्रव्यों के (अर्थात् पुद्गलद्रव्य और जीवद्रव्य जो कि संयोगरूप हैं, उनके) स्वभाव हैं; ज्ञानी का तो एक ज्ञायकस्वभाव है। आहाहा! **इसलिए ज्ञानी के उनका निषेध है; अतः ज्ञानी को उनके प्रति राग या प्रीति नहीं है। परद्रव्य, परभाव संसार में भ्रमण के कारण हैं;...** आहाहा! परद्रव्य और परभाव विकारी, वह संसार में भ्रमण के कारण हैं। **यदि उनके प्रति प्रीति करे तो ज्ञानी कैसा?** आहाहा! विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

कलश - १४८

अब इस अर्थ का कलशरूप और आगामी कथन का सूचक श्लोक कहते हैं:-

(स्वागता)

ज्ञानिनो न हि परिग्रह-भावं कर्म रागरस-रिक्ततयैति।
रङ्गयुक्तिरकषायितवस्त्रे स्वीकृतैव हि बहिर्लुठतीह।।१४८।।

श्लोकार्थ : [इह अकषायितवस्त्रे] जैसे लोध और फिटकरी इत्यादि से जो कसायला नहीं किया गया हो, ऐसे वस्त्र में [रंगयुक्तिः] रंग का संयोग, [अस्वीकृता] वस्त्र के द्वारा अंगीकार न किया जाने से, [बहिः एव हि लुठति] ऊपर ही लौटता है (रह जाता है)-वस्त्र के भीतर प्रवेश नहीं करता, [ज्ञानिनः रागरसरिक्ततया कर्म परिग्रहभावं न हि एति] इसी प्रकार ज्ञानी रागरूपी रस से रहित है, इसलिये उसे कर्म परिग्रहत्व को प्राप्त नहीं होता।

भावार्थ : जैसे लोध और फिटकरी इत्यादि के लगाये बिना वस्त्र में रंग नहीं चढ़ता; उसी प्रकार रागभाव के बिना ज्ञानी के कर्मोदय का भोग परिग्रहत्व को प्राप्त नहीं होता।।१४८।।

प्रवचन नं. २९६, गाथा-२१८, २१९, श्लोक-१४८-१४९ मंगलवार, भाद्र शुक्ल ६
दिनाङ्क २८-०८-१९७९

समयसार, कलश १४८ है न? ऊपर आया, उसमें जरा स्पष्टीकरण किया न? कि बन्ध और उपभोग के अध्यवसाय, ऐसा कहा न? तो इस संसारसम्बन्धी जो निष्प्रयोजन मिथ्याध्यान, आर्तध्यान, रौद्रध्यान। मच्छ का दृष्टान्त दिया है। वह मच्छ, तन्दुल मच्छ का दृष्टान्त दिया है। बात सच्ची। मस्तिष्क में था, कहा, इस बन्ध के कारण को संसार और विषय के कारण कहा और उपभोग, शरीरसम्बन्धी के बन्ध के कारण में नहीं डाला। तो उसका कारण क्या? वापस कहा अवश्य कि जो संसारसम्बन्धी अध्यवसाय है, रागादि, मोह, द्वेष। राग-द्वेष-मोह कहे हैं न? और शरीरसम्बन्धी जो सुख-दुःख है, दोनों में राग

नहीं—अन्दर प्रेम नहीं, आत्मा के धर्म की दृष्टि से। आहाहा! चिदानन्द भगवान आत्मा अन्तर में जिसे रुचा और पोषाण हुआ है, वह धर्म की पहली सीढ़ी है। आहाहा! उसे संसारसम्बन्धी के रागादि आवे, परन्तु उसके प्रति राग नहीं है और शरीरसम्बन्धी सुख के उपभोग, दुःख के परिणाम आवे परन्तु उसमें तीव्र रस नहीं है। इसलिए उसे बन्ध के कारण अल्प है, उन्हें नहीं गिना है। समझ में आया? आहाहा!

कल आया था न यह? संसार विषयसम्बन्धी के अध्यवसाय हों, वे बन्ध के कारण और शरीरसम्बन्धी के उपभोग और सुख, दुःख, बस! इतना कहा। आहाहा! भाई! मार्ग तो ऐसा अलौकिक है, भाई! यह शास्त्र गाथा और एक-एक पद कोई अलौकिक है। आहाहा! उसे कहते हैं कि धर्मी जीव को पहली शुरुआत उसे राग से भिन्न हुआ है, ऐसा भान हुआ है, उसकी बात है। और करने का भी पहला यह है। आहाहा! राग के विकल्प से चैतन्य प्रभु भिन्न है, ऐसी प्रथम में प्रथम दृष्टि और अनुभव करनेयोग्य है। आहाहा! उस दृष्टिवन्त को कहते हैं कि शरीरसम्बन्धी के जो सुख, दुःख के परिणाम, उन्हें बन्ध का कारण नहीं कहा और विषयसम्बन्धी के जो अध्यवसाय, उसे बन्ध का कारण कहा। इसका कारण यह है कि जो बाह्य विषय शरीर के अतिरिक्त के उपभोग के जो दूसरे अध्यवसाय हैं, उपभोग के अतिरिक्त दूसरे हैं, उनमें तीव्रता है। सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा! तथापि उन दोनों अध्यवसाय में धर्मी को राग नहीं है। आत्मा आनन्दस्वरूप है, ज्ञानस्वरूप है, प्रभु! उसका जिसे अनुभव और दृष्टि में स्वीकार हुआ है, उसे वे अध्यवसाय दोनों प्रकार के प्रति राग नहीं है परन्तु एक को बन्ध का कारण कहा और एक को साधारण उपभोग का कारण कहा, बस! आहाहा! समझ में आया? कल आया था न? परन्तु किसी ने प्रश्न तो किया नहीं कि उपभोग के कारण को बन्ध का कारण क्यों नहीं कहा? परन्तु किसी ने किया नहीं। सबने सुना तो था। सुमनभाई!

जब संसारसम्बन्धी के आर्तध्यान और रौद्रध्यान के परिणाम अकेले अध्यवसाय, वे बन्ध के कारण कहे और शरीरसम्बन्धी के उपभोग में सुख, दुःखादि कहा, बस! इतना। परन्तु वे बन्ध के कारण नहीं कहे? परन्तु किसी को प्रश्न उठा? हीराभाई! फिर आज यह स्पष्टीकरण किया। आहाहा! मैंने देखा, उसमें संस्कृत में है। जयसेनाचार्य की टीका है न? कारण कि प्रश्न उठा, इसलिए (देखा)। २१७ है न?

'संसार विशेषु निष्प्रयोजन बंध निमित्तेषु' 'बंध' ऐसा कहा। **'संसारविशेषु भोगनिमित्तेषु देवविशेषु इदम् अत्र तात्पर्यम्'** यहाँ तात्पर्य यह है। **'भोगनिमित्तेम् स्तुतम पापकरोति'** इसलिए उसे बन्ध का कारण नहीं कहा। नहीं तो है तो सुख, दुःख के परिणाम हुए, वह बन्ध का ही कारण है। भले उसके प्रति राग नहीं है। समझ में आया? अरे! ऐसी बातें हैं। देखो! **'भोगनिमित्तम् स्तुतम् अर्थ पाप करोतिम् अयम जीव'** और **'निष्प्रयोजन अप ध्यानम् बहुतप करोति'** वह तन्दुल मच्छ व्यर्थ का आर्तध्यान करके इसे खाऊँ और इसे मारूँ (करता है)। समझ में आया इसमें? आहाहा! निष्प्रयोजन—बिना कारण से, भोग के कारण से तो जरा रस उसे अन्दर में छूटता नहीं तो वे सुख, दुःख के परिणाम आते हैं, भाई! आहाहा! परन्तु निष्प्रयोजन राग और द्वेष करता है, संसार के, कमाने के इत्यादि निष्प्रयोजन हैं, कहते हैं। ये अध्यवसाय (बन्ध के कारण कहे)। यद्यपि दोनों अध्यवसाय है परन्तु एक अध्यवसाय के प्रति बन्ध का कारण कहा और दूसरे को सुख, दुःखादि परिणाम (कहकर) इतनी मर्यादा रख दी। समझ में आया? बाकी बाद में तो कहा कि, सुख, दुःखादि के परिणाम और संसारसम्बन्धी कठोर आर्तध्यान, रौद्रध्यान के परिणाम, दोनों के प्रति धर्मी को राग तो नहीं है। यह तो कहा न? आहाहा! देखो न, शैली! कहो, समझ में आया? सुरेशभाई! तब प्रश्न क्यों नहीं उठा? सुना है, सुना है (करते हो)। पूछने योग्य है, यह रात्रि में प्रश्न किए, उसमें यह प्रश्न नहीं आया। हीराभाई! थोड़ी सूक्ष्म बात थी। आहाहा! जो बात सुने, उसमें ख्याल में-न्याय में आना चाहिए न? आहाहा!

अब १४८ कलश।

ज्ञानिनो न हि परिग्रह-भावं कर्म रागरस-रिक्ततयैति।
रङ्गयुक्तिरकषायितवस्त्रे स्वीकृतैव हि बहिर्लुठतीह।।१४८।।

[**इह अकषायितवस्त्रे**] **जैसे लोध और फिटकरी इत्यादि से...** रंगा हुआ वस्त्र नहीं। आहाहा! **ऐसे वस्त्र में रंग का संयोग,...** आहाहा! **वस्त्र के द्वारा अंगीकार न किया जाने से,...** वस्त्र में रंग नहीं चढ़ता। आहाहा! जिसे कषाय,... लोध, फिटकड़ी आदि से कषायित। ये सब कषायित हैं, ऐसे कषाय अर्थात् कषाय नहीं, कषायित। रंग चढ़ने के योग्य। आहाहा! **लोध और फिटकरी इत्यादि से जो कसायला नहीं किया गया**

हो... अर्थात् लोध और फिटकड़ी के रंग से वस्त्र रंगा हुआ न हो, ऐसे वस्त्र में रंग का संयोग नहीं होता। उस वस्त्र को रंग नहीं लगता। आहाहा! समझ में आया?

रंग का संयोग,... 'रंगयुक्तिः' है न? (अर्थात्) सम्बन्ध। **'अस्वीकृता'** वस्त्र में रंग चढ़ता नहीं, **ऊपर ही लौटता है...** वस्त्र के बाहर ही वह रंग लोटता है। क्योंकि फिटकड़ी और लोद का रंग नहीं चढ़ा, इसलिए उसे अन्दर दूसरे रंग नहीं चढ़ते। आहाहा! **ऊपर ही लौटता है (रह जाता है)–वस्त्र के भीतर प्रवेश नहीं करता,...** वस्त्र में वह रंग प्रवेश नहीं करता, कहते हैं। आहाहा!

इसी प्रकार [**ज्ञानिनः रागरसरिक्ततया कर्म परिग्रहभावं न हि एति**] आहाहा! प्रथम में प्रथम भगवन्त आत्मा शुद्ध चिद्घन आनन्दकन्द वीतरागमूर्ति की दृष्टि करना चाहिए। प्रथम में प्रथम उसका यह कर्तव्य है। जिसे धर्म करना हो और खुशी होना होवे तो (यह कर्तव्य है)। अनादि से भटकता है, तो वह भटकता है। आहाहा! जिसे धर्म करना हो, उसे प्रथम में प्रथम स्वभाव जो चैतन्यघन आत्मा, उसे राग से भिन्न पहले जानना चाहिए। कान्तिभाई! यह बात है, बापू! यहाँ तो। भगवान! आहाहा! तेरी चीज़ तो देख अन्दर, कहते हैं। अरे! तू दूसरे को देखने में रुक गया परन्तु तूने तुझे देखा नहीं। आहाहा! यह शरीर इसका ऐसा है और यह शरीर रूपवान है और यह काला है और ये लड्डू अच्छे हैं, और यह काली जीरी अच्छी नहीं है। ऐसा वहाँ देखने में रुक गया है। ज्ञान वहाँ देखने में रुक गया है, प्रभु! परन्तु जिसका ज्ञान है, उसे देखने में रुका नहीं। आहाहा! दूसरे प्रकार से कहें तो बहिरंग में उसका उपयोग फिरा, परन्तु अन्तरंग में उपयोग नहीं गया। आहाहा! करने का यह है। शुरुआत में प्रथम में प्रथम यह है। धर्म करना हो उसे, हों! आहाहा!

यहाँ कहते हैं, उस लोध, फिटकरी का रंग नहीं चढ़ा, उस वस्त्र को रंग नहीं लगता। वस्त्र में रंग प्रवेश नहीं करता। आहाहा! उसी प्रकार ज्ञानी को... आहाहा! राग से भिन्न भगवान जिसे जानने में आया है, वह चैतन्यमूर्ति है—ऐसी दृष्टि हुई है... आहाहा! (वह) **ज्ञानी रागरूपी रस से रहित है...** उस वस्तु के भाव में उसे राग नहीं है। जैसे फिटकरी का रंग नहीं, उस वस्त्र को रंग नहीं चढ़ता। उसी प्रकार जिसे इस रागभाव में राग नहीं... आहाहा! उसे **'कर्म परिग्रह'** 'कर्म मेरा है', ऐसा उसे नहीं होता। आहाहा!

ज्ञानी रागरूपी रस से रहित है... यह प्रथम में प्रथम की बात है। आहाहा! धर्मी जीव उसे कहते हैं कि जिसे राग का रस छूट गया है और आनन्द का रस आया है। आहाहा! उस अतीन्द्रिय आनन्द के रस के प्रेम में धर्मी को रागादि के भाव में रस रंगता नहीं है। आहाहा! जहाँ एकत्वबुद्धि टूट गयी है, उसमें उसे राग का रंग चढ़ता नहीं है। आहाहा! जिसे स्वभाव का रंग चढ़ा है... आहाहा! उसे राग का रंग चढ़ता नहीं, कहते हैं। आहाहा! जिसे आत्मभगवान परमानन्दस्वरूप प्रभु का जिसने रस चखा है, उसे राग का रस चढ़ता नहीं है। उसे राग का रस आता नहीं है। आहाहा! ऐसी बात है। सादी गुजराती है, समझ में आता है थोड़ा-थोड़ा?

कर्म परिग्रहत्व को प्राप्त नहीं होता। अर्थात्? कि जिसे आत्मा ज्ञायकभाव परिग्रहपने को प्राप्त हुआ है, ज्ञायकभाव जिसने परि अर्थात् समस्त प्रकार से दृष्टि में लिया है... आहाहा! ऐसे धर्मी को राग के परिणाम में रस नहीं चढ़ता, वह रँगाता नहीं है। आहाहा! समझ में आया? भाई! मार्ग बहुत अलौकिक है, बापू! आहाहा! यह कर्म अर्थात् पुण्य-पाप के परिणाम, वह परिग्रह अर्थात् अपनेपने को प्राप्त नहीं होते। यह ममता-मेरे हैं, ऐसा ज्ञानी को नहीं होता। मेरा तो भगवान स्वरूप चैतन्य शुद्ध, वह मेरा है। ऐसा जिसे अन्तर में भान हुआ है, उसे राग का रस नहीं चढ़ता। वह राग मेरा है, ऐसी ममता उसे नहीं होती। आहाहा! गजब शैली!

भावार्थ :- जैसे लोध और फिटकरी इत्यादि के लगाये बिना वस्त्र में रंग नहीं चढ़ता; उसी प्रकार रागभाव के बिना... राग के राग बिना, राग के प्रेम बिना, राग मेरा है—ऐसी ममता के बिना **कर्मोदय का भोग...** आहाहा! **परिग्रहत्व को प्राप्त नहीं होता।** आहाहा! परिणाम आवे परन्तु उसके परिणाम का परिणाम, परिणाम का परिणाम जो एकत्वबुद्धि, वह नहीं होती। आहाहा! समझ में आया? यह लोग नहीं कहते कि इस पढ़ने का परिणाम क्या आया अन्त में? इसी प्रकार यहाँ कहते हैं, राग आया, उसका परिणाम क्या आया धर्मी को? कि उसका परिणाम यह आया कि उसे राग की ममता नहीं है। आहाहा!

उसे ममपना तो आत्मा में है। मम अर्थात् आनन्द का भोजन। मम नहीं कहते लड़के? आहाहा! सब भाषा ऐसी लड़कों के लिये प्रयोग करते हैं न? मम और मम्मी और पप्पा। क्योंकि यहाँ से भाषा निकले (ऐसे शब्द), उसे अन्दर कण्ठ में से निकले, इसलिए

सब प्रयोग नहीं होता। मम्मी, मम यहाँ से (निकले)। ऐसा आता है। सब अक्षर आते हैं। क, ख, ग, घ तक में ऐसा है, अमुक है, ऐसा सब पढ़ा है। वह मुँह से बोले, होंठ से (बोले), मम, मम्मी, पप्पा। उसमें कहीं कण्ठ की आवश्यकता नहीं है। उसी प्रकार मम, मम्मी और पप्पा, ये तीनों यहाँ से बोले जाते हैं, अध्धर से। आहाहा! इसी प्रकार धर्मी को मम अर्थात् आत्मा का जहाँ मम है, आहार है आत्मा का... आहाहा! वहाँ राग की ममता का मम उसे नहीं होता। उसे राग का आहार नहीं है। आहाहा! ऐसी बातें है, सुमनभाई! कहीं मिले ऐसा नहीं, बापू! आहाहा! वह **कर्मोदय का भोग**... इतना लिया वहाँ। **परिग्रहत्व को प्राप्त नहीं होता।** आहाहा!

कलश - १४९

अब पुनः कहते हैं कि-

(स्वागता)

ज्ञानवान् स्वरसतोऽपि यतः स्यात् सर्वरागरसवर्जनशीलः।
लिप्यते सकलकर्मभिरेषः कर्ममध्यपतितोऽपि ततो न ।।१४९।।

श्लोकार्थ : [यतः] क्योंकि [ज्ञानवान्] ज्ञानी [स्वरसतः अपि] निजरस से ही [सर्वरागरसवर्जनशीलः] सर्व रागरस के त्यागरूप स्वभाववाला [स्यात्] है, [ततः] इसलिए [एषः] वह [कर्ममध्यपतितः अपि] कर्मों के बीच पड़ा हुआ भी [सकल-कर्मभिः] सर्व कर्मों से [न लिप्यते] लिप्त नहीं होता।।१४९।।

कलश-१४९ पर प्रवचन

अब पुनः कहते हैं कि- १४९।

ज्ञानवान् स्वरसतोऽपि यतः स्यात् सर्वरागरसवर्जनशीलः।
लिप्यते सकलकर्मभिरेषः कर्ममध्यपतितोऽपि ततो न ।।१४९।।

क्योंकि ज्ञानी... [**स्वरसतः अपि**] आहाहा! चैतन्य भगवान आनन्द का नाथ प्रभु, उसके रस का वेग चढ़ा है... आहाहा! धर्मी निजरस के वेग में चढ़ा है। रस का अर्थ वेग भी किया है एक जगह। आहाहा! भगवान आत्मा आनन्दस्वरूप प्रभु, उसके पन्थ में जो अन्तर (में) गया है, उसे निजरस के **रस से ही...** आहाहा! **रस से ही** [**सर्वरागरस-वर्जनशीलः**] आहाहा! यह इसे ख्याल में तो बात करे कि वस्तुस्थिति यह है कि ज्ञानी को—धर्मी जीव को निज रस से ही। आत्मा आनन्द प्रभु है, उसके आनन्द के रस से ही जिसका वेग अन्दर जगा है। आहाहा! राग से भिन्न पड़कर अरागी शान्ति का रस जिसने चखा है और शान्ति के वेग में चढ़ा है। आहाहा! ऐसे **निजरस से ही...** [**सर्वरागरसवर्जनशीलः**] सर्व प्रकार के राग के रस से त्यागरूप। राग के वेग के त्यागरूप। आहाहा! उसका वेग छूट गया है। **स्वभाववाला है...** [**स्यात्**] अर्थात्। आहाहा!

सर्व रागरस के त्यागरूप स्वभाववाला है, इसलिए वह कर्मों के बीच पड़ा हुआ भी... आहाहा! रागादि के कार्य के प्रसंग में अन्दर दिखने पर भी। आहाहा! समझ में आया? रागादि के कार्य के प्रसंग में दिखने पर भी। **कर्मों के बीच...** राग के मध्य में पड़ा दिखने पर भी **सर्व कर्मों से लिप्त नहीं होता।** आहाहा! चाहे तो वह धन्धे-पानी में दिखे। समझ में आया? आहाहा! परन्तु उसका रस, अन्दर ज्ञान का रस है, इसीलिए धर्मी को प्रत्येक में से रस उड़ गया है। आहाहा! जिसे निजरस का भान और स्वाद आया, उसे राग का रस कैसे हो? और जिसे राग का रस है, उसे आत्मरस कैसे हो? आहाहा! सुजानमलजी! ऐसी बातें हैं। 'सादड़ी में-बादड़ी में' कहीं मिले, ऐसा नहीं। कहीं मिले ऐसा नहीं। आहाहा!

सादड़ी यह मर जाने के बाद नहीं करते? वहाँ मुम्बई में करते हैं न? वहाँ जीते जी कहाँ से दिखायी दे? मरे हुए की सादड़ी होती है। आहाहा! इसी प्रकार भगवान आत्मा, जिसका जीवन दर्शन, ज्ञान, चारित्र का है... आहाहा! जिसका जीवन मन और इन्द्रिय से जिसका जीवन नहीं है। समझ में आया? सूक्ष्म बात, भाई! मन और इन्द्रिय से जिसका जीवन नहीं है। जिसका ज्ञान और आनन्द के रस से जीवन है। आहाहा! उसे राग के रस का जीवन नहीं चढ़ता। उसे राग का रस-जीवन नहीं होता। राग से तो मर गया है। जागती चैतन्यज्योति से जीवित है। आहाहा!

जीवत्वशक्ति ली है न ? वह पहले क्यों ली ? कि दूसरी गाथा में सीधा आया है न ? **'जीवो चरित्तदंसण णाण ठिदो'** भगवान आत्मा दर्शन, ज्ञान, चारित्र में स्थित हो, वह स्वसमय, वह आत्मा है और राग में स्थिर हो, वह पुद्गलप्रदेश में स्थित है। वह अनात्मा— परसमय अनात्मा है। आहाहा! वहाँ से **'जीवो'** यह दूसरी गाथा का पहला शब्द है। वहाँ से जीवत्वशक्ति निकाली है। ४७ शक्ति में पहली। आहाहा! जीवत्वशक्ति अर्थात् जिसका जीवन ज्ञान, दर्शन, आनन्द और सत्ता का जिसे जीवन है, स्वसत्ता का जिसे जीवन है। राग और पुण्यादि और पर का जीवन उसे नहीं है। आहाहा! और जिसे स्व का जीवन नहीं, उसे राग और पुण्य और पाप के भाव, विकार का जीवन है, वे सब मुर्दे—अनात्मा हैं, कहते हैं। आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं, **कर्मों के बीच...** कर्म अर्थात् विकारी परिणाम के मध्य में, कार्य में मध्य में दिखायी दे। तो **भी सर्व कर्मों से लिप्त नहीं होता।** रागादि के कार्य में पड़ा दिखायी देने पर भी ज्ञानी उस राग से बन्धन नहीं पाता। उस राग का रस उसे नहीं चढ़ता, वस्त्र की भाँति। समझ में आया ? आहाहा! वह कषायित लोध और फिटकड़ी के अतिरिक्त वस्त्र में रंग प्रवेश नहीं करता, वैसे राग के रस के अतिरिक्त राग अन्तर में अपना हैं, ऐसा वह नहीं मान सकता। आहाहा! जिसे राग का रस छूट गया है, उसे राग का रंग— एकत्वबुद्धि उसे नहीं आती। आहाहा! गजब बातें, भाई!

यहाँ तो अभी शुभराग, वह धर्म और अभी शुभराग होता है, ऐसा कहे। अरर! प्रभु! प्रभु! क्या हो ? अरे! चैतन्य ज्योति भगवान, उसे अभी अव्यक्तरूप से भी 'है', ऐसा नहीं मानते, राग ही अभी है, बस! आहाहा! व्यक्तरूप से तो अनुभव करे, तब ख्याल (आवे) परन्तु अभी आत्मा अन्दर शुद्ध चैतन्यघन है, वह शुद्ध उपयोग से ही प्राप्त होता है। उसे (ऐसा माननेवाले को) उसके जीवन में शुद्ध उपयोग तो होता ही नहीं। आहाहा! ऐसी बातें। **कर्मों के बीच...** अर्थात् विकारी परिणाम की क्रिया हो, उसके मध्य में दिखायी देने पर भी उस विकारी परिणाम का उसे रस नहीं चढ़ता। आहाहा! समझ में आया ?

गाथा - २१८-२१९

णाणी रागप्पजहो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।
णो लिप्पदि रजएण दु कद्दममज्झे जहा कणयं।।२१८।।

अण्णाणी पुण रत्तो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।
लिप्पदि कम्मरएण दु कद्दममज्झे जहा लोहं।।२१९।।

ज्ञानी रागप्रहायकः सर्वद्रव्येषु कर्ममध्यगतः।
नो लिप्यते रजसा तु कर्दममध्ये यथा कनकम्।।२१८।।

अज्ञानी पुना रक्तः सर्वद्रव्येषु कर्म-मध्यगतः।
लिप्यते कर्मरजसा तु कर्दम-मध्ये यथा लोहम्।।२१९।।

यथा खलु कनकं कर्दममध्यगतमपि कर्दमेन न लिप्यते, तदलेपस्वभावत्वात्; तथा किल ज्ञानी कर्ममध्यगतोऽपि कर्मणा न लिप्यते, सर्वपरद्रव्यकृतरागत्यागशीलत्वे सति तदलेपस्वभावत्वात्। यथा लोहं कर्दममध्यगतं सत्कर्दमेन लिप्यते, तल्लेपस्वभावत्वात् तथा किलाज्ञानी कर्ममध्गतः सन् कर्मणा लिप्यते, सर्वपरद्रव्यकृतरागोपादानशीलत्वे सति तल्लेपस्वभावत्वात्।।२१८-२१९।।

अब इसी अर्थ का विवेचन गाथाओं द्वारा कहते हैं:-

हो द्रव्य सबमें रागवर्जक, ज्ञानि कर्मों मध्य में।
पर कर्मरज से लिप्त नहिं, ज्यों कनक कर्दममध्य में।।२१८।।

परद्रव्य सबमें रागशील, अज्ञानि कर्मों मध्य में।
वह कर्मरज से लिप्त हो, ज्यों लोह कर्दममध्य में।।२१९।।

गाथार्थ : [ज्ञानी] ज्ञानी [सर्वद्रव्येषु] जो कि सर्व द्रव्यों के प्रति [रागप्रहायकः] राग को छोड़नेवाला है, वह [कर्ममध्यगतः] कर्मों के मध्य में रहा हुआ हो [तु] तो भी [रजसा] कर्मरूपी रज से [नो लिप्यते] लिप्त नहीं होता- [यथा] जैसे [कनकम्] सोना [कर्दममध्ये] कीचड़ के बीच पड़ा हुआ हो तो भी लिप्त नहीं होता। [पुनः] और [अज्ञानी] अज्ञानी [सर्वद्रव्येषु] जो कि सर्व द्रव्यों के प्रति [रक्तः] रागी है, वह [कर्ममध्यगतः] कर्मों के मध्य रहा हुवा [कर्मरजसा] कर्मरज से [लिप्यते तु] लिप्त होता

है- [यथा] जैसे [लोहम्] लोहा [कर्दममध्ये] कीचड़ के बीच रहा हुआ लिप्त हो जाता है (अर्थात् उसे जंग लग जाती है)।

टीका : जैसे वास्तव में सोना कीचड़ के बीच पड़ा हो तो भी वह कीचड़ से लिप्त नहीं होता (अर्थात् उसे जंग नहीं लगती) क्योंकि उसका स्वभाव अलिप्त रहना है, इसी प्रकार वास्तव में ज्ञानी कर्मों के मध्य रहा हुवा हो, तथापि वह उनसे लिप्त नहीं होता क्योंकि सर्व परद्रव्यों के प्रति किये जानेवाला राग उसका त्यागरूप स्वभावपना होने से ज्ञानी अलिप्त स्वभावी है। जैसे कीचड़ के बीच पड़ा हुआ लोहा कीचड़ से लिप्त हो जाता है (अर्थात् उसमें जंग लग जाती है)। क्योंकि उसका स्वभाव कीचड़ से लिप्त होना है, इसी प्रकार वास्तव में अज्ञानी कर्मों के मध्य रहा हुआ कर्मों से लिप्त हो जाता है क्योंकि सर्व परद्रव्यों के प्रति किये जानेवाला राग उसका ग्रहणरूप स्वभावपना होने से अज्ञानी कर्म से लिप्त होने के स्वभाववाला है।

भावार्थ : जैसे कीचड़ में पड़े हुए सोने को जंग नहीं लगती और लोहे को लग जाती है, इसी प्रकार कर्मों के मध्य रहा हुआ ज्ञानी कर्मों से नहीं बँधता तथा अज्ञानी बँध जाता है। यह ज्ञान-अज्ञान की महिमा है।

गाथा - २१८-२१९ पर प्रवचन

अब इसी अर्थ का विवेचन गाथाओं द्वारा कहते हैं:-

णाणी रागप्पजहो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।
णो लिप्पदि रजएण दु कद्दममज्झे जहा कणयं।।२१८।।

अण्णाणी पुण रत्तो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।
लिप्पदि कम्मरएण दु कद्दममज्झे जहा लोहं।।२१९।।

नीचे हरिगीत।

हो द्रव्य सबमें रागवर्जक, ज्ञानि कर्मों मध्य में।
पर कर्मरज से लिप्त नहिं, ज्यों कनक कर्दममध्य में।।२१८।।

परद्रव्य सबमें रागशील, अज्ञानि कर्मों मध्य में।
वह कर्मरज से लिप्त हो, ज्यों लोह कर्दममध्य में।।२१९।।

आहाहा! यह पर्यूषण के दिन हैं, प्रभु! उस मार्दव (धर्म का) तो रह गया। अभी याद आया। मार्दव है न? दूसरा धर्म, आज दूसरा धर्म मार्दव है। देखो! जाति और कुल आदि का गर्व न करना, यह मार्दव (अर्थात्) निर्मानता। जाति माता की और कुल पिता का कि हम बड़े रानी के पुत्र हैं और हम राजा के पुत्र हैं। प्रभु! यह गर्व नहीं करना। वह तू नहीं है। आहाहा! उसे सज्जन पुरुष मार्दव नाम का धर्म बताते हैं। जाति, कुल आदि का... आहाहा! गर्व अर्थात् अभिमान न करना। अपनी जाति और अपना... आहाहा! तीर्थंकर का कुल है आत्मा का; और तीर्थंकर की जाति का आत्मा है। आहाहा! वह जाति और कुल का जिसे भान हुआ, वह ऐसी (बाहरी) जाति और कुल का अभिमान नहीं करता।

यह उत्तम मार्दव। समकितसहित की बात है, हों! अकेला मार्दव नहीं। आहाहा! वह धर्म का अंग है। मार्दव धर्म भी धर्म का एक भाग है। ज्ञानमय चक्षु से समस्त जगत को स्वप्न अथवा... आहाहा! अन्तर की ज्ञानमय चक्षु से समस्त जगत को स्वप्न अथवा इन्द्रजाल समान देखनेवाले सन्त क्या वह मार्दव धर्म धारण नहीं करते? उन्हें मार्दव धर्म होता ही है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! मुख्यरूप से दसलक्षण धर्म है न? दसलक्षणी तो मुनि की प्रधानता से, चारित्र प्रधान की व्याख्या है। आहाहा! जिसे सम्यग्दर्शनसहित चारित्र होता है, उन्हें यह दस प्रकार का धर्म होता है। समकिती को आंशिक होता है, मुनि को विशेष होता है। आहाहा!

सर्व ओर से अतिशय सुलगती अग्नियों से खण्डरूप... आहाहा! दूसरी अवस्था को प्राप्त होनेवाला सुन्दर गृहस्थ का प्रतिदिन वृद्धत्व आदि द्वारा अवस्था को प्राप्त होनेवाले शरीरादि बाह्य पदार्थ में नित्यता का विश्वास किस प्रकार करे? आहाहा! क्या कहा? शरीरादि में सर्व ओर से अतिशय सुलगती अग्नि है वह तो। जीर्ण होता जाता है, नाश होता जाता है। आहाहा! ऐसे खण्डरूप दूसरी अवस्था, शरीर आदि की या पैसे की, सुन्दर गृहस्थ अर्थात् प्रतिदिन वृद्धत्व, आदि द्वारा, भगवान सुन्दर आनन्द का नाथ, उसे प्रतिदिन वृद्धत्व आया है, सदा ही। उस जीर्ण अवस्था को प्राप्त होनेवाले शरीरादि, बाह्य पदार्थ में नित्यता का विश्वास किस प्रकार करे? आहाहा! बाह्य चीज़ रहेगी, रखूँगा (—ऐसा कैसे हो)?

एक जगह ऐसा आता है कि स्वयं नित्य है, उसकी सूझ नहीं पड़ती, इसलिए दूसरी चीज़ को कायम रखना चाहता है। आहाहा! समझ में आया? स्वयं नित्यानन्द प्रभु है, उस नित्य को वह नहीं जानता, नहीं मानता, इसलिए वह नित्य यहाँ है, ऐसा न मानकर पर को नित्य रखूँ, पर को कायम रखूँ—ऐसी ममता में अनादि से पड़े हैं। आहाहा! धर्मी को मार्दव धर्म के कारण वह भाव नहीं होते, निर्मान है। जिसे पर का ममत्व और वे मेरे हैं, यह है नहीं। आहाहा! उस रजकण का, एक राग का अंश भी मेरा नहीं है। मैं तो त्रिलोकनाथ चिदानन्दस्वरूप प्रभु, आहाहा! बादशाह की गद्दी पर बैठा हुआ मैं, चैतन्य बादशाह भगवान। आहाहा! उसकी गद्दी पर बैठा हुआ, उसे राग का प्रसव कैसे हो? आहाहा! उसे मान का भाव कैसे हो? आहाहा!

कर नहीं सकता, इसलिए परपदार्थ में आसक्ति नहीं होती। इस प्रकार सर्वदा विचारनेवाले साधु के विशेष विवेकयुक्त निर्मल हृदय में जाति, कुल और ज्ञान... आहाहा! ज्ञान थोड़ा सा जानने का हुआ, वहाँ उसे अभिमान हो जाए कि, आहाहा! मुझे तो बहुत आया। अरे! बापू! बारह अंग का ज्ञान भी केवलज्ञान के पास अल्प है। आहाहा! उसके बारह अंग के अतिरिक्त का साधारण जानपना करके, वहाँ अभिमान में चढ़ जाए कि मुझे आता है और मुझे आता है। आहाहा! उसे मार्दवपना नहीं होता। धर्मी को मार्दव होता है। बारह अंग का ज्ञान भी पर्याय में (हो तो भी) पर्याय में पामर मानता है। अरे! मैं तो पामर हूँ। मेरा नाथ प्रभु है परन्तु पर्याय में पामर हूँ। आहाहा! समझ में आया? स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में है। स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में यह बोल है। धर्मी अपने को केवली के समक्ष पामर मानता है। आत्मा (को) द्रव्य से परमेश्वर मानता होने पर भी पर्याय में पामर मानता है। आहाहा! निर्मल पर्याय उघड़ी, सम्यग्ज्ञान और बारह अंग का (ज्ञान उघड़ा)... आहाहा! तथापि उसे उसका अभिमान नहीं है, उसमें उसे निर्मानता है। आहाहा! जैसे-जैसे आगे बढ़े, वैसे-वैसे मान घट जाता है और निर्मानता बढ़ती है, उसे यहाँ मार्दवधर्म कहा जाता है। यह दूसरा धर्म (हुआ)।

अब यहाँ २१८-२१९ (गाथा की) टीका। **जैसे वास्तव में सोना कीचड़ के बीच पड़ा हो...** यह सोना कादव में पड़ा होने पर भी सोना को जंग नहीं लगती। आहाहा!

बहिन में नहीं आता एक? सोने को जंग नहीं होती, उस अग्नि को दीमक नहीं होती। आहाहा! उसी प्रकार भगवान तीन लोक के नाथ को आवरण और अशुद्धता नहीं होती। अरे! अब ऐसी बातें। अब बाहर में कहीं न कहीं जगह रुके, उसमें यह बात कहाँ जाए उसे? आहाहा!

कहते हैं, सुवर्ण वास्तव में कीचड़ के मध्य पड़ा हो ऐसे, चारों ओर कीचड़ और बीच में सोना पड़ा हो **तो भी वह कीचड़ से लिप्त नहीं होता...** उस सोने को काट—जंग, सोने को जंग नहीं होती। आहाहा! **क्योंकि उसका स्वभाव कीचड़ से अलिप्त रहना है,...** सोने का स्वभाव ही कीचड़ से अलिप्त रहने का है। आहाहा! अब यह तो दृष्टान्त है।

इसी प्रकार वास्तव में ज्ञानी... आहाहा! रागादि के कार्य और शरीरादि के कार्य के **कर्मों के मध्य रहा हुवा हो, तथापि वह उनसे लिप्त नहीं होता...** उस राग से उसे लेप नहीं लगता। सोने को कीचड़ चढ़ता नहीं, उसी प्रकार भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वभाव की दृष्टिवन्त को... आहाहा! कर्म से लिप्त नहीं होता। वह कर्म के मध्य रहा (होने पर भी)। कर्म अर्थात् शुभाशुभभाव। शुभाशुभभाव के मध्य में पड़ा दिखायी दे... आहाहा! तो भी अन्दर उसे लेप नहीं है। आहाहा! क्यों? आहाहा!

सर्व परद्रव्यों के प्रति किये जानेवाला राग... क्यों लिप्त नहीं होता? आहाहा! **क्योंकि सर्व परद्रव्यों के प्रति...** त्रिलोकनाथ तीर्थंकर हों तो भी वे परद्रव्य हैं। आहाहा! उनके प्रति किया जानेवाला राग... आहाहा! **उसका त्यागरूप स्वभावपना होने से...** राग के अभावस्वभाववाला होने से। राग के त्यागस्वभाव से अर्थात् राग का अभावस्वभाव। भगवान आत्मा ही राग के अभावस्वभाववाला तत्त्व होने से। आहाहा! सोना, जिसे कीचड़ का लेप नहीं लगता—ऐसा होने से; इसी प्रकार भगवान आत्मा, जिसे राग का लेप नहीं लगता—ऐसा उसका स्वभाव है। आहाहा! अब ऐसी बातें। वे तो कहे, व्रत करो, तपस्या करो, अपवास करो, नवकार गिनो, आनुपूर्वी गिनो। आता है न? आनुपूर्वी नहीं? णमो अरिहंताणं, णतो सिद्धाणं, णमो आईरियाणं, णमो अरिहंताणं ऐसे आड़े-टेढ़े (बोले क्योंकि) मन स्थिर हो। वह भी राग है वह तो। आहाहा! स्थानकवासी में आनुपूर्वी बहुत होता है, मन स्थिर हो। परन्तु वह तो राग है।

यहाँ कहते हैं, धर्मी... आहाहा! **सर्व परद्रव्यों के प्रति किये जानेवाला...** आहाहा! **राग उसका त्यागरूप स्वभावपना होने से...** आहाहा! देव-गुरु-शास्त्र का राग, उससे भी त्याग स्वभाववाला तत्त्व है। आहाहा! अभी निकाला नहीं था? चेतनजी! श्रीमद् का भाई ने निकाला था न? श्रीमद् में २३ वें वर्ष में है। तीर्थंकर भगवान कहते हैं कि राग नहीं करना। तो फिर मेरे प्रति का राग तुझे क्यों? उसमें है। है? श्रीमद् का है? यह श्रीमद् का है? यह तो समयसार है। श्रीमद् का यह है। आहाहा! लो, २३वाँ वर्ष है, हों!

मुमुक्षु : पहला भाद्रपद महीना।

पूज्य गुरुदेवश्री : २३वाँ वर्ष है। यह आया। 'ऊँच-नीच का अन्तर नहीं समझे वे पाये सद्गति' इतना करके फिर लिखा। 'तीर्थंकरदेव ने राग करने का निषेध किया है। राग होता है, वहाँ तक मोक्ष नहीं है, तब इसके प्रति का राग तुम सबको हितकर कैसे होगा?' यहाँ तो ऐसा कहते हैं। तो भी (वे लोग) कहे कि भक्ति करना और उसके राग से लाभ माने। यहाँ यह कहते हैं। आहाहा! तीर्थंकरदेव ने राग करने का निषेध किया है। राग हो, तब तक मोक्ष नहीं है, तब इसके प्रति का राग तुम सबको हितकर कैसे होगा? भाषा तो (देखो)! डेढ़ लाईन है। २३वाँ वर्ष है। चेतनजी ने पूछा था, इसलिए इसमें से उस दिन निकला। और निकला मौके से। आहाहा! देव-गुरु और शास्त्र ऐसा कहते हैं कि हमारे प्रति का राग तुझे लाभ किस प्रकार करेगा? आहाहा! वीतराग मार्ग। यह तो परमात्मस्वरूप वीतराग मार्ग है। उसे पर के प्रति के राग से लाभ हो, यह मान्यता भी मिथ्यात्व है। आहाहा! है?

सर्व परद्रव्यों के प्रति किये जानेवाला राग उसका त्यागरूप स्वभाव... उसका अभावस्वभावरूप स्वभाव है। आहाहा! वास्तव में तो आत्मा में एक अभाव नाम का गुण है। वह अभाव नाम का गुण राग के अभावस्वभावरूप होना, यह उसका गुण है। आहाहा! ४७ शक्तियों में ३४वीं शक्ति है। आहाहा! यह कर्म और रागरहित होता है, वह उसके कारण यहाँ अभाव नहीं। उसका अपना अभाव नाम का गुण है। आहाहा! इसलिए उसे कर्म को राग के अभावस्वभावरूप अभावगुण के कारण परिणमता है। आहाहा! अभाव शक्ति है न? भाव, अभाव (ऐसी) छह शक्तियाँ हैं। भाव, अभाव, भावअभाव,

अभावभाव, भावभाव, अभावअभाव—ऐसे तो भाव दूसरा एक है परन्तु वह दूसरी बात है। छह द्रव्य का परिणमन है। विकार का छह कारक का परिणमन है, उससे रहित ऐसा इसका भाव नाम का गुण है। समझ में आया? और एक भाव नाम का गुण यह है, आहाहा! कि अपने भावरूप परिणमना, वह भाव नाम का गुण है और अभाव नाम का गुण यह है कि उसका स्वतः स्वभाव रागरहित परिणमना, वही उसका अभाव गुण है। आहाहा! समझ में आया?

भाव के तीन प्रकार हैं, उसमें ४७ (शक्तियों में), भाई! एक भाव यह है कि अपना सद्भाव है, उसरूप होना—ऐसा भावगुण है। और एक अभाव है। पर के अभावस्वभावरूप परिणमना, उसका अभावगुण है। परन्तु एक भाव ऐसा है कि षट्कारकरूप से विकाररूप से परिणमता है, उससे रहितपने परिणमना, ऐसा भावगुण है और एक भाव ऐसा गुण है कि प्रत्येक पर्याय, प्रत्येक में प्रत्येक पर्याय उस काल में होती ही है। वह भाव नाम का एक गुण है। आहाहा! ४७ शक्ति में (ऐसे) तीन प्रकार हैं। आहाहा! क्या कहा यह?

एक भावगुण ऐसा है अन्दर भगवान आत्मा में कि जिसकी दृष्टि (में) वहाँ द्रव्य के स्वभाव का स्वीकार हुआ, उसे समय-समय में अनन्त गुण की निर्मल पर्याय प्रगट होती ही है। मैं करूँ तो होती है और विकल्प करूँ तो होती है, यह वहाँ है नहीं। आहाहा! अब ऐसी बातें। समझ में आया? यह भावअभाव। उस रागसहित का अभाव नाम का गुण स्वयं के कारण से रागरहित स्वभावरूप परिणमता है। राग का अभाव, वह राग के कारण नहीं परन्तु अपना स्वभाव ही ऐसा है कि राग के अभावस्वभावरूप अभावगुण परिणमता है। अरे! ऐसी बातें, आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं कि **सर्व परद्रव्यों के प्रति किये जानेवाला राग, उसका त्यागरूप स्वभावपना होने से...** देखा? त्यागरूप स्वभाववाला होने से, अभावस्वभाववाला होने से। आहाहा! भगवान आत्मा का द्रव्य ही समकिती को ख्याल में जो आया है, वह राग के त्यागरूप स्वभावपना होने से **ज्ञानी कर्म से अलिप्त स्वभावी है।** आहाहा! यह गजब बात। यह धर्मी जीव का धर्म का स्वभाव। उसके (कर्म के) अभावस्वभावरूप है। इससे वह राग के त्याग का—अभावस्वभावरूप उसका परिणमन है। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म पड़े,

इसलिए क्या हो परन्तु ? 'मूल मार्ग सुन लो जिन का रे।' आता है न श्रीमद् में ? मूल मार्ग यह है। आहाहा! क्या कहा यह ?

धर्मी जीव कर्म के मध्य में रहा होने पर भी कर्म से लिप्त नहीं होता। **क्योंकि सर्व परद्रव्यों के प्रति किये जानेवाला राग, उसका त्यागरूप स्वभावपना होने से...** आहाहा! उसका त्याग अर्थात् अभावस्वभावरूप **होने से ज्ञानी...** राग से **अलिप्त स्वभावी है।** आहाहा! उस धर्मी द्रव्य का स्वरूप ही ऐसा है। धर्मी द्रव्य ऐसा जो धर्मी तत्त्व, उसकी जिसे दृष्टि हुई, उस धर्मी द्रव्य को पर के-राग के अभावस्वभावरूप परिणमना और पर से अलिप्त रहने के स्वभाववाला है। राग से लिप्त हो, ऐसे स्वभाववाला वह द्रव्य नहीं है। इसलिए समकिती भी पर के राग से लिप्त हो, ऐसा वह नहीं है। आहाहा! समझ में आया ? पश्चात्। यह धर्मी की बात की।

जैसे कीचड़ के बीच पड़ा हुआ लोहा कीचड़ से लिप्त हो जाता है (अर्थात् उसमें जंग लग जाती है)। तुम्हारे हिन्दी में जंग कहते हैं। आहाहा! उस लोहे का स्वभाव है इसलिए। सोना का स्वभाव कीचड़ में रहने पर भी उसे जंग नहीं लगती। वह उसके कारण से है। ऐसे लोहा कीचड़ में पड़ा है और लेप (लगे) वह तो लोहे के स्वभाव के कारण से है। आहाहा! **उसका स्वभाव कीचड़ से लिप्त होना है,...** आहाहा! **कीचड़ के बीच पड़ा हुआ लोहा कीचड़ से लिप्त हो जाता है (अर्थात् उसमें जंग लग जाती है)। क्योंकि उसका स्वभाव कीचड़ से लिप्त होना है,...** वह तो उसका अपना स्वभाव है, कीचड़ के कारण से नहीं। आहाहा!

भाव नाम का गुण है। उसमें कहते हैं, षट्कारक विकाररूप पर्याय परिणमती है। जिसकी दृष्टि वहाँ है, वह अपने षट्कारक से परिणमता है, वह उससे लिप्त होता है परन्तु जिसकी दृष्टि उसके ऊपर नहीं... आहाहा! और आत्मद्रव्य के ऊपर है, उसमें भाव नाम के गुण के कारण उस षट्कारक की विकृति के परिणाम से अभावरूप परिणमना, ऐसा उसका स्वभाव है। आहाहा! ऐसा धर्म कैसा ? वह तो कितनी ऐसी धमाल चलती है। भक्ति करो, पूजा करो, अमुक करो, संगीत लगाओ। अभी यह चला है। संगीत... संगीत का वजन। विद्यानन्द है न ? संगीत बनाया है। यहाँ आया है न ? एक बहिन लायी थी। 'वंदित्तु सव्व सिद्धे' परन्तु इससे क्या हुआ ? संगीत में लगाओ। तीन सौ रुपये यहाँ दो तो तुम्हें यह सब

मिलेगा। संगीत मिलेगा। वह तो सब विकल्प, राग है। संगीत सुनना, वह भी राग है। संगीत में मजा आ जाए ऐसे, बस! देवलाली में वह है न? मुम्बई के पास। वहाँ संगीत लगाते हैं। 'जो स्वरूप समझे...' की ऐसी लगावे ऐसे अन्दर (कि) लोगों को ऐसे धुन चढ़े। परन्तु वह तो राग है, भाई!

लोहखण्ड कीचड़ में पड़ा है, इसलिए उसे लेप लगता है, ऐसा नहीं है। वह लेप लोहे का ही स्वभाव है। आहाहा! **इसी प्रकार वास्तव में अज्ञानी कर्मों के मध्य रहा हुआ..** विकारी परिणाम के मध्य में दिखता है, विकारी परिणाम से लिप्त होता है। आहाहा! क्योंकि उसकी दृष्टि वहाँ है। जिसकी दृष्टि के अस्तित्व में विकार का ही अस्तित्व भासित होता है। इसलिए वह अज्ञानी ऐसे कार्य के मध्य में पड़ा हुआ लिप्त होता ही है। वह तो स्वयं के कारण से लिप्त होता है, ऐसा कहते हैं। ऐसा लिप्त होने का अज्ञानी का स्वभाव ही वह है। आहाहा!

क्योंकि सर्व परद्रव्यों के प्रति किये जानेवाला राग... आहाहा! भगवान त्रिलोकनाथ के प्रति किया जानेवाला राग.. आहाहा! और वाणी के प्रति भी किया जानेवाला राग। **सर्व परद्रव्यों के प्रति किये जानेवाला राग...** आहाहा! सर्व द्रव्यों में तो तीर्थंकर और तीर्थंकर की वाणी भी आयी या नहीं? हें? देव-गुरु-शास्त्र आये या नहीं? आहाहा! **परद्रव्यों के प्रति किये जानेवाला राग, उसका ग्रहणरूप स्वभावपना होने से...** अज्ञानी को तो उस राग का ग्रहण (करना) ऐसा ही उसका स्वभाव है। यह लोहे का स्वभाव है (कि) कीचड़ के मध्य, वह कीचड़ के कारण से नहीं, लोहे के स्वभाव के कारण से। उसी प्रकार अज्ञानी का स्वभाव ही यह है। राग की एकतारूप होना, ऐसा उसका स्वभाव होने से अज्ञानी **कर्म से लिप्त होने के स्वभाववाला है।** आहाहा! बहुत सूक्ष्म।

विकार के परिणाम के मध्य में रहा होने पर भी धर्मी का स्वभाव ऐसा है कि उससे स्वयं के कारण से लिप्त नहीं होता और अज्ञानी ऐसा है कि उसका स्वभाव राग की एकताबुद्धिवाला होने से उसे विकारी परिणाम का लेप लग जाता है। अज्ञानी कर्म से लिप्त होने के स्वभाववाला है, कहते हैं। वह द्रव्य का स्वभाव नहीं। आहाहा! विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २९७, गाथा-२१८, २१९, श्लोक-१५० बुधवार, भाद्र शुक्ल ७
दिनाङ्क २९-०८-१९७९

पर्यूषण का तीसरा दिन है न? आर्जव धर्म, आर्जव। जो विचार हृदय में रहा हो, वही वचन में रहे, ऐसी सरलता हो। सम्यग्दर्शनसहित यह आजीव धर्म है। निश्चय से तो मुनि को होता है, परन्तु सम्यग्दृष्टि को भी यह गौणरूप से होता है। वह बाहर परिणमे। जैसा हृदय में हो, वैसा वचन में रहे, ऐसा ही बाहर शरीर द्वारा भी तत्प्रमाण कार्य किये जाएँ। आहाहा! इसका नाम आर्जव अर्थात् सरल (धर्म है), सम्यग्दर्शनसहित। आहाहा!

मुमुक्षु : यह तो व्यवहार की बात है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह परमार्थ की बात है, व्यवहार की नहीं। यह भाषा है परन्तु अन्दर सम्यग्दर्शनसहित सरलता का निश्चय भाव ऐसा हो कि जैसा हृदय है, वैसी वाणी और वाणी है, वैसा वर्तन (होवे)। आहाहा! सूझम बात है, भाई! यह तो दसलक्षणी पर्व चारित्र के भेद हैं। मुनिपना है, उसे दसलक्षण धर्म होते हैं। सच्चे सन्त को अन्तर अनुभवसहित। कहते हैं कि वह सरलता तो उनका आर्जव स्वभाव और धर्म है। आहाहा! यह आर्जव धर्म है।

इससे विपरीत दूसरे को दगा देना, वह अधर्म है। ये दोनों क्रमशः... सरलतादि है, उसमें विकल्प की मुख्यता यहाँ ली है। है तो सरल अन्दर स्वभाव परन्तु उसे विकल्प ऐसा होता है कि उसका फल स्वर्ग—देवगति है और दगा का फल नरकगति है, नरकगति। यहाँ लोक में एक बार भी किया गया कपट... व्यवहार जन्म से... कपटव्यवहार, जन्म से लेकर भारी कष्टों से उपार्जित सब मुनि के सम आदि गुणों का अतिशय छाया विघात करता है। आहाहा! कपट है, उसके गुण की छाया भी नहीं रहती वहाँ तो। आहाहा! वक्रता, असरलता ऐसा करनेवाले को गुण की छाया भी; गुण तो रहते नहीं, उनकी छाया भी नहीं रहती।

उक्त मायाचार से क्षमादि गुणों की छाया भी बाकी नहीं रहती। मूल में से नष्ट हो जाती है। आहाहा! क्योंकि उस कपटपूर्ण व्यवहार में वास्तव में क्रोधादि सब दुर्गुण परिपूर्ण होकर रहते हैं। आहाहा! क्रोध, मान, माया, लोभादि कषाय जो संसार है... आहाहा! कष

(अर्थात्) कृश, संसार (अर्थात्) आय। जिसमें से परिभ्रमण का लाभ हो, ऐसी कषायें एक भी की हुई सब कषायें साथ में। क्रोधादि सब दुर्गुण परिपूर्ण होकर रहते हैं। आहाहा! खेद है कि वह कपट व्यवहार ऐसा पाप है कि जिसके कारण से यह जीव नरकादि दुर्गति ऐसे मार्ग में चिरकाल तक परिभ्रमण करता है। आहाहा! कपटादि तीव्र कषाय से तो वह निगोद में जाता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! निगोद, वह तिर्यंच है न? यह तिरछा जो कपट, महामायावी... आहाहा! जिसका हृदय हाथ न आवे, माया की—कपट की गहराई में पता न लगे उसका, ऐसा मायाचारी। आहाहा! मरकर निगोद में जाता है। जहाँ जीव है, उसकी स्वीकृति भी दूसरे को नहीं होती। आहाहा! उस जगह जाता है। इसलिए धर्मात्मा को सम्यग्दर्शनसहित सरलता के भाव को अपनाना चाहिए। आहाहा!

यहाँ तो एक विचार इस आकृति का आया है कि आकाश है, उसे भी आकृति है। आहाहा! अरे! देखो तो (सही)! व्यंजनपर्याय है न? आहाहा! यह अलोक है न, अलोक खाली? कहीं अन्त नहीं। तथापि उसे व्यंजनपर्याय—आकार है। आहाहा! यह पढ़ा था उस दिन, खबर है। उसमें अधिकार है, आकृति का, शुद्धद्रव्य का अधिकार। माणेकचन्द्र यह लेते थे, माणेकचन्द्र पण्डित थे न? यहाँ तो पहले से खबर है। आहाहा!

ऐसी जिसकी विशालता, ऐसी विशालता जिसे अन्तर में बैठी है, उसे माया और कपट कैसे हो? उसमें इसका वर्णन लिया 'जाणंतो सुद्धं अप्पाणं' ऐसा। यह शब्द रखा है। आता है न? ऐसा कि शुद्ध द्रव्य की आकृति और शुद्ध द्रव्य का वास्तविक स्वरूप, जिसे ज्ञान में, भान में जिसे बैठे... आहाहा! उसकी दशा सर्वज्ञ को प्राप्त करने की योग्यता हो जाती है। समझ में आया? आहाहा!

सिद्ध को आकार है। निराकार निरंजन कहने में आता है, वह तो जड़ का आकार नहीं है, (इसलिए कहा जाता है)। आहाहा! यहाँ क्या कहना है? वस्तु पूरी ऐसी है, उस वस्तु को जैसी है, उस प्रकार से ज्ञान में, श्रद्धा में जानना और मानना, उसमें कपट का और माया का अवकाश नहीं है। ऐसी सरलता में, धर्मी सरलता में परिणम रहे हैं। इसका फल उन्हें मोक्ष है। परन्तु थोड़ा विकल्प है, इसलिए उसका फल स्वर्ग कहा जाता है। आहाहा! दसलक्षणी पर्व अर्थात् तो अलौकिक चीज़ है, बापू! यह कहीं... आहाहा! भावलिंगी सन्त

जिसे—दसलक्षणी को आराधते हैं। आहाहा! यह अलौकिक बातें हैं। यहाँ कहाँ आया है? भावार्थ?

समयसार निर्जरा अधिकार, २१८-२१९ (गाथा) का भावार्थ। आहाहा! **जैसे कीचड़ में पड़े हुए सोने को जंग नहीं लगती और लोहे को लग जाती है, इसी प्रकार कर्मों के मध्य रहा हुआ ज्ञानी...** आहाहा! शुभाशुभ परिणाम के मध्य में रहा प्रभु, आहाहा! तथापि उसे कर्म नहीं बँधता। धर्मी **कर्मों से नहीं बँधता तथा अज्ञानी बँध जाता है।** इन शुभाशुभ परिणाम के मध्य में ही उसकी दृष्टि वहाँ है। धर्मी की दृष्टि शुभाशुभ परिणाम के कार्यकाल में भी, शुभाशुभ परिणाम के कार्यकाल में भी स्वभाव पर दृष्टि होने से उसे शुभाशुभ परिणाम हुए हैं और बन्ध है, ऐसा नहीं है। आहाहा! सूक्ष्म बातें। **यह ज्ञान-अज्ञान की महिमा है।** आहाहा!

मुमुक्षु : ज्ञान की तो सही परन्तु अज्ञान की भी?

पूज्य गुरुदेवश्री : अज्ञान की भी महिमा है। राग को वह अपना मानता है, यह भी कोई अज्ञान की महिमा है। भगवान शुद्ध चिदानन्द प्रभु, आहाहा!

चिद्विलास में कहा है, तेरी शुद्धता तो बड़ी परन्तु तेरी अशुद्धता भी बड़ी। अनुभव प्रकाश में कहा है। आहाहा! तेरी अशुद्धता का पार नहीं पावे, ऐसी प्रभु तेरी अशुद्धता है। आहाहा! पर्याय में, हों! शुद्धता की तो बात क्या करना? आहाहा! 'शुद्धचेव लहे अप्पाणं शुद्ध जाणंतो' शुद्ध चैतन्यमूर्ति चैतन्य के प्रकाश का पूर, नूर—तेज, उसकी तो बात क्या करना! उसकी दृष्टि होने पर जो निर्मल परिणति प्रगट होती है, उसकी भी क्या बात करना! आहाहा! परन्तु कहते हैं कि, जिसे शुभाशुभ परिणाम हो, ऐसे सम्यग्दृष्टि को भी शुभाशुभ भाव पर दृष्टि नहीं होने से और त्रिकाली चैतन्य के प्रकाश के पूर को देखता होने से उसे बन्ध नहीं है। आहाहा! समझ में आया? यह १५० श्लोक है।

कलश - १५०

अब इस अर्थ का और आगामी कथन का सूचक कलशरूप काव्य कहते हैं:-

(शार्दूलविक्रीडित)

यादृक् तादृगिहास्ति तस्य वशतो यस्य स्वभावो हि यः
कर्तुं नैष कथञ्चनापि हि परैरन्यादृशः शक्यते।
अज्ञानं न कदाचनापि हि भवेज्ज्ञानं भवत्सन्ततं
ज्ञानिन् भुङ्क्ष्व परापराधजनितो नास्तीह बन्धस्तव ।।१५०।।

श्लोकार्थ : [इह] इस लोक में [यस्य यादृक् यः हि स्वभावः तादृक् तस्य वशतः अस्ति] जिस वस्तु का जैसा स्वभाव होता है, उसका वैसा स्वभाव उस वस्तु के अपने वश से ही (अपने आधीन ही) होता है। [एषः] ऐसा वस्तु का स्वभाव, वह [परैः] परवस्तुओं के द्वारा [कथंचन अपि हि] किसी भी प्रकार से [अन्यादृशः] अन्य जैसा [कर्तुं न शक्यते] नहीं किया जा सकता। [हि] इसलिए [सन्ततं ज्ञानं भवत्] जो निरन्तर ज्ञानरूप परिणमित होता है, वह [कदाचन अपि अज्ञानं न भवेत्] कभी भी अज्ञान नहीं होता; [ज्ञानिन्] इसलिए हे ज्ञानी! [भुंक्ष्व] तू (कर्मोदयजनित) उपभोग को भोग, [इह] इस जगत में [पर-अपराध-जनितः बन्धः तव नास्ति] पर के अपराध से उत्पन्न होनेवाला बन्ध तुझे नहीं है (अर्थात् पर के अपराध से तुझे बन्ध नहीं होता)।

भावार्थ : वस्तु का स्वभाव वस्तु के अपने आधीन ही है। इसलिए जो आत्मा स्वयं ज्ञानरूप परिणमित होता है, उसे परद्रव्य अज्ञानरूप कभी भी परिणमित नहीं करा सकता। ऐसा होने से यहाँ ज्ञानी से कहा है कि-तुझे पर के अपराध से बन्ध नहीं होता; इसलिए तू उपभोग को भोग। तू ऐसी शंका मत कर कि उपभोग के भोगने से मुझे बन्ध होगा। यदि ऐसी शंका करेगा तो 'परद्रव्य से आत्मा का बुरा होता है' ऐसी मान्यता का प्रसंग आ जायेगा।-इस प्रकार यहाँ परद्रव्य से अपना बुरा होना मानने की जीव की शंका मिटाई है; यह नहीं समझना चाहिए कि भोग भोगने की प्रेरणा करके स्वच्छन्द कर दिया है। स्वेच्छाचारी होना तो अज्ञानभाव है, यह आगे कहेंगे।।१५०।।

कलश - १५० पर प्रवचन

यादृक् तादृगिहास्ति तस्य वशतो यस्य स्वभावो हि यः
कर्तुं नैष कथञ्चनापि हि परैरन्यादृशः शक्यते।
अज्ञानं न कदाचनापि हि भवेज्ज्ञानं भवत्सन्ततं
ज्ञानिन् भुङ्क्ष्व परापराधजनितो नास्तीह बन्धस्तव ।।१५०।।

इस लोक में जिस वस्तु का जैसा स्वभाव होता है, उसका वैसा स्वभाव उस वस्तु के अपने वश से ही (अपने आधीन ही) होता है। आहाहा! वस्तु भगवान आत्मा शुद्ध पवित्र है, वह स्वयं के आधीन है। अपवित्रता, वह पर के आधीन है, निमित्ताधीन है। आहाहा! शुद्ध स्वभाव जो भगवान परमानन्द प्रभु, वह शुद्ध स्वभाव तो स्वयं के आधीन—स्वाधीन है, वह पराधीन नहीं है। आहाहा!

वैसा स्वभाव उस वस्तु के अपने वश से ही... है। **ऐसा वस्तु का स्वभाव वह परवस्तुओं के द्वारा किसी भी प्रकार से अन्य जैसा नहीं किया जा सकता।** सिद्धान्त यह सिद्ध करना है। धर्मी को अपनी वस्तु का स्वभाव शुद्ध और पवित्र है, इसलिए वह पर की सामग्री में रहा और परसामग्री को भोगता है, ऐसा दिखता है तो भी परचीज़, परपदार्थ के अपराध से तुझे अपराध हो, ऐसा नहीं है। क्या कहते हैं? **परवस्तुओं के द्वारा किसी भी प्रकार से अन्य जैसा नहीं किया जा सकता।**

[**सन्ततं ज्ञानं भवत्**] **जो निरन्तर ज्ञानरूप परिणमित होता है...** धर्मी। शुद्ध स्वभाव चैतन्यमूर्ति प्रभु! और उसका परिणमन भी निरन्तर शुद्ध है। आहाहा! वह **कभी भी अज्ञान नहीं होता;...** वह किसी भी प्रकार परद्रव्य के कारण से अज्ञानी नहीं होता। आहाहा! जरा धीरे से (समझना), यह बात कठिन है। क्या कहते हैं?

हे ज्ञानी! तू (कर्मोदयजनित) उपभोग को भोग,... भोगने का नहीं कहते। यह शब्द है। उसे ऐसा कहते हैं कि प्रभु! तू शुद्ध चैतन्यघन है न! तुझे परद्रव्य की परिणति से तुझे कुछ नुकसान हो, ऐसी चीज़ है ही नहीं। आहाहा! जड़ का उपभोग और जड़ की परिणति से तुझे नुकसान हो, ऐसा कुछ है ही नहीं, ऐसा कहते हैं। क्या कहा यह?

शरीर, वाणी, मन, पैसा, लक्ष्मी, स्त्री, कुटुम्ब की ओर का लक्ष्य और भोग, उसके कारण से यह नुकसान होता है, जड़ के कारण से—ऐसा नहीं है और तू तो ज्ञानानन्दस्वभावी वस्तु है तो तुझे परवस्तु के अपराध से तुझे नुकसान हो, ऐसा नहीं है। भोग, ऐसा कहा है। यह तो मुनि हैं। भोगने का अर्थ (यह कि) परद्रव्य से तुझे नुकसान नहीं है, यह निःशंक उसे सिद्ध करते हैं। आहाहा! इस शरीर की क्रिया या वाणी की क्रिया या बाहर के संयोग के कारण धर्मी को कोई अपराध हो, परद्रव्य के कारण, ऐसा है नहीं। और स्वद्रव्य का निरपराधी स्वभाव तो अनुभव में परिणमता है। आहाहा! क्या कहते हैं?

भगवान आत्मा चैतन्य के प्रकाश का पुंज प्रभु! उसका जिसे अन्तर में स्वभाव का स्वीकार और सत्कार हुआ है, ऐसे धर्मी को तो शुद्ध चैतन्य के स्वभाव का परिणमन होता है। वह परिणमन परद्रव्य द्वारा दूसरा किया जा सकता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! शरीर की क्रिया चाहे जितनी हो, ऐसा कहना है। परन्तु उससे निरपराधी भगवान आत्मा को अपराध नहीं होता। आहाहा! क्या कहते हैं?

हे ज्ञानी! तू (कर्मोदयजनित) उपभोग को भोग,... बाहर की सामग्री को तू भोग। अर्थात् तेरा लक्ष्य वहाँ जाए, इससे तुझे नुकसान है, पर के कारण से (नुकसान है)—ऐसा नहीं है। तेरा लक्ष्य वहाँ जाए और विकल्प उठे, वह तो तेरा दोष है। परन्तु उस परवस्तु के कारण से तुझे कुछ दोष होता है, (ऐसा नहीं है)। आहाहा! पैसे बहुत रखे, शरीर की विषयादि की जड़ की क्रिया बहुत हुई, उससे उस जड़ की क्रिया से तुझे नुकसान होता है, यह बात नहीं है। तेरे भाव में विपरीत भाव होवे तो तुझे नुकसान होता है। आहाहा! गजब बातें, भाई!

इस जगत में [**पर-अपराध-जनितः बन्धः तव नास्ति**] यह सिद्धान्त सिद्ध करना है। **पर के अपराध से उत्पन्न होनेवाला बन्ध तुझे नहीं है...** शरीर की क्रिया से, पैसे से, स्त्री की देह से, ऐसी क्रिया से तुझे कुछ नुकसान हो, (ऐसा नहीं है), वे तो परद्रव्य हैं। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! **पर के अपराध से उत्पन्न होनेवाला बन्ध तुझे नहीं है (अर्थात् पर के अपराध से तुझे बन्ध नहीं होता)।** यह सिद्ध करना है, हों! भोग, कहा है, वह कहीं भोगने का नहीं कहा। परद्रव्य के सम्बन्ध में परद्रव्य के कारण तुझे नुकसान है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

भावार्थ : वस्तु का स्वभाव वस्तु के अपने आधीन ही है। शुद्ध चैतन्यप्रभु की शुद्ध परिणति स्वयं के आधीन है। आहाहा! **इसलिए जो आत्मा स्वयं ज्ञानरूप परिणमित होता है...** अर्थात् कि शुद्ध स्वभावरूप परिणमता है, **उसे परद्रव्य अज्ञानरूप कभी भी परिणमित नहीं करा सकता।** आहाहा! ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान, वह ज्ञान और आनन्दरूप होता है, उसे परद्रव्य कभी अज्ञान नहीं करा सकता। शरीर की चाहे जितनी क्रिया और लक्ष्मी का ढेर हो तो उसके कारण से यहाँ अज्ञान हो, ऐसा है नहीं।

मुमुक्षु : उसकी ममता के कारण से है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो अपने अपराध से है, सीधी बात है। परन्तु यह तो ज्ञानी को तो वह है नहीं, ऐसा यहाँ कहा। वह बात यहाँ है नहीं।

धर्मी को आत्मा शुद्ध स्वरूप है, ऐसा कहा न? उसे वह परिणमता है। इसलिए अशुद्धता वहाँ उसे परिणाम में है ही नहीं। आहाहा! समझ में आया? यह 'निर्जरा अधिकार' है, इसलिए ज्ञानी के शरीरादि के भोग के काल में भी उसे अशुद्धता टलती जाती है और शुद्धता बढ़ जाती है, ऐसा कहते हैं। क्योंकि पर के कारण यहाँ अशुद्धता हो, ऐसा नहीं है। सूक्ष्म बात है। ऐसा करके कोई स्वच्छन्दी हो जाए, उसकी यह बात नहीं है। आहाहा!

यहाँ तो सिद्धान्त का निश्चय सत्य क्या है, वह सिद्ध करते हैं। भगवान आत्मा शुद्ध चिद्घन आनन्दकन्द प्रभु को निहारनेवाला—देखनेवाला, उसे तो ज्ञान और आनन्दादि के परिणमन होते हैं। उस परिणमन को परद्रव्य की क्रियाएँ उस परिणमन को बदल सके या अज्ञान कर सके, ऐसा नहीं है। समझ में आया? आहाहा!

परद्रव्य अज्ञानरूप कभी भी परिणमित नहीं करा सकता। यह सिद्धान्त सिद्ध करना है। परद्रव्य की परिणति से और परद्रव्य के अन्दर के संयोग-वियोग से तुझे कुछ भी नुकसान उसके कारण नहीं है। आहाहा! समझ में आया? एक भाई थे न? पण्डित, क्या कहलाता है? जामनगरवाले। 'लालन'! लालन ने एक प्रश्न रखा था, भाई! कि हमारे बड़ा जॉर्ज और ऐड... क्या कहलाता है? ऐडवर्ड! उसके एक स्त्री और तुम कहो कि तीर्थंकर चक्रवर्ती को ९६ हजार स्त्रियाँ! राजा ऐडवर्ड को... क्या कहलाता है दूसरा? जॉर्ज! उसके

एक स्त्री हो, अभी है। और चक्रवर्ती समकिती तीर्थंकर के ९६ हजार। अरे! सुन तो सही, कहा। वह ९६ हजार परद्रव्य है, वह नुकसान का कारण कहाँ है? समझ में आया? तब तो जिसका शरीर मोटा-स्थूल हो, वह नुकसान का कारण और पतला शरीर नुकसान का कम कारण, ऐसा है? परद्रव्य के कारण नुकसान है? आहाहा! उसे अपना मानना, (वह नुकसान है)। धर्मी को तो यह मान्यता है नहीं। आहाहा! ऐसा कि ९६ हजार स्त्रियाँ और तुम उन्हें तीर्थंकर और समकिती कहो और हम एक ही रानी रखें। परन्तु अब तेरा अनार्य अज्ञानी उसे भान कब है? लालन था, लालन, पण्डित लालन। अमेरिका में बहुत जाता था, इसलिए ऐसा सब उसे (सूझता था)। फिर तो यहाँ रहते। भाई! मार्ग अलग है, बापू! जड़ के अधिक संयोग इसलिए ज्ञानी को बन्ध का कारण है, ऐसा नहीं है। और कम संयोग है, इसलिए उसे बन्ध कम है, ऐसा नहीं है। समझ में आया? आहाहा!

निश्चय से तो भगवान पूर्णानन्द के नाथ में निर्मल पर्याय की उत्पत्ति होना, वह संयोग है और पूर्व की पर्याय का व्यय होना, वह वियोग है। आहाहा! ऐसा तो संयोग और वियोग धर्मी को भी होता है। क्या कहा, समझ में आया? पंचास्तिकाय की १८वीं गाथा में (आता है) कि पर्याय होना, वस्तु जो नित्यानन्द प्रभु है, उसे जो पर्याय निर्मल सम्यग्दर्शन-ज्ञान हो, वह भी पर्याय का संयोग हुआ और पूर्व की पर्याय का नाश हुआ, वह वियोग हुआ। संयोग और वियोग उसकी पर्याय में है। आहाहा! बाहर के कारण से संयोग-वियोग है, वह वस्तु में नहीं है। आहाहा!

रात्रि में प्रश्न था, ऐसा कि संयोग में... ऐसा था न कुछ? संयोग अधिक हो तो उसके कारण आत्मा को कहाँ (नुकसान है)? संयोग के कारण कुछ (नुकसान नहीं होता)। परद्रव्य है न? संयोगी चीज़ परद्रव्य है। वह पर्याय जो संयोगी है, वह तो स्वद्रव्य की पर्याय है और यह शरीर, कर्म, लक्ष्मी, कुटुम्ब, स्त्री, राज आदि वे परद्रव्य हैं। उन परद्रव्य के कारण से आत्मा को बन्धन हो और अज्ञान हो, ऐसा नहीं है। स्वयं ही अज्ञान राग को एकताबुद्धि से करता था, वह अज्ञान मिटाया है। आहाहा! उस पर के कारण अज्ञान नहीं था। यह स्वयं उस राग को एकत्वबुद्धि (से) किया था, वह अज्ञान था। वह अज्ञान पर के कारण नहीं था तथा वह अज्ञान मिटाकर ज्ञान किया, इसीलिए उसको परद्रव्य कोई अज्ञान

कर सके, ऐसा नहीं है। अधिक रानियाँ और अधिक इन्द्र और इन्द्राणियाँ, उनकी परिणति को परद्रव्य नुकसान करे, (ऐसा नहीं है)। थोड़ा संयोग, उसे थोड़ा बन्धन और अधिक संयोग, उसे अधिक बन्धन—ऐसा नहीं है। अरे! समझ में आया?

यह तो तत्त्व का नियम है कि तत्त्व जो स्वयं से ज्ञात हुआ और अनुभव में आया, उसकी दशा में अब परद्रव्य अधिक या थोड़े, वह उसे अज्ञान नहीं करा सकते। समझ में आया? आहाहा! परद्रव्य को तो स्वद्रव्य स्पर्श ही नहीं करता न! फिर थोड़े हों या अधिक हो। समझ में आया?

ऐसा होने से यहाँ ज्ञानी से कहा है कि–तुझे पर के अपराध से बन्ध नहीं होता... यह सिद्धान्त है। भोगने का कहा, वह भोग—ऐसा कहीं धर्मात्मा कहेंगे? परन्तु उस परद्रव्य के कारण से तुझे अपराध नहीं होता, यह सिद्ध करने के लिये बात की है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! **तुझे पर के अपराध से बन्ध नहीं होता...** पर के अपराध से अर्थात् शरीर की बहुत क्रिया हुई और पैसे बहुत हुए और स्त्रियाँ बहुत, इसलिए उनके कारण यहाँ बन्ध है, ऐसा नहीं। आहाहा!

तू उपभोग को भोग। इसका अर्थ कि, संयोग में तू आता भले हो, उस संयोग में तू नहीं आया। संयोग थोड़े या बहुत, उसमें तेरा लक्ष्य जाए तो विकल्प (हो), वह और अलग वस्तु, परन्तु उन्हें जानने में तेरा लक्ष्य जाए, संयोग थोड़े हों या अधिक, वह तो जानने का लक्ष्य, ज्ञान जाने। इसलिए अधिक संयोग में आया, इसलिए उसे अज्ञान कर डाले और उसके परिणमन को बदला डाले, (ऐसा नहीं है)। आहाहा! समझ में आया? यह तो वीतराग के सिद्धान्त, भाई! आहाहा!

और जिसे ये संयोग छूट गये, लो न! नग्न मुनि हुआ; इसलिए संयोग छूट गये, इसलिए ज्ञान वहाँ शुद्ध है—ऐसा नहीं; और संयोग में चक्रवर्ती को ९६ करोड़ के ढ़ेर पड़े हैं, तो उनके कारण से उसे ज्ञान का अज्ञान हो, (ऐसा नहीं है)। आहाहा! और जिसे नग्नपना (होकर) संयोग छूट गये, इसलिए उसे शुद्ध ज्ञान हो, ऐसा नहीं है। समझ में आया? इस प्रकार संयोगरहित देखे, इसलिए लोगों को ऐसा लगता है कि आहाहा! यह त्यागी है। परन्तु अन्तर में राग की एकताबुद्धि पड़ी है, मिथ्यादृष्टि त्यागी नहीं है। आहाहा!

धर्मी का त्यागी है। ऐसी गजब बातें। बाहर के संयोग के अभाव से त्यागी के त्यागपने की महत्ता दिखायी दे, वह वस्तु खोटी है। और बाहर के संयोग की वृद्धि की पुष्टि में उसका अज्ञान है, मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है, ऐसा कल्पित करना, वह अत्यन्त झूठा है। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बातें हैं। यह कहते हैं न?

तुझे पर के अपराध से बन्ध नहीं होता... शरीर का संयोग बहुत अधिक परमाणु और स्त्रियाँ बहुत, लड़के बहुत, पैसे बहुत, मकान बहुत; इस कारण तुझे बन्ध नहीं होता। वह चीज़ तो पर है। आहाहा! **इसलिए तू उपभोग को भोग।** अर्थात् कि परद्रव्य के कारण से तुझे नुकसान नहीं है, इसलिए परद्रव्य के संयोग में भले हो, परन्तु तुझे उसमें (नुकसान नहीं है)। भोगने का अर्थ कि संयोग में हो, परन्तु तुझे बन्धन है नहीं। आहाहा! ऐसी उलट-पुलट की बातें हैं।

यहाँ तो वर्तमान में जैसे-जैसे कुछ बाहर का संयोग घटावे तो उसे त्यागी मानते हैं, तो बहुत संयोग बड़े ९६ करोड़ सैनिक और ९६ हजार स्त्रियाँ और करोड़ों अप्सराएँ समकिती हो हैं, परन्तु उस संयोग से उसका माप निकालना कि वह अपराधी है (तो ऐसा नहीं है)। और संयोग बहुत घट गये और कुछ नहीं रहा, वस्त्र का टुकड़ा भी नहीं रहा; इसलिए वह धर्मी है, ऐसे संयोग के अभाव से उसका धर्म का माप नहीं हो सकता। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! गजब बात है।

सत्य का पुकार है। सत्य है, वह भले चाहे जितने संयोग में दिखायी दे परन्तु सत् है, उसे हाथ अन्तर में अनुभवदृष्टि हुई है, उसका परिणमन ज्ञान और आनन्द का परिणमन है, उसे अधिक संयोगों से कुछ नुकसान होता है और संयोग थोड़े हों तो उसे कुछ लाभ होता है, ऐसा है नहीं। अरे! ऐसी बातें। आहाहा! भगवान सन्त स्वयं यह पुकार करते हैं। कुन्दकुन्दाचार्य, अमृतचन्द्राचार्य। आहाहा! प्रभु! तू स्वद्रव्य है न! स्वद्रव्य की दृष्टि और स्वद्रव्य का परिणमन हुआ, इसलिए तुझे परद्रव्य के बहुत संयोग में तुझे लोग देखें और तुझे ऐसा हो जाए कि यह संयोग बहुत है, इसलिए मुझे नुकसान हुआ—ऐसा है नहीं। आहाहा! ज्ञानी तो मानता नहीं, परन्तु लोग ऐसा मानते हैं न? इतना अधिक परिग्रह और इतनी अधिक स्त्रियाँ और इतने सब लड़के। चक्रवर्ती को बत्तीस हजार लड़कियाँ, चौसठ हजार लड़के,

९६ करोड़ सैनिक, ९६ हजार स्त्रियाँ। परन्तु कहते हैं कि यह संयोग है, वह उसे बन्ध का कारण है, ऐसा नहीं है। आहाहा! अर्थात् कि परद्रव्य, वह बन्ध का कारण नहीं है। आहाहा! यदि स्वद्रव्य में तूने पर को, राग को अपना माना हो, भले संयोग न हो, परन्तु राग को अपना माना हो तो वहाँ मिथ्यात्व का अपराध तूने खड़ा किया हुआ है। समझ में आया? आहाहा!

ऐसा कहकर सिद्धान्त का सत्यपना प्रसिद्ध करते हैं। उसे संयोग को भोग, ऐसा कहकर कहीं भोगने को कहा नहीं है। अपने राग को अनुभव करे और या निर्विकारी को अनुभव करे। इसके अतिरिक्त पर का तो अनुभव है नहीं परन्तु यहाँ कहने का आशय (यह है कि) बहुत संयोगों में तू आया, भले हो, वे संयोग कहीं नुकसान करनेवाले नहीं हैं। आहाहा! चिमनभाई! ऐसी बातें हैं। स्वतत्त्व जो आत्मा अन्दर पर से भिन्न है, उसे भले संयोगों के ढ़ेर हों, उससे उसके आत्मा को क्या है? आहाहा! और संयोग बहुत छूट गये हों, इसलिए वह धर्मी है, ऐसा माप कहाँ है? उसे असंयोगी ऐसी चीज़ भगवान आत्मा पूर्णानन्द का नाथ... आहाहा!

एक बार आकृति का कहा था न? यह सवेरे विचार आया था, अधिक। यह आकाश पूरा। अन्त नहीं तो भी आकार है। अरे.. अरे..! यह गजब बात है। जैनदर्शन का तत्त्व कोई अलौकिक है। सर्व व्यापक आकाश को भी प्रदेशगुण के कारण से आकार होता है। अरे! भाई! सिद्ध को भी आकार होता है। अपने असंख्य प्रदेश का आकार है, वह आकार होता है। उन्हें तो निरंजन निराकार (कहते हैं) वह तो पर की अपेक्षा से आकार नहीं है, ऐसा कहा है। और उन्हें तो ऐसा कहा है कि उसमें से कि उस प्रकार ऐसा आकार और निराकार जिस प्रकार से है, उसे समझे और उसका ध्यान करे तो उसे पर से भिन्नता का भान हो। आहाहा! उसमें है, वह पुस्तक पढ़ी थी। कहा नहीं? माणेकचन्दजी थे न? आहाहा!

इसी प्रकार शरीर का स्थूल आकार (हो) और शरीर का थोड़ा आकार तथा आत्मा के प्रदेश का आकार भी वहाँ थोड़ा है, इसलिए तुझे नुकसान है, ऐसा नहीं है। अथवा थोड़ा है, इसलिए लाभ है—ऐसा नहीं। आहाहा! केवली समुदघात करे, तब तो लोक के आकार

जितना आकार उनका हो जाता है। आहाहा! भगवान का प्रदेश का आकार लोकाकाश प्रमाण हो जाता है, तो वह आकाश बड़ा हुआ, इसलिए उन्हें नुकसान है और सात हाथ के ध्यान में थे, केवलज्ञान में, इसलिए उन्हें लाभ है, ऐसा नहीं है। आहाहा! अपने छोटे-बड़े आकार से भी जहाँ लाभ-नुकसान नहीं, वहाँ परद्रव्य से नुकसान है, यह तो है ही नहीं—ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? बहुत जैनदर्शन, बापू! वीतरागमार्ग ऐसा है। आहाहा! कहीं है नहीं इसके अतिरिक्त। वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर, जिन्होंने एक समय में तीन काल-तीन लोक देखे, ऐसा कहना वह व्यवहार है। उन्होंने अपनी पर्याय को देखा, उसमें दिख गया है। आहाहा!

पर से भिन्न है तो पर के चाहे जितने संयोग हो, वह तुझे नुकसान का कारण हो अथवा वे पर के बहुत संयोग तुझे अज्ञान करा दें, आहाहा! बहुत संयोग तुझे विपरीत बुद्धि करावे, (ऐसी उनमें) ताकत नहीं है, कहते हैं किसी की। आहाहा! समझ में आया? और बहुत संयोगों में आया, इसलिए बन्ध का कारण हुआ—ऐसा नहीं है। क्योंकि संयोग परद्रव्य है, इनसे तुझे नुकसान कुछ नहीं है।

इसलिए तू उपभोग को भोग। तू ऐसी शंका मत कर कि उपभोग के भोगने से मुझे बन्ध होगा। यह बात है। बहुत संयोग में आया, इसलिए मुझे बन्ध होगा—ऐसी शंका न कर, ऐसा कहते हैं। आहाहा! क्या कहा? भाई! अधिक संयोग में शरीर में, ऐसे पैसे में, स्त्री के शरीर के संयोग में आया, आहाहा! इसलिए इसके कारण मुझे बन्ध होगा—ऐसी शंका न कर। आहाहा! क्या कहते हैं? भाई! आहाहा! तू पर के संयोग में आया, यह भले हो, उनसे तुझे बन्ध होगा—ऐसी शंका न कर, बस, यह बात है। समझ में आया? है इसमें? आहाहा! भोगने का अर्थ यह कि संयोग भले बहुत हो, ऐसा। परन्तु उनसे तुझे नुकसान नहीं है। आहाहा! यदि तेरी दृष्टि राग और पुण्य के परिणाम पर गयी, तब तो तुझे नुकसान तुझसे है, इस परद्रव्य से नहीं। हें? आहाहा! अब ऐसी बातें सुनने को मिलती नहीं, सूक्ष्म पड़ती है। क्या हो? भाई! आहाहा!

पूर्णानन्द का नाथ प्रभु... अनन्त गुणधाम। सुखधाम आता है न? श्रीमद् में (आता है)। 'स्वयं ज्योति सुखधाम' आहाहा! चैतन्य ज्योति और सुखधाम, आनन्द का स्थान,

आनन्द का खेत है, उसमें से आनन्द पकता है। आहाहा! ऐसे जीव को, जिसे आनन्द पका है, ऐसे आनन्दस्वभावी जीव को पर के छोटे-बड़े संयोग के कारण परिणाम में कुछ फेरफार हो, ऐसा नहीं है। समझ में आया? उसे संयोग में से शंका उठा दी है कि इन अधिक संयोग में आया, इसलिए मुझे बन्ध होगा, ज्ञानी को यह भाव नहीं होता। आहाहा! अरे! जिसे वस्त्र का धागा भी नहीं रहा, संयोग छूट गया; इसलिए वह धर्मी है—ऐसा नहीं है। संयोग के घटने-बढ़ने से धर्म और अधर्म का माप है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

उपभोग के भोगने से... अर्थात् कि संयोग में आने से **ऐसी शंका मत कर कि मुझे बन्ध होगा।** आहाहा! सूक्ष्म बात है, प्रभु! यह इसका मार्ग अलग, भाई! आहाहा! जैनमार्ग कोई अलग, भाई! यह वस्तु का स्वभाव वर्णन करते हैं, प्रभु! वीतरागदेव पूर्ण आत्मा का स्वभाव वर्णन करते हैं। प्रभु! तेरा स्वभाव तो शुद्ध है न! और उस स्वभाव का जिसे भान हुआ, उसे संयोग बहुत दिखते हैं; इसलिए इसे पाप हुआ या अपराध हुआ—ऐसा नहीं है। आहाहा! यह सिद्धान्त। यह स्वच्छन्दी होने के लिये नहीं है। उसे पर से दोष होता है, ऐसी शंका टालने की बात की है। आहाहा! ऐसा उपदेश।

यदि ऐसी शंका करेगा... कि परद्रव्य का बहुत संयोग, इसलिए मुझे कुछ नुकसान हुआ—ऐसी यदि शंका करेगा, आहाहा! चक्रवर्ती को तो एक-एक मिनिट की अरबों की आमदनी, बड़े नवनिधान, तथापि समकिती को उनके कारण कुछ भी शंका हो कि मुझे बन्ध होगा, (ऐसा नहीं है)। आहाहा! इन्द्र को—सौधर्म को करोड़ों अप्सरायें परन्तु इन करोड़ो अप्सराओं की संख्या बहुत है, इसलिए मुझे नुकसान होगा, ऐसी शंका टाल दे। वह शंका धर्मी को नहीं होती। आहाहा! बाहर के संयोग के बहुत संयोग में दिखायी दिया, इसलिए वह कुछ अपराधी है, ऐसा तू माप न कर और संयोग घट गये, नग्न हुआ, इसलिए वहाँ धर्मी हुआ—ऐसा माप न कर, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? आहाहा! नग्न मुनि हुआ, हजारों रानियाँ छोड़ी, राजपाट छोड़ा, अरे! प्रभु! ऐसा रहने दे। संयोग घटाये और घटे, वह तो उनके कारण से हुआ। इसलिए वहाँ धर्म है, ऐसा नहीं है। उसे स्वभाव शुद्ध चैतन्यघन पर (से) निर्लेप भगवान पर जिसकी दृष्टि नहीं है, उसे संयोग घटाने पर भी यह मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! ऐसी बातें। हैं? बात बहुत (सरस है)।

स्वद्रव्य और परद्रव्य का विभाजन। आहाहा! तुझे परद्रव्य का चाहे जितना संयोग हो, कहते हैं। संयोग हो। भोगने का अर्थ यह, हों! समझ में आया? पूर्व के पुण्य के कारण कोई संयोग बहुत हो। संयोग हो, उपभोग भोग, ऐसा नहीं। संयोग हो, इससे तुझे नुकसान है, (ऐसा नहीं है)। आहाहा! ऐसा मार्ग समझना भी अभी (कठिन पड़ता है)। आहाहा! बाहर से माप किया। हें? कि उसने यह छोड़ा और उसने यह छोड़ा और इसने यह छोड़ा। परन्तु वास्तव में तो ग्रहण-त्याग वस्तु में है ही नहीं—पर का त्याग करना और पर का ग्रहण करना, वह वस्तु में है नहीं। इसके बदले पर का त्याग हुआ, वहाँ वह त्यागी हुआ, (ऐसा नहीं है)। आहाहा! क्या कहा यह?

त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति। प्रभु आत्मा में ऐसा एक गुण है। अनादि सत् का सत्त्वपना, सत् का सत्त्वपना ऐसा है कि पर परमाणु या स्त्री आदि परपदार्थ को ग्रहण नहीं किया तथा उन्हें छोड़ता नहीं। ग्रहण और त्याग रहित ही उसका स्वरूप है। जो त्याग और ग्रहण रहित है, वह ऐसा कहे कि, मैंने इसे त्याग किया; इसलिए धर्म हुआ (तो ऐसा नहीं है)। आहाहा! यहाँ तो निश्चय में तो वहाँ तक ले गये हैं कि राग का त्यागकर्ता भी मैं नहीं हूँ। यह नाममात्र है। आहाहा! भगवान वीतरागस्वरूप स्वयं... आहाहा! ऐसी जिसे दृष्टि हुई, उसे राग का त्याग है, यह भी नाममात्र है। क्योंकि स्वयं रागरूप हुआ नहीं, वस्तु तो रागरूप है नहीं; इसलिए राग को त्याग किया, यह कहाँ से आया? कहते हैं। समयसार ३४ (गाथा में) है। पच्चक्खाण के अधिकार में है। धर्मात्मा ने राग का त्याग किया, यह भी कथनमात्र है। आहाहा! इसके बदले पर का त्याग किया, इसलिए धर्मी हो गया, (ऐसा कैसे होगा?) ऐसी बातें हैं। और पर के बहुत संयोगों में है, इसलिए वह अज्ञानी है, ऐसा माप रहने दे, प्रभु! ऐसा वस्तु का स्वरूप नहीं है। आहाहा! समझ में आया? ऐसी अटपटी बातें। यह श्लोक ऐसा कठोर लिया। स्वच्छन्दी हो जाए, उसके लिये यह नहीं है। मैं चाहे जितने परद्रव्यों को भोगूँ, मुझे क्या? परन्तु परद्रव्य को तो तू भोग सकता नहीं न! परद्रव्य को स्पर्श नहीं करता फिर प्रश्न कहाँ?

यहाँ तो संयोग अधिक हो, इसलिए कोई ऐसा माप करे कि इनके कारण नुकसान है, अथवा तुझे ऐसा हो जाए कि बहुत संयोग है, इसलिए मुझे कुछ नुकसान है, यह शंका

छोड़ दे। आहाहा! **यदि ऐसी शंका करेगा तो 'परद्रव्य से आत्मा का बुरा होता है'...** आहाहा! परद्रव्य के बहुत संयोगों से आत्मा को नुकसान है, **ऐसी मान्यता का प्रसंग आ जायेगा।** परद्रव्य से आत्मा को नुकसान होता है, बुरा होता है, ऐसा मानने का प्रसंग आता है। आहाहा! चक्रवर्ती को बत्तीस हजार तो पुत्रियाँ, बत्तीस हजार दामाद, चौसठ हजार पुत्र, चौसठ हजार पुत्रों की बहुएँ, छियानवें हजार स्त्रियाँ। आहाहा! उन संयोग से तू माप करने जाएगा कि उसे इतना अधिक संयोग है, इसलिए उससे कुछ नुकसान होता है! समकिती है, उससे उसे नुकसान है, ऐसा नहीं है। समझ में आया? आहाहा! देखो! वीतराग मार्ग की ललकार तो देखो! स्वयं स्वद्रव्य को भूलकर अपराध करता है, वह तो स्वयं का कारण है। इस परद्रव्य ने इसे अपराध कराया है और परद्रव्य के संयोग बहुत हैं, इसलिए शंका हुई कि अरे रे! इतने सब संयोगों में मैं घुस गया हूँ, ऐसा छोड़ दे। सूक्ष्म बात है।

भगवान! तेरी महिमा का पार नहीं, प्रभु! आहाहा! अपने नहीं आया था? 'प्रभु मेरे तुम सब बातें पूरा, प्रभु मेरे तुम सब भाव से पूरा।' आहाहा! 'पर की आस कहाँ करे प्रीतम, पर की आस कहाँ करे प्रियवर, किस बात से तू अधूरा?' नाथ! तू किस बात से अधूरा है, किस पर की आशा करता है? आहाहा! समझ में आया? 'प्रभु मेरे सब बातें—सब भाव से पूरा' ज्ञान से पूरा, आनन्द से पूरा, वीर्य से पूरा, शान्ति से पूरा, वीतरागता से पूरा, स्वच्छता से पूरा, प्रभुता से पूरा। आहाहा! इस प्रभुता का, असंग का जिसने संग किया, उसे बाहर के संग के अधिक संग से तुझे नुकसान है, यह रहने दे। आहाहा! समझ में आया? भगवान राग के संगरहित चीज़ है। ऐसे असंग का जिसे ज्ञान हुआ है, उसे राग आया और संयोग बहुत आये, इसलिए उसे नुकसान है—ऐसा नहीं है, कहते हैं। उस राग का वह जाननेवाला है। आहाहा! यहाँ तो दृष्टि और द्रव्य की विशेषता की बातें की हैं। ऐसी बात है, भाई!

वीतराग मार्ग का माप बहुत अलग प्रकार का है। आहाहा! माणु, माणु नहीं कहते यह? माणु अर्थात् माप है उसका नाम। माणु नहीं? दाने को मापे। नाणुं क्या कहलाता है? माप करते हैं, इसलिए माणु। कण्डे कितने भरे जाते हैं? इसी प्रकार भगवान आत्मा माप करता है। अपना और पर का माप करे, बाकी पर मेरे हैं, ऐसा अन्दर मानता नहीं। आहाहा!

प्रमाण कहा है न? प्रमाण कहो या माप करनेवाला कहो, सब एक है। प्र—विशेष माण। आहाहा! यह नाम पड़ा है तो माणु का अर्थ यह है कि, दस सेर का माप देते हैं। माणु होता है न लोहे का? इसी प्रकार भगवान ज्ञान की पर्याय माप देती है, अपना और पर का स्वरूप कैसा है, उसका माप देती है। आहाहा! पर मेरे हैं, यह बात उसके ज्ञानप्रमाण में नहीं है। तथा पर का बहुत संयोग हुआ, इसलिए प्रमाण, यह प्रमाण तो उसका ज्ञान करे, समझ में आया? परन्तु वे संयोग बहुत हुए, इसलिए उसे कुछ नुकसान है और जिसे संयोग बहुत छूट गये, इसलिए उसे धर्म का लाभ है, (ऐसा) रहने दे। आहाहा! ऐसी बातें हैं। हैं? आहाहा!

यदि ऐसी शंका करेगा तो 'परद्रव्य से आत्मा का बुरा होता है' ऐसी मान्यता का प्रसंग आ जायेगा। आहाहा! करोड़ों अप्सरायें हैं, इसलिए मुझे बन्ध का कारण है, ऐसा रहने दे, ऐसा है नहीं। आहाहा! और बिल्कुल हम बालब्रह्मचारी हैं, स्त्री का त्याग किया, पर का सब त्याग किया है, इसलिए मुझे धर्म हुआ—ऐसा रहने दे। समझ में आया? आहाहा! क्या शैली! गजब बात है! यह बात बैठना, बापू! वीतराग त्रिलोक के नाथ की। आहाहा! भगवान हीरा चैतन्य नाथ जिसे जगा और माना और अनुभव किया, कहते हैं कि उसे संयोग चाहे जितने हों, तू शंका नहीं करना कि उसके कारण मुझे नुकसान होगा। आहाहा! जरा आज का विषय सूक्ष्म है। गाथा ऐसी है न! आहाहा!

इस प्रकार यहाँ परद्रव्य से अपना बुरा होना मानने की जीव की शंका मिटाई है;... पर का संयोग कर और संयोग में तुझे बाधा नहीं, भोग,—ऐसा कहने का आशय नहीं है। समझ में आया? परद्रव्य को जीव का बुरा होना मानने की शंका मिटायी है। परद्रव्य अधिक है, इसलिए मुझे नुकसान होगा, यह बात रहने दे। यदि तेरी दृष्टि द्रव्य के ऊपर से हट गयी और राग को अपना माना तो तुझे नुकसान है। फिर भले संयोग बिल्कुल न हो और संयोगों के ढ़ेर हो। आहाहा! कहा था न? वह लालन ऐसा कहते थे कि हमारा बादशाह इतना बड़ा, हिन्दुस्तान का राजा (होवे तो भी उसे) एक स्त्री। और तुम कहते हो कि हमारे तीर्थंकर चक्रवर्ती को ९६ हजार स्त्रियाँ! यह क्या है? कहा, संख्या अधिक है इसलिए क्या?

मुमुक्षु : एक को माने तो भी मेरी मानता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु एक है, वह भी उसकी कहाँ है वह ? एक और करोड़, उसकी कहाँ है ? वह तो बाहर की संख्या है और बाहर की संख्या के आधार से आत्मा को नुकसान या अनुकसान है, ऐसा है ? आहाहा ! भले संयोग कुछ न हो परन्तु अन्तर में जिसने भगवान चिदानन्द को रागसहित और रागवाला माना, आहाहा ! भले वह दिगम्बर मुनि हो तो भी वह मिथ्यादृष्टि है। आहाहा ! और छियानवें करोड़ सैनिकों के बीच भोग में पड़ा (हो), भरत चक्रवर्ती हमेशा सैकड़ों कन्याओं से विवाह करता, राजकन्या। छियानवें करोड़ अर्थात ? भरतेश वैभव में आता है। भरतेश वैभव है न ? है ? भरतेश वैभव। पढ़ा है, उसमें यह आता है कि हमेशा सैकड़ों राजकन्या से विवाह करे। वह तो संयोग है। संयोग को वह स्पर्श कब करता है ? दृष्टि में उनका त्याग है। दृष्टि में तो राग का त्याग है तो फिर परवस्तु का त्याग, वह तो प्रश्न कहाँ ? वह तो पहले से ही परवस्तु का त्याग तो उसके स्वभाव में ही है। समझ में आया ? आहाहा !

यहाँ तो **परद्रव्य से अपना बुरा होना मानने की जीव की शंका मिटाई है; यह नहीं समझना चाहिए कि भोग भोगने की प्रेरणा करके स्वच्छन्द कर दिया है।** आहाहा ! **स्वेच्छाचारी होना तो अज्ञानभाव है...** आहाहा ! स्वच्छन्दी होकर राग को और पर को अपना मानता है, वह तो मिथ्यादृष्टि है। **यह आगे कहेंगे।** आगे की गाथाओं में कहेंगे। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)

गाथा - २२०-२२३

भुंजंतस्स वि विविहे सच्चित्ताचित्तमिस्सिए दव्वे।
संखस्स सेदभावो ण वि सक्कदि किण्हगो कादुं।।२२०।।

तह णाणिस्स वि विविहे सच्चित्ताचित्तमिस्सिए दव्वे।
भुंजंतस्स वि णाणं ण सक्कमण्णाणदं णेदुं।।२२१।।

जइया स एव संखो सेदसहावं तयं पजहिदूण।
गच्छेज्ज किण्हभावं तइया सुक्कत्तणं पजहे।।२२२।।

तह णाणी वि हु जइया णाणसहावं तयं पजहिदूण।
अण्णाणेण परिणदो तइया अण्णाणदं गच्छे।।२२३।।

भुञ्जानस्यापि विविधानि सचित्ताचित्तमिश्रितानि द्रव्याणि।
शङ्खस्य श्वेतभावो नापि शक्यते कृष्णकः कर्तुम्।।२२०।।
तथा ज्ञानिनोऽपि विविधानि सचित्ताचित्तमिश्रितानि द्रव्याणि।
भुञ्जानस्याऽपि ज्ञानं न शक्यमज्ञानतां नेतुम्।।२२१।।
यदा स एव शङ्खः श्वेतस्वभावं तकं प्रहाय।
गच्छेत् कृष्णभावं तदा शुक्लत्वं प्रजह्यात्।।२२२।।
तथा ज्ञान्यपि खलु यदा ज्ञानस्वभावं तकं प्रहाय।
अज्ञानेन परिणतस्तदा अज्ञानतां गच्छेत्।।२२३।।

यथा खलु शङ्खस्य परद्रव्यमुपभुञ्जानस्यापि न परेण श्वेतभावः कृष्णः कर्तुं शक्येत, परस्य परभावत्व-निमित्तत्वानुपपत्तेः, तथा किल ज्ञानिनः परद्रव्यमुपभुञ्जानस्यापि न परेण ज्ञानमज्ञानं कर्तुं शक्येत, परस्य परभावत्वनिमित्तत्वानुपपत्तेः। ततो ज्ञानिनः परापराधनिमित्तो नास्ति बन्धः।

यथा च यदा स एव शङ्खः परद्रव्यमुपभुञ्जानोऽनुपभुञ्जानो वा श्वेतभावं प्रहाय स्वयमेव कृष्णभावेन परिणमते तदास्य श्वेतभावः स्वयंकृतः कृष्णभावः स्यात्, तथा यदा स

एव ज्ञानी परद्रव्यमुपभुञ्जानोऽनुपभुञ्जानो वा ज्ञानं प्रहाय स्वयमेवाज्ञानेन परिणमते तदास्य ज्ञानं स्वयंकृतमज्ञानं स्यात्।

ततो ज्ञानिनो यदि (बन्धः) स्वापराधनिमित्तो बन्धः।।२२०-२२३।।

अब इसी अर्थ को दृष्टान्त द्वारा दृढ़ करते हैं:-

ज्यों शंख विविध सचित्त, मिश्र, अचित्त वस्तू भोगते।
पर शंख के शुक्लत्व को नहिं, कृष्ण कोई कर सके।।२२०।।

त्यों ज्ञानि भी मिश्रित, सचित्त, अचित्त वस्तू भोगते।
पर ज्ञान ज्ञानी का नहीं, अज्ञान कोई कर सके।।२२१।।

जब ही स्वयं वो शंख, तजकर स्वीय श्वेतस्वभाव को।
पावे स्वयं कृष्णत्व तब ही, छोड़ता शुक्लत्व को।।२२२।।

त्यों ज्ञानि भी जब ही स्वयं निज, छोड़ ज्ञानस्वभाव को।
अज्ञानभावों परिणमे, अज्ञानता को प्राप्त हो।।२२३।।

गाथार्थ : [शंखस्य] जैसे शंख [विविधानि] अनेक प्रकार के [सचित्ताचित्त-मिश्रितानि] सचित्त, अचित्त और मिश्र [द्रव्याणि] द्रव्यों को [भुञ्जानस्य अपि] भोगता है-खाता है, तथापि [श्वेतभावः] उसका श्वेतभाव [कृष्णकः कर्तुं न अपि शक्यते] (किसी के द्वारा) काला नहीं किया जा सकता, [तथा] इसी प्रकार [ज्ञानितः अपि] ज्ञानी भी [विविधानि] अनेक प्रकार के [सचित्ताचित्तमिश्रितानि] सचित्त, अचित्त और मिश्र [द्रव्याणि] द्रव्यों को [भुञ्जानस्य अपि] भोगे, तथापि उसके [ज्ञानं] ज्ञान को [अज्ञानतां नेतुम् न शक्यम्] (किसी के द्वारा) अज्ञानरूप नहीं किया जा सकता।

[यदा] जब [सः एव शंखः] वही शंख (स्वयं) [तकं श्वेतस्वभावं] उस श्वेत स्वभाव को [प्रहाय] छोड़कर [कृष्णभावं गच्छेत्] कृष्णभाव को प्राप्त होता है (कृष्णरूप परिणमित होता है), [तदा] तब [शुक्लत्वं प्रजह्यात्] शुक्लत्व को छोड़ देता है (अर्थात् काला हो जाता है), [तथा] इसी प्रकार [खलु] वास्तव में [ज्ञानी अपि] ज्ञानी भी (स्वयं) [यदा] जब [तकं ज्ञानस्वभावं] उस ज्ञानस्वभाव को [प्रहाय] छोड़कर [अज्ञानेन] अज्ञानरूप [परिणतः] परिणमित होता है, [तदा] तब [अज्ञानतां] अज्ञानता को [गच्छेत्] प्राप्त होता है।

टीका : जैसे यदि शंख परद्रव्य को भोगे-खाये, तथापि उसका श्वेतपन अन्य के द्वारा काला नहीं किया जा सकता क्योंकि पर अर्थात् परद्रव्य किसी द्रव्य को परभावस्वरूप करने का निमित्त (कारण) नहीं हो सकता, इसी प्रकार यदि ज्ञानी परद्रव्य को भोगे तो भी उसका ज्ञान अन्य के द्वारा अज्ञान नहीं किया जा सकता क्योंकि पर अर्थात् परद्रव्य किसी द्रव्य को परभावस्वरूप करने का निमित्त नहीं हो सकता। इसलिये ज्ञानी को दूसरे के अपराध के निमित्त से बन्ध नहीं होता।

और जब वही शंख, परद्रव्य को भोगता हुआ अथवा न भोगता हुआ, श्वेतभाव को छोड़कर स्वयमेव कृष्णरूप परिणमित होता है, तब उसका श्वेतभाव स्वयंकृत कृष्णभाव होता है (स्वयमेव किये गये कृष्णभावरूप होता है), इसी प्रकार जब वही ज्ञानी, परद्रव्य को भोगता हुआ अथवा न भोगता हुआ, ज्ञान को छोड़कर स्वयमेव अज्ञानरूप परिणमित होता है, तब उसका ज्ञान स्वयंकृत अज्ञान होता है। इसलिये ज्ञानी के यदि बन्ध हो तो वह अपने ही अपराध के निमित्त से (स्वयं ही अज्ञानरूप परिणमित हो तब) होता है।

भावार्थ : जैसे श्वेत शंख पर के भक्षण से काला नहीं होता किन्तु जब वह स्वयं ही कालिमारूप परिणमित होता है, तब काला हो जाता है; इसी प्रकार ज्ञानी पर के उपभोग से अज्ञानी नहीं होता किन्तु जब स्वयं ही अज्ञानरूप परिणमित होता है, तब अज्ञानी होता है और तब बन्ध करता है।

प्रवचन नं. २९८, गाथा-२२० से २२३, श्लोक-१५१ शुक्रवार, भाद्र शुक्ल ९
दिनाङ्क ३१-०८-१९७९

दसलक्षणी का पाँचवाँ दिन शौचधर्म है।

यत्परदारार्थादिषु जन्तुषु निःस्पृहमहिंसकं चेतः।
दुश्छेद्यान्तर्मलहृत्तदेव शौचं परं नान्यत्॥

जिसका चित्त परस्त्री और परधन की अभिलाषा नहीं करता हुआ छह काय के जीवों की हिंसा से रहित हो जाता है, उसे ही दुर्भेद्य, अभ्यन्तर कलुषता को दूर करनेवाला उत्तम शौचधर्म कहा जाता है। 'शौच' शब्द से निर्लोभता। आया था न? क्षमा। क्रोध के सामने क्षमा; मान के सामने मार्दव; कपट के सामने आर्जव और लोभ के सामने यह शौच है। पहला सत्य आ गया है। इसलिए यह बाद में लिया।

अन्दर आत्मा परहिंसा से रहित और परस्त्री और परधन के प्रेम से-ममता से रहित, आहाहा! ऐसा जो आत्मा का पवित्र परिणामरूप स्वभाव, उसे यहाँ शौच कहते हैं। फिर तो ऐसा कहते हैं कि यह स्नानादि शौच है, वह कहीं शौच नहीं है। यदि प्राणी का मन मिथ्यात्वादि दोषों से मलिन हुआ हो, आहाहा! राग की रुचि से मन मलिन मिथ्यात्व से हुआ हो, निर्मलानन्द प्रभु की रुचि से छूटकर जिसे उस राग का विकल्प शुभ या अशुभ, उसकी रुचि में जिसका झुकाव हुआ। आहाहा! वह चित्त मिथ्यात्वादि दोष से मलिन है, तो फिर गंगा, समुद्र, पुष्कर आदि सभी तीर्थों में सदा स्नान करने पर भी... 'प्रायः' शब्द पड़ा है। प्रायः अर्थात् शरीर का भले स्वच्छ हो, ऐसा। अन्दर का नहीं होता। प्रायः शब्द पड़ा है? 'प्रयोगशुद्धकरा' इस शरीर की मलिनता तो पानी से टलती है परन्तु मिथ्यात्व की मलिनता इससे नहीं टलती। मिथ्यात्व की मलिनता है और फिर लाख बार शत्रुंजय स्नान करे नहीं? शत्रुंजय है न? वहाँ भी जैन स्नान करते हैं परन्तु अन्तर में राग की एकता की मलिनता का मिथ्यात्व भाव, ऐसे मलिनता के परिणामसहित स्नान करे तो कुछ शुद्धि नहीं होती। आहाहा! उसे तो अन्तर आनन्दस्वरूप भगवान शौच-पवित्र निर्ग्रन्थ निर्लोभस्वरूप, आत्मा का निर्ग्रन्थस्वरूप ही है। आहाहा! उस निर्ग्रन्थस्वरूप की दृष्टि और एकाग्रता होने पर जो पवित्रता होती है, वह बाहर से कहीं स्नान से पवित्रता नहीं होती। आहाहा!

अतिशय विशुद्धि नहीं हो सकती, वह योग्य ही है। मद्य के प्रवाह से परिपूर्ण घट शराब से भरा हुआ घड़ा... आहाहा! बाहर में से विशुद्ध पानी से अनेक बार धोया जाए, अन्दर शराब भरी है, बाहर पानी से बारम्बार धोया जाए तो क्या शुद्ध हो सकता है? इसी प्रकार जिसके घट में ही मिथ्यात्व भाव है... आहाहा! राग और पुण्यादि के परिणाम, वे मेरे हैं, मुझे लाभदायक है—ऐसा जो मिथ्यात्वरूपी मलिन चित्त, यह चाहे जितने बाहर में स्नान करे, इससे उसे शौच नहीं होता। आहाहा! विशेष कहते हैं।

इसका अभिप्राय यह है कि मन शुद्ध होवे तो स्नानादि बिना उत्तम शौच हो सकता है परन्तु इससे विपरीत यदि मन अपवित्र हो, गंगा आदि अनेक जल में स्नान करने पर भी शौचधर्म कभी नहीं होता। पवित्रता तो अन्दर में शरीर में लाख स्नान करे, जैन शत्रुंजय स्नान करने जाए, वहाँ शत्रुंजय नदी है, (उसमें) स्नान करे। पानी में स्नान करने से क्या होगा? आहाहा! राग को धोने की दशा तो आत्मा के शुद्ध श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र हैं। यह मलिनता

टाले नहीं और बाहर की मलिनता टाले, उससे कहीं उसे निर्मलता / शौच नहीं होता। यह पाँचवाँ धर्म कहा।

यहाँ अपने यह आया है न? गाथा आयी है न? २२० से, २२० से गाथा है।

भुंजंतस्स वि विविहे सच्चित्ताचित्तमिस्सिए दव्वे।
संखस्स सेदभावो ण वि सक्कदि किण्हगो कादुं।।२२०।।

तह णाणिस्स वि विविहे सच्चित्ताचित्तमिस्सिए दव्वे।
भुंजंतस्स वि णाणं ण सक्कमण्णाणदं णेदुं।।२२१।।

जइया स एव संखो सेदसहावं तयं पजहिदूण।
गच्छेज्ज किण्हभावं तइया सुक्कत्तणं पजहे।।२२२।।

तह णाणी वि हु जइया णाणसहावं तयं पजहिदूण।
अण्णाणेण परिणदो तइया अण्णाणदं गच्छे।।२२३।।

हरिगीत—

ज्यों शंख विविध सचित्त, मिश्र, अचित्त वस्तू भोगते।
पर शंख के शुक्लत्व को नहिं, कृष्ण कोई कर सके।।२२०।।

त्यों ज्ञानि भी मिश्रित, सचित्त, अचित्त वस्तू भोगते।
पर ज्ञान ज्ञानी का नहीं, अज्ञान कोई कर सके।।२२१।।

जब ही स्वयं वो शंख, तजकर स्वीय श्वेतस्वभाव को।
पावे स्वयं कृष्णत्व तब ही, छोड़ता शुक्लत्व को।।२२२।।

त्यों ज्ञानि भी जब ही स्वयं निज, छोड़ ज्ञानस्वभाव को।
अज्ञानभावों परिणमे, अज्ञानता को प्राप्त हो।।२२३।।

टीका :- जैसे यदि शंख परद्रव्य को भोगे-खाये, तथापि उसका श्वेतपन अन्य के द्वारा काला नहीं किया जा सकता... काले जीव खाये तो भी उसका सफेदपना कहीं उससे काला नहीं होता। आहाहा! **क्योंकि पर अर्थात् परद्रव्य किसी द्रव्य को परभावस्वरूप करने का निमित्त (कारण) नहीं हो सकता,...** परद्रव्य बन्ध का

कारण है ही नहीं। वह तो स्वतन्त्र बाहर की चीज़ है। आहाहा! बन्ध का कारण तो इसका मिथ्यात्व और राग-द्वेष भाव, वह बन्ध का कारण है। परवस्तु बन्ध का कारण नहीं है। सगे, कुटुम्ब, प्रियजन, पैसा, मकान, वह कोई मलिनता का कारण नहीं है, वह कोई दुःख का कारण नहीं है। आहाहा!

वह **परद्रव्य किसी द्रव्य को परभावस्वरूप...** परद्रव्य किसी द्रव्य को परभाव-विकार स्वरूप **करने का निमित्त (कारण) नहीं हो सकता,...** आहाहा! यह तो आता है न इसमें? आगे (आता है)। वस्तु के आश्रय से भले अध्यवसाय हो, परन्तु वस्तु बन्ध का कारण नहीं है, उसके लक्ष्य से, उसके आश्रय से भले अध्यवसाय करे, राग की एकताबुद्धि (करे) परन्तु वह वस्तु बन्ध का कारण नहीं है। आहाहा! यहाँ कहते हैं **परद्रव्य किसी द्रव्य को परभावस्वरूप...** आहाहा! शरीर, वाणी, मन, कर्म, परपदार्थ किसी भी प्रकार से आत्मा को परभाव कर सकने का कारण नहीं है। आहाहा!

इसी प्रकार यदि ज्ञानी परद्रव्य को भोगे... भोगे अर्थात् वह इसे दिखता है। आहाहा! दूसरे लोग देखते हैं न कि, देखो! यह स्त्री के संग में आता है, लक्ष्मी के संग में आता है। इसलिए यह शब्द प्रयोग किया है। बाकी **परद्रव्य को भोगे तो भी उसका ज्ञान अन्य के द्वारा अज्ञान नहीं किया जा सकता...** वह पर को भोगने पर भी पर द्वारा मिथ्या दोष लगता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! **क्योंकि पर अर्थात् परद्रव्य किसी द्रव्य को परभावस्वरूप करने का निमित्त (कारण) नहीं हो सकता,...** जैसे शंख काली चीज़ खाये तो भी वह सफेद का काला नहीं किया जा सकता; उसी प्रकार धर्मी को परद्रव्य का भोग होने पर भी परद्रव्य उसे मलिनता का कारण नहीं होता। आहाहा! समझ में आया?

परद्रव्य किसी द्रव्य को... आहाहा! तीर्थंकर का जीव या तीर्थंकर का शरीर या समवसरण, वह परद्रव्य है। वह परद्रव्य बन्ध का कारण नहीं है। तथा वह धर्म का कारण नहीं है। आहाहा! समझ में आया? परद्रव्य तो भिन्न है, वह चीज़ कहीं बन्ध का कारण या धर्म का कारण नहीं है। आहाहा! परद्रव्य की भक्ति, देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति, वह भक्ति कहीं आत्मा का धर्म नहीं होता। आहाहा! भक्ति तो राग है। उस परद्रव्य से धर्म हो, या परद्रव्य से मलिनता हो, यह बात नहीं है। आहाहा!

ज्ञानी को दूसरे के अपराध के निमित्त से बन्ध नहीं होता। इसलिए धर्मी को... आहाहा! ज्ञान में आनन्द का जहाँ अन्दर अनुभव है, आहाहा! उसे परद्रव्य के संयोग से उसे बन्ध नहीं होता। आहाहा! अन्तर में जहाँ निर्मलता द्रव्यस्वभाव का आश्रय लेकर निर्मलता प्रगट हुई है, उसे परद्रव्य कोई मलिन कर सके, कर्म का उदय आवे और उसे मलिन कर सके, ऐसा नहीं है—ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? चिदानन्द भगवान आत्मा पवित्रता का पिण्ड प्रभु, उसकी जहाँ दृष्टि और निर्मल ज्ञान हुआ, उसे परद्रव्य के संयोग चाहे जितने हों, वे उसे कोई मलिन कर सकें, ऐसा नहीं है। आहाहा! अधिक द्रव्य बहुत हों तो उसे मलिनता का अधिक कारण हो, थोड़े हों तो थोड़ी मलिनता का कारण हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! मलिनता का कारण तो स्वयं ज्ञानानन्दस्वभाव को छोड़ दे, (वह है)।

और जब वही शंख,... उन काले द्रव्यों को खाता होने पर भी शंख काले द्रव्य से काला नहीं होता। अब वही शंख, **परद्रव्य को भोगता हुआ अथवा न भोगता हुआ,...** आहाहा! वह काले कीड़े खाता हो या न खाता हो परन्तु जब शंख स्वयं श्वेतपना छोड़कर काला होता है, तब पर के कारण से नहीं हुआ है। आहाहा! है? **स्वयमेव कृष्णरूप परिणमित होता है, तब उसका श्वेतभाव स्वयंकृत कृष्णभाव होता है (स्वयमेव किये गये कृष्णभावरूप होता है),...** वह तो स्वयं से किया गया है, वह परद्रव्य से किया गया नहीं है। आहाहा!

इसी प्रकार जब वही ज्ञानी,... वही ज्ञानी, जिसे पर के भोगने के काल में भी ज्ञानी को मलिनता का कारण नहीं है। आहाहा! **वही ज्ञानी, परद्रव्य को भोगता हुआ अथवा न भोगता हुआ, ज्ञान को छोड़कर स्वयमेव अज्ञानरूप परिणमित होता है...** आहाहा! ज्ञानस्वभावी आत्मा हूँ, ऐसा जो परिणमन है, उसे छोड़कर रागरूप हूँ, ऐसे अज्ञानरूप परिणमे, तब स्वयं के कारण वह मैल—मिथ्यात्व खड़ा होता है। आहाहा! कुदेव, कुगुरु और कुशास्त्र से मिथ्यात्व नहीं होता, ऐसा कहते हैं। तथा सुगुरु, सुशास्त्र को मानने से समकित नहीं होता। आहाहा! यह सम्यग्दर्शन हुआ, चैतन्य भगवान पूर्णानन्द का नाथ अतीन्द्रिय आनन्द से ठसाठस भरा प्रभु, उसका जहाँ भान हुआ, उसे अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आया, उसे परद्रव्य के भोगने में मलिनता हो, यह तीन काल में नहीं है। आहाहा!

वह स्वयं ही जब आत्मा के ज्ञानस्वरूप को छोड़कर पर्यायबुद्धि में अर्थात् राग की बुद्धि में आवे, राग वह मेरा कर्तव्य है और राग मुझे धर्म का कारण है, ऐसी मिथ्याश्रद्धा में आवे, तब उसे मलिनता होती है। परद्रव्य के कारण मलिनता जरा भी नहीं होती तथा निर्मलता परद्रव्य के कारण जरा भी नहीं होती। आहाहा!

कल कहा था न? उस 'लालन' ने पूछा था न? तीर्थंकर चक्रवर्ती शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ छियानवें हजार स्त्रियाँ और तीर्थंकर, तीन ज्ञान के धनी, समकिती, क्षायिक समकिती। हमारा जॉर्ज और एडवर्ड को तो एक रानी। अरे! उस एक के साथ सम्बन्ध नहीं। एक हो या अधिक हो परन्तु अन्दर में स्वभाव की दृष्टि हुई है और पर से भिन्न पड़ गया है, उसे संयोग चाहे जितने हों, वे उसे नुकसान नहीं करते। आहाहा! तथा संयोग छूट गये और इसलिए उसे धर्म प्रगट हुआ, ऐसा नहीं है। स्त्री, कुटुम्ब छोड़ दिये, बालब्रह्मचारी शरीररूप से हुआ, इससे उसे धर्म हो जाए, ऐसा नहीं है। आहाहा! वह तो बाह्य संयोग का अभाव हुआ परन्तु मिथ्यात्व का अभाव उससे नहीं हुआ। मिथ्यात्व का अभाव तो स्वभाव का आश्रय लेने से, पर का आश्रय छोड़कर सम्यग्दर्शन प्रगट करे, उसे निर्मलता प्रगट होती है। आहाहा! स्वद्रव्य के आश्रय से निर्मलता प्रगट होती है और स्वद्रव्य का आश्रय छोड़कर अज्ञानरूप परिणमे, राग का आश्रय करे, आहाहा! तब उसे मिथ्यात्व का परिणाम होकर मलिन होता है। आहाहा!

ज्ञानी, परद्रव्य को भोगता हुआ अथवा न भोगता हुआ,... ठीक! परद्रव्य न भी हो। स्त्री, कुटुम्ब, परिवार छोड़ दिये हों, लक्ष्मी-धन्धा हो नहीं तो भी वह धन्धा आदि छोड़ दिया हो, स्त्री, कुटुम्ब-परिवार छोड़ दिया हो। आहाहा! अथवा न छोड़ा हो, हो, यहाँ तो अधिक यह कि नहीं भोगता हुआ। संयोगों में नहीं आता। वह **ज्ञान को छोड़कर स्वयमेव अज्ञानरूप परिणमित होता है...** आहाहा! भले संयोगों को न भोगे परन्तु ज्ञानरूपी भगवान आत्मा तो अज्ञानरूप परिणममावे (अर्थात्) राग, वह मैं हूँ; परद्रव्य, वह मेरे हैं; परद्रव्य से मुझे लाभ-नुकसान होता है—ऐसी जो दृष्टि है, वह अज्ञानरूप परिणमता है, उसे परद्रव्य कुछ फेरफार नहीं कर सकता। परद्रव्य उसे अज्ञान नहीं करा सकता। आहाहा! क्रीड़ा उसकी स्वदृष्टि स्व की या राग की दृष्टि, इस पर पूरा खेल है।

राग की रुचि में पड़ा, उसे संयोगी चीज़ सब छूट गयी हो तो भी वह अज्ञानरूप परिणमता है और संयोग में छियानवें हजार स्त्रियाँ और करोड़ों अप्सराओं में पड़ा हो... आहाहा! तथापि जिसे राग से भिन्न पड़कर सम्यग्दर्शन हुआ है, उसे वह स्त्री आदि मलिनता नहीं करा सकती। आहाहा! समझ में आया? लोगों की दृष्टि संयोग छूटे तो त्यागी और संयोग अधिक, इसलिए अत्यागी, ऐसी दृष्टि है। इस बात से यहाँ इनकार करते हैं। स्त्री, कुटुम्ब छोड़कर, दुकान छोड़कर, धन्धा छोड़कर बैठा हो, इसलिए मानो त्यागी हो गया। वह तो संयोगी चीज़ वहाँ घटी है परन्तु अन्दर मिथ्यात्व कहाँ घटाया है? आहाहा! राग, वह मैं और राग से मुझे धर्म होता है, पुण्य स्वभाव से धर्म होता है, (वह तो मिथ्यात्व है)।

'अधर्म' शब्द आया है, हों! भाई! वह पुराना समयसार है न? उसमें पहले व्यवहार के बोल लिखे थे न? आत्मधर्म में दिये गये हैं, फिर उसके आधार से भी दिये हैं। हरिभाई, आधार भी दिये हैं उस समय। उसमें 'अधर्म' शब्द पड़ा है। आधार होगा सही कोई। वे कहे, पुण्य को अधर्म कहाँ कहा है? अरे! प्रभु! सुन न! आत्मा का वीतरागी ज्ञान, दर्शन, आनन्द स्वभाव से विरुद्ध पुण्यभाव, वह अधर्म है। आहाहा! वह अधर्म कहीं परद्रव्य के कारण हुआ नहीं। अपनी विपरीत मान्यता; पुण्य, वह मेरा और मुझे धर्म का कारण—ऐसी मान्यता के कारण उसकी मिथ्यादृष्टि, अधर्म दृष्टि होती है। आहाहा! पुण्य परिणाम हुए इसलिए उसे अधर्म दृष्टि होती है, ऐसा नहीं है। वे पुण्य परिणाम मेरे हैं, ऐसी दृष्टि करे तो अधर्म दृष्टि होती है। आहाहा! और उस पुण्य परिणाम से भिन्न पड़कर स्वरूप की दृष्टि करे तो पुण्य परिणाम और पाप होने पर भी उसकी निर्मलता को कोई मलिन नहीं कर सकता। आहाहा! बात में बहुत अन्तर है।

ज्ञान को छोड़कर... शुद्ध चैतन्य ज्ञायकभाव परमात्मा, वह मैं—ऐसा छोड़कर **अज्ञानरूप परिणमित होता है...** (अर्थात्) राग है, वह मेरा है, उसरूप परिणमे, वह तो उसके स्वयं के कारण से है, पर के कारण से नहीं या कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र मिले, इसलिए हमें यह हुआ, ऐसा कहता था एक व्यक्ति? क्या करे, हमें यह मिले, वह हमने माने। परन्तु माना, वह उनके कारण से माना है या तेरे कारण से माना है? सेठ बोलता है बहुत बार। भगवान सेठ, शोभालाल। हमको ऐसे मिले, तत्प्रमाण हमने माना। उनके कारण माना नहीं है। तुम्हें वह रुचा है, उसे माना है। आहाहा! समझ में आया? इसी प्रकार

सम्यग्दर्शन भी देव-गुरु-शास्त्र मिले, इसलिए सम्यग्दर्शन मिला, ऐसा नहीं है। आहाहा! वे तो परद्रव्य हैं। आहाहा!

परद्रव्य को भोगता हुआ अथवा न भोगता हुआ,... अर्थात् परद्रव्य का संयोग हो या न संयोग न हो, भले संयोग न हो, कहते हैं परन्तु आत्मा को **स्वयमेव अज्ञानरूप परिणमित होता है...** राग की रुचि में आ गया। आहाहा! भले वह त्यागी बाहर में कोई वस्त्र का टुकड़ा न (रखता हो), परन्तु जिसे राग मेरा है, ऐसी दृष्टि हुई है, वह अज्ञानरूप परिणमता है। आहाहा! और करोड़ों अप्सराओं के मध्य में इन्द्र रहा होने पर भी वह सम्यग्दर्शनरूप परिणमता है। पर उसे मिथ्यात्वरूप परिणमावे, ऐसी ताकत नहीं है। करोड़ों अप्सराओं में रहा होने पर भी स्वयं सम्यग्दर्शनरूप परिणमता है। आहाहा! और संयोग का बिल्कुल त्याग (किया हो), वस्त्र का टुकड़ा भी न हो, नग्न हो, आहाहा! तो भी अन्तर में मिथ्यात्व भाव—राग वह मेरा और उससे मुझे धर्म होता है, यह मिथ्यात्वभाव मलिनता का भाव कारण है। संयोगी चीज़ का अभाव-भाव वह कोई कारण नहीं है। ओहोहो! ऐसी बातें हैं। यह तो जरा संयोग छोड़े तो मानो आहाहा! भारी त्यागी हुआ।

यह यहाँ कहते हैं। संयोग हो या संयोग न हो। संयोग न हो अर्थात् भोग हो या भोगता न हो, ऐसा। आहाहा! परन्तु स्वयमेव ज्ञानस्वरूप को छोड़कर, चिद्घन आनन्दघन भगवान आत्मा की दृष्टि और रुचि छोड़कर राग की रुचि में आवे तो मिथ्यात्वरूप परिणमता है। उस बाहर की चीज़ का त्याग हुआ, इसलिए समकितरूप से, धर्मरूप से परिणमता है, ऐसा नहीं है। समझ में आया? आहाहा!

तब उसका ज्ञान स्वयंकृत अज्ञान होता है। आहाहा! वास्तव में तो ज्ञानावरणीय का उदय भी जीव को अज्ञान नहीं कराता। आहाहा! वह तो स्वयं जब ज्ञान और स्वभाव की दृष्टि छोड़कर, राग को अपना माने, ऐसा अज्ञान करे, तब उसे दर्शनमोह और ज्ञानावरणीय का निमित्त कहा जाता है। निमित्त का अर्थ (यह कि) वह कुछ नहीं करता। समझ में आया? आहाहा! ज्ञानावरणीय कर्म परद्रव्य है। वह परद्रव्य आत्मा को ज्ञान की हीन दशा करे, तीन काल में नहीं। तथा ज्ञानावरणीय का उघाड़ हुआ, इसलिए यहाँ ज्ञान की विकास दशा हो; बिल्कुल नहीं। आहाहा! अपनी ज्ञानस्वभाव की दृष्टि होने पर निर्मल ज्ञान का

विकास स्वयं करे, तब कर्म का उघाड़ उसे निमित्त कहा जाता है। परन्तु उसके कारण यहाँ आत्मा में विकास होता है, ऐसा नहीं है।

यह बड़ा प्रश्न चला था, नहीं? वर्णीजी के साथ। वे कहें, ज्ञानावरणीय कर्म के कारण आत्मा में ज्ञान की हीनाधिक दशा होती है। ज्ञानावरणीय घटे तो अधिक दशा हो। कहा, ऐसा है नहीं। बड़ी चर्चा चली थी। मूल पूरे तीनों जैन सम्प्रदाय में कर्म से होता है, परद्रव्य से होता है, ऐसा मानते हैं। इसलिए यह बात नहीं जँची। कहा, बिल्कुल कर्म के कारण आत्मा में ज्ञानावरणीय के कारण ज्ञान का घात हो, (ऐसा) बिल्कुल नहीं है। स्वयं ही ज्ञान की दशा को घातता है, इससे ज्ञान घट जाता है और ज्ञान का स्वयं ही विकास करता है, तब बढ़ जाता है। आहाहा! समझ में आया? बड़े-बड़े पण्डित गोता खाते हैं और सुननेवालों को कुछ खबर नहीं होती, (इसलिए) जय नारायण, सत्य बात कही। हमारे देखो न कर्म का उदय है तो ज्ञान का इतना उघाड़ नहीं है। ऐसा है ही नहीं। वह तेरी अपनी ही परिणति ज्ञान की हीनरूप तो परिणमाता है, इसलिए ज्ञान का विकास नहीं होता।

यह तो आ गया न? भाई! पंचास्तिकाय, नहीं? 'विषयप्रतिबद्ध'। आहाहा! पंचास्तिकाय (में) 'विषयप्रतिबद्ध' (आता है)। ज्ञान भगवान वह अल्प विषय में रुक गया, वही उसे प्रतिबद्ध है। आहाहा! कर्म के कारण से नहीं। आहाहा! ऐसी बात। जो ज्ञान भगवान आत्मा की दशा अल्प, अल्प शक्ति के विषय में रुक गयी, वही प्रतिबद्ध और विशेष शक्ति के विकास को रोंधनेवाला है। क्या कहा यह? और वहाँ भी कहा न? सोलहवीं गाथा, प्रवचनसार। 'स्वयंभू'। द्रव्यघातिकर्म और भावघातिकर्म, दो लिये हैं। द्रव्य जड़ है, वह आत्मा को नुकसान नहीं करता परन्तु भावघाति स्वयं पर्याय को घात करता है। आहाहा! अब यह कैसे बैठे? एकेन्द्रिय जीव को ज्ञानावरणीय का जोर है, इसलिए हीन दशा है, ऐसा नहीं है। आहाहा! उसके भावघात करने की पर्याय अपनी है। द्रव्यघात तो तब निमित्त कहने में आता है। ऐसी बातें, भाई!

यह (संवत्) १९८४ में वीरजीभाई के साथ प्रश्न हुआ था। राणपुर, १९८४ में। ऐसा कि इस निगोद के जीव को कर्म के बहुत प्रकार हैं, उसके कारण यहाँ हीन दशा है? उसके कारण कुछ नहीं। आत्मा में उतने प्रकार के घात की अवस्था का स्वरूप है, इसलिए

उसका घात हो रहा है। जितने प्रकार के कर्म निमित्त हैं, उतने ही प्रकार का घात यहाँ स्वयं से हो रहा है। अरेरे! वीरजीभाई वकील थे न? ऐसा कि, कर्म तो परद्रव्य है और आत्मा को जितनी पर्याय में हीन (दशा) आदि होती है, वह कर्म के कारण है? वह तो परद्रव्य है। परद्रव्य के कारण आत्मा में नुकसान हो या लाभ हो, यह तो इनकार किया। अतः कर्म, वह परद्रव्य है या नहीं? हें? आहाहा! वह परद्रव्य आत्मा के ज्ञान की हीनदशा करे और वह परद्रव्य घट जाए तो यहाँ क्षयोपशम बढ़ जाए, ऐसा नहीं है। गजब बात, बापू! आहाहा! इसमें तो बड़े नाम धरानेवाले तो गोता खाते हैं। आहाहा!

बड़ी चर्चा चली कि विकारी परिणाम कैसे होते हैं? कहा, अपने षट्कारक से होते हैं। पंचास्तिकाय ६२ गाथा। वे द्रव्य-गुण के कारण से नहीं और षटकारक जो कर्म के, उस कारण से नहीं। आहाहा! परद्रव्य के कारण से आत्मा में विकार हो, यह तीन काल में नहीं है। आहाहा! इसी प्रकार दर्शनमोह के कारण आत्मा में मिथ्यात्व हो, (ऐसा नहीं है)। वह तो परद्रव्य है। परद्रव्य के कारण मिथ्यात्व हो, ऐसा कभी नहीं होता। स्वयं ही आत्मा अपने स्वभाव को छोड़कर राग की रुचि करे तो मिथ्यात्व होता है। आहाहा! ऐसी बात है। साधारण बात नहीं। बड़े पण्डित इसमें गोता खाते हैं। हैं? आहाहा! वर्णीजी जैसे, बेचारे ऐसे वैष्णव थे न... परन्तु यह वस्तु नहीं थी। आहाहा! और वह वापस प्रश्न हुए, वे वापस कलकत्ता गये, वहाँ लिखा। गजराजजी के घर में आहार किया। वहाँ शाहूजी आये (और कहा) यह इसरी से पत्र आया है कि विकार आत्मा से होता है तो वह स्वभाव हो गया। कहा, वहाँ जवाब दे दिया है, उठो! सेठ आवे या (चाहे जो आवे)। कलकत्ता में गजराजजी नहीं? उनके मकान में आहार करने गये थे? आहार करके बैठे, वहाँ शाहूजी आये। ईसरी से पत्र आया है कि यदि विकार कर्म से न हो तो स्वभाव हो गया, (इसलिए) पर से होता है। बिल्कुल झूठ बात है, कहा। उस पर्याय में अपना उस प्रकार का पर्याय का स्वभाव है कि रागरूप होना और राग का कर्ता, राग का साधन, राग का कार्य, वह अपने से होता है। राग का साधन—करण भी स्वयं से है। राग का करण कर्म है, (ऐसा नहीं)। जैन में यह विपरीतता बहुत घुस गयी है। वह भी बनिया को निर्णय करने की फुरसत नहीं। ऊपर बैठा (जो कहे वह) जय नारायण! कान्तिभाई!

मुमुक्षु : उपदेशदाता कहाँ थे?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु इसे निर्णय करने का (समय नहीं है)। कर्म के कारण (होता है, उसमें) हाँ कर देता है। परद्रव्य के कारण तू भटकता है। परन्तु वह कहे, परन्तु परद्रव्य इसे स्पर्श नहीं करता तो भटके किस प्रकार? परद्रव्य को स्वद्रव्य स्पर्श नहीं करता। वह तो अपनी भूल के कारण भटकता है, कर्म के कारण नहीं। आहाहा! समझ में आया इसमें? सामान्य बात है, परन्तु यह मूल बात है। आहाहा!

यह श्लोक आता है न एक? 'संग एव' नहीं? (श्रोता : परसंग एव)। हाँ, वे लोग इसका अर्थ यह करते हैं, देखो! पर के संग से विकार होता है। परन्तु पर का संग स्वयं ने किया, इसलिए विकार होता है, पर के कारण नहीं। यह श्लोक है। भाई बंसीधरजी थे न? वहाँ तो विरुद्ध में थे परन्तु यहाँ कहे, बात तो सत्य लगती है। और वापस यहाँ से वहाँ जाए तो वापस फेरफार। साठ-साठ वर्ष से घोंटा हो, कर्म से विकार होता है, कर्म से विकार होता है। ज्ञानावरणीय के कारण ज्ञान की हीनदशा (होती है)। परद्रव्य के कारण आत्मा में हीनदशा होती है। यहाँ तो यह कहा, शंख परद्रव्य का काला चाहे जितना खाने पर भी वह काला नहीं होता। आहाहा! उसी प्रकार कर्म के उदय की तीव्रता चाहे जितनी हो परन्तु उसके कारण जीव में मलिनता हो, ऐसा नहीं है। परद्रव्य में यह आया या नहीं? आहाहा! साधारण बात नहीं, यह मूल बात है।

इसकी पर्याय उस समय में षट्कारकरूप से परिणमती विकारी होती है। उसे पर का निमित्त हो, परन्तु वह कहीं इसके कारक होते हैं, अर्थात् इसके कारण होते हैं, इसका साधन होता है, ऐसा नहीं है। परनिरपेक्ष। विकार भी पर से निरपेक्ष होता है। यह तो ६२वीं गाथा में तब बहुत कहा। (संवत) १९१३ के वर्ष, २२ वर्ष हो गये, परन्तु लोगों को इतना अधिक निर्णय करने का अवसर नहीं होता कि नहीं, बड़े पुरुष कहते हैं, वह कहीं खोटी बात होगी? आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि शंख चाहे जितने काले जीव, कीचड़ खाये, तो भी वह शंख काला नहीं होता। इसी प्रकार आत्मा के पास चाहे जैसे कर्म जोर वाले हों परन्तु आत्मा को मलिनता उनके कारण नहीं होती। आहाहा! पर है या नहीं वह? वह परद्रव्य है या नहीं?

ज्ञान को छोड़कर स्वयमेव अज्ञानरूप परिणमित होता है... परिणमे अर्थात्

होता है, **तब उसका ज्ञान स्वयंकृत अज्ञान होता है।** स्वयं से किया हुआ अज्ञान होता है, पर के कारण नहीं। आहाहा! दर्शनमोह के कारण या ज्ञानावरणीय के कारण ज्ञान की हीनदशा अज्ञानरूप हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! साधारण बात नहीं है, भाई! यह तो मूल तत्त्व की बातें हैं। आहाहा! बड़े बंसीधर जैसे, वर्णीजी जैसे गोता खाते थे। उन्हें तो ऐसा लगा कि, हें! कर्म के बिना विकार स्वयं से हो? तब तो स्वभाव हो गया। परन्तु वह पर्याय का स्वभाव है। विकाररूप होना, वह पर्याय का स्वभाव है। दुनिया माने, न माने, इससे कहीं सत्य नहीं बदलता। आहाहा! बड़े पण्डित और बड़े विद्वान इतने वर्ष से हों, इसलिए उनका कुछ खोटा है? अरे! खोटा है, लो।

यहाँ यह कहते हैं कि शंख चाहे जितने काले जीव खाये (तो भी) काला नहीं होता। इसी प्रकार ज्ञानी को चाहे जितने संयोगों का उदय और संयोग हों तो उससे आत्मा में ज्ञान हीन हो या दृष्टि मलिन हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! **इसलिए ज्ञानी के यदि बन्ध हो...** है? **तो वह अपने ही अपराध के निमित्त से...** है। आहाहा! कर्म के अपराध के कारण, ऐसे स्त्री-पुत्र मिले, ऐसे समझे न कि उनके कारण मुझे यहाँ भावक्रोध, विकार होता है। (यह) बिल्कुल झूठ बात है।

गोपालदास बरैया हो गये न? जैनसिद्धान्त प्रवेशिका (बनायी)। यह बातें बेचारे उनकी योग्यता प्रमाण करते थे परन्तु उनकी बहू ऐसी थी, ऐसी झगड़ालु कि उस चर्चा में से उठे नहीं तो एक बार हंडिया... वह कैसा? जूठन... जूठन की हंडिया उनके ऊपर डाल दी। वह उसकी प्रकृति का स्वभाव है। कहो, बहुत चर्चा में रुके, उठते नहीं। यह जैनसिद्धान्त प्रवेशिका बनायी है न? पुस्तक बहुत चलती है। इससे ऐसी स्त्री मिली, इसलिए यहाँ विकार होता है—बिल्कुल झूठ बात है। आहाहा! स्वयं क्षमा करे और आनन्द में रहे तो उसे क्रोध नहीं होता और क्रोध करे तो वह स्वयं से करता है, पर के कारण नहीं। आहाहा! अपने ही अपराध के कारण से **बन्ध होता है।** आहाहा।

भावार्थ : जैसे श्वेत शंख पर के भक्षण से काला नहीं होता... आहाहा! परन्तु इस मनुष्य का देह लो न, शरीर रूपवान हो और काली चीज़ खाये, इससे कहीं काला हो जाएगा? उस पर के कारण नहीं होता। यह तो शंख का दृष्टान्त दिया। समझ में आया? और काला वर्णवाला हो और सफेद श्वेत दूध प्रतिदिन पीवे या रसगुल्ला खाये, इससे सफेद

हो जाएगा ? आहाहा ! परद्रव्य के कारण कुछ है ही नहीं, ऐसा कहते हैं। वह स्वयं अपने अपराध के कारण से दोष करे और अपराध को टालने के लिये पवित्र करे, वह स्वयं के कारण से है, पर का कोई कारण है नहीं। आहाहा !

जैसे श्वेत शंख पर के भक्षण से काला नहीं होता, किन्तु जब वह स्वयं ही कालिमारूप परिणमित होता है... सफेदपने का परिणमन छोड़कर कालेरूप हो, शंख.. शंख.. तब काला होता है। वह तो अपने परिणमन के कारण से काला होता है, पर के कारण से नहीं। आहाहा ! दृष्टान्त देखो न कैसा दिया है ! काले कीड़े खाये, समुद्र में काले कीड़े हों, वह शंख खाये, तो भी वह काला नहीं होता। आहाहा !

इसी प्रकार ज्ञानी पर के उपभोग से अज्ञानी नहीं होता... आहाहा ! पर के बहुत संयोगों में रहा, इसलिए उसे अज्ञान होता है, ऐसा नहीं है। आहाहा ! गजब बातें हैं। छह खण्ड का राजा, एकावतारी इन्द्र को करोड़ों अप्सराएँ, अभी जो इन्द्र है, शकेन्द्र एक भवतारी, वह मनुष्य होकर मोक्ष जानेवाला है और करोड़ों में उसकी एक रानी ऐसी है कि वह भी एक भव में उसके साथ मोक्ष जानेवाली है। साथ में अर्थात् दूसरा एक ही भव है। करोड़ों अप्सराएँ हैं तो भी उसे उनके कारण नुकसान है, ऐसा नहीं है। आहाहा ! उनका भोगने का भाव और भोगता है, इससे उसे मिथ्यात्व, मलिनता होती है—ऐसा नहीं है। आहाहा ! और जो कुछ मलिनता के परिणाम होते हैं, वह स्वयं के कारण से होते हैं, उसके कारण से नहीं। स्त्री के कारण से विषय की वासना हुई, ऐसा नहीं है। वह वासना स्वयं के कारण से है। ज्ञानी तो उसे भी जानता है। वासना हुई, उसे भी जानता है। उसे एकत्वबुद्धि करके वासना अपनी है, ऐसा नहीं मानता। आहाहा ! तो जहाँ वासना को भी अपनी न माने तो परद्रव्य को तो अपना कहाँ माने ? कि यह स्त्री मेरी और पुत्र मेरा और यह धन्धा मेरा और... ऐ, हसमुख ! परन्तु हमारे पालेजवाले हैं न यह तो ? आहाहा ! कहो, समझ में आया ? आहा ! बहुत सिद्धान्त, ओहोहो !

ज्ञानी पर के उपभोग से अज्ञानी नहीं होता... आहाहा ! बड़ा करोड़ों, अरबों का व्यापार (हो), इसलिए उसे अज्ञान हो—ऐसा नहीं है। छह खण्ड के राजा कहा, करोड़ों अप्सराएँ कही, शकेन्द्र को उनके कारण राग नहीं है, मैल नहीं है। स्वयं के कारण कमजोरी से राग होता है, उस राग का भी वह तो ज्ञाता है। आहाहा ! और सब संयोग छोड़े

हों, आहाहा! शरीर से बालब्रह्मचारी हो, तो भी अन्दर में राग में एकत्वबुद्धि है तो वह सब मिथ्यात्व है। आहाहा! और वह इतना भोगता है तो भी वह समकिती है। भोगता है अर्थात् संयोग में होता है, ऐसा। भोगे क्या? उसे कहाँ भोग है? राग को भी भोगता नहीं तो उसे तो कहाँ (भोगता है)? आहाहा!

एक अपेक्षा से राग को भोगता नहीं और एक अपेक्षा से—नय की अपेक्षा से, ज्ञान की अपेक्षा से, राग को भोगता भी है, पर्याय में। द्रव्यदृष्टि से नहीं। आहाहा! परन्तु वह स्वयं के कारण से राग को प्राप्त करता है। वह राग कोई स्त्री के कारण से या बाहर के कारण से हुआ है, ऐसा नहीं है। अरेरे! उसकी दृष्टि उठा, कहते हैं। पर से दृष्टि उठा और स्व में दृष्टि ले। आहाहा! तो तेरी दृष्टि भी सम्यक् होगी और अपराध होगा तो तू उसका ज्ञाता होगा। वह अपराध पर से हुआ है, ऐसा नहीं माने, मेरे पुरुषार्थ की कमजोरी से हुआ है, उसका भी ज्ञानी तो ज्ञाता रहेगा और ज्ञातारूप से जानेगा कि मेरा परिणमन—कर्तापना है, मैं भोगता हूँ। पर्यायदृष्टि से (ऐसा) देखता है। आहाहा! उसका कर्ता-भोक्ता पर है और पर के कारण यह कर्ता-भोक्ता का विकार हुआ है, ऐसा नहीं है। अरे.. अरे..! इसमें क्या अन्तर होगा इतना सब?

स्वद्रव्य और परद्रव्य के अन्दर का विभाजन है कि परद्रव्य चाहे जितने हों परन्तु तू उन्हें स्पर्श भी नहीं करता और वे तुझे नुकसान का कारण नहीं हैं और परद्रव्य घट गये और अकेला शरीर नग्न रह गया, इससे तुझे अधर्म का त्याग हुआ, ऐसा भी नहीं है। आहाहा! उस राग के भाव को अपना माने और राग से धर्म मानता है, नग्न है, वह भी मिथ्यादृष्टि है। एक वस्त्र का टुकड़ा नहीं तो भी मिथ्यादृष्टि है और इसे छियानवें करोड़ सैनिक और करोड़ों अप्सराएँ हैं तो भी यह समकिती है। आहाहा! इसकी दृष्टि कहाँ है, इस पर बात है। दृष्टि द्रव्य के ऊपर है तो पवित्रता ही होती है और जितना पर्याय में लक्ष्य रहता है, ज्ञानी को भी, उसे राग होता है। परन्तु पर के कारण राग होता है, ऐसा नहीं है। अरे! इसमें इतना सब अन्तर है।

ज्ञानी पर के उपभोग से अज्ञानी नहीं होता किन्तु जब स्वयं ही अज्ञानरूप परिणमित होता है, तब अज्ञानी होता है और तब बन्ध करता है।

कलश - १५१

अब इसका कलशरूप काव्य कहते हैं:-

(शार्दूलविक्रीडित)

ज्ञानिन् कर्म न जातु कर्तुमुचितं किञ्चित्तथाप्युच्यते
भुङ्क्षे हन्त न जातु मे यदि परं दुर्भुक्त एवासि भोः।
बन्धः स्यादुपभोगतो यदि न तत्किं कामचारोऽस्ति ते
ज्ञानं सन्वस बन्धमेष्यपरथा स्वस्यापराधाद्ध्रुवम् ।।१५१।।

श्लोकार्थ : [ज्ञानिन्] हे ज्ञानी! [जातु किंचित् कर्म कर्तुम् उचितं न] तुझे कभी कोई भी कर्म करना उचित नहीं है, [तथापि] तथापि [यदि उच्यते] यदि तू यह कहे कि [परं मे जातु न, भुंक्षे] 'परद्रव्य मेरा कभी भी नहीं है और मैं उसे भोगता हूँ' [भोः दुर्भुक्तः एव असि] तो तुझसे कहा जाता है कि हे भाई, तू खराब प्रकार से भोगनेवाला है, [हन्त] जो तेरा नहीं है, उसे तू भोगता है, यह महा खेद की बात है! [यदि उपभोगतः बन्धः न स्यात्] यदि तू कहे कि 'सिद्धान्त में यह कहा है कि परद्रव्य के उपभोग से बन्ध नहीं होता, इसलिए भोगता हूँ', [तत् किं ते कामचारः अस्ति] तो क्या तुझे भोगने की इच्छा है? [ज्ञानं सन् वस] तू ज्ञानरूप होकर (-शुद्ध स्वरूप में) निवास कर, [अपरथा] अन्यथा (यदि भोगने की इच्छा करेगा-अज्ञानरूप परिणमित होगा तो) [ध्रुवस्य स्वस्य अपराधात् बन्धम् एषि] तू निश्चयतः अपने अपराध से बन्ध को प्राप्त होगा।

भावार्थ : ज्ञानी को कर्म तो करना ही उचित नहीं है। यदि परद्रव्य जानकर भी उसे भोगे तो यह योग्य नहीं है। परद्रव्य के भोक्ता को तो जगत में चोर कहा जाता है, अन्यायी कहा जाता है। और जो उपभोग से बन्ध नहीं कहा सो तो, ज्ञानी इच्छा के बिना ही पर की जबरदस्ती से उदय में आये हुए को भोगता है, वहाँ उसे बन्ध नहीं कहा। यदि वह स्वयं इच्छा से भोगे, तब तो स्वयं अपराधी हुआ, और तब उसे बन्ध क्यों न हो?।।१५१।।

कलश - १५१ पर प्रवचन

१५१ श्लोक।

ज्ञानिन् कर्म न जातु कर्तुमुचितं किञ्चित्तथाप्युच्यते
भुङ्क्षे हन्त न जातु मे यदि परं दुर्भुक्त एवासि भोः।
बन्धः स्यादुपभोगतो यदि न तत्किं कामचारोऽस्ति ते
ज्ञानं सन्वस बन्धमेष्यपरथा स्वस्यापराधाद्ध्रुवम् ।।१५१।।

हे ज्ञानी! आहाहा! हे धर्मी! तुझे आत्मा का ज्ञान और आत्मा का दर्शन हुआ हो, तो हे धर्मी! [**जातु किंचित् कर्म कर्तुम् उचितं न**] **तुझे कभी कोई भी कर्म करना उचित नहीं है...** आहाहा! पर का कार्य तो कर नहीं सकता परन्तु राग का कार्य भी तुझे करनेयोग्य नहीं है। आहाहा! है? तुझे कभी भी, **कभी कोई...** किसी समय और कुछ भी। आहाहा! हे ज्ञानी! तू धर्मी हो तो तुझे किसी काल में और थोड़ा कुछ भी, थोड़ा भी राग का या पर का कार्य करना, वह तुझे है नहीं। आहाहा! ऐसी बातें। अभी तो कहीं उलझकर पड़े हैं, खबर नहीं होती। आहाहा!

ऐसा कि इतने-इतने परीषह सहन करे, और एक ऐसा कहता था। कुरावड में आया था न? कुरावड में वह एक आया था न? एक लड़का है, यहाँ आया था, मस्तिष्क अस्थिर। बहुत पावर फट गया (मान चढ़ गया), क्षुल्लक हुआ इसलिए। बस! यह सब इतना-इतना सहन करे, इतना-इतना त्याग करे, उन्हें धर्म नहीं? इतना सहन करते हैं और इतना सहन करते हैं, वे धीरे-धीरे समकित पायेंगे। यह अभिमान चढ़ गया था। वहाँ कुरावड़ आया था। फिर अभी तो ऐसा सुना है कि मस्तिष्क अस्थिर हो गया, अस्थिर हो गया मस्तिष्क। अंग्रेजी में बोलता, ऐसे अभिमान चढ़ गया। कहा, भाई! मेरे साथ बात करने के योग्य तू नहीं है। यहाँ तो शान्ति से सुनना हो तो बात है। उस बेचारे का मस्तिष्क अस्थिर हो गया। आहाहा! क्या कहा?

हे धर्मी! हे ज्ञाता-दृष्टा स्वभाववाला तू, तुझे कभी किसी काल में भी कुछ जरा भी पर का कार्य और राग का कार्य करना योग्य नहीं है। आहाहा! यदि तू ज्ञानी हुआ और धर्म

प्रगट हुआ हो, भगवान आत्मा पूर्णानन्द के आश्रय से यदि तुझे सम्यग्दर्शन, ज्ञान, प्रगट हुआ हो तो तू धर्मी है, तू ज्ञानी है, तुझे तेरे अतिरिक्त राग या पर, उसका किसी काल में और कुछ भी करना योग्य नहीं है। आहाहा! कोई भी काल में और कुछ भी, ऐसा। ऐसा कि ऐसा कोई काल आया तो थोड़ा सा तो करना पड़े। भगवान की पूजा और... राग आवे वह अलग और करता हूँ, वह नहीं। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बातें, बापू!

[**जातु किंचित् कर्म कर्तुम् उचितं न**] आहाहा! '**जातु**' अर्थात् काल लिया। (ऐसा है) न? भाई! '**जातु**' अर्थात् काल। किसी काल में और '**किंचित्**'। '**जातु**' अर्थात् काल, किसी काल में, 'कभी' है न, 'कभी' यह शब्द '**जातु**' का अर्थ है और '**किंचित्**' का अर्थ कुछ भी। दो अर्थ हैं। आहाहा! '**जातु किंचित्**' किसी काल में, कुछ। आहाहा! प्रभु! तू ज्ञान है न! ज्ञाता-दृष्टा तेरा स्वरूप है न, प्रभु! ऐसा तुझे भान हुआ तो किसी काल में या ऐसा प्रसंग आवे तो मुझे इतना करना पड़े। आहाहा! मुनियों को परीषह आये न? तो विष्णुकुमार को करना पड़ा। नहीं, वह मुनिपना ही छोड़ दिया था। उन्हें मुनिपना नहीं रहा था। दूसरों को बचाने गये तो ब्राह्मण का वेश लिया था (तो) मुनिपना कहाँ रहा? समझ में आया? सम्यग्दर्शन रहा हो, वह अलग (बात), मुनिपना नहीं होता। दूसरे को बचाने के लिये मुनि ने ब्राह्मण वेश धारण कर उससे (मन्त्रियों से) माँगा कि इतना राज, जमीन मुझे दे। यह कहीं मुनि के लक्षण हैं? उन विष्णुकुमार मुनि को मुनिपना छूट गया था। मोक्षमार्गप्रकाशक में अधिकार है। उन्हें मुनिपना नहीं था, मुनि के योग्य कर्तव्य नहीं परन्तु उस समय ऐसा बड़ा काम था और हुआ, इसलिए उनकी प्रशंसा करते हैं। बाकी मुनि के योग्य नहीं है, ऐसा लिखा है। मोक्षमार्गप्रकाशक, टोडरमलजी।

हे ज्ञानी! आहाहा! किसी काल में ऐसा प्रसंग आया, उस काल में, यह प्रसंग ऐसा आया और जाने, परन्तु उस काल में भी तुझे वह करना योग्य नहीं है। आहाहा! समझ में आया? हे धर्मी! तुझे कभी, कुछ भी '**जातु किंचित् कर्म**' ऐसा। किसी काल में कुछ भी कर्म। कर्म अर्थात् रागादि का कार्य और पर का कार्य। '**कर्तुम् उचितं न**' वह करना तेरे लिये योग्य नहीं है। आहाहा!

तथापि [**यदि उच्यते**] **यदि तू यह कहे कि** [**परं मे जातु न, भुंक्षे**] '**परद्रव्य**

मेरा कभी भी नहीं है और मैं उसे भोगता हूँ'... अरे! दो कहाँ से आया यह? परद्रव्य मेरा नहीं, तथापि मैं भोगता हूँ, यह कहाँ से आया? आहाहा! [**भोः दुर्भुक्तः एव असि**] **तो तुझसे कहा जाता है कि हे भाई! तू खराब प्रकार से भोगनेवाला है,...** झूठा भोगनेवाला है। आहाहा! राग को भोगता है और पर को भोगता हूँ, यह तेरी दृष्टि झूठी है, ज्ञानी नहीं है। आहाहा! गजब काम। **हे भाई!** आया न? **'भोः' 'भोः'** है न? **'भोः'** का अर्थ यह किया, हे भाई! ऐसा। [**भोः दुर्भुक्तः एव असि**] अरे! भाई! खोटा भोगने में तू ऐसा आया। आहाहा! **खराब प्रकार से भोगनेवाला है,...** आहाहा! मुझे ऐसा प्रसंग आया तो मुझे करना पड़ा। आहाहा! मुनि बहुत दुःखी थे, इसलिए मुझे राग करना पड़ा और ऐसा करना पड़ा, हे भाई! तेरा कर्तव्य है यह? आहाहा! तो भी कहा है, नहीं? प्रवचनसार में। वैयावृत्त्य का काल हो और ध्यान में न हो, तब राग होता है, बस! परन्तु राग का कर्तव्य मेरा है, ऐसा नहीं है। ऐसे काल में भी राग मेरा है, ऐसा कर्तव्य वह तो तुझे होता नहीं, भाई! तेरा स्वभाव ही जहाँ ज्ञाता-दृष्टा अकर्ता—अभोक्ता है, वह राग को करे, भोगे यह तू **'दुर्भुक्तः' खराब प्रकार से भोगनेवाला है,...** तेरी चीज़ को भूलकर और राग का कर्ता तथा भोक्ता होता (है तो) **'दुर्भुक्तः'** आहाहा! खराब भोगनेवाला है। है न! खोटी रीति से भोगनेवाला है। आहाहा!

[**हन्त**] **जो तेरा नहीं है, उसे तू भोगता है-यह महा खेद की बात है!** आहाहा! राग तेरा नहीं, स्त्री तेरी नहीं, शरीर तेरा नहीं और तू कहता है कि इसे भोगूँ। अरेरे! गजब बातें, भाई! आहाहा! खेद है। **यदि तू कहे कि 'सिद्धान्त में यह कहा है कि परद्रव्य के उपभोग से बन्ध नहीं होता, इसलिए भोगता हूँ', तो क्या तुझे भोगने की इच्छा है?** कामचारी। इच्छा है? आहाहा! **ज्ञानरूप होकर वर्त... भोगने की इच्छा है? ज्ञानरूप होकर (-शुद्ध स्वरूप में) निवास कर,...** आहाहा! विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २९९, श्लोक-१५१, १५२ शनिवार, भाद्र शुक्ल १०
दिनाङ्क ०१-०९-१९७९

हिन्दी चलेगा। हिन्दी भाई आये हैं। यह दशलक्षणी पर्व का छठवाँ दिन है। सुगन्ध दसमी कहते हैं न? मूल तो संयम है। छठवाँ संयम धर्म क्या है, वह कहते हैं। जिसका चित्त जीवों की दया से भींगा हुआ है। संयम अलौकिक चीज़ है, भगवान! आहा! और ईर्या, भाषा, ऐषणा, ऐसी पाँच समिति को पावन करनेवाला है, ऐसे मुनि के षट्कायिक जीवों की हिंसा का, इन्द्रियों के विषयों का त्याग है, उसे ही गणधर आदि देव संयम कहते हैं।

अब संयम क्या चीज़ है? आचार्य कहते हैं कि प्रथम तो संसाररूपी गहन वन में भ्रमण करते हुए, अनादि चौरासी लाख योनियों में अनन्त-अनन्त अवतार किये। आहा! वह भ्रमण करते हुए प्राणियों को मनुष्य होना ही अत्यन्त कठिन है। आहाहा! अनादि-अनन्त संसार, नरक, निगोद के ऐसे अनन्त भव किये, उसमें अनन्त काल में मनुष्यपना मिलना कठिन है। है? परन्तु किसी कारण से मनुष्यजन्म प्राप्त भी हो जाए तो उत्तम जाति मिलना, ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि में अवतार होना, वह भी दुर्लभ है। किसी प्रबल उदय के योग से उत्तम जाति भी मिल जाए, अरिहन्त भगवान के वचनों का श्रवण होना, त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव परमेश्वर की वाणी श्रवण होना, वह बड़ा दुर्लभ है। आहा! वह भी मिला, कदाचित् उनका श्रवण भी स्वाभाविकरूप से प्राप्त हो जाए तो संसार में अधिक जीवन मिलता नहीं। अधिक जीवन भी मिले तो सम्यग्दर्शन... आयुष्य लम्बा मिले, वह भी दुर्लभ है और उसमें सम्यग्दर्शन दुर्लभ है, प्रभु! आहाहा!

आत्मा राग से भिन्न पड़कर, निज आत्मा का अनुभव करके प्रतीति करना, वह सम्यग्दर्शन महादुर्लभ है। समझ में आया? संयम तो बाद में कहेंगे। अभी तो सम्यग्दर्शन दुर्लभ है। आहाहा! भगवान आत्मा ध्रुव सच्चिदानन्द प्रभु, पूर्ण आनन्दकन्द आत्मा के अन्तर सन्मुख होकर उसकी प्रतीति और ज्ञान अन्तर में होना और उसमें आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आना, इसका नाम सम्यग्दर्शन है। ऐसी बात है, प्रभु! तेरी बलिहारी है अन्दर, भाई! तेरा अन्तर स्वरूप भगवान अतीन्द्रिय आनन्द का सच्चिदानन्द प्रभु है। उसका सम्यग्दर्शन अभी, हों! धर्म की पहली सीढ़ी, धर्म की पहली श्रेणी, वह सम्यग्दर्शन।

आयुष्य लम्बा मिला, निरोगता हुई, मनुष्यपना मिला, सुनने को मिला परन्तु सम्यग्दर्शन दुर्लभ चीज़ है। अनन्त में परिभ्रमण करते हुए 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो पै (निज) आतमज्ञान बिन लेश सुख न पायो।' छहढाला में आता है। 'मुनिव्रत धार...' दिगम्बर मुनि होकर अट्ठाईस मूलगुण मिले, हजारों रानियों का त्याग किया। 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो'। ग्रीवा के स्थान पर ग्रैवेयक है। पुरुषाकाररूप से यह ब्रह्माण्ड है न? चौदह राजूलोक पुरुषाकार है। ग्रीवा में-ग्रीवा के स्थान में यह नौ ग्रैवेयक है। वहाँ अनन्त बार उत्पन्न हुआ। पंच महाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण पालकर शुक्ल लेश्या से (वहाँ गया)। परन्तु सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं किया। आहाहा! 'आत्मज्ञान बिना लेश सुख न पाया।' आत्मा आनन्दस्वरूप भगवान। आहाहा!

श्रेणिक राजा गृहस्थाश्रम में राज्य में थे, तो भी क्षायिक सम्यक्त्व था। आहा! उसमें तीर्थंकरगोत्र बाँधते थे, परन्तु नरक का आयुष्य बँध गया था, इसलिए नरक में गये हैं परन्तु है क्षायिक सम्यक्त्व। आहाहा! और वहाँ भी समय-समय तीर्थंकर गोत्र का बन्ध करते हैं। नरक में भी। यह सम्यग्दर्शन का प्रताप है। यह सम्यग्दर्शन, भाई! कोई अलौकिक चीज़ है। लोग बाहर से मानते हैं कि हम देव-शास्त्र-गुरु को मानते हैं, नव तत्त्व के भेद को मानते हैं, यह सम्यग्दर्शन। यह सम्यग्दर्शन नहीं है।

यह यहाँ कहते हैं, आहा! सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होना अति कठिन है। स्वस्वरूप परमात्मस्वरूप अन्दर, जिनचन्द्र भगवान जिनचन्द्र है। आहाहा! वीतरागस्वरूप भगवान आत्मा अन्दर विराजता है। उसके सन्मुख होकर, पर से विमुख होकर, निमित्त से, संयोग से, राग से, पर्याय से भी विमुख होकर... आहाहा! अन्तर परमानन्दस्वरूप प्रभु के सन्मुख होकर जो प्रतीति-सम्यग्दर्शन, अनुभव होना, वह अपूर्व चीज़ है। वह अनन्त काल में प्राप्त नहीं किया। बाहर के क्रियाकाण्ड किये; दया, व्रत, तप, भक्ति—वह तो सब पुण्य है, राग है। आहाहा! वह कोई धर्म नहीं, धर्म का कारण भी नहीं। सूक्ष्म बात है, भगवान! आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि अंतरस्वरूप शुद्ध चैतन्यघन, परमानन्द की मूर्ति प्रभु है, अन्दर ऐसा अनादि से है। उसके सन्मुख होकर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति (करना)। कल आया था, अन्तिम कहा था। लालचन्दभाई! अन्तिम बीसवाँ बोल। प्रवचनसार, अलिंगग्रहण का

(बीसवाँ बोल)। आहा! भगवान! तूने जो ध्रुवस्वरूप भगवान, ध्रुव नित्यानन्द प्रभु, उस पर यदि तेरी दृष्टि हुई तो पर्याय में आनन्द आये बिना रहे नहीं। आहाहा! यह अतीन्द्रिय आनन्द की बात है, हों! इन्द्रिय के विषय तो दुःख है, राग है, भिखारी, बड़ा भिखारी है। पर में से मुझे सुख मिलेगा, इन्द्रियों से, विषयों से (मुझे सुख मिलेगा, ऐसा माननेवाले) भिखारी हैं। भगवान बादशाह अन्दर आनन्द का नाथ प्रभु, आहाहा! उसके सन्मुख जो हुआ, ध्रुव को ध्यान में लिया तो पर्याय में आनन्द आये बिना रहे नहीं। इसलिए उस ध्रुव के लक्ष्य का फल आनन्द है। आहाहा! अन्तिम बोल यह पढ़ा। आहाहा! क्या कहा? प्रभु!

आत्मा में जो सम्यग्दर्शन होता है, ध्रुव भगवान नित्यानन्द प्रभु ध्रुव, उस ध्रुव पर जब दृष्टि जाती है, तब पर्याय में आनन्द आये बिना नहीं रहता। इसलिए वहाँ बीसवें बोल में कहा कि आनन्द का अनुभव, वह आत्मा है। जो अनादि से राग और द्वेष का अनुभव है, वह तो दुःख का अनुभव है। आहाहा! चाहे तो दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम का अनुभव, वह राग है और दुःख है। अरर! प्रभु! मार्ग अलग है, भाई! तीन लोक के नाथ तीर्थंकरदेव का पुकार है.. आहाहा! कि जिसे ध्रुव ध्यान में आया, जिसकी दृष्टि ध्रुव पर आयी, उसकी पर्याय में आनन्द आये बिना नहीं रहता; इसलिए आनन्द, वह आत्मा है। आहाहा! राग, वह आत्मा नहीं; वह तो अनात्मा है।

यह यहाँ कहते हैं कि सम्यग्दर्शन, आहाहा! छठवाँ (धर्म) है न? यहाँ आया है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होना अति कठिन है। यदि किसी पुण्य के योग से, आहाहा! अखण्ड निर्मल सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति भी हो जाए, अन्तर के अवलम्बन से... आहाहा! यदि (सम्यग्दर्शन भी प्राप्त हो जाए) तो संयमधर्म के बिना, संयम बिना मुक्ति नहीं है। अकेले सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान से मुक्ति नहीं है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् संयम बिना स्वर्ग और मोक्षरूपी फल देनेवाला नहीं हो सकता। इसलिए इन सबकी अपेक्षा से संयम अति प्रशंसनीय है। परन्तु वह संयम किसे कहते हैं, प्रभु! बाहर का त्याग किया, वह संयम नहीं। आहाहा! अन्तर भगवान आत्मा का अन्दर में शुद्ध अनुभव होकर, आनन्द का अनुभव होकर सम्यग्दर्शन हुआ, पश्चात् स्वरूप में लीनता करना। आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द के भोजन करना, आहाहा! ऐसी बात है। उसका नाम भगवान संयम कहते हैं। संयम शब्द पड़ा है न? सं+यम। सं अर्थात्

सम्यग्दर्शनपूर्वक, अन्तर के अनुभवपूर्वक। सं-यम। यम अर्थात् अन्तर लीन होना। आहाहा! ऐसे संयम धर्म का, सुगन्ध दसमी का आज छठवाँ दिन है। दुर्लभ चीज़ है।

अब अपना चलता अधिकार। समयसार १५१ वाँ श्लोक चला है, उसका भावार्थ। १५१ जो कलश है न, कलश? उसका भावार्थ। है? **भावार्थ : ज्ञानी को...** आहाहा! जिसे अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव, स्वाद आया—ऐसे धर्मी को, समकिती को, ज्ञानी को **कर्म तो करना ही उचित नहीं है।** किसी प्रकार से पर के कार्य और राग करना, वह उचित नहीं है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, प्रभु! आहाहा! धर्मी को, धर्मी उसे कहते हैं कि जिसे अतीन्द्रिय आनन्द का अन्तर में सम्यग्दर्शन में आनन्द का स्वाद आया हो। आहाहा! उस धर्मी को। धर्मी अर्थात् द्रव्यस्वभाव जो त्रिकाल है, उसकी अनुभव में दृष्टि हुई, वह ज्ञानी, वह धर्मी है। धर्मी अर्थात् बाह्य का क्रियाकाण्ड करे, और पूजा-भक्ति (करे), इसलिए धर्मी है-ऐसा नहीं है। सूक्ष्म बात है, भगवान! नौवें ग्रैवेयक अनन्त बार (गया)। सम्यग्दर्शन बिना ऐसा क्रियाकाण्ड किया कि चमड़ी उतारकर नमक छिड़के तो भी क्रोध न करे। परन्तु सम्यग्दर्शन बिना वह निरर्थक है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं **ज्ञानी को...** जिसे ज्ञानस्वरूप भगवान का ज्ञान हुआ। ज्ञानस्वरूप भगवान, ज्ञान का पुंज... ज्ञान का पुंज, ज्ञान का गंज, ज्ञान का पिण्ड, उसका जिसे सन्मुख होकर ज्ञान हुआ। आहाहा! शास्त्रज्ञान आदि हो, वह कुछ नहीं। आहाहा! शास्त्रज्ञान होना, वह कुछ ज्ञान नहीं है। अन्तर भगवान सच्चिदानन्द प्रभु, वह ज्ञायकभाव से भरपूर प्रभु, आहा! बातें बहुत कठिन, भाई! उस ज्ञायकभाव के अन्तर में सन्मुख होकर, प्रतीति करके आनन्द का स्वाद अन्दर आना, इसका नाम ज्ञानी और धर्मी कहा जाता है।

ज्ञानी को कर्म तो करना ही उचित नहीं है। उसे तो राग कि, पर का कार्य तो कर सकता नहीं, परन्तु राग का कार्य भी करना उसे उचित नहीं है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, प्रभु! आहा! आचार्य तो भगवानरूप से बुलाते हैं। समयसार ७२ गाथा। भगवान आत्मा। आहाहा! श्रोताओं को पुकार करके आचार्य ऐसा बुलाते हैं, भगवान आत्मा। यह पुण्य और पाप के (भाव) अशुचि-मैल है, उनसे भगवान भिन्न है। आहाहा! ये पुण्य और पाप के जो भाव हैं, दया-दानादि, वे जड़ हैं। उनमें भगवान चैतन्य का अंश नहीं है। अरर! ऐसी

बातें भारी कठिन पड़े। शुभ दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम, वे जड़ हैं। जड़ का अर्थ (यह कि) उनमें चैतन्य ज्ञानानन्दस्वभाव का अंश नहीं है। राग है, वह तो अन्ध है। आहाहा! भगवान आत्मा तो प्रकाश की मूर्ति है। उस प्रकाश की मूर्ति का भान हुआ, उसे राग जो अन्धकार, वह करना उचित नहीं है। आहाहा! भारी बात, भाई!

यदि परद्रव्य जानकर भी उसे भोगे... रागादि और पर स्त्री आदि को परद्रव्य जानकर भोगने का भाव करे **तो यह योग्य नहीं है।** वह धर्मी को योग्य नहीं है। आहाहा! भोगनेयोग्य तो भगवान आत्मा है। उसे छोड़कर धर्मी नाम धराकर पर, स्त्री आदि और राग के भोग में सुख माने तो वह धर्मी नहीं है। आहाहा! बहुत कठिन काम है।

जिसे भगवान आत्मा में आनन्दस्वरूप का भान (हुआ), आनन्द का पुंज प्रभु है, ऐसा अनुभव हुआ, उसे राग में मजा और बाहर में मजा नहीं दिखता। आहाहा! इन्द्र है, शकेन्द्र है, समकिती है, अनुभवी है, करोड़ों अप्सरायें हैं परन्तु (उनमें) सुखबुद्धि नहीं है। राग आता है तो काल नाग देखते हैं। अरेरे! हम यह चीज़ कहाँ (है)? समझ में आया? निर्जरा का अधिकार है न? जिसे आत्मा का ज्ञान और अनुभव हुआ, उसे राग की मिठास से राग करना होता नहीं। पर की क्रिया, भोग की तो होती नहीं, परन्तु राग करना, वह भी उसकी इच्छा की, अभिलाषा से राग का करना है नहीं। आहाहा! सूक्ष्म बात है, प्रभु!

परद्रव्य के भोक्ता को तो जगत में चोर कहा जाता है,... आहाहा! शरीर, स्त्री, पैसा-लक्ष्मी को भोगना, वह तो चोर है। अपनी चीज़ को छोड़कर परचीज़ को भोगना, वह तो चोर है। अरेरे! यह क्या परन्तु? समझ में आया? **अन्यायी कहा जाता है।** आहाहा! अपना निज द्रव्य को छोड़कर परद्रव्य को भोगना, वह अन्याय और चोर कहने में आता है। आहाहा! अन्दर आचार्यों की भाषा तो देखो! सन्त-दिगम्बर मुनि आत्मा के ध्यान में मस्त हैं। विकल्प आया और टीका हो गयी। उस विकल्प के भी कर्ता नहीं। आहा! टीका की अक्षर की अवस्था है, उसके तो कर्ता नहीं; वह तो जड़ की पर्याय है। आहाहा! कहते हैं, धर्मी को परद्रव्य का भोगना वास्तव में अन्याय और चोर है।

और जो उपभोग से बन्ध नहीं कहा... सिद्धान्त में कहा है कि ज्ञानी को उपभोग से बन्ध नहीं है, **तो ज्ञानी इच्छा के बिना ही पर की जबरदस्ती से उदय में आये हुए**

को... आहाहा! स्वयं की भावना नहीं है, परन्तु राग आया, कर्म के निमित्त के वश होकर राग आया। आहा! उस **पर की जबरदस्ती से उदय में आये हुए को भोगता है...** आहा! गधे के ऊपर बैठावे और फिर चलावे तो यहाँ बैठनेवाले को उसमें प्रसन्नता है? समझ में आया? दिल्ली में या दूसरे किसी गाँव में ऐसा बना था। लड़का कन्या से विवाह करने गया, ऐसे विवाह प्रसंग में कन्या को आने का समय हुआ तो उसने माँग की कि इतने पैसे, इतना अमुक, इतना-इतना (चाहिए) और (सामने) गरीब व्यक्ति साधारण घर। अब इतनी माँग की तो गाँव के युवक लोग गधा लाये, गधा (लाये) और उसे (वर को) बैठाकर गाँव में घुमाया। गधे जैसा, उसके पास इतने पैसे नहीं और तू माँगता है! तो वह गधे पर बैठा, उसमें प्रसन्न होगा? जवान लड़कों ने (ऐसा) किया था। यह बना है। जवान लड़का था, बहुत जोर किया कि इतने पैसे लाओ, इतने गहने लाओ। अब घर सामान्य था, उसमें इतनी माँग (की)। जवानों ने एकत्रित होकर गधे पर बैठाया और गाँव में घुमाया। उसीप्रकार यहाँ आत्मा में अन्दर राग आया। आहाहा! वह गधे पर बैठनेवाला जैसे प्रसन्न नहीं है, वैसे ही (ज्ञानी) राग को करने में प्रसन्न नहीं है। समझ में आया, भाई! मार्ग अलग है। यह तो अलौकिक चीज़ है।

तीर्थंकर जिनेश्वरदेव त्रिलोकनाथ महाविदेह में विराजते हैं। परमात्मा सीमन्धरस्वामी। पाँच सौ धनुष की देह है, करोड़ पूर्व का आयुष्य है। भगवान विराजते हैं। यह कुन्दकुन्दाचार्य वहाँ गये थे, वहाँ से यह सन्देश लाये। आहा! स्वयं अनुभवी, समकिती मुनि थे, अन्तर आत्मज्ञानी थे, परन्तु वहाँ गये थे तो विशेष निर्मल ज्ञान हुआ और आकर यह शास्त्र बनाये कि भगवान का यह सन्देश है। यहाँ भी पति या पिता बाहर गये हों और वापस आये हों तो कहे, मेरे लिये क्या लाये? इसी प्रकार भगवान के पास गये थे, तो यहाँ के मनुष्य कहते हैं, प्रभु! वहाँ से आप क्या लाये? कि यह लाया।

जिसे आत्मा का धर्म-दृष्टि प्रगट हुई, वह धर्मी भले गृहस्थाश्रम हो, चक्रवर्ती का राज हो, आहाहा! तथापि वह राग अपनी भावना-विरुद्ध जबरदस्ती से आता है, अपनी कमजोरी से (आता है)। वह **जबरदस्ती से उदय में आये हुए को भोगता है...** है। **वहाँ उसे बन्ध नहीं कहा।** ज्ञानी को राग आता है, उसका स्वामी नहीं, उसकी मिठास नहीं तो उसे बन्ध नहीं कहा? अल्प बन्ध और स्थिति होती है, उसे गौण करके बन्ध नहीं

कहा। आहाहा! चैतन्य भगवान पर आरूढ़ है। आहाहा! पूर्णानन्द का नाथ प्रभु अन्दर आत्मा, उस चैतन्य में आरूढ़ है। उसे राग में आरूढ़ होना ठीक नहीं पड़ता, परन्तु पराधीनरूप से आता है, भोगता है, (उसकी) निर्जरा हो जाती है। आहाहा! सूक्ष्म बात, बापू!

वीतरागमार्ग, जिनेश्वरमार्ग, ऐसा मार्ग अन्यत्र कहीं है नहीं। वीतराग के अतिरिक्त कहीं है नहीं। सबने कल्पना से धर्म मनवाया है। यह तो तीन लोक के नाथ जिनेश्वर वीतराग परमात्मा ने तीन काल-तीन लोक देखे और जैसा वस्तु का स्वरूप था, वैसा जाना और उसको कहा। प्रभु! जब तक तुझे राग की मिठास का भाव है, तब तक तू मिथ्यादृष्टि है; और राग से भिन्न निज स्वभाव के आनन्द की मिठास आयी तो उसे राग का स्वाद जहर जैसा लगता है। आहाहा! जिसने दूधपाक का स्वाद लिया, उसे कालीजीरी का स्वाद... कालीजीरी होती है न? कड़वी... कड़वी। क्या कहते हैं? कालीजीरी कहते हैं? कड़वी, बारीक (होती है) उसका स्वाद मीठा नहीं लगता। उसी प्रकार धर्मी जीव, जिसे आत्मा का अनुभव और धर्मदृष्टि हुई है, सम्यग्दर्शन हुआ है। आहाहा! और न हो तो प्रथम यह करना है। समझ में आया?

समकित दृष्टि को, सिद्धान्त में भोग को बन्ध का कारण नहीं कहा। उसका कारण यह है कि उस राग की अन्दर भावना नहीं है। राग तो जबरदस्ती से उदय से आता है, परन्तु उसकी मिठास नहीं, उसकी सुखबुद्धि उसमें नहीं है—राग में सुखबुद्धि नहीं है। आहाहा! **वह स्वयं इच्छा से भोगे...** इच्छा करके (भोगे), 'कामाचारी' आया था न? कलश में 'कामाचारी' (आया था)। इच्छा से भोगे, तब तो मिथ्यादृष्टि है। **स्वयं अपराधी...** है। आहाहा! **और तब उसे बन्ध क्यों न हो?** इच्छा से, मिठास से राग को-विकार को, भोग को भोगे तो उसे मिथ्यात्व का बन्ध क्यों नहीं होगा? आहाहा! समझ में आया? और सम्यग्दृष्टि को तो मिठास है नहीं। निज चैतन्य की मिठास के समक्ष राग की मिठास जहर जैसी दिखती है। काला नाग आवे और जैसे भागे, (वैसा है)। आहाहा! राग है, जब तक वीतराग न हो तो धर्मी को भी राग आता है, परन्तु राग आया तो जहर—काले नाग जैसा दिखता है। अरे! यह जहर, यह क्या! मेरी चीज़ भिन्न है। अतः निज चीज़ की मिठास के समक्ष राग की भावना से-मिठास से भोग नहीं भोगता। आहाहा! ऐसा मार्ग है। १५२। १५१ (श्लोक पूरा) हुआ न? १५२।

कलश - १५२

अब आगे की गाथा का सूचक काव्य कहते हैं:-

(शार्दूलविक्रीडित)

कर्तारं स्वफलेन यत्किल बलात्कर्मैव नो योजयेत्
कुर्वाणः फललिप्सुरेव हि फलं प्राप्नोति यत्कर्मणः।
ज्ञानं सन्स्तदपास्तरागरचनो नो बध्यते कर्मणा
कुर्वाणोऽपि हि कर्म तत्फलपरित्यागैकशीलो मुनिः।।१५२।।

श्लोकार्थ : [यत् किल कर्म एव कर्तारं स्वफलेन बलात् नो योजयेत्] कर्म ही उसके कर्ता को अपने फल के साथ बलात् नहीं जोड़ता (कि तू मेरे फल को भोग), [फललिप्सुः एव हि कुर्वाणः कर्मणः यत् फलं प्राप्नोति] *फल की इच्छावाला ही कर्म को करता हुआ कर्म के फल को पाता है; [ज्ञानं सन्] इसलिए ज्ञानरूप रहता हुआ और [तद्-अपास्त-रागरचनः] जिसने कर्म के प्रति राग की रचना दूर की है ऐसा [मुनिः] मुनि, [तत्-फल-परित्याग-एक-शीलः] कर्मफल के परित्यागरूप ही एक स्वभाववाला होने से, [कर्म कुर्वाणः अपि हि] कर्म करता हुआ भी [कर्मणा नो बध्यते] कर्म से नहीं बँधता।

भावार्थ : कर्म तो बलात् कर्ता को अपने फल के साथ नहीं जोड़ता किन्तु जो कर्म को करता हुआ उसके फल की इच्छा करता है, वही उसका फल पाता है। इसलिए जो ज्ञानरूप वर्तता है और बिना ही राग के कर्म करता है, वह मुनि कर्म से नहीं बँधता क्योंकि उसे कर्मफल की इच्छा नहीं है।।१५२।।

कलश - १५२ पर प्रवचन

कर्तारं स्वफलेन यत्किल बलात्कर्मैव नो योजयेत्
कुर्वाणः फललिप्सुरेव हि फलं प्राप्नोति यत्कर्मणः।

* कर्म का फल अर्थात् (१) रंजित परिणाम, अथवा (२) सुख (-रंजित परिणाम) को उत्पन्न करनेवाले आगामी भोग।

ज्ञानं सन्स्तदपास्तरागरचनो नो बध्यते कर्मणा
कुर्वाणोऽपि हि कर्म तत्फलपरित्यागैकशीलो मुनिः।।१५२।।

आहाहा! **श्लोकार्थ : [यत् किल कर्म एव कर्तारं स्वफलेन बलात् नो योजयेत्] कर्म ही उसके कर्ता को अपने फल के साथ बलात् नहीं जोड़ता...** आहाहा! कर्म का उदय आया तो उसे बलात् से राग नहीं कराता। अपने पुरुषार्थ की कमी है तो उस कारण से राग होता है, पर से नहीं होता। आहाहा! **(कि तू मेरे फल को भोग),...** ऐसा कर्म नहीं (कहता)। **[फललिप्सुः एव हि कुर्वाणः कर्मणः यत् फलं प्राप्नोति] फल की...** कर्म का फल (अर्थात्) रंजित परिणाम। क्या कहते हैं? जरा सूक्ष्म बात है। राग का रस चढ़ना, राग का रस आना, राग में रंग जाना, यह कर्म का परिणाम है, यह परिणाम ज्ञानी को नहीं होता। आहाहा! कर्म का फल रंजित परिणाम। है नीचे? राग में रँगना, रंजित परिणाम, वह धर्मी को नहीं होता। जिसे आत्मा का रंग चढ़ा, आहाहा! भगवान आत्मा का रंग चढ़ा, उसे राग का रंग नहीं होता। आहाहा! एक म्यान में दो तलवारें नहीं रहती। आहाहा! यह तो अभी प्रथम सम्यग्दर्शन की बात है, भगवान! सम्यग्दर्शन के पश्चात् संयम तो कोई अलौकिक चीज़ है। आहाहा! यह तो अभी तो सम्यग्दर्शन का ठिकाना नहीं, आहाहा! और व्रत और तप (करना), वह तो सब अंकरहित शून्य है। आहाहा!

यहाँ तो प्रथम कहते हैं, प्रभु! **फल की इच्छावाला ही कर्म को करता हुआ कर्म के फल को पाता है;...** परन्तु कर्म के फल का अर्थ राग में रंजित हो जाना, राग का रंग चढ़ना। आहाहा! शुभ (-रंजित परिणाम) उत्पन्न करनेवाले आगामी भोग। आहा! मुझे सुख होगा, राग आया तो मुझे सुख हुआ, वह तो मिथ्यादृष्टि है। आहा! उस **फल की इच्छावाला ही कर्म को करता हुआ...** राग करना, वह फल की इच्छा है कि उसका कुछ फल मिले, वैसे फल की इच्छावाले को राग कर्ता कहने में आता है। **कर्म के फल को पाता है; इसलिए ज्ञानरूप रहता हुआ...** आत्मा ज्ञान और आनन्दरूप है, ऐसी दृष्टि सम्यक् हुई तो धर्मी तो ज्ञानरूप रहता हुआ, रागरूप नहीं होता। आहाहा! अरे! ऐसा मार्ग। यह मार्ग वीतराग जैन परमेश्वर ने कहा है। ऐसा अन्यत्र कहीं, दूसरे मार्ग में है ही नहीं। आहाहा! यह प्राप्त करना अलौकिक है, भाई!

कहते हैं, **जिसने कर्म के प्रति राग की रचना दूर की है...** आहाहा! ज्ञान में रहना, ऐसा कहा न? **ज्ञानरूप रहता हुआ...** अर्थात् क्या? शास्त्रज्ञान नहीं। अन्तर ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा ज्ञाता-दृष्टा; उस ज्ञाता-दृष्टा में रहता हुआ। ऐसी बातें लोगों को महँगी पड़ती है, (इसलिए) फिर लोगों ने बाहर में चढ़ा दिया। मूल चीज़ नहीं और चढ़ा दिया, व्रत करो और अपवास करो और पूजा करो, भक्ति (करो), यह धर्म। यह तो अनन्तबार किया, प्रभु! यह धर्म नहीं, यह तो राग की क्रिया है। आहाहा! समझ में आया?

यहाँ तो परमात्मस्वरूप, जिसे अन्तर्दृष्टि में—सम्यग्दर्शन में भासित हुआ... ओहो! जिसने निजस्वरूप में प्रवेश किया; अनादि से जो राग में प्रवेश था, वह अन्तर आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा में जिसने प्रवेश किया, वहाँ निवास किया। आहाहा! वह ज्ञानस्वभाव में रहता है; धर्मी राग भाव में नहीं रहते। आहाहा! अब ऐसी बातें महँगी लगे। बापू! मार्ग तो यह है, भाई! दूसरे प्रकार से कहेगा तो ठगा जाएगा। भव चला जाएगा, प्रभु! और फिर ऐसा मनुष्यभव मिलना मुश्किल है, नाथ! आहाहा!

प्रभु! तू कौन है? आहाहा! मैं तो ज्ञान और आनन्दस्वरूप, यह ज्ञानस्वभाव, हों! यह ज्ञानस्वभाव (अर्थात्) शास्त्र का ज्ञान नहीं। यहाँ तो ज्ञानस्वभाव पुंज, जैसे शक्कर मिठासस्वरूप है, वैसे भगवान ज्ञानस्वरूप है। ज्ञान जिसका रूप है, ज्ञान जिसका स्वरूप है, ज्ञान जिसका स्वभाव है, ज्ञान जिसकी शक्ति का सत्व है। सत्व क्यों कहा? सत् जो है, उसका यह ज्ञान सत्व है। आहाहा! अरेरे! इस चीज़ की जिसे दृष्टि हुई तो कहते हैं, ज्ञानी तू ज्ञान में रह। राग में आना नहीं। आहाहा! चौथे गुणस्थान में, हों! सम्यग्दृष्टि! कहते हैं, प्रभु! तू ज्ञानमूर्ति है न, नाथ! तो ज्ञान का तुझे भान हुआ, उसे ज्ञानस्वरूप कहा, वहाँ रह न! आहाहा! ऐसा उपदेश अब। है? मार्ग ऐसा है, भाई! आहाहा! इसे ज्ञान में पहले निर्णय करना पड़ेगा या नहीं? कि मार्ग तो यह है। आहाहा! इसके बिना जन्म-मरण का उद्धार नहीं होगा, प्रभु! आहा!

यहाँ कहते हैं, **इसलिए...** इसलिए क्या? ज्ञायकस्वरूप भगवान आनन्द प्रभु की दृष्टि हुई तो उसे भावना से राग करना, वह है नहीं, तो राग का करना है नहीं तो कहाँ रहना? ज्ञान में रह न! तेरा स्वरूपधाम पड़ा है न! 'स्वयं ज्योति सुखधाम' भगवान स्वयं ज्योति,

चैतन्यज्योति, चैतन्य के पूर के नूर के प्रकाश का प्रवाह पूरा पड़ा है, ध्रुव। आहा! सूक्ष्म बातें, भगवान! आहाहा! वहाँ रह न, प्रभु! तूने तेरा धाम देखा है न! आहाहा! ज्ञानस्वरूप हूँ; आनन्दस्वरूप हूँ, अरे! वीतरागस्वरूप हूँ। आत्मा तो अनादि से वीतरागस्वरूप है। आहाहा! ऐसे वीतरागस्वरूप की तुझे दृष्टि होकर समकित हुआ तो अब वहाँ रह न! राग आवे, वहाँ खिसक मत जा। तुझे राग की मिठास नहीं होनी चाहिए। आहाहा! ज्ञान में रहना। यदि खस गया। खस गया को क्या कहते हैं हिन्दी में? हट गया।

हम तो गुजराती है न, सब हिन्दी नहीं आती। थोड़ी-थोड़ी आती है। आहाहा! यहाँ तो शरीर को निब्बे वर्ष हुए, निब्बे। सौ में दस कम। हम तो गुजरात में हैं, यहाँ के हैं। यहाँ से ग्यारह मील उमराला है, वहाँ का जन्म है। हमारी दुकान 'पालेज' (में है)। आये हैं न हमारे? 'हसु' और 'नटु'। भरूच और वडोदरा के बीच पालेज है। वहाँ दुकान थी। दुकान थी, वहाँ नौ वर्ष रहे। है?

मुमुक्षु : अब दुकान कहाँ है?

पूज्य गुरुदेवश्री : अब दुकान यह है। पाँच वर्ष दुकान चलायी थी। सत्रह वर्ष से बाईस। सत्रह कहते हैं, क्या कहते है? एक और सात। सत्रह वर्ष से बाईस, पाँच वर्ष दुकान चलायी। दुकान है, ये लड़के आये हैं। बड़ी दुकान है, बड़ी लाखों की आमदनी है अभी। धूल की... पाप की दुकान है वह। आहा! आहाहा!

कहते हैं कि यदि तुझे आत्मज्ञान और आत्मा का भान हुआ हो, प्रभु! तो तू आत्मा के ज्ञान में रह। तू राग में आकर राग की मिठास न कर। आहाहा! ऐसा मार्ग। वीतराग (का)। ज्ञान में बस। **ज्ञानरूप रहता हुआ...** है न? ज्ञाता-दृष्टारूप रहता हुआ। आहाहा! क्योंकि तेरी चीज यह जगतचक्षु है। तू जो जगतचक्षु—ज्ञानस्वरूपी है, तो पर को और स्व को जानने की ताकतवाला तू है। पर को भोगना, वह तेरी चीज़ में है ही नहीं। आहाहा! और पर को करना, वह भी तेरी चीज़ में है नहीं। आहाहा! यहाँ तो अभी सम्यग्दर्शन में, चौथे गुणस्थान में, आहा! कहते हैं कि प्रभु! तुझे कर्म के निमित्त के वश होकर निर्बलता से, बलजोरी से कोई राग आवे तो राग का भोग न लेकर... राग के भोग का अर्थ 'मुझे राग का भोग है'—ऐसा नहीं मानना। तुझे तो, प्रभु! ज्ञान का भोग है न! आहाहा! ऐसी चीज़ लोगों को सूक्ष्म पड़ती है। लोगों को बाहर में चढ़ा दिया। आहा! मूल चीज़ एकड़ा नहीं होता और

शून्य चढ़ा दिये। आहा! यह तो सम्यग्दर्शन तीन लोक के नाथ किसे कहते हैं, उसकी यहाँ तो पहली बात है। आहाहा! समझ में आया?

इसलिए ज्ञानरूप रहता हुआ... अर्थात? आत्मा ज्ञाता-दृष्टा रहता है, ऐसा तुझे भान तो हुआ, तब तो सम्यग्दृष्टि कहने में आता है, तब ज्ञानी कहने में आता है। भले गृहस्थाश्रम में हो, परन्तु हे ज्ञानी! तू ज्ञान में रह। राग आता है, उसके अन्दर मत चला जा। राग की मिठास में राग में प्रवेश नहीं कर। आहाहा! ऐसी बातें हैं। **[तद्-अपास्त-रागरचनः] जिसने कर्म के प्रति राग की रचना दूर की है...** आहाहा! ज्ञानस्वरूपी भगवान.. एक भजन में ऐसा आता है—'प्रभु तुम जाणग रीति, सहु जग देखता हो लाल...' हे नाथ! सर्वज्ञ परमेश्वर! आप जगत को देखते हो। 'निज सत्ताए शुद्ध सहुने पेखता हो लाल...' प्रभु! हमारी सत्ता-हमारा अस्तित्व, उसे आप शुद्ध देखते हो। यह भगवान अन्दर है। 'प्रभु तुम जाणग रीति...' हे नाथ! तुम्हारे ज्ञान में हमारी चीज़ आती है, तो हमारी चीज़ को आप कैसी देखते हो? प्रभु! आप तो हमारी चीज़ को शुद्ध देखते हो। राग और पुण्य, वह हमारा है नहीं, ऐसा आप देखते हो, आहाहा! समझ में आया? ऐसी बातें, बापू! आहा! सम्यग्दर्शन कोई अलौकिक चीज़ है और इसके बिना सब निरर्थक है। अंक के बिना शून्य, लाख शून्य लिखे और अंक न हो तो शून्य की कोई कीमत नहीं है और एक एकड़ा आवे और फिर शून्य चढ़े तो दस हो जाए। इसी तरह सम्यग्दर्शन के पश्चात् यदि स्थिरता आ जाए तो संग हो जाए। आहाहा! समझ में आया?

[तद्-अपास्त-रागरचनः] जिसने कर्म के प्रति राग की रचना दूर की है... आहाहा! राग आता है, परन्तु राग रचूँ, इससे दूर हो गया है। आहाहा! समझ में आया? धर्मी राग की रचना नहीं करते, वे धर्मी तो ज्ञान की रचना करते हैं। आहाहा! क्योंकि आत्मा में एक वीर्यगुण पड़ा है। आत्मा में वीर्य नाम का गुण है। यह वीर्य रेत है, (जिससे) पुत्री-पुत्र हो, वह तो जड़ है। आत्मा में एक वीर्य नाम का स्वभाव-गुण है। उस वीर्य का धारक भगवान, उसकी जिसे दृष्टि हुई और सम्यग्दर्शन हुआ तो उसका वीर्य रचना निर्मल पर्याय की रचना करता है। वह राग की रचना नहीं करता। आहाहा!

पुण्य-पाप के अधिकार में आया है न? कि जो राग में रहते हैं और राग से हटकर

अन्दर नहीं जाते, वे नपुंसक-पावैया-हीजड़ा है। क्या कहा?—कि जो दया, दान, व्रत, भक्ति आदि राग है, उसमें टिका है और उसमें से हटता नहीं, इस ओर आता नहीं, वह नपुंसक है, क्योंकि राग में आत्मा की प्रजा नहीं होती। आहाहा! जैसे नपुंसक को वीर्य नहीं है, नपुंसक को प्रजा नहीं होती। हीजड़ा होता है न? पावैया। वैसे भगवान त्रिलोकनाथ ऐसा कहते हैं (कि) तू अन्दर राग से भिन्नता नहीं करता तो नपुंसक है; पुरुष नहीं। आहाहा! पुरुष तो उसे कहते हैं (कि) अपने चैतन्यस्वभाव में सोता, रहता (है, वह) पुरुष। पुरुषार्थसिद्धिउपाय में आया है। अपने चैतन्यस्वभाव में सोवे, रहे, वह चैतन्य है। राग में सोवे, वह तो अचेतन-जड़ है। आहाहा! ऐसा मार्ग। है?

जिसने कर्म के प्रति... अर्थात् राग। **राग की रचना दूर की है...** आहाहा! स्वरूप शुद्ध चैतन्यघन में वीर्य नाम का एक गुण है, जो सम्यक् दृष्टि में जब पूरे द्रव्य की दृष्टि हुई तो वीर्यगुण की रचना निर्मल परिणति करे, वह उसकी रचना है। राग की रचना करे, वह वीर्य नहीं। वह स्व का वीर्य नहीं। आहाहा! स्व का बल नहीं। आहाहा! अरेरे! ऐसा अवसर! यह कहा न? भाषा संक्षिप्त है, परन्तु अन्दर भाव बहुत भरे हैं। आहा! एक 'जगत' शब्द हो तो 'जगत' शब्द तीन अक्षर का है। ज-ग-त, कानोमात्र बिना। तो भी जगत अर्थात् चौदह ब्रह्माण्ड आ जाए। अनन्त सिद्ध (आ जाए)। आहा!

इसी तरह यहाँ कहते हैं, प्रभु! तुझे निर्जरा कब होगी?—कि जब ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा का अनुभव हुआ, वहाँ रह; वहाँ का वहाँ प्रयत्न को स्थाप। राग के भाव में तेरा प्रयत्न न ले जा, उसकी रचना करने में तेरा वीर्य नहीं है। आहाहा! तेरा वीर्य तो प्रभु! तुझे द्रव्यदृष्टि हुई, द्रव्य का ज्ञान हुआ, द्रव्य का अनुभव हुआ तो उसका वीर्य जो है, वह तो शुद्ध स्वरूप की रचना करे, वह वीर्य। राग की रचना करे, वह तेरा कार्य नहीं। आहाहा! राग आता है, धर्मी को दया, दान, व्रत, पूजा का भाव आता है, परन्तु उसकी रचना—यह मेरा कार्य है—ऐसा वह नहीं मानता। आहाहा! हेयबुद्धि से जानता है। क्या कहा? इस शुभभाव को हेयबुद्धि से जानता है। मैं रचूँ और मेरा कार्य है, (ऐसा नहीं)। आहा! भाई! यह तो वीतराग का मार्ग और वह भी जन्म-मरण रहित, चौरासी के अवतार रहित होने का सम्यग्दर्शन, वह कोई अलौकिक मार्ग है। आहाहा! समझ में आया? क्या कहा?

'अपास्त-रागरचनः' राग की रचना का उसने नाश किया है। **'अपास्त'** है न?

आहाहा! **'अपास्त-रागरचनः'** सम्यग्दृष्टि जीव ने तो आनन्दस्वरूप भगवान को देखा है। वह आत्मा के आनन्द से विरुद्ध राग की रचना से तो वह दूर है। वह तो आत्मा की शान्ति और आनन्द की रचना में स्थित है। आहाहा! ऐसा मार्ग अब। [**ज्ञानं सन्**] है न? [**ज्ञानं सन्**] ज्ञान में रह। चैतन्यस्वरूप भगवान ज्ञानस्वरूप में रहे तो सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। राग में आ जाए और राग मेरी चीज़ है (-ऐसा यदि माने तो) मिथ्यादृष्टि है। आहा! क्योंकि भगवान आत्मा में अनन्त गुण हैं। वह प्रत्येक गुण पवित्र है। अनन्तानन्त गुण हैं, वे पवित्र हैं, तो उस पवित्रता का जो स्वामी हुआ, वह अपवित्र ऐसे राग का स्वामी कैसे होगा? जो पवित्र की रचना करनेवाला सम्यग्दर्शन हुआ... आहाहा! वह अपवित्र ऐसे राग की रचना से दूर है। **'अपास्त'** आहाहा! क्या सन्तों की वाणी!

जाग रे जाग नाथ! तू चैतन्यमूर्ति प्रभु है न! ऐसा कहते हैं। राग में सो रहा है, वह आत्मा में जागता है। राग में सोता है अर्थात् राग का स्वामी नहीं होता, वह आत्मा का स्वामी होता है। आहाहा! और जो आत्मा में जागृत होकर सोता है, वह राग में सोता है। राग मेरा नहीं। आहाहा! जैसे शरीर अपना नहीं, वैसे राग भी अपना नहीं। राग तो आस्रवतत्त्व है। दया, दान, पुण्य, आस्रवतत्त्व है। हिंसा, झूठ, चोरी, विषय, वह पाप आस्रवतत्त्व है, तो वह तत्त्व ज्ञायकतत्त्व से तो भिन्न है। नहीं तो नौ नाम कैसे पड़े? जीव, अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष। नव तत्त्व है न? नौ (नाम) कैसे पड़े? आहाहा! समझ में आया? ऐसी बातें अब। बापू! तेरे घर की बातें अलग प्रकार है, भाई! आहाहा!

यह व्रत का विकल्प उठे तो भी कहते हैं, वहाँ उस रचना की मिठास में नहीं जाना। वह तेरी चीज़ नहीं है। आहाहा! भगवान की भक्ति का भाव आता है, परन्तु उसकी रचना में वह मेरा कार्य है, ऐसे नहीं जाना। आहाहा! श्लोक में बहुत गम्भीरता भरी है। निर्जरा है न, निर्जरा। आहाहा! **जिसने कर्म के प्रति...** अर्थात् राग का कार्य। **राग की रचना दूर की है, ऐसा मुनिः...** मुनि की प्रधानता से कथन है। बाकी सम्यग्दृष्टि (भी गौणरूप से आ जाता है)। कलश टीकाकार तो जहाँ मुनि (शब्द) आवे, वहाँ समकिती ही (अर्थ) करते हैं। यह कलश टीका। कितना है यह? १५२। यह १५२, लो! मुनि, इन्होंने अर्थ किया है, भाई! राजमल्ल टीकाकार हैं। शुद्धस्वरूप अनुभव में विराजमान सम्यग्दृष्टि जीव। यह कलश टीका है। 'राजमल्ल जिनधर्मी, जिनधर्म का मर्मी।' बनारसीदास कहते हैं,

बनारसीदास, समयसार नाटक के रचयिता। उन्होंने लिखा है। मुनि की व्याख्या की है। शुद्धस्वरूप अनुभवे। शुद्धस्वरूप अनुभव में बिराजमान, आहाहा! ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव। यह १५२ श्लोक का अर्थ है। बड़ा पूरा भरा है। सब देखा है। आहाहा! क्या कहा?

यदि तुझे आत्मा का ज्ञान हुआ हो, आत्मा का ज्ञान, सम्यग्दर्शन हुआ। (यदि) न हुआ तो राग में एकता है, वह तो अनादि काल से है। वह तो मिथ्यात्वभाव है और संसार में भटकने का भाव है, परन्तु तुझे राग से भिन्न ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा का यदि भान हुआ हो, सम्यग्दर्शन हुआ, ज्ञान हुआ, ज्ञान का ज्ञान हुआ, ज्ञानी का ज्ञान हुआ, आत्मा का ज्ञान हुआ... आहा! तो अब वहाँ रह न! वह तेरा धाम है, तेरा स्थल है। आहाहा! समझ में आया? आहा!

पहले एक बार नहीं कहा था? नाटक में आता था। उसे यह खबर न हो। ऐई! हसमुख! तेरा जन्म कहाँ था (उस समय)। (संवत्) १९६४ के वर्ष की बात है। १९६४ में अठारह वर्ष की उम्र थी। १९४६ का जन्म है। १८ वर्ष की उम्र। माल लेने वडोदरा गये थे। माल लेने जाता न, मुम्बई, सूरत, सर्वत्र जाते। तो वडोदरा माल लेने गये थे। अठारह वर्ष की उम्र की बात है। ७२ वर्ष पहले की बात है। वह अनुसूया का नाटक था। भरूच के किनारे नर्मदा नदी है न? वह नर्मदा और अनुसूया दो बहिनें थीं। उनका बड़ा नाटक था। दिन में माल लिया और रात्रि में गये। अनुसूया का नाटक देखते। उस महिला को पुत्र नहीं था, वह महिला स्वर्ग में जाती थी तो स्वर्ग में ना किया। उन लोगों में है न? 'अपुत्रस्य गतिनास्ति।' पुत्र नहीं हो, उसे गति नहीं होती। यह उन लोगों का—वेद का। वहाँ नाटम में ऐसा था। महिला कहे—मुझे करना क्या? नीचे हो, उसे वर। ब्राह्मण से विवाह किया। उसके हुआ लड़का। लड़के को झुलाती थी। आहाहा! उस दिन की बात याद है। ७२ वर्ष। सत्तर और दो।

बेटा! तू निर्विकल्प है। प्रभु! नाटक में ऐसा करते थे। शुद्धोऽसि, बुद्धोऽसि। प्रभु! तू शुद्ध चैतन्यघन है। बुद्धोऽसि-ज्ञानस्वरूप है। ऐसा कहती थी। लो! नाटक में ऐसा करते थे। यहाँ तो अभी सम्प्रदाय में यह बात रही नहीं। बाहर करो, यह करो, यह करो, यह करो... ऐई! कान्तिभाई! सेठ है न वहाँ? परन्तु अभी तो छोड़कर आये हैं। बराबर पड़ाव डाला है।

मुमुक्षु : सुनने को कहाँ मिलता है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : बापू! क्या कहें ? भाई! अरे! अन्यत्र नहीं है, ऐसा कहना, लज्जा आवे ऐसा है। आहाहा! मार्ग तो यह है।

कहते हैं कि, प्रभु! तूने तेरी चीज़ को जाना हो और तेरी चीज़ आनन्द का तुझे अनुभव हुआ, तुझे सम्यग्दर्शन हुआ और सम्यग्दर्शन के साथ उसका ज्ञान भी हुआ तो, प्रभु! अब तू ज्ञान में रहना, हों! वहाँ से निकलकर राग की रचना में जाना नहीं। राग आयेगा, परन्तु राग की मिठास की रचना में जाना नहीं। आहाहा! चेतनजी! ऐसी बातें हैं। आहाहा!

उस समय तो बारह आने का टिकिट लिया था और बारह आने की पुस्तक (ली थी)। पहले से मेरी आदत कि भाई! तुम क्या कहते हो, यह समझे बिना हमें सुनायी नहीं देता नाटक में, तो तुम्हारी बारह आने की पुस्तक लाओ। तुम क्या बोलते हो, (यह खबर पड़े)। (संवत्) १९६४ की बात है। ७२ वर्ष पहले। (अभी) ९० हुए। अठारह वर्ष की उम्र। उसमें (नाटक में) ऐसा बोले, बेटा! भगवान आत्मा! तू तो शुद्ध है न, नाथ! बुद्धोऽसि! तू ज्ञान का पिण्ड है, राग तेरी चीज़ नहीं। आहाहा! ऐ! अन्यमति के नाटक में ऐसा दिखाते। यहाँ तो सम्प्रदाय में उसे कहने जाए कि तू शुद्ध-बुद्ध है, राग तेरा नहीं; (तो कहे) अरे! यह तो एकान्त हो गया।

मुमुक्षु : वह ब्राह्मण का है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सच्ची बात। आहाहा! उस समय बाई बोलती थी। अरे! भाई! आत्मा तो भगवान ही है। परन्तु भान करे तो।

(समयसार) ७२ गाथा में आया, भगवान आत्मा! ऐसा आचार्य ने कहा है। कुन्दकुन्दाचार्य और अमृतचन्द्राचार्य। यह कुन्दकुन्दाचार्य, अमृतचन्द्राचार्य। भगवान आत्मा! पुण्य और पाप अशुचि है, पुण्य और पाप के भाव मैल है। प्रभु! तू तो ज्ञान का सागर है न! निर्मल ज्ञान। आहाहा! ऐसे भेद बताया। समय हो गया। आहा! यहाँ तो यह कहना है कि ज्ञान में रह। यदि तुझे आत्मा का भान हुआ है तो जो चीज़ है, उसमें दृष्टि रख। राग की रचना में नहीं जा। विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा - २२४ से २२७

पुरिसो जह को वि इहं वित्ति-णिमित्तं तु सेवदे रायं।
तो सो वि देदि राया विविहे भोगे सुहुप्पाए।।२२४।।

एमेव जीवपुरिसो कम्मरयं सेवदे सुह-णिमित्तं।
तो सो वि देदि कम्मो विविहे भोगे सुहुप्पाए।।२२५।।

जह पुण सो च्चिय पुरिसो वित्ति-णिमित्तं ण सेवदे रायं।
तो सो ण देदि राया विविहे भोगे सुहुप्पाए।।२२६।।

एमेव सम्मदिट्ठी विसयत्थं सेवदे ण कम्म-रयं।
तो सो ण देदि कम्मो विविहे भोगे सुहुप्पाए।।२२७।।

पुरुषो यथा कोऽपीह वृत्तिनिमित्तं तु सेवते राजानम्।
तत्सोऽपि ददाति राजा विविधान् भोगान् सुखोत्पादकान्।।२२४।।

एवमेव जीवपुरुषः कर्मरजः सेवते सुख-निमित्तम्।
तत्तदपि ददाति कर्म विविधान् भोगान् सुखोत्पादकान्।।२२५।।

यथा पुनः स एव पुरुषो वृत्ति-निमित्तं न सेवते राजानम्।
तत्सोऽपि न ददाति राजा विविधान् भोगान् सुखोत्पादकान्।।२२६।।

एवमेव सम्यग्दृष्टिः विषयार्थं सेवते न कर्मरजः।
तत्तन्न ददाति कर्म विविधान् भोगान् सुखोत्पादकान्।।२२७।।

यथा कश्चित्पुरुषो फलार्थं राजानं सेवते ततः स राजा तस्य फलं ददाति, तथा जीवः फलार्थं कर्म सेवते ततस्तत्कर्म तस्य फलं ददाति।

यथा च स एव पुरुषः फलार्थं राजानं न सेवते ततः स राजा तस्य फलं न ददाति, तथा सम्यग्दृष्टिः फलार्थं कर्म न सेवते ततस्तत्कर्म तस्य फलं न ददातीति तात्पर्यम्।।२२४-२२७।।

अब इस अर्थ को दृष्टान्त से दृढ़ करते हैं:-

ज्यों जगत में को पुरुष, वृत्तिनिमित्त सेवे भूप को।
तो भूप भी सुखजनक विधविध भोग देवे पुरुष को।।२२४।।

त्यों जीवपुरुष भी कर्मरज का सुख अरथ सेवन करे।
तो कर्म भी सुखजनक विधविध भोग देवे जीव को।।२२५।।

अरु वो हि नर जब वृत्तिहेतू भूप को सेवे नहीं।
तो भूप भी सुखजनक विधविध भोग को देवे नहीं।।२२६।

सद्दृष्टि को त्यों विषय हेतू कर्मरजसेवन नहीं।
तो कर्म भी सुखजनक विधविध भोग को देता नहीं।।२२७।।

गाथार्थ : [यथा] जैसे [इह] इस जगत में [कः अपि पुरुषः] कोई भी पुरुष [वृत्ति निमित्तं तु] आजीविका के लिये [राजानम्] राजा की [सेवते] सेवा करता है [तद्] तो [सः राजा अपि] वह राजा भी उसे [सुखोत्पादकान्] सुख उत्पन्न करनेवाले [विविधान्] अनेक प्रकार के [भोगान्] भोग [ददाति] देता है, [एवम् एव] इसी प्रकार [जीवपुरुषः] जीवपुरुष [सुखनिमित्तम्] सुख के लिये [कर्मरजः] कर्मरज की [सेवते] सेवा करता है [तद्] तो [तत् कर्म अपि] वह कर्म भी उसे [सुखोत्पादकान्] सुख उत्पन्न करनेवाले [विविधान्] अनेक प्रकार के [भोगान्] भोग [ददाति] देता है।

[पुनः] और [यथा] जैसे [सः एव पुरुषः] वही पुरुष [वृत्तिनिमित्तं] आजीविका के लिये [राजानम्] राजा की [न सेवते] सेवा नहीं करता [तद्] तो [सः राजा अपि] वह राजा भी उसे [सुखोत्पादकान्] सुख उत्पन्न करनेवाले [विविधान्] अनेक प्रकार के [भोगान्] भोग [न ददाति] नहीं देता, [एवम् एव] इसी प्रकार [सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि [विषयार्थं] विषय के लिये [कर्मरजः] कर्मरज की [न सेवते] सेवा नहीं करता, [तद्] इसलिये [तत् कर्म] वह कर्म भी उसे [सुखोत्पादकान्] सुख उत्पन्न करनेवाले [विविधान्] अनेक प्रकार के [भोगान्] भोग [न ददाति] नहीं देता।

टीका : जैसे कोई पुरुष फल के लिये राजा की सेवा करता है तो वह राजा उसे फल देता है, इसी प्रकार जीव फल के लिये कर्म की सेवा करता है तो वह कर्म उसे फल देता है। और जैसे वही पुरुष फल के लिए राजा की सेवा नहीं करता तो वह राजा उसे

फल नहीं देता, इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि फल के लिए कर्म की सेवा नहीं करता, इसलिए वह कर्म उसे फल नहीं देता। यह तात्पर्य है।

भावार्थ : यहाँ एक आशय तो इस प्रकार है:–अज्ञानी विषयसुख के लिए अर्थात् रंजित परिणाम के लिए उदयागत कर्म की सेवा करता है, इसलिए वह कर्म उसे (वर्तमान में) रंजित परिणाम देता है। ज्ञानी विषयसुख के लिए अर्थात् रंजित परिणाम के लिए उदयागत कर्म की सेवा नहीं करता, इसलिए वह कर्म उसे रंजित परिणाम उत्पन्न नहीं करता।

दूसरा आशय इस प्रकार है:–अज्ञानी सुख (–रागादिपरिणाम उत्पन्न करनेवाले आगामी भोगों की अभिलाषा से व्रत, तप इत्यादि शुभकर्म करता है, इसलिए वह कर्म उसे रागादिपरिणाम उत्पन्न करनेवाले आगामी भोगों को देता है। ज्ञानी के सम्बन्ध में इससे विपरीत समझना चाहिए।

इस प्रकार अज्ञानी फल की वांछा से कर्म करता है, इसलिए वह फल को पाता है और ज्ञानी फल की वांछा बिना ही कर्म करता है, इसलिए वह फल को प्राप्त नहीं करता।

प्रवचन नं. ३००, गाथा - २२४ से २२७, श्लोक-१५३ रविवार, भाद्र शुक्ल ११
दिनाङ्क ०२-०९-१९७९

दशलक्षण पर्व का सातवाँ दिन है न ? तप... तप। तप किसे कहना ? सम्यग्ज्ञानरूपी नेत्र के धारण करनेवाले... आहाहा! जो आत्मा ज्ञातृतत्त्व है, उसे जिसने जाना है, वह जाननेवाला सम्यग्दर्शन है—ऐसा कहते हैं। आत्मा ज्ञातृतत्त्व है। कल दोपहर को आया था न, कि शब्द और शब्दों में कहा हुआ अर्थ, इस शब्द को भी ज्ञानाकार से ज्ञेयाकार को जानता है और पूरे विश्व को ज्ञानाकाररूप जानता है, ऐसा जो ज्ञातृतत्त्व। वहाँ तो एक पद कहा था न ? भाई! शब्द को, पूरे शब्दब्रह्म को, शब्द-सत्। पूरा विश्व, पदार्थ दोनों को जाननेवाला पद अर्थात् अधिष्ठाता आत्मा। आहाहा! समझ में आया ?

ऐसा जो आत्मतत्त्व सम्यग्ज्ञानरूपी नेत्र को धारण करनेवाला। उसे सम्यग्ज्ञान से जिसने जाना है। सूक्ष्म बात है, भाई! आहा! जो यह शब्द सत् है, सत्, वह छह द्रव्यों को बतानेवाला शब्द है और सत् ऐसा विश्व—पूरी दुनिया, इन दोनों का जिस ज्ञान की पर्याय

में ज्ञातृतत्त्व दोनों की जाति का जाननेवाला हुआ है, आहाहा! ऐसा जो शब्द और अर्थ— पूरी दुनिया, विश्व, लोकालोक, उसे जानने की पर्यायरूप परिणमता है, ऐसा जो अधिष्ठान अर्थात् आत्मा। उसका जिसे सम्यग्ज्ञानरूपी नेत्र से सम्यग्ज्ञान हुआ है। आहा! अभी पहले तपस्या किसे कहना? अभी इस (तत्त्व का) भान नहीं होता और तपस्या (करे), वह तपस्या नहीं—ऐसा कहते हैं। आहाहा!

सम्यग्ज्ञानरूपी नेत्र को धारण करनेवाले कर्मरूपी मैल को दूर करने के लिये तपस्या तपाने में आती है। आहाहा! जिसने यह आत्मा ज्ञायकतत्त्व पूरा जगत और शब्द को जाननेवाला, ऐसे तत्त्व का जिसने निर्णय किया है और फिर कर्ममल टालने के लिये उस स्वरूप में तन्मय होकर रमता है, उसे तप कहा जाता है। अरे! ऐसी बात है। तपाया जाता है अर्थात् फिर अन्दर आनन्द में रहते हुए कर्म के रजकण और अशुद्धता टल जाती है। आहाहा! वह बाह्य और अभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार का तप है। अनशनादि भेद से बारह प्रकार का है। अभ्यन्तर और बाह्य से दो प्रकार का है और बाह्य-अभ्यन्तर के भेद से बारह प्रकार का है। वह तप जन्मरूपी समुद्र को पार करने के लिये जहाज के समान है। आहाहा!

ज्ञातृतत्त्व जो ज्ञायकस्वरूप भगवान, स्व-पर को जाननेवाला और शब्द को भी जाननेवाला, ऐसा जो ज्ञायकतत्त्व, जिसने सम्यग्ज्ञान नेत्र द्वारा जिसका निर्णय किया है, आहा! वह पश्चात् उसमें लीनता करता है, तपता है। जैसे सूर्य प्रकाश से शोभता है, वैसे अपन प्रकाश, ज्ञान के प्रकाश की उग्रता के प्रताप से कर्म जल जाते हैं। उसे यहाँ तप कहा जाता है। यह उत्तम तप, हों! दस उत्तम (धर्म) है न? इसलिए उत्तम तप में पहला सम्यग्ज्ञान और दर्शन होना चाहिए। इसके बिना तप, वह तप नहीं है। आहाहा!

दूसरा। इसमें जरा लम्बी बात है। जो क्रोधादि कषायें और पंचेन्द्रिय विषयोंरूप उद्धत अनेक चोरों का समुदाय बहुत मुश्किल से जीता जा सकता है, वह तपरूपी सुभट द्वारा... आहाहा! इस भगवान आनन्द और ज्ञायकस्वरूप में लीनता द्वारा, अन्तर के आनन्द में रमने द्वारा, बलपूर्वक मार खाकर नाश पाते हैं। (अर्थात्) रागादि मर जाते हैं। आहा! जीवित ज्योति को जहाँ जागृतरूप से उग्र करता है, वहाँ राग और कर्म, वे मर जाते हैं, जला डालता है। आहाहा! इसे तप कहा जाता है। यह तो नहीं जहाँ सम्यग्दर्शन, ज्ञान और भान

और अपवास किये और यह किया, तपस्या (की), वह तपस्या निर्जरा (-ऐसा माने)। धूल भी नहीं निर्जरा। यह निर्जरा अधिकार है न? दोपहर में चलता है, उसमें यही अधिकार आयेगा। आहा!

मार खाकर नाश पाते हैं। आहाहा! अर्थात्? भगवान ज्ञानस्वरूपी भगवान, उसमें लीनता करने से राग और कर्म मार खाकर, मरकर नाश पाते हैं। आहा! जीवित ज्योति जागृत करने पर, आहाहा! चैतन्य के प्रकाश को जागृत, उग्र करने पर, यह राग और कर्म तपकर जल जाते हैं, मर जाते हैं, कहते हैं। आहा! इसे तप कहा जाता है। अभी तो तप की व्याख्या आठ-दस अपवास करे दश लक्षण के और हो गया तप। धूल भी नहीं। आहा! उसमें (कषाय मन्द) होवे तो कदाचित् पापानुबन्धी पुण्य बँधता है। पापानुबन्धी पुण्य। आहाहा! यह (ऊपर कहे गये) तप को भगवान तप कहते हैं। आहाहा!

धर्मरूपी लक्ष्मी से संयुक्त साधु मोक्षनगरी के मार्ग में सर्व विघ्न-बाधाओं से रहित होकर, आहाहा! अन्तर की आनन्द की रमणता में बाधा, पीड़ारहित होकर अन्दर से मोक्षनगरी में चला जाता है। पूर्ण शुद्धता की प्राप्ति के रास्ते चला जाता है। आहाहा! ऐसा स्वरूप है। लोक में मिथ्यात्वादि के निमित्त से तीव्र दुःख प्राप्त होना था, उसकी अपेक्षा से तप से उत्पन्न होता दुःख अल्प है। दुःख अर्थात् दुःख तो नहीं, परन्तु ऐसा कि बाहर में जो दुःख सहन करना, उसकी अपेक्षा अन्तर में रमने से जरा प्रतिकूलता आवे और सहन करना, वह अल्प है। जितना समुद्र जल की अपेक्षा से उसकी एक बूँद होती है। ऐसे आत्मा में ध्यान से कुछ सहन करना पड़े, वह अल्प है और अज्ञान में जो सहन करना पड़े, वह समुद्र के विशाल जल जैसा है। आहा!

कठिनाई से मनुष्य पर्याय प्राप्त होने पर भी, यदि तू इस समय तप से भ्रष्ट होगा... आहाहा! तो फिर तुझे कितनी हानि होगी, यह जानता है? उस अवस्था में तेरा सर्वस्व नष्ट हो जाएगा। आहाहा! भगवान जीवती ज्योति ज्ञातृतत्त्व में रमणता की तपस्या यदि नहीं की... आहा! तो भ्रष्ट होकर, प्रभु! तू कहाँ जाएगा? आहाहा! तेरा अवतार कहाँ होगा? यह तप की व्याख्या की।

यहाँ अपने २२४ गाथा। यह है न?

पुरिसो जह को वि इहं वित्ति-णिमित्तं तु सेवदे रायं।
तो सो वि देदि राया विविहे भोगे सुहुप्पाए।।२२४।।

एमेव जीवपुरिसो कम्मरयं सेवदे सुह-णिमित्तं।
तो सो वि देदि कम्मो विविहे भोगे सुहुप्पाए।।२२५।।

जह पुण सो च्चिय पुरिसो वित्ति-णिमित्तं ण सेवदे रायं।
तो सो ण देदि राया विविहे भोगे सुहुप्पाए।।२२६।।

एमेव सम्मदिट्ठी विसयत्थं सेवदे ण कम्म-रयं।
तो सो ण देदि कम्मो विविहे भोगे सुहुप्पाए।।२२७।।

ज्यों जगत में को पुरुष, वृत्तिनिमित्त सेवे भूप को।
तो भूप भी सुखजनक विधविध भोग देवे पुरुष को।।२२४।।

त्यों जीव पुरुष भी कर्मरज का सुख अरथ सेवन करे।
तो कर्म भी सुखजनक विधविध भोग देवे जीव को।।२२५।।

अरु वो हि नर जब वृत्तिहेतू भूप को सेवे नहीं।
तो भूप भी सुखजनक विधविध भोग को देवे नहीं।।२२६।

सद्दृष्टि को त्यों विषय हेतू कर्मरजसेवन नहीं।
तो कर्म भी सुखजनक विधविध भोग को देता नहीं।।२२७।।

आहाहा! **टीका : जैसे कोई पुरुष फल के लिये राजा की...** राजा के मक्खनियाँ होते हैं न? अनुकूल बोलनेवाले। वे राजा की हेतु से सेवा करते है, कुछ मिले। मक्खन लगाते हैं कि तुम बहुत ऐसे हो और तुम ऐसे हो और तुम ऐसे हो। आहाहा! **जैसे कोई पुरुष फल के लिये...** मैं इसकी सेवा करूँगा तो मुझे कुछ देगा, जमीन देगा, पैसा देगा। आहाहा! (उसी प्रकार जीव) **फल के लिये सेवा करता है... राजा उसे फल देता है, इसी प्रकार जीव फल के लिये कर्म की सेवा करता है...** राग का भोग भी राग में सुख मानकर भोगता है। आहा! राग में सुखपने को मानकर राग को सेवन करता है। आहाहा! **तो वह कर्म उसे फल देता है।** उसे विकार बन्धन होता है। आहाहा! उसे ये संयोग मिलेंगे, स्वभाव नहीं मिलेगा। आहाहा!

और जैसे वही पुरुष फल के लिए राजा की सेवा नहीं करता तो वह राजा उसे फल नहीं देता,... आहाहा! **इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि फल के लिए कर्म की सेवा नहीं करता...** आहाहा! राग में सुखबुद्धि है, इस तरह राग का सेवन नहीं करता। आहाहा! भोग में सुख है, ऐसी बुद्धि से भोग को नहीं भोगता। आहाहा! उस पुरुष को **वह कर्म उसे फल नहीं देता।** उसे रागबन्धन नहीं होता। आहाहा! उसे निर्जरा हो जाती है। उसे कर्म फल नहीं देता। आहाहा!

जामनगर में एक पारसी दीवान था न? महेरबानजी (नाम से)। जामनगर में (संवत्) १९९१ में हम जामनगर में गये थे न? महेरबानजी दीवान सुनने आते थे। यह समयसार का वाँचन चलता था। १००वीं गाथा। १९९१ के मगसिर महीने की बात है। फिर किसी ने बात की थी कि उन्हें हजार का वेतन था। तब, हों! दरबार ने उससे पूछे बिना दो सौ (रुपये) बढ़ा दिये। उन्हें खबर पड़ी कि देखा तो, यह पैसे अधिक किसने दिये। किसने नौंध की? राजा से कहा। राजा को कहा कि किसलिए अधिक दिये? मेरा वेतन हजार है और तुमने बारह सौ किसलिए किया? तुम्हारे काम आवे तो मैं अनुकूल कर दूँ, ऐसा? इसके लिये? राजा के काम आवे तो मैं उन्हें निर्दोष रीति से सिद्ध कर दूँ, इसके लिये देते हो यह? यह मैं नहीं, निकाल डालो। पारसी, हों! यह दो सौ वेतन बढ़ाकर तुम्हारे राजा के काम आवें, तब उनमें मैं छूट दे दूँ, यह मुझसे नहीं होगा। मुझसे तो रैयत का जो फल लेता हूँ, वह तुम्हारे राजा का, किसी का पक्ष मुझे नहीं हो सकता। तो तुम्हारी नौकरी है। समझ में आया?

उनका भी आया था न कुछ? गोपाल... क्या कहलाते हैं वे? बरैया। अपने यह 'सिद्धान्त प्रवेशिका' छपाई है न? बरैया को भी नौकरी थी। उसमें अधिक पैसे दिये, लिखे। उनके नाम से बड़ा धन्धा किया था, और उसमें आमदनी हुई और आमदनी हुई तो उनके नाम से दी। बहियों में लिखा (तो कहा), किसने लिखा यह? मैंने धन्धा किया नहीं, मेरे नाम से धन्धा किसने किया? कि राजा ने किया या दूसरा कोई गृहस्थ होगा। उसे फल मिला, वह तुमको दिया है। बिलकुल न्याय नहीं। तो किसी समय मेरे नाम से नुकसान हो जाए तो मेरे ऊपर दावा करना है? मुझसे लूटना है तुम्हें? ऐसे भी सज्जन लोग होते हैं। समझ में आया?

वैसे अज्ञानी राग को, भोग को सेवन करता है, वह मिठास से सेवन करता है। उसे विकार का बन्धन होकर कर्म फल देगा। ज्ञानी राग को भोगता है, वह सुखबुद्धि से नहीं। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बात है। अन्दर दुःख की वृत्ति से उसे सेवन करता है। आहाहा! अरे रे! मुझसे सहन नहीं होता। वह दुःख को भोगता है। वह दुःख को भोगता है, उसके फल को नहीं चाहता। आहाहा! सम्यग्दर्शन कोई चीज़ ऐसी है, प्रभु! क्या कहें? आहाहा! कि जिसने आत्मा के अनुभव का स्वाद देखा है, आहाहा! उसे इस राग के भाव में उसे आनन्द आवे, या छियानवें हजार स्त्रियों के साथ विवाह करे तो उसमें उसकी मिठास या सुखबुद्धि है, (ऐसा नहीं)। मेरा नाथ सुख से भरपूर भण्डार है। यह सुख वहाँ से आता है; बाहर से नहीं आता। आहाहा! वह छियानवें हजार स्त्रियों के भोग में दिखायी दे, उसे उस भोग में सुखबुद्धि नहीं है। प्रभु! आहाहा! दुःखबुद्धि से है, इसलिए उसे कर्म फल नहीं आता। आहाहा! ऐसी बातें हैं। जगत से बहुत अलग प्रकार है, बापू! आहाहा! **कर्म उसे फल नहीं देता। यह तात्पर्य है।**

भावार्थ : यहाँ एक आशय तो इस प्रकार है:-अज्ञानी विषयसुख के लिए अर्थात्... राग में रँगे हुए। **परिणाम के लिए उदयागत कर्म की सेवा करता है...** अज्ञानी राग में रँगकर सेवन करता है। आहाहा! विषय-भोग, पाँच इन्द्रिय के विषय, उनके राग में रँगकर भोगता है। आहाहा! **इसलिए वह कर्म उसे (वर्तमान में) रंजित परिणाम देता है।** राग में रँगे हुए परिणाम उसे मिलते हैं। राग में रँगे हुए परिणाम मिलते हैं। आहाहा!

ज्ञानी विषयसुख के लिए अर्थात्... राग के **रंजित परिणाम के लिए उदयागत कर्म की सेवा नहीं करता...** राग में रस चढ़ गया है और सेवन करता है, ऐसा नहीं। आहा! ज्ञानी को तो आत्मा के आनन्द का रस है। उस रस के समक्ष उसे राग का रस नहीं होता। (राग) आवे, भोगे, परन्तु उसमें रस नहीं होता। आहाहा! देखो, यह निर्जरा! अज्ञानी को राग के रस में रँगा हुआ राग से भोगता है, इसलिए मिथ्यात्व होकर नये कर्म बाँधता है। आहाहा! धर्मी जीव अपने आनन्द के रस को भूलकर राग का रस उसे नहीं होता। आहा! ज्ञान के, आनन्द के रस के समक्ष राग का रस उसे दुःखरूप लगता है; आहाहा! इसलिए

उसके भोग में कर्म खिर जाते हैं। आहाहा! ऐसी बातें हैं, बापू! वीतरागधर्म कोई दूसरा प्रकार है। आहाहा!

यह तो बाहर में जरा क्रिया की, दया और व्रत पालन किये, तपस्यायें की और दशलक्षणी पर्व तपस्या की, कुछ दान दिया—लाख, दो लाख, पाँच लाख (दिये)। धूल भी वहाँ धर्म नहीं, सुन न! आहाहा! अभी बहुत जगह आता है, पाँच-पाँच लाख दिये। वह एक है न, कलकत्ता? मिश्रीलाल गंगवाल, पाँच लाख दिये। अभी भाई, मणिभाई है न यह? शान्ताबहिन की बहिन के ननदोई। मणिभाई है न? मुम्बई। उन्होंने अभी मोरबी में पाँच लाख दिये। मोरबी में अभी बहुत कष्ट पड़ा है न? लोग बेचारे तरसते हैं। मकान नहीं, सामान नहीं, कपड़े नहीं। आहाहा! एक जोड़ी कपड़े थे, वे मैले एकदम, कीचड़ में रहे हुए। अभी पाँच लाख दिये। लोग ऐसा मान बैठे कि पाँच लाख दिये, इसलिए उसे धर्म हो गया। राग मन्द किया हो तो पुण्य है, धर्म नहीं। पाँच लाख क्या, तेरे करोड़ दे न! आहाहा! पाँच-छह करोड़ रुपये हैं और सब दे देवे तो क्या है? धर्म है उसमें? आहाहा! तब तो ऐसा कहा है न? अपने आ गया था, पद्मनन्दि पंचविंशतिका में कि मन्दिर बनावे, वह बड़ा (मनुष्य है)। छोटा-सा (मन्दिर) बनावे तो बड़ा मनुष्य और वह यदि स्थापित करे तो संघवी कहलाये। आता है न? वह तो सम्यग्दर्शनसहित की बात है। आहाहा! आत्मा का भान है, उसे यह विशाल मन्दिर बनाने का जरा शुभभाव आया, उस शुभ का उसे रस नहीं है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, प्रभु! अज्ञानी विषय सुख के लिये रँगे हुए राग से भोग को भोगता है। राग से रँग गया है। उसने चैतन्यमूर्ति को भिन्न नहीं रखा। जिसे राग का रस चढ़ गया है, ऐसे अज्ञानी विषयसुख को भोगते हुए नये बन्धन को पाते हैं, नये कर्म को पाते हैं। आहाहा! **इसलिए वह कर्म उसे (वर्तमान में) रंजित परिणाम देता है।** अर्थात् वह रँगे हुए राग को देता है। राग में रँग जाएगा। आहाहा! भगवान भिन्न है, उसका भान उसे नहीं रहेगा। आहाहा!

ज्ञानी विषयसुख के लिए... राग के रँगे हुए के लिए **उदयागत कर्म की सेवा नहीं करता...** राग का जिसे रंग नहीं, बापू! आहाहा! जिसका—चैतन्य का रंग चढ़ा है...

आहाहा! दामनगर (में) चातुर्मास था। एक बाबा था, बाबा। उस बाबा ने एक स्त्री रखी हुई थी। उसमें फिर उस स्त्री ने उसका आदर नहीं किया। फिर उसे ऐसी कषाय चढ़ गयी। बाबा था, हों! योगी, त्यागी। आहा! काला कोट पहिना। उस स्त्री का नाम लक्ष्मी या ऐसा कुछ था। स्त्री का नाम लक्ष्मी था। यह तो दामनगर में चातुर्मास की बात है। (संवत्) १९८३ की हो या १९७६ की हो। वह रंग ऐसा कि लक्ष्मी... लक्ष्मी... लक्ष्मी... उसे हैरान, अनादर करने के लिये। वह उपाश्रय के निकट से निकला, कोट में स्त्री का नाम (लिखा था)। किसी को मैंने कहा, परन्तु यह है कौन? यह बाबा जैसा है और यह स्त्री, स्त्री पूरे कपड़े पर; तो उसने वहाँ जाकर कहा, तो कहे—'क्षत्रिय का रंग चढ़ा है, उतरता नहीं अब'। हमें उस स्त्री का रंग चढ़ा है, वह रंग उतरता नहीं—ऐसा बोला। मैंने कहा—यह बाबा है और यह क्या यह? पूरा कोट पहिना और उसमें 'लक्ष्मी.. लक्ष्मी.. लक्ष्मी..' (लिखा हुआ)। मैंने कहा - यह क्या करता है? लक्ष्मी महिला है कोई? कहा, पैसा है? तब कहे, वह तो लक्ष्मी बाई इसने रखी थी, उस बाई ने इसे छोड़ दिया, इसलिए इसको अब ऐसी कषाय हो गयी है। इसलिए किसी ने जाकर उससे कहा कि यह महाराज कहते हैं कि तुम यह क्या करते हो यह? तो कहे—'क्षत्रिय का रंग चढ़ा है, उतरता नहीं।' पाप का रंग। आहाहा! यह तो बना हुआ (प्रसंग) है, हों! दामनगर में। उसका था कहीं, क्या कहलाता है वह? मठ। मठ कहलाता है, क्या कहलाता है वह? मन्दिर का वह था, प्रसिद्ध था, फिर किसी की स्त्री रखी और उसने छोड़ दिया और फिर कषाय में चढ़ गया। बस! पूरे गाँव में घूमे। उसे हैरान करने के लिये, उसका अपमान करने के लिये। क्या है यह? जवाब ऐसा दिया (उसने), 'क्षत्रिय का रंग चढ़ा है, वह रंग अब उतरता नहीं।' पाप का रंग चढ़ा है, वह अब उतरता नहीं।

इसी प्रकार इस अज्ञानी को भोग के काल में राग का रस चढ़ा है, वह इसे उतरता नहीं। आहाहा! और ज्ञानी को भोग काल में, आत्मा का रस चढ़ा है, वह उतरता नहीं। आहा! समझ में आया? आहाहा! ऐसा मार्ग है। अरेरे! इसे सच्चा तत्त्व सुनने को मिलता नहीं और जिन्दगी चली जाती है। आहाहा! यह तो पशु जैसी जिन्दगी कहलाती है। आहाहा! सत्य क्या है? परमात्मा त्रिलोक के नाथ ने सत्य का क्या स्वरूप कहा है? और असत्य में जाए तो क्या दशा है? उसका कथन भी सुनने को नहीं मिलता, वह कब अन्दर समझे।

यहाँ यह कहते हैं, **दूसरा आशय इस प्रकार है:–अज्ञानी सुख(–रागादिपरिणाम) उत्पन्न करनेवाले आगामी भोगों की अभिलाषा से व्रत, तप इत्यादि शुभकर्म करता है...** आहाहा! मन्दिर बनावे, परन्तु अन्दर में अन्दर में आशा गहरी कि इससे मुझे कुछ फल मिलेगा और इसमें से मैं भविष्य में सुखी होऊँगा। आहाहा! बाहर का सुखी, इस धूल का। आहाहा! **व्रत, तप इत्यादि शुभकर्म...** शुभ परिणाम अज्ञानी करता है, वह आगामी भोगों के अभिप्राय से (करता है)। भविष्य में मुझे अनुकूल भोग मिले, साधन मिले। आहाहा! **इसलिए वह कर्म उसे रागादिपरिणाम उत्पन्न करनेवाले आगामी भोगों को देता है।** उसे भविष्य में भोग मिलेंगे, संयोग मिलेंगे, भटकने के संयोग मिलेंगे। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बातें, भाई! आहाहा!

एक भोग को भोगते हुए राग का रस जिसे चढ़ गया है, उसे कर्म बन्धन होकर संयोग मिलेंगे और जिसे राग का रस उतर गया है, आहाहा! ज्ञान का रस और आनन्द रस, जिसे आत्मरस चढ़ा है, उसे पर का रस नहीं चढ़ता। उसे राग का रस मीठा नहीं लगता। आहा! ऐसी बातें हैं। बहुत फेरफार। अभी की सम्प्रदाय की पद्धति और यह वीतराग की पद्धति, पूरा बड़ा अन्तर है। हैं? विपरीत है। आहाहा!

ज्ञानी के सम्बन्ध में इससे विपरीत समझना चाहिए। ज्ञानी को भोग के राग का रस नहीं है, इसलिए उसके कर्म उत्पन्न नहीं होते। **इस प्रकार अज्ञानी फल की वांछा से कर्म करता है...** गहरे-गहरे उसे राग का रस है, इसलिए उसे राग का फल संसार मिलेगा। भटकने के भव (मिलेंगे)। आहाहा! **इसलिए वह फल को पाता है...** भटकने का। आहाहा! **ज्ञानी फल की वांछा बिना...** राग को करता है अथवा राग को भोगता है। **इसलिए वह फल को प्राप्त नहीं करता।** आहाहा!

कलश - १५३

(शार्दूलविक्रीडित)

त्यक्तं येन फलं स कर्म कुरुते नेति प्रतीमो वयं,
किन्त्वस्यापि कुतोऽपि किञ्चिदपि तत्कर्मावशेनापतेत्।
तस्मिन्नापतिते त्वकम्प-परम-ज्ञानस्वभावे स्थितो,
ज्ञानी किं कुरुतेऽथ किं न कुरुते कर्मेति जानाति कः।।१५३।।

अब, ''जिसे फल की इच्छा नहीं है, वह कर्म क्यों करे?'' इस आशंका को दूर करने के लिए काव्य कहते हैं:-

श्लोकार्थ : [येन फलं त्यक्तं सः कर्म कुरुते इति वयं न प्रतीमः] जिसने कर्म का फल छोड़ दिया है, वह कर्म करता है, ऐसी प्रतीति तो हम नहीं कर सकते। [किन्तु] किन्तु वहाँ इतना विशेष है कि- [अस्य अपि कुतः अपि किंचित् अपि तत् कर्म अवशेन आपतेत्] उसे (ज्ञानी को) भी किसी कारण से कोई ऐसा कर्म अवशता से (-उसके वश बिना) आ पड़ता है। [तस्मिन् आपतिते तु] उसके आ पड़ने पर भी, [अकम्प-परम-ज्ञानस्वभावे स्थितः ज्ञानी] जो अकम्प परमज्ञानस्वभाव में स्थित है, ऐसा ज्ञानी [कर्म] कर्म [किं कुरुते अथ किं न कुरुते] करता है या नहीं [इति कः जानाति] यह कौन जानता है?

भावार्थ : ज्ञानी के परवशता से कर्म आ पड़ता है तो भी वह ज्ञान से चलायमान नहीं होता। इसलिये ज्ञान से अचलायमान वह ज्ञानी कर्म करता है या नहीं - यह कौन जानता है? ज्ञानी की बात ज्ञानी ही जानता है। ज्ञानी के परिणामों को जानने की सामर्थ्य अज्ञानी की नहीं है।

अविरत सम्यग्दृष्टि से लेकर ऊपर के सभी ज्ञानी ही समझना चाहिए। उनमें से, अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत सम्यग्दृष्टि और आहारविहार करते हुए मुनियों के बाह्य-क्रियाकर्म होते हैं, तथापि ज्ञानस्वभाव से अचलित होने के कारण निश्चय से वे, बाह्य-क्रियाकर्म के कर्ता नहीं हैं, ज्ञान के ही कर्ता हैं। अन्तरंग मिथ्यात्व के अभाव से तथा

यथा-सम्भव कषाय के अभाव से उनके परिणाम उज्ज्वल हैं। उस उज्ज्वलता को ज्ञानी ही जानते हैं, मिथ्यादृष्टि उस उज्ज्वलता को नहीं जानते। मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा हैं, वे बाहर से ही भला-बुरा मानते हैं; अन्तरात्मा की गति को बहिरात्मा क्या जाने?।।१५३।।

कलश - १५३ पर प्रवचन

अब, ''जिसे फल की इच्छा नहीं है वह कर्म क्यों करे?'' इस आशंका को दूर करने के लिए काव्य कहते हैं:- फल नहीं (चाहिए) तो भोगता किसलिए है? सुन, भाई!

त्यक्तं येन फलं स कर्म कुरुते नेति प्रतीमो वयं,
किन्त्वस्यापि कुतोऽपि किञ्चिदपि तत्कर्मावशेनापतेत्।
तस्मिन्नापतिते त्वकम्प-परम-ज्ञानस्वभावे स्थितो,
ज्ञानी किं कुरुतेऽथ किं न कुरुते कर्मेति जानाति कः।।१५३।।

आहाहा! **[येन फलं त्यक्तं सः कर्म कुरुते इति वयं न प्रतीमः] जिसने कर्म का फल छोड़ दिया है...** आहाहा! राग का फल रंजितपना और उसके फल का मिलना संयोग, (वह) छोड़ दिया है। आहाहा! और जिसे आत्मा के रंग का रस चढ़ा है। आहाहा! राग से भिन्न करके जिसे भेदज्ञान हुआ है। आहाहा! वह भेदज्ञानी जीव... आहाहा! (उसने) कर्मफल छोड़ा है। वह राग से भिन्न पड़ा है, इसलिए राग का फल मिले और मेरा है, ऐसी दृष्टि उसे छूट गयी है। गजब बात! कान्तिभाई! वहाँ तुम्हारे यहाँ सब चलता है, अपवास करो और यह करो। भारी काम किया, हों! तुमने बहुत अच्छा किया। आहाहा! यहाँ छोड़कर आये हैं, महीने-सवा महीने से पड़े हैं। सवा महीना हुआ? कितने हुए? महीना, सवा महीना हुआ? महीना! अच्छा किया। वहाँ प्रमुख है, बापू! मार्ग यह है, भाई! आहा! उस सम्प्रदाय में तो इसकी बातें नहीं मिलती, भाई! आहाहा!

कहते हैं, जिसने राग के फल और राग में सुखबुद्धि को उड़ा दिया है। आहा! जिसे आत्मा के ज्ञान के सुखबुद्धि में रस चढ़ गया है, आहा! (उसने) **कर्म का फल छोड़ दिया है, वह कर्म करता है...** वह राग करता है और राग भोगता है, **ऐसी प्रतीति तो हम नहीं कर सकते।** आहाहा! हमें तो यह बात बैठती नहीं, कहते हैं। मुनि की बात कहते हैं।

आहाहा! क्या कहा यह ? कि जिसे दया, दान, व्रतादि के परिणाम का रस छूट गया है, उसको फल मुझे सुख है या उसे भोगता हूँ, इसलिए मुझे सुख मिलेगा, यह दृष्टि जिसकी छूट गयी है, आहाहा! और जिसे भगवान ज्ञातृतत्त्व, उसका जिसे रस चढ़ा है, वह कर्म करता है और भोगता है या नहीं, कौन जाने ? हम तो मानते नहीं, कहते हैं। आहाहा!

श्वेताम्बर में एक आता है, 'अयवन्तोकुमार' की बात। 'अयवन्तोकुमार' 'भगवती' में आता है। है कल्पित बात, परन्तु वह छोटी उम्र में साधु हुआ। बालक था, राजकुमार (था)। बालक छोटा, छोटी उम्र। और पात्र कहते हैं न ? श्वेताम्बर तो माने न ? मुनि को पात्र-बात्र होते नहीं। परन्तु वे लोग पात्र लेकर उनके गुरु के साथ दिशा को गये। बाहर गये, वहाँ वर्षा आयी। वर्षा आयी तो इतना अधिक पानी बहे। उसमें साधु बालक था न, इसलिए जरा धूल की पाल बाँधी और पानी इकट्ठा किया और उसमें पात्र रखा। ऐसा आता है, भगवतीसूत्र में आता है। है न, सब पढ़ा है न ? भगवतीसूत्र, सोलह हजार श्लोक और सवा लाख (श्लोक प्रमाण) टीका। सत्रह बार पढ़ा है। आहाहा! फिर वहाँ बोलते हैं कि 'नाव तरे रे मोरी नाव तरे, मुनिवर जल शु खेल करे ऐ मोहकर्म ना ए चाला।' आहाहा! मुनिवर नानडिया ऐ बाला।' बालक मुनि है, वह नाव में ऐसा करता है। 'मोरी नाव तरे रे, ऐ मोह ना चाला' परन्तु मुनि को यह होता ही नहीं। मुनि को पात्र ही नहीं होते। पात्र रखे, वह मुनि नहीं। आहाहा!

ऐसी बात उसमें— भगवती में सब कल्पित बातें। श्वेताम्बर साधु ने दिगम्बर में से निकलकर ऐसे कल्पित शास्त्र बनाये। प्रभु... प्रभु! लोगों को दुःख लगे, ऐसा है, हों! है ? क्योंकि यहाँ तो सब देखा है न! ४५ वर्ष तो श्वेताम्बर में रहे। करोड़ों श्लोक, करोड़ों श्लोक! पूरा धन्धा ही (यह किया है)। दुकान पर था तो भी मैं तो पढ़ता था। हमारे शिवलालभाई थे, वे बैठते। मैं तो जब वे गद्दी पर बैठे, (तब) मैं तो अन्दर शास्त्र पढ़ूँ। १८-१९ वर्ष की उम्र से, हों! यह श्वेताम्बर के शास्त्र हैं न ? 'दशवैकालिक', 'उत्तराध्ययन', 'आचारांग', वे सब दुकान पर पढ़े थे। ७० वर्ष पहले। यह बात उनमें नहीं, बापू! आहाहा! उसमें ऐसी बात डाली (कि) साधु होकर पानी में पात्र डाले और यह मोहकर्म का खेल (कहे)।

मुमुक्षु : पात्र को सिद्ध करना है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पात्र को सिद्ध करना है और वापस वह साधु देखता है न, इसलिए साधु एकदम भगवान के पास जाता है। 'महाराज! यह...' 'अरे! तुम इसकी ग्लानि नहीं करना, वह इस भव में मोक्ष जानेवाला है।' ऐसी बात, ऐसा पाठ है। भगवती में है। साधु को ऐसा हुआ कि यह पानी को ऐसा करता है और अपने अब इसे स्पर्श नहीं करें। (इसलिए उसे) छोड़कर भगवान के पास गया, भगवान को कहे, 'यह राजकुमार...' (भगवान कहते हैं) 'यह तुम इसकी ग्लानि मत करो, यह तो इस भव में मोक्ष जानेवाला है।' परन्तु ऐसी क्रिया करता है न!

मुमुक्षु : मोक्ष जानेवाला हो, फिर क्रिया ऐसी हो जाए न?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु मोक्ष जानेवाला, इसलिए उसकी ऐसी क्रिया कहाँ थी? वह तो अकेली पाप की क्रिया। साधु कब रहा? बहुत कठिन। आहाहा!

यहाँ कहते हैं धर्मी जीव, जिसे आत्मा का ज्ञानरस चढ़ा है, जिसे समकित का रस चढ़ा है, वह राग के भोग में रँगता है या नहीं? वह राग करता है या नहीं? कैसे हम प्रतीति करें? वह तो उस समय ज्ञान करता है, कहते हैं। आहाहा! यह तो दोपहर को आया नहीं? वास्तव में तो इस शरीर की अवस्था होती है, वह विश्व में जाती है। उस अवस्था का यहाँ ज्ञान होता है। वह अवस्था चाहे जैसी हो। समझ में आया? उसका यहाँ ज्ञान होता है। विश्व का और शब्दब्रह्म का जैसे ज्ञान होता है, कहा न? तो विश्व में इस शरीर की अवस्था रोग की हो, चाहे जो हो। आहाहा! ज्ञानी को तो ज्ञान में वह अवस्था जानने की ज्ञान की पर्याय इतनी ही होती है। वह उसे जाने। आहाहा! समझ में आया? उसे ऐसा नहीं कि यह शरीर ऐसा है, इसलिए मुझे नुकसान है। मैं तो उसका जाननेवाला हूँ। उसका अधिष्ठाता हूँ। आहाहा!

शरीर की अवस्था—देह की अवस्था, भोग की अवस्था... आहाहा! यह सब विश्व है। उसका मैं जाननेवाला हूँ, करनेवाला नहीं। लोगों को ऐसा दिखता है कि यह तो करते हैं न? तो यहाँ मुनिराज कहते हैं कि वह करता है या नहीं करता? करता है, ऐसी प्रतीति हम मानते नहीं। प्रसन्नभाई! ऐसा कहाँ है? वहाँ कहीं है? आहाहा! महेन्द्रभाई तो अभी रच-पच गये हैं, पैसे में। आहाहा! ऐसी बातें, बापू! तीन लोक के नाथ भगवान की वाणी है। यह सन्तों की वाणी है, वह भगवान की ही वाणी है। भगवानतुल्य ही ये सन्त

हैं। आहाहा! वे स्वयं भगवान स्वयं हैं। वे ऐसा कहते हैं कि धर्मी, जिसे ज्ञान का रस चढ़ा है, जिसे आत्मदर्शन हुआ है, वह दर्शनवाला जीव राग को भोगता है या नहीं भोगता, यह कौन जाने? तुझे क्या खबर पड़े? है? **'कुरुते अथ किं न कुरुते'** करता है या नहीं करता? कर्म **'इति कः जानाति'** कौन जाने? तुझे खबर है? आहाहा!

पुत्र जवान हो और माता की चालीस वर्ष की जवान हो, पुत्र बीस वर्ष का जवान (हो)। माता नहाती हो और शरीर नग्न हो, खाट आड़े रखकर नहाते हैं न? अब उसमें खड़ी हुई और लड़के की नजर गयी तो वह नजर से देखता है या नहीं देखता? कहे कौन? कहते हैं। उस प्रकार से देखता है? माता की नग्नदशा को पुत्र देखता है? परन्तु आँख तो उसकी ऐसे गयी है। मेरी जननी, मैं इसके गर्भ में सवा नौ महीने रहा, मेरी माता है। उसे नग्न मैं कैसे देखूँ? आहाहा! उसकी नजरें ऐसे गयी तो भी वह उसे देखता नहीं, कहते हैं। इसी प्रकार धर्मी राग में आ गया, तो भी राग को करता और भोगता नहीं है। आहाहा! माँगीलालजी! ऐसी बातें कहीं सुनने को मिले, ऐसा नहीं है अभी। बापू! ऐसी बातें हैं। आहाहा! जिसके एक-एक वचन, एक-एक भाव... आहाहा! उनकी कीमत क्या? आहाहा!

मुनिराज अमृतचन्द्राचार्य। कुन्दकुन्दाचार्य ने पंचम काल में तीर्थंकर जैसा काम किया और अमृतचन्द्राचार्य ने उनके गणधर जैसा कार्य किया है। वे मुनिराज ऐसा कहते हैं, प्रभु! सम्यग्दृष्टि जीव, जिसे आत्मा का रस चढ़ा है, आहाहा! वह इस भोग के समय राग के रस में है या नहीं; राग करता है या भोगता है या नहीं, कौन जाने? तुझे क्या खबर पड़े? वह तो उस समय भी जानने-देखनेवाला रहता है। आहाहा! क्योंकि वह विश्व का... यह तो आ गया है, भाई अपने? अधिष्ठान। आत्मा, जो जगत की चीजें हैं, शरीर-रागादि वह विश्व में जाता है, तो उसे ज्ञातृतत्त्व है जो निजपद, जो उसका आधार है, वह उसका ज्ञान करता है और शब्द का भी ज्ञान करता है। उस शब्द और अर्थ का अधिष्ठान आत्मा है। अधिष्ठान अर्थात् उन्हें जाननेवाला आधार स्वयं है। आहाहा! उनका करनेवाला आत्मा नहीं है। आहाहा! क्या वीतराग के सन्तों की धारा! अमृत की धारा बरसायी है! प्रभु! जिसने अमृत का रस चखा, उसे वह भोग में भोगता है और रस है या नहीं, उसकी तुझे क्या खबर पड़े? **'कः जानाति' 'कुरुते'** राग करता है या नहीं करता, कौन जाने? अर्थात् कि वह राग नहीं करता। आहाहा! उस समय भी राग सम्बनधी और देह सम्बन्धी जो क्रिया होती

है, उसे ज्ञाता उसके ज्ञानरूप परिणमता है, वह उसका कार्य है। आहाहा! समझ में आया?

किन्तु वहाँ इतना विशेष है कि– [अस्य अपि कुतः अपि किंचित् अपि तत् कर्म अवशेन आपतेत्] उसे (ज्ञानी को) भी किसी कारण से कोई ऐसा... राग **अवशता से (–उसके वश बिना) आ पड़ता है।** आहाहा! [तस्मिन् आपतिते तु] यह राग आ पड़ा। आहाहा! **उसके आ पड़ने पर भी,... [अकम्प–परम–ज्ञानस्वभावे स्थितः ज्ञानी]** देखो! आहाहा! उस क्षण भी **जो अकम्प परमज्ञानस्वभाव में स्थित है...** आहाहा! उस राग में स्थित नहीं है। राग की, देह की क्रिया (होती है), उसमें स्थित नहीं। उस सम्बन्धी का यह ज्ञान होता है, उस ज्ञान में स्थित है। सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

भोग नहीं, भोग छोड़े हैं और त्यागी हुआ है, वह राग का त्यागी है या नहीं, तुझे क्या खबर पड़े? तू तो बाहर से देखता है कि यह त्यागी है। परन्तु अन्दर राग का रस चढ़ा है। दया, दान, व्रतादि के परिणाम का रस चढ़ा है, वह मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! 'गृहस्थो मोगमग्गो' आता है न? रत्नकरण्डश्रावकाचार। गृहस्थाश्रम में भी समकिती मोक्षमार्गी है और त्यागी है, वह भी रागरसवाला है, वह मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! 'अणगारो मोही' रत्नकरण्डश्रावकाचार में आता है। कहाँ गये? पण्डितजी! अनगार होने पर भी राग के रस में प्रेम है, यह व्रत, तप और भक्ति का विकल्प है, उसका रस है (तो वह) मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! और गृहस्थाश्रम में जिसे आत्मा के ज्ञान का रस चढ़ा है, वह भले भोग में दिखायी दे, परन्तु वह भोग में है या नहीं, यह तुझे क्या खबर पड़े? वह तो वहाँ ज्ञान करता है। उस समय का अवसर उसका उस समय का उस प्रकार के ज्ञान को जाने, ऐसी ज्ञान की अवस्था उसे होती है। आहाहा! यह निर्जरा अधिकार है। समझ में आया? आहाहा!

इस अकम्प ज्ञानस्वभाव में स्थित अर्थात् कि ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा के ज्ञान में और उसकी प्रतीति में और उसमें एकाकार है, उसे भोग और राग का ज्ञान है। वह ज्ञान भी स्वयं के कारण से हुआ है। भोग और क्रिया की क्रिया है, इसलिए उसका यहाँ हुआ, ऐसा नहीं है। उस काल में भी ज्ञातृतत्त्व का अनुभव होने से स्व-पर प्रकाशक की पर्याय स्वयं के कारण से प्रगट हुई है। आहाहा! अब ऐसा मार्ग! हीराभाई! क्या करे? एक तो लोगों को

धन्धे के कारण, पाप के कारण निवृत्ति नहीं मिलती। पूरे दिन धन्धा और स्त्री-पुत्र। आहाहा! थोड़ा समय मिले, सिर पर कहनेवाला मिले, जय नारायण! किशोरभाई! बात सच्ची है या नहीं? तुम्हारे यहाँ वापस सब पैसेवाले लोग, नैरोबी। साठ लाख, सत्तर लाख। यह नैरोबी रहते हैं। अभी मन्दिर बनाया है, नैरोबी। पैसेवाले लोग। पन्द्रह लाख क्या, करोड़ का बनावे न! वह क्रिया तो उस काल में होनेवाली है। ज्ञानी को उस काल में होती हुई क्रिया का स्वयं से ज्ञान होता है। आहाहा! इसलिए वह मन्दिर को करता है या अन्दर राग आया, उसका कर्ता है या नहीं? ज्ञानी (कर्ता) नहीं होता। आहाहा! अब ऐसी बातें!

एक ओर कहे कि मन्दिर और मन्दिर में प्रतिमा स्थापित करे तो संघवी कहलाये। छोटी भी प्रतिमा स्थापित करे तो उसके पुण्य का पार नहीं, ऐसा कहा जाए। पद्मनंदि-पंचविंशतिका में आता है।

मुमुक्षु : पुण्यबन्ध न?

पूज्य गुरुदेवश्री : पुण्य। परन्तु वह तो धर्मी को स्वभाव की दृष्टि में ऐसा भाव आया, उसका फल उसे पुण्य है। परन्तु वह पुण्य और राग का भी जाननेवाला है। आहाहा! ज्ञानी को लक्ष्मी के ढ़ेर आते हों, अरबों, करोड़ों। उस काल में उसका ज्ञान उसका उस प्रकार का स्वयं से स्वयं को परिणमता है, उस ज्ञान का कर्ता है। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बातें!

'अकम्प ज्ञान'—भाषा देखो! राग आया, भोग में दिखायी दे, तथापि ज्ञान का काल ऐसा स्वयं का उस समय में है कि उस सम्बन्धी का ज्ञान स्वयं को स्व-परप्रकाशक का प्रगट होता है। उसमें वह अकम्प है। आहाहा! **परमज्ञानस्वभाव में स्थित...** परम अर्थात् यह। अपना स्वभाव। शास्त्रज्ञान और वह नहीं। परम ज्ञान अर्थात् अपना स्वरूप। परमज्ञानस्वभाव कहा न? परमज्ञानस्वभाव जो त्रिकाल, उसमें स्थित है। आहाहा!

भरतेश वैभव में एक (बात) आती है। भरत चक्रवर्ती को छियानवें हजार स्त्रियाँ थीं। भले 'भरत' पुत्र थे उनके, ऐसा उसमें लेख है कि विषय लेते हैं, वह विषय लेकर जहाँ निवृत्त होते हैं, नीचे बैठते हैं, (वहाँ) ध्यान में निर्विकल्पता आ जाती है। 'भरतेश वैभव' में है। है, खबर है न। वह पूरा पढ़ा है न! आहाहा! क्योंकि उस विकल्प का रस नहीं था, परन्तु आ पड़ा हुआ राग... आहाहा! इसलिए दुनिया ऐसा माने कि यह कर्ता है और भोगता है, परन्तु उस समय भी उसका ज्ञान ही करता है। आहाहा! वह जहाँ नीचे उतरता है, वहाँ

ध्यान में निर्विकल्पता हो जाती है। उस समय विकल्प था, उसका ज्ञान करता (था)। आहाहा! नीचे निर्विकल्पदशा हुई, उसका वह ज्ञान करता है। ऐसी बातें हैं। दुनिया से भिन्न प्रकार है, बापू! वीतराग परमेश्वर की बातें... आहाहा!

जिसे आत्मा का रस चढ़ा, उसे यह सब; जैसे श्मशान में हड्डियाँ और चमक दिखती है, वह सब चमक (दिखती है)। ओहो! यह मकान और स्त्री रूपवान। क्या है परन्तु यह? यह जिसे रस है, वह मिथ्यादृष्टि है। सम्यग्दृष्टि को इस सब दिखाव में, भोगने में दिखता है, तो भी वह भोगता नहीं है। वास्तव में तो उसे देखता भी नहीं है। स्वयं अपने को देखता है। आहाहा! जो स्व-परप्रकाशक की पर्याय उस काल में उस प्रकार की उत्पन्न हुई, उसे जानता है और देखता है। ऐसी बातें। अरे! जगत को कहीं निवृत्ति नहीं मिलती। आहाहा! फुरसत नहीं मिलती। सत्य का तुलना करके निर्णय करना। आहाहा! हम क्या मानते थे और यह क्या है? इसकी तुलना करके अन्दर निर्णय करना, यह कोई अलौकिक चीज़ है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि वह करता है या नहीं करता, यह कौन जाने? तुझे क्या खबर पड़े, कहते हैं कि यह भोगता है न? परन्तु तुझे क्या खबर पड़े? तुझे ज्ञान होवे तो खबर पड़े कि यह तो उस समय ज्ञान करता है। समझ में आया? आहाहा! स्वच्छन्द होकर भोगता है, (ऐसी) नहीं। स्वतन्त्र ज्ञान को करके राग को जानता है। ज्ञान को स्वतन्त्र करके ज्ञान का कर्ता होकर ज्ञान का कार्य करता है। यह राग और देह की भोग की क्रिया दिखे, उसके कारण से यहाँ ज्ञान होता है, ऐसा भी नहीं है। उस काल में अपना स्व-परप्रकाशक ज्ञान स्व का आश्रय होने से जो पर्याय, उसे जानने की पर्याय स्वयं से प्रगट होती है, उसे वह जानता है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! अरे! ऐसी बातें!

अब वह त्यागी होकर बैठा, साधु होकर दिगम्बर हो, वस्त्र न हो, पात्र न हो परन्तु वह महाव्रत के राग का कण आवे, वह मेरा है—ऐसा रस चढ़ा है, वह मिथ्यादृष्टि है। उसे आत्मा का रस नहीं है, राग का रस है; और ज्ञानी गृहस्थाश्रम में भोग में और राग में दिखायी दे तो कहते हैं कि वह राग और भोग में आया नहीं, वह तो ज्ञान में स्थिर है। आहाहा! अब यह अन्तर कौन माने? आहाहा! **करता है या नहीं यह कौन जानता है?**

भावार्थ : ज्ञानी के परवशता से कर्म आ पड़ता है... रागादि। **तो भी वह (ज्ञानी) ज्ञान से चलायमान नहीं होता।** आहाहा! ज्ञातादृष्टा हूँ, ऐसी मेरी चीज़। वहाँ से हटता नहीं, चलायमान नहीं होता। चाहे जैसे छियानवें करोड़ स्त्री के विषय में हो। आहाहा! परन्तु अपना ज्ञानस्वरूप है, वहाँ से हटता नहीं। आहाहा! **इसलिए ज्ञान से अचलायमान वह ज्ञानी...** ज्ञान में-स्वरूप में है, उसकी दृष्टि वहाँ है, इसलिए वह ज्ञानी राग और बाह्य की क्रिया करता है या नहीं करता, **यह कौन जानता है?** आहाहा! अटपटी बातें हैं। फिर यहाँ का विरोध करे। इसका विरोध नहीं करता, प्रभु! तू तेरा विरोध करता है। यहाँ का विरोध कौन करे? किसी का विरोध कौन करे? आहाहा! स्वयं को यह बात बैठती नहीं, इसलिए स्वयं अपना विरोध करता है। आहाहा!

इसलिए ज्ञान से अचलायमान वह ज्ञानी कर्म... राग को, भोग को, कर्म को **करता है या नहीं, यह कौन जानता है? ज्ञानी की बात ज्ञानी ही जानता है।** ज्ञानी ही जाने। आहाहा! 'भरत' का दृष्टान्त दिया है टीका में। 'भरत'। भरत ऐसा कि इतनी-इतनी स्त्रियाँ, हर रोज सौ-सौ स्त्रियों से विवाह करे, तो भी वह राग में रँगा हुआ नहीं है, वह तो ज्ञान के रस में रँगा हुआ है। और रावण का दृष्टान्त दिया है। रावण ऐसा कि इस प्रकार से सब भोगता था अज्ञानभाव से; जिसके स्फटिक के तो बँगले, स्फटिक के बँगले। एक-एक स्फटिक करोड़ रुपये का। ऐसे पूरे स्फटिक के बँगले, उसमें रस चढ़ गया। अज्ञानी 'रावण'। आहाहा!

ज्ञानी की बात ज्ञानी ही जानता है। ज्ञानी के परिणामों को जानने की सामर्थ्य... आहाहा! क्या कहते हैं? धर्मी जीव के परिणाम उस समय क्रियाकाण्ड के समय भी राग से भिन्न परिणाम हैं। आहाहा! उन परिणामों को जानने का काम-सामर्थ्य अज्ञानी का नहीं है। अज्ञानी का काम नहीं है, भाई! आहाहा! स्वयं सब संयोग छोड़कर बैठा हो, ऐसे सब हो, इसलिए हम त्यागी हैं और उसको संयोग है, इसलिए भोगी हैं, कैसे तुझे खबर पड़े? बापू! वह संयोग में भी ज्ञान में स्थिर है। वह स्व-परप्रकाशक ज्ञान में स्थित है। वह बाहर के काम में आया नहीं, निकला ही नहीं, कहते हैं। आहाहा! विशेष कहेंगे... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३०१, गाथा-२२८, श्लोक-१५३, १५४ सोमवार, भाद्र शुक्ल १२
दिनाङ्क ०३-०९-१९७९

आज दशलक्षणी के आठवाँ दिन है न? त्याग, त्याग। धर्मी मुनि, त्यागी मुनि को दे, उसकी यहाँ बात है।

व्याख्या यत् क्रियते श्रुतस्य यतये यद्दीयते पुस्तकं
स्थानं संयमसाधनादिकमपि प्रीत्या सदाचारिणा।
स त्यागो वपुरादिनिर्ममतया नो किंचनास्ते यते-
राकिंचन्यमिदं च संसृतिहरो धर्मः सतां संमतः।।

सदाचारी पुरुष द्वारा अर्थात् मुनि द्वारा। बात तो यह है। सदाचारी (अर्थात्) जिसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट हुए हैं, जिसने सत् का आचरण किया है। आहा! सत् ऐसा ज्ञायकस्वभाव, उसका जिसे सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र का आचरण हुआ है, उसे सदाचारी कहा जाता है। यह लौकिक सज्जन कहे और सदाचारी (कहे), वह यहाँ नहीं। दया, दान और व्रत, भक्ति आदि लौकिक करे और दान दे, (वह नहीं)। यह सदाचार अर्थात् सत् ऐसा ज्ञायकस्वरूप भगवान आत्मा, उसका अन्तर में जिसे दर्शन, ज्ञान और चारित्र का आचरण प्रगट हुआ है, वह सदाचारी है। उस सदाचारी पुरुष द्वारा अर्थात् मुनि द्वारा मुनि को। ऐसी बात है, लो! जो प्रेमपूर्वक आगम का व्याख्यान किया जाए। आगम का व्याख्यान प्रेमपूर्वक यथार्थ वस्तु की स्थिति का वर्णन किया जावे। आहाहा! पुस्तक दी जावे। मुनि, मुनि को पुस्तक दे। यह तो निमित्त से कथन है, बाकी उसमें राग को त्याग करता है और स्वभाव में स्थिर होता है, इसका नाम त्यागधर्म है। परन्तु यहाँ विकल्प से बात की है।

पुस्तक दे, संयम के साधनभूत पीछी आदि भी दी जाये। निमित्त। मुनि को तो ऐसा होता है कि वस्त्र और पात्र तो उन्हें होते नहीं। पीछी-कमण्डल आदि हो, वह मुनि, मुनि को कोई दे, उसे यहाँ राग की दशा के अभावस्वरूप त्यागधर्म कहते हैं। आहाहा! दशलक्षण है न? मुनि के धर्म हैं। यह मुनि के आराधना के दिन हैं। यह तो दिगम्बर सनातन

जैनधर्म, उसमें चारित्र, वह मोक्ष का कारण और उस चारित्र के आराधन के ये दस दिन हैं। समझ में आया? गर्भित में गृहस्थ समकिती आदि आ जाएँ, परन्तु मुख्य तो यह है। इसे त्यागधर्म कहा जाता है।

शरीरादि में ममत्वबुद्धि न रहे। आहाहा! पर का तो त्याग करे ही। पुस्तक किसी को चाहिए हो और अपने पास है तो वह दे देवे। कोई कमण्डल आदि विशेष अधिक हो तो दे देवे, मोरपिच्छी होवे तो वह दे देवे। परन्तु शरीर के प्रति ममत्वबुद्धि न रहे। मुनि के पास किंचित् मात्र भी परिग्रह नहीं रहता। आहाहा! तिलतुषमात्र जो राग अन्दर और वस्त्र आदि परिग्रह उन्हें नहीं होता। आहाहा! इसका नाम उत्तम आकिंचनधर्म है। साथ में जोड़ दिया। है तो आज त्याग (धर्म), परन्तु त्याग के साथ आकिंचन जोड़ दिया। बाद में आकिंचन आता है न?

सज्जन पुरुषों को इच्छित, सत्पुरुषों को इच्छने योग्य, धर्मात्मा को भावना करनेयोग्य वह धर्म संसार का नाश करनेवाला है। सज्जन पुरुष अर्थात् मुनिराज को भावना में वह धर्म संसार का नाश करनेवाला है। आहाहा! जो रागरूपी अंश है, उसका वह त्याग करता है और स्वरूप में स्थिर होता है, उस मुनि का त्यागधर्म संसार का नाश करनेवाला है। आहाहा! वस्त्र, पात्र मुनि (रखे), उसे तो सिद्धान्त ने मुनि कहा ही नहीं है। और वस्त्र, पात्र छोड़कर बैठे, परन्तु अन्तर में मिथ्यात्व भाव है तो उसे भी मुनि नहीं कहा।

मुनि को तो अन्तर आत्म-अनुभव, जिन्हें सम्यक् आनन्द की लहर जगी है दर्शन में और जिन्हें आत्मा की लहर ज्ञान में ज्ञात होती है और ज्ञान के आनन्द में जिनकी लीनता बढ़ती है, उन्हें यहाँ मुनि कहा जाता है। आहाहा! वह मुनि दूसरे मुनि को व्याख्यान करे, पुस्तक आदि दे तो उसमें जितने उस राग की त्याग होता है न, वस्तु देने की क्रिया तो पर है, परन्तु उसमें जितना राग था, उसका त्याग होता है और स्वरूप में स्थिरता होती है, इसका नाम दशलक्षणी का आठवाँ धर्म कहा जाता है। इसकी एक ही गाथा है। अपने यहाँ (समयसार में) कहाँ आया है? १५३ कलश, भावार्थ आ गया? है? दूसरा पेराग्राफ।

अविरत सम्यग्दृष्टि से लेकर... १५३ कलश का भावार्थ। पहली तीन लाईनें हो गयी हैं। आहा! अविरत सम्यग्दृष्टि (अर्थात्) जिसे अभी अव्रत का त्याग नहीं हुआ, परन्तु

सम्यग्दर्शन हुआ है। आहाहा! अन्तर के अनुभव की आनन्द की धारा जिसे दृष्टि में आयी है। आहा! उसे अभी अव्रतभाव है, उसे यहाँ अविरत सम्यग्दृष्टि कहते हैं। उनसे लेकर **ऊपर के सभी ज्ञानी...** चौथे गुणस्थान से लेकर, पाँचवें, छठवें इत्यादि (सबको) **ज्ञानी ही समझना चाहिए।** उन सबको ज्ञानी कहा जाता है। कितने ही ऐसा कहते हैं कि ज्ञानी तो जब निर्विकल्प ध्यान में होवे, तो ज्ञानी (कहा जाए), नहीं तो (नहीं)। ऐसा एकान्त खींचने जाते हैं। नीचे भी ऐसा कि सराग समकित होता है, परन्तु वीतराग समकित तो जब निर्विकल्प हो, तब होता है। परन्तु यहाँ तो सम्यग्दर्शन होता है, वह सम्यग्दर्शन वीतरागी ही पर्याय है। आहाहा!

वीतराग भगवान आत्मा चैतन्य वीतरागस्वरूप, उसकी प्रतीति और उसके ज्ञान में जो वीतरागता आवे, उसे यहाँ सम्यग्दर्शन और ज्ञान कहते हैं। राग साथ में होता है, अविरत कहा, तथापि वह राग है, वह दोष है, परन्तु जो सम्यग्दर्शन है, वह मोक्ष का मार्ग अन्दर प्रगट हुआ है। आहाहा! उससे लेकर पाँचवें गुणस्थान, छठवें सबको **ज्ञानी 'ही' समझना चाहिए।** ऐसी भाषा है, देखा? परन्तु यह गृहस्थ का (लिखा हुआ है), उसे नहीं मानते। यह तो **ज्ञानी 'ही' समझना चाहिए।** ऐसा कहा है।

उनमें से, अविरत सम्यग्दृष्टि,... चौथे **देशविरत सम्यग्दृष्टि...** पाँचवें, **और आहारविहार करते हुए मुनियों के...** छठवें। आहार-विहार का विकल्प (छठवें में होता है)। **बाह्य-क्रियाकर्म होते हैं,...** उसे राग की और जड़ की, शरीरादि की क्रिया प्रवर्तती है, **तथापि ज्ञानस्वभाव से अचलित होने के कारण...** आहाहा! जिसे ज्ञायकस्वभाव अनुभव में आया है, उससे वह चलित नहीं होता। चाहे तो राग विषय का आवे, युद्ध का आवे और युद्ध की क्रिया हो... आहाहा! परन्तु अपने ज्ञानस्वभाव में से चलित नहीं होता। आहा! युद्ध में ऐसे खड़ा हो अन्दर से, तो भी उसका ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा, उसकी जो दृष्टि जमी है, उससे चलित नहीं होता भले राग हो, भले युद्ध की क्रिया हो, भले विषय की क्रिया देह की हो। आहाहा! कठिन बात, भाई! आहाहा!

तथापि ज्ञानस्वभाव से अचलित होने के कारण... कौन? चौथे के, पाँचवें के और छठवें के ज्ञानी है, वे ज्ञानी आहार-विहार शरीरादि की क्रिया; विषय वासना आदि की

क्रिया चौथे-पाँचवें में वर्तती हो और देह की क्रिया भी उस प्रकार की प्रवृत्ति में हो, तथापि ज्ञान स्वभाव से अचलित है। मैं जो आनन्द और ज्ञानस्वरूप ज्ञायक हूँ, उसमें से तो अचलित (हूँ), चलित नहीं होता। आहाहा! **ज्ञानस्वभाव से अचलित होने के कारण...** यह ज्ञानस्वभाव अर्थात् शास्त्र का ज्ञान नहीं। आत्मा ज्ञानस्वभावी वस्तु का ज्ञान होने से। उस **ज्ञानस्वभाव से अचलित...** है। आहाहा!

निश्चय से वे, बाह्य-क्रियाकर्म के कर्ता नहीं हैं,... वास्तव में शरीर की क्रिया हो, वाणी की हो, अरे! लिखने की हो। आहाहा! वह तो सब अपने ज्ञेय में आ गया है न? वह ज्ञेय है। लिखने की क्रिया जड़ की है, वह ज्ञेय है। उसके प्रति का ज्ञान का परिणमना, वह ज्ञेय जो चीज़ है, उस ज्ञेयाकार ज्ञान का होना, वह इसकी चीज़ है। आहाहा! गजब बातें, भाई! कहते हैं कि ऐसी लिखने की क्रिया आदि शरीर की चलती हो, समकिती को विषय की वासना और देह की क्रिया चलती हो। आहाहा! मुनि को आहार-विहार का विकल्प और आहार-विहार की क्रिया चलती हो अथवा ये मुनि शास्त्र बनाते हैं न? क्या कहलाता है? ताड़पत्र। वह ताड़पत्र और लिखने की क्रिया भले हो, उसका विकल्प भी हो, परन्तु अन्दर ज्ञानस्वरूप से चलित नहीं होते। यह राग है, उसे मैं करता हूँ और यह क्रिया मेरी है, ऐसा ज्ञानी को नहीं है। आहाहा! ऐसा मार्ग!

निश्चय से वे, बाह्य-क्रियाकर्म के कर्ता नहीं हैं,... अरेरे! रामचन्द्रजी समकिती। सीताजी को रावण ले गया। (राम) जंगल में पूछते हैं, सीता, मेरी सीता। यह सब विकल्प और क्रिया (हो, परन्तु) उनके ज्ञान से चलायमान नहीं है। आहाहा! कठिन काम है, बापू! जहाँ अन्दर ज्ञाता-दृष्टा का स्वभाव प्रतीति में, अनुभव में, ज्ञान में ज्ञेयरूप से जहाँ आया, आहाहा! अब उसमें से चलायमान कैसे हो? चाहे जो राग की प्रवृत्ति हो, देह की प्रवृत्ति हो... आहाहा! चक्रवर्ती समकिती छह खण्ड को साधने निकले, तो भी वह क्रिया; छियानवे करोड़ सैनिक साथ में हो, देव हो, चक्रवर्ती समकिती और कोई तीर्थंकर आदि हो, वह क्रिया भले हो। शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरनाथ चक्रवर्ती थे, तीर्थंकर थे। वे छह खण्ड को साधने निकलें, परन्तु अन्दर में... भाई ने कहा न? भाई! सोगानी। छह खण्ड साधते नहीं, वे तो अखण्ड को साधते हैं। आहाहा! उस समय भी उनकी अखण्ड धारा में

दृष्टि पड़ी है, उसे वे बढ़ाते हैं। आहाहा! मार्ग बहुत अलग प्रकार, भाई! ऊपर आ गया था न? कि **ज्ञानी के परिणामों को जानने की सामर्थ्य अज्ञानी की नहीं है।** ज्ञानी की बात ज्ञानी जाने, बापू! आहाहा! बाहर की प्रवृत्ति से अंकन करने जाए तो अंकन हाथ नहीं आता। आहाहा!

ज्ञान के ही कर्ता हैं। देखो! यह वस्तु। धर्मी तो आनन्द का नाथ प्रभु आत्मा जिसे दृष्टि में आया है, उस ज्ञान और आनन्द की पर्याय का ही वह कर्ता है। आहाहा! उस समय राग और शरीर की क्रिया, वह ज्ञेयरूप है। उसे ज्ञानरूप से जानने की क्रिया करता है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! **अन्तरंग मिथ्यात्व के अभाव से...** अन्तर में राग की एकताबुद्धि का मिथ्यात्व टलने से **यथा-सम्भव कषाय के अभाव से...** यथासम्भव। चौथे में अनन्तानुबन्धी का अभाव, पाँचवें में अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यान का अभाव, छठवें में प्रत्याख्यान का अभाव, इसलिए यथासम्भव कहा है। उस-उस गुणस्थान के योग्य **यथा-सम्भव कषाय के अभाव से उनके परिणाम उज्ज्वल हैं।** आहाहा! **उस उज्ज्वलता को ज्ञानी ही जानते हैं,...** आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात।

मिथ्यादृष्टि उस उज्ज्वलता को नहीं जानते। वह तो बाह्य की क्रिया देखता है। देखो, यह करता है, देखो, यह करता है। करता है नहीं, होती है। आहाहा! उसे भी जानने का काम करता है। आहाहा! **मिथ्यादृष्टि उस उज्ज्वलता को नहीं जानते। मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा हैं,...** बहिर—जिसकी दृष्टि बाह्य के ऊपर है। देह के ऊपर, राग के ऊपर, वाणी के ऊपर। आहाहा! वह तो **वे बाहर से ही भला-बुरा मानते हैं;...** बाहर का त्याग होवे तो वह भला है, बाहर का त्याग न होवे और भोग होवे तो वह बुरा है, ऐसा मानता है। आहाहा! परन्तु बाहर का त्याग नहीं और अन्दर अत्याग में रुकता है, तो भी उसकी दृष्टि में वह नहीं है। धर्मी की दृष्टि तो ज्ञानस्वभाव-ज्ञायकस्वभाव-ध्रुवस्वभाव, नित्यानन्द प्रभु... आहाहा! ऐसे ज्ञायकभाव से धर्मी चलायमान नहीं होता। यह वस्तु है। समझ में आया? आहाहा!

बाहर से ही भला-बुरा मानते हैं; अन्तरात्मा की गति को बहिरात्मा क्या जाने? आहाहा! अन्तर आत्मा की दृष्टि हुई और अन्तर आत्मा प्रगट हुआ, जाना, उसे

बहिरात्मा—बाह्य की प्रवृत्ति और राग को देखनेवाला उसकी (ज्ञानी की) उज्ज्वलता को कैसे जान सके? आहाहा! भारी कठिन बातें! अब वह बाह्य त्याग करके बैठा हो, हजारों रानियाँ छोड़कर, शरीर में वस्त्र का टुकड़ा भी न हो, तथापि अन्तर में राग और वह क्रिया मैं करता हूँ—ऐसी दृष्टि है तो मिथ्यादृष्टि है; और बाह्य में चक्रवर्ती के राज्य में पड़ा दिखायी दे, आहाहा! छियानवें करोड़ सैनिकों के लश्कर में ऐसे हाथी के होदे जाता हो, साथ में लश्कर चलता हो, साथ में स्वयं हाथी के होदे पर बैठा हो। आहाहा! विशाल समुदाय। छियानवें करोड़ मनुष्यों का समुदाय, हाथी के... परन्तु कहते हैं कि वह प्रवृत्ति और उसमें होनेवाला राग, उसका ज्ञान। उसे ज्ञान करता है। वह ज्ञानस्वभाव में से चलायमान नहीं होता। चलायमान होकर राग मेरा है और यह क्रिया मैं करता हूँ—यह दृष्टि उसकी नहीं है। ऐसी बातें! जगत से उल्टी है, बापू! आहाहा! इसलिए ऊपर कहा था न, ज्ञानी की बात ज्ञानी ही जाने, बापू! आहाहा! उस ज्ञानी के परिणाम जानने का सामर्थ्य अज्ञानी को नहीं है। वह तो बाहर के त्याग से माप करता है कि देखो! इसे कहाँ त्याग है? स्त्री का त्याग नहीं, इसका त्याग नहीं; और यह तो त्यागी होकर बैठा है सब। परन्तु त्याग किसका?

यहाँ तो जिसे राग का त्याग करके दृष्टि में स्वभाव का स्वीकार हुआ है, उस सम्यग्दृष्टि की राग की प्रवृत्ति जो दिखायी दे, उसका वह स्वामी नहीं है। उसमें उसकी कर्ताबुद्धि नहीं है। वह मुझसे होती है - ऐसा वह नहीं मानता। आहाहा! और अज्ञानी बाहर की नग्न क्रिया, पंच महाव्रत के परिणाम - वह मेरी क्रिया है, वह मेरा स्वरूप है, उससे मैं त्यागी हूँ, (ऐसा मानता है, तो) मिथ्यादृष्टि है। अरर! अब ऐसी बातें कठिन पड़े।

कलश - १५४

अब, इसी अर्थ का समर्थक और आगामी गाथा का सूचक काव्य कहते हैं:-

(शार्दूलविक्रीडित)

त्यक्तं येन फलं स कर्म कुरुते नेति प्रतीमो वयं,
किन्त्वस्यापि कुतोऽपि किञ्चिदपि तत्कर्मावशेनापतेत्।
तस्मिन्नापतिते त्वकम्प-परम-ज्ञानस्वभावे स्थितो,
ज्ञानी किं कुरुतेऽथ किं न कुरुते कर्मेति जानाति कः।।१५३।।

श्लोकार्थ : [यत् भय-चलत्-त्रैलोक्य-मुक्त-अध्वनि वज्रे पतति अपि] जिसके भय से चलायमान होते हुवे-(खलबलाते हुवे)-तीनों लोक अपने मार्ग को छोड़ देते हैं, ऐसा वज्रपात होने पर भी, [अमी] ये सम्यग्दृष्टि जीव, [निसर्ग-निर्भयतया] स्वभावत: निर्भय होने से, [सर्वाम् एव शंकां विहाय] समस्त शंका को छोड़कर, [स्वयं स्वम् अवध्य-बोध-वपुषं जानन्त:] स्वयं अपने को (आत्मा को) जिसका ज्ञानरूपी शरीर अबध्य है, ऐसा जानते हुए, [बोधात् च्यवन्ते न हि] ज्ञान से च्युत नहीं होते। [इदं परं साहसम् सम्यग्दृष्टय: एव कर्तुं क्षमन्ते] ऐसा परम साहस करने के लिये मात्र सम्यग्दृष्टि ही समर्थ हैं।

भावार्थ : सम्यग्दृष्टि जीव नि:शंकितगुणयुक्त होते हैं, इसलिए चाहे जैसे शुभाशुभ कर्मोदय के समय भी वे ज्ञानरूप ही परिणमित होते हैं। जिसके भय से तीनों लोक के जीव काँप उठते हैं-चलायमान हो उठते हैं और अपना मार्ग छोड़ देते हैं, ऐसा वज्रपात होने पर भी सम्यग्दृष्टि जीव अपने स्वरूप को ज्ञानशरीरी मानता हुआ ज्ञान से चलायमान नहीं होता। उसे ऐसी शंका नहीं होती कि इस वज्रपात से मेरा नाश हो जाएगा; यदि पर्याय का विनाश हो तो ठीक ही है क्योंकि उसका तो विनाशीक स्वभाव ही है।।१५४।।

कलश - १५४ पर प्रवचन

अब, इसी अर्थ का समर्थक और आगामी गाथा का सूचक काव्य कहते हैं:- १५४।

त्यक्तं येन फलं स कर्म कुरुते नेति प्रतीमो वयं,
किन्त्वस्यापि कुतोऽपि किञ्चिदपि तत्कर्मावशेनापतेत्।
तस्मिन्नापतिते त्वकम्प-परम-ज्ञानस्वभावे स्थितो,
ज्ञानी किं कुरुतेऽथ किं न कुरुते कर्मेति जानाति कः।।१५३।।

[**यत् भय-चलत्-त्रैलोक्य-मुक्त-अध्वनि वज्रे पतति अपि**] **जिसके भय से चलायमान होते हुवे-(खलबलाते हुवे)-तीनों लोक अपने मार्ग को छोड़ देते हैं...** आहाहा! भय में आ जाए। जहाँ उपसर्ग पड़े, देखो न, यह पानी का सब। आहाहा! मुनि को भी समुद्र में—पानी में डाले। उन्हें कुछ छूता ही नहीं। आहाहा! अज्ञानी उसमें से (मार्ग) छोड़ देता है। अरे! हमें यह दुःख आ पड़े, हमें परीषह आ पड़े। अपने आत्मधर्म से छूट जाता है।

ऐसा वज्रपात... सिर पर वज्रपात गिरे। आहाहा! जिसके शरीर के घुन जल जाए, ऐसा वज्रपात पड़ने पर भी **ये सम्यग्दृष्टि जीव,..** आहाहा! भाई! सम्यग्दृष्टि क्या चीज़ है, यह (तुझे खबर नहीं)। अभी तो कितने ही ऐसा कहते हैं कि निश्चय समकित है, वह जानने में नहीं आता, इसलिए अपने सब व्यवहार करते हैं, वह बराबर है, जाओ! आहाहा! वह सम्यग्दृष्टि जानने में नहीं आता, ऐसा तू कहता है, वह (ही बताता है कि) तू मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! क्या हो?

यहाँ कहते हैं कि **सम्यग्दृष्टि जीव,** [**निसर्ग-निर्भयतया**] **स्वभावतः... 'निसर्ग-निर्भयतया'** आहाहा! जिसे आनन्द का नाथ वज्रबिम्ब चैतन्य का जिसे अन्तर अनुभव और ज्ञान हुआ, वह सम्यग्दृष्टि ऊपर से वज्रपात गिरे, अन्दर से अग्नि से धारा बहे... आहाहा! (तथापि) **स्वभावतः निर्भय होने से,...** धर्मी तो स्वभाव से निर्भय है। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, मेरे किले में राग का प्रवेश नहीं तो मेरे किले में परीषह का प्रवेश (तो है ही नहीं)। दुर्ग-किला मेरा नाथ। आहाहा! सूक्ष्म बात, भाई! आहाहा!

धर्मी जीव तो उसे कहते हैं कि जिसे आत्मज्ञान हुआ है और जिसे सम्यग्दर्शन, ज्ञान के साथ प्रगट हुआ है, ऐसा जीव वज्र के घन सिर पर पड़ते हों, तो भी स्वभाव से निर्भय है। उसका स्वभाव ही निर्भय है। आहाहा! है? **'निसर्ग-निर्भयतया'** आहाहा! अब आठ आचार लेने हैं, उसका यह उपोद्घात है। समकित के आठ आचार है न? समकिती

स्वभावतः निर्भय होने से, [सर्वाम् एव शंकां विहाय] समस्त शंका को छोड़कर,... अरे! मुझे कुछ होता है—ऐसी शंका छोड़ दी है। तुझे कुछ नहीं होता। यह तो आनन्द का नाथ है। जैसे वज्र में सुई का प्रवेश नहीं; वैसे मेरे स्वरूप में राग और क्रिया का प्रवेश नहीं। ऐसा स्वभाव से निर्भय समकिती है। आहाहा! ऐसी बात है।

समस्त शंका को छोड़कर, [स्वयं स्वम् अवध्य-बोध-वपुषं जानन्तः] स्वयं अपने को... 'स्वयं' अर्थात् स्वयं **'स्वम्'** अर्थात् आत्मा को। **जिसका ज्ञानरूपी... 'अवध्य-बोध-वपुषं जानन्तः'** मेरा तो ज्ञानरूपी शरीर है। ज्ञानरूपी शरीर, वह मैं हूँ। राग नहीं, शरीर नहीं। आहाहा!

ज्ञानरूपी शरीर... यह शरीर। यह (जड़) शरीर नहीं। जाननस्वभाव का पिण्ड प्रभु, वह ज्ञानरूपी शरीर। आहाहा! अबध्य है। वह ज्ञानरूपी शरीर अबध्य है। किसी से घाता जा सके, ऐसा नहीं है। आहाहा! इस शरीर को घाते या न घाते, वह तो जड़ की क्रिया है। मेरा जो शरीर ज्ञान-आनन्दस्वरूप का पुंज प्रभु, वह ज्ञान मेरा शरीर है। जानपना स्वभाव, ज्ञायक। आहाहा! उसे कोई घातने में (समर्थ नहीं)। घाता नहीं जा सके, ऐसा है वह। आहाहा! है न? **'वपु... वपु'** है न? **'अवध्य-बोध-वपुषं जानन्तः'** मेरा ज्ञानस्वभाव शरीर, वह किसी से घाता नहीं जा सकता, ऐसा मेरा शरीर है। वह चैतन्यशरीरी मैं शरीर हूँ। आहाहा! ऐसी बातें (छोड़कर) बाहर की प्रवृत्ति में रुक गये। मूल बात रह गयी। आहाहा!

ज्ञान से च्युत नहीं होते। किस प्रकार? ऐसा जानते हुए। मेरा ज्ञानरूपी शरीर घाता नहीं जा सकता, ऐसा है। ऐसा जानते हुए, ऐसा जानते हुए। आहाहा! मैं हूँ, वह तो ज्ञानरूपी शरीर, वह मैं हूँ। राग और शरीर, वह तो मेरी चीज़ में है ही नहीं और वह मैं नहीं। मैं तो ज्ञान ज्ञायकरूपी चैतन्यशरीर, वह मैं; वह किसी से घाता जा सके, ऐसा नहीं है। मेरा किला—दुर्ग—किला है। जिसमें विकल्प और शरीर की क्रिया का प्रवेश नहीं है। आहाहा! जैसे बड़े पत्थर का किला हो तो उसमें प्रवेश नहीं होता; वैसे ही मेरा नाथ चैतन्य भगवान दुर्ग किला, उसमें राग और क्रिया का प्रवेश नहीं है। आहाहा! अरे! ऐसी बातें।

आठ वर्ष की बालिका भी यदि सम्यग्दर्शन प्राप्त करे तो उसे इस ज्ञान में से चलित वह वस्तु नहीं है। भले वह विवाह करे, आहाहा! तो भी वह विवाह का राग और उस क्रिया

में मैं हूँ, (ऐसा नहीं है)। मेरा स्वरूप तो ज्ञान है, उसमें से चलित नहीं होता। आहाहा! भगवान चिदानन्द सच्चिदानन्द प्रभु, वह मेरा शरीर है, वह मैं हूँ। ऐसे स्वभाव में पर का प्रवेश और पर का भय कुछ है ही नहीं। आहाहा! इसलिए **ज्ञान से च्युत नहीं होते।** अबध्य मेरा स्वरूप है, ऐसा जानते हुए। पर से, राग से और क्रिया से न घात हो, ऐसा मेरा प्रभु का स्वभाव है। आहाहा! ऐसा जानते हुए। जानते हुए, **ज्ञान से च्युत नहीं होते।** आहाहा!

श्रेणिक राजा। सिर फोड़ा, हीरा चूसा तो भी ज्ञान से चलायमान नहीं। अरेरे! यह तो राग का भाव आया और देह की क्रिया ऐसी हुई। वह मेरा चैतन्यशरीर है, उसमें यह नहीं हुआ, यह मुझे नहीं हुआ। इस प्रकार ज्ञान से चलायमान ऐसे प्रसंग में भी वह ज्ञान से चलायमान नहीं होता। आहाहा!

मुनियों को घानी में पेले। आहाहा! परन्तु वह स्वयं ज्ञानस्वरूपी मेरा नाथ, उसमें से वे चलायमान नहीं होते। आहाहा! उनकी दृष्टि द्रव्यस्वभाव पर पड़ी है। आहाहा! ज्ञायकस्वभाव, ज्ञायकस्वभाव, ज्ञायकस्वभाव—ऐसा मेरा परमेश्वरस्वरूप, उसमें दृष्टि होने से संयोग के चाहे जैसे प्रसंग बनो, परन्तु उस ज्ञानस्वरूपी से चलायमान नहीं होता। आहाहा! ऐसी बात है। यहाँ तो जरा अनुकूलता मिले, वहाँ प्रसन्न-प्रसन्न हो जाए; प्रतिकूलता मिले, वहाँ खेद करे। वह तो स्वयं ज्ञान से चलायमान हो गया है। आहाहा!

सनतकुमार चक्रवर्ती, छियानवे करोड़ सैनिक, छियानवे हजार स्त्रियाँ छोड़कर मुनि हुए। अन्दर के आनन्द के कन्द में जाकर मुनि हुए। उन्हें सात सौ वर्ष गलित कोढ़ (हुआ)। शरीर की अँगुलियाँ गलती जाए, (तो भी) ज्ञानस्वरूप से चलायमान नहीं। आहाहा! उस क्रिया का तो मैं जाननेवाला हूँ। वह भी उसे जाननेवाला हूँ, (ऐसा) कहना वह भी व्यवहार है। मैं तो उस सम्बन्धी का मेरा ज्ञान और मेरे सम्बन्धी का मेरा ज्ञान, उसे मैं जाननेवाला हूँ। उससे चलायमान नहीं होता। आहाहा!

[इदं परं साहसम् सम्यग्दृष्टयः एव कर्तुं क्षमन्ते] ऐसा परम साहस करने के लिये मात्र सम्यग्दृष्टि ही समर्थ हैं। आहाहा! राग को अपना माननेवाला और राग की क्रिया से धर्म माननेवाला ऐसे मिथ्यादृष्टि की यह ताकत नहीं है। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बातें हैं, भाई! आहाहा! जिसे निर्लेप ज्ञायकभाव भगवान विराजता है देह में प्रभु, आहाहा! उसका जिसे आदर और स्वभाव का सत्कार हुआ, आहाहा! ऐसा परमात्मा

परमेश्वरस्वरूप, वह मैं हूँ—ऐसा जिसे भान हुआ, उसे बाहर से चलायमान हो, ऐसी कोई चीज़ नहीं है। आहाहा!

भावार्थ : सम्यग्दृष्टि जीव निःशंकितगुणयुक्त होते हैं... निर्भय कहना है न? निःशंकित कहो या निर्भय कहो। आहाहा! **सम्यग्दृष्टि जीव निःशंकितगुणयुक्त होते हैं...** सम्यक्... सीताजी सम्यग्दृष्टि थीं। (राम कहते हैं), परीक्षा दो, तुम रावण के घर में रही हो, लोक में क्या (कहलाये), हमें अभी राज करना है। लोग क्या कहें? परीक्षा दो, एक बार अग्नि में गिरो। आहाहा! परन्तु वहाँ स्वरूप से चलायमान नहीं होतीं। शरीर अग्नि में झुकाया परन्तु वहाँ ज्ञानस्वरूप से चलायमान नहीं है। आहाहा! वह तो पूर्व का पुण्य था वह और... वह पुण्य था, वह, हों! वर्तमान ब्रह्मचर्य के कारण हुआ, यह आरोप से कथन है। वह तो पूर्व का पुण्य था, उसके कारण हुआ, इस ब्रह्मचर्य से हुआ—ऐसा कहने में आता है। यह चरणानुयोग की पद्धति है। आहाहा! बाकी तो उनका ब्रह्मचर्य और उनका सम्यग्दर्शन... आहाहा! उसके जोर में अग्नि में साहस से कूद पड़े... तो भी कहते हैं, तब ज्ञान से चलायमान नहीं थीं। मैं तो ज्ञातादृष्टा हूँ। होती है, उस क्रिया का जाननेवाला मुझमें रहकर (जानता हूँ)। आहाहा! देखो! यह सम्यग्दृष्टि का साहस। है न?

ऐसा परम साहस करने के लिये... आहाहा! वैसे तो रामचन्द्रजी को खबर थी (कि) सीताजी सती है, परन्तु बाह्य में रावण के घर में गयी (तो) लोग क्या कहें? यह लौकिक के लिये (परीक्षा की)। वे भी समकिती हैं। उन्हें उस प्रकार का राग आया। चलो, सीताजी! जब अग्नि में गिरकर बाहर आयीं, तब कहते हैं, चलो सीताजी! अब मैं तुम्हें पटरानी बनाता हूँ। (तब सीताजी कहती है), बस हो गया। संसार बस हुआ। आहाहा! अब मैं पटरानीरूप से आना नहीं चाहती। पंचम गुणस्थान अंगीकार करके साध्वी होती हैं। साध्वी अर्थात् छठवें गुणस्थान में साध्वी, वह नहीं, आर्यिका पंचम गुणस्थान। अग्नि में गिरकर बाहर आयीं... यह तो परीषह से पार उतरे। चलो अब तुम्हें (पटरानी बनाऊँ)। बस हुआ। रामचन्द्रजी! बस हो गया, संसार की स्थिति। अब हम वहाँ आनेवाले नहीं हैं। जहाँ हम हैं, वहाँ जानेवाले हैं। आहाहा! रामचन्द्रजी बलदेव जैसे पुरुष, उस भव में मोक्षगामी हैं। आहाहा! और सीताजी एक भव करके फिर गणधर होनेवाले हैं। तीर्थंकर के गणधर होनेवाली हैं। रावण तीर्थंकर होगा और यह (उनकी गणधर होंगी)। आहाहा! परिणाम की

विचित्रता है। आहाहा! वह सीताजी ऐसे जंगल में चल निकलती हैं। साध्वी-आर्यिकायें हैं, उनके निकट जाती हैं। माता! मुझे आर्यिका बनाओ। वह राज पूरा था तो भी मेरा नहीं और छूटे तो भी मेरा होता नहीं। आहाहा! मार्ग बहुत सूक्ष्म, बापू! आहाहा!

ऐसा परम साहस करने के लिये मात्र सम्यग्दृष्टि... मिथ्यादृष्टि का भार नहीं। भले परीषह सहन करे, उपसर्ग सहन करे... आहाहा! परन्तु दृष्टि जहाँ मिथ्यात्व है, राग की क्रियाएँ मेरी हैं और मुझे उनसे धर्म होता है, यह मिथ्यादृष्टि का काम नहीं है, बापू! आहाहा! मुनि और मिथ्यादृष्टि हो तो भी उसका यह काम नहीं है। और सम्यग्दृष्टि तथा संसार में हो तो भी उसका यह साहस, काम है। आहाहा! मेरुपर्वत पवन से हिलता नहीं, कम्पायमान नहीं होता। इसी प्रकार मेरा प्रभु, ध्रुव चिदानन्द प्रभु, आहाहा! वह बाहर के उपसर्ग और परीषह से चलायमान नहीं होता। आहाहा! ऐसा सम्यग्दृष्टि का साहस और स्वरूप निसर्ग से है। निसर्ग अर्थात् स्वभाव से, यह आया था न? निसर्ग निर्भय है, स्वभाव से निर्भय है। भय होता अवश्य है थोड़ा, परन्तु वह अस्थिरता का होता है। अन्तर में निर्भय है। आहाहा! गाँव में प्लेग आया हो, पूरा गाँव खाली होता हो तो स्वयं भी बाहर निकल जाए।

मुमुक्षु : पहले निकले।

पूज्य गुरुदेवश्री : पहले भी निकले। इससे कहीं उसे पर का डर है, (ऐसा नहीं है)। अस्थिरता में जरा आया, परन्तु तो भी उस अस्थिरता का भी जाननेवाला है। आहाहा! ऐसा स्वरूप, बापू! जिसे बड़े का सहारा मिला, उसे छोटा कौन गंजी सके? आहाहा!

भावार्थ : सम्यग्दृष्टि जीव निःशंकितगुणयुक्त होते हैं, इसलिए चाहे जैसे शुभाशुभ कर्मोदय... आहाहा! अन्दर में शुभ-अशुभभाव या बाहर में शुभ-अशुभ का संयोग प्रतिकूल (हो), आहाहा! उस **समय भी वे ज्ञानरूप ही परिणमित होते हैं।** रागरूप या पररूप से वह परिणमित नहीं होता। आहाहा! **चाहे जैसे शुभाशुभ कर्मोदय के समय भी वे ज्ञानरूप...** आत्मस्वरूप से **ही परिणमित होते हैं। जिसके भय से तीनों लोक के जीव काँप उठते हैं...** जिसके भय से तीन लोक के जीव भागें, डरें, **काँप उठते हैं...** आहाहा! हजारों काले नाग ऐसे जंगल में से बाहर आते हों। स्वयं निकले हों। दूसरे शोर मचा जाएँ। उस काल में ज्ञानस्वरूप से चलायमान नहीं है। काले नाग ऐसे सैकड़ों दिखायी दे, (तो भी) उसे मैं ज्ञान चैतन्यमूर्ति हूँ, वह मेरु पवन से हिले तो मेरा आत्मा पर

से हिले। आहाहा! ऐसी बात है। अब वह सम्यग्दृष्टि की बात तो पूरी छोड़ दी। यह सम्यग्दर्शन निश्चय है, अपने को खबर नहीं पड़ती, इसलिए अपने यह सब व्यवहार करो, वह मुनिपना। अरर!

मुमुक्षु : व्यवहार, वह तो राग है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो राग है। वह राग की क्रिया भी समकित बिना की। आहाहा! वह तो सब मिथ्यात्वसहित है। आहाहा!

जिसके भय से तीनों लोक के जीव काँप उठते हैं–चलायमान हो उठते हैं और अपना मार्ग छोड़ देते हैं, ऐसा वज्रपात होने पर भी सम्यग्दृष्टि जीव अपने स्वरूप को ज्ञानशरीरी मानता हुआ... मैं तो भगवान ज्ञानस्वरूप हूँ। वह ज्ञानस्वरूप मेरा शरीर है। यह (जड़) शरीर मैं नहीं, राग मैं नहीं। आहाहा! संयोग मुझे स्पर्श करते ही नहीं। आहाहा! संयोग मुझे छूते भी नहीं। आहाहा! अरूपी ऐसा ज्ञानस्वभाव भगवान, जिसे अन्तर में अनुभव में, जानने में आया, कहते हैं कि मेरे ज्ञानशरीर को अब कोई वज्रपात की चोट लागू पड़े, यह है नहीं। अग्नि के अंगार ऊपर से गिरते हों तो भी मुझे वे नुकसान करते हैं, ऐसा है नहीं। मैं तो ज्ञानस्वरूप परिणमनेवाला हूँ। उस समय वह अग्नि की क्रिया और उस समय जरा राग हुआ, उन दोनों को मैं ज्ञेयाकाररूप से ज्ञानपने परिणमनेवाला, वह मैं हूँ। आहाहा! ऐसी शर्तें हैं, प्रभु! आहाहा!

उसे ऐसी शंका नहीं होती कि इस वज्रपात से मेरा नाश हो जाएगा;... आहाहा! **यदि पर्याय का विनाश हो तो ठीक ही है...** वह तो नाश होनेयोग्य है। मैं तो अविनाशी हूँ। आहाहा! तीनों काल मैं तो अविनाशी और यह तीनों काल नाशवान। आहाहा! दोनों का, मुझे और उसे कुछ मेल नहीं है। आहाहा! भाई! सम्यग्दर्शन धर्म की पहली सीढ़ी अलौकिक है। लोग साधारण रीति से मान बैठे, वह वस्तु नहीं है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! **पर्याय का विनाश हो तो ठीक ही है क्योंकि उसका तो विनाशीक स्वभाव ही है।** मेरा प्रभु तो अविनाशी स्वभाव से है। आहाहा! उसे आँच नहीं लगती। आहाहा! मेरुपर्वत... आता है न उस भक्तामर में, नहीं? भक्तामर में आता है। ऐसा कि संवर्तक हवा चले तो भी मेरु हिलता नहीं। इसी प्रकार बाहर की प्रतिकूलता के ढ़ेर हों, और अनुकूलता के ढ़ेर हों तो भी ज्ञानी ज्ञान से चलित नहीं होता। आहाहा! ऐसा स्वरूप है।

गाथा - २२८

सम्माद्दिट्ठी जीवा णिस्संका होंति णिब्भया तेण।
सत्तभयविप्पमुक्का जम्हा तम्हा दु णिस्संका।।२२८।।

सम्यग्दृष्टयो जीवा निश्शङ्का भवन्ति निर्भयास्तेन।
सप्तभयविप्रमुक्ता यस्मात्तस्मात्तु निश्शङ्काः।।२२८।।

येन नित्यमेव सम्यग्दृष्टयः सकलकर्मफलनिरभिलाषाः सन्तोऽत्यन्तकर्मनिरपेक्षतया वर्तन्ते, तेन नूनमेते अत्यन्तनिश्शङ्कदारुणाध्यवसायाः सन्तोऽत्यन्तनिर्भयाः सम्भाव्यन्ते।।२२८।।

अब इस अर्थ को गाथा द्वारा कहते हैं:-

सम्यक्ति जीव होते निःशंकित इसहि से निर्भय रहें।
हैं सप्तभयप्रविमुक्त वे, इसही से वे निःशंक हैं।।२२८।।

गाथार्थ : [सम्यग्दृष्टयः जीवाः] सम्यग्दृष्टि जीव [निश्शंकाः भवंति] निःशंक होते हैं, [तेन] इसलिए [निर्भया] निर्भय होते हैं; [तु] और [यस्मात्] क्योंकि वे [सप्तभय-विप्रमुक्ताः] सप्त भयों से रहित होते हैं, [तस्मात्] इसलिए [निःशंकाः] निःशंक होते हैं (-अडोल होते हैं)।

टीका : क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव सदा ही सर्व कर्मों के फल के प्रति निरभिलाष होते हैं, इसलिए वे कर्म के प्रति अत्यन्त निरपेक्षतया वर्तते हैं, इसलिए वास्तव में वे अत्यन्त निःशंक दारुण (सुदृढ़) निश्चयवाले होने से अत्यन्त निर्भय हैं, ऐसी सम्भावना की जाती है (अर्थात् ऐसा योग्यतया माना जाता है)।

गाथा - २२८ पर प्रवचन

अब इस अर्थ को गाथा द्वारा कहते हैं:-

सम्माद्दिट्ठी जीवा णिस्संका होंति णिब्भया तेण।
सत्तभयविप्पमुक्का जम्हा तम्हा दु णिस्संका।।२२८।।

सम्यक्ति जीव होते नि:शंकित इसहि से निर्भय रहें।
हैं सप्तभयप्रविमुक्त वे, इसही से वे नि:शंक हैं।।२२८।।

टीका : क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव सदा ही सर्व कर्मों के फल के प्रति निरभिलाष होते हैं... आहाहा! जिसे आत्मा सत्साहेब परमात्मा का ज्ञान होकर प्रतीति में आया है, आहाहा! जिसका नमूना भी पर्याय में आया है। आहाहा! वीर्य, ज्ञान, आनन्द, शान्ति ऐसे अंश जिसे प्रगट हुए हैं। आहाहा! यह तो नमूना है, पूरी चीज़ तो पूरी है। आहाहा! ऐसी बातें बहुत (कठिन है)।

क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव सदा ही सर्व... सदा ही, सदा ही और सर्व **कर्मों के फल के प्रति निरभिलाष होते हैं...** आहाहा! देखो! जिसे आत्मज्ञान और दर्शन हुए, वह सम्यग्दृष्टि जीव सदा ही और सर्व कर्म। चाहे तो जड़कर्म का फल अनेक प्रकार के अन्दर रागादि आवे और संयोग के (फल आवें)। घातिकर्म का फल अन्दर में घात हो, ऐसे जरा रागादि परिणाम आवे और अघाति का फल संयोग आवे। दो प्रकार के कर्म है न? घाति और अघाति। तो इस ओर जरा रागभाव आवे, घाति के निमित्त से तथा इस ओर अघाति के कारण से संयोग आवे। आहाहा! वह **सर्व कर्मों के फल...** अघाति का फल और घाति का फल। आहाहा!

सर्व कर्मों के फल के प्रति निरभिलाष होते हैं... जिसे पर की अभिलाषा टल गयी है। आहाहा! जिसे ज्ञानानन्दस्वभाव के प्रति प्रयत्न चालू है। आहाहा! जिसका प्रयत्न अन्दर में ढल गया है। आहाहा! ऐसी व्याख्या। ऐसे सर्व और सदा। किसी भी काल में और सर्व कर्म फल, उसमें निराभिलाषी होने से **कर्म के प्रति अत्यन्त निरपेक्षतया वर्तते हैं,...** आहाहा! यह राग और बाहर की क्रिया, अघाति के संयोग की, आहाहा! उन सर्व

कार्य के प्रति **अत्यन्त निरपेक्षतया वर्तते हैं,...** अत्यन्त निरपेक्ष (अर्थात्) जिसकी संयोग की और राग की अपेक्षा नहीं है। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, सम्यग्दृष्टि से लेकर ज्ञानी कहना। तब वे कहते हैं कि निर्विकल्प ध्यान हो तो ही ज्ञानी कहना। उसमें से छूटे तो ज्ञानी नहीं कहना। अरे! प्रभु! तुझे क्या करना है? आहाहा! सब आचरण और बाहर की क्रिया है और उसमें स्वयं को चारित्र मनवाना है। आहाहा! और जब चारित्र अच्छा पूरा आवे, तब फिर उसे निश्चय समकित हो। आहाहा! ऐसा करते हैं।

क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव सदा ही सर्व कर्मों के फल के प्रति... साता का हो या असाता का हो, घाति का हो या अघाति का हो, अन्तराय का फल हो या नामकर्म का बाह्य संयोग हो, यशकीर्ति इत्यादि, सबके प्रति निरभिलाषी है। आहाहा! यशकीर्ति कर्म का उदय आया (तो) यश... यश... यश (हुआ), परन्तु धर्मी को उसकी अभिलाषा नहीं है। अपयशकीर्ति का उदय आया (तो) बाह्य में अपयश होने पर भी उसकी अभिलाषा नहीं है। आहाहा! यह मेरा अपयश करता है, ऐसा वह नहीं मानता। आहाहा! मेरा स्वरूप उसने देखा नहीं और मेरा अपयश किस प्रकार करे? आहाहा! समझ में आया? आहाहा! उसको तो अन्दर (ऐसा होता है कि) बाहर प्रसिद्ध होऊँ, बाहर कहे, लोग मानें, तब मेरा सम्यग्दर्शन सिद्ध हो। यह सब अन्दर भ्रान्ति है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, आहाहा! दोनों कर्म के प्रति। यशकीर्ति का उदय ढ़ेर आवे, अपयश का (उदय आवे)। आहाहा! ऐसे **फल के प्रति निरभिलाष होते हैं...** उसे उनकी अभिलाषा नहीं है। **कर्म के प्रति अत्यन्त निरपेक्षतया...** अत्यन्त निरपेक्षरूप से। कुछ अपेक्षा ही नहीं। यश का-इज्जत का ढ़ेर हो, अपयश का महापुंज आवे बाहर में। आहाहा! (दोनों के प्रति) अत्यन्त निरपेक्ष है। आहाहा! **इसलिए वास्तव में वे अत्यन्त निःशंक दारुण (सुदृढ़) निश्चयवाले...** दृढ़ निश्चयवाला। दारुण का अर्थ यह किया—दृढ़। आहाहा! मैं तो आनन्द और ज्ञानस्वरूप हूँ, ऐसे दृढ़ निश्चयवाला। अर्थात् कोई बाहर की क्रिया में अनुकूलता—प्रतिकूलता मुझे है, वह नहीं मानता। आहाहा! जरा सूक्ष्म बात है। सम्यग्दर्शन किसे कहना और उसके भाव में ज़्या हो? आहाहा! (उसकी बात है)।

अत्यन्त नि:शंक, दृढ़ निश्चय होने से। आहाहा! **अत्यन्त निर्भय हैं,...** देखा! अत्यन्त निरपेक्षरूप से वर्तता है, अत्यन्त नि:शंक होने से अत्यन्त निर्भय है। तीनों को 'अत्यन्त' शब्द प्रयोग किया है। है? आहाहा! कर्म के प्रति निरपेक्षरूप से वर्तता है, ऐसा नहीं लिया। वे नि:शंक हैं, ऐसा नहीं लिया, वे निर्भय हैं, इतना अकेला नहीं लिया। आहाहा!

प्रत्येक घाति-अघाति के फल में अत्यन्त निरपेक्षरूप से... आहाहा! और अत्यन्त नि:शंक निश्चयवाला। नि:शंक निर्भय निश्चयवाला। ऐसे **होने से अत्यन्त निर्भय हैं,...** अकेला निर्भय नहीं लिया, अत्यन्त निर्भय है, (ऐसा कहा)। आहाहा! अब ऐसा स्वरूप। यहाँ तो बाहर की क्रिया करे (तो) माने कि समकिती हैं, हो गया चारित्र। अरे! प्रभु! ज़्या हो? भाई! आहाहा!

ऐसी सम्भावना की जाती है (अर्थात् ऐसा योग्यतया माना जाता है)। ऐसा कहते हैं। अत्यन्त दृढ़ निश्चयवाला है और अत्यन्त निर्भय है। आहाहा! **ऐसी सम्भावना...** है न शब्द? (अर्थात्) **ऐसा योग्यतया माना जाता है।** ऐसी उसकी योग्यता ही ऐसी है, कहते हैं। आहाहा! यह नि:शंक की व्याख्या में पहला शब्द लिया है न।

अब सात भयों के कलशरूप काव्य... सात भय है न? उनसे निर्भय है, ऐसे बताने के लिये सात भयों की व्याख्या करते हैं। **सात भयों के कलशरूप काव्य कहे जाते हैं, उसमें से पहले इहलोक और परलोक के भयों का एक काव्य कहते हैं:-** सात में छह काव्य हैं। उसमें इसलोक और परलोक का काव्य है और फिर पाँच के भिन्न हैं। पाँच के एक-एक कलश हैं, इन (दो का) एक कलश है। यह विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

कलश - १५५

अब सात भयों के कलशरूप काव्य कहे जाते हैं, उसमें से पहले इहलोक और परलोक के भयों का एक काव्य कहते हैं:-

(शार्दूलविक्रीडित)

लोकः शाश्वत एक एष सकलव्यक्तो विविक्तात्मन-
श्चिल्लोकं स्वयमेव केवलमयं यल्लोकयत्येककः।
लोकोऽयं न तवापरस्तदपरस्तस्यास्ति तद्भीः कुतो,
निश्शङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति।।१५५।।

श्लोकार्थ : [एषः] यह चित्स्वरूप लोक ही [विविक्तात्मनः] भिन्न आत्मा का (पर से भिन्नरूप परिणमित होते हुए आत्मा का) [शाश्वतः एकः सकल-व्यक्तः लोकः] शाश्वत, एक और सकलव्यक्त (-सर्व काल में प्रगट) लोक है; [यत्] क्योंकि [केवलम् चित्-लोकं] मात्र चित्स्वरूप लोक को [अयं स्वयमेव एककः लोकयति] यह ज्ञानी आत्मा स्वयमेव एकाकी देखता है-अनुभव करता है। यह चित्स्वरूप लोक ही तेरा है, [तद्-अपरः] उससे भिन्न दूसरा कोई लोक-[अयं लोकः अपरः] यह लोक या परलोक- [तव न] तेरा नहीं है, ऐसा ज्ञानी विचार करता है, जानता है, [तस्य तद्-भीः कुतः अस्ति] इसलिए ज्ञानी को इस लोक का तथा परलोक का भय कहाँ से हो? [सः स्वयं सततं निश्शंकः सहजं ज्ञानं सदा विन्दति] वह तो स्वयं निरन्तर निःशंक वर्तता हुआ सहज ज्ञान का (अपने ज्ञानस्वभाव का) सदा अनुभव करता है।

भावार्थ : 'इस भव में जीवन पर्यन्त अनुकूल सामग्री रहेगी या नहीं?' ऐसी चिन्ता रहना इहलोक का भय है। 'परभव में मेरा क्या होगा?' ऐसी चिन्ता का रहना परलोक का भय है। ज्ञानी जानता है कि-यह चैतन्य ही मेरा एक, नित्य लोक है, जो कि सदाकाल प्रगट है। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई लोक मेरा नहीं है। यह मेरा चैतन्यस्वरूप लोक किसी के बिगाड़े नहीं बिगड़ता। ऐसा जाननेवाले ज्ञानी के इस लोक का अथवा परलोक का भय कहाँ से हो? कभी नहीं हो सकता। वह तो अपने को स्वाभाविक ज्ञानरूप ही अनुभव करता है।।१५५।।

प्रवचन नं. ३०२, श्लोक-१५५-१५६, मंगलवार, भाद्र शुक्ल १३
दिनाङ्क ०४-०९-१९७९

आज नौवां दिन है न? दसलक्षणी पर्व का नौवाँ आकिंचन धर्म। जिसका मोह सर्वथा गल गया है। आंकिचन किसे होता है? मुनि। मुनि किसे कहा जाता है? आहाहा! जिसे सर्वथा मोह गल गया है। अपने आत्मा के हित में निरन्तर लगे रहते हैं। अपना आनन्दस्वरूप भगवान, उसमें निरन्तर आनन्द में लगे रहते हैं, वे मुनि हैं। उन्हें आकिंचन धर्म होता है और सुन्दर चारित्र के धारण करनेवाले। अन्तर आनन्दस्वरूप भगवान अतीन्द्रिय आनन्द में रमनेवाला, चारित्र अर्थात् अन्तर चरनेवाले। अन्तर आनन्दस्वरूप में चरनेवाला चारित्र। उसे चारित्र कहते हैं।

वह और घर, स्त्री, पुत्रादि छोड़कर मोक्ष के लिये दीक्षा, चारित्र धारण किया है। अपने स्वरूप की दृष्टि और रमणता में लीन होने के लिये चारित्र ग्रहण किया है। वे मुनि संसार में विरले हैं। वे मुनि तो संसार में विरले हैं। उसमें अभी तो क्या मुनिपना है? सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र विरल है। जो स्वतः निज हितार्थ तप करते हैं, चारित्र धारण किया है। तप में मुनिपना। तप कल्याणक आता है न? देह से, राग से भिन्न अपने स्वरूप का अनुभव करके उसमें लीन होने की दशा प्रगट की है। दूसरों के लिये शास्त्र आदि दान करते हैं, उनके सहायक भी हैं, ऐसे योगीश्वर संसार में अत्यन्त दुर्लभ हैं। पहले तो चारित्रवन्त दुर्लभ हैं परन्तु उसमें भी पर को कोई शास्त्र आदि का दान दे, राग का त्याग करके (दान दे), वह तो बहुत दुर्लभ है, ऐसा कहते हैं।

समस्त शास्त्र के जाननेवाले वीतराग ने अपने आत्मा से समस्त वस्तुओं को भिन्न जानकर सबका त्याग कर दिया। ऐसा कहो या सबको छोड़ा तो शरीर, पुस्तकादि क्यों नहीं छोड़े? उसका उत्तरः—शरीर आदि में किसी प्रकार की ममता नहीं होती। आहाहा! यह दसलक्षणी पर्व चारित्र का पर्व है। चारित्र, वह कोई क्रियाकाण्ड, नग्नपना या पंच महाव्रत के परिणाम वे कोई चारित्र नहीं हैं। आहाहा! अन्तर भगवान आनन्दस्वरूप प्रभु का अनुभव करके अन्तर में लीन होना, वह चारित्र है। इसलिए उसे मौजूद नहीं है। उसे शरीरादि है तो भी नहीं है। उनके प्रति ममता नहीं है। आहाहा!

आकिंचन है न? किंचन मात्र पर का ममत्व नहीं। यह शरीर और पुस्तक होवे तो भी उसका ममत्व नहीं और बिना आयु से शरीर का नाश तो होता नहीं, परन्तु वे शरीरादि में किसी भी प्रकार का ममत्व नहीं करते। यदि शरीरादि में किसी प्रकार का ममत्व करे तो वह जिनेन्द्र आज्ञा भंगरूप महादोष का भागी होता है। आहाहा! मुनि शरीर की ममता तो करते नहीं परन्तु पुस्तकादि मिले, वह मेरी है, ऐसी ममता नहीं करते। आहाहा! ऐसी बात है, भाई! मुनिपना आकिंचनपना वह कोई अलौकिक बात है। आहाहा! उस आकिंचन की बात हुई। अब अपने १५५ कलश है न?

समयसार १५५ कलश।

लोकः शाश्वत एक एष सकलव्यक्तो विविक्तात्मन–
श्चिल्लोकं स्वयमेव केवलमयं यल्लोकयत्येककः।
लोकोऽयं न तवापरस्तदपरस्तस्यास्ति तद्धीः कुतो,
निश्शङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति।।१५५।।

धर्मी उसे कहते हैं कि जिसे राग से भिन्न अपने आत्मा की दृष्टि और अनुभव हुआ हों। आहाहा! कोई बाह्य की क्रिया करता है, इसलिए धर्मी है, ऐसा नहीं है। आहाहा! अन्तर में आत्मा का अनुभव करता है। राग से, विकल्प से, शरीर से भिन्न होकर आत्मा आनन्दस्वरूप का अनुभव करता है, वह धर्मी, वह धर्म करनेवाला है।

यह चित्स्वरूप लोक ही भिन्न आत्मा का (पर से भिन्नरूप परिणमित होते हुए आत्मा का) शाश्वत, एक और... आहाहा! धर्मी को तो यह लोक और परलोक आत्मा में है। आलोक—चिद्लोक, ज्ञानलोक शाश्वत स्वभाव भगवान, वह अपना आलोक है। शरीरादि वह कोई अपना लोक नहीं है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात, भाई! वीतराग मार्ग बहुत सूक्ष्म। यहाँ तो (कहा कि) चित्स्वरूप लोक ही हमारा लोक है। धर्मी ऐसा मानता है कि ज्ञानस्वरूप मेरा आत्मा, वही मेरा लोक है। आहाहा! शरीरादि तो नहीं परन्तु दया, दान का राग वह भी मेरी चीज़ नहीं है। आहाहा! चित्स्वरूप, ज्ञानस्वरूप, चैतन्य चन्द्रमा, शीतलता के स्वभाव से—वीतरागभाव से भरपूर यह चित्लोक, वह मेरा लोक है। सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा!

यह **भिन्न आत्मा का (पर से भिन्नरूप परिणमित होते...)** राग से प्रभु भिन्न है तो धर्मी भिन्न होकर अपने आत्मा का परिणमन करता है। आहाहा! वर्तमान चलती प्रथा से वस्तु अलग है। आहाहा! भगवान आत्मा राग से भिन्न होकर अपने चित्स्वरूप लोक से ही परिणमता आत्मा शाश्वत् (है)। वह चित्स्वरूप ध्रुव चीज़ शाश्वत है। ज्ञानानन्दस्वभाव भगवान आत्मा का वह शाश्वत है। वह कोई नया नहीं, क्षणिक नहीं। आहाहा! धर्मी उसे कहते हैं कि जो अपना चिद्लोक शाश्वत् है, उसे (अपना) मानता है और अनुभव करता है। आहाहा! कठिन बात है।

शाश्वत, एक... ज्ञायकस्वरूप भगवान शाश्वत् है और एक है, भेद नहीं। आहाहा! राग तो नहीं परन्तु पर्याय का भेद भी जिसमें नहीं। सूक्ष्म बात है, भाई! **शाश्वत, एक और सकलव्यक्त...** आहाहा! उसमें अव्यक्त कहा। यहाँ सकलव्यक्त (कहा, अर्थात्) त्रिकाल ज्ञायकभाव अन्दर प्रगट है। आहाहा! राग का, दया, दान, भक्ति-राग का भाव है, वह राग है। उस राग से चिद्लोक शाश्वत भिन्न है। आहाहा! वह एक है। शाश्वत् है, एक है। आहाहा! और सर्व काल प्रगट है। अस्तिरूप से तो अपनी सत्ता, अस्तित्व शाश्वत् वह सकल व्यक्त है। आहाहा! वह वस्तुरूप से सकल व्यक्त है। आहाहा! ऐसी भाषा, लो। सर्व काल में प्रगट है।

क्योंकि मात्र चित्स्वरूप लोक को यह ज्ञानी आत्मा स्वयमेव एकाकी देखता है... आहाहा! धर्मी जीव—ज्ञानी जीव अपने चित्स्वरूप लोक को देखता है, अपने चित्स्वरूप लोक का अनुभव करता है। ऐसी बात है। आहाहा! है? **मात्र चित्स्वरूप लोक को यह ज्ञानी आत्मा स्वयमेव एकाकी देखता है...** मात्र चित्स्वरूप लोक, जिसमें दया, दान, विकल्प, राग का भी अभाव है। वह सब क्रिया तो राग है। आहाहा! **मात्र चित्स्वरूप लोक को** [**अयं स्वयमेव एकक: लोकयति**] आहाहा! सूक्ष्म बात, भाई! वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा का पन्थ अन्तर में धर्मी की चीज़ कोई अलग है। वह कोई क्रियाकाण्ड और राग और भक्ति, पूजा, व्रत और यात्रा वह कोई धर्म नहीं है, वह तो राग है। आहाहा! उस राग से भिन्न भगवान है।

ज्ञानी आत्मा स्वयमेव एकाकी... अकेला राग की अपेक्षा छोड़कर चिद्घन,

ज्ञानघन भगवान आत्मा को **देखता है...** अकेला स्वरूप। राग की अपेक्षा नहीं, निमित्त की अपेक्षा नहीं, देव-गुरु-शास्त्र की भी जिसमें अपेक्षा नहीं। आहाहा! ऐसा स्वयमेव, स्वयं-एव—स्वयं ही। 'एव' है न? **स्वयमेव एकाकी देखता है...** आनन्दस्वरूप भगवान ज्ञान, शाश्वत् आत्मा, ध्रुव आत्मा, नित्य आत्मा को अकेला देखता है और अकेला अनुभव करता है। ऐसी बात है। आहाहा! इस धर्मी की चीज़ यह है। धर्मी कुछ यह दया पाले और व्रत करे और अपवास करे, वह कोई धर्म नहीं है, वह तो राग है। आहाहा! सूक्ष्म बात, भाई! वीतराग मार्ग, जिनेश्वर त्रिलोकनाथ का कहा हुआ पन्थ कोई अलौकिक है।

यह तो सम्यग्दर्शन चौथा गुणस्थान जब हुआ, अभी चौथा, हों! पाँचवाँ और छठवाँ मुनि, वह तो कोई अलौकिक चीज़ है। आहाहा! यहां तो सम्यग्दृष्टि हुआ, आत्मा ज्ञायकभाव, नित्यभाव, शुद्धभाव, ध्रुवभाव, वह भाव अपना है, ऐसा अपना मानकर, उसे अकेला पर की अपेक्षा बिना अनुभव करता है, देखता है। आहाहा! उसका नाम धर्मी और धर्म कहा जाता है। कान्तिभाई! यह सब ऐसा कभी सुना नहीं। आहाहा! कहो, हिम्मतभाई! यह करने का है, बापू! यह करने का है, बोलते थे, भाई! भाई कहते थे। सत्य बात, बापू! आहाहा! अरे रे! पहले श्रद्धा तो करे कि यही करने योग्य है। आहाहा! सूक्ष्म बात, बापू! भाई! आहाहा!

धर्मात्मा **स्वयमेव एकाकी देखता है...** क्या कहते हैं? जिसमें राग की मन्दता की क्रिया की भी अपेक्षा नहीं, ऐसा भगवान चिद्लोक, ज्ञानलोक, आनन्दलोक स्वयमेव स्वभाविक नित्य शाश्वत् लोक आत्मा, सकल व्यक्त प्रगट, उसे अकेला अनुभव करता है। आहाहा! समझ में आया? **एकाकी देखता है-अनुभव करता है। यह चित्स्वरूप लोक ही तेरा है,...** आहाहा! 'लोक्यंति इति लोकः' जो ज्ञान में जानने में आता है। शरीर—वाणी—मन, वह तो मिट्टी-जड़ धूल है। आहाहा! अन्दर में जो पाप का राग, हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग (आवे), वह तो पापतत्त्व भिन्न तत्त्व है और दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, यात्रा का भाव, वह तो राग, पुण्यतत्त्व है, वह आत्मा नहीं।

यहाँ तो कहते हैं कि चित्स्वरूप लोक ही तेरा है। यह राग नहीं। ज्ञानस्वरूप भगवान। ज्ञान अर्थात् यह शास्त्रज्ञान नहीं। जाननस्वभाव शाश्वत, वह मेरा लोक है।

आहाहा! इसलोक और परलोक का भय ज्ञानी को नहीं है क्योंकि इसलोक और परलोक अपना आत्मा है। समझ में आया? ऐसी सूक्ष्म बातें। अरे रे! अनन्त काल से इस चैतन्य के दर्शन और भान बिना भटका। मुनिपना अनन्त बार लिया, दिगम्बर सन्त अनन्त बार हुआ परन्तु यह क्रिया, पंच महाव्रत की क्रिया में धर्म माना। आहाहा! वह तो मिथ्यादृष्टि है। आहाहा!

सम्यग्दृष्टि धर्म की पहली सीढ़ीवाला, शुरुआतवाला, वह चित्स्वरूप लोक ही तेरा है (—ऐसा मानता है)। ज्ञानानन्दस्वभाव ध्रुव वह मेरा है, राग मेरा नहीं है, जड़ की क्रिया मेरी नहीं है, जड़ मेरा नहीं है, स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, लोक, गाँव, नगर मेरे नहीं हैं। आहाहा! है? **चित्स्वरूप लोक ही...** भाषा है? है न? [**अयं स्वयमेव एकक: लोकयति**] आहाहा! शाश्वत् चैतन्यप्रभु, ध्रुव जो भगवान आत्मा, वह तेरा लोक है, ऐसा समकिती / धर्मी जानता है। आहाहा! [**तद्-अपर:**] **उससे भिन्न...** ज्ञायकस्वभाव ध्रुव, वह तेरा लोक है; उससे भिन्न **यह लोक या परलोक तेरा नहीं है...** आहाहा! यह राग, स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, वह यह लोक तेरा नहीं है। यह लोक तेरा नहीं है। आहाहा! इसी प्रकार परलोक—स्वर्ग और नरक जाना, वह परलोक, वह भी आत्मा का नहीं है। आहाहा! **यह लोक या परलोक तेरा नहीं है...** ऐसा धर्मी अन्तर में अनुभव करता है। आहाहा! ऐसी कठिन बातें हैं। यह तो अभी शुरुआत सम्यग्दर्शन की बात है। चारित्र तो कोई अलौकिक बातें हैं, बापू! अभी सम्यग्दर्शन बिना चारित्र आया कहाँ से?

सम्यग्दर्शन हुआ तो वह मानता है कि मेरा लोक तो चिद्घन, आनन्दकन्द, वह मेरा लोक है। उससे पर राग, दया, दान, विकल्प, शरीर, वाणी, मन, कुटुम्ब, यह लोक तो परलोक है, मेरा लोक नहीं। आहाहा! व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प उठता है, वह भी मेरा लोक नहीं। अरेरे! ऐसी बात। है? **उससे भिन्न दूसरा कोई...** ज्ञायकस्वभाव भगवान नित्यानन्द प्रभु, वह मेरा लोक है। उससे भिन्न रागादि या शरीरादि या वाणी आदि या कुटुम्ब -कबीला, वह परलोक है; मेरा लोक नहीं। आहाहा! देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का राग, वह भी मेरा लोक नहीं है। आहाहा! मेरा होवे, वह मेरे पास रहे, भिन्न न पड़े। आहाहा! राग तो मेरे पास रहता नहीं, राग तो छूट जाता है। आहाहा! राग से रहित मेरी चीज़ जो है, ज्ञानानन्द सहजानन्द प्रभु, वह मेरा लोक है, अपर मेरा लोक कोई है नहीं। आहाहा!

जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह भाव मेरा नहीं है। वह मेरा नहीं, वह मेरा नहीं, मेरा तो चिद्घन (लोक) है। आहाहा! सूक्ष्म बात, भाई! वीतरागमार्ग जिनेश्वर का मार्ग बहुत सूक्ष्म है। लोक में तो अभी स्थूल विपरीत बना दिया है। बस, यह व्रत करो और अपवास करो और यात्रा करो, यह धर्म। मन्दिर बनाओ और पूजा करो। वह तो सब राग है भाई! तुझे खबर नहीं। वह राग आत्मा का स्वभाव नहीं है। आहाहा! धर्मी अपने स्वभाव से अपर व्यवहाररत्नत्रय के राग को भी अपना नहीं मानता। आहाहा! आज नौवां दिन है। अफर दिन है। आहाहा!

भगवान ज्ञायकस्वरूप ध्रुव, उस पर दृष्टि पड़कर जो अनुभव हुआ तो धर्मी ऐसा मानता है कि मेरा लोक तो यह है। रागादि मेरा लोक तीन काल में नहीं है। आहाहा! **तेरा नहीं है, ऐसा ज्ञानी विचार करता है,...** अथवा ऐसा **जानता है,...** और ऐसा ही अनुभव करता है। आहाहा! संसार में पड़े पूरे दिन, उसे ऐसा कहना। भाई! यह भटकने का पन्थ तो अनन्त काल से किया। छूटने का पन्थ एक सेकेण्ड भी कभी नहीं किया। मुनि हुआ, नग्न दिगम्बर मुनि, हजारों रानियाँ छोड़कर पंच महाव्रत का निरतिचार पालन किया, परन्तु वह तो राग है। आहाहा! राग, वह मेरा लोक नहीं। मेरा लोक तो राग से भिन्न ज्ञायकभाव, वह मेरा लोक है, आहाहा! वह मेरी चीज़ है। रागादि मेरी चीज़ नहीं तो फिर यह शरीर, कुटुम्ब, कबीला तो मेरी चीज़ है नहीं। आहाहा! देखो! यह सन्तों की वाणी।

सच्चे सन्त मुनि धर्मात्मा, जिन्हें अन्तर में आनन्द में लीन होने की जागृतदशा उग्र है, वे (ऐसा) कहते हैं कि मुनि को अथवा समकिती को अपना लोक तो आनन्द और ज्ञानस्वरूप भगवान, नित्य प्रभु, शाश्वत् वस्तु है। पर्याय बदलती है, यह तो शाश्वत् वस्तु है। आहाहा! वह मेरा लोक है, ऐसा पर्याय मानती है। पर्याय ऐसा मानती है कि... पर्याय अर्थात् (क्या यह) अभी सुना न हो, कुछ खबर नहीं होती। यह तो जैन के एकड़ा के शून्य की बातें हैं। आहाहा! यह पर्याय अर्थात् अवस्था। वह अवस्था भी मैं नहीं। मैं तो शाश्वत् चिद्घन हूँ, वह अवस्था ऐसा मानती है। आहाहा! वह 'नाव तरे रे मोरी नाव तरे' ऐसा आता है न? भाषा भूल गये। समयसार नाटक में श्लोक आता है। आहाहा!

अकेला भगवान शाश्वत् चिदानन्द। 'वस्तु विचारत ध्यावतैं मन पावे विश्राम'

आहाहा! वस्तु, आत्मा वस्तु जिसमें अनन्त गुण बसे हैं, रहे हैं—ऐसी 'वस्तु विचारत ध्यावतैं मन पावे विश्राम' आहाहा! 'अनुभव ताकौ नाम' आहाहा! 'रस स्वादत सुख उपजे' परन्तु वह रस स्वादत उपजे, वह अनुभव। 'अनुभव ताकौ नाम' आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द का रस पर्याय में आना। 'वस्तु विचारत' भगवान वस्तु त्रिकाली नित्यानन्द प्रभु, अनादि-अनन्त है, उसका कोई कर्ता नहीं। स्वयंसिद्ध वस्तु है, वह शाश्वत है। उसका विचार-ध्याने से 'मन पावे विश्राम' विकल्प छूट जाता है। आहाहा! 'रस स्वादत सुख उपजे' अतीन्द्रिय आनन्द के रस का स्वाद लेता है। 'रस स्वादत सुख उपजे' आनन्द की दशा उत्पन्न होती है। आहाहा! यह सुख। दुनिया के बाहर के सुख की कल्पना, वह तो मूढ़ ने मानी है। आहाहा! इन्द्रियों में सुख और पैसे में सुख और शरीर, स्त्री में सुख और... मूढ़ अज्ञानी अपने आनन्द के सुख को भूलकर पर में सुख मानकर चार गति में भटकता है। आहाहा!

यहाँ तो 'रस स्वादत सुख उपजे' आत्मा आनन्दमूर्ति प्रभु का स्वाद लेने पर 'रस स्वादत सुख उपजे' अतीन्द्रिय आनन्द का सुख उत्पन्न होता है। आहाहा! अरे! ऐसी बात। 'अनुभव ताको नाम' उसका नाम आत्मा का अनुभव और आत्मा के रस का स्वाद (कहने में आता है)। भाई! वीतरागमार्ग कोई अलौकिक है। ऐसा मार्ग कहीं है नहीं। वीतराग के सिवाय कहीं यह बात नहीं है। अभी तो वीतराग के वाडा में भी गड़बड़ उठी है। आहाहा!

यह तो तीन लोक के नाथ जिनेश्वरदेव सीमन्धरस्वामी भगवान तो महाविदेह में विराजमान हैं। आहाहा! परमात्मा विराजते हैं, वहाँ से यह बात आयी है। कुन्दकुन्दाचार्य वहाँ गये थे। दिगम्बर मुनि, कुन्दकुन्दाचार्य दो हजार वर्ष पहले (गये और) आठ दिन वहाँ रहे थे। आहाहा! वहाँ से आकर यह (शास्त्र) बनाये। भगवान ऐसा मार्ग कहते हैं और ऐसा है। आहाहा!

जिसे धर्म की दृष्टि—सम्यग्दर्शन हुआ तो उस सम्यग्दर्शन में पूरे पूर्णानन्द के नाथ की प्रतीति आयी और साथ में अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव, रस के स्वाद के सुख की उत्पत्ति हुई। आहाहा! अरे! यह तो अकेली निश्चय की बातें (करते हैं), व्यवहार (तो कहते नहीं)। तेरा व्यवहार कहाँ है, धूल में, सुन न अब। आहाहा! ऐसा व्यवहार तो अभव्य ने भी अनन्त बार किया। 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो पै (निज)

आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो।' पंच महाव्रत और पाँच समिति, गुप्ति का निर्दोष (पालन किया)। उसके लिये आहार बनाकर दे और पानी की बूँद (दे तो) न ले। ऐसी क्रिया अनन्त बार की, आहाहा! परन्तु वह तो राग की क्रिया है। परन्तु राग से भगवान भिन्न, ऐसे आत्मा का ज्ञान किया नहीं, तो आत्मा के ज्ञान बिना सुख मिला नहीं। यह पंच महाव्रत के परिणाम दुःख है। आहाहा! अरे! यह कैसे उतरे? कहाँ बेचारा भटकता प्राणी, अनन्त काल में नरक और निगोद में भटकता हुआ, उसमें से आया, मनुष्य हुआ (परन्तु) कुछ भान नहीं होता। आहाहा! धर्म के नाम से भी सब घोटाला। राग की क्रिया करो तो धर्म होगा। यहाँ तो परमात्मा जिनेश्वरदेव वीतराग परमात्मा वीतराग धर्म कहते हैं। वह आत्मा चिद्घन आनन्दकन्द वह तेरी चीज़ है, इसके अतिरिक्त अपर रागादि तेरी चीज़ नहीं है। आहाहा! देखो! यह धर्मी की दृष्टि। सम्यग्दृष्टि का यह भाव। आहाहा!

ज्ञानी विचार करता है, जानता है,... आत्मा ज्ञायकस्वभाव के अतिरिक्त कोई चीज़ मेरी नहीं है। वह पर मेरी चीज़ ही नहीं। आहाहा! [**तस्य तद्-भीः कुतः अस्ति**] **इसलिए ज्ञानी को...** धर्मी को (कि) जिसे आत्मा के ज्ञायकभाव का भान हुआ और ज्ञायकभाव का स्वाद लिया, ज्ञायकभाव के सुख का पर्याय में अनुभव हुआ, वह समकिती है। आहाहा! इसलिए समकिती को... ज्ञानी कहो या समकिती कहो। **इस लोक का तथा परलोक का भय कहाँ से हो?** आहाहा! इस लोक में मेरी यह सामग्री मरने तक रहेगी या नहीं? वृद्धावस्था आयेगी तो यह सब सामग्री रहेगी या नहीं? यह चिन्ता समकिती को नहीं होती। समझ में आया? वृद्ध होऊँगा और शरीर जीर्ण होगा तो यह सामग्री मेरा क्या करेगी? ऐसी चिन्ता नहीं है। आहाहा! तथा परलोक की चिन्ता नहीं है। यहाँ से कहाँ जाऊँगा? स्वर्ग में जाऊँगा या मनुष्य में जाऊँगा? स्वर्ग, नरक में मैं जाता ही नहीं। मेरा आत्मा मुझमें है, मैं तो वहाँ जाता हूँ। आहाहा! मांगीलालजी! ऐसी बातें हैं। सूक्ष्म बात, भाई! आहाहा!

पर का त्याग तो आत्मा में है ही नहीं। क्योंकि पर के त्याग-ग्रहण से तो भगवान त्रिकाली शून्य है परन्तु राग का त्याग भी आत्मा में यथार्थरूप से है नहीं। क्योंकि रागरूप आत्मा हुआ ही नहीं तो राग का त्याग करना, यह कहाँ रहा? आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! अनजाने अज्ञानी व्यक्ति अनादि से भटकते हैं। उन्हें यह बात कैसे बैठे? एक तो पूरे दिन

धन्धा-पानी, धन्धे के पाप और स्त्री, पुत्र सम्हालना और भोग में पाप में (जाए), छह-सात घण्टे सोना, उसमें समय मिलता नहीं। कदाचित् घण्टे भर समय मिले तो यह भगवान के दर्शन करना और पूजा करना और भक्ति करना। यह तो राग है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

ज्ञानी को इस लोक का तथा परलोक का भय कहाँ से हो? है? आहाहा! **इसलिए... 'तस्य' ज्ञानी को... 'तद्-भीः' इस लोक का तथा परलोक का भय कहाँ से हो? वह तो स्वयं निरन्तर...** आहाहा! चाहे तो वह ज्ञानी धन्धा-पानी में दिखायी दे तो भी ज्ञानी तो ज्ञान को ही निरन्तर अनुभव करता है। ज्ञातापने की पर्याय का वह कर्ता है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! **वह तो स्वयं निरन्तर...** सम्यग्दृष्टि धर्मीजीव (धर्म की) शुरुआतवाला स्वयं निरन्तर। है न? **'सः'** (अर्थात्) वह धर्मी। **'स्वयं सततं'** स्वयं निरन्तर। **निःशंक वर्तता हुआ...** निर्भय वर्तता हुआ। आहाहा! निःशंक कहो या निर्भय कहो। **स्वयं निरन्तर निःशंक वर्तता हुआ...** आहाहा! क्या कहते हैं? **स्वयं निरन्तर निःशंक वर्तता हुआ...** शंका नहीं कि यह लोक मेरा है और परलोक मेरा है, ऐसी शंका नहीं है। मेरा लोक तो यह (चैतन्य) है। मेरी शाश्वत् चीज़, वह मेरा लोक है। आहाहा!

इस प्रकार स्वयं ही अपने से निरन्तर निःशंक वर्तता हुआ **सहज ज्ञान का (अपने ज्ञानस्वभाव का) सदा अनुभव करता है।** आहाहा! स्वभाविक, सहज अर्थात् स्वभाविक ज्ञान अर्थात् अपना ज्ञानस्वभाव, जानन स्वभाव जो त्रिकाल ज्ञायकस्वभाव। आहाहा! उसका **सदा...** त्रिकाल **अनुभव करता है।** ऐसे तो निरन्तर पहले आ गया है परन्तु यह तो 'सदा' डाला है (अर्थात्) त्रिकाल। धर्मी तो त्रिकाल भूत, वर्तमान और भविष्य में आत्मा के ज्ञान को ही अनुभव करता है। आहाहा! सूक्ष्म बात, भाई! भव के अन्त का धर्म जो सम्यग्दर्शन कोई अलौकिक चीज़ है। आहाहा! मुनिपना तो अलौकिक चीज़ है, उसकी बात तो कहाँ? वह तो कहाँ है परन्तु सम्यग्दर्शन, वह कोई विरल चीज़ है। आहाहा!

वह (ज्ञानी) अन्तर में अपने स्वभाव में स्वयं निरन्तर निःशंक वर्तता हुआ। स्वभाव में निःशंकरूप वर्तता हुआ। स्वाभाविक ज्ञायकस्वभाव का सदा त्रिकाल अनुभव करता है।

भविष्य में ऐसा होगा और भूत में ऐसा था, ऐसा है नहीं। वह तो ज्ञायक का अनुभव त्रिकाल अपने में करता है। भविष्य में भी स्वर्ग में जाए तो भी अपने अनुभव में रहता है। आहाहा! समकिती स्वर्ग में जाता है? तो कहते हैं, नहीं। वह तो वहाँ भी अपने अनुभव में रहता है। आहाहा! और वहाँ से मरकर मनुष्य भव होता है तो कहते हैं, वहाँ भी ज्ञान के अनुभव में रहता है, ज्ञान की पर्याय के अनुभव में रहता है। ज्ञान मेरा स्वभाव है, वहाँ रहता है। आहाहा! समझ में आया? ऐसी चीज़ है। पहले इसका ज्ञान तो करे। आहाहा! अभी ज्ञान का भी ठिकाना नहीं, श्रद्धा तो कहाँ से लाना? आहाहा!

भावार्थ : 'इस भव में जीवन पर्यन्त अनुकूल सामग्री रहेगी या नहीं?' वृद्धावस्था आयेगी, अनुकूल सामग्री रहेगी या नहीं? आहाहा! **ऐसी चिन्ता रहना, इहलोक का भय है।** इसका नाम इसलोक का भय कहलाता है। धर्मी को यह चिन्ता नहीं है। आहाहा! इतने पैसे संग्रह करके रखें, इतना माल रखें। बड़ी उम्र के होते हैं न? स्त्री मर गयी परन्तु दूसरी नहीं होवे तो सेवा कौन करेगा? इसलिए दूसरी से विवाह करना। आहाहा! यह चिन्ता ज्ञानी को नहीं होती। आहाहा! वह बाह्य की सामग्री मरणपर्यन्त रहेगी या नहीं? यह चिन्ता ज्ञानी को नहीं होती। आहाहा! **ऐसी चिन्ता रहना इहलोक का भय है।**

'परभव में मेरा क्या होगा?' अरे! देह छोड़कर मैं कहाँ जाऊँगा? देह तो छूटेगी तो कहीं तो जाएगा। यहाँ तो अमुक समय रहेगा, परलोक में कहाँ जाऊँगा? **ऐसी चिन्ता का रहना परलोक का भय है। ज्ञानी जानता है कि-यह चैतन्य ही मेरा एक, नित्य लोक है...** परलोक-फरलोक मुझे कहाँ जाना है। परलोक—प्रधानलोक मेरा चैतन्य, वह मेरा परलोक है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। वीतराग मार्ग बहुत, बापू! लोगों ने पूरा विपरीत कर डाला है। वीतरागमार्ग को रागमार्ग में खतौनी कर डाला है। आहाहा! श्रद्धा अत्यन्त मिथ्यात्व श्रद्धा में घोंट रहे हैं।

यहाँ तो कहते हैं, प्रभु! परलोक में कहाँ जाऊँगा, ऐसी चिन्ता समकिती को नहीं है। क्योंकि परलोक में जाऊँगा परन्तु मैं तो मेरी पर्याय में ही रहूँगा। वहाँ परलोक में मैं देवलोक में नहीं जाता। आहाहा! श्रेणिक राजा क्षायिक समकिती। नरक की आयु का बन्ध किया

था, पश्चात् भगवान के निकट तीर्थंकरगोत्र बाँधा। वर्तमान में चौरासी हजार वर्ष की स्थिति में पहले नरक में हैं। वहाँ से (निकलकर) पहले तीर्थंकर होंगे, आगामी चौबीसी के पहले तीर्थंकर होंगे परन्तु कहते हैं कि यहाँ क्षायिक समकिती थे तो भी चिन्ता नहीं थी कि मैं कहाँ जाऊँगा? नरक में नहीं जाता, मैं तो मेरी पर्याय में ही वहाँ रहूँगा। आहाहा! श्रेणिक राजा चौरासी हजार वर्ष की स्थिति में पहले नरक में हैं। वहाँ से निकलकर पहले तीर्थंकर होनेवाले हैं। आगामी चौबीसी के पहले तीर्थंकर (होनेवाले हैं), परन्तु कहते हैं कि वे नरक में नहीं हैं। आहाहा!

एक प्रश्न हुआ था, भाई! लालभाई! श्रीमद् से एक व्यक्ति ने प्रश्न किया था कि श्रीकृष्ण कहाँ हैं? वह बाहर का सुना हुआ होवे न। (कहा), श्रीकृष्ण आत्मा में हैं।

मुमुक्षु : ज्ञानी का यही काम होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह बाहर की स्थिति का वर्णन है न! आहाहा! ऐसा प्रश्न किया। श्रीमद् को किसी ने प्रश्न किया, ऐसा कि वह बाहर का सुनते हैं न कि इस प्रकार पाप बाँधे थे और नरक में गये हैं। इसलिए (पूछा) श्रीकृष्ण कहाँ हैं? तो कहा, श्रीकृष्ण आत्मा में हैं। आहाहा! नरक के क्षेत्र में भी नहीं, वे तो आत्मा में हैं। आहाहा!

सम्यग्दृष्टि ज्ञानी देह छोड़कर कदाचित् नरक का आयुष्य बँध गया हो और नरक में जाए तो वह नरक में नहीं है, वहाँ तो आत्मा में है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! कोई सम्यग्दृष्टि हो और पहले तिर्यंच का आयुष्य बँध गया हो, पश्चात् वह नरक में तो न जाए, तिर्यंच में भोगभूमि में जाए। तीन पल्य का आयुष्य और वहाँ तीन कोस ऊँचा (शरीर हो)। तो कहते हैं कि वह वहाँ गया परन्तु वहाँ वह आत्मा में है। वह जुगलिया हुआ ही नहीं। समझ में आया? आहाहा! जहाँ भगवान पूर्णानन्द का नाथ स्वभाव की दृष्टि में जहाँ आया, आहाहा! उसमें से हटकर राग में या परलोक में रहता है? उसमें से हटता ही नहीं, सदा उसमें ही रहते हैं। आहाहा! वह तो ज्ञान की परिणति में चंचल, चपल हुए बिना अकम्परूप से ज्ञान में ही जहाँ-तहाँ रहते हैं। आहाहा! समझ में आया? भाई! धर्म चीज़ कोई अलौकिक है। आहाहा! लोगों ने मान रखा है और सब मनवाया है, (वैसा स्वरूप नहीं है)। आहाहा!

जिसने सम्यग्दर्शन में पूरी पूर्णानन्द की चीज़ को जहाँ प्रतीति में, अनुभव में लिया तो अब कहते हैं कि वह रहता कहाँ है ? तो कहते हैं, वह अपने में रहता है। स्वर्ग में गये, यह तो व्यवहार से कथन है। अपने में रहे हैं। नरक में गये ? तो कहते हैं, नहीं। वह अपने में है। तिर्यंच में गये ? समकिती को पहले आयुष्य बँध गया हो तो तिर्यंच में जुगलिया में जाता है। तो कहते हैं, वहाँ भी आत्मा में है। आहाहा! समझ में आया ? यह प्रश्न पूछा था, खबर है ? चेतनजी! श्रीमद् को पूछा था। बाहर में ऐसी बात आती है न कि नरक में गये हैं। ऐसा जवाब दिया, प्रभु! सुन, श्रीकृष्ण समकिती धर्मात्मा थे। आहाहा! वे जहाँ हैं, वहाँ आत्मा में हैं। आहाहा! आया या नहीं यह ? इस लोक और परलोक की चिन्ता ही नहीं है। इस लोक और परलोक सब मेरा यह है। चिद्घन आत्मा यह लोक और पर अर्थात् प्रधान परलोक यह है। आहाहा! ऐसी बातें हैं, बापू! कठिन बातें, भाई! दुनिया के लोग अभी बेचारे कहीं भटकते पड़े हैं। उन्हें अभी धर्म क्या और कैसे हो, इसकी भी खबर नहीं होती। आहाहा! वह मरकर भटकते हुए कहाँ जाएँगे। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, आहाहा! **ज्ञानी जानता है कि–यह चैतन्य ही मेरा एक, नित्य लोक है...** आहाहा! ध्रुव मेरा लोक है, ऐसा जानती है पर्याय परन्तु ध्रुव मेरा लोक है (ऐसा जानती है)। समझ में आया ? नित्यानन्द प्रभु शाश्वत् वस्तु, वह मेरा लोक है, ऐसा पर्याय जानती है। आहाहा! **नित्य लोक है जो कि सदाकाल प्रगट है।** ध्रुव वस्तु तो सदा काल व्यक्त-प्रगट ही वस्तु है। आहाहा! वह तो पर्याय की अपेक्षा से पर्याय को व्यक्त कहते हैं तो इसे अव्यक्त कहते हैं, परन्तु उसे वस्तुरूप से देखो तो स्वयं की अपेक्षा से व्यक्त प्रगट नित्य वस्तु है। ध्रुव शाश्वत् प्रगट.. प्रगट.. प्रगट। आहाहा! हें ?

मुमुक्षु : प्रगट अर्थात् अस्ति।

पूज्य गुरुदेवश्री : अस्ति। आहाहा! अस्ति नहीं, प्रगट ही वस्तु प्रगट ही है, ऐसा। उसकी शाश्वत् चीज़ व्यक्त-प्रगट है। पर्याय की अपेक्षा से उसे अव्यक्त कहा, वह दूसरी अपेक्षा है परन्तु वस्तुरूप से जो है, वह तो प्रगट वस्तु है या नहीं ? है या नहीं ? तो है तो प्रगट है। ढँकी हुई है ? आहाहा! कठिन बातें, भाई! अभी के लोगों की अपेक्षा बहुत अन्तर है, भाई! दुनिया की सब खबर नहीं ? आहाहा!

सदा काल प्रगट है। सदा काल व्यक्त ही है। आहाहा! ध्रुव सदा काल है। **इसके अतिरिक्त दूसरा कोई लोक मेरा नहीं है।** इसके अतिरिक्त कोई दूसरी चीज़ मेरी है, ऐसी कोई चीज़ है नहीं। **यह मेरा चैतन्यस्वरूप लोक किसी के बिगाड़े नहीं बिगड़ता।** आहाहा! ध्रुव भगवान आत्मा किससे बिगड़े? आहाहा! **ऐसा जाननेवाले ज्ञानी के इस लोक का अथवा परलोक का भय कहाँ से हो? कभी नहीं हो सकता। वह तो अपने को स्वाभाविक ज्ञानरूप ही...** चैतन्यरूप, ज्ञायकरूप **अनुभव करता है।** बहुत सूक्ष्म, बापू! कहो, यह समझ में आया या नहीं? ऐ... नटु! यह धन्धा-बन्धा मैं नहीं, ऐसा कहते हैं। इस धन्धा सम्बन्धी का राग होता है, वह भी मैं नहीं।

मुमुक्षु : मुद्दा नहीं आया।

पूज्य गुरुदेवश्री : मैं नहीं, अर्थात् चैतन्य, वह मैं। दुकान पर बैठे और फिर यह सब व्यवस्था करता हूँ और यह करता हूँ, परन्तु वह तेरी चीज़ नहीं तो तू व्यवस्था कहाँ से करे? समझ में आया? सूक्ष्म बात, भाई! वीतराग... वीतराग परमात्मा जिनेश्वर देव के मार्ग की पद्धति कोई अलौकिक है। अभी तो लौकिक जैसा, लोक जैसा ऐसा स्थूल कर डाला। आहाहा! यह पूजा की और भक्ति की और यात्रा की, हो गया धर्म। अरे! धूल भी नहीं, सुन है! आहाहा! धर्मी ऐसा भगवान अपने धर्म को सम्हालता नहीं और राग तथा पर को सम्हालने जाए... आहाहा! वह तो मिथ्यादृष्टि है। आहाहा!

अपने को स्वाभाविक ज्ञानरूप ही... भाषा है? है? वह तो [**सः स्वयं सततं निश्शंकः सहजं ज्ञानं सदा विन्दति**] आहाहा! यह एक बात की। एक कलश में दो वेदना को उड़ा दिया—यह लोक और परलोक। सात भय है न? एक में दो भयों को उड़ा दिया। अब वेदना रही। शरीर में रोग होता है तो वह आत्मा की वेदना है? वह तो जड़ की दशा, वह तो मिट्टी है। रोग कहना, वह भी एक अपेक्षित बात है। बाकी तो पदार्थ की अवस्था, उसरूप हुई है, वह तो ज्ञान में परज्ञेयरूप से जाननेयोग्य है। आहाहा! रोग कहना किसे? वह तो निरोग अवस्था की अपेक्षा से रोग कहा जाता है। बाकी वास्तव में तो रोग की पर्याय, परमाणु की पर्याय की अवस्था उस काल की वैसी है। आहाहा! बहुत अन्तर। हैं? अभी चलता मार्ग और यह कहना। आहाहा! अरे! वीतराग परमात्मा जिनेश्वरदेव का पुकार है। तीन लोक के नाथ की वाणी में, दिव्यध्वनि में यह आया है। वह यह बात है। आहाहा!

कलश - १५६

अब वेदनाभय का काव्य कहते हैं:-

(शार्दूलविक्रीडित)

एषैकैव हि वेदना यदचलं ज्ञानं स्वयं वेद्यते,
निर्भेदोदित-वेद्य-वेदक-बलादेकं सदानाकुलैः।
नैवान्यागत-वेदनैव हि भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो,
निश्शङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ।।१५६।।

श्लोकार्थ : [निर्भेद-उदित-वेद्य-वेदक-बलात्] अभेदस्वरूप वर्तते हुवे वेद्य-वेदक के बल से (वेद्य और वेदक अभेद ही होते हैं, ऐसी वस्तुस्थिति के बल से) [यद् एकं अचलं ज्ञानं स्वयं अनाकुलैः सदा वेद्यते] एक अचल ज्ञान ही स्वयं निराकुल पुरुषों के द्वारा (-ज्ञानियों के द्वारा) सदा वेदन में आता है, [एषा एका एव हि वेदना] यह एक ही वेदना (ज्ञानवेदन) ज्ञानियों के है। (आत्मा वेदक है और ज्ञान वेद्य है।) [ज्ञानिनः अन्या आगत-वेदना एव हि न एव भवेत्] ज्ञानी के दूसरी कोई आगत (-पुद्गल से उत्पन्न) वेदना होती ही नहीं, [तद् भीः कुतः] इसलिए उसे वेदना का भय कहाँ से हो सकता है? [सः स्वयं सततं निश्शंकः सहजं ज्ञानं सदा विन्दति] वह तो स्वयं निरन्तर निःशंक वर्तता हुआ सहज ज्ञान का सदा अनुभव करता है।

भावार्थ : सुखदुःख को भोगना वेदना है। ज्ञानी के अपने एक ज्ञानमात्र स्वरूप का ही उपभोग है। वह पुद्गल से होनेवाली वेदना को वेदना ही नहीं समझता, इसलिए ज्ञानी के वेदनाभय नहीं है। वह तो सदा निर्भय वर्तता हुआ ज्ञान का अनुभव करता है।।१५६।।

कलश - १५६ पर प्रवचन

१५६ (कलश), वेदना भय।

एषैकैव हि वेदना यदचलं ज्ञानं स्वयं वेद्यते,
निर्भेदोदित-वेद्य-वेदक-बलादेकं सदानाकुलैः।

नैवान्यागत-वेदनैव हि भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो,
निश्शङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति।।१५६।।

[**निर्भेद-उदित-वेद्य-वेदक-बलात्**] **अभेदस्वरूप वर्तते हुवे वेद्य-वेदक के बल से (वेद्य और वेदक अभेद ही होते हैं...)** क्या कहते हैं? कि आत्मा वेदन करनेवाला और आत्मा की वेदना। अनुभव का वेदन करनेवाला और उसका अनुभव का वेदन। वेद्य-वेदक अभेद में होता है। आहाहा! है? आहाहा! वह इसमें आ गया, नहीं? २१६ गाथा। वेद्य-वेदक। पर का वेद्य-वेदक नहीं है, आत्मा का वेद्य-वेदक है। आहाहा! २१६। वेद्य (अर्थात्) वेदनयोग्य और वेदक अभेद होता है। वेदनयोग्य भी आनन्द और वेदनेवाला आत्मा। आहाहा! **(ऐसी वस्तुस्थिति के बल से)**... क्या कहा? भगवान आत्मा वेदन करनेवाला और वेदनयोग्य अपनी अनुभवदशा। आनन्द की दशा वेदनयोग्य और वेदन करनेवाला आत्मा। वास्तव में तो सब पर्याय है। समझ में आया? आहाहा!

निर्मल पर्याय वेदनेवाली और निर्मल पर्याय वेदनयोग्य। आत्मा तो ध्रुव है। अपेक्षा से कहते हैं। आहाहा! यह तो आ गया है, नहीं? अलिंगग्रहण का बीसवाँ बोल। आत्मा वेदन में अपनी पर्याय को वेदता है, वह आत्मा है। वह आत्मा वेदन में ध्रुव को नहीं वेदता। अरे! अब ऐसी बातें। अलिंगग्रहण में आया था न? वस्तु अखण्डानन्द प्रभु की दृष्टि हुई तो वेदनयोग्य दशा वीतरागी हुई। शान्ति और अकषायी परिणति हुई, वह वेदनयोग्य और वेदनवाला यह आत्मा। यह तो अभेद की-अभेद की बात है। आहाहा! वेदन करनेवाला आत्मा और राग वेदनयोग्य, यह वस्तु में नहीं है। आहाहा! वेदन करनेवाला आत्मा और रोग वेदनयोग्य, यह आत्मा में नहीं है। राग वेदनयोग्य और वेदन करनेवाला आत्मा, ऐसा आत्मा में नहीं है। अब ऐसी बातें! कहाँ जाना मनुष्य को इसमें? बेचारा... आहाहा!

अन्दर प्रभु तू महाप्रभु महात्मा है, परमात्मा है, वीतराग है। वह तेरी चीज़ है। वीतरागस्वरूप की मूर्ति प्रभु चैतन्य प्रतिमा है। वह वेदन करनेवाला और उसकी निर्मल जाति, वह वेदनयोग्य। परन्तु आत्मा वेदन करनेवाला और राग वेदनयोग्य, (ऐसा) वस्तु में नहीं है। आत्मा वेदन करनेवाला और राग वेदनयोग्य, (यह) वस्तु में नहीं है। अरे! ऐसी बातें! जो सुना हुआ हो, उससे दूसरा प्रकार। सब सिरपच्ची। आहाहा! भाई! तूने सत्य को सुना नहीं। आहाहा! 'तत् प्रति प्रीति चितेन् वार्ताऽपि श्रुताः' यह वार्ता सुनी नहीं, कहते हैं

और जिसने ऐसी बात प्रेम से, रुचि से, सुनी, उसे अल्प काल में मोक्ष हुए बिना नहीं रहता। आहाहा! है न, यह आता है न? आहाहा!

(वेद्य और वेदक अभेद ही होते हैं...) यह क्या कहा? अनुभव करनेवाला और अनुभव करनेयोग्य आत्मा ही है। अनुभव करनेवाला आत्मा और राग अनुभव करनेयोग्य, ऐसा है नहीं। ऐसा भेद है नहीं। अरे.. अरे..! ऐसी बात। अभी ऐकड़ा का खबर न हो बेचारों को, उसमें ऐसी बातें। क्या हो? बापू! यह तो अभी धर्म का एकड़ा है। आहाहा! वेद्य अर्थात् वेदनयोग्य और वेदन करनेवाला अभेद ही होता है। वह का वह आत्मा वेदन करनेवाला और आत्मा वेदनयोग्य। आहाहा! आनन्द की दशा वेदनयोग्य और आत्मा वेदन करनेवाला। परन्तु आत्मा वेदन करनेवाला और राग वेदनयोग्य, (ऐसा) वस्तु में नहीं है। समझ में आया? ओहोहो! सन्तों ने संक्षिप्त शब्दों में सत्य को प्रसिद्ध किया है, सत्य का डंका बजाया है। आहाहा! दिगम्बर सन्त अर्थात् चलते सिद्ध। आहाहा! है? वेद्य-वेदक आत्मा है। आत्मा आनन्द का वेदन करनेवाला और आनन्द का वेदन करनेवाला आत्मा ही है। आत्मा वेदन करनेवाला और राग वेदक है, ऐसा नहीं है। वस्तु का स्वरूप ऐसा नहीं है। विशेष कहेंगे... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३०३, श्लोक-१५६-१५८ बुधवार, भाद्र शुक्ल १४
दिनाङ्क ०५-०९-१९७९

दशलक्षणी धर्म का दसवाँ (दिन है)। ब्रह्मचर्य का अधिकार है। आहाहा! जो तीव्र दुःखों का समूहरूप धारासहित जिसके प्रवाह से प्राणी मिट्टी के पिण्ड की तरह चार गति में घूमता है और अनेक विकाररूपी धर्म करनेवाला ऐसा यह संसाररूपी चक्र स्त्रियों के आधार से शीघ्रता से घूमता है। आहाहा! स्पर्शेन्द्रिय अखण्ड पूरे शरीर में है। उसके भोग में स्त्री है, इसलिए उसे लिया है। इस संसार चक्र के परिभ्रमण में स्त्री का संग ही परिभ्रमण का कारण है। आहाहा! और जिसने उसका संग छोड़ा, मोह को उपशान्त करनेवाले, मोक्ष के अभिलाषी, निर्मल बुद्धिवाले मुनि सदा बहिन, पुत्री और माता समान देखो। यही उत्तम ब्रह्मचर्य है। आहाहा!

ब्रह्म अर्थात् आत्मा, आनन्दस्वरूप प्रभु में स्थिर होना, रमना, इसका नाम ब्रह्मचर्य है। शरीर से ब्रह्मचर्य पाले, वह तो एक अकेला शुभभाव है। पाँचों इन्द्रियों के विषयों की ओर से हटकर और अनीन्द्रिय ऐसा जो भगवान आत्मा, आहाहा! ब्रह्म अर्थात् आनन्दस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, शान्तस्वरूप, वीतरागमूर्ति प्रभु में चरना... आहाहा! इसका नाम ब्रह्मचर्य दसवाँ धर्म है।

लोक में पुण्यवान पुरुष राग उत्पन्न करके निरन्तर स्त्रियों के हृदय में निवास करते हैं। क्या कहते हैं? पुण्यवन्त प्राणी है, वह स्त्रियों के हृदय में निवास करते हैं। उन्हें (उनके प्रति) प्रेम होता है। पुण्यवान पुरुष, परन्तु जिन मुनियों के हृदय में वे स्त्रियाँ कभी और किसी प्रकार भी नहीं रहती। आहाहा! पुण्यवन्त प्राणियों के शरीर आदि के कारण अनुकूलता स्त्रियों के हृदय में होती है परन्तु जिनके हृदय में स्त्री नहीं है, आहाहा! पाँच इन्द्रिय के विषय जिनके हृदय में नहीं है, आहाहा! है? वे पुण्यवान पुरुष मुनियों के चरणों की प्रतिदिन अति नम्र बनकर स्तुति करते हैं। आहाहा!

अब यह दसधर्म है न, यह सब चारित्र के भेद हैं। इसीलिए कहते हैं कि वैराग्य और त्यागरूप दो लकड़ियों से बनायी हुई सुन्दर निसरनी। आहाहा! ऊपर जाना हो तो अच्छी लकड़ी की निसरनी (सीढ़ी) होती है न? उसी प्रकार मोक्ष जाने के लिये यह सुन्दर निसरनी है। आहाहा! ज्ञान और वैराग्य। अर्थात् भगवान आत्मा का जो ज्ञान, ब्रह्म-आनन्दस्वरूप मैं हूँ—ऐसा जो ज्ञान और पुण्य-पाप के विकल्प का वैराग्य, रक्त से विरक्त, इन दो प्रकार की लकड़ियों से बँधी हुई मोक्ष के लिये चढ़ने की निसरनी है। आहाहा! समझ में आया?

जो महान स्थिर सीढ़ियोंवाली होकर, यह दस प्रकार का धर्म ज्ञान और वैराग्यवाला यह महा दृढ़ सीढ़ियोंवाली निसरनी है। आहाहा! मोक्षमहल में जाने के लिये चढ़ने की अभिलाषा रखनेवाले मुनियों के लिये योग्य है। आहाहा! तीन लोक के अधिपतियों द्वारा स्तुयमान—स्तवन के योग्य दस धर्मों के विषय में किन पुरुषों को हर्ष नहीं होगा। आहाहा!

यह दस प्रकार का जो धर्म, उत्तम क्षमा से लेकर ब्रह्मचर्य, वह कहते हैं कि तीन लोक के अधिपतियों से वन्द्य है। वह दस प्रकार का धर्म तीन लोक के अधिपतियों से स्तुति करनेयोग्य है। इस दस धर्म के विषय में किन पुरुषों को हर्ष नहीं होगा। आहाहा! अन्तर में आनन्द की धारा में किसे हर्ष नहीं होगा? ऐसा कहते हैं। दस प्रकार का धर्म अर्थात्

चारित्र। स्वरूप का चारित्र, रमणता, वह दस प्रकार का धर्म है। आहाहा! कठिन बातें, भाई! दुनिया को अभी (कठिन लगता है)।

अकेला शरीर से ब्रह्मचर्य (पाले), वह कोई ब्रह्मचर्य नहीं है। पाँचों इन्द्रिय के विषयों को... काम, भोग कल कहा था न? काम अर्थात् स्पर्श और रसेन्द्रिय तथा घ्राण, आँख और कान, वह भोग। इन पाँचों इन्द्रिय के विषयों की ओर के झुकाव को छोड़कर अनीन्द्रिय ऐसा जो भगवान आत्मा... आहाहा! उसके सन्मुख होकर उसमें रमणता करना, इसका नाम ब्रह्मचर्य है। आहाहा! यह तो शरीर से ब्रह्मचर्य पाले तो (माने कि) हम बालब्रह्मचारी हो गये। ऐसा नहीं है, यहाँ तो कहते हैं। बालब्रह्म तो वह है कि जिसे आनन्द की रमणता बालक में से जिसे प्रगट हुई है। आहाहा! छोटी उम्र में से, देह की छोटी उम्र; देह की। आत्मा तो अनादि अनन्त है। वह आत्मा अनाकुल आनन्द का नाथ, उसकी मिठास के वेदन में बालपने से जिसे अन्तर में रमणता जगी है, उसे यहाँ बालब्रह्मचारी कहते हैं। समझ में आया? आहाहा!

कहते हैं कि ऐसा जो धर्म, आनन्दस्वरूप भगवान दस प्रकार का धर्म, उस आनन्द की रमणता (होना), वह दस प्रकार का धर्म है। उसे तीन लोक के अधिपति जिसे स्तवन करते हैं। ऐसे दस प्रकार के धर्म में किसे हर्ष नहीं होगा? आहाहा! किसे उसके आत्मा के स्वभाव में झुकाव नहीं होगा? पर के झुकाव में से कौन नहीं हटेगा? ऐसा जो धर्म वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा... यह दस प्रकार का धर्म वह मुनिधर्म की व्याख्या है परन्तु आंशिक चौथे और पाँचवें में भी होता है। यह मुख्य दस धर्म चारित्र के हैं, उसके यह भेद हैं। निर्विकल्प शान्ति। आहाहा! विकल्परहित भगवान आत्मा निर्विकल्प चीज़ है, उसकी अन्दर में निर्विकल्पता की रमणता होना, जैसा वह निर्विकल्पस्वरूप है, वैसी ही रमणता— निर्विकल्पता पर्याय में होना। आहाहा! ऐसी बातें हैं। इसका नाम चारित्र के दस धर्म कहा जाता है। समझ में आया? यह ब्रह्मचर्य (हुआ)।

अपने यहाँ वेदना का आया न? पूरा हो गया है?

मुमुक्षु : शुरुआत ही हुई है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ठीक! वेदना का भय। आहाहा! जिसे यह शारीरिक सुख-दुःख की कल्पना का वेदन, वह तो जहर का वेदन है। आहाहा! दुःख का वेदन है। उस धर्मी

को कहते हैं कि जिसे आत्मा शुद्ध चैतन्यघन उसका जिसे आनन्द का सागर—सत्ता ऐसी जिसकी सत्ता का स्वीकार दृष्टि में हुआ, उसे इन शारीरिक वेदनाओं का भय नहीं होता कि यह रोग होगा तो क्या होगा ? क्षय (टीबी) होगा तो क्या होगा ? समझ में आया ? क्योंकि ज्ञानी को अन्तर में आनन्दस्वरूप प्रभु वह जिसे वेदनयोग्य और वेदन करनेवाला मैं, और आनन्द वेदनयोग्य, वह मेरी वेदना है। अरे ! ऐसी बातें हैं। आहाहा ! यह कहा।

अभेदस्वरूप वर्तते हुवे वेद्य-वेदक के बल से... अभेद अर्थात् ? आत्मा ही आनन्द का वेदन करनेवाला और आनन्द का वेदन उसका। आहाहा ! अभेद कहा न ? भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द की मूर्ति, वह स्वयं अतीन्द्रिय आनन्द की पर्याय को वेदन करे और वेदनयोग्य वह अतीन्द्रिय आनन्द की पर्याय। वेदन करनेवाला भी आत्मा और वेदनयोग्य उसकी—आत्मा की पर्याय। आहाहा ! **(ऐसी वस्तुस्थिति के बल से)...** आहाहा ! क्या कहते हैं यह ? ऐसी जो वस्तु जो चैतन्य भगवान, उसकी जहाँ दृष्टि पड़ी वहाँ और उसका जो अनुभव हुआ, उसके बल से। आहाहा !

[यद् एकं अचलं ज्ञानं स्वयं अनाकुलैः सदा वेद्यते] एक अचल ज्ञान ही... आहाहा ! ज्ञान अर्थात् आत्मा। शुद्ध आत्मा, अचल ज्ञान, कभी चलित नहीं, ऐसी ध्रुव चीज़ भगवान नित्यानन्द प्रभु, आहाहा ! ऐसा अचल आत्मा ही **स्वयं निराकुल...** प्रभु स्वयं तो निराकुल आत्मा है। आहाहा ! उसमें आकुलता के विकल्प का प्रवेश नहीं है। वस्तु में आकुलता है ही नहीं। आहाहा ! अब ऐसी बातें। निराकुल भगवान आत्मा का जिसे निराकुलता का वेदन है, वह **स्वयं निराकुल पुरुषों के द्वारा...** आहाहा ! निराकुल ऐसा भगवान आत्मा और जिस पर्याय में निराकुलवाला पुरुष—आत्मा है, उससे वह वेदन में आता है। अरे ! ऐसा काम है, हों ! भाई ! आहाहा !

पाँच इन्द्रियाँ और उनकी ओर का विकल्प, उससे हटकर और अस्ति तत्त्व जो भगवान पूर्णानन्द की अस्ति—सत्ता, उसके अवलम्बन में जो गया, आहाहा ! उसे एक ही ज्ञान ही स्वयं निराकुल है, उसे वह वेदता है। ऐसी बात है। इसका नाम धर्म है। रागादि और पुण्यादि के परिणाम, वे कोई धर्म नहीं, वे तो आकुलता है और भगवान आत्मा निराकुल है। वह निराकुलस्वरूप भगवान... आहाहा ! आठ वर्ष की बालिका भी यदि सम्यग्दर्शन पाती है, आहाहा ! अरे ! तिर्यंच, ढाई द्वीप के बाहर असंख्य तिर्यंच भगवान ने कहे हैं। सिंह

और बाघ, नाग, बन्दर, हाथी और घोड़े असंख्य समकिती बाहर हैं। आहाहा! आता है प्रतिक्रमण में, स्थानकवासी के खामणां में। ढाई द्वीप के बाहर असंख्यात हैं। आहाहा! वह तिर्यंच का शरीर होने पर भी भगवान आत्मा अन्दर आत्मा के आनन्द को जाना है और अनुभव किया है, इसलिए वह उसे निराकुलता का निराकुल पुरुषों द्वारा निराकुलता का वेदन है। जिसे आकुलता—विकल्प का जाल वर्तता रहता है, आहाहा! वह निराकुल पुरुष नहीं है। निराकुल पुरुष नहीं अर्थात् परिणति में निराकुल पुरुष नहीं, ऐसा। वस्तु तो निराकुल है ही, परन्तु पर्याय में जिसे निराकुलता प्रगट हुई है, वह उसे अनुभव करता है परन्तु जिसे बाहर की खलबलाहट, पुण्य और पाप के विकल्प के जाल में उलझ गया है, आहाहा! वह तो दुःख को वेदता है। यह दुःख का वेदन, वह आत्मा का स्वरूप नहीं है। आहाहा!

शरीर और संयोग लाख, करोड़ प्रतिकूल हों, रोग हो, क्षय रोग हो। आहाहा! सोलह रोग हो, सातवें नरक के नारकी को तो सोलह रोग पहले से है। आहाहा! परन्तु जब वह अन्तर में गया हो तब... सातवें (नरक में) मिथ्यादृष्टि जाता है, समकिती नहीं जाता और वहाँ फिर समकित पाता है। सातवें नरक का नारकी। आहाहा! वह निराकुल आत्मा, वह निराकुल पर्याय से वेदता है। आहाहा! सातवाँ नरक किसे कहना, बापू! आहाहा! जिसकी शीत की वेदना, एक शीत का इतना जरा अंश यहाँ लावे तो दस हजार योजन के लोग सर्दी में मर जाएँ। ऐसी वहाँ सर्दी है। ऐसी सर्दी में उत्पन्न हुआ परन्तु जब भगवान शान्त आनन्दमूर्ति प्रभु ऐसी ठण्डक के गर्भ में अन्दर जाता है। आहाहा! बर्फ की शिला जैसे शीतल होती है, वैसे भगवान शीतल, आनन्दस्वरूप शीतल, ठण्डा, ठण्डा आत्मा निराकुल है। उस निराकुल का निराकुल पुरुषों द्वारा वेदन हो सकता है। आहाहा! विकल्प के जाल में उलझे हुए का यह काम नहीं है, कहते हैं। सूक्ष्म बात, भाई! आहाहा!

कहते हैं कि सदा **स्वयं निराकुल पुरुषों के द्वारा (–ज्ञानियों के द्वारा) सदा वेदन में आता है,...** आहाहा! इसका अर्थ यह हुआ कि प्रथम तुझे सम्यग्दर्शन प्रगट करना पड़ेगा। 'लाख बात की बात निश्चय उर लाओ' आता है न छहढाला में? 'छोड़ी जगत द्वंद फंद निज आतम उर ध्याओ' इस आत्मा का ध्यान करने से उसे आनन्द आता है। क्योंकि आत्मा आनन्दस्वरूप है। इसलिए निराकुल पुरुषों द्वारा वह आनन्द वेदन में आता है। आकुलतावाले जीवों को वह आनन्द नहीं होता। उस विकल्प की खलबलाहट, यह किया और यह किया और यह किया, माँग (की), आहाहा! दुनिया को अनुकूल रहने के

लिये मक्खन लगावे और ऐसा करे और वैसा करे, विकल्प के जाल में फँस गये हैं। आहाहा! वह मिथ्यादृष्टि है, कहते हैं। आहाहा!

जिसने विकल्प का जाल तोड़ा है और निराकुल पुरुष है, उसके द्वारा निराकुल आनन्द वेदन में आता है। उसे वह वेदना है। आहाहा! ज्ञानियों को ज्ञान वेदन योग्य है। है? **यह एक ही वेदना (ज्ञानवेदन) ज्ञानियों के है। (आत्मा वेदक है और ज्ञान वेद्य है।) [ज्ञानिनः अन्या आगत-वेदना एव हि न एव भवेत्] ज्ञानी के दूसरी कोई आगत (-पुद्गल से उत्पन्न) वेदना...** आहाहा! नमक छिड़के और फिर अग्नि डाले, (उसकी) वेदना धर्मी को नहीं है। आहाहा! क्योंकि उसकी ओर का उसका लक्ष्य ही छूट गया है। आहाहा! और जहाँ लक्ष्य गया है, वह तो निराकुल आनन्द का नाथ है। आहाहा! सूक्ष्म बात, बापू! भगवन्त! तेरा स्वरूप ही कोई अलग जाति है, भाई! आहाहा! लगे निश्चय, परम सत्य कठिन लगे परन्तु वस्तु तो ऐसी है। आहाहा!

धर्मी को दूसरी कोई आयी हुई वेदना नहीं होती। आहाहा! निर्धनता आ पड़ी, क्षय का रोग आदि आ पड़ा, आहाहा! वह वेदना धर्मी को नहीं है। उसका वह ज्ञाता है और ज्ञान और आनन्द का वेदन करनेवाला है। अरे! ऐसी बातें हैं। यह दस धर्म पूर्ण होते हैं। कहते हैं कि इन दस धर्म के आनन्द का वेदन, आहाहा! (उसमें) किसे हर्ष नहीं आयेगा? ऐसा कहते हैं। जो दस धर्म, त्रिलोक के बड़े तीन लोक के अधिपति भी जिसकी—दस धर्म की स्तुति करते हैं, आहाहा! वह धर्म किसे हर्ष नहीं देगा? उस धर्म में किसे हर्ष नहीं आयेगा? कहते हैं। आहाहा! अब ऐसी बातें। यह तो क्रिया करो और व्रत करो और अपवास करो। वह तो आकुलता है। आहाहा! उस आकुलतारहित निराकुल पुरुषों द्वारा निराकुलता वेदन में आती है। आहाहा! ऐसी बातें अगमनिगम की बातें! साधारण लोगों को तो बेचारे बाहर के विकल्प के जाल में उलझ गये हैं। यह किया और इसे अनुकूल किया और इसे मक्खन लगाया और इसे अनुकूल होवें तो हम बाहर आवें—प्रसिद्धि प्राप्त हो, (ऐसी) आकुलता के जाल में उलझ गये। परन्तु निराकुल भगवान आत्मा, वह वेदना एक ही है। धर्मी को दूसरी वेदना नहीं होती।

[तद् भीः कुतः] इसलिए उसे वेदना का भय कहाँ से हो सकता है? क्यों? **'सः'** वह धर्मी-ज्ञानी आत्मा **'सः स्वयं सततं निश्शंकः सहजं ज्ञानं सदा विन्दति' वह तो स्वयं निरन्तर निःशंक वर्तता हुआ सहज (आत्मा) ज्ञान का सदा अनुभव**

करता है। आहाहा! ज्ञान का शुद्ध परिणमन हुआ, वह ज्ञान के वेदन में आता है। आहाहा! राग का, पुण्य का, दया, दान का परिणमन होना, वह सब दुःख का वेदन है। ऐसी बातें लोगों को कठिन पड़ती है। क्या हो? इसे करना पड़ेगा, भाई! जनम-मरण के दुःख... आहाहा! चारों ओर भ्रमता है चक्कर पूरा। वह कुम्हार का चाक घूमता है, वैसे चार गति में घूमता है। यह एक मनुष्य हो और फिर वापस पशु हो और फिर नरक में जाए। आहाहा! धर्मी तो आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूपी वह मैं, ऐसा अनुभव हुआ है। इसलिए **वह तो स्वयं निरन्तर निःशंक वर्तता हुआ सहज ज्ञान (आत्मा) का सदा अनुभव करता है।** ज्ञान अर्थात् आत्मा। आहाहा!

भावार्थ – सुखदुःख को भोगना वेदना है। ज्ञानी के अपने एक ज्ञानमात्र स्वरूप का ही उपभोग है। भारी कठिन काम। धर्मी उसे कहते हैं कि जिसे आत्मा आनन्दस्वरूप की दृष्टि और अनुभव हुआ। उसे तो एक आनन्द का ही वेदन होता है, ज्ञान का ही वेदन (होता है)। आहाहा! एक अपने ज्ञानमात्र स्वरूप का-आत्मा का ही अनुभव है। **वह पुद्गल से होनेवाली वेदना को वेदना ही नहीं समझता,...** आहाहा! शरीर में रोग, दरिद्रता (हो), क्षय रोग, दारुण रोग प्रगट हों, उन्हें ज्ञानी रोग नहीं जानता। वह तो ज्ञानी के ज्ञान में ज्ञेयरूप से (ज्ञात होते हैं)। आहाहा! ऐसा मार्ग। लोगों को तो क्या करे? अभी लोगों को सुनने को नहीं मिलता। बाहर का यह करो, यह करो, यह करो। करो और मरो। आहाहा! भाई ने नहीं कहा? सोगानी। करना, वह मरना है। राग को करना, यह राग करो, ऐसा करो, यह करो, राग को करो, वह तो मरना है। सूक्ष्म बात, भाई! आहाहा!

उसे उभारने का प्रभु का मार्ग निराकुल आनन्द में जाना, जहाँ निराकुल भगवान विराजता है। आहाहा! उसके समीप में जाना और जाने पर जो पर्याय में आनन्द आवे, वह एक ही वेदना ज्ञानी को है। दूसरी लाख, करोड़ वेदना, प्रतिकूलता, निर्धन हो, खाने को मिले नहीं, ऐसी निर्धनता आ जाए तो भी समकिती है। उसकी वेदना उसे नहीं है। आहाहा! और धर्मी को अरबों के बड़े राज मिले, उसकी वेदना ज्ञानी को नहीं है। वह उसकी ओर के वेदन को तो दुःख जानकर, जहर जानकर छोड़ देता है। छोड़ता जाता है। अन्दर आत्मा का आदर करता जाता है। आहाहा! **इसलिए ज्ञानी के वेदनाभय नहीं है। वह तो सदा निर्भय वर्तता हुआ...** आहाहा! पूरे सिद्धान्त का सार यह है। **ज्ञान का अनुभव करता है।**

कलश - १५७

अब अरक्षाभय का काव्य कहते हैं:-

(शार्दूलविक्रीडित)

यत्सन्नाश-मुपैति तन्न नियतं व्यक्तेति वस्तुस्थिति-
र्ज्ञानं सत्स्वय-मेव तत्किल ततस्त्रातं किमस्यापरैः।
अस्यात्राणमतो न किञ्चन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो,
निश्शङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति।।१५७।।

श्लोकार्थ : [यत् सत् तत् नाशं न उपैति इति वस्तुस्थितिः नियतं व्यक्ता] जो सत् है, वह नष्ट नहीं होता, ऐसी वस्तुस्थिति नियमरूप से प्रगट है। [तत् ज्ञानं किल स्वयमेव तत्] यह ज्ञान भी स्वयमेव सत् (सत्स्वरूप वस्तु) है, (इसलिए नाश को प्राप्त नहीं होता), [ततः अपरैः अस्य त्रातं किं] इसलिए पर के द्वारा उसका रक्षण कैसा? [अतः अस्य किंचन अत्राणं न भवेत्] इस प्रकार (ज्ञान निज से ही रक्षित है इसलिए) उसका किंचित्मात्र भी अरक्षण नहीं हो सकता [ज्ञानिनः तद्-भीः कुतः] इसलिए (ऐसा जाननेवाले) ज्ञानी को अरक्षा का भय कहाँ से हो सकता। [सः स्वयं सततं निश्शंकः सहजं ज्ञानं सदा विन्दति] वह तो स्वयं निरन्तर निःशंक वर्तता हुआ सहज ज्ञान का सदा अनुभव करता है।

भावार्थ : सत्तास्वरूप वस्तु का कभी नाश नहीं होता। ज्ञान भी स्वयं सत्ता-स्वरूप वस्तु है; इसलिए वह ऐसा नहीं है कि जिसकी दूसरों के द्वारा रक्षा की जाए तो रहे, अन्यथा नष्ट हो जाये। ज्ञानी ऐसा जानता है, इसलिए उसे अरक्षा का भय नहीं होता; वह तो निःशंक वर्तता हुआ स्वयं अपने स्वाभाविक ज्ञान का सदा अनुभव करता है।।१५७।।

कलश - १५७ पर प्रवचन

१५७ आया न? अरक्षाभय। मेरा कोई रक्षण होवे तो मैं रह सकूँ, ऐसा माननेवाला (अज्ञानी है)। गढ़, किला हो, पैसा हो, नौकर अच्छे हों, मुझे रक्षा करे तो मैं रह सकूँ, ऐसी पीड़ा, ऐसा भाव ज्ञानी को नहीं होता। त्रिकाल रक्षास्वरूप ही भगवान है। उसे मैं रखूँ तो रक्षा

हो, ऐसी वह चीज़ नहीं है। आहाहा!

यत्सन्नाश–मुपैति तन्न नियतं व्यक्तेति वस्तुस्थिति–
र्ज्ञानं सत्स्वय–मेव तत्किल ततस्त्रातं किमस्यापरैः।
अस्यात्राणमतो न किञ्चन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो,
निश्शङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति।।१५७।।

आहाहा! **'यत् सत्' 'यत्'** जो सत् है, वह **'तत् नाशं न उपैति'** भगवान आत्मा त्रिकाली सत् है। आहाहा! है, सत् है, वह नाश नहीं होता। है, उसका नाश नहीं। सत् है, प्रभु। आहाहा! अनन्त गुण से विराजमान प्रभु **जो सत् है, वह नष्ट नहीं होता–ऐसी वस्तुस्थिति नियमरूप से...** निश्चयपने **प्रगट है।** आहाहा! बाहर से रक्षा करूँ तो मेरा आत्मा रहे, ऐसे सब साधन रखूँ, आहाहा! ऐसा धर्मी को नहीं होता। मेरा भगवान तो सत्ता से आरक्षित ही है। पर से रक्षा करे, ऐसा है ही नहीं। पर के महल, मकान, नौकर-चाकर, पुलिस, बन्दूक, ऐसे साधन हो तो मेरी रक्षा हो, (ऐसा माननेवाला) मूढ़ है। आहाहा! भारी कठिन, दुनिया से (अलग प्रकार है।)

ऐसी वस्तुस्थिति नियमरूप से... निश्चयपने **प्रगट है।** सत् प्रभु शाश्वत् नित्यानन्द प्रभु सदा प्रगट है। वस्तु है, वह वस्तु प्रगट ही है। अनादि है, अनन्त काल से है, ऐसी की ऐसी है। आहाहा! **[तत् ज्ञानं किल स्वयमेव तत्] यह ज्ञान (आत्मा) भी स्वयमेव सत् (सत्स्वरूप वस्तु) है...** जैसे कोई भी सत हो, उसका नाश नहीं होता, वैसे आत्मा भी सत् है, कहते हैं। आहाहा! भारी काम, भाई! वीतरागमार्ग बहुत अलौकिक है, बापू! वीतरागभाव से वह वीतरागपना प्रगट होता है। आहाहा! राग की क्रिया से वह वीतरागपना प्रगट नहीं होता, ऐसा कहते हैं। आहाहा! ज्ञान भी स्वयंमेव सत्स्वरूप वस्तु है। चीज़ नाश नहीं पाती।

[ततः अपरैः अस्य त्रातं किं] इसलिए पर के द्वारा उसका रक्षण कैसा? 'त्रातं' अर्थात् रक्षण। स्वयं सत् अविनाशी भगवान है, उसे पर द्वारा रक्षा, यह क्या? आहाहा! ऐसी बातें। आठ वर्ष की बालिका भी सम्यक्त्व पावे तो यह होता है, ऐसा कहते हैं। सत् भगवान वस्तु है। आहाहा! मेरा आनन्द तो मुझमें है। वह आनन्द सत् है, वह कब नाश हो? आहाहा! **'अपरैः अस्य त्रातं किं' पर के द्वारा उसका रक्षण कैसा?** आहाहा!

मैं आत्मा दुर्ग-किला हूँ। उसे रक्षण क्या? उसमें किसी का प्रवेश नहीं। आहाहा! जिसमें विकल्प का प्रवेश नहीं, ऐसा भगवान दुर्ग-किला, उसकी मैं रक्षा करूँ तो रहे, ऐसा नहीं है। अरे! ऐसी बातें। पर्यूषण में तो अपवास करना और यह करना और वह करना, ऐसा होवे तो समझ में तो आये। यह तो विकल्प है, बापू! राग है। यह अपवास-बपवास तपस्या नहीं है। तपस्या तो चैतन्यमूर्ति को तपाना, अन्दर प्रगट करना। जैसे सोने को गेरु लगने से सोना शोभता है, वैसे भगवान आनन्द के नाथ में एकाग्र होकर आनन्द की शोभा अन्दर प्रगट हो, उसे उपवास और तप कहते हैं। बाकी तो लंघन है। आहाहा!

'अपरैः अस्य त्रातं किं' भगवान के रक्षण के लिये दूसरे के शरण की क्या आवश्यकता? आहाहा! **इस प्रकार (ज्ञान निज से ही रक्षित है इसलिए)...** ज्ञान अर्थात् आत्मा। **इस प्रकार (ज्ञान निज से ही रक्षित है, इसलिए) उसका किंचित्मात्र भी अरक्षण नहीं हो सकता...** आहाहा! किंचित् भी उसकी रक्षा करना, ऐसा है नहीं। वह तो त्रिकाल रक्षित है। जिसकी दृष्टि में नित्यानन्द प्रभु आया, उसे अब रक्षा किसकी करूँ? किसकी रक्षा से मैं रहूँ? यह है नहीं। आहाहा! **किंचित्मात्र भी अरक्षण नहीं हो सकता... [ज्ञानिनः तद्-भीः कुतः] इसलिए (ऐसा जाननेवाले) ज्ञानी को...** ज्ञानी अर्थात् धर्मी, सम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थान से। यह आ गया है, नहीं? ज्ञानी किसे कहना? अविरति से (लेकर) सबको ज्ञानी कहना। वे और ऐसा कहें कि ज्ञानी नहीं कहा जाता। निर्विकल्प ध्यान हो, उसे ज्ञानी कहा जाता है। इसलिए यह बाहर की क्रिया करे और निर्विकल्प हो। धूल भी नहीं है। आहाहा! क्या हो? ज्ञानी अर्थात् धर्मी को ऐसा जानने से अर्थात् अरक्षण हो सकता नहीं, ऐसा मैं हूँ। जरा भी अरक्षण नहीं। रक्षण होवे तो मैं रहूँ, ऐसा नहीं। उसका अरक्षण नहीं हो सकता। आहाहा!

वह तो स्वयं निरन्तर निःशंक वर्तता हुआ... जो वस्तु अखण्ड आनन्दस्वरूप ध्रुव है, उसे जिसने पकड़ा है और अनुभव किया है, (वह) **स्वयं निरन्तर निःशंक वर्तता हुआ...** अपनेपन में निरन्तर निःशंक वर्तता हुआ। सहज आत्मा को सदा वेदता है। आहाहा! सदा आत्मा को अनुभव करता है, सदा अनुभव करता है। चाहे जैसे प्रसंग में होवे तो उसे तो आत्मा का ही वेदन मुख्य है। रागादि हो, उनका वेदन नहीं परमात्मा को। दृष्टि की प्रधानता से कथन है न। वेदन है परन्तु वह भिन्न है। आनन्द का वेदन है, वह आत्मा

का है। ज्ञानी को राग आवे, उसका वेदन है परन्तु वह वेदन दुःखरूप है। जितना आत्मा के सन्मुख होकर आनन्द प्रगट हुआ, वह सुखरूप है और जितना पर के लक्ष्य से राग हो, वह दुःख है। दोनों का वेदन है। परन्तु यहाँ तो उस वेदन को गौण करके वह आत्मा के आनन्दस्वरूप का ही वेदन है। आहाहा! काम बहुत कठिन।

वह तो **निरन्तर निःशंक वर्तता हुआ...** निर्भय वर्तता हुआ, स्वाभाविक आत्मा को सदा अनुभव करता है। आहाहा! 'सदा' शब्द पड़ा है न। प्रत्येक में सदा है, प्रत्येक में। **'स्वयं सततं निश्शंकः सहजं ज्ञानं सदा विन्दति'** आहाहा! क्योंकि आत्मा जो सम्यक् दर्शन को प्राप्त हुआ, तब उसकी पर्याय में आनन्द का वेदन (आया)। **'सदा विन्दति'** उसे ही वह वेदता और अनुभव करता है, ऐसा कहते हैं। जिसे ध्रुव पर दृष्टि जाती है, उसे पर्याय में आनन्द का वेदन आता है, तब उसकी दृष्टि ध्रुव के ऊपर है, ऐसा निर्णय होता है। आहाहा! वस्तु है, भगवान पूर्णानन्द का नाथ, उस पर दृष्टि गयी, पर्याय ने उसे स्वीकार किया कि मैं तो अखण्ड आनन्दस्वरूप हूँ। ऐसा स्वीकार किया, उसकी पर्याय में आनन्द आता है, उसका नमूना आता है। वह आनन्द आवे, वह उसका फल है। आनन्द न आवे और दृष्टि ध्रुव की हुई है, यह बात मिथ्या है। आहाहा! अब ऐसी बातें। अलकमलक की नहीं परन्तु अगमगम्य की (बातें हैं)। आहाहा! ऐसा मार्ग है, बापू!

सदा अनुभव करता है। सदा। आहाहा! अर्थात् कि आनन्द, ज्ञानस्वरूप है—ऐसा जो अनुभव हुआ, वह भले उपयोग राग में जाए तो भी उसका वेदन ज्ञान है, वहाँ तो अकम्परूप से पड़ा है। ज्ञान के आनन्द से हटता नहीं। आहाहा! ऐसी बातें अब धर्म के नाम से। वे सीधी सट्ट (थी)। स्थानकवासी में कहे, सामायिक करो, प्रौषध करो, प्रतिक्रमण करो, सूर्यास्त से पूर्व भोजन करो, अमुक त्यागा, यह त्याग किया, यह त्यागो। मन्दिरमार्गी में भक्ति करो, पूजा करो, यात्रा करो। दिगम्बर में वस्त्र छोड़ो। आहाहा! परन्तु मूल बात की खबर बिना तेरे (त्याग किसका?) आहाहा!

यहाँ तो यह कहा। **भावार्थ : सत्तास्वरूप वस्तु का कभी नाश नहीं होता।** है, उसका कभी नाश नहीं होता; है, वह न हो - ऐसा कभी नहीं होता। भगवान आत्मा है। है, वह कभी नहीं—ऐसा नहीं होता। है, वही नहीं होगा? आहाहा! वस्तु भगवान आत्मा सत्ता सत् है। **ज्ञान भी स्वयं सत्ता-स्वरूप वस्तु है;...** पहला सिद्धान्त का स्थापन

किया कि सत्तास्वरूप वस्तु का कभी नाश नहीं होता। है, उसका अभाव कभी नहीं होता। यह तो सिद्धान्त कहा। वैसे आत्मा भी स्वयं सत्तास्वरूप वस्तु है। आहाहा! अरेरे! यह शरीर, वाणी और मन ये सब जड़ मिट्टी, बाहर की सब चमक, अग्नि है सब। उसके लक्ष्य से तो ज्वाला सुलगती है। उसके लक्ष्य से तो ज्वाला-राग (सुलगता है)। भगवान के लक्ष्य से तो अरागी आनन्द होता है। आहाहा! है ?

आत्मा, ज्ञान अर्थात् आत्मा। **ज्ञान भी स्वयं सत्ता-स्वरूप वस्तु है; इसलिए वह ऐसा नहीं है कि जिसकी दूसरों के द्वारा रक्षा की जाए तो रहे,...** दूसरों के द्वारा रक्षा की जावे तो रहे, **अन्यथा नष्ट हो जाए।** ऐसी सत्ता—वस्तु नहीं है। परन्तु कहाँ उसकी दृष्टि ही जहाँ पर्याय और राग पर अनादि की है। अनन्त बार साधु हुआ, दिगम्बर मुनि, हों! तो भी दृष्टि दया, दान और व्रत, भक्ति और इस विकल्प और पर्याय पर दृष्टि है। मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! महासत्ता प्रभु है, अर्थात् कि महा अनन्त गुणरूप होनेरूप चीज़ है। आहाहा! पर से नहीं होनेरूप, स्व से होनेरूप है, ऐसी चीज़ पर दृष्टि की नहीं। आहाहा!

ज्ञानी ऐसा जानता है... यह क्या कहा ? कि कोई रक्षा करनेवाला होवे तो मैं रहूँ, ऐसी चीज मैं नहीं हूँ। मैं तो सत्ता त्रिकाली वस्तु हूँ। आहाहा! रक्षित ही है, उसकी रक्षा करो तो रक्षित है, ऐसा है नहीं। आहाहा! **ज्ञानी ऐसा जानता है, इसलिए उसे अरक्षा का भय नहीं होता; वह तो निःशंक वर्तता हुआ स्वयं अपने स्वाभाविक ज्ञान का...** अर्थात् आत्मा का। ज्ञान का अर्थात् कि राग और पुण्य का नहीं परन्तु **ज्ञान का सदा अनुभव करता है।** आहाहा! राग से भिन्न भेदज्ञान हुआ है। वह अब भेदज्ञान है, वह अभेद नहीं होता। सदा भेदज्ञानरूप वर्तता है। आहाहा! अब ऐसी बातें, भाई! लोगों को कठिन पड़ती है। **अरक्षा का भय नहीं होता; वह तो निःशंक वर्तता हुआ स्वयं अपने स्वाभाविक (आत्मा) ज्ञान का सदा अनुभव करता है।** अब अगुप्ति।

कलश - १५८

अब अगुप्तिभय का काव्य कहते हैं:-

(शार्दूलविक्रीडित)

स्वं रूपं किल वस्तुनोऽस्ति परमा गुप्तिः स्वरूपे नय-
च्छक्तः कोऽपि परः प्रवेष्टुमकृतं ज्ञानं स्वरूपं च नुः।
अस्यागुप्तिरतो न काचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो,
निश्शङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ।।१५८।।

श्लोकार्थ : [किल स्वं रूपं वस्तुनः परमा गुप्तिः अस्ति] वास्तव में वस्तु का स्व-रूप ही (निजरूप ही) वस्तु की परम 'गुप्ति' है [यत् स्वरूपे कः अपि परः प्रवेष्टुम् न शक्तः] क्योंकि स्वरूप में कोई दूसरा प्रवेश नहीं कर सकता; [च] और [अकृतं ज्ञानं नुः स्वरूपं] अकृतज्ञान (-जो किसी के द्वारा नहीं किया गया है, ऐसा स्वाभाविक ज्ञान) पुरुष का अर्थात् आत्मा का स्वरूप है; (इसलिए ज्ञान आत्मा की परम गुप्ति है।) [अतः अस्य न काचन अगुप्तिः भवेत्] इसलिए आत्मा की किंचित्मात्र भी अगुप्तता न होने से [ज्ञानिनः तद्-भीः कुतः] ज्ञानी को अगुप्ति का भय कहाँ से हो सकता है? [सः स्वयं सततं निश्शंकः सहजं ज्ञानं सदा विन्दति] वह तो स्वयं निरन्तर निःशंक वर्तता हुआ सहज ज्ञान का सदा अनुभव करता है।

भावार्थ : 'गुप्ति' अर्थात् जिसमें कोई चोर इत्यादि प्रवेश न कर सके ऐसा किला, भोंयरा (तलघर) इत्यादि; उसमें प्राणी निर्भयता से निवास कर सकता है। ऐसा गुप्त प्रदेश न हो और खुला स्थान हो तो उसमें रहनेवाले प्राणी को अगुप्तता के कारण भय रहता है। ज्ञानी जानता है कि-वस्तु के निज स्वरूप में कोई दूसरा प्रवेश नहीं कर सकता, इसलिए वस्तु का स्वरूप ही वस्तु की परम गुप्ति अर्थात् अभेद्य किला है। पुरुष का अर्थात् आत्मा का स्वरूप ज्ञान है; उस ज्ञानस्वरूप में रहा हुआ आत्मा गुप्त है क्योंकि ज्ञानस्वरूप में दूसरा कोई प्रवेश नहीं कर सकता। ऐसा जाननेवाले ज्ञानी को अगुप्तता का भय कहाँ से हो सकता है? वह तो निःशंक वर्तता हुआ अपने स्वाभाविक ज्ञानस्वरूप का निरन्तर अनुभव करता है।।१५८।।

कलश - १५८ पर प्रवचन

स्वं रूपं किल वस्तुनोऽस्ति परमा गुप्तिः स्वरूपे नय-
च्छक्तः कोऽपि परः प्रवेष्टुमकृतं ज्ञानं स्वरूपं च नुः।
अस्यागुप्तिरतो न काचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो,
निश्शङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति।।१५८।।

क्या कहते हैं ? आहाहा! [**किल स्वं रूपं वस्तुनः परमा गुप्तिः अस्ति**] **वास्तव में...** वस्तु भगवान आत्मा, वह **स्व-रूप ही (निजरूप ही) वस्तु की परम 'गुप्ति' है...** उसे कोई छीन लेगा, कोई चोर लेगा, ऐसी वह चीज़ नहीं है। आहाहा! अरे! मेरी वस्तु कोई चोर लेगा। परन्तु तू गुप्त ही है। गुप्त है, उस किला-गुप्त में किसी का प्रवेश नहीं है। आहाहा! वह मुझे कोई हर ले जाएगा, छीन लेगा, मुझे चोर लेगा। परन्तु तुझे कौन (चोर कर ले जाए) ? आहाहा! बाहर की वस्तु है, वह तो इसकी नहीं और उसमें यह स्वयं नहीं; इसलिए उसमें कुछ प्रश्न है नहीं। आहाहा! वास्तव में वस्तु का स्वरूप **वस्तु की परम 'गुप्ति' है...** अर्थात् कि अन्तर से गुप्त करूँ, (ऐसा नहीं है)। उसे कोई छीन ले, इसलिए मैं मेरी गुप्ति करूँ, गुप्त हो जाऊँ—ऐसा नहीं है। वह तो गुप्त ही है। आहाहा! अरे.. अरे..! ऐसी बातें।

यह तो हड्डियाँ, चमड़ी है यह तो। यह कहीं आत्मा नहीं है। अन्दर कर्म है, वह कहीं आत्मा नहीं है तथा दया, दान के विकल्प उठें, वे कहीं आत्मा नहीं है, वे तो राग—अनात्मा है। आहाहा! अन्दर जो आत्मा है, वह तो त्रिकाली गुप्तस्वरूप है। गुप्त किला है, दुर्ग-किला है। आहाहा! मकान में लोहे के कठोर चद्दर डाले हों, उस किले में कोई प्रवेश नहीं कर सकता। पवन प्रवेश नहीं कर सकती तो फिर चोर कहाँ से प्रवेश करे ? लोहे के होते हैं न बड़े चद्दर... चद्दर। उसी प्रकार यह भगवान तो दुर्ग—किला है। आहाहा! जिसमें विकल्प का प्रवेश नहीं तो कोई उसे छीन ले या कोई उसे हर ले या कोई उसे उसमें से ले जाए (ऐसा नहीं है)। आहाहा! अब ऐसी व्याख्या। पर्यूषण के दिनों में तो उपवास करो, यह करो, वह करो, सूर्यास्त से पूर्व (भोजन करो)। दस उपवास करे तो ओहोहो! (हो जाता है)। अब वह तो लंघन है, सुन न! आत्मा अन्दर गुप्त पड़ा है, उसकी तो तुझे खबर नहीं

और बाहर में विकल्प के जाल में रुककर (मानता है कि) मुझे धर्म हो गया। मिथ्यात्व का पोषण है। आहाहा! कठिन काम।

कहते हैं कि मुनि धर्मी ऐसा जानते हैं, मेरी चीज़ है, वह गुप्त ही है। मुझे कोई छीन ले, हर ले, चोर ले—ऐसी चीज़ ही नहीं है। आहाहा! वह आता है न प्रवचनसार में, नहीं? ऐसा कि यह चोर है, इससे अब मैं गुप्त होता हूँ। अमृतचन्द्राचार्य, प्रवचनसार में आता है। मैंने मेरा नाथ आत्मा देखा (जाना), अनुभव किया है तो यह सब रागादि चोर हैं, इनसे मुझे अब छूटना है और अब स्थिर होता हूँ। प्रवचनसार में है। आहाहा! रागादि चोर, कोई पर चोर नहीं। आहाहा! उनसे बचकर (रहना है)। प्रवचनसार में शुरुआत में है। आहाहा! आचार्यों ने तो गजब काम किया है।

(यहाँ) कहते हैं, जो मेरा स्वरूप है, वह परम गुप्ति ही है, गुप्त ही है। आहाहा! किला बड़ा है, वज्र का किला है, जिसमें कोई प्रवेश नहीं कर सकता, (ऐसा) गुप्त हूँ। आहाहा! दूसरे मुझे देख सके, ऐसा मैं नहीं। आहाहा! मैं मुझे देख सकूँ, ऐसी गुप्त चीज़ है। समझ में आया? दूसरा मुझे देख नहीं सके तो फिर ले सके, यह कहाँ आया? आहाहा! ऐसी बातें हैं। समयसार की बात परम स्वभाव की दृष्टि की बात है। आहाहा! जिसे अनन्त काल में चार गति में भटकते हुए एक समय भी आत्मज्ञान हुआ नहीं। आहाहा! वह आत्मज्ञान यह चीज़ है। जो गुप्त वस्तु है, उसे जिसने दृष्टि में प्राप्त की है... आहाहा! गोपन ही है। उसे गोपन करूँ तो रहे, ऐसा नहीं है। यह गोपन है। आहाहा!

वास्तव में **(निजरूप ही) वस्तु की परम 'गुप्ति' है...** ऐसा कहा न? **क्योंकि स्वरूप में कोई दूसरा प्रवेश नहीं कर सकता;...** मेरे स्वरूप में दुर्ग किला वज्र, वज्र का गढ़ है, उसमें पवन प्रवेश नहीं कर सकती तो फिर कोई मनुष्य आ सके, यह तो है नहीं। आहाहा! 'पवन' शब्द से जिसमें राग का विकल्प प्रवेश नहीं कर सकता तो दूसरे उसे ले जाएँ, यह बात है कहाँ? आहाहा!

मुनियों को मेरुपर्वत के साथ ऐसे पछाड़ते हैं। विरोधी देव हो (वह ऐसा करता है)। (मुनि) प्रमाद में हो तब, अप्रमत्तदशा हो तो ले नहीं सकता। छठवें गुणस्थान में विकल्प में हो, (तब) उठाता है। मेरुपर्वत के साथ, धोती धावे (वैसे मुनि को) पछाड़ता है। परन्तु कहते हैं कि मैं तो गुप्त हूँ। मैं (शरीर) कहाँ हूँ? मेरा पछाड़ भी नहीं (और) मुझे किसी

ने पकड़ा भी नहीं। उस आनन्द के सागर में गुप्त में अन्दर पड़ते हैं और यहाँ पछाड़ता है, वहाँ केवल (ज्ञान) पाकर मोक्ष में जाते हैं। आहाहा! वहाँ से अनन्त मोक्ष में गये हैं। मेरुपर्वत के कण-कण से, मेरु ऐसा है न? तो वहाँ कितनी ही जगह बैठने के ठिकाने नहीं हैं, तो भी वहाँ पछाड़ मारते हैं। वहाँ आगे अन्दर गुप्त में रमकर केवलज्ञान पाकर चले जाते हैं। शरीर नीचे पड़ा रहता है, आत्मा ऊपर चला जाता है। आहाहा! कहते हैं कि जिसे किसी ने उठाया भी नहीं और जिसे पछाड़ की नहीं। आहाहा! सुना है यह?

मेरुपर्वत ऐसे खड़ा है न? जहाँ वन है, वहाँ तो बैठने का स्थान है परन्तु ऐसे गोटी के आकार में ऐसे सीधा है, वहाँ बैठा नहीं जा सकता तो भी उस-उस कण-कण से अनन्त मोक्ष में गये हैं। आहाहा! क्योंकि ऊपर अनन्त सिद्ध एकसाथ ऐसे स्थित हैं। एक जगह अनन्त सिद्ध हैं। उस जगह अनन्त किस प्रकार हुए? शरीर को पछाड़ा है, वहाँ स्वयं गुप्त हैं, उन्हें तो कोई पछाड़ सकता नहीं। आहाहा! उस गुप्त में अन्दर में रमणता करता आत्मा, जिसे रक्षा का या कोई चोर ले, उसका भय नहीं, वह निर्भयरूप से अन्दर में रहता है। निर्भयरूप से अन्दर गुप्त होने पर केवलज्ञान जलहलज्योति प्रगट होती है। आहाहा! वहाँ से देह नीचे रह जाती हैं, आत्मा ऊपर चला जाता है। मेरुपर्वत के एक-एक कण में... आहाहा! समझ में आया? कैसे?

और [अकृतं ज्ञानं नुः स्वरूपं] अकृतज्ञान (-जो किसी के द्वारा नहीं किया गया है... वह तो स्वाभाविक वस्तु है। भगवान आत्मा किसी ने किया है, ऐसा नहीं है। वह तो अकृत्रिम अनादि की चीज़ है। आहाहा! [**अकृतं ज्ञानं नुः स्वरूपं**] ज्ञान अर्थात् आत्मा। **अकृतज्ञान (-जो किसी के द्वारा नहीं किया गया है, ऐसा स्वाभाविक ज्ञान) पुरुष का अर्थात् आत्मा का स्वरूप है;...** आत्मा का ज्ञानस्वरूप, वह स्वाभाविक / अकृत्रिम है, किसी ने किया हुआ नहीं है। अनादि सत् है। उसे कोई चोरी कर जाए, घात कर जाए, छीन ले, ऐसी कोई चीज़ नहीं है। आहाहा! बाहर की चीज़ ले जाए तो वह बाहर की चीज तो इसकी नहीं है। समझ में आया? उसमें मेरा कुछ ले गया है, ऐसा नहीं है। वह चीज़ कहीं मेरी नहीं थी। मेरी होवे तो ले जाए, परन्तु मेरी नहीं थी, फिर ले कौन जाए? जो मेरी चीज़ है, उसे तो कोई स्पर्श नहीं कर सकता। आहाहा! ऐसा मार्ग है।

भाई! जन्म-मरणरहित होने का मार्ग बहुत अलौकिक है। आहाहा! चौरासी के

अवतार देखो न, यह मोरबी में देखो न कैसा हुआ ? आहाहा ! बेचारे कितने लोग मर गये। अस्पताल में ३५० से ऊपर मुर्दे निकले। श्रावण महीने में रामजी मन्दिर में अस्सी महिलाएँ प्रार्थना करती थीं। पानी गया, सब मुर्दे, मर गये। अरर ! मरकर कहाँ जाना उन्हें ? क्योंकि उस समय तो यह शरीर कैसे निभे, कैसे निभे ? (ऐसा चलता हो)। अरर ! बहुत तो बेचारे आर्य मनुष्य हों (तो) पशु में जाए। अरेरेरे ! आहाहा ! यहाँ से ऐसी स्थिति में देह छूटे, (फिर) पशु में जाए। वहाँ मैं कौन हूँ, ऐसा सुनने को मिले नहीं। आहाहा !

यहाँ कहते हैं, मैं तो अकृत ज्ञान हूँ। किसी से नहीं किया गया, ऐसा आत्मा का स्वरूप। है न ? पुरुष अर्थात् आत्मा, ऐसा। [**अकृतं ज्ञानं नुः स्वरूपं**] **पुरुष का अर्थात् आत्मा का स्वरूप है; (इसलिए ज्ञान आत्मा की परम गुप्ति है।)** ज्ञान—आत्मा तो अन्दर गुप्त ही है। [**अतः अस्य न काचन अगुप्तिः भवेत्**] **इसलिए आत्मा की किंचित्मात्र भी अगुप्तता...** नहीं। आहाहा ! बाहर में जरा भी नहीं रहता। अन्दर गुप्त है। आहाहा ! राग से भी भिन्न भगवान अन्दर गुप्त है। आहाहा ! राग भी जिसे स्पर्श नहीं करता तो दूसरी कोई चीज़ छीन ले और हर ले, (ऐसा नहीं है)। आहाहा ! राग आता है, वह भी यहाँ स्वभाव को स्पर्श नहीं करता और स्वभाव, वह राग को स्पर्श नहीं करता। उसी प्रकार मैं राग से परम गुप्तस्वरूप ही हूँ। आहाहा ! अगुप्तिपना नहीं है।

[**ज्ञानिनः तद्-भीः कुतः**] **ज्ञानी को अगुप्ति का भय कहाँ से हो सकता है ?** आहाहा ! कोई छीन लेगा या चोर लेगा—ऐसा भय उसे नहीं होता। आहाहा ! देखो ! यह समकित के निःशंक ऐसे, निर्भय ऐसे सात का वर्णन है। सात भय है न ? सात भय का वर्णन है। भय ज्ञानी को नहीं है। निःशंक है कहो या निर्भय है कहो। आहाहा ! '**सः**' वह आत्मा '**स्वयं**' स्वयं '**सततं**' निरन्तर। देखा ? दो बार (आया)। '**सततं**' और '**सदा**'। आहाहा ! धर्मी तो आत्मा की दृष्टि ध्रुव की हुई है, उस ध्रुव में गुप्तरूप ही स्थित है। आहाहा ! वह निरन्तर निःशंक वर्तता हुआ। यह सम्यग्दृष्टि की बात है। सम्यग्दृष्टि को सात भय नहीं होते। उसमें यह अगुप्तिभय अर्थात् कोई चोर लेगा, ऐसा भय नहीं होता। आहाहा ! **निरन्तर निःशंक वर्तता हुआ सहज ज्ञान...** अर्थात् आत्मा को सदा, स्वाभाविक आत्मा को **सदा अनुभव करता है।** आहाहा ! देखो ! अर्थ किया न ?

भावार्थ : 'गुप्ति' अर्थात् जिसमें कोई चोर इत्यादि प्रवेश न कर सके, ऐसा

किला, भोंयरा... आहाहा! ऐसा किला मैं हूँ, कहते हैं। दुर्ग—किला हूँ। आहाहा! **उसमें प्राणी निर्भयता से निवास कर सकता है। ऐसा गुप्त प्रदेश न हो और खुला स्थान हो तो उसमें रहनेवाले प्राणी को अगुप्तता के कारण भय रहता है।** बाहर होवे तो कोई चोर आयेगा, यह आयेगा (ऐसा हो) परन्तु भोंयरा में अन्दर में अकेला हो, उसे चोर आयेगा और ले जाएगा, ऐसा है नहीं। आहाहा! **वस्तु के निज स्वरूप में कोई दूसरा प्रवेश नहीं कर सकता, इसलिए वस्तु का स्वरूप ही वस्तु की परम गुप्ति...** वस्तु का स्वरूप वस्तु की परम गुप्ति है। आहाहा! अभेद किला है, देखा? आया न! अभेद किला है। भगवान अभेद किला है, ध्रुव है। आहाहा! **पुरुष का अर्थात् आत्मा का स्वरूप ज्ञान है; उस ज्ञानस्वरूप में रहा हुआ आत्मा गुप्त है क्योंकि ज्ञानस्वरूप में दूसरा कोई प्रवेश नहीं कर सकता। ऐसा जाननेवाले ज्ञानी को अगुप्तता का भय कहाँ से हो सकता है? वह तो निःशंक वर्तता हुआ अपने स्वाभाविक ज्ञानस्वरूप का निरन्तर अनुभव करता है।**

(विशेष कहेंगे)... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

कलश - १५९

अब, मरणभय का काव्य कहते हैं:-

(शार्दूलविक्रीडित)

प्राणोच्छेदमुदाहरन्ति मरणं प्राणाः किलास्यात्मनो,
ज्ञानं तत्स्वयमेव शाश्वततया नोच्छिद्यते जातुचित्।
तस्यातो मरणं न किञ्चन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो,
निश्शङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति।।१५९।।

श्लोकार्थ : [प्राणोच्छेदम् मरणं उदाहरन्ति] प्राणों के नाश को (लोग) मरण

कहते हैं। [अस्य आत्मनः प्राणाः किल ज्ञानं] निश्चय से आत्मा के प्राण तो ज्ञान है। [तत् स्वयमेव शाश्वतया जातुचित् न उच्छियते] वह (ज्ञान) स्वयमेव शाश्वत होने से उसका कदापि नाश नहीं होता; [अतः तस्य मरणं किञ्चन न भवेत्] इसलिए आत्मा का मरण किंचित्मात्र भी नहीं होता। [ज्ञानिनः तद्-भीः कुतः] अतः (ऐसा जाननेवाले) ज्ञानी को मरण का भय कहाँ से हो सकता है? [सः स्वयं सततं निश्शंकः सहजं ज्ञानं सदा विन्दति] वह तो स्वयं निरन्तर निःशंक वर्तता हुआ सहज ज्ञान का सदा अनुभव करता है।

भावार्थ : इन्द्रियादि प्राणों के नाश होने को लोग मरण कहते हैं। किन्तु परमार्थतः आत्मा के इन्द्रियादिक प्राण नहीं हैं, उसके तो ज्ञान प्राण हैं। ज्ञान अविनाशी है-उसका नाश नहीं होता; अतः आत्मा को मरण नहीं है। ज्ञानी ऐसा जानता है, इसलिए उसे मरण का भय नहीं है; वह तो निःशंक वर्तता हुआ अपने ज्ञानस्वरूप का निरन्तर अनुभव करता है।।१५९।।

प्रवचन नं. ३०४, श्लोक-१५९ शुक्रवार, भाद्र कृष्ण १
दिनाङ्क ०७-०९-१९७९

समयसार, १५९ कलश है। मरणभय का अभाव। १५९

प्राणोच्छेदमुदाहरन्ति मरणं प्राणाः किलास्यात्मनो,
ज्ञानं तत्स्वयमेव शाश्वततया नोच्छिद्यते जातुचित्।
तस्यातो मरणं न किञ्चन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो,
निश्शङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति।।१५९।।

यह तो जड़ है, जड़ के प्राण वह कहीं आत्मा के प्राण नहीं हैं। आहाहा! आत्मा के प्राण तो पहली शक्ति का वर्णन किया न? **'जीवो चरित्तदंसणणाणठिदो'** भगवान आत्मा जीवत्वशक्ति का सागर है। उस जीवत्वशक्ति का अर्थ अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द और (अनन्त) वीर्य, ऐसे चतुष्टय प्राण से उसका जीवन अनादि है। आहाहा! उस प्राण को कोई लूट नहीं सकता। आहाहा! और उस प्राण का जब फल अनन्त ज्ञान, दर्शन, आनन्द और वीर्य है, ऐसा चतुष्टय स्वरूप, ऐसे जो निज प्राण, उसकी जहाँ दृष्टि हो, उसका—द्रव्य का स्वीकार हो... क्योंकि द्रव्य में वह चैतन्य प्राण है। आहाहा! तो द्रव्य

का जहाँ स्वीकार हो, तब उसके परिणाम में दर्शन, ज्ञान, चारित्र, आनन्द की पर्याय प्रगट हो, वह उसका जीवन है। सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा! और जब वह द्रव्यदृष्टि हो, वस्तु है, वह पूर्णानन्द प्रभु अनन्त ज्ञान, दर्शन के प्राण से भरपूर ऐसे ध्रुव के ध्येय की दृष्टि हो, तब उसका परिणाम पर्याय में आनन्द न आवे तो उसकी दृष्टि हुई ही नहीं। आहाहा! ऐसी बात है।

यह तो अलिंगग्रहण के बीसवें (बोल में) कहा था न? अलिंगग्रहण में आ गया है कि आत्मा उसे कहते हैं कि जिसकी दृष्टि द्रव्य के ऊपर है, जिसके प्राण अनन्त ज्ञान, दर्शन, आनन्द है। लोग कहते हैं कि महावीर का आदेश 'जीवो और जीने दो।' यह बात है ही नहीं। यहाँ तो जीवन अर्थात् भगवान आत्मा, आहाहा! ज्ञान, दर्शन, आनन्द और वीर्य के प्राण से उसका जीवन है। उससे जीव और उससे दूसरे को जिलाने के भाव कर। आहाहा!

यहाँ तो ऐसा कहना है कि जिसे इस प्राण का नाश होता है, वह प्राण आत्मा के नहीं हैं। आहाहा! इसके प्राण यहाँ तो अकेला ज्ञान कहेंगे। **प्राणों के नाश को (लोग) मरण कहते हैं।** [**अस्य आत्मनः प्राणाः किल ज्ञानं**] आहाहा! इस आत्मा के प्राण अर्थात् इसका जीवन, दर्शन, ज्ञान, चारित्र, आनन्द के स्वरूप का इसका जीवन है। आहाहा! और इस जीवन की दृष्टि हो, उसे पर्याय में आनन्द का वेदन और चतुष्टय जो प्राण की शक्ति है, उसकी व्यक्तता का अंश पर्याय में आवे तो उसने उस द्रव्य को स्वीकार किया और द्रव्य की दृष्टि हुई। सूक्ष्म बात है, भगवान! आहाहा! तब तो उसे ऐसा कहा, आहाहा! कि आत्मा जो परमानन्द और परम आनन्द, ज्ञान के प्राण से भरपूर प्रभु (है), उसका अन्तर में स्वीकार हो, तब पर्याय में आनन्द का, शान्ति का अथवा अनन्त जितने गुण हैं, उनकी शक्ति की व्यक्तता का वेदन आता है। यदि वेदन नहीं आवे तो वह आत्मा नहीं। आहाहा! समझ में आया? यह वेदन है, वही आत्मा है—ऐसा कहा है। चन्दुभाई! बीसवाँ, बीसवाँ (बोल)।

एक ओर कहते हैं कि द्रव्य ध्रुव आत्मा है और एक ओर कहते हैं कि यह वेदन जो होता है, वही आत्मा है। यह आत्मा वेदन करता है, वह आत्मा द्रव्य को आत्मा स्पर्श नहीं करता। आहाहा! ऐसी बातें हैं। क्या कहा प्रभु! आहाहा! इसके प्रभुत्व आदि के प्राण जो हैं, जिसको जीवन अनादि से दस प्राण से शक्तिरूप से जीवन है। आहाहा! उसका जहाँ दृष्टि में और ज्ञान की पर्याय में उसका स्वीकार हुआ, तब उस पर्याय में द्रव्य नहीं आता परन्तु

पर्याय में द्रव्य की जो शक्ति है, उसकी व्यक्तता पर्याय में आती है। समझ में आया? आहाहा! उस शक्ति की व्यक्तता जो हुई, वह द्रव्य की दृष्टि के परिणाम फलरूप है। समझ में आया? आहाहा!

जो त्रिकाली ज्ञायकभाव भगवान पूर्णानन्द का नाथ, उसके सन्मुख हुआ, तब उसके परिणाम में जितने गुण हैं, उनकी शक्ति की व्यक्तता का अंश वेदन में न आवे तो उसने दृष्टि की ही नहीं। आहाहा! ऐसा स्वरूप है। सूक्ष्म बात है, भगवान! और उसमें भी ऐसा कहा है न कि 'खामेमि सव्वे जीवाः' 'खामेमि मनुष्य जीवाः देव जीवाः' ऐसा नहीं कहा। आहाहा! सब जीव जो ज्ञान, दर्शन, आनन्द के प्राणवाले भगवान आत्मा, उन्हें मैं क्षमा करता हूँ। तुम्हारी जितनी सत्ता है, उसका मुझे स्वीकार है। मेरी सत्ता का मुझे स्वीकार है और तुम्हारी सत्ता का मुझे स्वीकार है। आहाहा! इसलिए तुम्हें मुझसे, मेरा कम, अधिक, विपरीत मैंने किया हो तो वह तो गया परन्तु तुम्हारे में जो कम, अधिक, विपरीत है, उसे मैं देखता नहीं। तुम्हारा भगवान अन्दर प्राण—आनन्द के प्राण से जीनेवाला चैतन्य, आहाहा! उसे मैं क्षमा करता हूँ, वह मेरा नाथ है, मेरा साधर्मी आत्मा है। हें? आहाहा! शशीभाई! ऐसा है, भगवान! आहाहा!

जिसके रूप और रंग जिसकी जाति ही अलग है। इस धूल के रूप के रंग, वह तो श्मशान की हड्डियों की चमक जैसे हैं। आहाहा! भगवान आत्मा का रूप अनन्त ज्ञान, दर्शन, आनन्द का रूप और उसका रंग, असंग रंग है। आहाहा! समझ में आया? इस प्राण में ऐसा कहना चाहते हैं कि जिसके प्राण नाश होते हैं, उसे लोग मरण कहते हैं, परन्तु [**अस्य आत्मनः प्राणाः किल ज्ञानं**] भगवान आत्मा... है? **'किल'** निश्चय से, **'किल'** निश्चय से ज्ञान और आनन्द और शान्ति जिसके वीतरागी प्राण हैं। आहाहा! यह 'ज्ञान' शब्द कहकर पूरा आत्मा कहा है। समझ में आया? आहाहा! भाई! वीतरागमार्ग कोई अलौकिक है। आहाहा!

निश्चय से आत्मा के प्राण तो ज्ञान है। आनन्द, ज्ञान, वीर्य और दर्शन है। जीवत्वशक्ति कही है न? इस पहली जीवत्वशक्ति में ही इसके प्राण हैं। ज्ञान, दर्शन, आनन्द और वीर्य प्राण हैं। पहली गाथा से ही उठाया है। दूसरी (गाथा)। आहाहा! **'जीवो चरित्तदंसणणाणठिदो'** उसे स्वसमय जान, उसे तू आत्मा जान। आहाहा! जो भगवान

आत्मा अपने ज्ञायक अनन्त प्राण शान्ति, आनन्द आदि में जिसकी दृष्टि पड़कर आदर हुआ, आहाहा! उसे पर्याय में स्वसमय का परिणमन हुआ। दर्शन, ज्ञान, चारित्र, आनन्द आदि की पर्याय हुई, उसे तू आत्मा जान। द्रव्य आत्मा है, वह तो दृष्टि का विषय हुआ, परन्तु वेदन में आया वह आत्मा, उसे तू आत्मा जान। आहाहा! समझ में आया?

कहते हैं कि दस प्राण से जीता हूँ—ऐसी दृष्टि जब तक है, तब तक तो उसके प्राण की परिणति निर्मल है नहीं। आहाहा! परन्तु दस प्राण से जीवन, वह मेरा नहीं, वह तो जड़ का है। मैं तो ज्ञान, दर्शन और आनन्द मेरा सत्त्व और सत्ता का सत्त्व, सत् का सत्त्व, सत् ऐसा जो भगवान उसका सत्त्व अर्थात् आत्मापना... आहाहा! भाव का भाववानपना, वह तो अनन्त ज्ञान, दर्शन, आनन्द, वह मेरा भावपना, मेरा सत् का सत्त्व तो वह है। मेरा कस तो वह है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! यह तो अलौकिक बातें हैं, बापू! अभी दुनिया के साथ कुछ मेल खाये, ऐसा नहीं है। आहाहा!

कहते हैं कि यह दस प्राण हैं, वे तो जड़ हैं, उनका नाश हो और मरण कहना, वह तो अज्ञानी कहता है। मेरे प्राण तो ज्ञान, दर्शन और आनन्द है। आहाहा! उससे मेरा जीवत्व त्रिकाल है। वह है, उसकी दृष्टि करने से.. आहाहा! पर्याय में भी आनन्द का वेदन आता है, शान्ति का वेदन आता है, वीतरागस्वभाव का आदर होने से पर्याय में जो वीतरागता आती है, वह मेरा जीवन है और वह आत्मा मैं तो हूँ, वह मैं आत्मा हूँ। द्रव्य आत्मा है, वह तो दृष्टि में लिया। आहाहा! समझ में आया? परन्तु मेरा जो आनन्द का वेदन हुआ, वह मैं आत्मा हूँ। द्रव्य, वह तो आत्मा है, वह तो दृष्टि का विषय हो गया। ऐई! आहाहा! समझ में आया?

यह तो अलौकिक बातें हैं। बापू! आहाहा! दशलक्षणी पर्व पूरे हुए और आज क्षमावाणी का दिन है। हैं? क्षमावाणी का दिन कब कहलाये? प्रभु! तेरा जितना जैसा स्वरूप है, उतना तू क्षमा में रख। आहाहा! दृष्टि और ज्ञान की पर्याय में जितना जैसा स्वरूप है, उतना रख तो तूने आत्मा को क्षमा किया। उससे कम, अधिक, विपरीत किया तो आत्मा का घात कर डाला। आहाहा! इसलिए ऐसा कहते हैं कि आत्मा के प्राण तो निश्चय से ज्ञान है। आहाहा! यह ज्ञान मुख्य लिया है। बाकी आनन्द, दर्शन, वीर्य इत्यादि (सब गुण हैं)।

'तत् स्वयमेव' वह प्राण तो स्वयं ही। 'एव' शब्द पड़ा है न? वह तो स्वयमेव, स्वयं ही, यह पड़ा है। आहाहा! ज्ञानप्राण, आनन्दप्राण, शान्तप्राण। शान्त अर्थात् क्या? कि

मूल तो स्वरूप, वह चारित्रस्वरूप है, वीतरागस्वरूप है, अकषायस्वरूप है, वह सब एक ही है। ऐसा जो भगवान अकषाय शान्तस्वरूप, उसका जहाँ स्वीकार हुआ, वहाँ पर्याय में शान्ति आती है। आहाहा! आनन्द का स्वीकार हुआ, पूर्णानन्द का (स्वीकार हुआ) तो पर्याय में आनन्द आता है। पूर्ण ज्ञान का स्वीकार हुआ, सम्यग्ज्ञान का अंश प्रगट सम्यग्ज्ञान हो। शास्त्रज्ञान, वह ज्ञान नहीं है। आहाहा! ऐसी बात है। समझ में आया?

वीर्य जो अन्दर है, अनन्त गुण की शक्ति में वीर्य है, उसका स्वीकार होने पर वीर्य ने पर्याय की—निर्मलपर्याय की रचना की। आहाहा! वीर्य गुण का स्वरूप है न? आहाहा! वह रचना वीर्य ने अनन्त शान्ति की, वीतरागता की की, वह मेरा जीवन है। आहाहा! बहुत कठिन बात, बापू! जगत की शैली से इसका रास्ता ही कोई निराला है। आहाहा! इसे कोई शास्त्र का विशेष ज्ञान हो तो यह प्राण प्रगट हो, ऐसा कुछ नहीं है। इसका चाहिए, जो ज्ञान है, उसका ज्ञान चाहिए। श्रद्धा स्वरूप त्रिकाल है, उसकी श्रद्धा चाहिए। आहाहा! त्रिकाल आनन्द है, उसे आनन्द की दशा पर्याय में चाहिए। वीर्य त्रिकाल है, उसकी पर्याय में वीर्य शुद्ध स्वरूप की रचना करे, वैसा वीर्य पर्याय में होना चाहिए। आहाहा! कहो, शशीभाई! नवरंगभाई! यह नव रंग चढ़ते हैं। आहाहा!

यह आत्मा तो ज्ञानप्राण है। स्वयमेव। दो शब्द हैं ये—स्वयं+एव। ये ज्ञान और आनन्द प्राण तो सहज, स्वयमेव स्वयं ही है। उन्हें रखूँ तो रहे, (ऐसा नहीं है)। वे तो स्वयं प्राण हैं ही। सहजरूप से है। आहाहा! एक बात। **'शाश्वतया'** यह मेरा ज्ञान और आनन्द प्राण तो शाश्वत है। आहाहा! स्वयमेव है, स्वयं ही है। है स्वयं ही क्या? शाश्वत है। समझ में आया? **'जातुचित्' 'जातुचित्'** अर्थात् किसी काल में भी नहीं—ऐसा नहीं है, ऐसा। **'जातु'** का शब्दार्थ यह है। समझ में आया? **'कदापि'** शब्द पड़ा है न इसमें? कदापि यह **'जातु'** का अर्थ है। कोई काल बताता है, **'जातु'** यह काल बताता है। क्या कहा, कुछ समझ में आया?

'स्वयमेव शाश्वतया' काल। अर्थात् त्रिकाल है। आहाहा! **स्वयमेव शाश्वत होने से उसका कदापि...** कदापि, यह **'जातुचित्'** का अर्थ है। कोई काल, इसका अर्थ है। **'जातुचित्'** का अर्थ काल है। किसी काल में भी **'न उच्छियते'** आहाहा! किसी काल में भी उसका **नाश नहीं होता;...** आहाहा! क्या टीका! अमृतचन्द्राचार्य की शैली

अलौकिक, गजब बात है। संक्षिप्त में बहुत भर देते हैं। आहाहा! एक तो **'जातुचित्'** त्रिकाल। मेरा नाथ आनन्द और ज्ञानस्वभाव के प्राण से भरपूर, वह स्वयं है, शाश्वत् है, किसी काल में वह नाश हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया? **'न उच्छियते'** ऐसा आया न अन्तिम?

'तत्' यह प्राण **'स्वयमेव शाश्वतया'** काल में, किसी काल में नहीं नाश होते। आहाहा! **वह (ज्ञान) स्वयमेव शाश्वत होने से उसका कदापि नाश नहीं होता;** [**अतः तस्य मरणं किञ्चन न भवेत्**] आहाहा! प्रभु के प्राण जो शाश्वत् हैं, किसी काल में उनका नाश नहीं है। आहाहा! वह **'मरणं किञ्चन न भवेत्'** उस प्राण में कुछ भी हीनता हो या नाश हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! **'अतः'** इसलिए, **'अतः'** अर्थात् इसलिए। इसलिए (अर्थ) किया। **'अतः'** वह **इसलिए**... किसलिए? कि स्वयमेव शाश्वत् किसी काल में नाश न हो, इसलिए, इस कारण से **'तस्य मरणं किञ्चन न'** उसका अभाव, मरण किंचित् भी नहीं होता। आहाहा! कहो, चन्दुभाई! पास में आया है? आया था न? तुम्हारे लेखन में आया था, पत्र में आया था, खबर है? यहाँ तो कोई शब्द कहीं आया हो, वह मूल मस्तिष्क में रहा करे। आहाहा! भगवान ऐसा नजदीक में है।

पूर्णानन्द का नाथ जिसके प्राण का किसी काल में नाश नहीं होता, इसलिए **'तस्य मरणं किञ्चन न'** जरा भी उसके अंश का नाश हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! **'तस्य मरणं किञ्चन न'** भाई! आहाहा! देह के प्राण नाश होओ तो होओ, वे तो नाशवान थे, वे नाश होंगे ही, परन्तु मेरे जो अविनाशी प्राण हैं, (उनका नाश नहीं होता)। आहाहा! नाशवान के प्राण तो नाश होंगे ही, परन्तु प्रभु मैं नाशवान प्राण में मैं नहीं। आहाहा! मैं तो अविनाशी मेरे प्राण हैं, वह मैं हूँ। उस अविनाशी प्राण में किंचित् भी कमी, अभाव नहीं होता। समझ में आया? ऐसी बातें हैं। आहाहा! **'तस्य'** इस कारण से। **'अतः'** इस कारण से **'तस्य'** उसका **'मरणं किञ्चन न भवेत्'** किंचित् नहीं है। आहाहा! **इसलिए आत्मा का मरण किंचित्मात्र भी नहीं होता।** यह गुजराती कर डाला।

[**ज्ञानिनः तद्-भीः कुतः**] **अतः (ऐसा जाननेवाले) ज्ञानी को**... आहाहा! यहाँ तो धर्मी को निर्भय कहना है न? सात भयरहित। यों तो उसे भय आता है परन्तु वह चारित्रमोह के दोष में आता है। मूल चीज़ में से हट जाता हूँ, ऐसा उसे नहीं है। समझ में

आया ? आहाहा ! मेरा पूर्ण परमात्मा जो द्रव्य स्वभाव है, उसमें से जरा सा हट जाता हूँ, ऐसा नहीं है। अस्थिरता का भय आता है परन्तु वह अस्थिरता का भय सम्यग्दर्शन का दूसरा दोष, यहाँ (सम्यग्दर्शन को) दोष कर सके, ऐसी ताकत नहीं है। आहाहा ! क्या कहा यह ?

अस्थिरता का दोष वह चारित्रमोह का है। उस सम्यग्दर्शन में पूरे पूर्णानन्द के नाथ का स्वीकार हुआ, उसको वह दोष कर सके, यह तीन काल में नहीं है। आहाहा ! इसलिए ऐसा कहा न ? टोडरमलजी, रहस्यपूर्ण चिट्ठी' (में कहा है) तिर्यंच का समकित, वही सिद्ध का समकित है, समकित में अन्तर नहीं है। कहा न ? भाई ! आहाहा ! चाहे तो तिर्यंच मेंढ़क हो और आत्मज्ञान पावे। बाहर असंख्य हैं, अढ़ाई द्वीप के बाहर असंख्य तिर्यंच हैं। समकित प्राप्त किये हुए, पाँचवाँ गुणस्थान प्राप्त किये हुए। आहाहा ! वह समकित पूर्ण का जो स्वीकार प्रतीति में, ज्ञान में आया, उसकी ज्ञान की पर्याय में उसे ज्ञेय बनाकर ज्ञान हुआ, पर्याय का ज्ञेय बनाकर ज्ञान नहीं, द्रव्य को ज्ञेय बनाकर पर्याय में ज्ञान हुआ... आहाहा ! उस पर्याय की प्रतीति जो अन्तर अनुभव की हुई है, आहाहा ! वह तिर्यंच का समकित हो या सिद्ध का (हो), दोनों समान हैं, समकित में कोई अन्तर नहीं है। क्योंकि उसके समकित ने सारे पूर्णानन्द के नाथ का स्वीकार किया है और सिद्ध के समकित ने भी पूर्णानन्द पूर्ण का स्वीकार किया है। आहाहा !

'सिद्ध समान सदा पद मेरो' ऐसी जहाँ अन्तर में सिद्ध समान स्वरूप की प्रतीति हुई... आहाहा ! अर्थात् कि यह अन्दर भावप्राण जो आनन्द, ज्ञान सत्ता, सत् का सत्त्व, आत्मा का आत्मापना, भाव का भाववानपना जो वस्तु स्वभाव, उसका जहाँ स्वीकार हुआ, इससे उसकी पर्याय में उसका अंश भी घटे, ऐसा नहीं है। पर्याय ऐसा मानती है कि इसमें— ध्रुव में कुछ अंश घटे, ऐसा मैं नहीं हूँ। आहाहा ! यह मानती है पर्याय, परन्तु ध्रुव में अंश घटे, यह पर्याय कहती है कि, ऐसा मैं नहीं हूँ। पर्याय कहती है न ! ३२० गाथा में अन्तिम आता है न ? पर्याय ऐसा मानती है कि, आहाहा ! जो सकल त्रिकाल निरावरण अखण्ड एक प्रत्यक्ष प्रतिभासमय अविनश्वर शुद्ध पारिणामिक परमभाव लक्षण निज परमात्म द्रव्य, वह मैं हूँ। पर्याय ऐसा कहती है। मैं पर्याय हूँ, ऐसा नहीं। आहाहा ! समझ न आवे की बातें हैं, बापू ! कला में न आवे, उसे कला में ले लेना। हैं ? आहाहा !

मुमुक्षु : अभी कहा कि वेदन इतना ही मैं, और (कहा कि) त्रिकाली मैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह त्रिकाली है, वह दृष्टि का विषय हुआ परन्तु वेदन में आता है, वह तो अंश आता है, मुझे तो वह आत्मा है। वेदन में आवे, उतना आत्मा। वेदन में ध्रुव नहीं आता। समझ में आया? ऐसी बात है जरा।

यहाँ तो कहते हैं कि वेदन में आया, वह आत्मा मैं। रागादि मैं नहीं। आहाहा! ऐसी बात है, भाई! एक ओर कहे, पर्याय कहती हैकि मैं पूर्ण आत्मा हूँ। एक ओर कहे, पर्याय का जो वेदन है, वह मैं हूँ। क्या अपेक्षा है? समझ में आया? वह तो द्रव्य का स्वभाव स्वीकार किया, इस अपेक्षा से बात है और स्वीकार होने पर जो वेदन आया, वह ध्रुव का वेदन नहीं, वेदन तो पर्याय का है। वेदन तो ध्रुव को स्पर्श भी नहीं करता। आहाहा! ऐई! इसलिए ऐसा कहा न बीसवें (बोल में कि) प्रत्यभिज्ञान का कारण ऐसा जो कारणपरमात्मा, वह आत्मा, उसे स्पर्श नहीं करता। ले! बाबूभाई! ऐसी बातें हैं। आहाहा! त्रिकाली सामान्य ज्ञायकस्वभाव जो दृष्टि का विषय है, उस पर्याय में वह आत्मा अपने को पर्याय में वेदता नहीं। उसे वेदता नहीं। जितना शुद्धस्वभाव का आश्रय होकर और आश्रय किया, इसलिए उसकी पर्याय में निर्मलता हुई, वह पर्याय की निर्मलता, वह आत्मा है। मुझे तो वेदन में आया, वह मैं। दृष्टि के विषय में भले ध्रुव हो... परन्तु उस ध्रुव का परिणाम ही यह आया। दृष्टि ने ध्रुव को स्वीकार किया, तब परिणाम यह आया, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, शान्ति, आनन्द आदि का परिणाम आया, वह मेरा वेदन है। मुझे तो आत्मा वेदन में आया, वह मैं हूँ। उस वेदन को करूँ, वह आत्मा। वह आत्मा द्रव्य को स्पर्श नहीं करता, वेदनवाला— ऐसा कहता है। अरर! अब ऐसी बातें। समझ में आया?

मुमुक्षु : स्पर्श किये बिना वेदन कैसे आवे?

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय उसे स्पर्श नहीं करती, आत्मा द्रव्य को स्पर्शा नहीं। पर्याय का स्वतन्त्र वेदन स्वतन्त्र है। पर्याय... बहुत कहना है? पर्याय षट्कारकरूप से स्वतन्त्रपने परिणमती हुई खड़ी हुई है। उस पर्याय ने द्रव्य का आश्रय लिया है, वह भी पर्याय कर्ता, स्वतन्त्ररूप से कर्ता होकर ऐसे लक्ष्य गया है। उसका आश्रय करने का कर्तापना भी स्वतन्त्ररूप से हुआ है। क्या कहा यह? आहाहा!

जो पर्याय में वेदन हुआ, (वह) षट्कारकरूप से परिणमन हुआ है। षट्कारक अर्थात् पर्याय कर्ता स्वतन्त्र है। द्रव्य का लक्ष्य, स्वतन्त्ररूप से कर्ता होकर यह लक्ष्य किया

है। वह स्वतन्त्ररूप से किया है। पर्याय कर्ता है। आहाहा! वेदन की पर्याय कर्ता है, वेदन का कर्म वेदन है, वेदन का साधन वेदन है, वेदन में से वेदन हुआ है, वेदन के आधार से वेदन हुआ है; द्रव्य के आधार से नहीं। आहाहा! देखो! यह वीतराग की लीला! आत्मलीला! वे लीला कहते हैं। हें ?

मुमुक्षु : रामलीला।

पूज्य गुरुदेवश्री : रामलीला और दूसरी ईश्वरलीला। वह (लीला) नहीं, बापू! तेरा ईश्वर नाथ अन्दर की लीला कोई अलौकिक है। समझ में आया? वे ईश्वर की लीला कहते हैं। 'कोई कहे लीला रे लीला ईश्वर तणी' आनन्दघनजी में आता है। 'कोई कहे लीला रे लीला ईश्वर तणी, ईश्वर दोष स्वभाव' यह तो ईश्वर को दोष डालते हैं। यह लीला अन्दर की है। आहाहा!

जिस दृष्टि में पूर्णता का ध्येय हुए बिना दृष्टि सच्ची नहीं होती और उस दृष्टि पर्याय ने द्रव्य का स्वीकार स्वतन्त्ररूप से किया है, कर्तारूप से स्वतन्त्ररूप से किया है। वह लक्ष्य ऐसे बदला है, वह स्वतन्त्ररूप से बदला है और वह पर्याय, पर्याय की कर्ता है। उस पर्याय का कर्म पर्याय है, पर्याय का करण पर्याय है, पर्याय का सम्प्रदान—स्वयं करके स्वयं पात्र और स्वयं लिया, स्वयं दाता और स्वयं पात्र। आहाहा! दोनों—देनेवाला भी भगवान, लेनेवाला भी भगवान। आहाहा! पर्याय में हों! ऐसी बातें हैं। वीतरागमार्ग बापू! उसकी धर्म की शुरुआत का मार्ग कोई अलग प्रकार है। चारित्र होना और अन्दर रमणता होना, वह तो और अलौकिक बातें, बापू! आहाहा! परन्तु यह तो शुरुआत का पहला सम्यग्दर्शन का मार्ग कोई अलौकिक है। आहाहा! समझ में आया? भाषा तो सादी है, प्रभु! भाव तो जो है वह है। आहाहा!

यह अपने प्रवचनसार में आ गया है कि 'सत्' शब्द जो है, (वह) सारे लोकालोक को बतलाता है। सत् है। शब्दब्रह्म। और आत्मब्रह्म, विश्वब्रह्म। सारा विश्व। अनन्त सिद्ध, अनन्त निगोद के जीव और पूरा विश्व। यह सारा विश्व और विश्व को बतलानेवाली वाणी जो सत्, उन दोनों को ज्ञेयाकाररूप से ज्ञान जाने, ऐसा उसका स्वभाव है। आहाहा! शब्द को भी ज्ञेयरूप से जानकर जाने और सारे विश्व को भी (ज्ञेयरूप से जाने)। सारे विश्व में तो अनन्त सिद्ध आ गये। आहाहा! समझ में आया? सारे विश्व को (जाने, कहा) उसमें स्वयं

भी एक आ गया। विश्व अर्थात्। स्वयं द्रव्य, गुण, पर्याय, छह द्रव्य के, दूसरे पाँच द्रव्य के द्रव्य, गुण, पर्याय, अनन्त सिद्ध, अनन्त निगोद, अनन्त स्कन्ध, उनकी त्रिकाल पर्यायें, सब त्रिकाल पर्यायें, वे विश्व में आ गयी और उनका कहनेवाला शब्दब्रह्म 'है' ऐसा जो सत्। शब्द है, वह वाचक है और वस्तु पूरी है, वह वाच्य है। दोनों को अधिष्ठानरूप से भगवान जाननेवाला है। एक क्षण में शब्द को और विश्व को जाननेवाला भगवान अधिष्ठान—आधार वह है। आहाहा! अपने आ गया है। आहाहा! समझ में आये उतना समझना, बापू! यह तो वीतरागमार्ग है, भाई!

परमात्मा का विरह पड़ा परन्तु परमात्मा की वाणी रह गयी। सन्त यह वाणी कहते हैं, वह वीतराग की ही वाणी है। और संत तीन कषाय के अभाव में रहे हुए, उनकी वाणी, यह वीतराग की ही वाणी है। आहाहा! अरे! ऐसी बातें कहाँ है? भाई! लोगों को ऐसा लगता है कि यह तो निश्चय... निश्चय। परन्तु निश्चय अर्थात् परमसत्य। और व्यवहार अर्थात् आरोपित बातें। निश्चय अर्थात् अनारोपित सत्य का स्वभाव, उसे निश्चय कहा जाता है। आहाहा! अरेरे! इसे सुनने को मिलता नहीं, वह विचार में कब (ले)? विचार भूमिका में—ज्ञान की भूमिका में कब ले और ऐसे गुलांट खाये? आहाहा! पर्याय को गुलांट खाकर द्रव्य में जोड़ दे। जोड़ दे, हों! एकमेक न हो। पर्याय को ऐसे जोड़ दे इतना। जोड़ने का अर्थ उस ओर लक्ष्य गया। परन्तु पर्याय में कहीं द्रव्य नहीं आता, तथा पर्याय द्रव्यरूप नहीं होती। आहाहा! अरे रे! ऐसा स्वयं को करने का है, वह छोड़कर सब (किया)। आहाहा!

वह दशलक्षणी पर्व का आया न? भाई! भाई का—हुकमचंदजी का आया है? दशलक्षणी की पुस्तक आयी है? कहाँ से आयी? भेंट? हिन्दी में आयी होगी। पढ़ा है? बहुत सरस बात, बहुत क्षयोपशम। ऐसी बात की, ऐसी बात की है। गजब! उम्र ४४ वर्ष, परन्तु उनका क्षयोपशम, वह पढ़े उसे ख्याल आवे, तब खबर पड़े कि ऐसी विविधता और विचित्रता से बात एक-एक गुण की करते हैं तो भी फिर अन्त में लिखते हैं कि मैं अब विराम लेता हूँ। ऐसा अन्त में शब्द है। यह सब एक-एक का कहकर फिर (लिखते हैं), अब मैं इसमें विराम लेता हूँ। आहाहा! ऐई! पढ़ा है या नहीं? नहीं पढ़ा? पढ़ने योग्य है। रामजीभाई को कहा कि, पढ़ने योग्य है। पढ़े तो खबर पड़े अन्दर। हें?

मुमुक्षु : आज सवेरे पढ़ा।

पूज्य गुरुदेवश्री : पढ़ने जैसा है। एक-एक क्षमा, एक-एक निर्मानता, आर्जव, शौच... आहाहा! गजब क्षयोपशम। ऐसी विधि से बात की है कि उसे आत्मा को लगे कि वाह... वाह..! वस्तु की स्थिति का स्पष्टीकरण।

यहाँ परमात्मा, यह तो मुनिराज कहते हैं, आहाहा! [**ज्ञानिनः तद्-भीः कुतः**] जिसने आत्मा पूर्णानन्द का नाथ शाश्वत स्वयमेव है, उसकी अस्ति का जिसने स्वीकार किया है, ऐसा जो धर्मी, समकिती और ज्ञान चाहे तो चौथेवाला हो, चौथेवाला समकिती हो। आहाहा! [**ज्ञानिनः तद्-भीः कुतः**] इसलिए ऐसा जानकर **मरण का भय कहाँ से हो सकता है?** ऐसा जानने पर मैं तो शाश्वत स्वयमेव परमात्मस्वरूप, उसमें हीनता और घात, न्यूनता और विपरीतता कुछ है ही नहीं। हीनपरिणति करे तो घात (हो)। यह तो वस्तु है, उसमें तो हीनता है ही नहीं। समझ में आया?

भगवान ज्ञानस्वरूप है, वह थोड़े विषय में रुकता है, वही उसका प्रतिबद्ध है। कर्म का प्रतिबद्ध नहीं। क्या कहा? पंचास्तिकाय में है, पंचास्तिकाय अन्त में। भगवान आत्मा सर्व को जाननेवाला, देखनेवाला सामर्थ्य ऐसी होने पर भी, वह अल्प विषय में जो रुकता है, वही उसे प्रतिबद्ध है। लालचंदभाई! आहाहा! पंचास्तिकाय। गजब बातें हैं, सन्तों का— दिगम्बर मुनियों का तो कहीं जोड़ नहीं मिलता परन्तु इन्हें भी खबर नहीं। यह तुम सब सेठिया वहीं के वहीं पड़े थे न? कान्तिभाई! परन्तु साहस किया अभी इस बार छोड़कर। आहाहा!

ऐसा जानते हुए... आहाहा! मरण अर्थात् अभाव। भाववाला मेरा तत्त्व, उसमें अभाव तीन काल में नहीं है। आहाहा! और वह भी पर के अभाव के कारण नहीं, मेरा स्वभाव ही पर के अभावस्वभावरूप रहने का त्रिकाल है। अभाव गुण है न? भावअभाव। आहाहा! मेरा भाव स्वभाव है, इसलिए उसकी पर्याय में निर्मल पर्याय होती ही है। करूँ तो हो, (ऐसा नहीं है), वह होती ही है। यह भाव नाम का गुण है और उस गुण का धारक द्रव्य है, ऐसा जो द्रव्य का स्वीकार हुआ, तब भावगुण के कारण से अनन्त गुण की पर्याय का रूप प्रगट होता है, ऐसा भावगुण का स्वभाव है। भावगुण का रूप अनन्त गुणों में है। भावगुण का रूप अनन्त गुणों में है। अर्थात् भावगुण के कारण निर्मल पर्याय होती ही है। जिसने द्रव्य का स्वीकार किया, उसे निर्मल पर्याय होती ही है और उन अनन्त गुणों की

निर्मल पर्यायें होती ही हैं क्योंकि भावगुण का अनन्त गुण में रूप है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। यह तो अलौकिक है, बापू!

इन अनन्त गुणों में भाव नाम का गुण है, इसलिए उस भाववान को जहाँ स्वीकार किया, इसलिए उसकी पर्याय में अनन्त गुणों की पर्यायें होती ही हैं। करूँ तो हो, (ऐसा) नहीं है। उसकी क्रमबद्ध में होती ही है और उसमें अभाव नाम का गुण है, इस कारण से राग और पर के अभावस्वरूप है, पर के कारण नहीं, मेरा गुण ही ऐसा है कि पर के अभावस्वरूप परिणमूँ, वह मेरा गुण है। आहाहा!

यह तो एक बार तीन लिये थे। एक भाव नाम का गुण ऐसा है कि पर्याय में विकाररूप से षट्कारकपने परिणमे। विकारपने परिणमे, ऐसा कोई गुण तो है नहीं। अनन्त-अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु, अनन्त-अनन्त गुण। परन्तु कोई गुण विकाररूप परिणमे, ऐसा कोई गुण नहीं है परन्तु पर्याय में जो विकृत होता है, आहाहा! उसके विकृत के अभावस्वभावरूप मेरा भाव है। वह भाव नाम का एक दूसरा गुण है। वह गुण (अर्थात्) विद्यमान दशा और एक भाव नाम का गुण ऐसा है कि विकृतपने परिणति हो, उसके अभावरूप परिणमना, ऐसा मेरा भावगुण है। आहाहा! ४७ में है, एक भाव है और एक शक्ति है, क्रिया। क्रिया में तो यह कि मेरे भावपने परिणमता है, षट्कारकपने, वह क्रिया। क्रिया नाम का गुण। अरे! ऐसी बातें हैं।

यहाँ कहते हैं, ज्ञानी को... आहाहा! महा परमात्मा को जिसे साक्षात्कार हुआ, पामर पर्याय को परमात्मा मिले, आहाहा! वह धर्मी जीव स्वयं परमात्मा को अन्दर से प्राप्त हुआ, कहते हैं। उसे अब मरण किसका? कमी किसकी? यहाँ तो उसका आश्रय होने पर शुद्धि की वृद्धि हुआ ही करती है। यह हमारा जीवन है, इस जीवन का मरण कभी नहीं हो सकता। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! बाकी तो एक भावभाव। तीन लिये थे न? एक बार लिया था। दो भाव, और एक भावभाव तीसरा गुण। भावभाव अर्थात् जो भाव है, वही भाव उसी रूप रहा करता है। भावभाव है, गुण है। भाव है। निर्मल पर्यायें जो परिणमती हैं, ऐसा भावगुण का गुण है। ऐसा ही भावभाव का गुण उसी रूप कायम रहा करे। आहाहा! समझ में आया? इसलिए फिर वह भाव में डाला। परन्तु है वह भावभाव। वहाँ तीन भाव है। एक भाव विद्यमान पर्याय को प्रगट करे; एक भाव विकारी पर्याय से

रहितरूप हो और एक भाव का भाव वह है वैसा, है वैसा, है वैसा ही रहा करे। आहाहा! क्रमबद्ध के परिणाम में वह निर्मल परिणति हुआ करे, हुआ ही करे। चन्दुभाई! ऐसा है। आहाहा! सूक्ष्म तत्त्व, भाई! सम्यग्दर्शन और सम्यग्दर्शन का विषय, वह अलौकिक तत्त्व है।

यह यहाँ कहते हैं, मैं तो ज्ञानप्राण हूँ न! मैं तो ज्ञान शब्द से पूरे आत्मा के स्वभावरूपी प्राण हूँ न! आहाहा! सम्यग्दृष्टि ऐसा मानता है। सम्यग्दृष्टि (अर्थात्) ऐसा नहीं (कि) देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा की, ऐसा नहीं। आहाहा! जिसने पूर्णानन्द का नाथ अनन्त गुणों का सागर भगवान, जिसने पर्याय में सपेटा में ले लिया है। समझ में आया? आहाहा! ताला खोल डाता है, कहते हैं। हैं?

मुमुक्षु : स्पर्श किये बिना।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, स्पर्श किये बिना। आहाहा! भगवान है, बापू! सब भगवान है, हों! शरीर को न देख, स्त्री और पुरुष, ऐसे शरीर को न देख। आहाहा! वह तो सब भगवान है। परमात्मा के स्वभाव से भरपूर भगवान है। स्वयं को भगवानरूप से देखा तो वह दूसरे को भगवानरूप से ही देखता है। आहाहा! पर्यायदृष्टि टलकर स्वभावदृष्टि हुई तो स्वभाव को ही वह देखता है, तो दूसरे को भी पर्याय से वह कैसे देखे? पर्याय है, उसका ज्ञान करता है परन्तु आदरणीय तो वह द्रव्यस्वभाव है। समझ में आया इसमें? ऐसा कहा है। द्रव्य से प्रत्येक आत्मा शुद्ध है, वह आदरणीय है, सिद्धान्त में ऐसा लिखा है। समझ में आया? आहाहा! वह इस अपेक्षा से। मेरा स्वरूप ही स्वयंसिद्ध त्रिकाल है। ऐसा ही भगवान सब आत्मा का त्रिकाली स्वयंसिद्ध परिपूर्ण परमात्मा अन्दर है। आहाहा! जिसकी पर्यायबुद्धि गयी है, वह दूसरे को पर्यायबुद्धि से कैसे देखे? दूसरे की पर्याय है, उसका ज्ञान करे। आदरणीय तो उसका भगवान है, उसे वह आदर करे। आहाहा! इसमें 'खामेमि सव्वे जीवा' आ गये सब। हैं? आहाहा! प्रभु! तुझे कम, अधिक माना हो तो क्षमा करना, कहते हैं। आहाहा! ओहोहो!

उसमें भी आता है न? 'हरता फरता प्रगट हरि देखूँ रे, मारुँ जीववुं रे सफल...' यह जीवन। वह तो अन्यमति तो यह कहते हैं, परन्तु यह (जीवन)। 'हरता फरता प्रगट हरि' हरि अर्थात् आत्मा। यह अभी कहा नहीं था? श्रीमद् ने एक पत्र में कहा बहुत महात्माओं

ने अधिष्ठान कहा है, वह अधिष्ठान बराबर है। वह अधिष्ठान हरि भगवान है, उस हरि अधिष्ठान को हम अन्दर में देखते हैं। ऐसा कहते हैं। एक पत्र है। समझ में आया? आहाहा! बहुत महात्माओं ने अधिष्ठान कहा है, वह अधिष्ठान हरि भगवान है और उस हरि भगवान को हम हृदय में देखते हैं। वापस बदलकर (ऐसा कहा)। कोई कहे कि (दूसरा हरि)। आहाहा! वही अपने अधिष्ठान में आया था न? सर्व विश्व और शब्द, इन्हें एक समय में पूर्ण जाननेवाला ऐसा जो आत्मा, वह अधिष्ठान है। इन सब गुण और पर्याय का आधार वह स्वयं आत्मा है। आहाहा! वह अधिष्ठान है। नय के अधिकार में। आहाहा!

ऐसा (जानते हुए) **ज्ञानी को मरण का भय कहाँ से हो सकता है?** आहाहा! जीवित ज्योति जहाँ पड़ी है, उसका अभाव कब हो, आहाहा! देह छूटे तो छूटे, आहाहा! यह तो आ गया है न? इस लोक और परलोक का भय ज्ञानी को नहीं है। इस लोक में सब यह सामग्री रहेगी, कैसे रहेगी या नहीं? परन्तु यह सामग्री मेरी नहीं और कैसे रहेगी क्या? मैं कैसे रहूँगा, यह तो मेरा मेरे हाथ में है और परलोक में कहाँ जाऊँगा? कहाँ जाए परलोक में? स्वयं जहाँ है, वहाँ अपने में ही है। आहाहा!

कहा था यह, श्रीमद् को एक ने पूछा था। अपने वह शैली है न? कृष्ण कहाँ गये? (तो कहा), कृष्ण आत्मा में हैं। जहाँ गये वहाँ तू क्षेत्र से देखता है, परन्तु वे हैं आत्मा में। वह नरक का है सही न इसलिए। आहाहा! समकिती नरक में पड़ा होने पर भी वह आत्मा में है, नरक में नहीं। ऐसा उत्तर दिया है। उसको दूसरा पूछना था। कृष्ण भगवान श्रीकृष्ण जहाँ है, वहाँ वे आत्मा में है। आहाहा! क्योंकि उन्हें दृष्टि प्रगट हुई है और दृष्टि का स्वामी, धनी तो हाथ में आया है। वे वहाँ हैं। समझ में आया? वह धर्मी राग में नहीं, शरीर में नहीं, बाहर के जीवन में नहीं। आहाहा! ईश्वरभाई! ऐसी उसकी ईश्वरता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! 'हरता फरता प्रगट हरि देखूँ, मारो जीवन सफल तब देखूँ' यह जीवन है। शरीर से जीना-फीना, वह कहीं आत्मा का जीवन है ही नहीं।

'सः' वह। **'सः'** अर्थात् वह ज्ञानी **'स्वयं'** स्वयं। **'सततं'** निरन्तर। **'निश्शंकः सहजं'** वर्तता हुआ। **सहज ज्ञान का... 'सहजं ज्ञानं सदा विन्दति'** स्वभाविक ज्ञान को वेदता है। स्वभाविक त्रिकाल है परन्तु उसे वेदता है, वह पर्याय भी स्वाभाविक है। आहाहा! है? **'सः'** अर्थात् वह ज्ञानी। **'ते'** वह। **'ते'** आया न? **वह तो... 'स्वयं'** अर्थात्

स्वयं... किसी की अपेक्षा बिना। आहाहा! **निःशंक वर्तता हुआ**... निःशंक वर्तता हुआ। भगवान पूर्णानन्द का नाथ मैं हूँ, (ऐसा) निःशंकरूप से वर्तता हुआ। आहाहा! **सहज ज्ञान का**... स्वाभाविक ज्ञान को **सदा अनुभव करता है।**

भावार्थ : इन्द्रियादि प्राणों के नाश होने को लोग मरण कहते हैं। किन्तु परमार्थतः आत्मा के इन्द्रियादिक प्राण नहीं हैं, उसके तो ज्ञान प्राण हैं। सादी भाषा में कहा है। **ज्ञान अविनाशी है**... क्योंकि वह तो अविनाशी है। और **उसका नाश नहीं होता; अतः आत्मा को मरण नहीं है। ज्ञानी ऐसा जानता है, इसलिए उसे मरण का भय नहीं है;**... आहाहा! **वह तो निःशंक वर्तता हुआ अपने ज्ञानस्वरूप का निरन्तर अनुभव करता है।** लो। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

कलश - १६०

अब आकस्मिकभय का काव्य कहते हैं:-

(शार्दूलविक्रीडित)

एकं ज्ञान-मनाद्यनन्त-मचलं सिद्धं किलैतत्स्वतो,
यावत्तावदिदं सदैव हि भवेन्नात्र द्वितीयोदयः।
तन्नाकस्मिक-मत्र किञ्चन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो,
निश्शङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ।।१६०।।

श्लोकार्थ : [एतत् स्वतः सिद्धं ज्ञानम् किल एकं] यह स्वतः सिद्ध ज्ञान एक है, [अनादि] अनादि है, [अनन्तम्] अनन्त है, [अचलं] अचल है। [इदं यावत् तावत् सदा एव हि भवेत्] वह जब तक है, तब तक सदा ही वही है, [अत्र द्वितीयोदयः न] उसमें दूसरे का उदय नहीं है। [तत्] इसलिए [अत्र आकस्मिकम् किंचन न भवेत्] इस ज्ञान में आकस्मिक कुछ भी नहीं होता। [ज्ञानिनः तद्-भीः कुतः] ऐसा जाननेवाले ज्ञानी को

अकस्मात् का भय कहाँ से हो सकता है? [सः स्वयं सततं निश्शंकः सहजं ज्ञानं सदा विन्दति] वह तो स्वयं निरंतर निःशंक वर्तता हुआ सहज ज्ञान का सदा अनुभव करता है।

भावार्थ : 'यदि कुछ अनिर्धारित-अनिष्ट एकाएक उत्पन्न होगा तो?' ऐसा भय रहना आकस्मिक भय है। ज्ञानी जानता है कि-आत्मा का ज्ञान स्वतःसिद्ध, अनादि, अनन्त, अचल, एक है। उसमें दूसरा कुछ उत्पन्न नहीं हो सकता; इसलिये उसमें कुछ भी अनिर्धारित कहाँ से होगा अर्थात् अकस्मात् कहाँ से होगा? ऐसा जाननेवाले ज्ञानी को आकस्मिक भय नहीं होता, वह तो निःशंक वर्तता हुआ अपने ज्ञानभाव का निरन्तर अनुभव करता है।

इस प्रकार ज्ञानी को सात भय नहीं होते।

प्रश्न : अविरतसम्यग्दृष्टि आदि को भी ज्ञानी कहा है और उनके भय-प्रकृति का उदय होता है तथा उसके निमित्त से उनके भय होता हुआ भी देखा जाता है; तब फिर ज्ञानी निर्भय कैसे है?

समाधान : भयप्रकृति के उदय से निमित्त से ज्ञानी को भय उत्पन्न होता है। और अन्तराय के प्रबल उदय से निर्बल होने के कारण उस भय की वेदना को सहन न कर सकने से ज्ञानी उस भय का इलाज भी करता है। परन्तु उसे ऐसा भय नहीं होता कि जिससे जीव स्वरूप के ज्ञान-श्रद्धान से च्युत हो जाये। और जो भय उत्पन्न होता है, वह मोहकर्म की भय नामक प्रकृति का दोष है; ज्ञानी स्वयं उसका स्वामी होकर कर्ता नहीं होता, ज्ञाता ही रहता है। इसलिए ज्ञानी के भय नहीं।।१६०।।

प्रवचन नं. ३०५, श्लोक-१६०, १६१ शनिवार, भाद्र कृष्ण २
दिनाङ्क ०८-०९-१९७९

समयसार, १६० कलश है। अकस्मातभय।

एकं ज्ञान-मनाद्यनन्त-मचलं सिद्धं किलैतत्स्वतो,
यावत्तावदिदं सदैव हि भवेन्नात्र द्वितीयोदयः।
तन्नाकस्मिक-मत्र किञ्चन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो,
निश्शङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति।।१६०।।

[**एतत् स्वतः सिद्धं ज्ञानम् किल एकं**] **यह...** भगवान आत्मा **स्वतः सिद्ध ज्ञान है,...** आत्मा स्वतःसिद्ध—स्वयं से ज्ञान है। आहाहा! वह **अनादि है,...** स्वतःसिद्ध ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा है, वह अनादि है। अनन्त काल रहनेवाला है। तथा वर्तमान **अचल है।** ध्रुव जो भगवान आत्मा सत्य, वह अचल है, चलित हो—ऐसा नहीं। आहाहा!

[**इदं यावत् तावत् सदा एव हि भवेत्**] **वह जब तक है...** ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा, **तब तक सदा ही वही है,...** आहाहा! वह रागरूप नहीं, पर्यायरूप भी नहीं। आहाहा! पर्याय में वह आता भी नहीं। ऐसा वह स्वतःसिद्ध ज्ञानस्वभाव भगवान अनादि-अनन्त अचल जो है, वह है। आहाहा! **जब तक है, तब तक सदा ही वही है,...** वह तो। [**अत्र द्वितीयोदयः न**] **उसमें दूसरे का उदय नहीं है।** भगवान ज्ञानस्वभावी प्रभु अनादि-अनन्त अचल (है), उसमें दूसरों का आना नहीं होता, दूसरों का उसमें उदय है नहीं। आहाहा!

इसलिए... [**अत्र आकस्मिकम् किंचन न भवेत्**] इस कारण से भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूपी प्रभु **इस ज्ञान में आकस्मिक (अनिर्धारित, एकाएक) कुछ भी नहीं होता।** अनिर्धारित एकाएक हो, ऐसा उसमें कुछ है नहीं। वह तो त्रिकाली ज्ञानमूर्ति ध्रुव चिदानन्द प्रभु आनन्द की शिला है वह तो। ज्ञानशिला, आनन्दशिला, उसमें अनिर्धारित, अचिन्तित अकस्मात कुछ आवे, ऐसी कोई वह चीज़ नहीं है। यद्यपि बाहर में जो होता है, वह अनिर्धारित है, यह अपेक्षित (बात है)। बाकी तो वह भी क्रमसर होता है। अनिर्धारित तो दूसरे के ख्याल में न हो, इसलिए उसे अनिर्धारित कहा जाता है, बाहर में, हों! वह भी उसे समय में वह होनेवाला होता है। जहाँ—बाहर में तो उस समय वह होनेवाला होता है, वह भी अनिर्धारित नहीं तो भगवान चिदानन्द आत्मा तो त्रिकाल है, वह तो वर्तमान अवस्था का क्रमसर कहा। परन्तु यह त्रिकाली ज्ञायकस्वरूप भगवान... आहाहा! जिसने ध्रुवस्वरूप दृष्टि में लिया, वह तो जो है, वही है। आहाहा! उसमें कुछ फेरफार हो या अनिर्धारित, अचिन्तित अन्दर में कुछ आ पड़े, ऐसा है? आहाहा! वह तो अनिर्धारित हुआ। वे बेचारे कपड़े की दुकान खोलकर बैठे थे। मोरबी। है?

मुमुक्षु : मोरबी का तो अनिर्धारित हुआ।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह अनिर्धारित नहीं हुआ परन्तु इसने विचारा नहीं, इसलिए

इसकी अपेक्षा से, बाकी वह तो उस समय में होनेवाला ही था। आहाहा! कपड़े की दुकान खोलकर बैठे हुए, हलवाई की दुकान सब बर्फी भरकर बैठे हुए। ऐसे एकदम पानी (आया), (एक) मिनिट में फीट, दूसरे मिनिट में (दो फीट), पाँच-सात फीट (पानी आया उसमें) सब हलवाई बह गये। यह अकस्मात् तो लोगों के ख्याल में नहीं है, इस अपेक्षा से (कहते हैं)। बाकी तो उस समय में वह पर्याय होनेवाली थी। जब बाहर में भी अकस्मात नहीं तो प्रभु तो ज्ञानानन्दस्वभाव है। आहाहा! वह तो अविनाशी अचल और अनादि-अनन्त वस्तु है। उसमें कुछ अनिर्धारित अचिन्तित आ पड़े, ऐसी कोई चीज़ अन्दर नहीं है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा!

इस ज्ञान में आकस्मिक (अनिर्धारित, एकाएक) कुछ भी नहीं होता। आहाहा! [**ज्ञानिनः तद्-भीः कुतः**] ऐसा जिसे ज्ञान है, सम्यग्दृष्टि को, आहाहा! **ऐसा जाननेवाले ज्ञानी को...** धर्मी को **अकस्मात् का भय कहाँ से हो सकता है?** आहाहा! अकस्मात आ पड़ेगा तो? दीवार आ गिरेगी तो? अमुक आ पड़ेगा तो? परन्तु इसमें अन्दर कहाँ आ पड़ता है? आहाहा! जो त्रिकाली वस्तु है, वह तो सत्य बोलने का विकल्प है, उसे वह स्पर्श नहीं करता। आहाहा! सत्य धर्म कहा है न? सत्य धर्म। वह कहीं वाणी सत्य बोलना, वह कहीं सत्य धर्म नहीं है, वह तो विकल्प है-आस्रव है। सत्य धर्म तो भगवान ज्ञानस्वरूपी त्रिकाली को अन्दर पकड़कर स्थिरता दृष्टि की, ज्ञान की होना, वह सत्यदर्शन, सत्यज्ञान और सत्य स्थिरता होना, वह सत्य धर्म है। आहाहा! सत्य प्रभु त्रिकाली वस्तु सत्य, जिसमें कुछ अनिर्धारित, अचिन्तित आता नहीं, ऐसा भगवान (आत्मा है)। आहाहा!

जो कोई सत्य बोलने में धर्म मान बैठे, वह सत्य को शोधेगा नहीं। समझ में आया? आहाहा! सत्य वस्तु भगवान परमानन्द की मूर्ति, परम सत्य सत्, सत्य अर्थात् सत्, सत् ऐसा सत्य। आहाहा! वह वाणी में ही बोलना सत्य बोलना, उसमें अटक गया और उसे धर्म माने तो ऐसा परम सत्य है, उसे अन्दर शोधने नहीं जाएगा। आहाहा! समझ में आया? शरीर से ब्रह्मचर्य पालने में ही रुक गया, आहाहा! वह अन्दर परम सत्य को शोधने अन्दर नहीं जा सकेगा। क्योंकि वहाँ तो मान लिया गया है कि यह धर्म है। आहाहा! अणुव्रत और महाव्रत को तो आस्रव कहा है। जिसे सत्य अणुव्रत थोड़ा हो और सत्य महाव्रत थोड़ा हो, उसे तो आस्रव कहा है। अब आस्रव में ही जो रुक जाए, जो भगवान अन्दर नित्यानन्द का नाथ,

आहाहा! उसे शोधकर अमल में, स्थिरता में लेना, ऐसा जो स्वभाव, उसमें कुछ अकस्मात है नहीं। आहाहा! ऐसी बातें हैं। वीतराग परमात्मा ने यह कहा है।

जो सत्यस्वरूप है प्रभु, उसमें अनिर्धारित कुछ नहीं, ऐसी दृष्टि जिसे सम्यक् हुई, वह सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान, वही धर्म है। आंशिक धर्म है। सत्य ऐसा भगवान अचल, अचल, अकल और अनादि। मन से जानने में नहीं आता, विकल्प से जानने में नहीं आता, ऐसा भगवान आत्मा अन्तर की ज्ञान की कला से जानने में आये ऐसा है। आहाहा! ऐसा जो अकस्मात, जिसमें कोई है नहीं, ऐसी चीज़ की जिसे दृष्टि हुई, उसे अकस्मात भय नहीं लगता। आहाहा!

देखो न, ऐसे कितने बैठे होंगे, साढ़े तीन बजे से। कोई खाने, कोई पीने, दस बजे खाया हो कि इस समय जरा अफु पीने के बाद नाश्ता करे और अमुक करने बैठे हों और उसमें एकदम पानी। बह गये। आहाहा! कोई कहता था, ढाई बजे दो व्यक्ति बाहर से आये, पति-पत्नी ढाई बजे परदेश में से आये। अन्दर घुसे साथ में साढ़े तीन बजे बह गये। परदेश में से पति-पत्नी दोनों बेचारे आये, मोरबी। ऐसा कोई कहता था। फूलचन्दभाई। वे अन्दर घुसे, वहाँ साढ़े तीन बजे पानी आया। अब देखो! देह छूटने का प्रसंग वहाँ है। बेचारे परदेश में से कितने वर्षों में आये। ढाई बजे आये, वहाँ साढ़े तीन बजे तो दोनों समाप्त। आहाहा! परन्तु यह तो बाहर की स्थिति, इसे अकस्मात लगता है। वास्तव में तो वह अकस्मात भी नहीं बाहर में। तो भगवान आत्मा (में) कोई अनिर्धारित आ पड़े, ऐसी उसमें कोई वस्तु नहीं। आहाहा!

सच्चिदानन्द प्रभु, सत् चिद् ज्ञान-आनन्दस्वभाव प्रभु, उस चीज़ में कुछ अनिर्धारित या अकाल्पनिक—कल्पना में न हो और आ पड़े, ऐसी कोई चीज़ है नहीं। आहाहा! इसलिए धर्मी को अकस्मात का भय कहाँ से बने? आहाहा! भय कहाँ से हो? **वह तो... 'सः'** अर्थात् वह। **'स्वयं सततं'** स्वयं ही **निरंतर निःशंक वर्तता हुआ...** देखो! यह धर्म। यह समकिती का निःशंक आचरण, पर्याय का आचरण। निःशंकित पर्याय का आचरण। त्रिकाली है, उसकी दृष्टि है, इसलिए पर्याय में निःशंक का आचरण प्रगट हुआ है। पर्याय में निर्भय का आचरण प्रगट हुआ है। वस्तु तो निर्भय है। आहाहा! परन्तु वह निर्भय चीज़ जहाँ दृष्टि में, अनुभव में आयी तो पर्याय में भी निर्भयता प्रगट हुई। आहाहा!

क्या कहा यह ? वस्तु स्वयं निर्भय अकस्मात, उसमें हो, ऐसी कोई चीज़ नहीं है। सच्चिदानन्द प्रभु नित्यानन्द ध्रुव, आहाहा! तो उसका जिसे ज्ञान और श्रद्धा हुई और उतने अंश में स्थिरता भी हुई, उस पर्याय में भी अकस्मात् कुछ नहीं है। आहाहा! समझ में आया ? वह निर्भय है। जैसे वस्तु निर्भय है, नि:शंक है, वैसे उसका ज्ञान और श्रद्धा करनेवाला भी निर्भय और नि:शंक है। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

वह तो स्वयं निरंतर नि:शंक वर्तता हुआ... नि:सन्देह, निर्भय। भगवान पूर्णानन्द का नाथ जहाँ आश्रय में लिया, उसका जहाँ अवलम्बन लिया, आहाहा! जिसमें पुण्य और पाप आदि पर का अवलम्बन छोड़ दिया और भगवान की जिसे भेंट हुई, पामर की भेंट छोड़ दी। आहाहा! परमात्मस्वरूप प्रभु स्वयं आत्मा की जिसे दृष्टि और ज्ञान में भेंट हुई, वह तो **'सततं'** नि:शंक वर्तता हुआ। आहाहा! **सहज ज्ञान का सदा अनुभव करता है।** ऊँघता है उसमें क्या ? ऊँघता है वह तो बाहर की पर्याय है, उसमें भी सतत जागृत दशा का ही परिणमन है। आहाहा! समझ में आया ?

जो ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा, उसका जो परिणमन हुआ, वह परिणमन तो निद्रा में भी कायम रहता है। आहाहा! यह तो **'सततं'** कहा न ? **निरंतर नि:शंक वर्तता हुआ...** पर्याय में निरन्तर नि:शंक वर्तता हुआ। आहाहा! चाहे तो निद्रा का काल हो, चाहे तो युद्ध का काल हो। आहाहा! वह स्वयं नि:शंक वर्तता हुआ, **सहज ज्ञान का...** त्रिकाली ज्ञान को। त्रिकाली आत्मा को **सदा अनुभव करता है।** वह पर्याय। त्रिकाली ज्ञायक भगवान का आश्रय लिया है, दृष्टि की है, इसलिए उसके आश्रय में उसका ही वह सदा अनुभव करता है। आहाहा! अब ऐसी बातें। अब यहाँ तो लोग व्यवहार धर्म अणुव्रत और महाव्रत, समिति और गुप्ति में अटके। वह तो विकल्प है, उसे व्यवहार धर्म तो यह निश्चयधर्म प्रगटा है, उसे यह आरोप से व्यवहारधर्म (कहा है)। है तो वह अधर्म, धर्म नहीं। आहाहा! धर्म होवे तो छूट न जाये। धर्म होवे, तब तो सिद्ध में भी रहे। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र यदि धर्म होवे तो वह तो सिद्ध में भी रहता है। यदि वह (व्यवहारधर्म) धर्म होवे तो सिद्ध में भी रहना चाहिए। सत्य बोलना, समिति-गुप्ति में रहना तो वह तो उन्हें वहाँ है नहीं। आहाहा!

धर्मी जीव तो उसे कहते हैं कि जिसने आत्मा के स्वभाव की त्रिकाली दृष्टि से

अनुभव किया है, आहाहा! उसकी सत्ता का पूर्ण का स्वीकार हुआ है। उसे उस सत्ता में जैसे भय और शंका नहीं है, वैसे उसकी दशा में भी शंका और भय नहीं है। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बातें हैं। आहाहा! वह तो **ज्ञान का...** आत्मा के स्वभाव को, ज्ञान अर्थात् आत्मस्वभाव शुद्ध चैतन्य, उसे **सदा अनुभव करता है।** आहाहा! एक तो निरन्तर कहा, स्वयं आप, निरन्तर और यहाँ वापस सदा कहा। अर्थात् त्रिकाल उसका भाव निरन्तर वर्तता है। आहाहा!

भावार्थ : यदि कुछ अनिर्धारित-अनिष्ट... इष्ट नहीं, ऐसा अप्रिय। **एकाएक उत्पन्न होगा तो?** आहाहा! ऐसे खाने बैठा हो और कोई सर्प-काला नाग आवे तो? अरे! विवाह के समय, एक पति-पत्नी का विवाह होता था और ऐसे हाथ करने जाए, वहाँ नीचे बड़ा सर्प काट खाया, वहाँ वर मर गया। नाशवान में क्या हो? बापू! वह अकस्मात नहीं, हों! ऐसे अन्दर नीचे पैर हों और ऐसे ऊपर हाथ करके बैठे थे, वहाँ वह बड़ा नाग था, वर को अँगूठे में काट खाया। ऐसा कठोर नाग (था कि) वहीं का वहीं ढल पड़ा—मर गया। यह दशा। कितना उत्साह होगा! मानो आहाहा! अरे! उसका उत्साह? भाई! नाशवान का उत्साह किसका? प्रभु! आहाहा! नाशवान के उत्साह में अविनाशी का घात हो जाता है। आहाहा! समझ में आया?

यहाँ तो निरन्तर सदा, दो शब्द प्रयोग किये हैं न? **'सततं स्वयं सहजं सदा अनुभवति'** आहाहा! जहाँ जिसे आत्मस्वभाव शुद्ध चैतन्यघन की, जहाँ दृष्टि और अनुभव हुआ है, वह धर्मी, वह समकिती है। उसे निरन्तर सदा, निरन्तर (अर्थात्) कायम, सदा (अर्थात्) त्रिकाल। आहाहा! उसका अनुभव वर्तता है। अनुभवता है। आहाहा! **कुछ अनिर्धारित-अनिष्ट एकाएक उत्पन्न होगा तो?' ऐसा भय रहना आकस्मिक भय है। ज्ञानी (धर्मी) जानता है कि - आत्मा का ज्ञान स्वतःसिद्ध,...** भगवान ज्ञानस्वरूपी जो चीज़ है, ज्ञान अर्थात् यह लौकिक नहीं, ज्ञानस्वभाव ही इसका है। जैसे शक्कर का मिठास स्वभाव, कालीजीरी का कड़वा स्वभाव, नमक का खारा स्वभाव; वैसे भगवान का ज्ञानस्वभाव ही त्रिकाल है। आहाहा! ज्ञानस्वभाव। वस्तु स्वभावी और यह स्वभाव। वह ज्ञानस्वभाव नित्य है। आहाहा! उसे शोधने न जाकर बाहर में शोधा करता है। जहाँ भगवान—खान पड़ा है, आहाहा! कहते हैं कि ऐसे भगवान आत्मा को जिसने जाना

कि आत्मा का ज्ञान अपने से सिद्ध है। अपने से ही है। अर्थात् उसमें कुछ पर से नहीं है। वह अनादि है, अनन्त है, अचल है और एक है। आहाहा!

उसमें दूसरा कुछ उत्पन्न नहीं हो सकता;... एक में दूसरा कोई उदय आकर हो, ऐसा नहीं है। यहाँ है न? मूल पाठ में है न? **'द्वितीयोदयः न'** मूल पाठ है न? इसका सादी भाषा में अर्थ किया है। आहाहा! स्वयं ही स्वयंसिद्ध भगवान नित्यानन्द प्रभु में दूसरे का उदय आकर कुछ दखल करे, ऐसी चीज़ है ही नहीं। आहाहा! उस पानी में शरीर बहता होवे न, परन्तु धर्मी का आत्मा तो जो शुद्ध चैतन्य है, उसका उसमें निरन्तर अनुभव है। अर्थात् कि ज्ञानस्वभाव की, ज्ञाता-दृष्टा की पर्याय से चलित ही नहीं है। आहाहा! इसलिए **उसमें दूसरा कुछ उत्पन्न नहीं हो सकता; इसलिए उसमें कुछ भी अनिर्धारित कहाँ से होगा अर्थात् अकस्मात् कहाँ से होगा?** आहाहा!

ऐसा जाननेवाले ज्ञानी को... धर्मी को, परन्तु धर्मी अर्थात्? जिसने ज्ञानस्वभावी भगवान को जाना, अनुभव किया और माना। यह तीन हुए। जाना, माना और अनुभव किया अर्थात् स्थिरता का अंश साथ में है। आहाहा! भगवान पूर्णानन्द का नाथ जिसने जाना, माना और अनुभव किया—स्थिर हुआ, ऐसा जो धर्मी, उसे धर्मी कहते हैं। आहाहा! बहुत पूजा करे और भक्ति करे और मन्दिर बनावे और दान बहुत बड़े करे, इसलिए धर्मी है—ऐसा नहीं है, यहाँ कहते हैं। आहाहा! वह तो अपने स्वभाव में ऐसे जानते हुए ज्ञानी को **आकस्मिक भय नहीं होता,...** आहाहा!

इसलिए पहले में पहले करनेयोग्य तो यह है। लाख बात को छोड़कर एक चैतन्य भगवान पूर्णानन्द प्रभु में सन्मुख होकर अनुभव करना, वह पहले में पहले करनेयोग्य है। आहाहा! और उसका नाम सम्यग्दर्शन की—धर्म की शुरुआत है और वह सम्यग्दर्शन सिद्ध में भी वह रहता है। आहाहा! क्योंकि वह धर्म है तो धर्म तो वहाँ सिद्ध में भी रहता है। आहाहा! इसलिए तिर्यंच का समकित और सिद्ध का समकित समान कहा है। आहाहा! अणुव्रत और महाव्रत के परिणाम, वे कहीं आत्मा में धर्म नहीं है। वे छूट (जाते हैं), वे सिद्ध में नहीं रहते। क्योंकि वह आत्मा का स्वरूप होवे तो सिद्ध में रहे। वह कहीं आत्मा का स्वरूप नहीं है। आहाहा! बहुत कठिन काम। वीतराग का धर्म बहुत दुर्लभ है, भाई! अशक्य नहीं। बाहर से सब समेटकर अन्दर में जाना, जैसे गुफा में जाना, वैसा सब

बाहर में पड़ा रहे। बर्तन लाया हो, वाहन लाया हो, वह सब बाहर पड़ा रहे गुफा में जाने पर। गुफा में कहीं गाड़ी घुसती है वहाँ? आहाहा! उसी प्रकार भगवान आत्मा अन्दर ज्ञानस्वभाव की गुफा में प्रभु स्थित है, आहाहा! यह सब विकल्प छोड़कर अन्दर में जा सकेगा। समझ में आया? और ऐसी चीज़ को जहाँ जाना, उसे अब भय क्या? आहाहा! नित्यानन्द में अनिर्धारित चीज़ क्या आवे कि जिससे उसे भय लगे? आहाहा!

ऐसा जाननेवाले ज्ञानी को आकस्मिक भय नहीं होता, वह तो निःशंक... यह तो मूल चीज़ है न, इसलिए जरा सूक्ष्म पड़े, बापू! आहाहा! **निःशंक वर्तता हुआ अपने ज्ञानभाव का...** ज्ञानस्वभाव को। रागभाव इसका स्वभाव नहीं है। आहाहा! **ज्ञानभाव का निरन्तर अनुभव करता है।** आहाहा! **इस प्रकार ज्ञानी को सात भय नहीं होते।**

प्रश्न : अविरतसम्यग्दृष्टि आदि को भी ज्ञानी कहा है... प्रश्नकार कहता है। **और उनके भयप्रकृति का उदय होता है...** उसे भयप्रकृति का उदय होता है, प्रकृति है, इसलिए अन्दर भय भी होता है, उसमें जुड़ता है इसलिए। है? **और उनके भय-प्रकृति का उदय होता है तथा उसके निमित्त से उनके भय होता हुआ भी देखा जाता है;...** निमित्त से, ऐसा। उस प्रकृति का उदय है, उसमें जुड़ता है, उससे समकिती को भी वहाँ भय तो है, कहते हैं। और तुम कहते हो कि समकिती निर्भय और निःशंक है। सुन, भाई! आहाहा! **उसके निमित्त से उनके भय होता हुआ भी देखा जाता है;...** निमित्त से (कहा है), देखा? वह प्रकृति का उदय है, वह तो निमित्तमात्र है। इसलिए आत्मा में विकार करे ही, ऐसा नहीं है। उस निमित्त में जुड़ता है, इसलिए भय (का) भाव होता है। **होता हुआ भी देखा जाता है; तब फिर ज्ञानी निर्भय कैसे है?** इस प्रकार से तो है। समकिती को आत्मज्ञान हुआ, दर्शन हुआ और भयप्रकृति का उदय निमित्त में है, उसमें जुड़ान होकर भय भी होता है। तब तुम कहो कि निर्भय है, वह किस प्रकार से मेल खायेगा। ऐसा शिष्य का (प्रश्न है)।

समाधान : भयप्रकृति के उदय से निमित्त से... निमित्त से, हों! परन्तु निमित्त से अर्थात् उससे से, ऐसा नहीं। अरे! **ज्ञानी को भय उत्पन्न होता है।** वह अपनी पर्याय में भय उपजने का काल है, इसलिए भय उपजता है। वह कर्म तो निमित्तमात्र है। निमित्त, वह कुछ करता नहीं, निमित्त के कारण होता नहीं। आहाहा! भाषा ऐसी आवे, वहाँ पकड़े,

देखो! निमित्त से होता है। परन्तु वह तो भय होने के काल में निमित्त कौन था, इसका ज्ञान कराया है। आहाहा! बहुत अन्तर। भय भी षट्कारक के परिणमन से स्वतन्त्र उत्पन्न होता है, प्रकृति के कारण से नहीं। आहाहा! धर्मी को भी पर्याय में विकृत जो भय है, वह षट्कारक से परिणमती भयदशा होती है। भय का कर्ता भय, भय का कारण भय, भय का साधन भय, भय के षट्कारक भय। आहाहा! ऐसा उसे है।

और अन्तराय के प्रबल उदय से... भाषा ऐसी। **अन्तराय के प्रबल...** उदय के निमित्त से **निर्बल होने के कारण...** उस समय भी अन्तराय का जो उदय है, उसमें जुड़ान है। स्वयं स्वतन्त्र निर्बल होने के कारण से। अपनी पर्याय निर्बल है, वह भी षट्कारक के परिणमन से निर्बल हुई है। आहाहा! कर्म के अन्तराय के कारण से निर्बल पर्याय हुई है, ऐसा नहीं है। अरे.. अरे..! अब ऐसी बातें। यहाँ तो भाषा तो ऐसी है कि **अन्तराय के प्रबल उदय से निर्बल होने के कारण...** यह तो निमित्त से कथन करते हैं। **निर्बल होने के कारण उस भय की वेदना को सहन न कर सकने से ज्ञानी उस भय का इलाज भी करता है।** आहाहा! पानी में बहे, उसमें से निकलने का भी विकल्प उसे आवे। आहाहा! समझ में आया? गाँव में प्लेग आवे, गाँव खाली होता हो और लड़के उसे एकदम कहते हों कि बापू! अपने पहले निकल जाओ। अपने जहाँ जाना है, वहाँ जगह नहीं मिलेगी नहीं तो। वह सब जाते हैं। पहले वह भय से निकल जाता है। परन्तु वह तो अस्थिरता की प्रकृति है, वह तो चारित्रदोष है। अन्दर समकित में निर्भय है। आहाहा! अब इसमें मेल किस प्रकार (करना)?

मुमुक्षु : चारित्र को दोष अर्थात् क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह चारित्र का दोष है, वह अलग चीज़ है और समकित की निःशंकता, वह अलग चीज़ है। समकित में निर्भय है, वह अलग चीज़ है। हैं?

मुमुक्षु : भयप्रकृति है, वह तो चारित्र में है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह दोष है, वह चारित्र का दोष है। स्वयं से होता है, कर्म से नहीं। अपनी कमजोरी की पर्याय का परिणमन अपने से होता है, कर्म से नहीं। सूक्ष्म बात, भाई! ऐसे शब्द आवें, वहाँ सब अध्धर से अर्थ करे कि देखो! इससे होता है, अन्तराय के

प्रबल उदय से निर्बलता होती है, परन्तु अन्तराय कर्म जड़ है; भगवान चैतन्य भिन्न है, जड़ उसे स्पर्श भी नहीं करता। आहाहा! यह तो तीसरी गाथा में नहीं कहा कि कोई भी द्रव्य अपने गुण-पर्याय को चूमता है, स्पर्श करता है परन्तु पर के द्रव्य को स्पर्श (नहीं) करता अथवा कर्म का उदय भी कर्म की पर्याय को स्पर्शता और छूता है, वह आत्मा को छूता भी नहीं। आहाहा! इसी प्रकार निर्बल पर्याय होती है, वह कहीं कर्म को स्पर्श नहीं करती। आहाहा! समझ में आया? अपना धर्म जो निर्बलता है, वह भी एक धर्म—योग्यता है। यह तो कल आ गया न? अनियत स्वभाव। अनियत स्वभाव आया न? वह भी उसमें धार रखा हुआ धर्म है। आहाहा! ऐसी अनियत विकृत अवस्था स्वभाव नहीं है, इसलिए उसे अनियत कहा, विकृत। परन्तु है वह विकृत स्वयं से स्वयं में है, पर से नहीं। आहाहा! परन्तु उसका इलाज भी करता है।

परन्तु उसे ऐसा भय नहीं होता कि जिससे जीव स्वरूप के ज्ञान-श्रद्धान... देखा? भगवान पूर्णानन्द के नाथ के श्रद्धा और ज्ञान है, उसमें से वह चलित नहीं होता। सिर पर वज्र की महा चोट पड़े, लोग एकदम चारों ओर भागे, यह पहले आ गया, स्वयं तो वह अन्दर में स्थिर अकम्प ज्ञानस्वरूप है। आहाहा! उसमें कम्पन और धुजना जरा नहीं होता। आहाहा! ऐसी बातें हैं। **परन्तु उसे ऐसा भय नहीं होता कि जिससे जीव स्वरूप के ज्ञान-श्रद्धान से च्युत हो जाये।** जीव अपने स्वरूप के ज्ञान, श्रद्धान से च्युत हो, ऐसा उसे भय नहीं है। आहाहा! अरे! **जीव स्वरूप के ज्ञान-श्रद्धान से च्युत हो जाये।** ऐसा उसे नहीं है। आहाहा!

और जो भय उत्पन्न होता है, वह मोहकर्म की भय नामक प्रकृति का दोष है;... यह निमित्त से (कथन है)। यह दोष है, चारित्रदोष है। **स्वयं उसका स्वामी होकर कर्ता नहीं होता,...** भय करने योग्य है, ऐसा स्वामी होकर करता नहीं है; होता है। आहाहा! अपने में होता है, स्वयं करता है तो भी स्वामी नहीं है। यह दृष्टि की अपेक्षा से स्वामी नहीं, परन्तु ज्ञान की अपेक्षा से तो उस भय का कर्ता और भोक्ता मैं ही हूँ। ४७ नय में यह आया था न? अधिष्ठाता! आहाहा! यह भय नाम का भाव, उसका परिणमन—कर्तापन मेरा है और उसका—भय का भोगपना भी मुझमें है, ऐसा ज्ञान जानता है। दृष्टि की प्रधानता में उस भय का कर्ता और भोक्ता नहीं, ऐसा दृष्टि के जोर से कहा। आहाहा! तथापि

कहते हैं कि समकिती को परिणमन में तो भय आता है, छोड़ने का इलाज भी करता है परन्तु अन्दर में ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा में से कम्प और चलायमान नहीं होता। वह ज्ञान ध्रुव है, वह धूजता नहीं। आहाहा! ऐसी बातें हैं। वह मोहकर्म की प्रकृति का दोष है। देखा? अर्थात् वास्तविक स्वभाव में नहीं है, इस अपेक्षा से इसे ऐसा कहा है।

स्वयं उसका स्वामी होकर कर्ता नहीं होता,... स्वामी होकर करता नहीं। परिणमन होता है परन्तु मेरा कर्तव्य है और मैं उसका स्वामी, ऐसा होकर परिणमता नहीं। यहाँ अभी यह कहते हैं। चलते अधिकार में तो दोपहर में यह चलता है कि अनियत जो भयप्रकृति का परिणमन हुआ, उसका स्वामी—अधिष्ठाता मैं हूँ। अरे यह! आहाहा! यहाँ इनकार करते हैं, वह किस अपेक्षा से? दृष्टि में उस भय का स्वामी नहीं और दृष्टि में दृष्टि की अस्थिरता वहाँ नहीं होती, इस अपेक्षा से भय प्रकृति का स्वामी नहीं। बाकी परिणति की प्रकृति में भय स्वयं परिणमा है और इसलिए उसका अधिष्ठान और आधार तो आत्मा है, यह बात कहीं खोटी नहीं है। आहाहा! अब ऐसी बातें। घड़ीक में कहे कि स्वामी नहीं और घड़ीक में कहे कि उसका स्वामी है, अधिष्ठाता है। दोपहर को आया न? अनियत। भय है, वह अनियत स्वभाव है। नियत स्वभाव, निश्चय स्वभाव उसका नहीं है। भय होता अवश्य है परन्तु अनियत स्वभाव है परन्तु अनियत स्वभाव होने पर भी दृष्टि में ज्ञान और स्वरूप में से चलित हो और भ्रष्ट हो, ऐसा उसे नहीं है। आहाहा! अब ऐसा अन्तर कब दिखायी दे? समझ में आया? आहाहा!

स्वयं उसका स्वामी होकर कर्ता नहीं होता,... यह दृष्टि की अपेक्षा से कहा है। बाकी परिणमन में परिणमा है, उसका स्वामी आत्मा है और उस भय का अधिष्ठाता भगवान आत्मा है। कोई कर्म के कारण भय हुआ है, ऐसा नहीं है। आहाहा! अब इतना अधिक अन्तर; लेख हो, उसमें से अर्थ वापस दूसरा करना। वह शैली यह है। आहाहा! **ज्ञाता ही रहता है।** है न? भय मेरा स्वभाव है, ऐसा नहीं मानता। ज्ञाता रहता है। आहाहा! ज्ञानी को जैसे राग होने पर भी वह राग का ज्ञाता रहता है क्योंकि राग उसका स्वरूप नहीं है; इसलिए उसका ज्ञाता रहता है। ज्ञान में दृष्टि की अपेक्षा से। ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा की जहाँ दृष्टि हुई है, इस अपेक्षा से वह राग, वह भय का कर्ता नहीं है। भय का स्वामी इस अपेक्षा से नहीं है। **ज्ञाता ही रहता है। इसलिए ज्ञानी के भय नहीं।** लो। आहाहा!

कलश - १६१

अब आगे की (सम्यग्दृष्टि के नि:शंकित आदि चिह्नों सम्बन्धी) गाथाओं का सूचक काव्य कहते हैं:-

(मन्दाक्रान्ता)

टङ्कोत्कीर्ण-स्वरस-निचितज्ञान-सर्वस्वभाज:,
सम्यग्दृष्टेर्यदिह सकलं घ्नन्ति लक्ष्माणि कर्म।
तत्तस्यास्मिन्पुनरपि मनाक्कर्मणो नास्ति बन्ध:
पूर्वोपात्तं तदनुभवतो निश्चितं निर्जरैव।।१६१।।

श्लोकार्थ : [टंकोत्कीर्ण-स्वरस-निचित-ज्ञान-सर्वस्व-भाज: सम्यग्दृष्टे:] टंकोत्कीर्ण निजरस से परिपूर्ण ज्ञान के सर्वस्व को भोगनेवाले सम्यग्दृष्टि के [यद् इह लक्ष्माणि] जो नि:शंकित आदि चिह्न हैं, वे [सकलं कर्म] समस्त कर्मों को [घ्नन्ति] नष्ट करते हैं; [तत्] इसलिए, [अस्मिन्] कर्म का उदय वर्तता होने पर भी, [तस्य] सम्यग्दृष्टि को [पुन:] पुन: [कर्मण: बन्ध:] कर्म का बन्ध [मनाक् अपि] किंचित्मात्र भी [नास्ति] नहीं होता, [पूर्वोपात्तं] परन्तु जो कर्म पहले बँधा था, [तद्-अनुभवत:] उसके उदय को भोगने पर उसको [निश्चितं] नियम से [निर्जरा एव] उस कर्म की निर्जरा ही होती है।

भावार्थ : सम्यग्दृष्टि पहले बँधी हुई भय आदि प्रकृतियों के उदय को भोगता है, तथापि [१]नि:शंकित आदि गुणों के विद्यमान होने से उसे [२]शंकादिकृत (शंकादि के निमित्त से होनेवाला) बन्ध नहीं होता किन्तु पूर्वकर्म की निर्जरा ही होती है।।१६१।।

कलश - १६१ पर प्रवचन

अब आगे की (सम्यग्दृष्टि के नि:शंकित आदि चिह्नों...) इन सात भयों की व्याख्या हो गयी। अब समकित के नि:शंक आदि आठ गुण, चिह्न, लक्षण की गाथाओं

१- नि:शंकित=सदेह अथवा भय रहित। २- शंका=सदेह; कल्पित भय।

का सूचक काव्य कहते हैं:– यह गाथाएँ चलेंगी, उनका उपोद्घात, शुरुआत कि उनमें क्या आयेगा, (यह) कहेंगे।

टङ्कोत्कीर्ण–स्वरस–निचितज्ञान–सर्वस्वभाजः,
सम्यग्दृष्टेर्यदिह सकलं घ्नन्ति लक्ष्माणि कर्म।
तत्तस्यास्मिन्पुनरपि मनाक्कर्मणो नास्ति बन्धः
पूर्वोपात्तं तदनुभवतो निश्चितं निर्जरैव।।१६१।।

कलश है। [**टंकोत्कीर्ण–स्वरस–निचित–ज्ञान–सर्वस्व–भाजः सम्यग्दृष्टेः**] **टंकोत्कीर्ण निजरस से परिपूर्ण ज्ञान**... अर्थात् शाश्वत्। टंकोत्कीर्ण अर्थात् शाश्वत् **निजरस से परिपूर्ण**... ऐसा जो आत्मा अर्थात् ज्ञान। आहाहा! शाश्वत् ऐसा निज स्वभाव के भाव से भरपूर आत्मा **के सर्वस्व को**... सर्वस्व, सर्व-स्व, उसके पूर्ण स्व को **भोगनेवाले सम्यग्दृष्टि के**... आहाहा! धर्मी को तो ज्ञानस्वभाव का भोग होता है, कहते हैं। आहाहा!

टंकोत्कीर्ण निजरस से परिपूर्ण... अर्थात् ज्ञान से, दर्शन से, आनन्द आदि रस से भरपूर ऐसा ज्ञान अर्थात् आत्मा। **के सर्वस्व को**... सर्व-स्व को पूर्ण अपने को, ऐसे पूर्ण अपने को **भोगनेवाले**... आहाहा! और एक ओर ऐसा कहते हैं कि द्रव्य का-ध्रुव का भोग नहीं होता। अलिंगग्रहण के बीसवें बोल में यह आ गया। आत्मा द्रव्य को नहीं स्पर्शता वेदन की पर्यायमात्र आत्मा है। क्योंकि वेदन में ध्रुव नहीं आता। ध्रुव को अस्पर्शता वेदनमात्र आत्मा है। यहाँ कहते हैं, **परिपूर्ण ज्ञान के सर्वस्व को भोगनेवाले**... यह पर्याय की बात है। त्रिकाली है, उसे अनुभव करता है, यह पर्याय में उसका भोग है। पर्याय का भोग है, द्रव्य का भोग नहीं। अरे! क्या कहते हैं?

निज रस से भरपूर आत्मा, ज्ञान अर्थात् आत्मा **के सर्वस्व को भोगनेवाले**... आहाहा! उसके सर्वस्व अर्थात् सारी पूर्ण चीज़ है, उसमें एकाग्रता है अर्थात् पर्याय में सर्वस्व को भोगता है। भोगता है पर्याय, परन्तु ध्रुव का लक्ष्य है और उससे जो पर्याय हुई, वह सर्वस्व को भोगता है, ऐसा कहने में आता है। द्रव्य को भोगता है, ऐसा कहते हैं। निज रस से भरपूर भगवान आत्मा, आनन्द का दल पूरा ध्रुव, वह सर्वस्व। सर्व—अपना, उसे भोगता है, उसका अर्थ यह कि राग को नहीं भोगता परन्तु अपना द्रव्य त्रिकाल है, उसके अवलम्बन से निर्मल दशा हुई, उसे भोगता है। अरे... अरे..! ऐसी बातें हैं, बापू! थोड़े अन्तर

से बहुत अन्तर पड़ जाता है, भाई! यह तो तत्त्व, वीतराग का तत्त्व है, भाई! आहाहा!

एक ओर अमृतचन्द्राचार्य ऐसा कहते हैं और यह भी अमृतचन्द्राचार्य का कलश है। वहाँ अमृतचन्द्राचार्य ऐसा कहते हैं, आत्मा त्रिकाली प्रत्यक्ष। आहाहा! यह है, वह है, ऐसा। ऐसा आत्मा ध्रुव, उसे आत्मा नहीं स्पर्शता, नहीं छूता, अपनी पर्याय जो वेदन में आती है, वह आत्मा है। आहाहा! यहाँ यह कहना है। वह तो सर्वस्व को (भोगता है)। राग को और पर को नहीं भोगता, इसलिए आत्मा को-सर्वस्व को भोगता है, ऐसा कहना है। आहाहा! ऐसी बहुत कठिन बातें, भाई! वीतराग के शास्त्र अमूल्य रत्नों से भरे हैं। आहाहा!

सम्यग्दृष्टि को, वास्तव में तो पूर्ण भोक्ता भी कहाँ है? पूर्ण भोगे, तब तो सिद्ध हो जाए और पूर्ण यह है, उसे भोगे तो द्रव्य को भोग नहीं सकता। क्या कहा यह? पूर्ण द्रव्य जो है, उसकी पूर्ण पर्याय को पूर्ण भोगे, तब तो सिद्ध हो जाए और द्रव्य को पूर्ण को भोगे, वह तो बन नहीं सकता। समझ में आया? ऐसी बातें हैं। आहाहा! वह सर्वस्व पूर्णानन्द का नाथ, उसके ऊपर आश्रय, दृष्टि है और उसका ज्ञान उसके लक्ष्य में है, इसके लक्ष्य में है, इसलिए वह दृष्टि पूर्ण ज्ञान और पूर्ण को भोगता है, ऐसा कहने में आता है। समझ में आया?

दूसरे प्रकार से कहें तो दृष्टि और ज्ञान की पर्याय में सम्पूर्ण द्रव्य का ज्ञान और श्रद्धा आ गयी है। उसे भोगता है। क्या कहा यह? प्रभु! आहाहा! जिसकी ज्ञानपर्याय में सारा ज्ञायक पूर्णानन्द के नाथ का ज्ञान हो गया है। वह इसमें आया नहीं परन्तु उसका ज्ञान पर्याय में पूर्ण का हो गया है। और दृष्टि में भी पूर्ण जैसा है, उसकी प्रतीति हो गयी है। प्रतीति में (अर्थात् प्रतीति की पर्याय में) वह आया नहीं परन्तु उसकी प्रतीति हो गयी है। इसलिए प्रतीति और ज्ञान की पर्याय को भोगता हुआ सर्वस्व को भोगता है, ऐसा कहने में आता है। आहाहा! अब ऐसी निवृत्ति नहीं होती और ऐसा मार्ग है।

सर्वस्व को भोगनेवाले सम्यग्दृष्टि के [यद् इह लक्ष्माणि] जो निःशंकित आदि चिह्न... लक्षण। निःशंकित आदि समकित के चिह्न—लक्षण, गुण कहलाते हैं। है तो पर्याय परन्तु उस पर्याय को निःशंकित गुण कहने में आता है। है तो निःशंकित आदि आठ (गुण) है, वह पर्याय है। समकित के निःशंक आदि आठ गुण हैं, वह पर्याय है। समकित स्वयं पर्याय है न! उसके जो आठ लक्षण-चिह्न हैं, वह पर्याय है। आहाहा! **निःशंकित आदि (आठ) चिह्न...** अर्थात् लक्षण [**सकलं कर्म**] **समस्त कर्मों को नष्ट**

करते हैं;... अर्थात् कि नि:शंकित आदि में रहता प्राणी, उसे उदय का भाव खिर जाता है। नाश करता है अर्थात् कि खिर जाता है। आहाहा! समझ में आया? नि:शंक निर्भय, समकित के जो आठ लक्षण प्रगट हुए हैं, इसलिए उसे कर्म का बन्धन नहीं होता। वह उदय आता है, उसमें जुड़ान नहीं; इसलिए खिर जाता है। इतना यहाँ जोर कहना है न। आहाहा!

कर्म का उदय वर्तता होने पर भी,... है? **समस्त कर्मों को नष्ट करते हैं; इसलिए, कर्म का उदय वर्तता होने पर भी, सम्यग्दृष्टि को पुनः कर्म का बन्ध किंचित्मात्र भी नहीं होता,...** यहाँ दृष्टि के जोर की अपेक्षा से बात है। आहाहा! भयरूप से परिणमता होवे तब तो अकेला प्रकृति का बन्ध ही हो परन्तु यहाँ उस परिणमन को गौण करके अकेले नि:शंक आदि आठ गुण लेने हैं। वे गुण तो कर्म के उदय को घातते हैं अर्थात् कि नया बन्धन नहीं होता। वह उदय में आता है, वह खिर जाता है, नया बन्धन नहीं होता। नि:शंक निर्भय स्वभाव में रमता हुआ... आहाहा! उसे नये कर्म का बन्धन है नहीं। अब इसमें कोई ऐसा एकान्त ले जाए कि सम्यग्दृष्टि को बन्धन नहीं और दु:ख नहीं। वह तो सैंतालीस प्रकृति का बन्ध नहीं और अल्पबन्ध तथा स्थिति है, उसे यहाँ गिना नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : जरा भी होता नहीं, ऐसा लिखा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : इस जरा का अर्थ यह। स्वभाव की अपेक्षा से जरा भी बन्ध नहीं है। अल्प है, उसका वह ज्ञाता है और वह है, उसकी अल्प स्थिति और रसवाला है, इसलिए उसे बन्ध गिनने में नहीं आया। आहाहा! सम्यक् आत्मा की प्रतीति और अनुभव हुआ तो कहते हैं कि मनुष्य होवे उसे अशुभभाव भी आता है, शुभभाव परिणति में होता है परन्तु जब उसे आयुष्य बँधनेवाला हो, तब वह शुभभाव में ही बाँधेगा, वह अशुभ में नहीं बाँधेगा। इतना तो दृष्टि के जोर की दृष्टि वर्तती है। आहाहा!

जो कर्म का उदय आता है परन्तु आत्मा कर्म के उदय में नि:शंक और निर्भय ऐसे आठ गुण से अपने में वर्तता हुआ उसका जो अल्प भावरूप परिणमन है, उसे न गिनकर, उसकी स्थिति, रस अल्प पड़े, उसे नहीं गिना। परन्तु इसके कारण सर्वथा कोई ऐसा मान बैठे कि सम्यग्दृष्टि को कुछ दु:ख ही नहीं होता और जरा भी बन्ध नहीं होता, तो दसवें

गुणस्थान तक बन्ध है। भाई! दीपचन्दजी को ऐसा हो गया था न? भाई का पढ़कर, तुम्हारा। सोगानी का। दीपचन्दजी बहुत बार यहाँ आते थे, परन्तु रहे थोड़ा सात दिन और बारह महीने फिर वहाँ रहे। इसलिए उनका पढ़कर जरा फेरफार हो गया कि यह तो समकिती दुःख को वेदता है, ऐसा कहते हैं और दुःख को वेदे, वह तो तीव्र कषायवाला होता है, समकिती नहीं। ऐसा नहीं है, भाई! क्या अपेक्षा है? बापू! वह अल्प दुःख को भोगता है। जितना राग हुआ, भय हुआ, उसे वह वेदता है। यह तो नहीं आया? नय में आयेगा। सैंतालीस नय में। वेदता है, भाई! पूर्ण आनन्द का वेदन होवे तो सिद्ध को होता है, पूर्ण दुःख का वेदन होवे तो मिथ्यादृष्टि को होता है। तब सम्यग्दर्शन में आनन्द और दुःख दोनों हैं। जितना स्वाश्रय दृष्टि प्रगट हुई, स्थिरता (हुई), उतना आनन्द है और जितना निमित्त के आधीन अभी राग होता है, उतना दुःख है। समकिती को भी दुःख का वेदन है और उसके कारण उतना बन्ध भी होता है। परन्तु यहाँ उसे दृष्टि के जोर से बात करनी है और जयसेनाचार्य की टीका में तो ऐसा है कि इसमें पाँचवें गुणस्थान के ऊपर की मुख्य बात है। मुख्य, मुख्य हों! ऐसी भाषा है। गौणरूप से समकिती है। आहाहा! उसमें एकान्त ले जाते हैं कि इसमें समकित का अधिकार नहीं, यह तो मुनि का ही अधिकार है। ऐसा नहीं है, सुन। वहाँ शब्द तो मुख्यरूप से, ऐसा लिया है। संस्कृत टीका में है। अरे रे! क्या हो?

यहाँ भी ऐसा कहते हैं कि उसे बिल्कुल बन्ध नहीं है। **किंचित्मात्र**... है न? **'मनाक् अपि', 'मनाक् अपि' 'नास्ति' नहीं होता,... 'मनाक् अपि' 'नास्ति' परन्तु जो कर्म पहले बँधा था, उसके उदय को भोगने पर उसको नियम से उस कर्म की निर्जरा ही होती है।** आहाहा! यह निर्जरा अधिकार है न? दूसरी, तीसरी गाथा में आ गया है कि जो उदय आता है, उसे भोगने को, सुख-दुःख की भावना होती है परन्तु वह खिर जाता है। आहाहा! इस अपेक्षा से कहा है। बाकी तो जितना अभी रागरूप परिणमता है, उतना दुःख भी है और उतना उसे बन्धन भी है। सर्वथा नहीं, ऐसा अकेला मान ले तो एकान्त हो जाएगा। आहाहा! विशेष भावार्थ कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा - २२९

जो चत्तारि वि पाए छिंददि ते कम्म-बंध-मोहकरे।
सो णिस्संको चेदा सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ।।२२९।।

यश्चतुरोऽपि पादान् छिनत्ति तान् कर्मबन्धमोहकरान्।
स निश्शङ्कश्चेतयिता सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ।।२२९।।

यतो हि सम्यग्दृष्टिः टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन कर्मबन्धशङ्काकरमिथ्यात्वादि-भावाभावान्निश्शङ्कः, ततोऽस्य शङ्काकृतो नास्ति बन्धः, किन्तु निर्जरैव ।।२२९।।

अब इस कथन को गाथाओं द्वारा कहते हैं, उसमें से पहले निःशंकित अंग की (अथवा निःशंकित गुण की-चिह्न की) गाथा इस प्रकार है-

जो कर्मबन्धनमोहकर्त्ता, पाद चारों छेदता।
चिन्मूर्ति वो शंकारहित, सम्यक्त्वदृष्टी जानना।।२२९।।

गाथार्थ : [यः चेतयिता] जो [1]चेतयिता, [कर्मबंधमोहकरान्] कर्मबन्ध सम्बन्धी मोह करनेवाले (अर्थात् जीव निश्चयतः कर्मों के द्वारा बँधा हुआ है, ऐसा भ्रम करनेवाले) [तान् चतुरः अपि पादान्] मिथ्यात्वादि भावरूप चारों पादों को [छिनत्ति] छेदता है, [सः] उसको [निश्शंकः] निःशंक [सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि [ज्ञातव्यः] जानना चाहिए।

टीका : क्योंकि सम्यग्दृष्टि, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयता के कारण कर्म-बन्ध सम्बन्धी शंका करनेवाले (अर्थात् जीव निश्चयतः कर्मों से बँधा हुआ है, ऐसा संदेह अथवा भय करनेवाले) मिथ्यात्वादि भावों का (उसको) अभाव होने से, निःशंक है, इसलिए उसे शंकाकृत बन्ध नहीं किन्तु निर्जरा ही है।

भावार्थ : सम्यग्दृष्टि को जिस कर्म का उदय आता है उसका वह, स्वामित्व के अभाव के कारण, कर्ता नहीं होता। इसलिए भयप्रकृति का उदय आने पर भी सम्यग्दृष्टि जीव निःशंक रहता है, स्वरूप से च्युत नहीं होता। ऐसा होने से उसे शंकाकृत बन्ध नहीं होता, कर्म रस देकर खिर जाते हैं।

१- चेतयिता=चेतनेवाला; जानने-देखनेवाला; आत्मा।

प्रवचन नं. ३०६, गाथा- २२९, २३०, रविवार, भाद्र कृष्ण ३
दिनाङ्क ०९-०९-१९७९

समयसार, २२९ गाथा।

मुमुक्षु : १६१ कलश का भावार्थ बाकी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसमें सब आ गया।

जो चत्तारि वि पाए छिंददि ते कम्म-बंध-मोहकरे।
सो णिस्संको चेदा सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो।।२२९।।

जो कर्मबन्धनमोहकर्त्ता, पाद चारों छेदता।
चिन्मूर्ति वो शंकारहित, सम्यक्त्वदृष्टी जानना।।२२९।।

टीका:—सम्यग्दृष्टि अर्थात् कि अन्तर्मुख की चैतन्य की दृष्टि जिसे हुई है। बहिर्मुख जो इन्द्रिय आदि के विषयों की ओर का जिसे झुकाव छूट गया है, होता है परन्तु उसका झुकाव छूट गया है। आहाहा! जो आत्मा ज्ञायक आनन्दस्वरूप प्रभु, अतीन्द्रिय आनन्द का दल जो शाश्वत् ध्रुव, उस ओर जिसका झुकाव ढला है, आहाहा! वह झुकाव आत्मा में झुकता है। आत्मा पूर्णानन्द का नाथ है, उसके झुकाव में वह उसका आदर करता है। आहाहा! सूक्ष्म बात, भाई! आहाहा! इस आँख के विषय से ऐसे इन्द्रिय के विषय आँख से देखे, शरीर स्थूल-पुष्ट, पतला-मोटा वह आँख से देखे, वह तो पुद्गल दिखता है। आहाहा! वह आँख का विषय है, वह तो पुद्गल ज्ञात होता है। इसका यह शरीर सुन्दर है और ऐसा-ऐसा है और ऐसा-ऐसा है। आहाहा! यह इन्द्रिय का विषय भी जिसे अन्तर में से रुचि से छूट गया है और अनीन्द्रिय ऐसा भगवान, आहाहा! छह काय की हिंसा नहीं करना, इसका अर्थ कि छह काय में स्वयं भी है या नहीं? आहाहा! उसका जितना और जैसा स्वरूप है, वैसा न मानकर अधिक, कम, विपरीत मानता है, वह आत्मा की हिंसा है। आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं कि आत्मा, जिसे सम्यग्दृष्टि हुई, दृष्टि सम्यक् चैतन्यमूर्ति पूर्णानन्द का नाथ, बहिर्मुख दृष्टि छूटकर अन्तर्मुख हुई है, आहाहा! ऐसा जो सम्यग्दृष्टि,

सत्यदृष्टि सत्यस्वरूप जो पूर्ण प्रभु आत्मा का, उसका जिसे स्वीकार होकर सम्यग्दृष्टि हुई है, आहाहा! वह **सम्यग्दृष्टि, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयता के कारण...** आहाहा! उसकी दृष्टि में तो टंकोत्कीर्ण अर्थात् शाश्वत् एक ज्ञायकभावमयपना है। आहाहा! जिसका विषय ज्ञायकभाव है। जिसका विषय निमित्त नहीं, राग नहीं और पर्याय नहीं। आहाहा! ऐसी बातें हैं। बाहर के विषयों से जब रुचि से मर जाता है, तब अन्दर की रुचि से वह जीवित होता है। आहाहा! और अन्दर की रुचि को मार डालकर पाँच इन्द्रिय के विषय की रुचि में जाता है, तब आत्मा का उसने मरण कर डाला। आहाहा! मरणतुल्य आया है न?

कल दोपहर की बात फिर वहाँ आयी थी। निर्जरा का अधिकार, 'तत्त्वार्थ राजवार्तिक'। ऐसा कि निर्जरा का काल एक नहीं है। इसका अर्थ लोग ऐसा करते हैं कि एक ही जीव को निर्जरा भिन्न-भिन्न (काल में है)। ऐसा नहीं है। भिन्न-भिन्न जीव को निर्जरा का काल अलग-अलग है। यह बतलाना है। आहाहा! फिर वहाँ तुरन्त निकाला था। तत्त्वार्थ राजवार्तिक में। आहाहा! काल तो जिस समय में मोक्ष होनेवाला है, वही है। परन्तु वहाँ ऐसी बात है कि काल का नियम नहीं है। काल का नियम नहीं है। परन्तु वह नियम नहीं अर्थात् एक-एक जीव के भिन्न-भिन्न प्रकार के काल का नियम नहीं है। किसी भव्य को अल्प ज्ञान में केवलज्ञान का काल आता है, किसी को विशेष काल में (आता है), वह तो अपनी योग्यता के कारण से है। वह काल आगे-पीछे हो, ऐसा वहाँ कहने का आशय नहीं है। समझ में आया? जैन तत्त्व मीमांसा में आता है। यह कल दोपहर में आया था न? वहाँ आयुष्य की बात नहीं तथा आयुष्य घटे तथा आरोग्यता हो, यह बात भी नहीं।

प्रत्येक भव्य जीव की निर्जरा का काल तो उस समय में मोक्ष का काल वह है, परन्तु सब भव्य जीव को एक सरीखा नहीं होता, ऐसा। कोई अल्प असंख्यपने भव में मोक्ष होता है, किसी को अनन्त भव में मोक्ष होता है, किसी को संख्यात भव में, किसी को एक-दो भव में। ऐसे काल का तो नियम ही है परन्तु उस-उस भिन्न-भिन्न जीव के लिये काल की भिन्नता है। आहाहा! काल में आया था न कल? आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं कि भगवान आत्मा जो शाश्वत ज्ञायकभाव है। आहाहा! एक टंकोत्कीर्ण ऐसा शाश्वत ऐसा एक। दो नहीं। आहाहा! **ज्ञायकभावमयता के कारण...** ज्ञायकभावमयपना जिसका। आहाहा! दृष्टि में तो ज्ञायकभावमय जिसकी दृष्टि हुई है। आहाहा! ऐसा जो सम्यग्दृष्टि। क्या करना? यह कल पूछते थे न? सुजानमलजी! यह सब आता था, काल में होता है और अकाल में होता है परन्तु उसे जानकर अन्दर जाना है। यह करना है। आहाहा! अन्तर्मुख ढलना है। अनेक प्रकार का काल-अकाल का ज्ञान करके जाना है अन्दर में। आहाहा! जहाँ ज्ञायकभाव पूर्णानन्द का नाथ, शाश्वत् वस्तु अन्दर पड़ी है। आहाहा! उसकी दृष्टि हुई, उसे सम्यग्दृष्टि एक ज्ञायकभावपने के कारण कर्मबन्ध होने से **कर्म-बन्ध सम्बन्धी शंका करनेवाले...** आहाहा! मुझे कर्म बँधेगा और मुझे ऐसा होगा, ऐसी शंका करनेवाला।

(अर्थात् जीव निश्चयतः कर्मों से बँधा हुआ है, ऐसा संदेह अथवा भय करनेवाले)... आहाहा! **मिथ्यात्वादि भावों का...** पाठ में चार शब्द हैं। यहाँ चार शब्द को खुल्ले नहीं रखे। मिथ्यात्वादि अर्थात् कि मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय और योग। वहाँ प्रमाद नहीं लेना। प्रमाद कषाय में जाता है। समझ में आया? बन्ध के कारण पाँच हैं। मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग। परन्तु यहाँ पाठ में चार है न? **'चत्तारि छिंददि'** है न? उसे—प्रमाद को कषाय में डाला है। मिथ्यात्व... आहाहा! अव्रत, कषाय, योग का नाश करनेवाले। आहाहा! है?

मिथ्यात्वादि भावों का (उसको) अभाव होने से,... उसने नाश किया है, इसलिए उनका अभाव है। आहाहा! आहाहा! सम्यग्दर्शन—आत्मा का दर्शन होने पर भगवान ज्ञायकस्वरूप परमात्मा का अन्दर ज्ञान, अनुभव और प्रतीति होने पर वह निःसन्देह रहनेवाला, उसे मिथ्यात्वादि चार का अभाव होता है। इसलिए यहाँ पाठ में ऐसा लिखा है कि छेदता है। है न? **'छिंददि' 'चत्तारि वि पाए छिंददि'** यहाँ कहा कि उन **भावों का (उसको) अभाव होने से,...** भाई! उसका अर्थ यह है। आहाहा! जिसे सम्यक् चैतन्य का आत्मदर्शन हुआ है, उसे मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद और कषाय का भाव उसे अपने में नहीं है। होता है जरा अव्रतादि का भाव, उसका वह जाननेवाला रहता है। आहाहा! मिथ्यात्व तो है नहीं। यहाँ तो चार को छेदने का कहा है। पाठ में तो यह है। मिथ्यात्व,

अव्रत, कषाय और योग, उन्हें सम्यग्दृष्टि छेदता है। भाषा देखो, योग को छेदता है। योग तो तेरहवें गुणस्थान तक रहता है। आहाहा!

यहाँ तो पूर्णानन्द का नाथ प्रभु, सर्वज्ञस्वभावी की जहाँ दृष्टि हुई है, उसके कारण मिथ्यात्व तो है नहीं, अव्रत और कषाय और योग है, उन्हें भी छेदता है अर्थात् कि उसे इतने प्रकार का उत्पन्न होना नहीं देता। आहाहा! ऐसी बातें। सम्यग्दृष्टि के निःशंक गुण का यह वर्णन है। निःशंक गुण नहीं, निःशंक पर्याय है। सम्यग्दर्शन की निःशंक, वह पर्याय है परन्तु उसे गुणरूप से कहकर, समकिती का चिह्न कहा न? सम्यग्दृष्टि का वह चिह्न है, निशान है, लक्षण है। आहाहा!

जिसे आत्मा पूर्णानन्द का नाथ निशंकरूप से दृष्टि में, अनुभव में आया, उसकी निःशंकता, निर्भयता चार भाव को छेदनेवाली है। मिथ्यात्व तो है ही नहीं परन्तु यहाँ तो वे तीन हैं, उनका अभाव होने से, ऐसा कहा न? पर्याय में है परन्तु दृष्टि के विषय में उनका अभाव होने से। आहाहा! मार्ग बहुत, बापू! आहाहा! 'अन्तर्मुख अवलोकते विलय होत नहीं देह' आता है न? श्रीमद में। आहाहा! अन्तर्मुख दृष्टि जहाँ हुई, और करने का तो यह है, बाकी सब बहिर्मुख के ज्ञान और बहिर्मुख की प्रतीति और इन्द्रियों का देखने का दिखता है, वह सब इन्द्रिय से होता ज्ञान, वह भी हेय है। आहाहा!

यहाँ तो अतीन्द्रिय ज्ञायकमय भाव प्रभु, उसका जिसे अन्तर्मुख होकर स्वीकार हुआ और अनुभव हुआ, दृष्टि हुई, वह निःशंक है। वह जीव निःशंक—शंका करनेवाले से रहित है। आहाहा! उसे मिथ्यात्वादि भावों का अभाव होने से। है? **कर्म-बन्ध सम्बन्धी शंका करनेवाले (अर्थात् जीव निश्चयतः कर्मों से बँधा हुआ है, ऐसा संदेह अथवा भय करनेवाले) मिथ्यात्वादि भावों का (उसको) अभाव होने से,...** अबन्धस्वरूप है, ऐसी दृष्टि हुई है। आहाहा! समझ में आया? जिसे अन्दर सम्यग्दर्शन हुआ, उसने तो योग को भी काटा है, कहते हैं। योग को भी छेदा है। आहाहा! क्योंकि अबन्ध अयोगी भगवान आत्मा का स्वरूप है। बहुत सूक्ष्म बात, भाई! पूरी दुनिया से वैराग्य पाकर अन्दर में जाए। वैराग्य का अर्थ, दुनिया अर्थात् पुण्य-पाप के विकल्प। पुण्य-पाप के जो विकल्प हैं न, उनसे (हटकर) अन्दर जाना, वह वैराग्य है। वैराग्य अर्थात् कि स्त्री, पुत्र छोड़कर (बैठे) ऐसा नहीं। आहाहा!

यह गुलाबचंदभाई के पास कल गये थे, भाई। आहाहा! पड़े थे। आहाहा! भाई! कहा कैसे हो? गुलाबचन्द! रोने लगा। आहाहा! साधन कुछ किया नहीं था और यह अवस्था इतनी आकर खड़ी रही। आहाहा! कहा, भाई! गुलाबचन्द! बापू! शरीर की स्थिति ऐसी है। तू कौन है अन्दर देख। हैं?

मुमुक्षु : शरीर पुद्गल का है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कोई सामने देखता नहीं। परन्तु कौन देखे, बापू? तू ही पर को देखने जाता है, उतनी पराधीनता है। आहाहा! अन्तर में देखने में जा तो, वहाँ सम्यग्दर्शन होता है। आहाहा!

स्पर्श इन्द्रिय का एक भोग है, वह छूटा, इसलिए इन्द्रिय का विषय छूट गयाऐसा नहीं है। अनीन्द्रिय ऐसा जो भगवान आत्मा, उसे पाँच इन्द्रिय के विषयों की ओर का झुकाव छूटकर अन्दर जाये। मात्र भोग का (विकल्प छोड़े) ऐसा नहीं। आहाहा! अनीन्द्रिय है न? और जितेन्द्रिय कहा न? भाई! ३१ गाथा। ३१ जितेन्द्रिय। समकिती जितेन्द्रिय है। अर्थात्? यह द्रव्येन्द्रिय जड़ मिट्टी है, भावेन्द्रिय एक-एक विषय को जाननेवाली और उस विषय को ज्ञात होनेयोग्य भगवान की वाणी और देव-शास्त्र-गुरु और स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, देश यह सब इन्द्रिय है। आहाहा! उन्हें देखने की ओर का लक्ष्य छोड़कर... आहाहा! और जो कभी देखा नहीं, उसे देखने में नजर कर। आहाहा! ऐसी नजर करने से नजर में सम्यग्दर्शन होता है और उस सम्यग्दर्शन में निःशंकता ऐसी आती है कि मुझे कर्म बन्धन है, यह दृष्टि छूट जाती है। आहाहा! ऐसी वस्तु का स्वरूप है। यह कहीं कोई पक्ष और पन्थ नहीं है। आहाहा! वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है, प्रभु! आहाहा!

मिथ्यात्वादि... अर्थात् पाठ में चार शब्द है न? इसलिए यह मिथ्यात्वादि अर्थात् चारों लेना। आदि में मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय और योग ऐसा लेना। इन चारों के **भावों का (उसको) अभाव होने से,...** देखो! आहाहा! अव्रत का, कषाय का, योग का भी ज्ञानी को अभाव होने से। आहाहा! सूक्ष्म बात है, प्रभु! यह तो अन्तर के मार्ग की बातें। तीन लोक के नाथ तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि में आया है, बापू! आहाहा! बाहर से इसे मर जाना पड़ेगा। अन्दर जीवित जागती ज्योति को यदि जगाना हो तो। आहाहा!

मुमुक्षु : अनादि का पराधीन है न।

पूज्य गुरुदेवश्री : बाहर इन्द्रिय के विषय तो पराधीन पुद्गल को देखनेवाले हैं। आँख से पुद्गल, गन्ध से पुद्गल, रस से पुद्गल, स्पर्श से पुद्गल, कान से पुद्गल। आहाहा! वह भी इन्द्रिय के आधीन होने से होता है। ज्ञान होता है अपने में परन्तु इन्द्रियाधीन होकर पुद्गल का ज्ञान होता है। उसमें आत्मा का (ज्ञान) नहीं है। आहाहा! इसलिए यहाँ कहा कि उसे चार भाव का अभाव होने से। कहो, चार भाव का अभाव हो गया? तो सिद्ध हो गये। दृष्टि में से तो अभाव हो गया है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! प्रभु का मार्ग है शूरों का, यह कायर का वहाँ काम नहीं। आहाहा! दुनिया के पाँच इन्द्रिय के विषयों का रस जिसे छूट जाता है, आहाहा! तब उसे भगवान आत्मा का रस आता है। वह आत्मा का रस आता है, ऐसी प्रतीति का नाम सम्यग्दर्शन है। आहाहा! समझ में आया? अभी लोगों ने पूरी बात दूसरी कर डाली है। बाहर से इन्द्रियाँ घटाकर विषय घटाये और यह किया और वह किया, यह त्याग समझते हैं। परन्तु यह त्याग कहाँ है? यह त्याग तो सम्यग्दर्शन होने पर चार भावों का त्याग है, वह त्याग है। आहाहा! अर्थात् कि आत्मा में अन्तर्मुख हुए बिना इन चार का त्याग नहीं होता और वह अन्तर्मुख हुए बिना बाहर का त्याग जो मानता है, वह तो मिथ्या त्याग है। आहाहा! शशीभाई! ऐसी बातें हैं।

प्रभु! तू सच्चिदानन्द प्रभु है न, आनन्द का दल है न, आनन्द का पाट है न, अतीन्द्रिय आनन्द का अनन्त-अनन्त (पाट है)। संगमरमर का तो... संगमरमर क्या, यह बर्फ। वह तो पचास मण की, साठ मण की शिला होती है। यह तो अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त जिसका तोल नहीं, इतना बड़ा वह पाट है। आहाहा! है अरूपी। आहाहा! इतना अनन्त आनन्द, अनन्त ज्ञान, अनन्त शान्ति... शान्ति... शान्ति... शान्ति... शान्ति... शान्ति... अनन्त वीतरागता, अनन्त शान्ति, अनन्त आनन्द, अनन्त प्रभुता, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य, अनन्त सत्ता—ऐसा महा प्रभु शाश्वत् पाट है बड़ा। आहाहा! वहाँ नजर करने पर उसकी नजरबन्दी हो जाती है। नजर वहाँ बँध जाती है। यह नजरबन्दी नहीं कहते? आहाहा! ऐसा ही कोई स्वभाव है कि वहाँ नजर करने पर नजरबन्दी हो जाती है। नजर में पूरा आत्मा पकड़ में आ

जाता है। आहाहा! यह पद्धति है, लो, सुजानमलजी! वह काल और अकाल, वह सब इसकी पर्याय में है, ऐसा जानना करके... आहाहा! अन्तर्मुख चैतन्य भगवान पूर्णानन्द प्रभु, वीतरागी बिम्ब पूरा चैतन्य प्रतिमा है वह। उसकी नजरबन्दी, नजर का बाँधकर अर्थात् वहाँ नजर को डालकर, आहाहा! जो सम्यग्दर्शन होता है, वह चार भाव के भाव को छेदनेवाला अथवा उसे चार का अभाव है। पाठ में छेदनेवाला (लिखा) है परन्तु टीकाकार ने न्याय अन्दर से निकाला है। आहाहा!

धर्मी को दृष्टि में से जहाँ चैतन्य भगवान दिखा, भासित हुआ और प्रतीति हुई, उसे ये चार भाव तो है ही नहीं, कहते हैं। उसके स्वभाव में वे नहीं, उसकी दृष्टि के विषय में नहीं। आहाहा! वे दृष्टि में ही नहीं। आहाहा! ओहोहो! बहुत सरस गाथा आयी है। मिथ्यात्वादि भाव हैं अवश्य—थे अवश्य **(उसको) अभाव होने से,...** आहाहा! सम्यग्दर्शन में मिथ्यात्व का अभाव सही परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि अव्रत, कषाय और योग का भी अभाव है, सुन न। आहाहा!

वह अब ज्ञातादृष्टा में रह गया। समझ में आया? उसकी दृष्टि में और दृष्टि की परिणति में वे चार नहीं हैं। आहाहा! यह क्या कहा? दृष्टि में, दृष्टि के विषय में और दृष्टि की परिणति में उन चार भाव का अभाव है। आहाहा! सम्यग्दर्शन का परिणमन हुआ, उसमें मिथ्यात्व का तो अभाव है ही परन्तु उसमें अव्रत, कषाय, योग का भी अमुक अंश में वहाँ अभाव है। आहाहा! अमुक अव्रत, कषायभाव किंचित् रहा है, वह ज्ञाता में ज्ञेयरूप से जानता है। ऐसी बात है। मूल बात को छोड़कर सब बाहर के यह व्रत, तप और यह और वह। जैसे यह पत्ते तोड़े परन्तु मूल सुरक्षित रखा। आहाहा! वे पत्ते टूटे परन्तु मूल सुरक्षित है, वे पन्द्रह दिन में पत्ते वापस उग आयेंगे। इसी प्रकार यह बाहर का त्याग किया और यह छोड़ा और यह छोड़ा, रसत्याग (किया) और अमुक... परन्तु अन्दर मिथ्यात्व का मूल नहीं तोड़ा और मूल ऐसा सम्यग्दर्शन तत्त्व को नहीं पकड़ा। आहाहा!

यह होने पर इसे चार भाव का अभाव होने से निःशंक है। अर्थात् कि मैं ज्ञायकभाव हूँ, यह निःशंक है। उसमें राग और अव्रत और कषाय, योग हूँ, उसमें से निःशंक है। वह मैं नहीं हूँ। आहाहा! देखो यह समकित का पहला निःशंक गुण। है पर्याय। **कर्म-बन्ध**

सम्बन्धी शंका करनेवाले... ऐसा शब्द पड़ा है न? एक ज्ञायकभावपने के कारण, एक ज्ञायकभावपने के कारण, दृष्टि में। **कर्म-बन्ध सम्बन्धी शंका करनेवाले...** कि यह कर्म हो, इसमें बन्ध होगा, ऐसी शंका करनेवाले, उस भाव का जिसे अभाव है। आहाहा! वास्तव में कर्म द्वारा बँधा हूँ ऐसा सन्देह, मैं बँधा हुआ हूँ, ऐसा सन्देह छूट जाता है। अबन्ध हूँ। आहाहा! प्रभु मेरा स्वरूप तो मुक्त है, ऐसा कहते हैं। अबद्धस्पृष्ट जो कहा है, वह ऐसे लिया है। आहाहा!

उसका **अभाव होने से,..** चार लाईन है परन्तु बात गजब की है। आहाहा! जो करने का है, वह किया, ऐसा जो सम्यग्दर्शन... आहाहा! फिर अन्दर प्रवृत्ति के अमुक परिणाम रहे, हिंसा के, क्रोध आदि इत्यादि, परन्तु वे परिणाम उनकी परिणति की पर्याय में उनका यहाँ अभाव गिना है। निर्मल परिणति होकर उसमें उनका अभाव है। भिन्न रहा। आहाहा! परन्तु यहाँ तो सम्यग्दर्शन का विषय और सम्यग्दर्शन की परिणति में उस मिथ्यात्व का तो अभाव है परन्तु अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग का भी अभाव है। आहाहा! अरे! योग का अभाव तो चौदहवें (गुणस्थान में) होता है न? सुन न, भाई! भगवान जहाँ अबद्धस्पृष्ट और अयोगी है, ऐसा अनुभव हुआ, वहाँ योग उसमें है, यह शंका ही नहीं है। आहाहा! निःशंक है। आहाहा! योग, वह मेरे स्वरूप में है ही नहीं। अरे! ऐसी बातें।

अभाव होने से, निःशंक है... निःशंक क्यों है? कि इन चार भाव का अभाव होने से निःशंक है। **इसलिए उसे शंकाकृत बन्ध नहीं...** उसे शंकाकृत बन्ध नहीं है। **किन्तु निर्जरा ही है।** आहाहा! यह जरा उदय आता है, उसे शंका नहीं होती कि मैं बन्ध में हूँ, मुझे बन्ध है। मैं तो अबद्ध हूँ—ऐसा निःशंकरूप से रहने से शंकाकृत जो बन्ध होता था वह उसे नहीं है। आहाहा! भारी कठिन काम। लो, यह चार लाईन है। शंका तो नहीं, इसलिए बन्ध नहीं परन्तु वह आता है जो उदय में, वह खिर जाता है। आहाहा! शुद्धता के स्वभाव के आश्रय में जहाँ पड़ा, तब अब कहते हैं कि थोड़ा जो अशुद्ध का उदय रहता है, वह खिर जाता है। उसे बन्ध होता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! अरे!

मुमुक्षु : दृष्टिमुक्ति हो गया साहेब! सब प्रकार से दृष्टिमुक्ति हो गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : चौथे से दृष्टि में मुक्त हुआ। मुक्त है, वह पर्याय में मुक्त हुआ।

आहाहा! जैसा मुक्तस्वरूप है, ऐसी दृष्टि हुई तो पर्याय में भी आंशिक मुक्त हुआ। आहाहा! ऐसा काम। साधारण लोगों को तो (ऐसा लगे)। लोगों ने मूल बात को छोड़कर बाहर में प्रवर्तन में जोड़ दिया, हो गया। मिथ्यात्व में। और ऐसा मानते हैं कि हमें धर्म हुआ। आहाहा! जहाँ धर्म का मूल है, उसकी तो इसे खबर नहीं होती। धर्म पर्याय है, उसका मूल तो द्रव्य है। आहाहा!

भावार्थ : सम्यग्दृष्टि को जिस कर्म का उदय आता है, उसका वह, स्वामित्व के अभाव के कारण,... देखा? मेरे हैं, इसका उसे अभाव है। मेरा तो नाथ पूर्णानन्द का सागर वह मैं हूँ। आहाहा! अब ऐसी बात। **कर्ता नहीं होता।** स्वामित्वपने के अभाव के कारण रागादि होते हैं, योगादि होते हैं परन्तु उनका स्वामी नहीं है, इसलिए वह **कर्ता नहीं होता।** आहाहा! उस योग का वह कर्ता नहीं होता। आहाहा! क्योंकि भगवान अबन्ध स्वरूप है, अबद्ध है, उसमें योग कैसा? आहाहा! ऐसी जो दृष्टि और अनुभव होने पर उसे योग का जरा उदय है, वह भी खिर जाता है, उसका स्वामी वह नहीं तथा वह योग करने योग्य है, ऐसे कर्ता नहीं। आहाहा! अभी दृष्टि की प्रधानता से कथन है न। अब ऐसा समझना। आहाहा!

यह देखो न, लोग मरते हैं। रोग। आहाहा! मोरबी में देखो न, धमाल... धमाल। कल मोरबीवाले आये थे। ऐसा पानी चढ़ा कि हम छत पर चढ़ गये, बच गये। छप्पर पर नलिया पर (चढ़ गये)। पन्द्रह, बीस हजार लोग (मर गये)। आहाहा! क्षण पहले क्या स्थिति थी, क्षण के पश्चात् कहाँ हो गयी। आहाहा! यह सब नाशवान (चीज़) है, उसकी दृष्टि छोड़ दे, कहते हैं। आहाहा!

इन्द्रिय से देखना है और जानने का आया है, वह भी वस्तु छोड़ दे। आहाहा! यहाँ तो अनीन्द्रिय ऐसा जो भगवान आत्मा, उसकी जिसे सन्मुखता होकर प्रतीति, अनुभव पर्याय में शान्ति और आनन्द आया है, उस जीव को पर्याय में रागादि, योगादि उदय दिखता है, परन्तु उसका वह स्वामी नहीं है, उसका कर्ता नहीं है। कर्ता वह ज्ञाता-दृष्टा के परिणाम का कर्ता-भोक्ता है। आहाहा! अभी यह चौथे गुणस्थान की बात चलती है। आहाहा! यह ऐसी बात है, भाई!

नौवें ग्रैवेयक के मिथ्यादृष्टि देवों को स्पर्श इन्द्रिय का भोग नहीं है तो भी वे असंयमी हैं। और यहाँ समकिती पाँचवें गुणस्थानवाला अन्तर का आश्रय लेकर जिसे शान्ति और स्थिरता प्रगट हुई है, आहाहा! उसे स्पर्श इन्द्रिय के विषय की प्रवृत्ति भी बहुत है। उसको (देव को) बिल्कुल नहीं और इसे बहुत है, तथापि यह अन्दर दो कषाय का अभाव और आत्मा की दृष्टि हुई, इसलिए वह संयमी है। आहाहा! आंशिक संयमी है। वह बिल्कुल इकतीस सागर स्त्री का विषय नहीं, मन में उसकी कल्पना नहीं। आहाहा! और आहार का भी कोई पकाना या बनाना ऐसा है नहीं। इकतीस हजार वर्ष में आहार का विकल्प आवे, वहाँ तो यहाँ कण्ठ में से अमृत (झरता है)। और इसे तो आहार के लिये कुछ सिरपच्ची करनी (पड़े), तो भी पाँचवें गुणस्थानवाला आहार के लिये प्रवृत्ति में होने पर भी उसे अन्तर में अन्तर्मुख की दृष्टि में स्थिरता है, इसलिए उसे संयमी कहा और इसे ऐसी स्थिति बिल्कुल नहीं होने पर भी यह (देव) असंयमी है। यह अन्तर की अपेक्षा से बात है। समझ में आया? आहाहा!

अन्तर्मुख का आश्रय हुआ, वह सम्यग्दृष्टि युद्ध में खड़ा हो तो भी वह सम्यग्दृष्टि उसका स्वामी नहीं है। आहाहा! और उसे आंशिक संयम, स्वरूपाचरणरूपी संयम प्रगट हुआ है। स्वरूपाचरणरूप। आहाहा! नौवें ग्रैवेयक के मिथ्यादृष्टि देव, महा शुक्ल लेश्या से द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि साधु हुए। जैन साधु महाव्रत पालन कर वहाँ गये, वहाँ उसे विषय नहीं है, रस का नहीं है, स्पर्श का नहीं है। आहाहा! तथापि वह असंयमी है। यह अन्तर की अपेक्षा से बातें हैं। जिसका अन्तर नहीं सुधरा, उसका बाह्य का त्याग, वह त्याग है ही नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! और जिसका अन्तर सुधरा है, उसका अभी बाह्य त्याग कितना ही न हो तो भी उसकी अन्तर की दृष्टि के सुधार के कारण उसे समकिती और संयमी कहा जाता है। आहाहा! समझ में आया?

भयप्रकृति का उदय आने पर भी सम्यग्दृष्टि जीव निःशंक रहता है, स्वरूप से च्युत नहीं होता। जिसे शरीर का कृत्रिम नाम पाड़ा है, ऐसा दृढ हो गया है कि नींद में उससे कहे कि फलाणा! तो कहे, हं! परन्तु अब कहाँ है? ऐसा दृढ़ हो गया। आहाहा! कान्ति! तो कहे, हं! परन्तु कहाँ है? कान्ति कौन है? शरीर। शरीर का नाम कान्ति रखा,

वहाँ इसे (वह दृढ़ हो गया)। यह तो कृत्रिम दशा है। इसका कोई नाम था ही नहीं, वह तो शरीर है। दूसरों से भिन्न समझाने के लिये इसका कान्ति नाम रखा। ऐसा दृढ़ हो गया। इसी प्रकार यहाँ जिसने चैतन्य की कान्ति देखी और जानी, (वह) ऐसा दृढ़ हो गया। आहाहा! कि किसी जगह भी वह जागृत में से अन्धेरा नहीं आता इसे। आहाहा! यह तो सूक्ष्म बातें, बापू! आत्मआश्रय के अतिरिक्त सब बातें खोटी है और जिसने आत्मा का आश्रय लिया, उसे भले अस्थिरता कितनी विशेष हो, तो भी वह सम्यग्दृष्टि निःशंक, अबन्ध है। आहाहा!

ऐसा होने से उसे शंकाकृत बन्ध नहीं होता, कर्म रस देकर खिर जाते हैं। देकर अर्थात् उदय आकर खिर जाता है। आहाहा! अथवा 'निर्जरा अधिकार' में आया है न? निर्जरा अधिकार में आया था, थोड़ा सुख-दुःख होता है, खिर जाता है। तीसरी गाथा। आहाहा!

गाथा - २३०

जो दु ण करेदि कंखं कम्मफलेसु तह सव्वधम्मेसु।
सो णिक्कंखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो।।२३०।।

यस्तु न करोति काङ्क्षां कर्मफलेषु तथा सर्वधर्मेषु।
स निष्काङ्क्षश्चेतयिता सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः।।२३०।।

यतो हि सम्यग्दृष्टिः टङ्कोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन सर्वेष्वपि कर्मफलेषु सर्वेषु वस्तुधर्मेषु च काङ्क्षाभावान्निष्काङ्क्षः, ततोऽस्य काङ्क्षाकृतो नास्ति बन्धः, किन्तु निर्जैरैव।।२३०।।

अब निःकाँक्षित गुण की गाथा कहते हैं:-

जो कर्मफल अरु सर्व धर्मों की न कांक्षा धारता।
चिन्मूर्ति वो कांक्षारहित सम्यक्त्वदृष्टी जानना।।२३०।।

गाथार्थ : [यः चेतयिता] जो चेतयिता [कर्मफलेषु] कर्मों के फलों के प्रति [तथा] तथा [सर्वधर्मेषु] सर्व धर्मों के प्रति [कांक्षां] कांक्षा [न तु करोति] नहीं करता, [सः] उसको [निष्कांक्षः सम्यग्दृष्टिः] निष्कांक्ष सम्यग्दृष्टि [ज्ञातव्यः] जानना चाहिए।

टीका : क्योंकि सम्यग्दृष्टि, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयता के कारण सभी कर्मफलों के प्रति तथा समस्त वस्तुधर्मों के प्रति कांक्षा का अभाव होने से, निष्कांक्ष (निर्वांछक) है, इसलिए उसे कांक्षाकृत बन्ध नहीं किन्तु निर्जरा ही है।

भावार्थ : सम्यग्दृष्टि को, समस्त कर्मफलों की वांछा नहीं होती; तथा सर्व धर्मों की वांछा नहीं होती, अर्थात् सुवर्णत्व पाषाणत्व इत्यादि तथा निन्दा, प्रशंसा आदि के वचन इत्यादि वस्तुधर्मों की अर्थात् पुद्गलस्वभावों की उसे वांछा नहीं है-उनके प्रति समभाव है, अथवा अन्यमतावलम्बियों के द्वारा माने गये अनेक प्रकार के सर्वथा एकान्तपक्षी व्यवहारधर्मों की उसे वांछा नहीं है-उन धर्मों का आदर नहीं है। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि वांछारहित होता है, इसलिए उसे वांछा से होनेवाला बन्ध नहीं होता। वर्तमान वेदना सही नहीं जाती, इसलिए उसे मिटाने की उपचार की वांछा सम्यग्दृष्टि को

चारित्रमोह के उदय के कारण होती है, किन्तु वह उस वांछा का कर्ता स्वयं नहीं होता, वह कर्मोदय समझकर उसका ज्ञाता ही रहता है; इसलिए उसे वांछाकत बन्ध नहीं होता।

गाथा - २३० पर प्रवचन

अब नि:काँक्षित गुण की गाथा कहते हैं:- वह पहली नि:शंक की की।

जो दु ण करेदि कंखं कम्मफलेसु तह सव्वधम्मेसु।
सो णिक्कंखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो।।२३०।।

जो कर्मफल अरु सर्व धर्मों की न कांक्षा धारता।
चिन्मूर्ति वो कांक्षारहित सम्यक्त्वदृष्टी जानना।।२३०।।

टीका : क्योंकि सम्यग्दृष्टि, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयता के कारण... शब्द तो वह के वह हैं। पहले हैं, वे (हैं)। **सभी कर्मफलों के प्रति...** आहाहा! इन्द्रिय के विषय ऐसे चक्रवर्ती का राज हो, इन्द्र का इन्द्रासन हो, उस कर्मफल के प्रति उदास है। आहाहा! (उस कर्मफल) के प्रति कांक्षारहित है। उसकी कांक्षा नहीं, इच्छा नहीं। आहाहा! कर्म का फल जो सामग्री, इन्द्र का इन्द्रासन मिले, चक्रवर्ती का राज मिले, समकिती को उनकी इच्छा नहीं है। वह तो जड़ का-कर्म का फल है। आत्मा के आनन्द का वह फल नहीं है। भगवान आनन्दस्वरूपी प्रभु का फल तो आनन्द और शान्ति होता है। यह जो कर्म का-जहर का फल विषवृक्ष का फल, कर्म है वह वृक्ष, विषवृक्ष है। है न? अन्तिम आता है न? समयसार। विषवृक्ष। १४८ प्रकृतियाँ विषवृक्ष है। ओहोहो! पुण्य प्रकृति बँधी, यश-कीर्ति बँधी, वे सब जहर के वृक्ष हैं। उनके फलरूप से जो संयोग आवे, उनकी कांक्षा धर्मी को नहीं होती। आहाहा! जवाबदारी भारी, भाई! शर्तें बहुत। आहाहा!

जिसे भगवान आत्मा के स्वरूप की प्रतीति और अन्तर्मुख की दृष्टि हुई, उसे कर्म के फल भय के, उनकी कांक्षा उसे नहीं होती। आहाहा! साधारण बात है परन्तु बहुत गम्भीर और अन्तर की चीज़ है यह। सम्यग्दृष्टि **एक ज्ञायकभावमयता के कारण...** ज्ञायकभाव ही हूँ, बस। उसके कारण **सभी कर्मफलों के...** साता उदय की सामग्री हो, यशकीर्ति की सामग्री मिले, लोग महिमा करे, आहाहा! अरे! कर्म के फल में निन्दा करे परन्तु उसकी उसे

इच्छा नहीं है। निन्दा करनेवाले में वह तो पुद्गल का परिणमन हुआ। यशकीर्ति करनेवाला, महिमा करनेवाला वह भी पुद्गल का परिणमन हुआ। पुद्गल का परिणमन (हुआ), उसमें तुझे क्या? आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात, भाई!

पर से भिन्न पड़े हुए भगवान को अपने से भिन्न के अनुकूल-प्रतिकूल फलों की आकांक्षा नहीं है, कहते हैं। आहाहा! तथा प्रतिकूल फल मिला तो द्वेष नहीं, अनुकूल मिला तो राग नहीं। आहाहा! ऐसी सम्यग्दृष्टि की वीतरागी दृष्टि है। कितने ही कहते हैं कि चौथे गुणस्थान में सराग समकित होता है, वीतरागी नहीं होता। अरे! भगवान! तुझे खबर नहीं। सम्यग्दर्शन ही वीतराग पर्याय है। वह तो सराग समकित कहा, वह तो जरा वह राग साथ में है, उसके कारण कहा है। समकित तो वीतराग ही है। आहाहा!

एक वह 'विकासविजय' है न? पहले तो ऐसा हो, वीतरागता नहीं होती, राग ही होता है, अमुक होता है। बहुत पत्र यहाँ समझाने के लिये आते हैं। इस बार पत्र आया तो वापस दे दिया। आहाहा! अरे! भाई! तू क्या कहना चाहता है? ऐसा कि समकिती होता है तो भी रागी होता है। वीतरागी समकित चौथे गुणस्थान में नहीं होता, ऐसा।

यहाँ तो कहते हैं कि सम्यग्दर्शन ही वीतरागी पर्याय है। आहाहा! सम्यग्ज्ञान, वह वीतरागी पर्याय है और स्वरूप में आचरण, वह भी वीतरागी पर्याय है। आहाहा! क्यों? कि वस्तु भगवान वीतराग की मूर्ति ज्ञायकभावपने के कारण वीतरागस्वरूप है। उसकी दृष्टि और ज्ञान हुए... आहाहा! उसकी पर्याय में तो वीतरागी ही पर्याय प्रगट होती है। राग है, वह उसकी चीज़ नहीं है। उसकी उसे कांक्षा नहीं है। आहाहा! उसके फलरूप से चक्रवर्ती का राज मिले तो कांक्षा नहीं। यह तो कोई बात है! आहाहा! सोलह हजार देव सेवा करे, आहाहा! छियानवें हजार स्त्रियाँ, बत्तीस हजार पुत्रियाँ, बत्तीस हजार दामाद, चौसठ हजार पुत्र। आहाहा! मैं तो एक ज्ञायकभाव हूँ। एकड़े एक और बिगड़े दो। दूसरे मेरे हैं, (ऐसा माने) तो मिथ्यात्व है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! जन्म-मरण रहित होने की दृष्टि, पहली मूल ही रकम बहुत कठिन है। समझ में आया? फिर और अन्दर में स्थिर होने की बात चारित्र, वह तो अलौकिक बात है। आहाहा! और वह चारित्र कहीं बाहर से प्रवृत्ति छोड़े और घटे, इसलिए चारित्र हो जाए, ऐसा नहीं है। अन्तर का उग्र आश्रय ले और स्थिरता हो, तब चारित्र कहा जाता है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, धर्मी को कर्मफल के प्रति.. आहाहा! साता उदय के, पुण्य के उदय से ऐसे ढ़ेर... ढ़ेर.. (दिखायी दे)। आहाहा! एक माँगे वहाँ इक्कीस ढ़ेर हों। फल, वस्त्र, गहने, ढ़ेरों, हों! आहाहा! तीर्थंकर तो जन्म से ही समकिती होते हैं। उन्हें देव (देवलोक में से) लाकर गहने (पहनाते हैं), कपड़े और गहने वहाँ से लाते हैं। कांक्षा नहीं है। देव से लाये हुए। कांक्षा नहीं है। आहाहा! कर्म के फल की कांक्षा, आत्मा के आनन्द की भावना के समक्ष कर्म के फल की कांक्षा नहीं होती। अरे! ऐसी वस्तु है, भाई! पहले उसका ज्ञान तो करे कि यह चीज़ ऐसी है। अभी चीज़ कैसी है और कैसे हो और उसका क्या हो, तब क्या होता है, इसकी खबर नहीं और इसे धर्म हो जाए, (ऐसा कैसे बने)? आहाहा!

मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी एक वस्त्र का टुकड़ा भी नहीं रखता और हजारों रानियाँ छोड़कर बैठा हो तो भी उसकी दृष्टि में भगवान ज्ञायक है, वह नहीं आया। वह सब पूरा मिथ्यादृष्टि और असंयमी है। आहाहा! क्योंकि उसे ऐसे अन्तर की भावना नहीं है, इसलिए उसको बाहर कांक्षा होती ही है। आहाहा! और धर्मी को ढ़ेर पड़े बाहर विषयों के, शब्द, रूप, रस, गन्ध, तो भी वह तो जड़ है, इन्द्रिय का विषय है, वह मेरा विषय नहीं है। आहाहा! उसे ऐसे चक्रवर्ती के गंज, नव निधान जिसके घर में। प्रत्येक निधान का देव अधिष्ठाता और कल्पे तद्नुसार वहाँ निधान में से प्रगट हो। आहाहा! कुछ इच्छा नहीं, कांक्षा नहीं। आहाहा! भगवान आनन्द के नाथ को जहाँ शुद्धि में बढ़ाना है, उसमें यह कांक्षा कहाँ होगी? मलिन भाव (कहाँ से होंगे)? आहाहा! है?

सभी कर्मफलों के... शब्द ऐसा लिया है 'समस्त' शब्द है न? फिर चाहे तो असाता का फल हो, चाहे तो साता का फल हो, पुण्य का फल हो या पाप का फल (हो)। आहाहा! समकिती निर्धन हो, अन्तर्दृष्टि से सधन है। बाहर में पाँच-पच्चीस रुपये भी न हों, और एक समय मुश्किल-मुश्किल से कहीं से मिलता हो, खाता हो तो भी निःकांक्षित है। आहाहा! मेरा प्रभु आनन्दस्वरूप, आनन्द का महापिण्ड जहाँ अन्तर में से प्रस्फुटित है, दृष्टि में आया है, अब उसे पर की कांक्षा कहाँ है? आहाहा! ऐसी शर्तें हैं। आहाहा!

तथा समस्त वस्तुधर्मों के प्रति... क्या कहते है? कर्मफल के प्रति और सभी वस्तुओं के प्रति। आत्मा के अतिरिक्त अन्य-अन्य धर्मों के प्रति और वस्तु के दूसरे स्वभाव

के प्रति। सभी वस्तुओं का स्वभाव, चाहे तो दुर्गन्ध, सुगन्ध आदि चाहे जो हो। सुरूप, कुरूप आदि। आहाहा! वस्तु के स्वभाव हैं, उनके प्रति कांक्षा का अभाव होने से। आहाहा! सर्वत्र से इच्छा उड़ गयी है। आहाहा! दो बातें हुई।

सभी कर्मफलों के... समस्त कर्मफल, देखो? आहाहा! तीर्थंकर को कर्मफल का कुछ वह नहीं होता। वे तो केवली हों, तब आता है, तथापि उन्हें उसके फल की भावना नहीं है। आहा! आहाहा! वस्तुधर्म और समस्त वस्तुएँ। जिसका जो स्वभाव है, उस-उस प्रकार का उसका धर्म। आहाहा! धर्म अर्थात् उसकी दशा। आहाहा! उसकी कांक्षा का अभाव होने से। उन सबके प्रति इच्छा का अभाव होने से **निष्कांक्ष (निर्वांछक) है,...** आहाहा। अरे.. अरे..! और चक्रवर्ती हो, सैकड़ों रानियों से प्रतिदिन विवाह करे तो कहते हैं, नि:कांक्षित है! उसकी रुचि नहीं न! रुचि तो यहाँ जमी है। आहाहा! और अज्ञानी को हजारों रानियों का त्याग है तो भी रुचि वहाँ राग में जमी है। रागरहित भगवान तो उसने देखा नहीं। आहाहा! समझ में आया? उसे अभाव होने से नि:कांक्षित है, **इसलिए उसे कांक्षाकृत बन्ध नहीं...** पर की इच्छा ही नहीं, फिर उसे इच्छाकृत बन्ध है, वह है नहीं। आहाहा! **किन्तु निर्जरा ही है।** यह असाता का उदय या साता का (उदय) आया, वह सब खिर जाता है। आहाहा! उसका उसे स्पर्श भी नहीं है। आहाहा!

सातवें नरक का नारकी सम्यग्दृष्टि (होवे) तो कहते हैं, नि:कांक्षित है। यहाँ से मैं निकलकर मैं मनुष्य होऊँ और वहाँ मुझे ठीक पड़े, यह कांक्षा उसे नहीं है। आहाहा! कठिन काम, भाई! सम्यग्दर्शन और उसके परिणाम की जाति और उसका विषय (कोई अलौकिक है)। कांक्षाकृत बन्ध तो नहीं **किन्तु निर्जरा ही है।** आहाहा! यह सब सम्यग्दर्शन का प्रताप है। विशेष कहा जाएगा.....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३०७, गाथा- २३० से २३२, सोमवार, भाद्र कृष्ण ५
दिनाङ्क १०-०९-१९७९

समयसार, गाथा २३० का भावार्थ। **सम्यग्दृष्टि को,...** जिसे आत्मा ज्ञायकस्वभाव शुद्ध परिपूर्ण परमात्मस्वरूप है, ऐसी जिसे सत्यदृष्टि, सम्यक् अर्थात् सत्य, सत्य ऐसा पूर्ण स्वरूप सत्य, उसकी जिसे स्वसन्मुख होकर सम्यग्दृष्टि हुई है, उस **सम्यग्दृष्टि को, समस्त कर्मफलों की वांछा नहीं होती;...** आहाहा! जहाँ आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा सम्यग्दर्शन में आनन्द का वेदन जहाँ आया, उसे उसके अतिरिक्त कर्म के फल की वाँछा कैसे होगी? आहाहा! ऐसी बात है। **समस्त कर्मफलों की...** ऐसी भाषा है न? कोई भी कर्म का फल, आहाहा! (उसकी) **वांछा नहीं होती, तथा सर्व धर्मों की वांछा नहीं होती,...** सोना, **सुवर्णत्व, पाषाणत्व इत्यादि तथा निन्दा, प्रशंसा आदि के वचन इत्यादि वस्तुधर्मों की अर्थात् पुद्गलस्वभावों की उसे वांछा नहीं है...** कोई प्रशंसा करे या निन्दा करे, सोना या पत्थर दोनों की उसे वाँछा नहीं है। आहाहा!

जिसे भगवान ने ऐसा कहा कि यह भव्य जीव है, उस जीव को मान किसका चाहिए है? कहते हैं। आहाहा! इसे बाहर की निन्दा, प्रशंसा की कुछ वाँछा ही नहीं है। आहाहा! कि लोग प्रशंसा करें तो ठीक, निन्दा करे तो ठीक नहीं, दोनों इच्छा नहीं है। आहाहा! आनन्दघनजी में आता है, 'लही भव्यता मोटुं नाम' भाई ने भी डाला है। यहाँ कोई बहुत कितना सुना होगा न! भगवान ने जिसे भव्य कहा और जिसे इस अमुक पदवी के योग्य है, आहाहा! ऐसा जिसे भगवान ने कहा, उसे दुनिया की किस प्रशंसा की आवश्यकता है। आहाहा! उसे किस निन्दा की प्रतिकूलता है? निन्दा हो, यह पुद्गल की दशा है। निन्दा करनेवाले की भाषा पुद्गल की है, प्रशंसा करनेवाले की भाषा पुद्गल की है। आहाहा! धर्मी को जिसे निन्दा, प्रशंसा की वाँछा नहीं। क्या है यह? आहाहा!

आदि के वचन इत्यादि वस्तुधर्मों की अर्थात् पुद्गलस्वभावों की... वह तो पुद्गल है, जड़ की पर्याय है। आहाहा! कोई प्रशंसा करे, वह पुद्गल की पर्याय है, उसकी वाँछा धर्मी को कैसे होगी? आहाहा! जरा सूक्ष्म बात है, भाई! सम्यग्दर्शन अर्थात् क्या चीज़

है! आहाहा! जहाँ पूर्णानन्द का सागर भगवान, अतीन्द्रिय ज्ञान का सागर प्रभु, जहाँ स्वीकार में—दृष्टि में आया, उसे अब क्या चाहिए है? कहते हैं। आहाहा! उसे इस पुद्गल की कुछ भी वाँछा नहीं होती। दुनिया प्रशंसा करे और दुनिया माने तो मैं कुछ गिनती में गिना जाऊँ, यह भाव सम्यग्दृष्टि को नहीं होता। आहाहा!

धर्मी के धर्म के गिनती में स्वयं जहाँ आया है, आहाहा! सम्यग्दर्शन अर्थात् धर्मी के धर्म की गिनती में आ गया, अब उसे दुनिया की गिनती का क्या काम है? आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात है, अपूर्व बात है, भाई! उसके प्रति समभाव है। प्रशंसा करनेवाला हो या निन्दा करनेवाला हो, आहाहा! सोना हो या पत्थर हो, हीरा-माणेक हो, आहाहा! या थोर हो। थोर, थोर समझे? सब एक है। धर्मी की दृष्टि में दोनों में कोई अन्तर नहीं है। आहाहा!

अथवा अन्यमतावलम्बियों के द्वारा माने गये अनेक प्रकार के सर्वथा एकान्तपक्षी... उन अन्य धर्म की वाँछा नहीं है, ऐसा कहा न? यह दो व्याख्या की। अन्य धर्म की वाँछा नहीं, पाठ में है न? **'सव्वधम्मेसु'** है न? दो व्याख्या की। कनक—सोना, पत्थर, निन्दा और प्रशंसा, यह पुद्गल का स्वभाव होने से इनकी वाँछा धर्मी को नहीं होती। आहाहा!

दूसरा उनके **अथवा अन्यमतावलम्बियों के द्वारा माने गये अनेक प्रकार के सर्वथा एकान्तपक्षी व्यवहारधर्मों की उसे वांछा नहीं है...** एकान्ती ३६३ पाखण्ड है। आहाहा! ऐसे धर्म को माननेवाले बड़े राजा निकले तो इसे उसकी वाँछा हो कि आहाहा! ऐसा धर्म अपने होवे तो लोग माने, ऐसी वाँछा उसे नहीं है। आहाहा! **उन धर्मों का आदर नहीं है।** एकान्त माननेवाले। आहाहा!

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि वांछारहित होता है, इसलिए उसे वांछा से होनेवाला बन्ध नहीं होता। वर्तमान वेदना सही नहीं जाती... आहाहा! ऐसा कोई राग आवे कि उससे सहन नहीं हो सके और राग टले नहीं। आहाहा! तो **वांछारहित होता है, इसलिए उसे वांछा से होनेवाला बन्ध नहीं होता। वर्तमान वेदना सही नहीं जाती, इसलिए उसे मिटाने की उपचार की वांछा सम्यग्दृष्टि को...** आहाहा! विषय की इच्छा, रागादि आवे, उन्हें मिटाने का इलाज भी करे परन्तु उस इच्छा का कर्ता नहीं है। आहाहा!

सूक्ष्म बात, भाई! आहाहा! **सम्यग्दृष्टि को चारित्रमोह के उदय के कारण होती है,...** क्या कहा यह? राग ऐसा आवे अन्दर से कि उसे मिटाये बिना वह राग मिटे नहीं। राग की खलबलाहट रहा करती हो, आहाहा! तो वह पीड़ा सहन नहीं कर सकता, इसलिए **मिटाने की उपचार की वांछा...** देखा! वापस वाँछा कही। इलाज की वाँछा। आहाहा! **मिटाने की उपचार की वांछा सम्यग्दृष्टि को चारित्रमोह के उदय के कारण...** चारित्रमोह के उदय का दोष है। आहाहा! जिससे वह वाँछा होती है और इलाज की भी वाँछा होती है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई!

सम्यग्दृष्टि है, आहाहा! उसे राग ऐसा आता है। छियानवें हजार स्त्रियाँ होती हैं या एकाध होती है परन्तु वासना आयी, वह टलती नहीं, हटती नहीं। उसे चारित्र का दोष जानकर वह मिटाना चाहता है परन्तु उसका प्रेम नहीं, उसकी रुचि नहीं। आहाहा! क्या अन्तर है? इस चारित्रमोह के उदय के कारण राग का दोष आता है परन्तु उस दोष का कर्तापना नहीं है। आहाहा! ऐसे इलाज करता है, विषय लेता है, राग ऐसा आया है कि धन्धे में भी बैठता है। आहाहा! परन्तु उसका इलाज वह करता है परन्तु फिर भी इस राग की कर्ताबुद्धि नहीं है। आहाहा! अब यह.... जहाँ ज्ञातादृष्टापने का कर्तापना प्रगट हुआ है, उसे ऐसे इलाज में रागादि का इलाज करता है मिटाने को, तो भी उसे उसकी रुचि नहीं है। आहाहा! अब ऐसी बात, कहो।

सम्यग्दृष्टि को **वेदना सही नहीं जाती, इसलिए उसे मिटाने की उपचार की वांछा सम्यग्दृष्टि को चारित्रमोह के उदय के कारण होती है,...** आहाहा! **किन्तु वह उस वांछा का कर्ता स्वयं नहीं होता,...** आहाहा! क्योंकि आत्मा शुद्ध चैतन्यघन जिसकी दृष्टि में तैरता है, उसे वह राग आता है और उसे छोड़ने का, हटाने का इलाज भी करता है तो भी उसका कर्ता नहीं है। कर्ता आनन्दकन्द का नाथ का ज्ञाता-दृष्टा का कर्ता है। सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा!

विनयतप की व्याख्या की है, भाई ने जरा। आहाहा! बात सत्य है। विनयतप वह कहीं पर का विनय करना, यह कहीं विनयतप नहीं है। अन्तर दर्शन, ज्ञान और चारित्र के जो भाव प्रगट हुए, उनका बहुमान करना, इसका नाम विनय है। क्योंकि विनयतप है न?

तप तो शुद्ध उपयोगी, इच्छा निरोधरूपी तप होता है। आहाहा! समझ में आया? तो जहाँ इच्छा है, यह करूँ, उसे भोगूँ वहाँ तो वाँछा कर्तापने की बुद्धि है। आहाहा! अब उन्होंने विनय के भाई दस प्रकार लिये हैं। बहुत विस्तार किया है। मैंने तो पढ़ा नहीं था, पण्डितों ने महिमा की है, चौतीस पण्डितों ने। विनय तीन प्रकार, ऐसा। एक विनय तप, एक विनय पुण्य, एक विनय अनन्त संसार का कारण। एक विनय तप। अन्तर इच्छा निरोध होकर वीतरागता बढ़ी—शुद्धोपयोग बढ़ा, वह विनय तप और विनय पुण्य तीर्थंकर गोत्र के पुण्य का बन्धन हुआ, वह विनय पुण्य और अज्ञानियों का-मिथ्यादृष्टियों का आदर और विनय करना, वह अनन्त संसार का कारण पाप। आहाहा! समझ में आया? पढ़ा बहुत है न; इसलिए पढ़कर चारों ओर का सुमेल बहुत (किया है)। ऐसा तो पुस्तक... अपने से मिलाकर किया है, हों! आहाहा! ऐसे तो कितने ही बोल लिये हैं। अनशन, ऊनोदर, एक के बाद एक अधिक है। अनशन से ऊनोदर, उससे रसपरित्याग और उसकी वृद्धि। वह विशेष तप है। इससे विशेष है। भगवान ने क्रम ऐसा रखा है, इसलिए उसमें विशेषता है। उसमें भी विशेषता का न्याय रखा है। आहाहा! और विनय में यह रखा है अन्दर से। आहाहा!

अपना जो भगवान आत्मा, उसका जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र प्रगटा हो, उसका विनय अर्थात् विशेष बहुमान, वह इच्छा निरोधरूपी विनयतप है। उपचारिक विनय शास्त्र में आता है। तो उस उपचारिक विनय का अर्थ दूसरे का विनय करना, ऐसा कहते हैं, परन्तु इसने निकाल डाली, वह बात सच्ची है। उपचारिक विनय यह कि सच्चे देव-गुरु-शास्त्र का विनय करना, वह पर है, इसलिए उपचार विनय है। आहाहा! उन्होंने भी बहुत सरस बात की है। बात तो बराबर रखी है। आहाहा! समझ में आया? विनय के तीन प्रकार करके ऐसा विवेचन किया है। आहाहा! वैसे तो प्रत्येक तप की व्याख्या बहुत सरस की है। वास्तविक तप तो शुद्ध उपयोग है। वीतरागता, वह तप है और शुद्धोपयोग स्वरूप की दृष्टि हुई, स्थिरता, वह शुद्धोपयोग है। आहाहा! उस शुद्धोपयोग की जिसे भावना है, उसे यह बाहर के पुद्गल की इच्छा की भावना कैसे होगी? आहाहा! समझ में आया?

यह यहाँ कहते हैं। धर्मी को अन्तर सत् स्वरूप की दृष्टि हुई, इसलिए उसके प्रति का बहुमान वर्तता है। उसे बीच में यह निन्दा, प्रशंसा और सोना के ऊपर तो उसकी वाँछा

नहीं होती। तब कहते हैं कदाचित् वाँछा आती है, विषय की, राग की, चारित्रमोह के कारण, तो वह उसका इलाज करता दिखायी देता है—विषयभोग ले, इत्यादि, तो भी उस राग का कर्ता नहीं है। अन्तर में जम नहीं सकता और अस्थिरता टलती नहीं। आहाहा! समझ में आया? इसलिए अस्थिरता टले, ऐसे प्रयत्न में दिखायी देता है परन्तु उस अस्थिरता का भी कर्ता नहीं है। आहाहा! ऐसा स्वरूप भारी कठिन, बापू!

यह **वांछा सम्यग्दृष्टि को चारित्रमोह के उदय के कारण होती है, किन्तु वह उस वांछा का कर्ता स्वयं नहीं होता,...** देखा? आहाहा! देह की क्रिया हो, राग हो तो भी उसका कर्ता नहीं होता। यह तो बात। आहाहा! जिसने आत्मा को ज्ञातादृष्टारूप से जाना और अनुभव किया, आहाहा! उसे ऐसे इलाज करते दिखायी देने पर भी उसका कर्ता नहीं कहते हैं। आहाहा! कठिन काम है, भाई! आहाहा! 'धार तरवारनी सोह्यली दोह्यली, चौदमा जिनतणी चरणसेवा' पन्द्रहवें अध्ययन में... आहाहा! धर्मनाथ की बात आती है। 'धार पर नाचता देख बाजीगरा, सेवना धार पर रहे न देवा' देव अन्दर रह नहीं सकते और 'रहे न देवा' अज्ञानी वहाँ रह नहीं सकता। आहाहा! सेवा अर्थात् आत्मा आनन्द का नाथ प्रभु, स-एव, सेवा जिसे अन्तर की प्रगटी है, आहाहा! उसके धार की सेवा पर रहनेवाले तो धर्मी जीव हैं। आहाहा! अज्ञानी का वहाँ काम नहीं है। आहाहा! **वह उस वांछा का कर्ता स्वयं नहीं होता,...**

कर्मोदय समझकर उसका ज्ञाता ही रहता है;... जानता है कि यह एक राग आया। समझ में आया? उदय है जानता है। आहाहा! **इसलिए उसे वांछाकृत बन्ध नहीं होता।** मूल पाठ है न यह? **'कम्मफलेसु तह सव्वधम्मेसु ण करेदि कंखं'** सर्व धर्म के दो अर्थ किये। अन्यमतियों के धर्म और पाषाण-सोना, निन्दा-प्रशंसा। तब कहते हैं कि वह समकिती है, वह विषय लेता हुआ दिखायी देता है, स्त्री के इत्यादि के (विषय लेता है) तो वह है, वह राग आता है तो उस राग का इलाज करता दिखायी देता है परन्तु उसका उसे रस नहीं है। आहाहा! अरे! अरे! ऐसी बातें। और अज्ञानी स्त्रियों का त्याग करता है तो भी अन्दर राग का रस चलता है और राग का कर्ता है, मिथ्यादृष्टि है। ऐसा स्वरूप है। आहाहा! समझ में आया? यह दूसरा गुण हुआ। निःशंक, निःकांक्ष। समकित के आठ गुण हैं। गुण अर्थात् दशायें, चिह्न, लक्षण, निशान, इसके दो हुए।

गाथा - २३१

जो ण करेदि दुगुंछं चेदा सव्वेसि-मेव धम्माणं।
सो खलु णिव्विदिगिच्छो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो।।२३१।।

यो न करोति जुगुप्सां चेतयिता सर्वेषामेव धर्माणाम्।
सो खलु निर्विचिकित्सः सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः।।२३१।।

यतो हि सम्यग्दृष्टिः टङ्कोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन सर्वेष्वपि वस्तुधर्मेषु जुगुप्सा-भावान्निर्विचिकित्सः, ततोऽस्य विचिकित्साकृतो नास्ति बन्धः, किन्तु निर्जरैव।।२३१।।

अब निर्विचिकित्सा गुण की गाथा कहते हैं:-

सब वस्तुधर्मविषैं जुगुप्साभाव जो नहिं धारता।
चिन्मूर्ति निर्विचिकित्स वो, सद्दृष्टि निश्चय जानना।।२३१।।

गाथार्थ : [यः चेतयिता] जो चेतयिता [सर्वेषाम् एव] सभी [धर्माणाम्] धर्मों (वस्तु के स्वभावों) के प्रति [जुगुप्सां] जुगुप्सा (ग्लानि) [न करोति] नहीं करता, [सः] उसको [खलु] निश्चय से [निर्विचिकित्सः] निर्विचिकित्स (-विचिकित्सादोष से रहित) [सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि [ज्ञातव्यः] जानना चाहिए।

टीका : क्योंकि सम्यग्दृष्टि, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयता के कारण सभी वस्तुधर्मों के प्रति जुगुप्सा का अभाव होने से, निर्विचिकित्स (-जुगुप्सारहित-ग्लानिरहित) है, इसलिए उसे विचिकित्साकृत बन्ध नहीं किन्तु निर्जरा ही है।

भावार्थ : सम्यग्दृष्टि वस्तु के धर्मों के प्रति (अर्थात् क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण आदि भावों के प्रति तथा विष्टा आदि मलिन द्रव्यों के प्रति) जुगुप्सा नहीं करता। यद्यपि उसके जुगुप्सा नामक कर्मप्रकृति का उदय आता है, तथापि वह स्वयं उसका कर्ता नहीं होता, इसलिए उसे जुगुप्साकृत बन्ध नहीं होता, परन्तु प्रकृति रस देकर खिर जाती है, इसलिए निर्जरा ही होती है।

गाथा - २३१ पर प्रवचन

तीसरा (गुण)। **अब निर्विचिकित्सा गुण की गाथा कहते हैं:-** गुण शब्द से पर्याय है। सम्यग्दर्शन के साथ यह एक पर्याय है, इसे गुण कहने में आता है।

जो ण करेदि दुगुंछं चेदा सव्वेसि-मेव धम्माणं।
सो खलु णिव्विदिगिच्छो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो।।२३१।।

सब वस्तुधर्मविषैं जुगुप्साभाव जो नहिं धारता।
चिन्मूर्ति निर्विचिकित्स वो, सद्दृष्टि निश्चय जानना।।२३१।।

आहाहा! विनय की व्याख्या में उन्होंने ऐसा कहा है कि यह सिर कहीं सड़ा हुआ नारियल नहीं कि जहाँ-तहाँ नम जाये। ऐसा लिखा है। उसे तो धर्मदृष्टि दिखती है, धर्म हो, वहाँ वह नम जाता है और वह नमन भी उपचारिक विनय है। क्योंकि विकल्प है न। आहाहा! उनका वाँचन बहुत। बहुत वाँचन, उसमें से मिलान करके बहुत अच्छी बात की है। ओहोहो! ऐसी पुस्तक तो... अपने तो भाई जैसा है... आत्मा है। परमात्मा होने की योग्यतावाला आत्मा है। आहाहा! केवलज्ञान प्रगट करे, ऐसी योग्यता है। साधारण बातों में तो उसकी क्या....

मुमुक्षु : यह सब आपका प्रताप है।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, तो भी उनका क्षयोपशम है। बात तो लिखी है कि मैं तो भाई सब यहाँ से सीखा हूँ। यहाँ आवे तो बात यह करे न। परन्तु इतना सब विस्तार यहाँ से नहीं आया। उसके वाँचन की सब पुस्तकें पूरी पढ़े, ठेठ से ठेठ तक, उसमें से उसे मस्तिष्क में सार रह जाता है, वह मिलान कर निकाला है। बड़े करणानुयोग के, चरणानुयोग के ग्रन्थ होते हैं न? दार्शनिक ग्रन्थ, शास्त्र, सैद्धांतिक ग्रन्थ। आहाहा! उनके वाँचन से पहले से यह लक्ष्य यह ठेठ (अन्त) तक में आगे क्या है, उसका ख्याल रखकर होता है। इसलिए उसमें ऐसी बात आयी है। आहाहा! कहो, पण्डितजी! यह पण्डितजी यह कहलाये। आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं, है न? २३१, टीका:—**क्योंकि सम्यग्दृष्टि,...** आहाहा! इतना सब ज्ञान विशेष तिर्यंच को होता ही नहीं तो भी सम्यग्दर्शन होता है। आहाहा! समझ

में आया? वह यहाँ सम्यग्दृष्टि जीव, चाहे तो तिर्यंच हो, नारकी हो, मनुष्य हो, देव हो। **टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयता के कारण...** आहाहा! टंकोत्कीर्ण अर्थात् शाश्वत्। ध्रुव एकरूप ज्ञायकभावमयपना, ज्ञायकभावमयपना अकेला जाननस्वभावमयपना प्रभु आत्मा, उसके कारण **सभी वस्तुधर्मों के प्रति...** आहाहा! मलिन आदि पदार्थ या मुनि की मलिन आदि दशा देखकर **जुगुप्सा का अभाव होने से,...** उसे जुगुप्सा का अभाव है। आहाहा! सड़े हुए मुर्दे पड़े हों तो भी उनकी जुगुप्सा का उसे अभाव है। यह तो पुद्गल की पर्याय है। आहाहा! ऐसे मुनिराज भावलिंगी वीतरागी मुनि सन्त हों, उनके शरीर में मैल दिखायी दे, रोग दिखायी दे, आहाहा! और अपना शरीर ऐसा मजबूत दिखायी दे तो भी उस पर के प्रति जुगुप्सा नहीं है, दुर्गंछा नहीं है। आहाहा! मुनिराज वीतराग है। आहाहा! उन्हें भी ऐसे उल्टी आदि के रोग होते हों या ऐसा खाया और उल्टी... आहाहा! और वह उल्टी भी वापस शरीर के ऊपर आ जाए, ख्याल न रहे इसलिए ऐसी (आवे)।

मुमुक्षु : राजा उदयन का नाम लिया।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, वह चाहे जो भी यह तो न्याय से (बात है)। ऐसी उल्टी हो जाए कि ऐसे शरीर के ऊपर आ जाए तो भी उसे तो ग्लानि नहीं परन्तु समकिती उसकी दुगंछा नहीं करता। आहाहा! वह तो है। खून की उल्टी हो। देखो न! शरीर। कल देखो न, कल देखा न? उस ललिताबेन को पूरे शरीर में अग्नि जलती है, कहे। अग्नि, अग्नि, अग्नि ऐसे। ललिता। अब उन अपने नेमचंदभाई को जरा यहाँ दर्द उठता है। ऐसे वह दर्द है। उसे पूरे शरीर में अग्नि जलती है। बेचारी मोतीबेन उसकी चाकरी करती है ऐसी न कि, वह बेचारी रोने लगी। हों! हम पहले से साथ, इसलिए ठेठ तक... आहाहा! यह स्थिति (पुद्गल की है)। आहाहा! अपने लालचन्दभाई को भी है, देखो न अन्दर से धड़ाका मारता है। कौन जाने क्या मुझे ऐसा रोग? अन्दर से चिंगारी मारे अग्नि जैसी। हों! यह परमाणु अन्दर। शरीर (एक-एक रोम में) छियानवें रोग से भरी हुई वेदनामूर्ति है। धर्मी को उसकी ग्लानि नहीं होती। आहाहा! समझ में आया? खून की उल्टी होने पर शरीर के ऊपर खून गिर जाए। है? लिपट जाये, खून से लिपट जाये। आहाहा! वह तो वस्तु का स्वभाव है, धर्मी को उसकी ग्लानि नहीं होती। जिसे आत्मज्ञान और आत्मदर्शन हुआ है। आहाहा! उसे उसकी ग्लानि नहीं होती। आहाहा!

तीसरे प्रकार से कहें तो पहले में निःशंक कहा। निःशंकपना। उसमें उतारा होगा कहीं, खबर नहीं। पहले में निःशंक कहा है, वह वस्तु के स्वरूप में निःसन्देह है। पश्चात् कांक्षा कही वह पर में राग नहीं, इच्छा नहीं, ऐसा कहा। अब यह द्वेष नहीं। यह पहले कहा गया है। (बात) हो गयी है। आहाहा! इसमें कहीं आया नहीं अभी। एक के बाद एक उसे अन्दर में कैसे रखा है, वह सब हेतु है। त्रिलोक के नाथ के घर की बातें, बापू! यह कहीं चाहे जो भाषा उनकी हो, उस क्रम में कैसे आया? और क्रम कैसे कहा? उसका भी कोई हेतु होता है। आहाहा!

मुमुक्षु : इस क्रम के पश्चात् यही हो, दूसरा हो नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यही हो। तीन लोक के नाथ की दिव्यध्वनि में, 'ॐकार ध्वनि सुनि अर्थ गणधर विचारे, रचि आगम उपदेशे भविक जीव संशय निवारे।' आहाहा!

ज्ञायकभाव भगवान आत्मा है, वह रागवाला तो नहीं परन्तु अल्प पर्यायवाला भी नहीं। आहाहा! सकल निरावरण अखण्ड एक प्रत्यक्ष प्रतिभासमय निज परमात्मद्रव्य, वह ज्ञायकभाव जिसका आश्रय लिया है, जिसे भगवान आत्मा की भेंट हुई, उसे पर की ग्लानि-पर में द्वेष कैसे हो? कहते हैं। आहाहा! अपने अतिरिक्त पर में कहीं राग भी नहीं, तथा अपने अतिरिक्त उसे पर में कहीं द्वेष भी नहीं। आहाहा! ऐसी अन्तर की बातें, बापू! बहुत सूक्ष्म।

उन्होंने तो विनयतप को वहाँ डाला है कि शुद्ध उपयोग है, वह विनयतप है। पर का विनय करना, वह तो उपचारिक विनय, विकल्प है। बात सत्य है। सत्य बात है, बापू! एक व्यक्ति ने लिखा है न, इसलिए कि भाई! कानजीस्वामी ने जो कुछ गहरी-गहरी बातें कही हैं, उसकी यह एक कड़ी है, ऐसा लिखा है न? कल आया था। उसकी यह एक समुचित कड़ी है। परन्तु वह विचारक, क्षयोपशम बहुत, चौंतीस पण्डितों ने महिमा की है कि ऐसी बात तो अभी तक कहीं नहीं थी। जिसका जितना हो, उसका उसमें... तो भी बेचारा निर्मानी व्यक्ति है। वह तो ऐसा कहे, मैं तो यहाँ से सीखा हूँ न! आहाहा!

प्रभु! अन्तर जिसकी दृष्टि का विकास हुआ, उसकी तो बातें क्या करना! आहाहा! उसे तो पर के चाहे जितने सड़े हुए ढ़ेर दिखायी दे परन्तु ग्लानि नहीं है। जानता है कि मेरी

ज्ञान की पर्याय अभी उसे जानने के योग्यतारूप से जानती है। मेरी ज्ञान की पर्याय का स्वभाव ही अभी उसे जानना और अपने से ही अपने को ऐसा जानने का स्वभाव है। वह जानने का स्वभाव है, उसे यह निकाल डालना, ऐसा कुछ रहता है ? उसकी ग्लानि करूँ, (ऐसा है) ? आहाहा! **निर्विचिकित्सा (-जुगुप्सारहित) रहित है,...** चिकित्सारहित अर्थात् जुगुप्सारहित। **इसलिए उसे विचिकित्साकृत बन्ध नहीं...** दुर्गन्ध कृत जो भाव है, उसका बन्ध उसे है नहीं। आहाहा! निर्जरा ही है। आहाहा!

वस्तु वास्तविक तत्त्व है, ज्ञायकभाव, उसका जो अनुभव और दृष्टि उसकी यहाँ बलिहारी है। बाकी तो सब बातें बाद में। यह व्रत, तप और भक्ति तथा यह और वह, ये तो सब राग हो, आता है, परन्तु उसका यह धर्मी कर्ता नहीं है। आहाहा! भगवान जहाँ अनन्त आनन्द का सागर जहाँ उछलता है, दृष्टि में जहाँ परमात्मा आया, उसे किस बात की कमी है ? कि दूसरी बात की उसे महिमा आवे ? आहाहा! समझ में आया ? इसलिए करना हो तो पहले यह करना है। कहो, सुजानमलजी! ऐसा है, बापू! आहाहा!

पाँच इन्द्रिय से अनन्त बार अनन्त काल से देखा परन्तु जो देखनेवाला है, उसे नहीं देखा। आहाहा! देखनेवाले को देखा नहीं और देखनेवाले ने पर्याय में पर को देखा। आहाहा! यह अपनी ओर का उसमें अनादर किया है। आहाहा! 'द्वेष अरोचक भाव' यह तो ग्लानि है न ? द्वेष। 'द्वेष अरोचक भाव' जिसे स्वरूप की रुचि नहीं, उसे प्रभु के प्रति द्वेष है, इस आत्मा के प्रति, हों! आहाहा! पूर्णानन्द का नाथ परमात्मा, अनन्त-अनन्त चैतन्य रत्नाकर के भरपूर भगवान का जिसे आदर और ज्ञान नहीं और इन पाँच इन्द्रियों के ज्ञान में रुक गया, प्रभु! तूने तेरे स्वभाव का अनादर किया। अरुचि भाव। उसे रुचा नहीं, वह तुझे उसके प्रति प्रभु! ग्लानि-द्वेष है। यहाँ द्वेष पर के प्रति नहीं परन्तु यहाँ द्वेष, आत्मा की रुचि नहीं, उसे आत्मा के प्रति द्वेष है। आहाहा! और धर्मी को आत्मा के प्रति द्वेष नहीं परन्तु परवस्तु मलिन देखकर भी उसे द्वेष नहीं आता। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

भावार्थ : सम्यग्दृष्टि वस्तु के धर्मों के प्रति (अर्थात् क्षुधा,...) शरीर में क्षुधा दिखायी दे, इसलिए उसे ग्लानि नहीं, अनादर नहीं। होता है। **तृषा,...** आहाहा! पानी की एक बूँद न मिले और तृषा (लगी हो)। सच्चे सन्त हों, वीतरागी मुनि, उनको शरीर जीर्ण

हुआ और खड़े होकर पानी लेने का प्रसंग भी न रहे। खड़े होकर पानी लिया जाता है न? दूसरा कोई खड़ा करके ले, यह भी नहीं। आहाहा! अब वह तृषा लगी हो तो भी उन्हें अन्दर आनन्द है। उस तृषा की ग्लानि नहीं कि अरर! यह कैसे? जानते हैं। आहाहा! पानी की बूँद नहीं मिलती। आहाहा! ऐसी तृषा के समय भी धर्मी को, आहा! उसकी जुगुप्सा नहीं है। वह तृषा की जड़ की दशा इस प्रकार से होती है। आहाहा!

शीत,... बर्फ गिरे बर्फ। उसके प्रति उसे द्वेष नहीं है। शीतल स्वभाव भगवान आत्मा जिसने जाना, उसे बाहर की शीत के प्रति द्वेष नहीं है। आहाहा! जिसने आत्मा की अरुचि छोड़कर द्वेष छोड़ा और रुचि की, उसे पर के प्रति भी द्वेष नहीं है, कहते हैं। समझ में आया? क्या कहा यह? जिसने भगवान आत्मा की अरुचिरूपी द्वेष, द्वेष छोड़ा और रुचि और दृष्टि हुई, उसे स्व के प्रति द्वेष नहीं तथा पर के प्रति द्वेष नहीं। आहाहा! वह तो वीतराग मूर्ति आत्मा, समकिती वीतरागमूर्ति है। समकित, वह वीतराग पर्याय है। आहाहा! और सम्यग्दर्शन होता है, वह शुद्धोपयोग में होता है। अब अभी ऐसा कहते हैं कि अभी शुभउपयोग ही होता है। अरे! प्रभु! क्या करता है व्यक्ति? साधु नाम धराकर बड़े शान्तिसागर के मार्गी श्रुतसागर। बात तो उसकी सत्य है कि इन सबके पास शुभभाव ही था। परन्तु उन्होंने शुभभाव को मुनिपना मनवाना, मानना है। शुभभाव तो समकिती को भी होता है, परन्तु वह शुभभाव मेरा नहीं, मैं तो शुद्ध चैतन्य हूँ, वह मैं हूँ। शुद्धोपयोगी भगवान आत्मा, वह मैं हूँ। आहाहा! अधिक स्वाध्याय किया हो और शास्त्र बहुत पढ़ा हो, इसलिए उसे यह सम्यग्दर्शन हो, ऐसा कुछ नहीं है। आहाहा! यह तो महाप्रभु जिसके पूर्ण आनन्द आदि अनन्त गुणों का माहात्म्य अन्दर आने पर अन्दर जाता है, एकाग्र होता है, कहते हैं, उसे अपने प्रति का जो अरुचिभाव था, वह तो गया; रुचि भाव पोषण में आत्मा आ गया, उसे बाहर की शीत, क्षुधा, तृषा या उष्ण के प्रति भी उसे अरुचि नहीं है। आहाहा! है?

शीत, उष्ण... गर्मी ऐसी, ऐसी गर्मी पड़े। एक ओर बारह डिग्री, पन्द्रह डिग्री, सोलह डिग्री। पड़ती है या नहीं? वह तो ज्ञेय है। उसका उसे द्वेषपना नहीं है। आहाहा! शरीर में अग्नि सुलगे। अग्नि ऐसे पूरे शरीर में दाह मारे। शरीर का स्वभाव है, मैं वह शरीर नहीं तथा मुझे वह दाह नहीं मारता। आहाहा! गजब बात, बापू! बहुत कठिन बात है। और

जिसके जन्म मरण का अन्त आवेगा, बापू! आहाहा! चौरासी के अवतार में सड़ गया है, मर गया है। उसके दुःख वेदन किये, उसे भी देखनेवाले को आँसू की धारा बहती है, ऐसे दुःख उसने भोगे हैं। किंचित् ऐसी सुविधा जरा बाहर दिखायी दे वहाँ मानो बस! अब हम सुखी हैं। परन्तु आत्मा के ज्ञान बिना वह राग में एकत्व माननेवाला महा दुःखी है। आहाहा!

सम्यग्दर्शन वह वीतरागी पर्याय है। इसलिए उसे पर की वाँछा नहीं तथा पर में उसे द्वेष नहीं। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! साधारण बात (लगे) परन्तु उसमें परमात्मा का घर जिसने देखा है, आहाहा! ऐसे सम्यग्दृष्टि चाहे तिर्यंच हों, अरे! सातवें नरक में नारकी हो, आहाहा! वह वेदन वहाँ सर्दी का, एक इतनी सर्दी यहाँ लावे (तो) दस हजार योजन के मनुष्य मर जायें, उसमें समकिती अन्दर स्थित होता है। आहाहा! तथापि उसे शीत की ग्लानि नहीं है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! गजब बात है। और अग्नि में ऐसे शरीर को सुलगा दे। हड... हड... हड... हड शत्रु, वैरी। टाटा का बड़ा कारखाना है न? पच्चीस वर्ष का राजकुमार (हो), करोड़ों खर्च करके विवाह हुआ हो, उस दिन से रात्रि में, अभी पहली रात्रि में कोई उठाकर अग्नि में डाले, आहाहा! ऐसी पीड़ा होवे तो भी कहते हैं कि समकिती को जुगुप्सा नहीं है। आहाहा! भाई! मार्ग बहुत अलग है। शुद्धोपयोग, वह धर्म है। शुभोपयोग, वह धर्म नहीं है। आहाहा! इसलिए यहाँ जुगुप्सा नहीं है, वहाँ शुद्धोपयोग है अथवा सम्यग्दर्शन की वीतरागी दशा है। समझ में आया? आहाहा!

वह जुगुप्सा नहीं करता अथवा **(विष्टा आदि मलिन द्रव्यों के प्रति)**... आहाहा! दुर्गन्धित विष्टा के ढ़ेर दिखायी दे। यह खेत में डालते हैं न? भंगी सब लेकर खेत में, ऐसी विष्टा पड़ी हो, खेत में ढ़ेर (हो), उसे सूकर खाता है। धर्मी कहता है कि उसे देखकर ग्लानि न करे। यह रत्न के ढ़ेर देखकर वाँछा न करे और विष्टा के ढ़ेर देखकर द्वेष न करे। आहाहा! चिन्तामणि नाथ भगवान अन्दर जिसे प्रगट हुआ, और जितनी अन्दर एकाग्रता हो, उतनी उसे आनन्द की दशा बढ़े, अब उसे पर देखता है क्या? आहाहा! पर की वाँछा और पर में ग्लानि द्वेष उसे नहीं होता, वह वीतरागभाव से जानता है। आहाहा! ऐसा है।

अभी तो सम्यग्दर्शन बिना की अकेली बातें। व्रत, तप, भक्ति, पूजा और शास्त्र वाँचन और बड़ी सभा में भरना... आहाहा! यहाँ तो भगवान पहला सम्यग्दर्शन हो, उसे धर्म की शुरुआत होती है। फिर बीच में विकल्प अनेक प्रकार के हों, आहाहा! परन्तु वह उनका कर्ता नहीं है। आहाहा! विष्टा इत्यादि लेना। आहाहा! **(मलिन द्रव्यों के प्रति) जुगुप्सा नहीं करता। यद्यपि उसके जुगुप्सा नामक कर्मप्रकृति का उदय आता है, तथापि वह स्वयं उसका कर्ता नहीं होता...** आहाहा! अर्थात्? जरा अन्दर जुगुप्सा का भाव, विकल्प आ जाए परन्तु उसका कर्ता नहीं है। आहाहा! अब ऐसा स्वरूप। आहाहा!

तथापि वह स्वयं उसका कर्ता नहीं होता, इसलिए उसे जुगुप्साकृत बन्ध नहीं होता, परन्तु प्रकृति रस देकर खिर जाती है... उस राग का या द्वेष का उदय जरा आया, वह खिर जाता है। आहाहा! पानी के पूर पहले बहुत आते थे न? तब गाँव में घुस जाए दुकान के ऊपर। फिर सेठ नारियल डाले। ऐसा कि पानी वापस घूम जाए। हमारे उमराला गाँव में था। बड़ी नदी है न? गाँव में सेठ की दुकान हो, वहाँ तक पानी आवे, अन्दर बढ़ जाएगा चारों ओर का पानी, ऐसे पच्चीस-पच्चीस कोस से 'करियाना' से नदी आवे। ऐई... बड़ा समुद्र। फिर वे लोग ऐसे नारियल डाले, ऐसा कि वापस हट जाए। हैं?

मुमुक्षु : चुंदड़ी और नारियल डाले।

पूज्य गुरुदेवश्री : चुंदड़ी डालते होंगे। ऐसी सब भ्रमणाएँ हैं। वह तो देखने की चीज़ है तो जान कि ऐसा होता है। उसमें हट जाए या तेरे घर में घुस जाए, उसमें तुझे क्या है? यह (ज्ञान) घर में कहाँ घुसे ऐसा है? आहाहा! यह तो दुकान का तो छोटी उम्र में देखा हुआ है 'रोकड़' सेठ था वे लोग वहाँ आवे और नारियल डाल जाये, ऐसा कि पानी अब हट जाएगा। बेचारों को कुछ खबर नहीं होती। स्थानकवासी जैन। आहाहा! यह तीसरा बोल हुआ।

गाथा - २३२

जो हवदि असम्मूढो चेदा सद्दिट्ठि सव्व-भावेसु।
सो खलु अमूढदिट्ठी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो।।२३२।।

यो भवति असम्मूढः चेतयिता सद्दृष्टिः सर्व-भावेषु।
स खलु अमूढ-दृष्टिः सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः।।२३२।।

यतो हि सम्यग्दृष्टिः टङ्कोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन सर्वेष्वपि भावेषु मोहाभावाद-मूढदृष्टिः, ततोऽस्य मूढदृष्टिकृतो नास्ति बन्धः, किन्तु निर्जरैव।।२३२।।

अब अमूढ़दृष्टि अंग की गाथा कहते हैं:-

संमूढ़ नहिं सब भाव में जो, -सत्यदृष्टी धारता।
वो मूढ़दृष्टिविहीन सम्यग्दृष्टि निश्चय जानना।।२३२।।

गाथार्थ : [यः चेतयिता] जो चेतयिता [सर्वभावेषु] समस्त भावों में [असंमूढः] अमूढ़ है- [सद्दृष्टिः] यथार्थ दृष्टिवाला [भवति] है, [सः] उसको [खलु] निश्चय से [अमूढ़दृष्टिः] अमूढ़दृष्टि [सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि [ज्ञातव्यः] जानना चाहिए।

टीका : क्योंकि सम्यग्दृष्टि, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयता के कारण सभी भावों में मोह का अभाव होने से, अमूढ़दृष्टि है, इसलिए उसे मूढ़दृष्टिकृत बन्ध नहीं किन्तु निर्जरा ही है।

भावार्थ : सम्यग्दृष्टि समस्त पदार्थों के स्वरूप को यथार्थ जानता है; उसे राग-द्वेष-मोह का अभाव होने से किसी भी पदार्थ पर अयथार्थ दृष्टि नहीं पड़ती। चारित्रमोह के उदय से इष्टानिष्ट भाव उत्पन्न हों, तथापि उसे उदय की बलवत्ता जानकर वह उन भावों का स्वयं कर्ता नहीं होता, इसलिए उसे मूढ़दृष्टिकृत बंध नहीं होता परन्तु प्रकृति रस देकर खिर जाती है, इसलिए निर्जरा ही होती है।

गाथा - २३२ पर प्रवचन

चौथा अमूढ़दृष्टि। सम्यग्दृष्टि अमूढ़ होता है। आहाहा!

जो हवदि असम्मूढो चेदा सद्दिट्ठि सव्व-भावेसु।
सो खलु अमूढदिट्ठी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो।।२३२।।

संमूढ़ नहिं सब भाव में जो, -सत्यदृष्टी धारता।
वो मूढ़दृष्टिविहीन सम्यग्दृष्टि निश्चय जानना।।२३२।।

आहाहा! कुन्दकुन्दाचार्य कैसी शैली से बात करते हैं! और उसमें अमृतचन्द्राचार्य उनकी टीका के कर्ता। आहाहा! कुन्दकुन्दाचार्य ने तो पंचम काल के तीर्थंकर जैसा काम किया और इन्होंने गणधर जैसी टीका की। ओहोहो! मीठा महेरामण उछाले हैं। भगवान अमृत का सागर परमात्मा, आहाहा! उसकी जिसे दृष्टि और सम्यग्ज्ञान हुए हैं, उसे कहते हैं कि किसी प्रकार की उलझन नहीं है, उलझता नहीं है। आहाहा!

क्योंकि सम्यग्दृष्टि, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयता के कारण सभी भावों में मोह का अभाव होने से,... आहाहा! उसे कहीं मोह नहीं है, उलझन नहीं है। आहाहा! अन्यमति के बाबा आदि को माननेवाले राजा, महाराजा हों और करोड़ों हाथी तथा लाखों हाथियों पर बैठाकर महा मान देते हों तो उसे ऐसा नहीं होता कि उसमें कुछ होगा? इन जगत के अज्ञानियों के पुण्य के प्रकार होते हैं। उलझता नहीं। अरे! ऐसा वीतरागी एक मैं और मुझे माननेवाले नहीं और ऐसों को माननेवाले, इसलिए इनमें कुछ होगा? आहाहा! ऐसे समकिती को उलझन, मोह नहीं है। आहाहा! है?

भावों में मोह का अभाव होने से, अमूढ़दृष्टि है, इसलिए उसे मूढ़दृष्टिकृत बन्ध नहीं... उलझन के भाव से जो बन्ध होता था, वह भाव उसे नहीं है, इसलिए उसे उसका बन्ध नहीं है परन्तु जरा कोई भाव आ गया, उसके खिर जाता है। आहाहा! है न? **किन्तु निर्जरा ही है।** 'ही' शब्द रखा है वापस। है न? **'निर्जरैव'** संस्कृत में है। **'निर्जरैव'** आहाहा! ज्ञानी को कोई ऐसा भाव आवे, परन्तु कहते हैं, वह तो खिर जाता है। आहाहा!

भावार्थ : सम्यग्दृष्टि समस्त पदार्थों के स्वरूप को यथार्थ जानता है;... सर्व पदार्थों के स्वरूप को यथार्थ जानता है। **उसे राग-द्वेष-मोह का अभाव होने से किसी भी पदार्थ पर अयथार्थ दृष्टि नहीं पड़ती।** आहाहा! किसी भी पदार्थ के प्रति उसकी विपरीत दृष्टि या अयथार्थ दृष्टि नहीं होती। आहाहा! वह दूसरे को भी वास्तविक दृष्टि से देखता है। उसकी (सामनेवाले की) दृष्टि भले विपरीत हो परन्तु उसे उस प्रकार से देखता है। आहाहा! समझ में आया?

द्रव्य से परमात्मा साधर्मी होने पर भी, द्रव्य से धर्मी उसे साधर्मीरूप से ध्रुव आनन्द का नाथ देखता है परन्तु पर्याय में उसकी जो उलझन आदि जो अज्ञान है, उसे उस प्रकार से जानता है। आहाहा! समझ में आया? परन्तु उलझता नहीं। ऐसा कि, आहाहा! ऐसे जीव बहुमान करते हैं और यह करते हैं, और बड़े राजा मानते हैं, चक्रवर्ती मानते हैं। चक्रवर्ती भी मिथ्यादृष्टि होवे तो माने, उसमें क्या है? आहाहा! जिसके राज में वह चलता हो, सम्यग्दृष्टि उलझता नहीं है। आहाहा!

सम्यग्दृष्टि समस्त पदार्थों के स्वरूप को यथार्थ जानता है; उसे राग-द्वेष-मोह का अभाव होने से किसी भी पदार्थ पर अयथार्थ दृष्टि नहीं पड़ती। चारित्रमोह के उदय से इष्टानिष्ट भाव उत्पन्न हों... देखा? जरा इष्ट-अनिष्ट वृत्तियाँ हो जाती हैं। है तो सब ज्ञेय, परन्तु ज्ञेय को देखकर नहीं, किन्तु अपनी कमजोरी के कारण जरा इष्ट-अनिष्ट वृत्ति हो जाए, ऐसा कहते हैं। वह वस्तु इष्ट-अनिष्ट नहीं है। वस्तु तो ज्ञेय है परन्तु उस ज्ञेय को देखने से अपनी वृत्ति में अपने कारण से जो इष्ट-अनिष्ट वृत्ति हुई, उसे वह जानता हुआ उसका कर्ता नहीं होता। अरे! आहाहा! **चारित्रमोह के उदय से इष्टानिष्ट भाव उत्पन्न हों, तथापि उसे उदय की बलवत्ता जानकर...** क्या कहते हैं? उस प्रकार का राग जरा कमजोरी से है। आहाहा! कर्म का बलवानपना, वह नहीं। उसकी विकार की दशा का अभी जरा बलवानपना है, ऐसा जाने। ऐसा करके ज्ञाता रहे। आहाहा!

है? **उदय की बलवत्ता...** (यह पढ़कर) वहाँ ऐसा डाले, देखा! कर्म का जोर है। वह कर्म का जोर है अर्थात् अपनी पर्याय में कमजोरी है, वह भावकर्म का जोर है। आहाहा! समझ में आया? **वह उन भावों का स्वयं कर्ता नहीं होता...** ऐसा कहा न?

इसलिए उसे मूढ़दृष्टिकृत बंध नहीं होता... वह उलझता नहीं। आहाहा! कि, इतना सब इस जगत का जोर और मुझमें भी यह राग का इतना जोरदार भाव! जानता है कि है, मेरी कमजोरी है। उसे वह जानता है। कर्ता नहीं होता। अरे! परन्तु यह क्या? आहाहा! अर्थात् कि ढाँक देता है। ज्ञाता-दृष्टा के समक्ष दोष की विशेषता दिखायी नहीं देती। दोष जानता है कि है। ज्ञाता-दृष्टा भगवान आत्मा के समक्ष दोष की कुछ कीमत नहीं है। ऐसा जानकर उस दोष का ज्ञाता रहता है और वह दोष उसे खिर जाता है। आहाहा! अरे! ऐसी बातें। कहीं (मिले ऐसी नहीं है)।

परन्तु प्रकृति रस देकर... आत्मा के रस में चढ़ा हुआ आत्मा, उसे प्रकृति का रस रागादि आया, वह खिर जाता है। आहाहा! **खिर जाती है, इसलिए निर्जरा ही होती है। प्रकृति रस देकर खिर जाती है...** आहाहा! **इसलिए निर्जरा ही होती है।** समकित के यह आचार है न? वीतरागी निर्मल पर्याय है। वीतरागी पर्याय का स्वामी होने से और द्रव्य का स्वामी होने से, वे रागादि जरा आवें उनका स्वामी नहीं होता, कर्ता नहीं होता परन्तु खिर जाते हैं। ऐसा सम्यग्दृष्टि का स्वरूप है। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३०८, गाथा- २३२ से २३४, मंगलवार, भाद्र कृष्ण ६
दिनाङ्क ११-०९-१९७९

बाह्य परिग्रह तो भाई! वे सब तो राग के निमित्त हैं। आहाहा! जिसे अन्तर में सम्यग्दृष्टि अर्थात् कि मिथ्यात्व, राग, रति, अरति आदि अभ्यन्तर परिग्रह है, उसकी एकताबुद्धि जिसे टूटी है और ज्ञायकस्वभाव में एकताबुद्धि हुई है, उसको यहाँ सम्यग्दृष्टि कहते हैं। समझ में आया? परिग्रह चौबीस प्रकार का है न? दस प्रकार का परिग्रह बाह्य है। भाई ने अभी उसमें प्रश्न रखा था। दस प्रकार में धन, धान्य आता है तो धन-धान्य में धन का अर्थ वहाँ पैसा नहीं है। सोना, चाँदी आदि है। दस प्रकार का बाह्य परिग्रह है, उसमें भी पैसा नहीं आता। लोग पैसे को परिग्रह मान बैठे हैं। आहाहा! यह भाई ने लिखा है। और वह परिग्रह जो है अन्दर राग, द्वेष, पुण्य-पाप अभ्यन्तर परिग्रह, उसे जिसने पकड़ा है, वे

मेरे हैं—ऐसी बुद्धि है, वहाँ तो मिथ्यात्व का परिग्रह है। आहाहा! और वह मिथ्यात्व का परिग्रह छूटे बिना रागादि के परिणाम हों, उनकी एकताबुद्धि नहीं टूटती। राग भले हो, परन्तु उसका परिमाण हो जाए—माप आ जाता है। अर्थात्? कि कषाय की जो तीव्रता की एकताबुद्धि है, वह महापरिग्रह मिथ्यात्व का है। आहाहा! और वह मिथ्यात्व का परिग्रह छूटे बिना ज्ञायकस्वभाव की ओर एकता कभी नहीं होती। आहाहा! समझ में आया?

भाई ने आकिंचन और ब्रह्मचर्य का स्पष्टीकरण बहुत अच्छा किया है। अभी ब्रह्मचर्य आया नहीं। आकिंचन अर्थात् परपरिग्रह का अभाव और ब्रह्मचर्य अर्थात् स्वभाव में एकता। वह अर्थ नास्ति से है, यह अस्ति है। आहाहा! कुछ भी रागादि कण कोई मेरी चीज़ नहीं है, ऐसा आकिंचन धर्म, वह नास्तिरूप से है और मेरा स्वरूप पूर्णानन्द है, ऐसा जिसे दृष्टि में, ज्ञान में स्वीकार हुआ, उसमें उसे ब्रह्मचर्य की शुरुआत हुई। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि अमूढ़दृष्टि... आहाहा! **समस्त पदार्थों के स्वरूप को यथार्थ जानता है;...** है? (भावार्थ) सर्व पदार्थ के स्वरूप। सर्व में सब (आ गया), राग, द्वेष, आत्मा, पर, मिथ्याभाव, राग इन सबको यथार्थ जानता है। आहाहा! २३२ गाथा। पृष्ठ निकालने में देर लगे, उस पैसे का पृष्ठ निकालना हो तो झट निकलता है। आहाहा! अमूढ़दृष्टि अर्थात् सम्यग्दृष्टि **समस्त पदार्थों के स्वरूप को यथार्थ जानता है;...** आहाहा! यह हास्य रागादि का भाव, वह दोष है, अभ्यन्तर परिग्रह है, ऐसा ज्ञानी बराबर अन्तर में जानता है। आहाहा! और उस परिग्रह की एकताबुद्धि टूटे बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता और उसके टूटे बिना बाह्य परिग्रह का त्याग करके बैठे, वह सब मिथ्यात्याग है। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

समस्त पदार्थों के स्वरूप को... परवस्तु है, वह अत्यन्त पर है, पैसा आदि वह तो पर है, ऐसा जाना है। रागादि हैं, वे अन्तर में अभ्यन्तर परिग्रह है। विकार (है, वह) मेरा नहीं है। वह होता है परन्तु मेरा नहीं है। ऐसी एकत्वबुद्धि छूटी है। ऐसा **सम्यग्दृष्टि समस्त पदार्थों के स्वरूप को यथार्थ जानता है;...** आहाहा!

उन्होंने—भाई ने तो एक लिखा है, ऐसा कि इन परिग्रह के त्यागियों को मैंने खिलखिलाकर हँसते देखा है। खिलखिलाकर हँसना, वह हास्य परिग्रह नहीं है? आहाहा! मूल में चोट की है। बात सत्य है। ऐसा कि ऐसे बाह्य पैसा, स्त्री, पुत्र छोड़कर बैठा तो मानो

हम निर्ग्रन्थ हो गये और हास्य इतना खिलखिलाकर हास्य करे, दाँत निकाले। यह हास्य है, वह परिग्रह है और उसकी पकड़ है, एकत्वबुद्धि है या नहीं, इसकी भी खबर नहीं। आहाहा! समझ में आया?

और एक उन्होंने लिखा है कि भाई! जयपुर में मूर्ति लेने आते हैं, मूर्ति, तो वे लोग ऐसा कहते हैं कि हमें ऐसी मूर्ति चाहिए, हँसमुख मूर्ति चाहिए। तब मैं उन्हें कहता हूँ, कहते हैं वे कहते हैं कि हँसमुख मूर्ति तो हास्य करे ऐसी मूर्ति? हास्य तो परिग्रह है और भगवान तो परिग्रह के त्यागी हैं। आहाहा! हँसमुख मूर्ति की अपेक्षा शान्त और वीतरागी मूर्ति चाहिए, ऐसा कहो। ऐई! आहाहा! मूर्ति में भी ऐसा कहते हैं लोग कि ऐसी हँसमुख और ऐसी (चाहिए)। आहाहा! परन्तु यह क्या है? हास्य है, वह तो पाप का एक परिग्रह है। तो हास्य के परिग्रहवाले वह भगवान की प्रतिमा है? आहाहा! वीतराग शान्त मुद्रा प्रभु की अकषाय मुद्रा है वह तो। उसे हास्य आदि मुद्रावाला जानना तो कषायवाली मुद्रा मानी। आहाहा! लोगों को तत्त्व की वास्तविक स्थिति क्या है, उसकी मूढ़ता टलती नहीं है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, सम्यग्दृष्टि सर्व पदार्थों में सब आ गया या नहीं? हें? भगवान की प्रतिमा, भगवान स्वयं, अपना आत्मा, रागादि भाव सब उसमें आ गया। आहाहा! **स्वरूप को यथार्थ जानता है; उसे राग-द्वेष-मोह का अभाव होने से...** एकत्वबुद्धि का अभाव है। राग-द्वेष-मोह का एकत्वबुद्धि का अभाव है अर्थात् वास्तव में उसे राग-द्वेष-मोह नहीं है। आहाहा!

किसी भी पदार्थ पर अयथार्थ दृष्टि नहीं पड़ती। आहाहा! सम्यग्दृष्टि की दृष्टि किसी भी पदार्थ के प्रति अयथार्थ दृष्टि नहीं पड़ती। आहाहा! वीतराग को वीतरागरूप से जाने, वीतराग की मूर्ति को वीतरागरूप से जाने। आहाहा! आत्मा को रागरहित चिदानन्द प्रभु है, ऐसा उसे जाने। और हास्य, रति, अरति अभ्यन्तर परिग्रह है न? चौदह प्रकार का परिग्रह है न? मिथ्यात्व (आदि)। तो उसे यह मेरी चीज़ नहीं है, ऐसे इसे जाने। आहाहा! उसका परिग्रह, चैतन्यस्वभाव जिसका परिग्रह हुआ है। यह परिग्रह शब्द आता है न? निर्जरा अधिकार में आ गया है। जिसने ज्ञायकभाव परिग्रह अर्थात् समस्त प्रकार से पकड़ा है। आहाहा! उसे अभ्यन्तर परिग्रह रागादि की एकताबुद्धि नहीं होती। आहाहा! स्वभाव

चैतन्य भगवान ज्ञाता-दृष्टा की जहाँ एकताबुद्धि हुई, उसे रागादि, दया, दान आदि विकल्प आवे परन्तु उनकी एकताबुद्धि टूट गयी है। आहाहा! समझ में आया? और जिसे पुण्य परिणाम आवे तो उसे पुण्यरूप से जाने, उसे धर्मरूप से न जाने। यथार्थ बुद्धि हुई है न? आहाहा! समझ में आया?

किसी भी पदार्थ पर अयथार्थ दृष्टि नहीं पड़ती। अर्थात् कि इसे शुभभाव आया, वह धर्म है—ऐसी उसकी दृष्टि नहीं होती। आहाहा! **चारित्रमोह के उदय से इष्टानिष्ट भाव उत्पन्न हों...** हो। **तथापि उसे उदय की बलवत्ता जानकर...** अर्थात् कि राग की, विकृत की दशा मेरी कमजोरी है, ऐसा जानकर **वह उन भावों का स्वयं कर्ता नहीं होता...** एकताबुद्धि टूटी है, इसलिए कर्ता नहीं होता। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! **वह उन भावों का स्वयं कर्ता नहीं होता...** अर्थात् कि वे भाव हैं अवश्य, होते हैं परन्तु एकत्वबुद्धि नहीं है, इसलिए कर्ता नहीं होता। आहाहा! जिसमें एकत्वबुद्धि हुई है, उसके ज्ञान, दर्शन और आनन्द के परिणाम का कर्ता होता है। आहाहा! जिसे अपना स्वभाव माना है, उसका कर्ता पर्याय में होता है परन्तु विकारी परिणाम मेरे नहीं तो उनका वह कर्ता नहीं होता। आहाहा! ऐसी बात है।

इसलिए उसे मूढ़दृष्टिकृत बंध नहीं होता... एकताबुद्धि की जो मूढ़दृष्टि है, वैसा भाव उसे नहीं होता, इसलिए उसका बन्ध नहीं होता। **परन्तु प्रकृति रस देकर खिर जाती है...** आहाहा! रागादि हों, उसमें एकत्वपना नहीं है, इसलिए उसके प्रति भाव आया, वह खिर जाता है। आहाहा! स्वभाव के साथ उसे एकत्व नहीं करता। आहाहा! इसलिए उसे **निर्जरा ही होती है।** बहुत अमूढदृष्टि में पाठ ही ऐसा है न? **सभी भावों में मोह का अभाव...** ऐसा है न मूल पाठ में? इसका अर्थ कि सब भावों में एकत्वबुद्धि का अभाव, ऐसा। समझ में आया? और त्रिकाली ज्ञायकभाव में एकत्वबुद्धि का सद्भाव। आहाहा! ऐसा सम्यग्दृष्टि का अमूढ़ स्वरूप है। आहाहा!

गाथा - २३३

जो सिद्धभत्तिजुत्तो उवगूहणगो दु सव्वधम्माणं।
सो उवगूहण-कारी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ।।२३३।।

यः सिद्धभक्ति-युक्तः उपगूहनकस्तु सर्वधर्माणाम्।
स उपगूहन-कारी सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ।।२३३।।

यतो हि सम्यग्दृष्टिः टङ्कोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन समस्तात्मशक्तीनामुप-बृंहणादुपबृंहकः, ततोऽस्य जीवशक्तिदौर्बल्यकृतो नास्ति बन्धः, किन्तु निर्जरैव ।।२३३।।

अब उपगूहन गुण की गाथा कहते हैं:-

जो सिद्धभक्तीसहित है, गोपन करें सब धर्म का।
चिन्मूर्ति वो उपगुहनकर सम्यक्तदृष्टी जानना।।२३३।।

गाथार्थ : [यः] जो (चेतयिता) [सिद्धभक्तियुक्तः] सिद्धों की शुद्धात्मा की भक्ति से युक्त है [तु] और [सर्वधर्माणाम् उपगूहनकः] पर वस्तुओं के सर्व धर्मों को गोपनेवाला है (अर्थात् रागादि परभावों में युक्त नहीं होता) [सः] उसको [उपगूहनकारी] उपगूहन करनेवाला [सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि [ज्ञातव्यः] जानना चाहिए।

टीका : क्योंकि सम्यग्दृष्टि, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयता के कारण समस्त आत्मशक्तियों की वृद्धि करता है, इसलिए उपबृंहक अर्थात् आत्मशक्ति बढ़ानेवाला है, इसलिए उस जीव की शक्ति की दुर्बलता से (मन्दता से) होनेवाला बन्ध नहीं किन्तु निर्जरा ही है।

भावार्थ : सम्यग्दृष्टि उपगूहनगुण युक्त है। उपगूहन का अर्थ छिपाना है। यहाँ निश्चयनय को प्रधान करके कहा है कि सम्यग्दृष्टि ने अपना उपयोग सिद्धभक्ति में लगाया हुआ है, और जहाँ उपयोग सिद्धभक्ति में लगाया, वहाँ अन्य धर्मों पर दृष्टि ही नहीं रही, इसलिए वह समस्त अन्य धर्मों का गोपनेवाला और आत्मशक्ति का बढ़ानेवाला है।

इस गुण का दूसरा नाम 'उपबृंहण' भी है। उपबृंहण का अर्थ है बढ़ाना। सम्यग्दृष्टि ने अपना उपयोग सिद्धों के स्वरूप में लगाया है, इसलिए उसके आत्मा की

समस्त शक्तियाँ बढ़ती हैं–आत्मा पुष्ट होता है, इसलिए वह उपबृंहणगुणवाला है।

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि के आत्मशक्ति की वृद्धि होती है, इसलिए उसे दुर्बलता से जो बन्ध होता था, वह नहीं होता, निर्जरा ही होती है। यद्यपि जब तक अन्तराय का उदय है, तब तक निर्बलता है, तथापि उसके अभिप्राय में निर्बलता नहीं है, किन्तु अपनी शक्ति के अनुसार कर्मोदय को जीतने का महान् उद्यम वर्तता है।

गाथा - २३३ पर प्रवचन

अब उपगूहन गुण की गाथा कहते हैं:– पाँचवाँ। पाँचवाँ है न यह?

जो सिद्धभत्तिजुत्तो उवगूहणगो दु सव्वधम्माणं।
सो उवगूहण–कारी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो।।२३३।।

जो सिद्धभक्तीसहित है, गोपन करें सब धर्म का।
चिन्मूर्ति वो उपगुहनकर सम्यक्तदृष्टी जानना।।२३३।।

यह सिद्ध अर्थात् पर नहीं। आहाहा! मिथ्यात्व का जो अभ्यन्तर परिग्रह है, उसकी जब तक एकताबुद्धि और वे मेरे हैं—ऐसा टला नहीं, तब तक बाह्य का त्याग, वह सब मिथ्यात्याग है। आहाहा! समझ में आया?

टीका : क्योंकि सम्यग्दृष्टि, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयता के कारण... उसमें एकत्वपने के कारण, ऐसा। आहाहा! ज्ञायकस्वभाव चैतन्यमूर्ति प्रभु, उसकेपने के कारण अर्थात् उसमें एकत्वपने के कारण **समस्त आत्मशक्तियों की वृद्धि करता है,...** समस्त आत्मशक्तियाँ जितनी हैं, उनकी पर्याय में शुद्धि की वृद्धि करता होने से, **उपबृंहक अर्थात् आत्मशक्ति बढ़ानेवाला है,...** आहाहा! क्या कहा यह? बाह्य परिग्रह दस प्रकार और अभ्यन्तर चौदह प्रकार, सब परिग्रह से जिसकी बुद्धि हट गयी है और स्वभाव का परिग्रह जो ज्ञायकस्वरूप का परिग्रह पकड़ा है। आहाहा! यह निर्जरा अधिकार में पहले आ गया है। स्वभाव चैतन्यज्योति है, उसे पकड़ा है, परिग्रह किया है। परिग्रह—समस्त प्रकार के गृह—पकड़ा है। आहाहा! सम्यग्दृष्टि को परिग्रह स्वभाव का है। आहाहा!

आत्मशक्तियों की वृद्धि करता है,... क्योंकि वह स्वयं अपना स्वरूप यह है, इसलिए शक्ति पर एकत्वबुद्धि है और पर की एकत्वबुद्धि टली है, इसलिए शक्तियों की पर्याय में वृद्धि करता हुआ। शक्ति की व्यक्तता की वृद्धि करता हुआ। शक्तियाँ तो त्रिकाल है। इस त्रिकाल शक्ति को दृष्टि में लिया है और एकत्वबुद्धि हुई है, इसलिए उन शक्तियों की व्यक्तता को बढ़ाता हुआ। आहाहा! और अस्थिरता का जो राग है, उसे घटाता हुआ। आहाहा! ऐसा स्वरूप है।

समस्त आत्मशक्तियों की... समस्त क्यों कहा? कि जितनी शक्तियाँ जो द्रव्य स्वभाव में अनन्त हैं, वह जिसका परिग्रह है और मेरी चीज़ यह है, ऐसी जिसने एकत्वबुद्धि की है, उसकी पर्याय में अनन्त शक्तियों की पर्याय में शुद्धि का अंश प्रगट होता है। उस-उस शुद्धि के अंश को बढ़ाता जाता है। आहाहा! ऐसी बातें। **उपबृंहक अर्थात् आत्मशक्ति बढ़ानेवाला है, इसलिए उस जीव की शक्ति की दुर्बलता से...** आहाहा! जो दुर्बलता से बन्ध होता था, वह उसे नहीं होता। आहाहा! वस्तु का स्वभाव अनन्त शक्ति सम्पन्न प्रभु का अन्तर में स्वीकार होने से उन शक्तियों की व्यक्तता की ही वृद्धि होती है। समझ में आया? आहाहा! इसका नाम यह उपबृंहक है। अधिक करता है न? फिर अर्थ में दूसरा लेंगे गोपता है वह। दोष को गोपता है वह। यह पहला अस्ति से वृद्धि करने का कहा। पश्चात् दोष को गोपता है अर्थात् कि अन्दर अभाव करता है, दोष को ढाँक देता है और अपनी शुद्धि की वृद्धि को प्रसिद्ध करता है। यह पहला अस्ति से यह लिया। आहाहा! यह भी आता है, कहा न यह, यह कहा न, क्या कहा? यह तो नास्ति से कहा। यह तो कहा न साथ में। यह अब अभी आयेगा। यह अस्ति से पहली बात है।

उपबृंहण (अर्थात्) बढ़ावे, उपगूहन (अर्थात्) घटावे—दबाबे। यह नास्ति से है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! घन समावे और ढ़ेर हो, नहीं कहते? स्वयं कमावे उसमें ढ़ेर नहीं होता, फिर धन बढ़ गया और फिर उसमें से धन बढ़े। इसी प्रकार जो धन भगवान आत्मा का धन, सधन। अनन्त शक्तियों को जिसने ग्रहण किया। आहाहा! अनन्त-अनन्त शक्तियों का पार नहीं होता, ऐसी सब शक्तियों को जिसने अपनी मानकर ग्रहण किया, वह शक्ति की पर्याय में व्यक्तता बढ़ती जाती है। शुद्धि की वृद्धि होती जाती है। निर्जरा अधिकार है न। निर्जरा के तीन प्रकार हैं। एक—कर्म का गलना। स्वभाव की शुद्धि

की वृद्धि होने पर कर्म का गलना, एक निर्जरा। और एक अशुद्ध का टलना, वह अशुद्धनिश्चयनय की निर्जरा और एक शुद्धि की वृद्धि होना, एक निर्जरा। समझ में आया? तो यह उन्होंने पहले यह लिया—शुद्धि की वृद्धि। आहाहा!

आत्मशक्ति बढ़ानेवाला है, इसलिए उस जीव की शक्ति की दुर्बलता से (पर्याय में मन्दता से) होनेवाला बन्ध नहीं किन्तु निर्जरा ही है। आहाहा! क्या कहते हैं? जिसे सम्यग्दर्शन में पूर्णानन्द के नाथ का पूर्ण शक्ति का संग्रह हुआ, संग्रह हुआ अर्थात् स्वीकार किया। श्रद्धा-ज्ञान में जिसमें पूर्णानन्द का संग्रह किया। परिग्रह किया न? आहाहा! उसकी शक्तियों की शुद्धि पर्याय में बढ़ती जाती है। वह बढ़ती जाये, इसलिए उसे राग की मन्दता से कुछ रागभाव आवे, वह झर जाता है। मन्दता से बन्ध होता था, वह इसे नहीं होता। आहाहा! देखो! यह सम्यग्दृष्टि के आचार। आहाहा! यह उसका आचरण। शुद्ध स्वभाव भगवान आत्मा का अनुभव हुआ, (वहाँ) आनन्द का अनुभव आया। सम्यग्दर्शन होने पर उसे आनन्द का अनुभव आया। उस आनन्द के अनुभव के साथ सभी शक्तियों का अंश बढ़ गया। आहाहा! अभी यह पहले सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन की खबर नहीं होती। इन शक्तियों का जहाँ स्वीकार हुआ तो ढ़ेर सारी शक्तियाँ जो हैं, उनकी पर्याय में ढ़ेर सारी पर्यायों की शुद्धि बढ़ती जाती है। आहाहा! और मन्दता से जो बन्ध होता था, भाई! मार्ग बहुत सूक्ष्म है, बापू! आहाहा! अभी तो पूरा फेरफार कर बैठे। मिथ्यात्व क्या है, उसके त्याग के बिना सब बाह्य त्याग करके बैठे, वह तो मिथ्यात्व की पुष्टि करता है।

मुमुक्षु : बाह्य त्याग में हेतु होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बाह्य त्याग तो है ही, त्याग ही है, पर (का) ग्रहण कब किया था? बाह्य का तो त्याग ही है और यह त्यागता हूँ, यह मान्यता तो मिथ्यात्व है। कठिन बात, भाई! जो ग्रहण नहीं किया, उसे त्यागता हूँ—ऐसा कहना, वह तो मिथ्यात्वभाव है। आहाहा!

यहाँ तो परमात्मा ऐसा कहते हैं, सम्यग्दृष्टि को अपनी शक्तियों का ज्ञान में भान होकर प्रतीति हो गयी है, इसलिए उसकी एकता में वृद्धि होती जाती है। समकित हुआ, इसलिए शक्ति की प्रतीति का ज्ञान, अनुभव, आनन्द का स्वाद आया। उसके साथ अनन्त गुण की व्यक्तता का स्वाद आया। आहाहा! और उससे उसमें एकता होने से वह शुद्धि उसे

पर्याय में बढ़ती जाती है। आहाहा! धन कमावे और ढ़ेर हो, वह। धन अर्थात् स्वरूप का धन है, आहाहा! उसका जिसे स्वीकार—मेरा है, ऐसा जाना, उसकी पर्याय में शक्ति का धन बढ़ जाता है। आहाहा!

कुन्दकुन्दाचार्य की शैली अद्भुत शैली है। अभी तो मूल मिथ्यात्व क्या और समकित क्या, उसकी खबर बिना बाह्य का त्याग (कर बैठे)। बाह्य का त्याग तो है ही, उसमें तूने त्याग किया (ऐसा) माना वह क्या? वह तो मिथ्यात्व है। पर के त्याग-ग्रहण रहित प्रभु तो अनादि से है ही। मात्र राग और विकार को पकड़ा है, वह मिथ्यात्वभाव है, उसे छोड़ना है। उसे न छोड़कर बाह्य को छोड़ने लगा। आहाहा! वह तो मिथ्यात्व की पुष्टि करता है। बापू! कठिन काम, भाई! आहाहा! वह मिथ्यात्व की वृद्धि करता है और सम्यग्दृष्टि शक्ति की पर्याय की शुद्धता की वृद्धि करता है। आहाहा! समझ में आया?

इसलिए उस जीव की शक्ति की दुर्बलता से (मन्दता से) होनेवाला बन्ध नहीं किन्तु... जरा सी निर्बलता से होता है, वह सबलता की वृद्धि से उस निर्बलता का नाश हो जाता है। आहाहा! अशुद्धता का नाश हो जाता है। कर्म का गलना, वह तो पर में पर का है। यहाँ शुद्धि की वृद्धि होती है, उससे अशुद्धता टल जाती है। आहाहा! शुद्धि की उत्पत्ति होती है, इससे अशुद्धता का व्यय होता है। आहाहा! यह निर्जरा होती है, ऐसा कहा। आहाहा! गजब बात है।

भावार्थ : सम्यग्दृष्टि उपगूहनगुण युक्त है। सामने दूसरा लिया। वह उपबृंहण था। **सम्यग्दृष्टि उपगूहनगुण युक्त है। उपगूहन का अर्थ छिपाना है। यहाँ निश्चयनय को प्रधान करके कहा है कि सम्यग्दृष्टि ने अपना उपयोग सिद्धभक्ति में लगाया हुआ है,...** (अर्थात्) अपने स्वरूप में। सिद्ध अर्थात् अपना 'सिद्ध समान सदा पद मेरो' आहाहा! ऐसा जो भगवान सिद्ध स्वरूप, उसकी भक्ति—एकाग्रता। आहाहा! नाम सिद्ध शब्द पड़ा है। अर्थकार ने स्वयं .... **सम्यग्दृष्टि ने अपना उपयोग सिद्धभक्ति में लगाया हुआ है,...** अर्थात् अपने स्वरूप में जोड़ा हुआ है। राग में से तोड़ा हुआ है। आहाहा! राग का जुड़ान तोड़ा है, स्वभाव का जुड़ान बढ़ाया है। आहाहा!

और जहाँ उपयोग सिद्धभक्ति में लगाया वहाँ अन्य धर्मों पर दृष्टि ही नहीं

रही... आहाहा! क्या कहा यह? स्वरूप शुद्ध है, उसके ऊपर जुड़ान हुआ, इसलिए फिर रागादि का जुड़ान वहाँ रहा नहीं। **अन्य धर्मों पर दृष्टि ही नहीं रही...** रागादि के प्रति तो दृष्टि ही नहीं रही। आहाहा! ओहोहो! **इसलिए वह समस्त अन्य धर्मों का गोपनेवाला..** यह पाठ का अर्थ है, इससे एक दूसरा (अर्थ) किया है। **और आत्मशक्ति का बढ़ानेवाला है।** रागादि को घटानेवाला है, वह गोपता है, ऐसा कहा। अब इसकी शक्ति को बढ़ानेवाला है, यह उपबृंहण है। आहाहा! अरे! यह तो बातें, भाई! यह कुछ कथा नहीं है, यह तो बापू! वीतराग का (मार्ग है)। आहाहा!

इस गुण का दूसरा नाम 'उपबृंहण' भी है। जो टीका में है वह। **उपबृंहण का अर्थ है बढ़ाना।** वह गोपना था। यह बढ़ाना। पाठ में मूल यह लिया है। उस **सम्यग्दृष्टि ने अपना उपयोग सिद्धों के स्वरूप में लगाया है...** धर्मी जीव ने सिद्धस्वरूप शुद्ध चैतन्यमूर्ति भगवान, पूर्ण वीतरागमूर्ति प्रभु आत्मा के साथ उपयोग को जोड़ा है। उसने राग से जुड़ान तोड़ा है और सिद्ध से जुड़ान छूटा था, उसे जोड़ दिया है। आहाहा! जिसने जोड़ा, उसने तोड़ा। जिसने सिद्ध स्वरूप में जुड़ान किया, उसने राग का जुड़ान तोड़ डाला है। आहाहा! ऐसी बातें, भाई!

सम्यग्दृष्टि ने अपना उपयोग सिद्धों के स्वरूप में लगाया है... देखा? **उसके आत्मा की समस्त शक्तियाँ बढ़ती हैं...** पर्याय में, हों! शक्ति बढ़ती है अर्थात् शक्ति है, उतनी तो अनन्त है परन्तु उसका स्वीकार होने से पर्याय में शुद्धता की वृद्धि बढ़ती है। आहाहा! **आत्मा पुष्ट होता है...** आहाहा! वह हीनपना टलता है और यहाँ उत्कृष्टपना-शुद्धि पुष्ट होती है। आहाहा! जैसे चना पानी में पुष्ट होता है परन्तु वह तो पोला पुष्ट है और यह तो अन्दर शक्तियाँ जो अनन्त हैं, उन पर दृष्टि और उनका स्वीकार होने से उनकी शुद्धि की पर्याय में वृद्धि होती जाती है। आत्मा पुष्ट होता है। आहाहा! पर्याय में जो (शुद्धि की) हीनता थी, वह पुष्ट (वृद्धिगत) होती है। अरे! अब ऐसी बातें। आहाहा! **इसलिए वह उपबृंहणगुणवाला है।** बढ़ानेवाला है। आहाहा! बाह्य परिग्रह के ऊपर तो जिसकी दृष्टि नहीं परन्तु अभ्यन्तर रागादि है, उसके ऊपर भी जिसकी दृष्टि नहीं। आहाहा! भगवान पूर्णानन्द का नाथ पूर्ण स्वरूप की दृष्टि होने से उसकी शक्ति की पर्याय में पुष्टि होती जाती है। अरे! ऐसा है।

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि के आत्मशक्ति की वृद्धि होती है... शक्ति की वृद्धि अर्थात् पर्याय में शुद्धता की वृद्धि, ऐसा। शक्तियाँ हैं, उनमें (तो) जितनी है, उतनी त्रिकाल है। परन्तु उसका स्वीकार होने से, आदर होने से, आहाहा! पर्याय में शुद्धि की वृद्धि बढ़ती है। आहाहा! यह उसका उपबृंहण नाम का समकिती का गुण है, अर्थात् पर्याय है। आहाहा! धर्मात्मा उपदेश के काल में भी उसकी दृष्टि में यह उपदेश, वाणी और उसके सम्बन्धी का राग नहीं है। आहाहा! जिसकी दृष्टि में राग और उपदेश है, वह उपदेशक मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! जिसकी दृष्टि राग और उपदेश—शब्दों पर नहीं है, ऐसा कहते हैं। ऐसा आया न? आहाहा! उस काल में भी ज्ञायकस्वभाव की अनन्त शक्तियाँ हैं, उस पर उसकी दृष्टि का धोरण बँध गया है। नजरबन्धी की है। नजर आत्मा पर बाँध दी है। इस नजरबन्धी के कारण दूसरा कुछ नहीं दिखता, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? लोग नहीं (कहते)? नजरबन्धी हुई (हो) फिर दूसरा नहीं देखता। ऐसा अभी होता है न कितने ही बाबा और कुछ। कुछ ऐसा डालते हैं कि फिर उसे ही देखे और उसके साथ चला जाए। पैसेवाला होवे तो भी। हुआ था ऐसा, नहीं किसी को अभी? हैं? जेठाभाई। वह डाले (इसलिए उसके पीछे चला जाए), फिर खबर पड़े, उतरे तब। ओ..य! यह क्या आया? इसी प्रकार यह नजरबंधी है। जिसने सिद्धस्वरूप में नजर बाँधी है। आहाहा! उस नजरबन्धी के पथ से चला जाता है। राग, शरीर आदि पर बाह्य परिग्रह या अभ्यन्तर, उनके ऊपर से दृष्टि उठ गयी है। आहाहा! यह तो गृहस्थाश्रम में समकिती होवे तो भी ऐसा है, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

सम्यग्दृष्टि के आत्मशक्ति की वृद्धि होती है, इसलिए उसे दुर्बलता से जो बन्ध होता था वह नहीं होता, निर्जरा ही होती है। अशुद्धता खिर जाती है। आहाहा! **जब तक अन्तराय का उदय है, तब तक निर्बलता है...** यह उदय है, वह निमित्त से कहते हैं। उदय अपने में है, ऐसा। **तथापि उसके अभिप्राय में निर्बलता नहीं है,...** आहाहा! पर्याय में निर्बलता है परन्तु अभिप्राय में निर्बलता नहीं है। अभिप्राय में तो पूर्णानन्द का नाथ वह बलवान है। आहाहा! उस बलवान के पक्ष में चढ़ गया है। आहाहा! यह निमित्त से कथन है। मूल तो पर्याय में निर्बलता है। **उसके अभिप्राय में निर्बलता नहीं है,...** पर्याय की निर्बलता के ऊपर दृष्टि नहीं है। आहाहा! अन्तर ज्ञायकस्वभाव पूर्णानन्द

के नाथ स्वभाव बलवन्त चैतन्य के ऊपर दृष्टि होने से **अपनी शक्ति के अनुसार कर्मोदय को जीतने का महान् उद्यम वर्तता है।** आहाहा! स्वभाव-सन्मुख का प्रयत्न चालू है। स्वभाव भान है और स्वभाव-सन्मुख का प्रयत्न चालू है, इसलिए **उदय को जीतने का महान् उद्यम वर्तता है।** आहाहा! बाहर छोड़े और त्यागे, यह बात यहाँ नहीं ली। परन्तु वह बाहर का छोड़ना कहाँ है? मुक्त का वह तो। बाहर से तो सदा रहित ही है। यह तो बाह्य छोड़ा, इसलिए मानों हम त्यागी हुए और त्यागीरूप से हमको लोग स्वीकार करें। आहाहा! वह तो मिथ्यात्व की पुष्टि है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा!

अपनी शक्ति के अनुसार... अर्थात् स्वभाव-सन्मुख के प्रयत्न के अनुसार **कर्मोदय को जीतने का महान् उद्यम वर्तता है।** आहाहा! दोष को दबाता है और शक्तियों को बढ़ाता है, ऐसी दो अपेक्षा ली। आहाहा! समकिती के पास पैसा हो और दान ऐसे दे तो वह स्वयं यह पैसे मैंने दिये और मेरे हैं, ऐसी बुद्धि उसे नहीं है। उसमें कुछ राग की कमी हुई हो तो पुण्य है, उस पुण्य से भी एकत्वबुद्धि टूट गयी है। वह पुण्य परिणाम मेरे नहीं हैं। आहाहा! इस प्रकार से पुण्य परिणाम मेरे नहीं और मेरा शुद्ध परिपूर्ण स्वरूप, वह मैं हूँ— ऐसे शुद्धता को बढ़ाता हुआ, कमजोरी को टालता हुआ आगे बढ़ता जाता है। आहाहा! समझ में आया इसमें? कान्तिभाई! ऐसा स्वरूप है। आहाहा! भाग्यशाली, बापू! सुनने में रुक गया। यह वस्तु, भाई! यह तो वीतराग के घर की है, बापू! लोगों ने इसके सब अर्थ ही बदल डाले। बाहर से यह किया और यह छोड़ा और यह रखा।

यहाँ तो राग को छोड़ना, वह भी इसके स्वरूप में नहीं है। पर को छोड़ना तो इसके स्वरूप में नहीं, आहाहा! परन्तु राग का त्याग करना, वह भी नाममात्र कथन है। जहाँ स्वभाव की शुद्धि बढ़ती है, आहाहा! वहाँ राग घटता जाता है, उसे राग का त्याग किया— ऐसा नाममात्र का कथन है। बाहर के त्याग की तो बात ही क्या करना? आहाहा! ऐसा स्वरूप है। आहाहा! यह पाँचवाँ बोल हुआ। सम्यग्दृष्टि का पाँचवाँ गुण अर्थात् निर्मल पर्याय। गुण शब्द से निर्मल पर्याय। त्रिकाल गुण नहीं। अवगुण की अपेक्षा से उसे गुण कहा जाता है। रागादि है, वह अवगण कहा जाता है तब इसे एक गुण कहा जाता है, परन्तु है तो यह पर्याय। अवगुण भी विकारी पर्याय और गुण है, वह भी अविकारी पर्याय। आहाहा!

गाथा - २३४

उम्मग्गं गच्छंत सगं पि मग्गे ठवेदि जो चेदा।
सो ठिदिकरणा-जुत्तो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो।।२३४।।

उन्मार्गं गच्छन्तं स्वकमपि मार्गे स्थापयति यश्चेतयिता।
स स्थिति-करण-युक्तः सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः।।२३४।।

यतो हि सम्यग्दृष्टिः टङ्कोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन मार्गात्प्रच्युतस्यात्मनो मार्गे एव स्थितिकरणात् स्थितिकारी, ततोऽस्य मार्गच्यवनकृतो नास्ति बन्धः, किन्तु निर्जरैव।।२३४।।

अब स्थितिकरण गुण की गाथा कहते हैं:-

उन्मार्ग जाते स्वात्म को भी, मार्ग में जो स्थापता।
चिन्मूर्ति वो थितिकरणयुत, सम्यक्तदृष्टी जानना।।२३४।।

गाथार्थ : [यः चेतयिता] जो चेतयिता [उन्मार्गं गच्छंतं] उन्मार्ग में जाते हुए [स्वकम् अपि] अपने आत्मा को भी [मार्गे] मार्ग में [स्थापयति] स्थापित करता है, [सः] वह [स्थितिकरणयुक्तः] स्थितिकरणयुक्त [सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि [ज्ञातव्यः] जानना चाहिए।

टीका : क्योंकि सम्यग्दृष्टि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयता के कारण, यदि अपना आत्मा मार्ग से (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग से) च्युत हो तो उसे मार्ग में ही स्थित कर देता है, इसलिए स्थितिकारी (स्थिति करनेवाला) है, अतः उसे मार्ग से च्युत होने के कारण होनेवाला बन्ध नहीं किन्तु निर्जरा ही है।

भावार्थ : जो, अपने स्वरूपरूपी मोक्षमार्ग से च्युत होते हुए अपने आत्मा को मार्ग में (मोक्षमार्ग में) स्थित करता है, वह स्थितिकरणगुणयुक्त है। उसे मार्ग से च्युत होने के कारण होनेवाला बन्ध नहीं होता, उदयागत कर्म रस देकर खिर जाते हैं, इसलिए निर्जरा ही होती है।

गाथा - २३४ पर प्रवचन

छठवाँ। स्थितिकरणगुण की व्याख्या—

उम्मग्गं गच्छंत सगं पि मग्गे ठवेदि जो चेदा।
सो ठिदिकरणा-जुत्तो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो।।२३४।।
उन्मार्ग जाते स्वात्म को भी, मार्ग में जो स्थापता।
चिन्मूर्ति वो थितिकरणयुत, सम्यक्तदृष्टी जानना।।२३४।।

चिन्मूर्ति, कहा न इसमें यह ? उसमें आया था न ? सब में चिन्मूर्ति (लिया है)। ज्ञानमूर्ति, प्रभु तो ज्ञानमूर्ति है। आहाहा!

टीका : क्योंकि सम्यग्दृष्टि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयता के कारण,... उसका जिसे स्वीकार होने के कारण, वही मैं हूँ। ज्ञायकभाव है, वह मैं हूँ। ऐसी दृष्टि होने से। आहाहा! पर्याय के ऊपर की दृष्टि नहीं है, कहते हैं। दया, दान और राग, वह तो पुण्य है, उसके ऊपर तो दृष्टि होगी ही कैसी ? आहाहा! वह कहता है कि बाहर से घटाया, उतनी आकुलता घटी, ऐसा कहता है, लो! अब एक शरीरमात्र रहा है, मुझे तो इतनी आकुलता (रही)। है न एक जवान ? बाहर से सब घटा दिया, इतनी आकुलता घटी। परन्तु बाहर (का) था कब अन्दर, वह घटे ? अन्दर में तो अज्ञान और राग, द्वेष और एकताबुद्धि है, उसे घटाया ? और उसे घटाना तेरा कब हो ? कि ज्ञानस्वभाव की एकताबुद्धि करे, तब राग की एकताबुद्धि टले। आहाहा! यह कहीं बाह्य त्याग करने से तेरी एकताबुद्धि टले, ऐसा है नहीं। आहाहा! उसमें लिखा है जरा। मिथ्यात्व के त्याग बिना बाह्य में निर्ग्रन्थ होकर, नग्न होकर घूमता है। भाई ने भी ऐसा लिखा था, नहीं ? भव्यसागर, भव्यसागर न ? उनका आया था, यहाँ का पढ़कर। एक दिगम्बर साधु है न ? अठारह-उन्नीस वर्ष की दीक्षा है। ऐसा कि तुम कहते हो तत्प्रमाण तो हमने समकितसहित तो साधुपना लिया नहीं, मिथ्यात्वसहित लिया है। बाहर की क्रिया मिथ्यात्वसहित ली है। अब हम मुनि नहीं हैं, ऐसा लिखा है। हम मुनि हैं ही नहीं। अरे! बापू! अभी सम्यग्दर्शन का ठिकाना नहीं, वहाँ मुनिपना कहाँ है ? आहाहा!

भाई! सम्यग्दर्शन हुआ, वहाँ प्रभु आत्मा का बादशाह हुआ। जो रागादि को अपना मानकर रंक था, आहाहा! पूर्ण बादशाह अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु का जहाँ अन्दर स्वीकार हुआ, वह बादशाह की गद्दी पर बैठा। आहाहा! बादशाही की गद्दी पर बैठा। रागादि मेरा, मुझे लाभ करेगा, वह रंक की गद्दी पर बैठा, भिखारीवत्। आहाहा! उसने यह बात की है कि, यह बाह्य त्यागी कितने ही हम देखते हैं परन्तु खिलखिलाकर हँसते देखते हैं। तो यह हास्य है, वह परिग्रह है, उसकी उसे खबर नहीं है। अभ्यन्तर परिग्रह में हास्य आता है। रति, अरति आता है न? हास्य, रति, अरति, भय, शोक, ग्लानि और तीन वेद, नव (कषाय), यह अभ्यन्तर परिग्रह है। आहाहा! खिलखिलाकर दाँत निकले और फिर (कहे) हम बाह्य परिग्रह के त्यागी, परन्तु अन्दर परिग्रह के त्यागी नहीं अभी। हास्य है, वह क्या है? और उसे पकड़कर प्रसन्न-प्रसन्न हो जाते हो, यह क्या है? आहाहा! 'कर्ता-कर्म' में आता है न? अपना उदासीन भाव छोड़कर—त्यागकर रागादि और हास्यादि का कर्ता होता है। आहाहा!

क्योंकि सम्यग्दृष्टि टंकोत्कीर्ण... शाश्वत **एक ज्ञायकभावमयता के कारण,...** यही मैं हूँ, उसके कारण। आहाहा! त्रिकाली ज्ञायकभाव है, वह मैं हूँ, उसके कारण। **यदि अपना आत्मा मार्ग से (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग से) च्युत हो...** जरा किंचित् अस्थिरता हो जाए और च्युत हो, आहाहा! **तो उसे मार्ग में...** स्थिर करना। आहाहा! अस्थिरता का भाग आकर अस्थिर हो जाए तो उसे मार्ग में स्थिर करना, अन्दर मार्ग में। आहाहा! स्वयं को।

(सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग से) च्युत हो... अर्थात्? कहीं राग की एकताबुद्धि हो जाए, राग के ज्ञान में ही ज्ञान रुक जाए, राग के आचरण में ही आचरण मान लिया जाए, वह ज्ञानी उसमें नहीं मानता। उसमें से छूटकर वापस उसमें चला आता है। आहाहा! बहुत काम (कठिन)। एक-एक गाथा और एक-एक (श्लोक)। आहाहा! गजब बातें। समयसार अर्थात्... आहाहा! 'ग्रन्थाधिराज तारा मां भावो ब्रह्मांडना भर्या' आती है न स्तुति पहले? 'ग्रन्थाधिराज तारा मां भावो ब्रह्मांड...' चौदह ब्रह्माण्ड के भाव प्रभु तुझमें भरे हैं। आहाहा! इसकी एक-एक कड़ी, एक-एक गाथा, आहाहा! अपना आत्मा मार्ग

से कुछ न कुछ (च्युत हो), श्रद्धा-ज्ञान से तो ठीक परनतु चारित्र से भी जरा अस्थिर होवे तो उसे वापस अपने में जोड़ दे। आहाहा!

तो उसे मार्ग में ही स्थित कर देता है,... मार्ग में स्थित करता होने से। वह तो मार्ग में स्थित करता ही है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! **स्थितिकारी है,...** अपने में स्थित, स्वयं मार्ग में स्थित करता है, वह स्थितिकरण है, कहते हैं। आहाहा! **च्युत हो तो उसे मार्ग में ही स्थित कर देता है, इसलिए स्थितिकारी (स्थिति करनेवाला) है, अतः उसे मार्ग से च्युत होने के कारण होनेवाला बन्ध नहीं किन्तु निर्जरा ही है।** आहाहा! ऐसा कोई अस्थिरता का भाव आ जाए तो उसे छोड़ दे और स्वयं को स्वभाव में स्थापित करे इससे उस अस्थिरता की निर्जरा हो जाती है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! क्योंकि क्षण में और पल में भेदज्ञान तो वर्तता ही है। मैं यह राग नहीं और मैं स्वभाव, ऐसा भेदज्ञान तो निरन्तर वर्तता है। आहाहा! सम्यग्दृष्टि को निरन्तर राग और स्वभाव के बीच की भेदज्ञानशक्ति तो प्रगट हुई है। आहाहा! वह प्रगट हुई है, वह निरन्तर रहती है। फिर नयी प्रगट करनी है, ऐसा नहीं है—ऐसा कहते हैं। आहाहा! जरा अस्थिरता का भाग आया तो भी भेद तो अन्दर वर्तता ही है, तथापि अन्दर विशेष स्थिरता करे तो अस्थिरता टल जाती है। आहाहा! पर की एकताबुद्धि तो टल गयी है परन्तु अस्थिरता का भाव जो आता है, आहाहा! उसे भी स्थिरता द्वारा उसका नाश करता है। आहाहा! शर्तें बहुत बड़ी। आहाहा! बड़ा काम है न, बापू! फल बड़ा, परमात्मा। जिसके जन्म-मरण के अन्त आ गये, जिसे सादि-अनन्त आनन्द आवे, सादि-अनन्त केवलज्ञान। आहाहा! उसके फल की क्या बात करना!

भावार्थ : जो, अपने स्वरूपरूपी... स्वरूपरूपी से **मोक्षमार्ग से च्युत होते हुए...** स्वरूपरूपी से मोक्षमार्ग, हों! **अपने आत्मा को मार्ग में (मोक्षमार्ग में) स्थित करता है वह स्थितिकरणगुणयुक्त है।** पर्याय। **उसे मार्ग से च्युत होने के कारण होनेवाला बन्ध नहीं होता, उदयागत कर्म रस देकर खिर जाते हैं, इसलिए निर्जरा ही होती है।** विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा - २३५

जो कुणदि वच्छलत्तं तिण्हं साहूण मोक्खमग्गम्हि।
सो वच्छल-भाव-जुदो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो।।२३५।।

यः करोति वत्सलत्वं त्रयाणां साधूनां मोक्षमार्गे।
स वत्सल-भाव-युतः सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः।।२३५।।

यतो हि सम्यग्दृष्टिः टङ्कोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां स्वस्मादभेद-बुद्ध्या सम्यग्दर्शनान्मार्गवत्सलः, ततोऽस्य मार्गानुपलम्भकृतो नास्ति बन्धः, किन्तु निर्जरैव।।२३५।।

अब वात्सल्य गुण की गाथा कहते हैं:-

जो मोक्षपथ में 'साधु' त्रय का वत्सलत्व करे अहा।
चिन्मूर्ति वो वात्सल्ययुत, सम्यक्तदृष्टी जानना।।२३५।।

गाथार्थ : [यः] जो (चेतयिता) [मोक्षमार्गे] मोक्षमार्ग में स्थित [त्रयाणां साधूनां] सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी तीन साधकों-साधनों के प्रति (अथवा व्यवहार से आचार्य, उपाध्याय और मुनि-इन तीन साधुओं के प्रति) [वत्सलत्वं करोति] वात्सल्य करता है, [सः] वह [वत्सलभावयुतः] वात्सल्यभाव से युक्त [सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि [ज्ञातव्यः] जानना चाहिए।

टीका : क्योंकि सम्यग्दृष्टि, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयता के कारण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को अपने से अभेदबुद्धि से सम्यक्तया देखता (-अनुभव करता) है, इसलिये मार्गवत्सल अर्थात् मोक्षमार्ग के प्रति अति प्रीतिवाला है, इसलिए उसे मार्ग की *अनुपलब्धि से होनेवाला बन्ध नहीं किन्तु निर्जरा ही है।

भावार्थ : वत्सलत्व का अर्थ है प्रीतिभाव। जो जीव मोक्षमार्गरूपी अपने स्वरूप के प्रति प्रीतिवाला-अनुरागवाला हो, उसे मार्ग की अप्राप्ति से होनेवाला बन्ध नहीं होता, परन्तु कर्म रस देकर खिर जाते हैं, इसलिए निर्जरा ही होती है।

---

* अनुपलब्धि=प्रत्यक्ष नहीं होना वह; अज्ञान; अप्राप्ति।

प्रवचन नं. ३०९, गाथा- २३५, २३६, बुधवार, भाद्र कृष्ण ७
दिनाङ्क १२-०९-१९७९

वात्सल्यगुण की गाथा।

जो कुणदि वच्छलत्तं तिण्हं साहूण मोक्खमग्गम्हि।
सो वच्छल-भाव-जुदो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो।।२३५।।

जो मोक्षपथ में 'साधु' त्रय का वत्सलत्व करे अहा।
चिन्मूर्ति वो वात्सल्ययुत, सम्यक्तदृष्टी जानना।।२३५।।

टीका :— सम्यग्दृष्टि अर्थात् कि त्रिकाली ज्ञायकभाव शुद्ध आनन्दस्वरूप परम ज्ञायक पारिणामिकस्वभाव के सन्मुख होकर ज्ञान करके प्रतीति करे, उसे यहाँ सम्यग्दृष्टि कहते हैं। आहाहा! धर्म की पहली शुरुआत। वस्तु जो सत्य सम्यक् चैतन्य है, उसकी अन्तर सन्मुख में उसका ज्ञान में स्वीकार और श्रद्धा में प्रतीति (हुई), आहाहा! तब उसे आनन्द का आंशिक अनुभव आवे, उसे धर्मी और सम्यग्दृष्टि कहा जाता है, धर्म की शुरुआतवाला कहा जाता है। आहाहा! समझ में आया?

क्योंकि सम्यग्दृष्टि, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयता के कारण... देखो! आया यह, आया न? आहाहा! टंकोत्कीर्ण अर्थात् शाश्वत्। आत्मा जो ज्ञायकभावरूप शाश्वत है, परम पारिणामिक स्वभावरूप से वह शाश्वत् है। परम पारिणामिक नहीं लिया क्योंकि पारिणामिक तो दूसरे द्रव्य में भी है। इसलिए यहाँ ज्ञायकभाव नित्यानन्द प्रभु, **ज्ञायकभावमयता के कारण...** आहाहा! सम्यग्दृष्टि ज्ञायकभावमयपने के कारण। आहाहा!

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को... सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। अर्थात् स्वरूप ज्ञायकभाव की प्रतीति और उसका ज्ञान और उसमें रमणता। आत्मश्रद्धा, आत्मज्ञान और आत्मचारित्र—रमणता। आहाहा! वह **अपने से अभेदबुद्धि से सम्यक्तया देखता...** इन तीन को आत्मा से अभेदरूप से... आहाहा! आत्मा से इन तीन को **अभेदबुद्धि से सम्यक्तया देखता (-अनुभव करता) है, इसलिए मार्गवत्सल अर्थात् मोक्षमार्ग के प्रति अति प्रीतिवाला है,...** आहाहा! वस्तुस्वरूप जो भगवान चिदानन्द... बहुत सूक्ष्म बात, भाई! ज्ञायकभाव जो नित्यानन्द ध्रुव, उसपने की दृष्टि और ज्ञान होने से उसका

दर्शन, ज्ञान और चारित्र स्वयं से अभेदपने देखता हुआ। आहाहा! इन तीन को अभेदरूप से अनुभव करता हुआ, आहाहा! होने से, **सम्यक्तया देखता (-अनुभव करता) है,...** सम्यक्पने अपने से अभेद अनुभवता होने से **मार्गवत्सल अर्थात् मोक्षमार्ग के प्रति अति प्रीतिवाला है,...** वह प्रीति अर्थात् यह, राग नहीं।

यह तो निर्जरा में पहले आ गया था न? वह प्रीति नहीं? प्रीतिवन्त बने, रुचि और प्रीति, सन्तोष। 'प्रीति' शब्द से यह राग नहीं। जो ज्ञायकभाव परिपूर्ण प्रभु, उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से अभेद से श्रद्धा करे, अनुभव करे, इसका नाम प्रीति कहा जाता है। आहाहा! **इसलिए उसे...** उसके **प्रति अति प्रीतिवाला है,...** ऐसी भाषा है। अकेली प्रीति, ऐसा नहीं। अति प्रीति। भगवान ज्ञायकस्वरूप प्रभु, आहाहा! उसकी सन्मुख की प्रतीति, ज्ञान और रमणता। उसे अपने से एकरूप अनुभवता हुआ... आहाहा! उसे मोक्षमार्ग के प्रति अति प्रीतिवाला कहा जाता है। है तो मोक्षमार्ग पर्याय, परन्तु द्रव्य से उसे अभेद अनुभवता है, इसलिए उसे मोक्षमार्ग के प्रति अति प्रीतिवाला है, (ऐसा कहा है)। ऐसी बातें हैं, आहाहा! समझ में आया? इन आठ बोल का कहीं विस्तार में बहुत नहीं आया। इस दशलक्षणी में। आठ का नहीं आया। ब्रह्मचर्य में आया हो तो फिर...

इसलिए उसे मार्ग की अनुपलब्धि से... मार्ग का प्रत्यक्ष न होना। (अनुपलब्धि अर्थात्) अज्ञान, अप्राप्ति। उससे जो बन्ध होता था (वह) नहीं। मार्ग की प्राप्ति हुई, इसलिए अप्राप्ति से बन्ध होता नहीं। अप्राप्ति से बन्ध था, वह बन्ध होता नहीं। आहाहा! **इसलिए उसे मार्ग की अनुपलब्धि से...** मार्ग प्राप्त हुआ है, (इसलिए) अनुपलब्धि से जो बन्ध होता था, वह उसे नहीं है। आहाहा! **किन्तु निर्जरा ही है।** आहाहा!

भावार्थ : वत्सलत्व का अर्थ है प्रीतिभाव। जो जीव मोक्षमार्गरूपी अपने स्वरूप के प्रति प्रीतिवाला-अनुरागवाला हो... आहाहा! इसे अनुसरकर प्रेम में पड़ा हो। आहाहा! पुण्य को भी धर्मानुराग में कहने में आता है। धर्मानुराग—धर्म का प्रेम। वह (प्रेम) अलग। पुण्यभाव को धर्मानुराग, समकिती को, हों! पुण्यभाव को धर्मानुराग, धर्म का प्रेम (कहा है), परन्तु है राग, वह यह नहीं। यहाँ तो अनुरागवाला। त्रिकाली स्वरूप की प्रीतिवाला—अनुरागवाला, ऐसा। अरे! आहाहा! जिसे भगवान सर्वज्ञ परमात्मस्वरूप आत्मा का, जिसे प्रेम लगा है, वह प्रेम कब कहलाये? कि उसका दर्शन, ज्ञान और चारित्र

हुआ है, वह उसका प्रेम लगा है। आहाहा! और जिसे पर से प्रेम छूट गया है। आहाहा! **उसे मार्ग की अप्राप्ति से होनेवाला बन्ध नहीं होता,...** आहाहा! किंचित् **कर्म रस देकर खिर जाते हैं, इसलिए निर्जरा ही होती है।** आहा! किंचित् उदय में आवे रागादि, परन्तु उनका प्रेम नहीं। प्रीति तो यहाँ दर्शन, ज्ञान, चारित्र में है। इसलिए वह उदय (में) आया जरा राग, (वह) खिर जाता है। आहाहा! समझ में आया?

अभी कहा नहीं? वह पुण्य की बात। भाई ने की है, पण्डितजी ने। यह पैसा आदि मिलना, वह पुण्य के कारण से है परन्तु मिले हैं, वह पाप है। परिग्रह है न? बाह्य परिग्रह है न? चौदह प्रकार का अभ्यन्तर परिग्रह, दस प्रकार का (बाह्य) परिग्रह, (ऐसे) चौबीस। भले बाह्य है परन्तु है तो परिग्रह न? और उसे पाप में गिना है न? यह पैसा आदि प्राप्त होना, वह पुण्य के कारण से है परन्तु मिले हैं, वह पाप है। ऐ..ई..!

वह चीज़ ही पाप है। बाह्य परिग्रह है, वह स्वयं पाप है। सूक्ष्म बात है। चौबीस प्रकार का परिग्रह है या नहीं? चौदह अभ्यन्तर और दस बाह्य। तो दस बाह्य में वह सोना, रूपा—चाँदी आदि आ गया या नहीं? आहाहा! तो इस चौबीस प्रकार के परिग्रह में वह बाह्य परिग्रह है। तब बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह दोनों को पाप कहा है। आहाहा! रतिभाई! ऐसी बातें हैं। उन्होंने बहुत स्पष्टीकरण किया है, एक-एक, दो लाईन में इतना सब समाहित किया है कि भाई! यह बाहर की जो अन्तिम सामग्री मिलती है, वह है तो पुण्य का उदय परन्तु मिली है वह पाप है। आहाहा! और उसे भोगने का भाव, वह पाप है, परन्तु उसे शुभ कार्य में प्रयोग करने का भाव पुण्य है, धर्म नहीं। आहाहा! अकिंचन (धर्म में यह बात की है)। आहाहा!

यहाँ तो राग और बाह्य कोई चीज़ मेरी नहीं। मेरी चीज़ तो ज्ञायकस्वरूप भगवान पूर्णानन्द का नाथ, ऐसा जो पर के त्यागस्वरूप और स्वभाव में लीनतास्वरूप, उसे यहाँ अकिंचनधर्म में कहा गया है। आहाहा! आत्मधर्म में आया था, अपने कुछ पढ़ा नहीं। वह तो हाथ में आया न? उत्तम क्षमा का थोड़ा देखा (तो लगा) गजब बात, भाई! नवरंगभाई! पढ़ा है या नहीं? नहीं पढ़ा? आया है या नहीं? ठीक, आता है। आहाहा! सबको पढ़ने जैसा है, भाई! आहाहा!

परिग्रह प्रयोग करने से कोई धर्म नहीं होता, धर्मानुराग के प्रति हो तो पुण्य है। (परिग्रह) स्वयं पाप है। मिलता है पुण्य के कारण, है पाप। उसे भोगने में पाप है, पैसे मेरे हैं उन्हें भोगना, स्त्री आदि। आहाहा! मिले हैं, पुण्य के कारण। स्त्री, कुटुम्ब, पैसा आदि यह सब कारखाने। हैं पुण्य के कारण परन्तु है वह वर्तमान पाप और उसे भोगने के लिये प्रेम-राग, वह पाप (है) परन्तु उसे कुछ शुभ कार्य के लिये प्रयोग करे तो पुण्य है, धर्म नहीं। आहाहा! समझ में आया?

यहाँ तो कोई पाँच-दस लाख हुए वहाँ तो बड़ा धर्मी, धर्म धुरन्धर, बस! भारी धर्मी (ऐसा हो जाता है)। दुनिया की लाईन ही पूरी बदल गयी है। समाज में और यहाँ। समाज में तो ऐसा कि समान भोगो सब, सरीखे भाग पाड़ो। इस धर्म में ऐसा नहीं है। धर्म में तो पुण्य के उदय के कारण बड़ा चक्रवर्ती का राज हो और दूसरे को न हो इससे... आहाहा! चक्रवर्ती का राज होने पर भी दृष्टि में वह अपरिग्रह है। जितने अंश में दृष्टि प्रगट कर अकषाय भाव प्रगट हुआ, इतने अंश में वह अपरिग्रही है और अज्ञानी के पास कुछ न हो तो भी उसे राग की एकताबुद्धि है तो परिग्रह—बड़ा मिथ्यात्व का परिग्रह पड़ा है। आहाहा!

मुमुक्षु : गरीब का जहाँ हो, वहाँ ऐसा ही।

पूज्य गुरुदेवश्री : गरीब कहना किसे? वास्तव में तो पाप का उदय है, इसलिए वह गरीबी कही जाती है। समझ में आया? मुनिराज को भी पाप के उदय से रोगादि आवें, इससे कहीं उन्हें पापी कहा जाता है? है? आहाहा! मुनि महा चक्रवर्ती....

मुमुक्षु : मुनिराज को तो अशुभभाव बिल्कुल नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अशुभ नहीं, उसकी बात नहीं है परन्तु यहाँ उन्हें रोग आया है, वह कहीं उन्हें पापी कहा जाये? क्योंकि उनका वहाँ से लक्ष्य छूट गया है। आहाहा! और दृष्टि में चैतन्य भगवान को देखते हैं। इसलिए उन्हें पापी नहीं कहा जाता, वे धर्मी हैं। आहाहा! समझ में आया? उन्हें पुण्यवन्त भी नहीं कहा जाता। उन्हें पापी नहीं कहा जाता, उन्हें पुण्यवन्त नहीं कहा जाता; उन्हें तो धर्मी कहा जाता है। आहाहा!

वह एक श्रीमद् में आता है न? 'शरीर का धर्म जीवपद में ज्ञात होता है' यह व्यवहार है। शरीर का जो स्वभाव है, जो हो, रोगादि अनेक प्रकार से हो, आहाहा! यह

ज्ञायकपद जानता है कि वह है। शरीर का धर्म जीवपद में ज्ञात होता है। वह जीवपद में होता नहीं। आहाहा! सनतकुमार चक्रवर्ती महापुण्यशाली थे। मुनि हुए, वहाँ रोग आया—गलित कोढ़ (हुआ), इसलिए वे पापी हैं, ऐसा कहा जाये? आहाहा! क्योंकि उस परिग्रह का तो उनके अन्दर त्याग है, बाह्य परिग्रह और अभ्यन्तर परिग्रह का तो त्याग है। आहाहा! समझ में आया? और अभ्यन्तर परिग्रह में जिसे राग की एकताबुद्धि है, त्याग नहीं, उसे बाहर में लक्ष्मी आदि साधन न भी हों, साधन न होने पर भी वह परिग्रहवन्त है। आहाहा! ऐसा अन्तर है। समाज में तो ऐसा मानते हैं कि अपने समान भोगना, ऐसा माने न? समान भाग करो। कौन (करे)? धर्म में ऐसा नहीं। धर्म में तो चक्रवर्ती का राज हो तो भी वह धर्मी है, समकित दृष्टि है। आहाहा! उस राग के भाग करे तो बराबर है, ऐसा वहाँ नहीं है। बात में बहुत अन्तर, भाई! आहाहा! समझ में आया?

यहाँ तो कहते हैं, प्रभु! जो अभ्यन्तर और बाह्य परिग्रह से रहित प्रभु है, उसकी जिसे प्रतीति, ज्ञान और रमणता जगी है, उसे उसके धर्म के प्रति वह अति प्रेमवाला है। प्रेम अर्थात् विकल्प—राग नहीं। समझ में आया? आहाहा! वीतराग मार्ग कोई अलौकिक है, भाई! यह साधारण लौकिक के माप से मापा जाए, ऐसा नहीं। आहाहा! उसका माप कोई अलग प्रकार का है। आहाहा! उसे कुछ उदय का भाव आवे, वह खिर जाता है। क्योंकि दर्शन, ज्ञान, चारित्र की रमणता है, इसलिए पूर्व का भाव खिर जाता है। आहाहा! यह सातवाँ वात्सल्य (बोल हुआ)।

वह **'साहू'** है न? **'तिण्हं साहूण'** इसका अर्थ इसमें साधक किया, साधकभाव जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र जो साधकभाव उसे (**'तिण्हं साहूण'** कहा)। परन्तु जयसेनाचार्य ने तीन साधु लिये—आचार्य, उपाध्याय और साधु। उनके प्रति उसे प्रेम होता है, वह विकल्प, व्यवहार डाला है। क्या कहा? स्वयं जो साधकभाव है, दर्शन, ज्ञान, चारित्र जो स्वरूप का साधकभाव है, उसका उसे प्रेम है, इतनी बात यहाँ ली, परन्तु जयसेनाचार्य ने व्यवहार भी डाला है। जिसे दर्शन, ज्ञान, चारित्र प्रगट हुए हैं—ऐसे आचार्य, उपाध्याय, साधु के प्रति प्रेम है, वह भी व्यवहार वात्सल्य है। यह निश्चय वात्सल्य है, वह व्यवहार वात्सल्य है। आहाहा! निश्चय वात्सल्य निर्जरा का कारण है, व्यवहार वात्सल्य पुण्यबन्ध का कारण है। आहाहा! ऐसा आवे। समझ में आया? आहाहा!

गाथा - २३६

विज्जारह-मारूढो मणोरह-पहेसु भमइ जो चेदा।
सो जिण-णाण-पहावी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो।।२३६।।

विद्यारथमारूढ: मनोरथपथेषु भ्रमति यश्चेतयिता।
स जिन-ज्ञान-प्रभावी सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्य:।।२३६।।

यतो हि सम्यग्दृष्टि: टङ्कोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन ज्ञानस्य समस्तशक्तिप्रबोधेन प्रभावजननात्प्रभावनाकर:, ततोऽस्य ज्ञानप्रभावनाप्रकर्षकृतो नास्ति बन्ध:, किन्तु निर्जरैव।।२३६।।

अब प्रभावना गुण की गाथा कहते हैं:-

चिन्मूर्ति मन-रथपंथ में, विद्यारथारूढ घूमता।
जिनराजज्ञानप्रभावकर सम्यक्तदृष्टी जानना।।२३६।।

गाथार्थ : [य: चेतयिता] जो चेतयिता [विद्यारथम् आरूढ:] विद्यारूपी रथ पर आरूढ़ हुआ (-चढ़ा हुआ) [मनोरथपथेषु] मनरूपी रथ के पथ में (ज्ञानरूपी रथ के चलने के मार्ग में) [भ्रमति] भ्रमण करता है, [स:] वह [जिनज्ञानप्रभावी] जिनेन्द्रभगवान के ज्ञान की प्रभावना करनेवाला [सम्यग्दृष्टि:] सम्यग्दृष्टि [ज्ञातव्य:] जानना चाहिए।

टीका : क्योंकि सम्यग्दृष्टि, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयता के कारण ज्ञान की समस्त शक्ति को प्रगट करने-विकसित करने-फैलाने के द्वारा प्रभाव उत्पन्न करता है इसलिए, प्रभावना करनेवाला है, अत: उसे ज्ञान की प्रभावना के अप्रकर्ष से (ज्ञान की प्रभावना न बढ़ाने से) होनेवाला बन्ध नहीं किन्तु निर्जरा ही है।

भावार्थ : प्रभावना का अर्थ है प्रगट करना, उद्योत करना इत्यादि; इसलिए जो अपने ज्ञान को निरन्तर अभ्यास के द्वारा प्रगट करता है-बढ़ाता है, उसके प्रभावना अंग होता है। उसे अप्रभावनाकृत कर्मबन्ध नहीं होता, किन्तु कर्म रस देकर खिर जाता है, इसलिए उसके निर्जरा ही है।

इस गाथा में निश्चयप्रभावना का स्वरूप कहा है। जैसे जिनबिम्ब को रथारूढ़ करके नगर, वन इत्यादि में फिराकर व्यवहार प्रभावना की जाती है, इसी प्रकार जो

विद्यारूपी (ज्ञानरूपी) रथ में आत्मा को विराजमान करके मनरूपी (ज्ञानरूपी) मार्ग में भ्रमण करता है, वह ज्ञान की प्रभावनायुक्त सम्यग्दृष्टि है, वह निश्चयप्रभावना करनेवाला है।

इस प्रकार ऊपर की गाथाओं में यह कहा है कि सम्यग्दृष्टि ज्ञानी को नि:शंकित आदि आठ गुण निर्जरा के कारण हैं। इसी प्रकार सम्यक्त्व के अन्य गुण भी निर्जरा के कारण जानना चाहिए।

इस ग्रन्थ में निश्चयनय प्रधान कथन होने से यहाँ नि:शंकितादि गुणों का निश्चय स्वरूप (स्वाश्रितस्वरूप) बताया गया है। उसका सारांश इस प्रकार है:-जो सम्यग्दृष्टि आत्मा अपने ज्ञान-श्रद्धान में नि:शंक हो, भय के निमित्त से स्वरूप से चलित न हो अथवा सन्देहयुक्त न हो, उसके नि:शंकितगुण होता है।१। जो कर्मफल की वांछा न करे तथा अन्य वस्तु के धर्मों की वांछा न करे, उसके नि:कांक्षित गुण होता है।२। जो वस्तु के धर्मों के प्रति ग्लानि न करे, उसके निर्विचिकित्सा गुण होता है।३। जो स्वरूप में मूढ़ न हो, स्वरूप को यथार्थ जाने, उसके अमूढ़दृष्टि गुण होते हैं।४। जो आत्मा को शुद्ध-स्वरूप में युक्त करे, आत्मा की शक्ति बढ़ाये, और अन्य धर्मों को गौण करे, उसके उपगूहनगुण होता है।५। जो स्वरूप से च्युत होते हुए आत्मा को स्वरूप में स्थापित करे, उसके स्थितिकरण गुण होता है।६। जो अपने स्वरूप के प्रति विशेष अनुराग रखता है, उसके वात्सल्य गुण होता है।७। जो आत्मा के ज्ञानगुण को प्रकाशित कर-प्रगट करे, उसके प्रभावना गुण होता है।८।

ये सभी गुण उनके प्रतिपक्षी दोषों के द्वारा जो कर्मबन्ध होता था, उसे नहीं होने देते। और इन गुणों के सद्भाव में, चारित्रमोह के उदयरूप शंकादि प्रवर्ते तो भी उनकी (-शंकादि की) निर्जरा ही हो जाती है, नवीन बन्ध नहीं होता; क्योंकि बन्ध तो प्रधानता से मिथ्यात्व के अस्तित्व में ही कहा है।

सिद्धान्त में गुणस्थानों की परिपाटी में चारित्रमोह के उदयनिमित्त से सम्यग्दृष्टि के जो बन्ध कहा है, वह भी निर्जरारूप ही (-निर्जरा के समान ही) समझना चाहिए क्योंकि सम्यग्दृष्टि के जैसे पूर्व में मिथ्यात्व के उदय के समय बँधा हुआ कर्म खिर जाता है, उसी प्रकार नवीन बँधा हुआ कर्म भी खिर जाता है; उसके उस कर्म के स्वामित्व का अभाव होने से वह आगामी बन्धरूप नहीं किन्तु निर्जरारूप ही है। जैसे-कोई पुरुष दूसरे का द्रव्य उधार लाया हो तो उसमें उसे ममत्वबुद्धि नहीं होती, वर्तमान में उस द्रव्य से कुछ

कार्य कर लेना हो तो वह करके पूर्व निश्चयानुसार नियत समय पर उसके मालिक को दे देता है; नियत समय के आने तक वह द्रव्य उसके घर में पड़ा रहे तो भी उसके प्रति ममत्व न होने से उस पुरुष को उस द्रव्य का बन्धन नहीं है, वह उसके स्वामी को दे देने के बराबर ही है; इसी प्रकार-ज्ञानी कर्मद्रव्य को पराया मानता है, इसलिए उसे उसके प्रति ममत्व नहीं होता; अत: उसके रहते हुए भी वह निर्जरित हुए के समान ही है, ऐसा जानना चाहिए।

यह नि:शंकितादि आठ गुण व्यवहारनय से व्यवहारमोक्षमार्ग में इस प्रकार लगाने चाहिए:-

जिनवचनों में सन्देह नहीं करना, भय के आने पर व्यवहार दर्शन-ज्ञान-चारित्र से नहीं डिगना, सो नि:शंकितत्व है।१। संसार-देह-भोग की वांछा से तथा परमत की वांछा से व्यवहारमोक्षमार्ग से चलायमान न होना, सो नि:कांक्षितत्व है।२। अपवित्र, दुर्गन्धित आदि वस्तुओं के निमित्त से व्यवहारमोक्षमार्ग की प्रवृत्ति के प्रति ग्लानि न करना, सो निर्विचिकित्सा है।३। देव, गुरु, शास्त्र, लौकिक प्रवृत्ति, अन्यमतादि के तत्त्वार्थ के स्वरूप-इत्यादि में मूढ़ता न रखना, यथार्थ जानकर प्रवृत्ति करना, सो अमूढ़दृष्टि है।४। धर्मात्मा में कर्मोदय से दोष आ जाये तो उसे गौण करना और व्यवहारमोक्षमार्ग की प्रवृत्ति को बढ़ाना, सो उपगूहन अथवा उपबृंहण है।५। व्यवहारमोक्षमार्ग से च्युत होते हुए आत्मा को स्थिर करना, सो स्थितिकरण है।६। व्यवहारमोक्षमार्ग में प्रवृत्ति करनेवाले पर विशेष अनुराग होना, सो वात्सल्य है।७। व्यवहारमोक्षमार्ग का अनेक उपायों से उद्योत करना, सो प्रभावना है।८। इस प्रकार आठ गुणों का स्वरूप व्यवहारनय को प्रधान करके कहा है। यहाँ निश्चयप्रधान कथन में उस व्यवहारस्वरूप की गौणता है। सम्यग्ज्ञानरूप प्रमाणदृष्टि में दोनों प्रधान हैं। स्याद्वाद मत में कोई विरोध नहीं है।

गाथा - २३६ पर प्रवचन

अब आठवाँ अन्तिम प्रभावना (गुण)। लोग तो बाहर में पतासे बाँटना और पेड़ा बाँटे और प्रभावना अच्छी, ऐसा कहे न? पूरा नारियल बाँटे। नारियल बाँटते हैं न? वह प्रभावना नहीं है। वह तो व्यवहार प्रभावना भी नहीं है। वह इसमें आयेगा। **प्रभावना गुण की...** व्याख्या **कहते हैं:-** गुण शब्द से (आशय) पर्याय है।

विज्जारह-मारूढो मणोरह-पहेसु भमइ जो चेदा।
सो जिण-णाण-पहावी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो।।२३६।।

चिन्मूर्ति मन-रथपंथ में, विद्यारथारूढ घूमता।
जिनराजज्ञानप्रभावकर सम्यक्तदृष्टी जानना।।२३६।।

आहाहा! टीका:— **क्योंकि सम्यग्दृष्टि,...** कैसे प्रभावना होती है, ऐसा कहते हैं। कि सम्यग्दृष्टि। आहाहा! न हो, उसे प्रगट करना और प्रगट हो, उसकी दशा क्या है, इसकी बात है। आहाहा! प्रथम में प्रथम इसे करने का होवे तो उसे ज्ञायकस्वरूप पूर्णानन्द प्रभु के सन्मुख होकर ज्ञान और प्रतीति निर्विकल्प करना, यह पहले में पहला कर्तव्य है। आहाहा! और यह कर्तव्य जिसे प्रगट हुआ, उसे प्रभावना किसप्रकार होतीी है? अब यह बात करते हैं। समझ में आया? आहाहा! सम्यग्दर्शन नहीं, वहाँ तो प्रभावना या कोई बात है ही नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : व्यवहार प्रभावना भी नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : मिथ्यात्व प्रभावना है। मिथ्याश्रद्धा को बढ़ाता है। मिथ्याश्रद्धा की प्ररूपणा करके पुष्टि करता है। आहाहा! जो ऐसा प्ररूपण करता है कि, दया, दान, व्रत, भक्ति, तप से धर्म होता है, वह मिथ्यात्व की प्ररूपणा करता है। मिथ्यात्व की प्रभावना करता है। आहाहा! प्र—विशेष, भावन—विकारी। आहाहा! उलटी प्रभावना। यह सुलटी प्रभावना की बात है। आहाहा! प्र-भाव। प्र—विशेष भाव, उसे प्रभावना कहते हैं।

अब जिसे सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ है, उसे प्रभावना का भाव, अंग, चिह्न, लक्षण, समकित का होता है। आहाहा! क्यों? कि **सम्यग्दृष्टि, टंकोत्कीर्ण...** अर्थात् शाश्वत् **एक ज्ञायकभावमयता के कारण...** जिसकी दृष्टि में वह ज्ञायकभाव ही आया है। आहाहा! धर्मी—सम्यग्दृष्टि उसे कहते हैं कि जिसकी दृष्टि में निमित्त नहीं, दया, दान का राग नहीं और उसे राग को जाननेवाली पर्याय भी नहीं। जिसकी दृष्टि में ज्ञायक त्रिकालीभाव आया है। आहाहा! ऐसी बातें। लोगों ने तो इसका सब पूरा रूप ही पलटा डाला है। जो मुद्दे की रकम है, वह क्या है, इसकी खबर नहीं है। आहाहा!

सम्यग्दृष्टि तो टंकोत्कीर्ण—शाश्वत् एक ज्ञायकभावमय, ज्ञायकभावमयपने के

कारण। आहाहा! वह तो ज्ञायकस्वभावमयपने के कारण सम्यग्दृष्टि **ज्ञान की समस्त शक्ति को प्रगट करने...** यह प्रभावना। आत्मा की जो अनन्त शक्ति है, आहा! उसकी जिसे प्रतीति और ज्ञान, अनुभव हुआ है, वह समकिती अपनी अनन्त शक्तियाँ जो हैं, उन्हें **विकसित करने-फैलाने के द्वारा प्रभाव उत्पन्न...** करता है। आहाहा! यह प्रभावना है। आहाहा! त्रिकाली ज्ञायभाव का अनुभव और दृष्टि, अनुभव होने से... आहाहा! जिसे उस ज्ञायकभाव का स्वरूप जिसे दृष्टि में आया है स्वीकार, उस ज्ञायकभावपने के कारण उसकी जो शक्तियाँ हैं, ज्ञायक की अनन्त (शक्तियाँ हैं), उन्हें प्रगट करने के लिये, पर्याय में वह शक्ति आंशिक प्रगट हुई है परन्तु विशेष प्रगट करने के लिये। आहाहा! काम बहुत (कठिन)। अभी तो सम्यग्दृष्टि की बात है। श्रावक और मुनि की दशा तो कोई अलग प्रकार की है। लोग मानते हैं, वह कुछ नहीं। आहाहा!

यहाँ तो सम्यग्दृष्टि जीव स्वयं ज्ञायक अनन्त-अनन्त गुण सम्पनन ऐसा ज्ञायकभाव, उसे ज्ञायकभावपने के कारण अपनी ज्ञान की अर्थात् आत्मा की ही समस्त शक्ति है, समस्त शक्ति—अनन्त-अनन्त गुण और वह शक्ति है, उसे प्रगट करने के लिये। यह प्रभावना। प्र—भाव, विशेष निर्मल परिणति की प्रगटता विशेष करना, वह प्रभावना है। आहाहा! यहाँ तो होवे अज्ञानी राग को स्वयं धर्म माननेवाला और कुछ नेग-वेग वितरण करे, दो-पाँच-दस हजार रुपये का वहाँ तो, ओहोहो! हमने तो प्रभावना की।

मुमुक्षु : आप इनकार क्यों नहीं करते।

पूज्य गुरुदेवश्री : पहचान में इनकार करते हैं। वस्तु को मानने की बात है न, वह आचरण हो, वह तो अलग चीज़ है। आहाहा! उसे मानना क्या और जानना क्या, यह बात है। होवे तो हो। आहाहा! परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि वह होती है, वह मेरा कर्तव्य नहीं। आहाह! उसमें जो राग की मन्दता का कदाचित् भाव हुआ हो, वह भी मेरा कर्तव्य नहीं है। आहाहा! मेरा कर्तव्य तो प्रभु जो अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु, उस अनन्त गुण की शक्तिवाले को मैंने जाना और अनुभव किया तो उस शक्ति को विशेष प्रगट करना, वह मेरी प्रभावना है। अरे! बातें ऐसी है।

'समस्त शक्ति' शब्द प्रयोग किया है। ज्ञान की समस्त शक्ति अर्थात् आत्मा की। ज्ञान शब्द से आत्मा जो ज्ञायकमयपने है, उसमें अनन्त गुण हैं, अनन्त शक्तियाँ हैं, उसका

जहाँ अन्तर में अनुभव होकर प्रतीति और रमणता हुई, अब उन अनन्त शक्तियों में से विशेष प्रगट करने को उसका नाम प्रभावना कहा जाता है। आहाहा!

प्रगट करने-विकसित करने... आहाहा! भगवान आत्मा की जितनी शक्तियाँ—गुण हैं। आहाहा! उस शक्तिवान की दृष्टि और प्रतीति तो हुई है, अब वह प्रतीतिवाला जीव वह अनन्त जो शक्तियाँ हैं, उन्हें पर्याय में प्रगट करने की भावना है, प्रगट करता है। आहाहा! विकसित करता है। जैसे कमल खिलता है, वैसे शक्तियाँ पर्याय में खिलती है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। फैलाने के लिये। तीन बोल कहे, प्रगट करता है, विस्तारित करता है, फैलाता है। आहाहा! अनन्त-अनन्त शक्तियों का सागर प्रभु, ज्ञायकभावपने के कारण सम्यग्दृष्टि, उसका विषय तो ज्ञायकभाव है। सम्यग्दर्शन का विषय—ध्येय तो ज्ञायकभाव है। उस ज्ञायकभाव को ध्येय में लिया है, आहाहा! ध्यान की पर्याय में उसे ध्येय लिया है। आहाहा! वह सम्यग्दृष्टि, आहाहा! उस शाश्वत् ज्ञायकभावपने के कारण। उसमें शाश्वत् जो शक्तियाँ पड़ी हैं, आहाहा!

पाठ में यह है न? **'विज्ञारहमारूढो'** है न? ज्ञानरूपी रथ में आरूढ़ है। उस रथ में बैठाकर भगवान को बाहर घुमाते हैं न? वह तो सब शुभभाव होवे तो उस बाहर को निमित्त कहा जाता है। वह कहीं बाह्य से घुमने का करने का व्यवहार से भी नहीं है। व्यवहार प्रभावना तो सम्यग्दर्शनसहित निश्चय प्रभावना है, उसे ऐसा जो शुभभाव आवे, उसे व्यवहार प्रभावना कहा जाता है। समझ में आया?

मुमुक्षु : प्रभावना भी अलग।

पूज्य गुरुदेवश्री : बात ही भगवान की सब अलग है। जैनदर्शन कोई अलौकिक चीज़ है, वह वस्तु के स्वभाव का स्वरूप है। जैनदर्शन कोई कल्पित पंथ नहीं, वाड़ा नहीं। आहाहा! वह तो ज्ञायक प्रभु आत्मा, आहाहा! वह जिनस्वरूपी प्रभु, उसकी प्रतीति करना, वह जैन है। आहाहा! जैन कोई वाड़ा नहीं। वे कहते हैं न कि यह कितने ही बहुत ऐसा कहते हैं कि यह तो बनियों का धर्म है, हमारा दूसरा धर्म है। ऐसा नहीं है। आहाहा! यह तो तीर्थंकरों-क्षत्रियों का धर्म था परन्तु यह क्षत्रियों का धर्म, वह धर्म नहीं; धर्म तो आत्मधर्म है, वह धर्म है। आहाहा! समझ में आया? इसलिए कितने ही कहते हैं कि ऐसा धर्म? जैन को तो पूजा करना और भक्ति करना, (वह धर्म)।

मुमुक्षु : लोग तो ऐसा कहते हैं कि नग्न रहे, वह धर्म।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह भी खोटी बात है। नग्न तो पशु भी रहते हैं। अष्टपाहुड़ में-लिंगपाहुड़ में आता है। वस्त्ररहित अन्दर तो सब नग्न ही है। अन्दर में राग की, विकल्प की, वस्त्र की दशा को छोड़कर निर्विकल्प आनन्द का अनुभव करे और अनुभव में विशेष स्थिरता जमे, उसे यहाँ मुनि कहते हैं। आहाहा! फिर उसे राग का विकल्प होता है, वह व्यवहार कहा जाता है। पंच महाव्रतादि होते हैं। समझ में आया? धर्म के लोभियों को शुभराग आया, उसे समझाने के लिये भाव होता है, परन्तु है वह सब पुण्यबन्ध का कारण। आहाहा!

आत्मा में जितनी शक्तियाँ हैं, आहाहा! उन सब शक्तियों को प्रतीति में, ज्ञान में, अनुभव में लिया है परन्तु अब तो विशेष प्रगट करता है, शक्तियों को पर्याय में विकसित करता है। आहाहा! जैसे चना पानी में चौड़ा होता है परन्तु वह तो पोला चौड़ा होता है। पोला, पोला चौड़ा। कुछ वजन बढ़ता नहीं है। हैं? जितना एक चने का वजन है, उतना चौड़े का वजन तो समान ही है। क्या कहा? यह दूध... दूध उफान मारता है न? वह दूध बढ़ा है? है तो उतना का उतना, मात्र ऐसे उफान मारा है। यह तो शक्ति का जो सागर भगवान है, वज्रबिम्ब प्रभु स्थित है, आहाहा! उसकी जिसे दृष्टि और अनुभव हुआ है, वह उसे विकसित करने का प्रयत्न करता है, वह प्रभावना है। आहाहा!

प्रगट करने-विकसित करने-फैलाने के... 'प्रबोधेन'—ऐसा है न? **'समस्त-शक्तिप्रबोधेन'** ज्ञान की, शक्तियों की विशेष प्रगट दशा। आहाहा! बोधस्वरूप भगवान ज्ञानस्वरूप और अनन्त शक्तिस्वरूप है। उसकी प्रतीति अनुभव में हुई है, वह जीव प्रबोध—उस-उस बोध की जितनी शक्तियाँ हैं, उन्हें बढ़ाने—प्रगट करने—विकसित करने का करता है, उसे प्रभावना कहते हैं। अरे.. अरे! इन सेठियों का पैसा-बैसा है न...

मुमुक्षु : वह प्रभावना नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं? यह चिमनभाई अभी मकान बनाते हैं न? आहाहा! वह तो एक शुभभाव है। यह क्रिया तो स्वतन्त्र होती है। उसमें भाव शुभ हो, वह पुण्य है, वह निश्चय प्रभावना नहीं।

सच्ची प्रभावना भगवान अन्दर गुण का विकास करे, शक्तियों का सागर प्रभु, आहाहा! उसमें एकाग्र होकर शक्तियों को विकसित करे, फैलावे, उसे यहाँ परमात्मा प्रभावना कहते हैं। आहाहा! और **प्रभाव उत्पन्न करता है...** प्रगट करना, विकसित करना और फैलाने के द्वारा **प्रभाव उत्पन्न करता है...** प्र—भाव, विशेष भाव अर्थात् शक्ति को उत्पन्न करता होने से। आहाहा! लोगों को निश्चय कठिन लगता है। निश्चय के बिना सब व्यर्थ है। जहाँ निश्चय नहीं, वहाँ तो व्यवहार भी नहीं। निश्चय हो, उसे फिर व्यवहार विकल्प आवे। आहाहा! समझ में आया? अरे! आहाहा!

और **प्रभाव उत्पन्न करता है...** क्या कहा? प्रभाव—प्र-भाव—विशेष शक्तियों को प्रगट करता हुआ, विस्तरित करता हुआ **प्रभाव उत्पन्न करता है इसलिए, प्रभावना करनेवाला है,...** आहाहा! परन्तु जिसने आत्मा कौन है, (यह) जाना नहीं, जाना नहीं तो उसकी शक्तियों को प्रगट करने का उसे कहाँ होता है? आहाहा! जिसे आत्मज्ञान ही अन्दर से हुआ नहीं, उसे यह विकसित करने का प्रसंग है ही कहाँ? आहाहा! वह तो राग को, पुण्य को विकसित करता है। आहाहा! **प्रभाव उत्पन्न करता है...** प्र-भाव, विशेष शक्तियों को विकसित करता हुआ प्रभाव करता होने से। आहाहा! **प्रभावना करनेवाला है,...** है? प्रभाव उत्पन्न, प्र-भाव विशेष शक्तियों को विकसित करता होने से प्रभाव करता होने से वह प्रभाव करनेवाला है। आहाहा! ऐसा स्वरूप है। हैं? आहाहा! रागादि, पुण्यादि हो, वह कहीं निश्चय बिना तो व्यवहार भी नहीं है। आहाहा! जिसे आत्मज्ञान और आत्मदर्शन नहीं उसे विकसित करने का प्रसंग ही कहाँ है? आहाहा! (वह) तो राग की क्रिया को विकसित करता और बढ़ाता है। आहाहा! वह अधर्म की प्रभावना है। आहाहा! कठिन काम, भाई!

परमात्मा तो सत्य का स्वभाव है, वैसा उसका स्वरूप कहते हैं। उसमें दुनिया को वह लगे या न लगे, इसके लिये नहीं। वे तो इसके हित के लिये है। अहित में हित मान बैठा हो, उसे उसके हित के लिये कहते हैं। भाई! तेरा कल्याण कैसे हो? आहाहा! यह कल्याणमूर्ति प्रभु है, उसकी शक्तियाँ पवित्र स्वरूप है, उसकी तुझे प्रतीति और ज्ञान हुआ हो तो उसे तुझे विशेष प्रगट करने का भाव आवे, उसे यहाँ प्रभाव और प्रभाव करनेवाला कहा जाता है। आहाहा! ऐसी शर्तें हैं। फिर उसे व्यवहार होता है, देव-गुरु-शास्त्र की

भक्ति का राग, धर्म की वृद्धि लोगों में कैसे हो, ऐसा भाव आता है परन्तु वह पुण्य है। समझ में आया? दूसरे में धर्म की वृद्धि कैसे हो, इसलिए वह भाव धर्म है, ऐसा नहीं है। पर की ओर का लक्ष्य गया न, तो वह तो शुभभाव है। आहाहा! ऐसा (सुने इसलिए) निश्चय... निश्चय... निश्चय कहते हैं। सोनगढ़वाले निश्चय... निश्चय करते हैं, ऐसा (लोग) कहते हैं। अरे! भगवान! निश्चय अर्थात् सत्। सत् अर्थात् सत्य। सत्य वह यह स्वरूप है। आहाहा! तूने सुना न हो और जाना न हो, इसलिए कहीं सत्य असत्य हो जाएगा? और सत्य है, वह सस्ता हो जाएगा? राग से प्राप्त हो, ऐसा हो जाएगा? आहाहा! सत् को प्राप्त करने के लिये उसकी कीमत देनी चाहिए। आहाहा!

ऐसा पूर्णानन्द का नाथ प्रभु, उसे स्वीकार करना, वह कहीं अनन्त पुरुषार्थ नहीं है? और सम्यग्दर्शन में प्रतीति में लेना, वह पुरुषार्थ नहीं है? आहाहा! और यह निश्चय है, वह तो स्वयं से प्रगट होता है और पश्चात् शुभभाव आवे, फिर ख्याति, पूजा, लाभ के लिये नहीं, मेरी प्रसिद्धि हो, मुझे लोग पहिचाने—ऐसा जो भाव आवे, वह भाव तो शुभ भी नहीं है। समझ में आया? आहाहा! उसे तो अपने को शक्ति की वृद्धि हुई है, करता है; इसलिए दूसरे को भी कैसे हो, ऐसा विकल्प आता है। परन्तु वह विकल्प पुण्यबन्ध का कारण है, वह निश्चय प्रभावना नहीं है। निश्चय प्रभावना धर्म की परिणति है और यह जो व्यवहार प्रभावना है, वह नहीं परन्तु अन्दर भाव हुआ वह, शुभभाव; निश्चयसहित होवे उसे, हों! आहाहा!

वह **प्रभाव उत्पन्न करता है...** यह क्या कहा? प्रभाव उत्पन्न करता होने से। अर्थात् कि आत्मा में अनन्त शक्तियाँ हैं, उन्हें पर्याय में प्रभाव—विशेष प्रगट करता होने से उसको प्रभावना करनेवाला कहा जाता है। आहाहा! अरेरे! **अतः उसे ज्ञान की प्रभावना के अप्रकर्ष से...** आत्मा की जो शक्तियों का विकास हुआ, इसलिए उसे विकास न होने का जो भाव, उससे जो बन्ध होता था, वह बन्ध नहीं है। आहाहा! ज्ञान अर्थात् आत्मा। ज्ञायकभाव लिया है न? अर्थात् ज्ञान। आत्मा के अनन्त ज्ञानगुण की शक्ति को विकसित करता होने से उसकी **प्रभावना के अप्रकर्ष से...** उसका जो हीनपना होना विरुद्ध, वह उसके नहीं। इसलिए उसे ज्ञान की प्रभावना नहीं बढ़ाने से होनेवाला बन्ध नहीं है। ज्ञान की प्रभावना स्वयं अन्दर में बढ़ाता ही है। आहाहा!

होनेवाला बन्ध नहीं किन्तु निर्जरा ही है। यह जरा सा विकल्प शुभादि आया तो यहाँ शक्ति की प्रभावना प्रगट करता है, इसलिए वह खिरकर निर्जरित हो जाता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! वह शुभभाव आता है, उसका पुण्य बँधता है परन्तु यहाँ वह बात न लेकर वह खिर जाता है। स्वभाव का-शक्ति का जोर बताया कि वह खिर जाता है। आहाहा!

(भावार्थ):—(प्रभावना अर्थात्) **प्रगट करना,...** प्र—भावना है न? विशेष भावना। प्रगट करना। **उद्योत करना...** विकसित करना, फैलाना इत्यादि। **इसलिए जो अपने ज्ञान को...** आत्मा को **निरंतर अभ्यास के द्वारा प्रगट करता है...** आहाहा! अपना भगवान आत्मा, आहाहा! वह स्वयं अपना वह आत्मा है। राग और शरीर वह कहीं अपना नहीं है। आहाहा! और पर्याय जितना भी अपना आत्मा नहीं है। आहाहा! है? अपने आत्मा को **निरंतर अभ्यास के द्वारा प्रगट करता है...** आहाहा! अनन्त गुण का सागर नाथ, उसकी अनन्त गुण की शक्तियों को पर्याय में एकाकार के अभ्यास से प्रगट करता है। आहाहा! यह अभ्यास, हों! शास्त्र अभ्यास या वह ऐसा नहीं। आहाहा!

अपना जो भगवान ज्ञायकभाव, उसका एकाग्रता का अभ्यास। आहाहा! निरन्तर आत्मा के **अभ्यास के द्वारा प्रगट करता है...** आत्मा के निरन्तर अभ्यास—एकाग्रता से जो प्रगट करता है। आहाहा! **बढ़ाता है,...** शुद्धि की पर्याय है, उससे बढ़ाता है। आहाहा! ऐसा मार्ग। लोगों को ऐसा लगता है कि यह तो निश्चयाभास जैसा है, व्यवहार की तो बात आती नहीं कि व्यवहार करे तो कुछ होगा। व्यवहार करे तो पुण्य बँधेगा, संसार... संसार होगा। यह दया, दान, व्रत के भाव-परिणाम, वह संसार है। आहाहा! भगवान संसारस्वरूप से रहित है। आहाहा!

मुमुक्षु : द्रव्य रहित है, पर्याय में तो है।

पूज्य गुरुदेवश्री : द्रव्य में नहीं है, वही वस्तु में नहीं है। द्रव्य में नहीं, वही वस्तु में नहीं। वस्तु जो भगवान सच्चिदानन्द प्रभु ज्ञायकभाव, उसमें संसार है ही नहीं। पर्याय उसमें नहीं तो उसमें संसार के राग की बातें कहाँ करना? सूक्ष्म बात, भाई! आहाहा! प्रभु का मार्ग शास्त्रों में रह गया। प्रभु का तो विरह पड़ा। आहाहा! परन्तु उनके पंथ की पद्धति पूरी साफ हो गयी और अपंथ-कुपंथ के नाम से पंथ चलाया। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, प्रभु! तू कौन है ? कितना है ? कैसा है ? यह तो दोपहर में आया था न ? कि वह तो अनन्त गुण सम्पन्न शक्तिवाला है। अभी उस पर्याय की बात नहीं है। पर्याय का अधिष्ठान, वह अभी यहाँ नहीं। यहाँ तो अनन्त शक्तियाँ स्वभाव जो त्रिकाली, उस वाला है। आहाहा! ऐसा जिसे प्रभावना अंग होता है, **उसे अप्रभावनाकृत कर्मबंध नहीं होता,...** आहाहा! जिसे यह अप्रभावना अर्थात् शक्ति को बढ़ावे नहीं परन्तु हीन करने का भाव था, उससे जो बन्ध होता था, वह बन्ध इसे नहीं है। आहाहा! पर्याय में उस शक्ति को हीन, विपरीत करने का जिसे भाव है, वह इसे नहीं। आहाहा! इसलिए **उसे अप्रभावनाकृत कर्मबंध नहीं होता, किन्तु कर्म रस देकर खिर जाता है...** जरा रागादि आवे... आहाहा! परन्तु स्वभाव-सन्मुख की एकाग्रता के जोर से वह राग खिर जाता है। आहाहा!

इस गाथा में निश्चयप्रभावना का स्वरूप कहा है। है न ? अब विद्या आरूढ़ शब्द था न, उसमें से निकाला है। **जैसे जिनबिम्ब को...** भगवान की प्रतिमा को **रथारूढ़ करके...** जिनबिम्ब वीतरागमूर्ति के ऊपर वस्त्र या टीका (शृंगार) वह नहीं होता। जैसे वीतराग थे, वैसी जिनप्रतिमा होती है। आहाहा! समझ में आया ? जिनबिम्ब कहा जाता है न ? ऐसे जिन परमेश्वर वीतराग थे, वैसी जिनबिम्ब दशा वीतरागी शान्त दिखायी दे, उसे यहाँ जिनबिम्ब कहते हैं। उस **जिनबिम्ब को रथारूढ़ करके...**

कल एक व्यक्ति प्रश्न करता था। एक श्वेताम्बर युवक आया था। वैसे तो बिना ठिकाने की वृत्ति थी, परन्तु जवान मनुष्य था। नाम भूल गये। वह जवान था। अन्दर आता, बैठता। मुझे तो दूसरी कुछ श्रद्धा नहीं परन्तु यह आप कहते हो, इसकी मुझे श्रद्धा होती है। मुझे भी अब बाहर बड़ी प्रभावना करनी है। धर्म की श्रद्धा-बद्धा कुछ नहीं। जवान व्यक्ति और विवाह करने का भाव, जवान मनुष्य। पहले से छोटी उम्र में दीक्षा ली थी। फिर एक कन्या ने उसे कहा कि मैं तुमसे विवाह करूँ। कन्या कहे। परन्तु वह कहे कि मेरे पास अभी साधन नहीं है मैं क्या करूँ ? आहाहा! बेचारा अन्दर एकान्त में कहता था। आपकी बात में मुझे कुछ भरोसा आता है, बाकी मैं तो कुछ मानता नहीं। आहाहा! वह ऐसा कहता था कि आप ऐसा जिनबिम्ब कहो, भगवान की मूर्ति और फिर वापस रथ में बैठा हो। ऐसा हो, कायोत्सर्ग होवे न ऐसे ? और उसे रथ में बैठाते हो। आप ऐसा कि हम वस्त्र में भगवान को पधराते हैं। आप रथ में पधाराते हो, इससे क्या हुआ ? ऐसा कहे। अरे! भाई! ऐसा नहीं

है। वह तो पुण्य, शुभभाव आवे, तब उस जिनप्रतिमा को रथ में बैठाकर (घुमाते हैं)। वीतराग है, और उन्हें रथ कैसा? ऐसा वह कहता था। भाई! वह तो प्रतिमा है, उसकी स्थापना है। साक्षात् वीतराग होवे, तब तो रथ में न बैठे। परन्तु 'जिनप्रतिमा जिनसारखी' यह व्यवहार से कहा है, इसलिए उसे रथ में सम्यग्दृष्टि धर्मी हो, उसे भी ऐसा शुभभाव आता है। समझ में आया? भगवान को घुमाकर जगत में लोग जाने कि ऐसे धर्मी जीव हैं और धर्म कैसे होता है, उसकी प्रभावना करता है। ऐसा विकल्प होता है। आहाहा!

यहाँ कहते है, **जैसे जिनबिम्ब को रथारूढ़ करके नगर, वन इत्यादि में फिराकर व्यवहार प्रभावना की जाती है,...** यह तो एक शुभभाव है। समकिती की बात है, हों! **इसी प्रकार जो विद्यारूपी...** पाठ में था न? **'विज्जारहमारूढो'** विद्यारथ आरूढ़, विद्यारूपी रथ में बैठाया। उस रथ में भगवान को पधराया। यहाँ विद्या (अर्थात्) ज्ञानरूपी रथ में भगवान को पधराया। आहाहा! रथ में आत्मा को स्थापित कर **मनरूपी (ज्ञानरूपी) मार्ग में भ्रमण करता है,...** आहाहा! **वह ज्ञान की प्रभावनायुक्त सम्यग्दृष्टि है, वह निश्चयप्रभावना करनेवाला है।** यह सच्ची प्रभावना करनेवाला है। व्यवहार की बात आयेगी। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३१०, गाथा- २३६, शुक्रवार, भाद्र कृष्ण ९
दिनाङ्क १४-०९-१९७९

सम्यग्दर्शन एक गुण की— श्रद्धा गुण की एक पर्याय है। समझ में आया? द्रव्य में जो एक श्रद्धा नाम का गुण त्रिकाल है। सम्यग्दर्शन निर्मल वीतरागी पर्याय है। आहाहा! उसमें **निःशंकितादि गुणों का...** (अर्थात् कि) पर्याय का **निश्चय स्वरूप (स्वाश्रितस्वरूप) बताया गया है।** देव-गुरु-शास्त्र में शंका नहीं करना, वह तो सब व्यवहार है। वह तो विकल्प है और यह तो वास्तविक निर्विकल्प दृष्टि है। आहाहा!

उसका सारांश इस प्रकार है:-जो सम्यग्दृष्टि आत्मा... धर्म की पहली सीढ़ी जो सम्यग्दर्शन, पूर्ण परमात्मा ज्ञायकभाव का जिसे अनुभव हुआ है और अनुभव में प्रतीति

हुई है, उसे यहाँ सम्यग्दृष्टि कहते हैं। आहाहा! उस सम्यग्दृष्टि का आत्मा **अपने ज्ञान-श्रद्धान में निःशंक हो,...** है। अपना जो स्वरूप ज्ञायक त्रिकाल है, उसके ज्ञान में और उसकी श्रद्धा में निःशंक होता है। पूर्ण ज्ञान और पूर्ण आनन्द, पूर्ण शान्ति और पूर्ण स्वच्छता, पूर्ण प्रभुता ऐसा जो आत्मस्वभाव, उसमें धर्म की पहली सीढ़ीवाला निःशंक होता है। है? **ज्ञान-श्रद्धान में निःशंक हो,...** पहला तो यह है। इसके बिना जो सब होता है, वह सब संसार है।

मुमुक्षु : अकेला ज्ञान या अकेली श्रद्धा होवे तो?

पूज्य गुरुदेवश्री : ज्ञान, श्रद्धा दोनों साथ ही होते हैं। वस्तु स्वरूप जो है, उसकी वर्तमान ज्ञान की पर्याय में जानने में आया, उसकी प्रतीति, ऐसा लिया है न? १७वीं गाथा। प्रथम में प्रथम यह भगवान आनन्द और ज्ञानस्वरूप है, वह जिसे अन्तर में स्वसन्मुख में ज्ञान हुआ, उस ज्ञान में यह आत्मा पूर्ण है, ऐसा ज्ञात हुआ; उस ज्ञान में प्रतीति होना, वह सम्यग्दर्शन है। आहाहा! मूल यह बात पहले से पूरी गड़बड़ उठी है। आहाहा! अरे! अनादि काल से स्वयं दुःख के पंथ में पड़ा है। शुभराग की क्रिया, वह भी दुःख का पंथ है। आहाहा! दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा आदि का भाव, वह सब राग दुःख का पंथ है। आहाहा!

मुमुक्षु : पुण्य दुःख का कारण?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह दुःख ही है, कारण नहीं। वह स्वयं दुःख है। जो राग की क्रिया व्रत की, तप की, भक्ति की, पूजा की, वह राग स्वयं दुःख है। उससे रहित आत्मा ज्ञायकस्वरूप है, उसका जहाँ भान हो, तब उसे अतीन्द्रिय आनन्द का अंश वेदन में आता है। आहाहा! तब वह सुख के पंथ में पड़ा है। सुखी ऐसा जो भगवान आत्मा, उसकी श्रद्धा-ज्ञान के पंथ में पड़ा, वह सुख की दशा के वेदन में आया। आहाहा! वह चीज़ है, (ऐसा) जानकर उसकी प्रतीति करके, फिर उसमें रमणता होती है। परन्तु चीज़ जानी नहीं, उसकी श्रद्धा कैसी? और उसकी स्थिरता कैसी? आहाहा! जानना पहला है इसमें? १७वीं गाथा में नहीं आया? पहले आत्मा को जानना, ऐसा कहा है। पहले देव-गुरु-शास्त्र को जानना या वह जानना, यह सब व्यवहार की बातें नहीं की। आहाहा! समयसार परम सत्य की दृष्टि का यह विषय है। आहाहा!

यहाँ आत्मा—सम्यग्दृष्टि का आत्मा प्रथम ही चौथे गुणस्थान में, आहाहा! पाँचवाँ गुणस्थान तो अभी चौथे गुणस्थान को प्रगट करे, उसमें विशेष आनन्द की स्थिरता करे, तब उसे पाँचवाँ गुणस्थान होता है। आहाहा!

मुमुक्षु : पहले से ही प्रतिमा ले लेवे तो क्या दिक्कत?

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रतिमा-व्रतिमा थी कब? राग है, दुःख को अंगीकार किया है। आहाहा!

मुमुक्षु : महाव्रत...?

पूज्य गुरुदेवश्री : महाव्रत के परिणाम, वे दुःखरूप हैं। कहा नहीं यह तो? 'मुनिव्रत धार अनंत बार ग्रीवक उपजायो, पै आतमज्ञान बिन लेश सुख न पायो।' यह महाव्रत के परिणाम भी दुःख और आस्रव है। भाई! इसे खबर नहीं है।

मुमुक्षु : वे तो अज्ञानी के व्रत, ज्ञानी के....?

पूज्य गुरुदेवश्री : वे अज्ञानी के व्रत और ज्ञानी के व्रत का विकल्प भी आस्रव है। तत्त्वार्थसूत्र में नहीं आया? आस्रव के अधिकार में। अणुव्रत और महाव्रत, वह आस्रव है। तत्त्वार्थसूत्र में है। आहाहा!

यहाँ तो प्रथम भगवान पूर्ण परमात्मस्वरूप परमेश्वर है। उस परमेश्वर के सन्मुख होकर, उसका ज्ञान होकर, उसमें प्रतीति होना और उसकी प्रतीति में उसे निःशंकता होना, आहाहा! ऐसी बात है, भाई! है? जो **सम्यग्दृष्टि आत्मा अपने ज्ञान-श्रद्धान में...** अपने अर्थात् आत्मा का ज्ञान और श्रद्धान में। आहाहा! अतीन्द्रिय अनन्त आनन्द और अतीन्द्रिय अनन्त ज्ञान, अतीन्द्रिय अनन्त वीर्य और अनन्त अतीन्द्रिय दर्शन का पिण्ड प्रभु आत्मा है। आहाहा! ऐसा जो अपना आत्मा, उसके ज्ञान-श्रद्धान में। आहाहा! **निःशंक हो,...** इसका दूसरा अर्थ किया कि, **भय के निमित्त से स्वरूप से चलित न हो...** आहाहा! जो वज्र का बिम्ब भगवान को पकड़ा आत्मा ने, ध्रुव... ओहो! अब वह **भय के निमित्त से स्वरूप से चलित न हो...** आहाहा! दुनिया का सब भय निकल गया, कहते हैं। आहाहा!

सन्देहयुक्त न हो,... अन्तर अनुभव हुआ है और सम्यग्दर्शन में आत्मा के आनन्द का अनुभव हुआ है, उसे यहाँ सम्यग्दृष्टि कहते हैं। आहाहा! वह सम्यग्दृष्टि निःसन्देहयुक्त

है, सन्देहरहित है, निःसन्देहयुक्त है। सन्देहयुक्त नहीं होता, ऐसा। आहाहा! उसे निःशंकित गुण होता है। गुण अर्थात् पर्याय। उसे वीतरागी पर्याय निःशंकित होती है। आहाहा! अरे!

दूसरा बोल। **जो कर्मफल की वांछा न करे...** कर्म का फल जो संयोग। अघाति का फल संयोग और घाति का फल राग। क्या कहा? **कर्मफल की वांछा न करे...** अर्थात्? घातिकर्म के फलरूप से अन्दर राग आया, उसकी भी उसे वाँछा नहीं है। अघातिया फलरूप से उसे लक्ष्मी के ढ़ेर, चक्रवर्ती के राज हों तो भी जिसे उनकी इच्छा नहीं है। आहाहा! **कर्मफल की वांछा न करे...** एक बात। **अन्य वस्तु के धर्मों की वांछा न करे,...** सोना, चाँदी आदि वस्तु, आहाहा! उनकी वाँछा नहीं करता तथा अन्यमत के धर्मों की वाँछा वह नहीं करता। आहाहा! जैनधर्म जो वस्तुस्वरूप है, उसका जिसे भान हुआ, वह अन्यमति के विशाल आडम्बर देखे—बाबा, जोगी और बड़े नग्न (होवें उनका) राजा आदर करता हो, इससे उसे वाँछा नहीं कि यह ऐसा कुछ होगा। यह सब पाखण्ड है। आहाहा! लाखों, करोड़ों लोग मानते हैं और खम्मा... खम्मा होती हो हाथी को होदे।

मुमुक्षु : मन्त्रवाला डोरा बाँधे तो...

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी उतरता नहीं। मुफ्त का मूढ़ है। स्वामीनारायण को जूनागढ़ में हाथी को हौदे राजा ने बैठाया। हाथी के हौदे मान दिया, विशाल लश्कर... उससे क्या हुआ? वह वस्तु क्या है? आहाहा! राजा था मुसलमान। स्वामीनारायण के समय में उन्हें हाथी के हौदे बैठाकर रथ निकाला था। क्या कहलाता है? यह था। उससे क्या? और समकिती धर्मी हो, उसका कोई आदर भी न करता हो, सामने न देखता हो। उससे क्या? आहाहा! यहाँ कहते हैं कि समकिती **अन्य वस्तु के धर्मों की वांछा न करे, उसके निःकांक्षित गुण होता है।** आहाहा!

तीसरा, **जो वस्तु के धर्मों के प्रति ग्लानि न करे,...** ग्लानि न करे। सड़ा हुआ कुत्ता, बिल्ली सड़ी हुई देखकर ग्लानि न करे। इसी मुनिराज धर्मात्मा सच्चे सन्त हों, उनके शरीर में ग्लानि हो, रोग हो या मलिन शरीर हो, शरीर गन्ध मारे (तो) समकिती ग्लानि नहीं करता। आहाहा! पहले काँछा नहीं करे (कहा) अर्थात् राग न करे, ग्लानि न करे अर्थात् द्वेष न करे। आहाहा! **उसके निर्विचिकित्सा गुण होता है।** जिसे जुगुप्सा का अभाव, ऐसी वीतरागी पर्याय का भाव उसे होता है। आहाहा! जिसने स्व का आश्रय लिया है और

स्व के आश्रय से जिसे सम्यग्दर्शन हुआ है। आहाहा! उसे पर में किसी प्रकार की ग्लानि या पर की इच्छा, वाँछा नहीं होती। आहाहा! अपना भगवान आत्मा का भान हुआ, उसमें अब रमने के लिये भावना होती है। स्वरूप में रमना, वह चारित्र है। चारित्र कोई क्रियाकाण्ड और महाव्रत, वह कहीं चारित्र नहीं है। आहाहा! वस्तु जैसी है, उसे जानकर, मानकर वस्तु में स्थिर होना, आहाहा! इसका नाम ज्ञान, श्रद्धा और चारित्र है। आहाहा!

जो स्वरूप में मूढ़ न हो,.. उस स्वरूप में उलझाव नहीं है कि आहाहा! अरे! ऐसी चीज़ है और मैं स्थिर नहीं हो सकता तो कुछ मुझमें भ्रमणा होगी? ऐसा उलझन में नहीं आता है। आहाहा! भगवान आनन्दस्वरूप प्रभु का समकिती को अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन आता है, तब तो उसे समकिती कहा जाता है। आहाहा! ऐसे आनन्द के स्वाद में दूसरी किसी चीज़ में उसे मूढ़ता नहीं होती। **स्वरूप को यथार्थ जाने,...** जिस प्रकार स्वरूप की स्थिति है, उस प्रकार से जानता है। विपरीत नहीं, कम नहीं, अधिक नहीं। आहाहा! चौथा बोल हुआ।

जो आत्मा को शुद्ध-स्वरूप में युक्त करे,... है? **आत्मा की शक्ति बढ़ाये,...** आहाहा! **अन्य धर्मों को गौण करे,...** रागादि को गौण करे और स्वरूप की स्थिरता को बढ़ावे। आहाहा! शक्ति को बढ़ावे, देखा? भगवान आत्मा अनन्त ज्ञान, दर्शन आदि अनन्त शक्तियों का सागर प्रभु, उसकी शक्ति को सम्यग्दृष्टि बढ़ाता जाता है। आहाहा! राग घटाता जाये और इस शक्ति को बढ़ाता जाये। दो लिया न? उपगूहन और उपबृंहण। उपगूहन में राग को घटाता जाये, गौण करता जाये और निःशंक आदि निर्मल पर्याय को बढ़ाता जाये। आहाहा! ऐसा तो अभी चौथे गुणस्थान का स्वरूप है। अभी चौथे का ठिकाना नहीं। आहाहा! कठिन बात, भाई! इसके सुख के पन्थ प्रभु के वीतराग ने कहा वह वीतरागस्वरूप भगवान आत्मा है। उस वीतरागस्वरूप भगवान आत्मा के पन्थ में अन्तर में पड़ना, उसका आश्रय लेकर, उसमें रमना, आहाहा! वह उपबृंहण है। पर्याय को बढ़ाता है, शक्ति को व्यक्त करने में वृद्धि करता है। शक्ति की व्यक्तता तो आंशिक हुई है परन्तु उसकी शक्ति की अब वृद्धि करता है। उसका नाम उपबृंहण नाम का समकित की एक पर्याय-गुण कहा जाता है। आहाहा! उसे **उसके उपगूहनगुण होता है।** गौण करे, वह उपगूहन है। शक्ति को बढ़ावे, वह उपबृंहण है। पाँच (हुए)।

जो स्वरूप से च्युत होते हुए आत्मा को स्वरूप में स्थापित करे,... किसी भी प्रकार से कुछ अन्दर में 'गच्चा खाने' के खाता के परिणाम हो जायें (उन्हें) छोड़ दे, स्थिर हो। आहाहा! आनन्द के नाथ में स्थिर हो, कहते हैं। भगवान अतीन्द्रिय आनन्द स्वरूप है, आहाहा! उसमें वह स्थिर है। जरा दुःख के परिणाम आवें, (उन्हें) छोड़कर इसमें स्थिर हो। आहाहा! **उसके स्थितिकरण गुण होता है।**

जो अपने स्वरूप के प्रति विशेष अनुराग रखता है,... अपने स्वरूप के प्रति अनुराग (अर्थात्) अनुसरकर प्रेम रखे। आहाहा! जिसे अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव सम्यग्दर्शन में हुआ है, वह रुचि को अनुयायी वीर्य, पुरुषार्थ वहाँ काम करे। आहाहा! वह परमात्मस्वरूप के प्रति प्रेम करे। आहाहा! निश्चय की बात है न यह सत्य? **उसके वात्सल्यगुण...** कहते हैं।

जो आत्मा के ज्ञानगुण को प्रकाशित करे,... ज्ञान अर्थात् आत्मा के अनन्त गुण जो हैं, उन्हें पर्याय में विशेष प्रगट करे, वह प्रभावना है। वह प्रभावना सच्ची है। आहाहा! प्र-भावना, प्र—विशेष प्रगट। अनन्त-अनन्त शक्ति का सागर प्रभु, उसका अनुभव का अंश तो आया है परन्तु अब उस शक्ति की विशेष प्रभावना प्रगट करे। आहाहा! अनन्त शक्ति का सागर है, उसकी पर्याय में विशेष प्रगट करे, उसे यहाँ सच्ची प्रभावना कहा जाता है। आहाहा! यह निश्चय प्रभावना। किशोरभाई! यह तुम्हारे वहाँ सब करनेवाले हैं न? कितने ही। कितने खर्च करनेवाले हैं? तीस लाख। नैरोबी, अफ्रीका। ये सब सेठिया इकट्ठे हैं। यह बाहर की बात कहते हैं, उसमें राग की मन्दता होवे तो पुण्य है। आहाहा! यहाँ तो प्रभावना उसे कहते हैं, वह बाहर में बड़ी प्रभावना हो कि ओहोहो! सेठियों ने बहुत पैसा खर्च किया और विशाल मन्दिर बनाया।

मुमुक्षु : वह तो आपका प्रभाव है न।

पूज्य गुरुदेवश्री : किसी का नहीं। अफ्रीका में दो हजार वर्ष में कोई दिगम्बर मन्दिर नहीं है। पहला-पहला होता है। अफ्रीका में नैरोबी। वहाँ तो श्वेताम्बर बहुत हैं। श्वेताम्बर का मन्दिर विशाल बनायेंगे और यह दिगम्बर मन्दिर भगवान के पश्चात् दो हजार वर्ष में हुआ और वहाँ तो है ही नहीं, अब नया होता है। परन्तु वह तो परमाणु की क्रिया

उस काल में वह होने वाली है और इसमें जिसका राग मन्द हो, वह शुभभाव है। परन्तु यह शुभभाव, वह व्यवहार प्रभावना है। परन्तु किसे ? कि जिसने निश्चय आत्मा के गुण की प्रभावना प्रगट की है, उसे व्यवहार होता है। आहाहा! समझ में आया ? बहुत कठिन काम, भाई! वीतराग मार्ग के अन्तर मार्ग से चढ़ना, कुपन्थ को छोड़कर वीतरागमार्ग के पन्थ में, आत्मा के पन्थ में (चढ़ना)। आहाहा! आत्मा वीतरागस्वरूप ही है, उस वीतरागस्वरूप के पन्थ में चढ़ना... आहाहा! और उसमें जो शक्तियाँ अनन्त हैं, उन्हें क्षण-क्षण में अन्दर में बढ़ाना, वह प्रभावना है। प्र-भावना। प्र—प्रगट, प्रगटरूप से शक्तियों को प्रगट करना। आहाहा! व्यवहारवाले को तो ऐसा लगे कि ऐसा क्या ? परन्तु पहली वस्तु ही यह है, इसके बिना तेरा सब व्यवहार शून्य है खोटा। आहाहा! समझ में आया ? **आत्मा के ज्ञानगुण को...** अर्थात् आत्मा की सब शक्तियों को **प्रकाशित करे-प्रगट करे, उसके प्रभावना गुण...** कहते हैं। है ?

ये सभी गुण उनके प्रतिपक्षी दोषों के द्वारा... इन गुणों के प्रतिपक्षी दोषों द्वारा **जो कर्मबन्ध होता था, उसे नहीं होने देते।** आहाहा! आठों गुणों से विरुद्ध जो भाव, उनसे बन्ध होता था, वह इन अविरोधी गुणों के कारण बन्ध नहीं होता। आहाहा! चिमनभाई गये ? गये होंगे। **और इन गुणों के सद्भाव में,...** इस सम्यग्दर्शन की दशा में आठ पर्याय जो प्रगट हुई, उसकी अस्ति में, सद्भाव अर्थात् अस्ति, **चारित्रमोह के उदयरूप शंकादि प्रवर्ते...** चारित्रमोह के उदयरूपी कोई शंकादि हो **तो भी उनकी (शंकादि की) निर्जरा ही हो जाती है,...** आहाहा! आदर नहीं। आदर तो यहाँ भगवान का है। आहाहा! पूर्णानन्द के नाथ का जहाँ स्वीकार और आदर अन्दर दृष्टि में हुआ, उसे चारित्र मोह के उदय का राग आये परन्तु यह निर्जरित हो जाता है।

दो बातें की, कि जो निःशंकादि आठ गुण हैं, उनसे विरुद्ध दोषों से बन्ध होता था, वह बन्ध नहीं है और उसे जो उदय में आवे, वह भी निर्जरित हो जाता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! भगवान पूर्णानन्द के नाथ के सहारे स्थित है न अन्दर। उसे उसके गुण से विरुद्ध जो दोषों से बन्ध था, वह तो है नहीं। अब जब पूर्व के उदय के कर्म के कारण जो रागादि आवे परन्तु वहाँ उनका आदर नहीं और आदर तो यहाँ स्वभाव का है। आहाहा! ऐसा स्वरूप। इसलिए उस सम्यग्दृष्टि को अपनी शुद्ध स्वभाव का सत्कार और आदर में,

स्वीकार में, आहाहा! राग का स्वीकार नहीं, उपादेय नहीं; इसलिए वह राग खिर जाता है। आहाहा!

नवीन बन्ध नहीं होता;... अर्थात्? कि दोष से बन्ध होता था, वह तो नहीं परन्तु उदय के कारण राग होता है, उसको भी बन्ध नहीं होता, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : राग से बन्ध नहीं होगा?

पूज्य गुरुदेवश्री : खिर जाता है, ऐसा कहते हैं। स्वभाव का जोर है न? ऐसा कहते हैं। यहाँ तो सम्यग्दर्शन का माहात्म्य आठों गुणों का वर्णन करना हो न। राग है। पहले तो कहा, उससे जो विरुद्ध भाव है, उनसे-दोष से बन्ध होता था, वह तो है नहीं परन्तु अब पूर्व कर्म है जरा तो कमजोरी से रागादि आते हैं, परन्तु उनका आदर नहीं है, इसलिए वास्तव में उसका बन्धन नहीं है। अल्प बन्धन और स्थिति पड़ती, उसे यहाँ गिना नहीं है। थोड़ा राग है, वह भी है, यह भी खिर जाता है, ऐसा गिनने में आया। बाकी है। नहीं? और उससे बन्ध, स्थिति पड़ती है, परन्तु वह गौण करके (नहीं है, ऐसा कहा) आहाहा! अरे! भाई! जन्म-मरण के चौरासी के चक्र में से छूटना, भाई! यह कोई अलौकिक वस्तु है, भाई! चौरासी के अवतार में....

क्योंकि बन्ध तो प्रधानता से... देखा? हैं? **बन्ध तो प्रधानता से मिथ्यात्व के अस्तित्व में ही कहा है।** देखा? जहाँ पूर्व में राग की एकताबुद्धि है, राग धर्म है, दया, दान, व्रत मुझे धर्म का कारण है—ऐसा जो मिथ्यात्व भाव। आहाहा! **क्योंकि बन्ध तो...** मुख्य से, गौणपने परिणाम हैं परन्तु मुख्य से **मिथ्यात्व के अस्तित्व में ही कहा है।** मिथ्यात्व, यही संसार है। मिथ्यात्व, वही आश्रय है। मिथ्यात्व, वही भावबन्ध है। आहाहा! इसकी तो खबर नहीं होती, मिथ्यात्व अर्थात् क्या? यह देह की क्रिया मैं करता हूँ। दया, दान, व्रत के परिणाम मुझे धर्म है, यह सब मिथ्यात्व भाव है। आहाहा! करे मिथ्यात्व की पुष्टि और माने कि हम कुछ धर्म करते हैं। क्या हो? आहाहा! अनन्त काल हुआ, भाई! यह सत्यपन्थ में गया नहीं। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं **बन्ध तो प्रधानता से...** अर्थात् मुख्य, **मिथ्यात्व के अस्तित्व में ही कहा है।** समकित के बाद जरा जो बन्ध होता है, वह अल्प है, अल्प स्थिति-

रसवाला है। उसे यहाँ नहीं गिना है। अल्प—थोड़ा संसार है। मिथ्यात्व में तो अनन्त संसार की वृद्धि है। भले मुनि हो, पंच महाव्रत धारण करनेवाला हो, नग्न दिगम्बर परन्तु राग को अपना मानता है, राग की क्रिया वह धर्म है। शुभोपयोग वह धर्म है। इसलिए इस काल में शुभयोग ही होता है, ऐसा अभी कहते हैं। श्रुतसागर है, शान्तिसागर के पथानुगामी। ऐसा कि सब मुनि शुभोपयोगवाले ही थे और अभी शुभोपयोगी होते हैं, दूसरा नहीं होता। अरे..! प्रभु... प्रभु...! क्या करता है? भाई! तो भी इतना बाहर प्रसिद्ध किया, इतना ठीक किया। आहाहा! अभी शुभोपयोग ही होता है। शुभोपयोग तो पुण्य है, राग है, जहर है। वहाँ तो धर्म है कहाँ? आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा! शान्तिसागर के पथानुगामी। शान्तिसागर यहाँ आये थे, चौबीस घण्टे रहे थे। मूल दृष्टि की खबर नहीं। बाकी आचरण और बाहर की क्रिया साधारण। उनके लिये चौका बनाकर आहार ले, वह तो व्यवहार का भी ठिकाना नहीं है। भाई! मार्ग तो ऐसा है, प्रभु! क्या हो? आहाहा!

मुमुक्षु : सबकी पोल खुल्ली हो गयी।

पूज्य गुरुदेवश्री : वस्तुस्थिति यह है, किसी के लिये कुछ है नहीं। आहाहा! मार्ग यह है न, प्रभु! परमात्मा का फरमान यह है। कहा था, नहीं? जयपुर में मनोहरलाल वर्णी, वर्णीजी के शिष्य हमारे पास आये। वैसे क्षुल्लक, फिर भी रेल में बैठकर आये। रेल में बैठते थे। फिर आकर प्रश्न किया। दोनों जयपुर आये, कहे, महाराज! इस राग को पुद्गल क्यों (कहा)? पुद्गल के परिणमा क्यों कहा? एक प्रश्न यह किया। कहा, भाई! यह निकल जाता है, आत्मा का स्वभाव नहीं है, इसलिए पुद्गल जाने पर साथ ही यह छूट जाता है। जहाँ तक कर्म है, वहाँ तक राग है और कर्म नहीं है, वहाँ राग नहीं है। इस अपेक्षा से इसे पुद्गल का परिणाम कहकर छोड़ गये। दूसरा प्रश्न किया कि अभी क्षुल्लक और मुनि को यह सब उद्देशिक आहार होता है, वह तो गृहस्थ स्वयं के लिये करते हैं। इसलिए इस उद्देशिक का यदि स्पष्टीकरण हो तो बहुत अच्छा होगा, ऐसा। उनका अर्थ ऐसा कि वह उद्देशिक नहीं कहलाता। मैंने कहा, बापू! प्रभु! क्या कहूँ? अरे! वीतराग का विरह पड़ा, तीन लोक के नाथ के संयोग में से, वहाँ से वियोग में आ गये। आहाहा! उसमें अभी वीतराग का संयोग नहीं है, उसमें उद्देशिक आहार वह उद्देशिक नहीं, प्रभु! ऐसा नहीं कहा जाता,

नहीं कहा जाता। भाई! उनके लिये बने हुए बनाये हुए चौका बनावे, क्षुल्लक ले, वह तो व्यवहार से क्षुल्लक नहीं है। यह तो बापू! मैं तो व्यवहारनय से द्रव्यलिंगी क्षुल्लक भी किसी को मानता नहीं। सुना, सुनते थे। मध्यस्थता से मैं कहता था, कोई अनादर के लिये नहीं। बापू! वस्तु ऐसी है, भाई! परमात्मा का फरमान है और वस्तुस्थिति ऐसी है, भाई! कोई व्यक्तिगत के लिये नहीं है। उन्हें ऐसा कि ये लोग बनाते हैं और ले, उसमें उसे क्या दोष है? ऐसा। परन्तु लोग बनाते हैं और लेते हैं, यह उसका अनुमोदन है। समझ में आया? उनके लिये बनाया हुआ आहार आवे, उन्हें खबर है कि यह मेरे लिये बनाते हैं। इसे ले तो वह पाप को अनुमोदता है। भले करता नहीं, कराता नहीं, परन्तु लेता है, वह अनुमोदता है। नव कोटि में उसकी अनुमोदन कोटि टूट जाती है। व्यवहार की नवकोटि भी नहीं रहती, निश्चय तो कहाँ है? आहाहा! समझ में आया?

यह प्रश्न तो हमारे सम्प्रदाय में १९६९ के वर्ष में चला था, संवत् १९६९। छयासठ वर्ष पहले यह प्रश्न (चला था)। क्योंकि मैं तो दुकान छोड़कर सम्प्रदाय में दीक्षा लेनेवाला था, उसमें और एक साधु मिले। तीन महीने 'पालियाद' रहा, फिर भाई की आज्ञा लेने 'पालेज' जा रहा था। वहाँ बीच में 'बोटाद' (आता है), उसमें एक गुलाबचन्द गाँधी साधु थे, राजकोट के। अकेले रहते थे। उन्होंने ऐसा कहा कि साधु के लिये उपाश्रय बनाया हो और उपाश्रय का प्रयोग करे वह साधु नहीं है। अरे! यह क्या कहते हैं? हमने तो कभी सुना नहीं। हमारे हीराजी महाराज स्थानकवासी गुरु थे, वे उपाश्रय प्रयोग करते (और) ये क्या कहते हैं? साधु के लिये मकान बनाया हो और यदि प्रयोग करे तो वह साधु नहीं है। क्यों? उसे प्रयोग से अनुमोदन होता है और दशवैकालिक में पाप है।

बाद में यह प्रश्न मैंने मेरे गुरु से किया कि भाई! यह मकान उनके लिये बनाते हैं और वह प्रयोग करे तो उन्हें दोष क्या? तो उन्होंने कहा कि, तुम्हारे भाई ने तुम्हारे लिये मकान बनाया और तुम प्रयोग करो, उसमें क्या? ऐसे बेचारे सरल-भद्रिक थे। मुझे तब भी खबर थी कि जो मकान जिसके लिये बनावे या आहार बनावे और ले तो वह अनुमोदन है। अनुमोदन की कोटि टूट जाती है। करना, कराना और अनुमोदन की (कोटि) एक टूटने पर नौ टूट जाती है। यह तो १९६९ के वर्ष, दीक्षा लेने से पहले की बात है। १९७० में दीक्षा ढूंढिया में दीक्षा ली थी। वह तो दीक्षा कहाँ थी?

इस १९६९ में यह प्रश्न हुआ था। १९६९ समझे ? ६९। चातुर्मास में राणपुर प्रश्न किया, राणपुर। हमारे सम्प्रदाय के गुरु थे। मैंने कहा यह जिसके लिये मकान बनावे और वह प्रयोग करे तो महाराज! कौन सी कोटि टूटती है ? १९६९ के वर्ष, यह साठ वर्ष पहले की बात है। अब इसे अभी की कुछ खबर नहीं। इसके लिये बनाया हुआ आहार और चौका ले और आहार, पानी, आधे मण पानी, एक पानी की बूँद में असंख्य जीव। ऐसे दस-दस सेर, पन्द्रह सेर पानी बनावे (प्रासुक करे) ले और उनके लिये ले। ऐई! कान्तिभाई! एक सेठिया है न। इनने किया है न सब। यह तो वस्तु की स्थिति जानने के लिये। आहाहा!

उनके लिये बनाया है, वे लेते हैं, यही महापाप है। लेनेवाले को भी पाप है और देनेवाले को भी पाप है। क्योंकि साधु मानकर देते हैं तो उसे मिथ्यात्व है और वह साधु हूँ ऐसा मानकर लेता है तो उसे भी मिथ्यात्व है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। वह यहाँ कहते हैं। मिथ्यात्व की प्रधानता में अस्ति में ही बन्ध कहा है। जिसकी श्रद्धा आदि विपरीत है। आहाहा! जिसकी श्रद्धा का ठिकाना नहीं, उसकी प्रधानता से उसे ही बन्ध का कारण कहा है।

सिद्धान्त में गुणस्थानों की परिपाटी में चारित्रमोह के उदयनिमित्त से सम्यग्दृष्टि के जो बन्ध कहा है,... है न ? सम्यग्दृष्टि को इसमें इनकार करके, अब कहते हैं कि बन्ध कहा है न ? **वह भी निर्जरारूप ही...** है। आहाहा! अपेक्षा से गिना है न उसे ? दृष्टि का जोर है न ? यह तो शास्त्र में ऐसा भी आया है न, ज्ञानी को भोग निर्जरा का हेतु, निर्जरा अधिकार आ गया है। समकिती भोग भोगता है, वह निर्जरा का हेतु है। वह भोग निर्जरा का हेतु होगा ? भोग तो पाप है। वह तो उसे भोग का आदर नहीं और दृष्टि का जोर है, इस अपेक्षा से कहा है। परन्तु ऐसा ही मान ले कि भोग है, वह निर्जरा का हेतु है, तो फिर भोग छोड़कर चारित्र ग्रहण करना तो रहता नहीं। ऐसा नहीं है। यह तो दृष्टि के जोर में स्वभाव का आदर है और इसलिए उसे राग का आदर नहीं और इसलिए उसे थोड़ा रस और स्थिति पड़ते हैं, उन्हें गौण करके निर्जरा कही गयी है। आहाहा! इसमें खींचतान कर डाले कि भोग में निर्जरा ही है। ऐसा नहीं है। तथा भोग में निर्जरा कही है न सिद्धान्त में ? वह तो किस अपेक्षा से ? भाई! मिथ्यात्व से जो बन्ध पड़ता था, उतना बन्ध उसे नहीं है।

इसलिये उस बन्ध को गौण करके स्थिति, रस थोड़ा पड़े, उसे गौण करके बन्ध नहीं, ऐसा कहने में आया है। आहाहा! अरे! भाई! बन्ध तो दसवें गुणस्थान तक पड़ता है। समकित हुआ, इसलिए हो गया, बन्ध नहीं पड़े? किस अपेक्षा से कहा है? मिथ्यात्व सम्बन्धी का जो बन्ध है, वह बन्ध नहीं है और मुख्यरूप से उसे बन्ध गिनने में आया है, इस अपेक्षा से बन्ध नहीं-ऐसा कहा। परन्तु समकित होकर ऐसा ही मान ले कि हमारे तो अब कोई बन्ध है ही नहीं। वह स्वच्छन्दी है। आहाहा! यहाँ तो भाई! जो बात सत्य होगी, वैसी रहेगी। यहाँ कहीं किसी का पक्ष नहीं है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि **सिद्धान्त में...** है? **बन्ध कहा है, वह भी निर्जरारूप ही...** है। आ गया। चारित्रमोह हुआ न? **(-निर्जरा के समान ही) समझना चाहिए क्योंकि सम्यग्दृष्टि के जैसे पूर्व में मिथ्यात्व के उदय के समय बँधा हुआ कर्म खिर जाता है...** आहाहा! क्या कहते हैं? सम्यग्दर्शन में आत्मा के अनुभव में आनन्द की दशा वर्तती है। उसे पूर्व का कर्म है, वह खिर जाता है। **उसी प्रकार नवीन बँधा हुआ कर्म भी खिर जाता है;...** आहाहा! यह सम्यग्दर्शन के जोर की अपेक्षा से बात की। मिथ्यात्व की प्रधानता से बन्ध होता है, उसका निषेध किया। बाकी बिल्कुल बन्ध ही नहीं है, ऐसा नहीं है। आहाहा! समकिती को अव्रत के भाव हैं, प्रमाद का भाव है, कषाय का भाव है, वह सब बन्ध का कारण है। आहाहा! मुनि को भी अभी राग, प्रमाद, पंच महाव्रत के परिणाम हैं, वे बन्ध के कारण हैं। आहाहा! अरेरे! ऐसी बातें। वीतराग मार्ग बहुत अलौकिक है, बापू! और बनिये को व्यापार-धन्धे के कारण सत्य क्या है, इसका निर्णय करने की फुरसत नहीं मिलती। यह उलहाना दिया जाता है। निवृत्ति से सत्य क्या है और असत्य क्या मानते हैं? अरे! प्रभु! इसे निर्णय करने का अवसर भी नहीं, भाई! ऐसा मनुष्यपना मिला। वीतराग की वाणी कान में पड़ी। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि को आत्मा का ज्ञान और भान, अनुभव है; इसलिए उसे मिथ्यात्व नहीं है। इसलिए उसे पूर्व के कर्म का उदय है, वह खिर जाता है। हुआ? और वर्तमान में जो रागादि होते हैं, नया बन्धन, वह भी खिर जानेवाला है, इसलिए खिर जाता है—ऐसा कहा। क्या कहा, समझ में आया? कि आत्मा पूर्णानन्द के नाथ का जिसे

अन्तर की भेंट अनुभव में सम्यग्दर्शन में हुई; सम्यक्—सत्य दर्शन पूर्णानन्द के नाथ का दर्शन हुआ, उसका अनुभव हुआ, उसे आनन्द का स्वाद आया। आहाहा! ऐसे सम्यग्दृष्टि को पूर्व के कर्म का उदय है, वह खिर जाता है। उसे आदर नहीं है। तब कहे, राग है उसका बँधता है न थोड़ा? (तो कहते हैं), वह भी खिर जाता है। खिर जायेगा, (उसको) खिर जाता है, ऐसा कहा। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! वीतराग तीन लोक के नाथ परमात्मा का मार्ग कोई अलौकिक है। आहाहा! अभी तो लोगों ने बाहर में सब मनवा लिया है। आहाहा!

क्यों खिर जाता है? **उसके उस कर्म के स्वामित्व का अभाव होने से...** है न? पूर्व के कर्म का स्वामी नहीं और वर्तमान राग का भी स्वामी नहीं। आहाहा! यह मिथ्यात्व की अपेक्षा से, हों! **वह आगामी बन्धरूप नहीं किन्तु निर्जरारूप ही है।** निर्जरारूप **'ही'** है। आहाहा! **जैसे–...** आहाहा! अब मुनिव्रत धारे, पंच महाव्रत ले, निरतिचार पालन करे तो भी उसे दुःख की दशा है, उसको धर्म मानता है। इसलिए वह मिथ्यादृष्टि है, उसको मिथ्यात्व का कठोर बन्ध पड़ता है और समकिती को किंचित् राग होता है, उसका थोड़ा बन्ध पड़ता है, वह बन्ध भी खिर जायेगा, ऐसा यहाँ कहने में आता है। समझ में आया? अरे! लोगों को ऐसी बातें कठोर लगती हैं, क्या हो?

भाई! तेरा सत्य क्या है, उसे शोधने जा तो तुझे मिलेगा। आहाहा! प्रभु को शोध, उसके पगले-डगले वहाँ जा। आहाहा! वहाँ आगे भगवान पूर्णानन्द का नाथ विराजता है। अन्तर आत्मा को अनुभव-दृष्टि में ले, अनुभव कर। इस अपेक्षा से उसे पूर्व का कर्म निर्जरित हो जाता है, नया बँधे, वह भी निर्जरित हो जायेगा, इसलिए निर्जरित हो जाता है, ऐसा कहा। क्योंकि उसका स्वामी नहीं है। जहाँ स्वस्वरूप का स्वामी हुआ... आहाहा! स्वस्वामीसम्बन्ध नाम का आत्मा में एक गुण है। अनन्त गुण हैं, उसमें का एक गुण है। स्वस्वामीसम्बन्ध तो स्व अर्थात् आत्मा आनन्दमूर्ति भगवान, वह स्व, उसका गुण स्व, द्रव्य स्व और निर्मल पर्याय हुई वह स्व, उसका वह स्वामी है। रागादि आवे, उसका स्वामी वह धर्मी नहीं है। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बातें कठिन पड़ती है, क्या हो? भाई! अरे रे! अनन्त काल से भटकता है।

जैसे–कोई पुरुष... दृष्टान्त देते हैं। **दूसरे का द्रव्य उधार लाया हो तो उसमें**

उसे ममत्वबुद्धि नहीं होती,... आहाहा! यह पुत्र का विवाह हो और बड़े गृहस्थ के (पास से) पाँच-दस हजार का गहना ले आवे, शोभायात्रा चढ़े न, तो डालने के लिये (ले आवे) परन्तु वो मानता है कि यह मेरा है? है? साधारण हो, उसके पास कुछ दो-पाँच हजार का गहना हो परन्तु अधिक होवे तो फिर किशोरभाई को कहे कि एक दस हजार का गहना देना। लाकर बारात पर डाले। उसे अपना मानेगा? कान्तिभाई! आहाहा! **कोई पुरुष दूसरे का द्रव्य उधार लाया हो तो उसमें उसे ममत्वबुद्धि नहीं होती, वर्तमान में उस द्रव्य से कुछ कार्य कर लेना हो तो वह करके...** दो-तीन दिन लड़के को बारात की सवारी पर चढ़ावे, गहना पहनावे, अच्छे वस्त्र कोई बढ़िया कोट हो, मलमल का कोई ऊँचा सेठिया के यहाँ से ले आवे परन्तु उसे कहीं मेरा माने, ऐसा मेरा मानता है? मेरे लड़के ने पहना, इसलिए मेरा है (—ऐसा मानता है)? आहाहा!

वह करके पूर्व निश्चयानुसार... देखा? **वह करके पूर्व निश्चयानुसार...** सेठिया को कहे, भाई! यह हम दो दिन, तीन दिन रखेंगे। तुम्हारे गहने और यह कपड़े तीन दिन रखेंगे फिर तुमको दे देंगे। **निश्चयानुसार नियत समय पर...** नियत अर्थात् निश्चित समय में जो समय निश्चित किया हो कि तीन दिन के बाद यह तुम्हें दे दूँगा। वह **उसके मालिक को दे देता है; नियत समय के आने तक वह द्रव्य उसके घर में पड़ा रहे तो भी उसके प्रति ममत्व...** मेरा है, ऐसा नहीं है। आहाहा! दृष्टान्त दिया है न? ऐसा बनता है न अभी? सेठियों के पास से ले आवे। आहाहा! **घर में पड़ा रहे तो भी उसके प्रति ममत्व न होने से उस पुरुष को उस द्रव्य का बन्धन नहीं है,...** आहाहा! **स्वामी को दे देने के बराबर ही है;...** वह स्वामी नहीं, पर का ही है, दे देने के समान है। आहाहा!

इसी प्रकार-ज्ञानी... सम्यग्दृष्टि जीव। आहाहा! अरे! सम्यग्दर्शन क्या चीज़ है, बापू! यह लोगों को खबर नहीं है। बाहर में मान बैठे, देव-गुरु-शास्त्र को हम मानते हैं, अब व्रत ले ले। सब मिथ्या भ्रम है। आहाहा! ओहोहो! पूर्णानन्द के नाथ का जहाँ अन्दर स्वीकार हो, उसका स्वीकार होकर, सत्कार होकर अनुभव हो, ऐसी दृष्टि को यहाँ सम्यग्दृष्टि कहते हैं। आहाहा! गुजराती भाषा थोड़ी-थोड़ी समझ में आती है? आहाहा! **ज्ञानी कर्मद्रव्य को पराया मानता है...** क्या कहते हैं, देखा? धर्मी जीव तो (ऐसा

जानता है कि) कर्म जड़ है, अजीव है, वह तो परद्रव्य है। परद्रव्य मेरी चीज़ नहीं है। आहाहा! अजीव है, उसे अपना माने? कर्म तो अजीव है, जड़ है, मिट्टी है, धूल है, पुद्गल है। आहाहा! उस अजीव तत्त्व को, जीवतत्त्व जाना हुआ अपना माने? आहाहा!

ज्ञानी कर्मद्रव्य को पराया मानता है, इसलिए उसे उसके प्रति ममत्व नहीं होता, अतः उसके रहते हुए भी... यह कर्म होने पर भी **वह निर्जरित हुए के समान ही है,...** आहाहा! वह (गहने आदि) घर में रखा है तो भी दे दिये के समान है। आहाहा! देखो! यह सम्यग्दर्शन की महिमा। आहाहा! चौथे गुणस्थान का सम्यग्दर्शन ऐसा होता है। लोग मानते हैं कि अपने देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा और नव तत्त्व की व्यवहार श्रद्धा। वह सब मिथ्यात्व है। नव तत्त्व का अनुभव, वह मिथ्यात्व है। भेद है न? भेद। आहाहा! कलशटीका में कलश है। नव के भेद की श्रद्धावाला है, वह मिथ्यादृष्टि है। अभेद भगवान अखण्डानन्द प्रभु, आहाहा! पूर्णानन्द के नाथ के स्वभाव का स्वीकार करके और जो पर्याय में अनुभव हो, उसमें स्वाद का अंश आवे, उसमें प्रतीति हो कि यह तो पूर्णानन्द का नाथ है, इस स्वाद का अंश यह पूर्ण आनन्द से भरपूर है। आहाहा! समझ में आया? ऐसा है। **ममत्व नहीं होता, अतः उसके रहते हुए भी वह निर्जरित हुए के समान ही है, ऐसा जानना चाहिए।** लो।

यह निःशंकितादि आठ गुण व्यवहारनय से व्यवहारमोक्षमार्ग में इस प्रकार लगाने चाहिएः- यह तो निश्चय से जो सत्य है, वे कहे। अब उस समकिती को भी व्यवहार आठ आते हैं। व्यवहार निःशंक आदि आठ विकल्प आते हैं। है पुण्य बन्ध का कारण। व्यवहार समकित के आठ आचार, वह पुण्यबन्ध का कारण और निश्चय समकित के आचार, वे निर्जरा का कारण। आहाहा! अरे रे! **जिनवचनों में सन्देह नहीं करना,...** यह अब व्यवहार उतारते हैं। वीतराग के वचन में सन्देह नहीं करना, यह व्यवहार, विकल्प, राग है। यह व्यवहार समकित का आचरण आठ आचार वे बन्ध का कारण है। आहाहा! परन्तु निश्चयवाले को व्यवहार होता है, हों! जिसे निश्चय नहीं है, उसे व्यवहार होता ही नहीं। आहाहा! जिसे आत्मा का निःशंकपना (आदि) निश्चय से आठ (गुण) प्रगट हुए हैं, उसे ऐसा व्यवहार होता है। वह व्यवहार भी उसे बन्ध का कारण है। आहाहा! अज्ञानी मिथ्यादृष्टि को तो व्यवहार भी नहीं होता। आहाहा! क्योंकि जहाँ निश्चय प्रगट नहीं

हुआ, सम्यग्दर्शन, अनुभव क्या है, उसकी खबर भी नहीं, उसे तो व्यवहार होता नहीं। व्यवहाराभास रूप से भटकता है। आहाहा! **जिनवचनों में सन्देह नहीं करना, भय के आने पर व्यवहार दर्शन-ज्ञान-चारित्र से नहीं डिगना,...** यह व्यवहार, हों! **सो निःशंकितत्व है।** इसका नाम निःशंकितपना है।

संसार-देह-भोग की वांछा से तथा परमत की वांछा से व्यवहारमोक्षमार्ग से चलायमान न होना... संसार, देह और भोग की वांछा से और परमत की वाँछा— अन्यमतियों की वाँछा से व्यवहारमोक्षमार्ग से डिगना नहीं **सो निःकांक्षितत्व है।** यह शुभविकल्प है, यह शुभविकल्प है। इस समकिती को ऐसा शुभविकल्प होवे, उसे व्यवहार कहा जाता है। अज्ञानी को तो व्यवहार भी नहीं है। आहाहा! ऐसी कठिन बातें हैं।

अपवित्र, दुर्गन्धित आदि वस्तुओं के निमित्त से व्यवहारमोक्षमार्ग की प्रवृत्ति के प्रति ग्लानि न करना सो निर्विचिकित्सा है। शुभभाव। **देव, गुरु, शास्त्र, लौकिक प्रवृत्ति, अन्यमतादि के तत्त्वार्थ के स्वरूप-इत्यादि में मूढ़ता न रखना,...** देव में मूढ़ता, गुरु में मूढ़ता, शास्त्र में मूढ़ता, लोक की प्रवृत्ति में मूढ़ता। यह व्यवहार मूढ़ता है, वह विकल्प है। वह विकल्प राग है। निश्चय अमूढ़ता वह जीव के अरागी परिणाम हैं। सम्यग्दर्शन, वह अरागी परिणाम हैं तो उसके निःशंक आदि, वे भी निश्चय अरागी परिणाम हैं और यह व्यवहार है, वह तो राग के परिणाम हैं। निश्चय हो, उसे ऐसा व्यवहार आता है, होता है। आहाहा!

धर्मात्मा में कर्मोदय से दोष आ जाये... धर्मात्मा है, कोई कर्म का कठोर दोष आ जाये **तो उसे गौण करना...** उसे बाहर प्रसिद्ध नहीं करना। सम्यग्दृष्टि है, धर्मात्मा है, उसे किसी समय ऐसा रागादि आ गया। समझ में आया? आहाहा! तो धर्मी जीव को व्यवहार से उसे गौण करना **और व्यवहारमोक्षमार्ग की प्रवृत्ति को बढ़ाना...** अपना शुभराग। **सो उपगूहन अथवा उपबृंहण है।** यह पाँच कहे। विशेष कहेंगे.....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३११, गाथा- २३६, श्लोक-१६२ शनिवार, भाद्र कृष्ण १०
दिनाङ्क १५-०९-१९७९

समयसार, निश्चय सम्यग्दर्शन के आठ अंग कहे। यह स्वरूप के आश्रय से यहाँ बात है और यह है वह पर की अपेक्षा की बात है। पराश्रित व्यवहार। आहाहा! **यह नि:शंकितादि आठ गुण व्यवहारनय से व्यवहारमोक्षमार्ग में...** व्यवहारमोक्षमार्ग अर्थात् दया, दान, व्रत परिणाम को व्यवहारमोक्षमार्ग कहना, है राग; मोक्षमार्ग नहीं। मोक्षमार्ग तो अन्तर में शुद्ध स्वरूप की दृष्टि, ज्ञान और रमणता (हो), वह इसका निश्चय -मोक्षमार्ग है। इस निश्चयमोक्षमार्ग के काल में पूर्ण वीतरागता नहीं है, इसलिए उसे परद्रव्य के प्रति व्यवहार से **जिनवचनों में सन्देह...** नहीं। उसमें स्वरूप में सन्देह नहीं। आहाहा! सम्यग्दर्शन अर्थात् भाई! वह तो कोई अलौकिक (चीज़ है)। आनन्दस्वरूप भगवान का अन्दर में वेदन होकर प्रतीति हो, आहाहा! ऐसे जो स्वरूप को सम्यग्दर्शन में जाना-माना, उस स्वरूप में शंका, काँक्षा नहीं, वह निश्चय है और जिनवचन में शंका नहीं, वह व्यवहार विकल्प है। आहाहा!

वीतराग तीन लोक के नाथ की जो वाणी, वह परद्रव्य है न? उसमें सन्देह नहीं करना। **भय के आने पर व्यवहार दर्शन-ज्ञान-चारित्र से नहीं डिगना,...** व्यवहार। व्यवहार दर्शन-ज्ञान-चारित्र अर्थात् शुभराग। उसे भय आने पर डिगना नहीं। आहाहा! वह नि:शंकित है। निश्चय में स्वरूप की नि:शंकता है, उसके साथ कर्म के फल की काँक्षा नहीं, स्वरूप में नि:कांक्ष है, वह पर में काँक्ष नहीं। यह निश्चय है। इस निश्चय के साथ ऐसा व्यवहार, पूर्ण (वीतरागता) न हो, वहाँ होता है। वह नि:कांक्षित है। व्यवहार दर्शन-ज्ञान-चारित्र, व्यवहार, हों! निश्चय जो स्वरूप के आश्रय से ज्ञान, दर्शन, चारित्र (प्रगट हुए) वह तो निश्चय है। आहाहा! सूक्ष्म बातें, भाई! जिसे ऐसा निश्चय है, उसे ऐसा व्यवहार अन्दर आता है, वह शुभराग है, शुभ विकल्प है। स्वाश्रय है, वह निर्विकल्प नि:शंक, नि:कांक्ष आदि है। पराश्रय है, वह राग-विकल्प है। उसे यहाँ व्यवहारमोक्षमार्ग में नि:कांक्ष कहने में (आता है)। आहाहा!

तीसरा, **अपवित्र, दुर्गन्धित आदि वस्तुओं के निमित्त से व्यवहारमोक्षमार्ग**

की प्रवृत्ति के प्रति ग्लानि न करना... उसमें (निश्चय में) स्वरूप के प्रति ग्लानि नहीं करना। अपना स्वभाव आनन्दस्वरूप है, उसमें ग्लानि नहीं करना। ऐसे निश्चय में ऐसा व्यवहार होता है। आहाहा! शरीर, संसार, देह भोग की वाँछा अर्थात् परद्रव्य आये न? उससे परमत की वाँछा, उसके अतिरिक्त परमत की वाँछा, व्यवहार। **व्यवहारमोक्षमार्ग से चलायमान न होना, सो निःकांक्षितत्व है।** आहाहा! अकेला व्यवहार निःकांक्षितपना नहीं हो सकता। जिसे आत्मा के स्वरूप की अन्तर दृष्टि और अनुभव हुआ है। आहाहा! वह पर के, कर्म के फल को नहीं चाहता, ऐसे निश्चय के साथ व्यवहार में देह / शरीर, भोग सम्बन्धी वाँछा उसे नहीं है। आहाहा! शैली है, अलौकिक बातें हैं, भाई! आहाहा! प्रभु! तेरे हित का पंथ कोई अलौकिक है। आहाहा! तेरे स्वरूप की अन्तर दृष्टि, अनुभव होना और अन्तर... आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद में आना, उसे स्व में शंका नहीं होती, वह निःशंक निश्चय है और पर आदि में शंका न हो, वह व्यवहार (है)। जिनवचन में शंका न हो, वह व्यवहार। जिनवचन में शंका न हो, इसलिए वह निश्चय समकित है- ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

स्वरूप भगवान पूर्णानन्द प्रभु में जिसे काँक्षा ही नहीं, उसे छोड़कर पर की इच्छा ही नहीं। स्वरूप को छोड़कर पर की इच्छा नहीं और यहाँ तो देह / शरीर और भोग की इच्छा नहीं। आहाहा! अथवा परमत (की वांछा से) **व्यवहारमोक्षमार्ग से चलायमान न होना...** वह निःकांक्षित है। आहाहा! अकेला यह व्यवहार से निःकांक्षपना (हो), उसे व्यवहार नहीं कहते। समझ में आया?

तीसरा। तीसरा यह है कि स्वरूप के प्रति ग्लानि न करे। अपना स्वरूप आनन्द का नाथ प्रभु, उसके प्रति द्वेष न करे। आहाहा! यह तो वस्तु आनन्दकन्द प्रभु, आहाहा! उसके प्रति निर्विचिकित्सा, वह तो निश्चय है। व्यवहार... आहाहा! **अपवित्र, दुर्गन्धित आदि वस्तुओं के...** पर। यह पर है और वह (निज स्वरूप) स्व है। आहाहा! पंडितजी ने भी कितना स्पष्ट किया है, देखो! हेमराजजी पण्डित है न? हैं? जयचन्द्रजी... जयचन्द्रजी। हेमराजजी ने तो उस प्रवचनसार (का स्पष्टीकरण किया है)।

जिसे आत्मा के स्वरूप में पूर्णानन्द का नाथ ऐसा कैसे होगा? ऐसी ग्लानि ही जिसे

नहीं। अर्थात् कि अरुचि भाव नहीं। आहाहा! स्वरूप अरुचि, वह ग्लानि है। यहाँ तो कहते हैं, पर वस्तु की जुगुप्सा, निन्दा, ग्लानि नहीं करना, वह निर्विचिकित्सा तीसरा गुण है। है यह शुभभाव। पहले जो आठ निश्चय है, वह शुद्धभाव है। आहाहा! वह समकित के अवयव हैं। क्या कहा यह? प्रभु! पहला (गुण) जो सम्यग्दर्शन है, स्वरूप की अनुभवदृष्टि हुई, आनन्द का स्वाद आया, वह समकित निश्चय है, उस समकित के निःशंक आदि आठ अवयव हैं। समकित, वह अवयवी है, है तो पर्याय, आहाहा! सम्यग्दर्शन है तो निर्मल वीतरागी पर्याय परन्तु उसके जो आठ गुण हैं, वे उसके अवयव हैं, भाग हैं। अवयवी सम्यक् है, उसके भाग हैं, वह सब वीतरागी पर्याय है। आहाहा! और जो यह व्यवहार है, वह परद्रव्य आश्रय है, उसमें यह विकल्प (है, वह) शुभराग है। आहाहा! समझ में आया?

चौथा। **देव, गुरु, शास्त्र,...** देखा? उसमें स्वरूप में मूढ़ता नहीं। अपना स्वरूप जो शुद्ध चैतन्यमूर्ति का अनुभव हुआ, उसमें उसे—धर्मी को मूढ़ता नहीं है, यह निश्चय है। अब यहाँ व्यवहार मूढ़ता नहीं, अर्थात् **देव, गुरु, शास्त्र,...** यह पर है न? आहाहा! देव, गुरु और शास्त्र में मूढ़ता नहीं। यह एक शुभभाव है। आहाहा! परद्रव्य के प्रति मूढ़ता नहीं। देव में, गुरु में और शास्त्र में मूढ़ता नहीं, वह कहीं धर्म नहीं। स्वरूप में मूढ़ता नहीं, वह धर्म है। आहाहा! परद्रव्य में मूढ़ता नहीं, वह धर्म नहीं, वह शुभराग है। आहाहा! अरेरे! अब ऐसी बातें। यहाँ तो निश्चय स्वाश्रय और व्यवहार पराश्रय, इतना लक्ष्य में आया और यह उसका (स्पष्टीकरण है)। आहाहा!

जिसे यह निश्चय स्वाश्रय सम्यग्दर्शन और उसके आठ अवयव निश्चय हों, उसे पूर्ण वीतराग न हो, उसको ऐसा व्यवहार होता है। आहाहा! देव, गुरु और शास्त्र में मूढ़ता नहीं, यह अभी शुभभाव। आहाहा! समझ में आया? देव, गुरु और शास्त्र तो परवस्तु है। परवस्तु में मूढ़ता नहीं, यह शुभभाव है।

मुमुक्षु : भगवान मेरा भला करे, यह शुभभाव?

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान भला करे, यह तो और दृष्टि मिथ्यात्व है। भगवान भला करे। आत्मा भला करे। आहाहा!

देव सर्वज्ञ परमात्मा; गुरु निर्ग्रन्थ मुनि दिगम्बर भावलिंगी सन्त; शास्त्र सर्वज्ञ ने कहे

हुए, भगवान ने कहे हुए शास्त्र, इन तीन में मूढ़ता नहीं, यह अभी शुभराग है। निश्चय मूढ़ता नहीं, यह निश्चय शुद्ध है। व्यवहार मूढ़ता नहीं, यह शुभराग है। आहाहा! अरे! प्रभु! तेरा मार्ग कोई अलग है, भाई! आहाहा! अरेरे! सुनने को मिले नहीं, उसके भेदज्ञान के प्रकार क्या हैं? प्रभु! तेरा हित कैसे हो? आहाहा! यह तो हित के पंथ के लिये बात करते हैं। आहाहा! कहते हैं कि स्वरूप पूर्णानन्द का नाथ भगवान में मूढ़ता नहीं है, यह तो समकित का निश्चय का एक शुद्ध अवयव है। आहाहा! और देव, गुरु, शास्त्र में मूढ़ता नहीं, यह व्यवहार विकल्प है। आहाहा! नौवें ग्रैवेयक दिगम्बर साधु होकर गया उसे देव, गुरु, शास्त्र में मूढ़ता नहीं होती। उसमें उलझन नहीं, ऐसा अकेला शुभराग था। आहाहा! देव, गुरु, शास्त्र की श्रद्धा भी बराबर थी परन्तु उसे आत्मा के आश्रय की श्रद्धा नहीं थी। आहाहा!

मुमुक्षु : तो फिर देव, गुरु की श्रद्धा किस प्रकार से?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह व्यवहार से कहा और कहा है। बन्ध अधिकार में कहा है। व्यवहार, अभव्य को भी व्यवहार होता है। यह अपेक्षा से कहा है। यह अपेक्षा है। निश्चय बिना व्यवहार नहीं होता परन्तु व्यवहाराभास को भी मिथ्यादृष्टि को भी वह व्यवहार कहने में आया है। बन्ध अधिकार है न? मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान है, आहाहा! परन्तु उसे देव-गुरु की व्यवहार श्रद्धा बराबर है, इस अपेक्षा से उसे व्यवहार कहने में आया है। आहाहा! है तो वह बन्ध का कारण, परन्तु उसे व्यवहार कहने में आया है। आहाहा! यहाँ तो निश्चय सहित हो, उसे व्यवहार कहने में आया है। आहाहा! समझ में आया? यह तो समयसार है न, प्रभु! समय अर्थात् आत्मा और उसका सार। वीतरागमूर्ति प्रभु, पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्द का दल, कन्द प्रभु में जरा उलझन न होना, वह अमूढ़दृष्टि निश्चय है और देव, गुरु, शास्त्र में मूढ़ता न होना, वह व्यवहार है। आहाहा! यहाँ तो कहे, देव, गुरु, शास्त्र को बराबर माने और पहिचाने तो समकित है, यह बात मिथ्या है। आहाहा! आत्मा का अनुभव स्वभाव का आश्रय करके अनुभव करे तो समकिती है। आहाहा! देखो न! स्पष्टीकरण।

देव, गुरु और शास्त्र, जो समकित के निमित्तकारण हैं। आहाहा! उनके प्रति... पर है न वे? एक। और **लौकिक प्रवृत्ति,...** दुनिया की प्रवृत्ति ऐसी दिखायी दे, ओहो! मानों धर्म की प्रवृत्ति बहुत, इसलिए उसे उलझन आ जाए कि यह क्या? उलझे नहीं व्यवहार से।

मिथ्यादृष्टियों की धर्म की प्रवृत्ति बाहर देखकर (कि) करोड़ों रुपये खर्च करते हों, हाथी के होदे गजरथ निकालते हों परन्तु इससे लोक की प्रवृत्ति देखकर वह उलझता नहीं। उसमें शुभभाव में उलझन न आवे, ऐसा कहते हैं। शुद्ध में तो न ही आवे। आहाहा! अरे रे! यह धर्म तो समझे नहीं और यह लोग करोड़ों रुपये के गजरथ निकाले, रथयात्रा निकाले और सब पण्डित इकट्ठे हों, हो..हा, हो.. हा (करे), उस प्रवृत्ति से समकिती व्यवहार से उलझता नहीं। निश्चय से तो उलझता नहीं। स्वभाव। आहाहा! सूक्ष्म बात है, प्रभु! क्या हो?

वीतराग सर्वज्ञ का परमात्मा का विरह पड़ा। आहाहा! और पश्चात् वाणी में मार्ग रहा। वह जिसे अन्दर समझने में आया, आहाहा! उसे कहते हैं कि व्यवहार देव, गुरु, शास्त्र में... इन देव, गुरु, शास्त्र में उलझन नहीं, इसलिए वह निश्चय धर्म है – ऐसा नहीं है। समझ में आया? अपना नाथ भगवान स्वरूप आनन्द का स्वाश्रय, उसमें जो अमूढ़ दृष्टि प्रगट हुई है, वह निश्चय है, वह निर्जरा का कारण है। वह निर्जरा का कारण है। आहाहा! और देव, गुरु, शास्त्र में उलझन नहीं, उस समकिती को, हों! वह पुण्यबन्ध का कारण है। अरे! ऐसी बातें हैं।

मुमुक्षु : परम्परा मोक्ष का कारण है।

पूज्य गुरुदेवश्री : परम्परा, वह तो इसका अभाव करेगा, इस अपेक्षा से (कहा है)। आहाहा! बन्ध भाव, वह कहीं परम्परा मोक्ष का कारण होगा? परन्तु अभी निश्चय में आया है और अशुभ के उससे छूटा है, पश्चात् शुभ से छूटेगा, इससे उसे परम्परा कारण का आरोप दिया है। आहाहा! ऐसा स्वरूप है, भाई! आहाहा!

यहाँ तो प्रश्न मस्तिष्क में ऐसा उठा कि देव, गुरु और शास्त्र में उलझन नहीं, वह व्यवहारमार्ग है। आहाहा! वह एक विकल्प है, वह धर्म नहीं। व्यवहार विकल्प को, व्यवहार पुण्य को व्यवहार धर्म कहने में आता है। व्यवहार धर्म अर्थात् पुण्य, ऐसा। अर्थात् कि बन्ध का कारण। आहाहा! परन्तु जिसे आत्मा के ज्ञान का अनुभव हो, जिसे ज्ञायक का स्वाद आया है, आहाहा! उस स्वाद के अंश से पूरा आत्मा आनन्दमय है, ऐसी जिसे अन्तर में अनुभव में प्रतीति आयी है, उसकी दशा को अमूढ़ दशा कहते हैं। वह उलझता नहीं इसमें कि यह दुनिया क्या है? प्रभु! पूर्णानन्द का नाथ ही है। आहाहा!

मुमुक्षु : कोर्ट में जाए तो उलझ जाए।

पूज्य गुरुदेवश्री : कोर्ट में जाए तो भी उलझे नहीं, कहा नहीं था? तब यह (संवत्) १९६३ का वर्ष है, सत्रह वर्ष की उम्र थी। सत्रह वर्ष की। बड़ा कोर्ट, वड़ोदरा। तब तीन हजार का मासिक वेतन! क्या कहते हैं? भाई! प्रेसिडेन्ट, क्या कहते हैं? प्रेसिडेन्ट। तब, हों! १९६३ के वर्ष में तीन हजार मासिक का वेतन। बड़ा कोर्ट है वडोदरा के बाहर। हमारे ऊपर अफीम का झूठा केस आया था। दुकान पर पुलिस (ईनाम) लेने आया, पिताजी ने कहा कि तू भाई! आठ आने ले ले। वह कहे कि नहीं, रुपया लूँगा। उसमें विवाद हुआ। आहाहा! उसमें कोर्ट में सात सौ का खर्च हुआ। तब तो मेरी उम्र छोटी थी, सत्रह वर्ष और पुलिस ने मेरा नाम डाला था कि यह अफीम की पोटली लेकर आया था और लड़के ने ऐसा किया और वैसा किया, ऐसा कुछ कहा। १९६३ की बात है। झूठी, एकदम झूठी (बात)। तीन घण्टे कोर्ट में केस चला। वड़ोदरा के बाहर बड़ा कोर्ट है। उस दिन तीन हजार का वेतन। उस दिन अर्थात् अभी तीस गुना (अर्थात्) लाख का (वेतन) हुआ। तीन घण्टे (दलील चली) और सत्रह वर्ष की उम्र। मेरे भाई के साथ में गांडाभाई। यह मनहर नहीं आया था। करोड़पति है, उसका पिता का पिता हमारे साथ में था, केस में था। पाँच को पकड़ा था। तीन घण्टे, भाई हों! बाहर निकलकर भाई ने पूछा, भाई! कैसे हुआ कानु? कहा, कुछ नहीं हुआ। क्या होगा? जो सत्य था (वह कहा)।

मुमुक्षु : आप तो अपवाद हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो सत्य है, बिल्कुल काँपे बिना (कहा)। सत्रह वर्ष की उम्र। उसका भूरा का एक कारनून था, बहुत मध्यस्थ। ऐसे देखकर (कहा), कौन है यह बनिया? यह अफीम का गुनहगार? बिल्कुल इसके मुख में दिखता नहीं, ऐसा कहा। १९६३ के वर्ष की बात है। तुम्हारे जन्म के पहले की। ७२ वर्ष (हुए)। उन्होंने लकड़ी के उसमें (कठघरे में) खड़ा नहीं रखे। पिंजड़े में (खड़ा) रखते हैं न? नहीं, खुले में खड़ा रहने दो। बनिया है, इसका चेहरा तो देखो! अफीम का गुनहगार यह बनिया? कहाँ दिखता है? बात सत्य। झूठा-झूठा केस था। तीन घण्टे मुझे कोर्ट में पूछा कि इसका कैसे है? मैंने तीन घण्टे जवाब बराबर दिया। अपने को कुछ भय-डर कुछ करते कुछ नहीं, बड़ा तीन

हजार का वेतनदार हो और भाई, वह होता है न ऊपर? बड़ा पंखा। वह पंखा नहीं होता। बड़ा कोर्ट। महीने का तीन हजार का वेतन, १९६३ का वर्ष अर्थात्? यहाँ हमारे कुछ नहीं। तीन घण्टे कोर्ट में (थे)। उन लोगों को ऐसा लगा कि यह बात—केस एकदम झूठा है।

मुमुक्षु : यह बात सत्य है परन्तु आपका दृष्टान्त सबको लागू नहीं पड़ता।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु यह तो हुआ उसकी बात है। केस बिल्कुल झूठा है। बड़ा तीन हजार का वेतनदार और कारकून। जहाँ केस हुआ, वहाँ हम कोर्ट लाते हैं। पालेज में कोर्ट लाये, वहाँ से-वड़ोदरा से पालेज। जिस जगह कुर्सी डाली और प्रेसिडेन्ट बैठा, कारकून बैठा। पूछने लगा सबको, पुलिस को और सबको। केस बिल्कुल झूठा, शून्य है ऐसा लगा। ऐई! और यहाँ तक उन लोगों ने कहा कि इस पुलिस ने गुनाह करके तुमको पकड़ा और तुम्हें खर्च हुआ हो, वह इसके पास से लो। ऐसी झूठी बात क्यों की? अब कहा रहने दो न भाई! हमारे पिताजी को सबने (कहा) और कुदरत ही कोई ऐसा हुआ कि किसी मनुष्य ने उसे मार डाला। यहाँ से तो बिल्कुल कहा बेचारा गरीब व्यक्ति है, उसने ऐसा किया, सात सौ रुपये का यहाँ हमारे घाटा नहीं। १९६३ की बात है। सत्य को क्या है?

यह सत्य ही वस्तु ऐसी है। आहाहा! पूर्णानन्द का नाथ भगवान, जहाँ प्रतीति में, अनुभव में आया, कहते हैं, उसे मूढ़ता कैसी अन्दर स्वरूप के लिये? कि ऐसा स्वरूप इतना बड़ा होगा या नहीं? एक समय में तीन काल-तीन लोक को जाने, ऐसी शक्ति अन्दर में पड़ी है, ऐसा यह आत्मा। अनन्त-अनन्त आनन्द पड़ा है, अनन्त अनन्त वीर्य पड़ा है, अनन्त-अनन्त शान्ति पड़ी है। शान्त... शान्त... ऐसा आत्मा होगा? इस प्रकार स्वरूप के प्रति उसे मूढ़ता नहीं होती। उसे व्यवहार के प्रति, देव-गुरु-शास्त्र के प्रति मूढ़ता नहीं होती। विकल्प है। आहाहा! क्या वीतराग का मार्ग! आहाहा! देव, गुरु और शास्त्र ये तीन (और) बाहर की **लौकिक प्रवृत्ति,...** उसमें उलझता नहीं। अज्ञानियों के बड़े ठाठ-बाट देखे, गजरथ हो न, है मिथ्यादृष्टि। और सब साधु इकट्ठे होकर... ओहोहो! उससे उलझता नहीं। यह तो पुण्य का उदय हो तो ऐसा होता है। आहाहा! दो।

अन्यमतादि के तत्त्वार्थ के स्वरूप... अन्यमति आदि जो अज्ञानी के कथन, वेदान्त के, ईश्वर कर्ता आदि के मत के। **इत्यादि में मूढ़ता न रखना,...** यह व्यवहार,

हों! आहाहा! यह मूढ़ता नहीं रखी, इसलिए धर्म है - ऐसा नहीं है। आहाहा! अरे! प्रभु! मार्ग बहुत अलग, भाई! आहाहा! स्वरूप में मूढ़ता नहीं। इतना भगवान महा परमात्मा असंख्य प्रदेशी, इस शरीर प्रमाण और अनन्त-अनन्त गुण का पुंज, इसकी संख्या का पार नहीं और जो अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त ज्ञान, दर्शन की शक्ति का सागर, ज्ञानी को उसमें मूढ़ता नहीं आती। निःशंक है, वस्तु ही ऐसी है। आहाहा! उस जीव को व्यवहार में देव, गुरु, शास्त्र की लोकप्रवृत्ति की अन्यमति की वाँछा नहीं, मूढ़ता नहीं, वह व्यवहार मोक्षमार्ग है, वह विकल्प है। वह निश्चय मूढ़ता वह निर्जरा का कारण शुद्ध है। यह व्यवहार विकल्प वह बन्ध का कारण है। आहाहा! ऐसा मार्ग है। **यथार्थ जानकर प्रवृत्ति करना...** देव, गुरु, शास्त्र को यथार्थ जानकर (प्रवर्तना)। यथार्थ जानकर (वैसे प्रवर्तना), **सो अमूढ़दृष्टि है।** देखा? यह भी व्यवहार हुआ। आहाहा!

पाँचवाँ। **धर्मात्मा में कर्मोदय से दोष आ जाये तो उसे गौण करना...** कोई धर्मी है, समकिती है, मुनि है, सच्चे सन्त हैं, उन्हें कोई रागादि या ऐसा दोष आ गया तो समकिती उनके दोष को गौण करे। उसे मुख्य करके बाहर प्रसिद्ध न करे। वह शुभभाव है। आहाहा! समझ में आया? अपने गुण की शक्ति की वृद्धि करे और विकार को गौण करके उसे गोपन कर ले, यह निश्चय... क्या कहा यह? उपबृंहण। यह निश्चय उपबृंहण है। आहाहा! और धर्मात्मा परद्रव्य है, उनके उदय से कोई दोष हो, अन्दर रागादि आ जाए, लोक को ठीक न पड़े, ऐसा राग हो, इसलिए उनकी निन्दा न करे। जाने कि अभी छद्मस्थ हैं, कोई दोष आ गया। आहाहा! तो उसे गौण करके **व्यवहारमोक्षमार्ग की प्रवृत्ति को बढ़ाना...** शुभ की। देखा? **सो उपगूहन अथवा उपबृंहण है।** बढ़ाना अथवा गोपन करना वह, उपगूहन है। व्यवहार, हों! परन्तु जिसे निश्चय हो उसे ऐसा व्यवहार होता है। जिसे निश्चय आत्मा का सम्यग्दर्शन, अनुभव ही नहीं, उसकी तो यहाँ बात है नहीं। आहाहा! चाहे जितना वह फिर पंच महाव्रत पालता हो और पाँच समिति तथा गुप्ति और सब व्यर्थ है। आहाहा! सूक्ष्म बात, भाई! परमात्मा तीन लोक के नाथ, वीतराग सीमन्धर प्रभु विराजते हैं, भाई! उनकी यह कथनी है। आहाहा! उनके पास से लाये हैं। आहा! ओहोहो! पाँचवाँ हुआ।

व्यवहारमोक्षमार्ग से च्युत होते हुए आत्मा को... देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा

में से च्युत होते आत्मा को स्थिर करना। व्यवहार, हों! निश्चय में तो अपने स्वरूप में स्थिर होना वह (है)। आहाहा! **व्यवहारमोक्षमार्ग से च्युत होते हुए आत्मा को स्थिर करना...** यह व्यवहार, शुभ विकल्प है।

व्यवहारमोक्षमार्ग में प्रवृत्ति करनेवाले पर विशेष अनुराग होना, सो वात्सल्य है। स्वरूप आनन्द का नाथ, उसमें वात्सल्य अर्थात् अनुराग—प्रेम, वह निश्चय वात्सल्य है और देव, गुरु, शास्त्र के प्रति, सच्चे धर्मात्मा आदि (के प्रति)। आहाहा! है? **व्यवहार-मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति करनेवाले पर विशेष अनुराग होना सो वात्सल्य...** प्रेम है। आहा! शुभराग है। **व्यवहारमोक्षमार्ग का अनेक उपायों से उद्योत करना...** देखा? उस निश्चय में स्वरूप को प्रगट करना, वह प्रभावना है। भगवान आत्मा अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु, उसकी शक्ति में से व्यक्तता व्यक्ति प्रगट करना, वह निश्चय प्रभावना है। व्यवहार में देव, गुरु, शास्त्र की, इस रथ में भगवान को बैठाकर (रथयात्रा निकाले) वह शुभराग है। वह शुभराग है। आहाहा! परन्तु यह व्यवहार भी जिसे निश्चय हो, उसे यहाँ व्यवहार कहा है। जिसे निश्चय की खबर ही नहीं, आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप प्रभु है, वह ज्ञाता-दृष्टा है, वह राग का भी कर्ता नहीं और पर की क्रिया का तो कर्ता है ही नहीं। आहाहा! अरे रे! ऐसा स्वभाव। अरेरे! गोप्य रहा, गोप्य, गोप्य रहा। अगोप्य है, उसे गोप्य रखा। आहाहा! ऐसा जो भगवान आत्मा, उसके स्वरूप की शक्तियों का जो भण्डार है, उसे खोलकर शक्तियों को बढ़ाना, वह निश्चय प्रभावना है और व्यवहार में देव, गुरु, शास्त्र के प्रति प्रेम करना। आहा! **व्यवहारमोक्षमार्ग का अनेक उपायों से...** व्यवहार द्वारा, शुभराग। **उद्योत करना सो...** व्यवहार (प्रभावना है)।

इस प्रकार आठ गुणों का स्वरूप व्यवहारनय को प्रधान करके कहा है। देखा? पराश्रित की अपेक्षा से आठ भाव को कहा और उसमें (-निश्चय में) ऐसा कहा था, देखा? **गुणों के सद्भाव में...** (चारित्रमोह के उदयरूप) **शंकादि प्रवर्ते तो भी उनकी (-शंकादि की) निर्जरा ही हो जाती है,...** वहाँ तो ऐसा कहा है। अन्दर दृष्टि में तो निःशंक है न? **बन्ध नहीं होता; क्योंकि बन्ध तो प्रधानता से मिथ्यात्व के अस्तित्व में ही कहा है।** आहाहा! राग की क्रिया दया, दान, व्रत, तप, भक्ति की है, उसे

धर्म माने, वह मिथ्यात्व है। आहाहा! उस मिथ्यात्व की प्रधानता से यहाँ बात ली है। आहाहा! समझ में आया?

यह **व्यवहारनय को प्रधान करके कहा है। यहाँ निश्चयप्रधान कथन में उस व्यवहारस्वरूप की गौणता है।** देखा? व्यवहार है परन्तु उसकी गौणता है। मुख्यता निःशंक की, निश्चय की है। इस समयसार में स्वरूप के आश्रय की-निश्चय की प्रधानता है। आहाहा! चरणानुयोग में व्यवहार की प्रधानता से कथन आता है। यहाँ कहते हैं कि वह गौण है। आहाहा! अरे! इसने कभी पूर्णानन्द के नाथ को देखा नहीं, जाना नहीं और बातें सब की। आहाहा! बड़ा अभिमान, अभिमान, अभिमान मानो हम... आहाहा! भाई!

उन्होंने मान की व्याख्या की है। बहुत सरस व्याख्या, ओहोहो! भाई हुकमचन्दजी ने। निर्मान—मार्दव धर्म की व्याख्या की है। पाटनीजी! पढ़ा है या नहीं? पढ़ा है? मिला है? ठीक। आहाहा! ऐसा हो जाता है कि, आहाहा! वाह! स्पष्टीकरण करने की पद्धति। ऐसा कि मान परवस्तु चीज़ है, ऐसा नहीं। परवस्तु न हो तो भी दीनता आती है, उसका भी एक मान है। वैसे तो श्रीमद् ने कहा नहीं? 'मान प्रत्ये तो दीनपणा का मान' यह मान अर्थात् दीनपना ही हूँ, उसका मान का अभाव हो गया। और यहाँ तो कहते हैं, दीन होता है, अरेरे! हम दीन हैं। यह भी एक अभिमान, मिथ्यात्व है, अभिमान है। आहाहा! व्याख्या बहुत लम्बी की है। आहाहा!

यहाँ निश्चयप्रधान कथन में... भगवान आत्मा निर्मलानन्द प्रभु, दया, दान के विकल्प से भी प्रभु रहित है। आहाहा! ऐसे आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान की मुख्यता में व्यवहार है, उसे गौण करके कहा गया है। मुख्य तो निश्चय कहा जाता है। आहाहा! **सम्यग्ज्ञानरूप प्रमाणदृष्टि में दोनों प्रधान हैं।** निश्चयदृष्टि में व्यवहार गौण है परन्तु प्रमाणदृष्टि में दोनों एकसाथ हैं, ऐसा जानने में आता है। क्या कहा यह? आहाहा! जहाँ अन्तर स्व के आश्रय की दृष्टि का कथन है, वहाँ आगे प्रधानता उसकी—निश्चय की है और रागादि का व्यवहार जो है, उसकी गौणता है परन्तु जब प्रमाण से देखें तो निश्चय और व्यवहार का एकसाथ ज्ञान होता है, वहाँ दोनों की मुख्यता है। है? **सम्यग्ज्ञानरूप प्रमाणदृष्टि में दोनों प्रधान हैं।** क्या कहा यह, समझ में आया? आहाहा! वस्तु भगवान आत्मा, शुद्ध अनन्त आनन्द

का कन्द, उसका जो अनुभव और सम्यग्दर्शन, उसकी निश्चय कथनी में व्यवहार कथन हैं, वे गौण हैं। तब प्रमाणदृष्टि से देखें तो उस निश्चय की प्रधानता और व्यवहार की गौणता है परन्तु प्रमाण से देखें तो दोनों की प्रधानता है, वे साथ में हैं ऐसा। निश्चय है और साथ में व्यवहार है, ऐसा प्रमाणज्ञान दोनों को एकसाथ जानता है। आहाहा!

मुमुक्षुः निश्चयपूर्वक का व्यवहार ऐसा ही होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार ऐसा होता है, जब तक वीतराग न हो तब तक। आहाहा! समझ में आया? (उन्होंने) मार्दव धर्म की व्याख्या की है। अपने तो कोई ऐसा देखा नहीं अभी तक। ऐसी व्याख्या ऐसे आत्मा अन्दर से उछल जाए। आहाहा! निर्मान की व्याख्या, मार्दव की व्याख्या। यह जगा है न! ४४ वर्ष की उम्र और अभी तो सब पण्डितों को पानी भराया है। ३४ पण्डितों ने तो उन्हें अभिनन्दन दिया है। आहाहा! अरे! भाई! आत्मा है। भले निश्चय नहीं परन्तु अन्दर व्यवहार श्रद्धा, ज्ञान के कितने प्रकार का विकास है। आहाहा!

सम्यग्ज्ञानरूप प्रमाणदृष्टि में दोनों प्रधान हैं। दोनों अर्थात् निश्चय और व्यवहार। वहाँ एक प्रधान और एक गौणता प्रमाण में नहीं है। निश्चय की प्रधानता में व्यवहार गौण, परन्तु प्रमाणदृष्टि में दोनों की प्रधानता एकसाथ जाने। निश्चय है, वहाँ ऐसा व्यवहार होता है, ऐसा साथ में ज्ञान करे। समझ में आया? आहाहा! प्रमाण का अवयव, वह नय है। प्रमाण अवयवी है और दोनों उसके अवयव हैं—निश्चय और व्यवहार। एक ओर सम्यग्दर्शन अवयवी है और निःशंक निश्चय जो है, निःशंक आदि निश्चय, वह उसके अवयव हैं। यह व्यवहार, वह उसका अवयव नहीं है। यह तो राग का-विकल्प का भाव है। आहाहा! और जब निश्चय के कथन में जब आवे, तब व्यवहार के कथन गौण होते हैं परन्तु जब दोनों की प्रधानता—एकसाथ में निश्चय और वयवहार है, ऐसा जानना हो, तब दोनों की प्रधानतारूपी प्रमाण है। प्रमाण दोनों को जानता है। यह निश्चय है और यह व्यवहार, (ऐसे) दोनों को जानता है। आहाहा! अरेरे! ऐसी बातें सुनने को मिलती नहीं, वह कहाँ अन्दर विवेक करे? प्रभु! अरे! हित का पन्थ... आहाहा! अलौकिक बातें हैं, बापू!

कलश - १६२

अब, निर्जरा के यथार्थ स्वरूप को जाननेवाले और कर्मों के नवीन बन्ध को रोककर निर्जरा करनेवाले सम्यग्दृष्टि की महिमा करके निर्जरा अधिकार पूर्ण करते हैं:-

(मन्दाक्रान्ता)

रुन्धन् बन्धं नवमिति निजैः सङ्गतोऽष्टाभिरङ्गैः
प्राग्बद्धं तु क्षयमुपनयन् निर्जरोज्जृम्भणेन।
सम्यग्दृष्टिः स्वय-मतिरसा-दादिमध्यान्तमुक्तं,
ज्ञानं भूत्वा नटति गगनाभोगरङ्गं विगाह्य।।१६२।।

श्लोकार्थ:- [इति नवम् बन्धं रुन्धन्] इस प्रकार नवीन बन्ध को रोकता हुआ और [निजैः अष्टाभिः अंगैः संगतः निर्जरा-उज्जृम्भणेन प्राग्बद्धं तु क्षयम् उपनयन्] (स्वयं) अपने आठ अंगों से युक्त होने के कारण निर्जरा प्रगट होने से पूर्वबद्ध कर्मों का नाश करता हुआ [सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि जीव [स्वयम्] स्वयं [अतिरसात्] अति रस से (निजरस में मस्त हुआ) [आदि-मध्य-अन्तमुक्तं ज्ञानं भूत्वा] आदि-मध्य-अन्त रहित (सर्व व्यापक, एक प्रवाहरूप धारावाही) ज्ञानरूप होकर [गगन-आभोग-रंगं विगाह्य] आकाश के विस्ताररूपी रंगभूमि में अवगाहन करके (ज्ञान के द्वारा समस्त गगनमण्डल में व्याप्त होकर) [नटति] नृत्य करता है।

भावार्थ : सम्यग्दृष्टि को शंकादिकृत नवीन बन्ध नहीं होता और स्वयं अष्टांगयुक्त होने से निर्जरा का उदय होने के कारण, उसके पूर्व में बन्ध का नाश होता है। इसलिए वह धारावाही ज्ञानरूपी रस का पान करके, निर्मल आकाशरूपी रंगभूमि में ऐसे नृत्य करता है, जैसे कोई पुरुष मद्य पीकर मग्न हुआ नृत्यभूमि में नाचता है।

प्रश्न : आप यह कह चुके हैं कि सम्यग्दृष्टि के निर्जरा होती है, बन्ध नहीं होता; किन्तु सिद्धान्त में गुणस्थानों की परिपाटी में अविरत सम्यग्दृष्टि इत्यादि के बन्ध कहा गया है। और घातिकर्मों का कार्य आत्मा के गुणों का घात करना है, इसलिए दर्शन, ज्ञान, सुख, वीर्य-इन गुणों का घात भी विद्यमान है। चारित्रमोह का उदय नवीन बन्ध भी करता है। यदि मोह के उदय में भी बन्ध न माना जाए तो यह भी क्यों न मान लिया जाए कि मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धी का उदय होने पर भी बन्ध नहीं होता?

उत्तर : बन्ध के होने में मुख्य कारण मिथ्यात्व-अनन्तानुबन्धी का उदय ही है; और सम्यग्दृष्टि के तो उनके उदय का अभाव है। चारित्रमोह के उदय से यद्यपि सुख-गुण का घात होता है तथा मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धी के अतिरिक्त और उनके साथ रहनेवाली अन्य प्रकृतियों के अतिरिक्त शेष घातिकर्मों की प्रकृतियों का अल्प स्थिति-अनुभागवाला बन्ध तथा शेष अघातिकर्मों की प्रकृतियों का बन्ध होता है, तथापि जैसा मिथ्यात्व-अनन्तानुबन्धी सहित होता है, वैसा नहीं होता। अनन्त संसार का कारण तो मिथ्यात्व-अनन्तानुबन्धी ही है; उनका अभाव हो जाने पर फिर उनका बन्ध नहीं होता; और जहाँ आत्मा ज्ञानी हुआ, वहाँ अन्य बन्ध की गणना कौन करता है? वृक्ष की जड़ कट जाने पर फिर हरे पत्ते रहने की अवधि कितनी होती है? इसलिए इस अध्यात्मशास्त्र में सामान्यतया ज्ञानी-अज्ञानी होने के सम्बन्ध में ही प्रधान कथन है। ज्ञानी होने के बाद जो कुछ कर्म रहे हों, वे सहज ही मिटते जायेंगे। निम्नलिखित दृष्टान्त के अनुसार ज्ञानी के सम्बन्ध में समझ लेना चाहिए। कोई पुरुष दरिद्रता के कारण एक झोंपड़े में रहता था। भाग्योदय से उसे धन-धान्य से परिपूर्ण बड़े महल की प्राप्ति हो गई, इसलिए वह उसमें रहने को गया। यद्यपि उस महल में बहुत दिनों का कूड़ा-कचड़ा भरा हुआ था, तथापि जिस दिन उसने आकर महल में प्रवेश किया, उस दिन से ही वह उस महल का स्वामी हो गया, सम्पत्तिवान हो गया। अब वह कूड़ा-कचरा साफ करना है, सो वह क्रमशः अपनी शक्ति के अनुसार साफ करता है। जब सारा कचरा साफ हो जाएगा और महल उज्ज्वल हो जाएगा, तब वह परमानन्द को भोगेगा। इसी प्रकार ज्ञानी के सम्बन्ध में समझना चाहिए।।१६२।।

टीका : इस प्रकार निर्जरा (रंगभूमि में से) बाहर निकल गई।

भावार्थ : इस प्रकार, जिसने रंगभूमि में प्रवेश किया था वह निर्जरा अपना स्वरूप प्रगट बताकर रंगभूमि से बाहर निकल गई।

कलश -१६२ पर प्रवचन

अब, निर्जरा के यथार्थ स्वरूप को जाननेवाले और कर्मों के नवीन बन्ध को रोककर निर्जरा करनेवाले सम्यग्दृष्टि की महिमा करके निर्जरा अधिकार पूर्ण करते हैं:- अन्तिम कलश है, निर्जरा का अन्तिम कलश है।

रुन्धन् बन्धं नवमिति निजैः सङ्गतोऽष्टाभिरङ्गैः
प्राग्बद्धं तु क्षयमुपनयन् निर्जरोज्जृम्भणेन।
सम्यग्दृष्टिः स्वय-मतिरसा-दादिमध्यान्तमुक्तं,
ज्ञानं भूत्वा नटति गगनाभोगरङ्गं विगाह्य।।१६२।।

ओहोहो! [**इति नवम् बन्धं रुन्धन्**] **इस प्रकार नवीन बन्ध को रोकता हुआ..** आहाहा! शुद्ध निर्मल समकित की निश्चय की बात है न! आहाहा! वह **नवीन बन्ध को रोकता हुआ..** अमृचन्द्राचार्य का कलश है। अमृतचन्द्राचार्य दिगम्बर सन्त, जिन्होंने— कुन्दकुन्दाचार्य ने तीर्थंकर जैसा काम किया और उनकी टीका करके गणधर जैसा काम किया है। आहाहा! पंचम काल के ये गणधर और कुन्दकुन्दाचार्य पंचम काल के तीर्थंकर। ऐसा काम किया है, प्रभु! आहाहा! समकिती अपने स्वरूप की प्रभुता को पूर्ण माने परन्तु पर्याय में अपने को पामर जानता है। कहाँ मुनि की दशा, कहाँ केवली की दशा और कहाँ यह पर्याय। आहाहा! समझ में आया? अपने स्वरूप को पूर्ण प्रभुरूप से मानता है परन्तु मानने की जो पर्याय है, उसमें पामरता मानता है। वह पामरता की पर्याय प्रभुता को मानती है परन्तु पामरता की पर्याय को देखकर समकिती पूर्ण केवलज्ञान और मुनिदशा.... आहाहा! उसके समक्ष स्वयं को पामर मानता है। दृष्टि के विषय की अपेक्षा से प्रभुता है और पर्याय की अपेक्षा से पूर्ण पर्याय, सन्तों की पर्याय... आहाहा! भावलिंगी मुनि, जिन्हें वीतरागी दशा (प्रगट हुई है), अतीन्द्रिय आनन्द में झूलते सन्त और केवली अतीन्द्रिय आनन्द की पूर्ण दशा के समक्ष मेरी पर्याय तो पामर है। आहाहा! समझ में आया?

यहाँ कहते हैं, **इस प्रकार नवीन बन्ध को रोकता हुआ... 'निजैः अष्टाभिः अंगैः'** अर्थात् अपने आठ अंग। है न? **'निजैः अष्टाभिः अंगैः संगतः' अपने आठ अंगों से युक्त... 'निजैः'** अर्थात् अपने **'अष्टाभिः अंगैः संगतः' 'संगतः'** अर्थात् सहित। आहाहा! निश्चय सम्यग्दृष्टि, वह वास्तविक दृष्टिवन्त और वह सब निज के समकित के अंग हैं। वह **'निजैः अष्टाभिः'** आठ अंग। **'अंगैः संगतः' युक्त होने के कारण... 'निर्जरा-उज्जृम्भणेन' निर्जरा प्रगट होने से...** आहाहा! अशुद्धता का नाश होने से **'प्राग्बद्धं तु क्षयम् उपनयन्' 'प्राग्बद्धं'** अर्थात् जो **पूर्वबद्ध कर्मों का...** नाश कर डालना। आहाहा! पूर्वबद्ध है, वह भगवान पूर्णानन्द की दृष्टि हुई,... यहाँ समकित का जोर दिया

है। उसके कारण वर्तमान तो बन्ध के कारणों का नाश करता है, परन्तु पूर्व के बन्ध के कारण को भी नाश करता है। आहाहा!

ऐसा **सम्यग्दृष्टि जीव स्वयं... 'अतिरसात्'** आहाहा! अति आनन्द के रस में मस्त होता हुआ। आहाहा! सन्तों की भाषा तो देखो! आहाहा! दिगम्बर मुनि कहते हैं कि, हम निज रस में मस्त हैं। समकिती... आहाहा! स्वयं **'अतिरसात्'** निज रस में **'अतिरसात्'** मस्त होते हुए। आहाहा! सम्यग्दृष्टि अतीन्द्रिय आनन्द में मस्त होते हुए। आहाहा! **'अतिरसात्' (निजरस में मस्त हुआ)** आहाहा! [**आदि-मध्य-अन्तमुक्तं ज्ञानं भूत्वा**] **आदि-मध्य-अन्त रहित...** ऐसा जो स्वरूप आत्मा का, वह तो **आदि-मध्य-अन्त रहित...** है। **(सर्व व्यापक, एक प्रवाहरूप धारावाही) ज्ञानरूप होकर...** आहाहा! आत्मा की पर्याय ज्ञानरूप दशा होकर। ज्ञान अर्थात् आत्मा। आत्मारूप होकर। आहाहा! पर्याय में आत्मारूप होकर।

[**गगन-आभोग-रंगं विगाह्य**] **आकाश के विस्ताररूपी रंगभूमि में अवगाहन करके (ज्ञान के द्वारा समस्त गगनमण्डल में व्याप्त होकर)...** अर्थात् जानकर। ज्ञान सारे जगत को-लोकालोक को जानता हुआ ज्ञान। भले छद्मस्थ का श्रुतज्ञान है। आहाहा! तथापि वह लोकालोक को जानने की ताकतवाला ज्ञान है। आहाहा! उसमें **अवगाहन करके...** आकाश की विस्ताररूप रंगभूमि अर्थात् यह। सर्व आकाश को जाननेवाला ऐसा जो ज्ञान, उसका विस्तार, उसकी रंगभूमि में वहाँ जाकर आहाहा! आनन्द में और ज्ञान में अन्दर प्रवेश करके। आहाहा! अरेरे! सत्य बातें कहाँ रह गयी? है? और बाहर के दिखावे में जगत को मार डाला और उसमें इसे अभिमान होता है। अरे प्रभु! आहाहा!

यह तो कहते हैं, जो ज्ञान लोकालोक को जाननेवाला है **'गगन-आभोग'** आहाहा! गगन (अर्थात्) **आकाश के विस्ताररूपी रंगभूमि में अवगाहन करके...** अर्थात् उसका ज्ञान करके उसमें अन्दर में जाता है। ऐसा जो ज्ञानस्वरूप है, उसे अवगाहन करता है। आहाहा! जैसे समुद्र में अवगाहन करते हैं न, वैसे यह ज्ञान कैसा है? कि लोकालोक को जाननेवाला ऐसा प्रभु भगवान ज्ञान, आहाहा! कहीं नहीं अटकता वह ज्ञान, उसमें प्रवेश करके। आहाहा! **(ज्ञान के द्वारा समस्त गगनमण्डल में व्याप्त होकर)** [**नटति**] **नृत्य करता है।** आहाहा! धर्मी अतीन्द्रिय ज्ञान में प्रवेश करके उस ज्ञान और आनन्द की पर्याय

में नाचता है। **'नटति'** अर्थात् परिणमन करता है। आहाहा! राग नहीं, पुण्य नहीं, व्यवहार नहीं। यहाँ तो यह निकाल डाला। आहाहा! परमार्थ की बातें, बापू! बहुत कठिन है। भाई! तेरे घर की बातें हैं, प्रभु! तेरा घर इतना बड़ा है। उस घर में जाने पर उसके आनन्द का नाथ, ज्ञान का सागर, उसका जहाँ पता मिले... आहाहा! उसकी पर्याय में तो आनन्द और ज्ञान का नाच, आनन्द और ज्ञान का परिणमन होता है। ऐसी बातें हैं। परन्तु यह सब ठीक परन्तु व्यवहार साधन होगा या नहीं? लोगों का शोर ऐसा है। वह साधन। वह साधन भगवान तेरे गुण में है, प्रभु! साधन—करण नाम का तुझमें एक गुण है। अनन्त गुण में एक करण अर्थात् साधन नाम का त्रिकाल गुण है। उस साधन में जा तो साधन होगा। बाकी राग की क्रिया करते हुए साधन हो, यह वस्तु के स्वरूप में नहीं है। राग साधन हो, यह वस्तु में गुण नहीं है, कहते हैं। आहाहा! स्वरूप में साधन नाम का एक अनादि-अनन्त गुण है। करण नाम का (गुण है)। कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण। उस करण नाम के गुण का साधन अन्तर की दृष्टि करके वह साधन होकर तुझे साध्य होगा। आहाहा! बातें सब फेरफारवाली बहुत यह। भाई! मार्ग तो ऐसा, प्रभु! आहाहा!

नाचता है अर्थात् परिणमता है। आहाहा! लोकालोक को जाननेवाला ज्ञान, ऐसा जो ज्ञान का स्वभाव, उसमें अवगाह कर परिणमता है। आहाहा! जैसे पानी में पड़ने पर सराबोर होकर निकलता है, पानी टपकते हुए; वैसे अन्दर में जाकर एकाग्र होवे तो आनन्द में सराबोर होकर टपकता है, कहते हैं। आहाहा! देखो, यह सम्यग्दृष्टि की दशा! आहाहा! अरे! प्रभु! इसकी खबर न हो और तू बाहर में मानकर बैठे, भाई! वह बाहर की महिमा तुझे आयी और अन्तर की नहीं आयी। जहाँ महिमा करने योग्य है, उसकी महिमा नहीं आयी और यह दया, दान और व्रत के विकल्प, राग की महिमा आयी, प्रभु! तूने आत्मा का अनर्थ किया। अर्थ जो पदार्थ है, उसका तूने अनर्थ किया है। आहाहा! अर्थ अर्थात् पदार्थ जो है, अखण्डानन्द प्रभु पूर्णानन्द आत्मा, उसका तूने राग से लाभ होना (मानकर) अनर्थ किया है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! यहाँ तो निर्मल परिणति, वह परिणमती है, वह उसका नाच है। राग जो आता है, वह नाच है, इसका निषेध करते हैं। आहाहा! एकदम ऊँची बात ली है न!

भावार्थ : सम्यग्दृष्टि को शंकादिकृत नवीन बन्ध नहीं होता... निःशंक

आदि आत्मा की दृष्टि का अनुभव वर्तता है, इसलिए उसे शंकाकृत तो बन्ध है नहीं। **और स्वयं अष्टांगयुक्त होने के कारण,...** उस सम्यग्दृष्टि को आठ अवयव, अंग कहो या अवयव कहो, उन **युक्त होने से निर्जरा का उदय होने के कारण,...** आहाहा! उसे तो शुद्धता की वृद्धि और अशुद्धता का नाश होने से। आहाहा! शुद्धता की धारा बढ़ती जाती है, उत्पाद (होता है और) अशुद्धता का व्यय होता जाता है। और ध्रुव पर दृष्टि है। समझ में आया? अरे! एक बार मध्यस्थ से तू सुन तो सही, प्रभु तू। तेरी चीज़ क्या है और कैसे है? और कैसे प्राप्त हो? आहाहा! परमात्मा का पुकार है, सन्तों का यह धारावाही उपदेश है। आहाहा! दिगम्बर सन्त करुणा करके यह बात करते हैं। आहाहा!

सम्यग्दृष्टि को शंकादिकृत नवीन बन्ध नहीं होता और स्वयं अष्टांगयुक्त... है? निःशंकादि निश्चय उसे। **निर्जरा का उदय होने के कारण, उसके पूर्व में बन्ध का नाश होता है।** पूर्व का जो बन्ध है, वह भी नाश होता है। **इसलिए वह धारावाही ज्ञानरूपी रस का पान करके,...** आहाहा! **'आभोग'** लिया है न? धारावाही ज्ञानरूपी रस, आत्मा का रस। वह धारावाही, धारा—आनन्द की धारा बहती है। आहाहा! जैसे शेरड़ी का—गन्ने का रस गटक... गटक... गटक... पीते हैं, वैसे सम्यग्दृष्टि जीव... आहाहा! धारावाही ज्ञान के रस का पान करता है। वह उस आनन्द के रस को पीता है। आहाहा! उसमें आता है, नहीं? भाई! द्रव्यदृष्टिप्रकाश में, न्यालभाई। गन्ने का रस, जैसे गन्ने का रस गटक-गटक पीवे, वैसे समकिती जीव, आहाहा! अरे! यह बात, बापू! जिसे अभी सुनने को नहीं मिले, जिसे अभी उसकी श्रद्धा का विषय क्या है, इसकी खबर नहीं, अरेरे! प्रभु! उसका क्या हो? अरे! अनन्त काल से भटकता है।

यहाँ कहते हैं, एक बार प्रभु! सम्यग्दृष्टि धारावाही ज्ञान, ज्ञान अर्थात् आत्मा, उसके रस का पान करके, आहाहा! राग का नहीं, इसलिए ज्ञान का, ऐसा। आहाहा! **जैसे कोई पुरुष मद्य पीकर मग्न हुआ...** शराब पीकर **मग्न हुआ नृत्यभूमि में नाचता है।** शराब पीकर नाचता है। वैसे अन्दर आत्मा का मद चढ़ा है, कहते हैं। आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द के रस को धारावाही पीता है। आहाहा! अरे! अरे! कहते हैं, ऐसा तो मुनि को होवे और केवली को होवे। अरे! सुन तो सही, प्रभु! मुनि को तो अलौकिक बातें होती हैं। सच्चे सन्त की बातें तो बापू! कोई अलग है। भावलिंगी सन्त को तो अन्दर अतीन्द्रिय ऊफान आता है,

प्रचुर स्वसंवेदन होता है। पाँचवीं गाथा में कहा है। सच्चे सन्त तो उन्हें कहते हैं कि जिन्हें प्रचुर आनन्द के स्वाद का ढ़ेर अन्दर से आता है। यहाँ तो अभी सम्यग्दृष्टि की बात है। आहाहा! मुनि तो किसे कहना, बापू! वह कोई अलौकिक बातें है, भाई!

जैसे मद्य पीकर नृत्य के अखाड़े में नाचता है, वैसे **निर्मल आकाशरूपी रंगभूमि में...** निर्मल आकाशरूपी अर्थात् उस निर्मल आत्मस्वभाव में **रंगभूमि में नृत्य करता है।** समकिती आत्मा के आनन्द में रमता है। प्रश्न विशेष करेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३१२, श्लोक-१६२, १६३ रविवार, भाद्र कृष्ण ११
दिनाङ्क १६-०९-१९७९

समयसार, पीछे से है, प्रश्न है न? **सम्यग्दृष्टि के निर्जरा होती है,...** आत्मा पूर्ण ज्ञायक चैतन्य स्वरूप, पूर्ण का जहाँ प्रतीति और ज्ञान हुआ, वह पूर्ण परमात्मा हाथ आया। आहाहा! पूर्ण स्वरूप भगवान आत्मा ध्रुवस्वरूप की जहाँ अन्तर में अन्तर्मुख दृष्टि हुई, वहाँ पूर्ण परमात्मा की भेंट हुई, इसलिए उसे सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। सम्यक् अर्थात् सत्य पूर्ण स्वरूप, उसकी दृष्टि हुई; इसलिए उसे सम्यग्दृष्टि कहकर, उसे निर्जरा होती है, (ऐसा कहा है)। उसे अशुद्धभाव थोड़ा हो, या कर्म का उदय हो, वह खिर जाता है। वह इस अपेक्षा से (बात) है। आहाहा!

जिसके मन में—दृष्टि में जिसे आत्मा अन्दर बसा है, आहाहा! जिसकी दृष्टि में परमात्मा... उस भजन में भी ऐसा आया था। 'हरि भजता हजि कोई नी लाज जाता नथी जाणी रे...' हरि यह, हों! 'हरि भजता हजु कोई नी लाज जाता नथी जाणी रे...' जिसका आत्मा पूर्णानन्द का नाथ, उसे हरि कहते हैं। आहाहा! श्रीमद् ने कहा है न? कि महात्माओं ने अधिष्ठान कहा है, वह अधिष्ठान हरि भगवान है, वह हरि भगवान मेरे हृदय में भासता है। यहाँ है। आहाहा!

मुमुक्षु : अपना अधिष्ठान अपने में ही होवे न।

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वयं। कोई भगवान और ईश्वर दूसरा कोई वह नहीं यहाँ। और हरि का अर्थ ही (यह है कि) हरति इति हरि। जो अज्ञान और राग-द्वेष को हरे, वह हरि। वह प्रभु स्वयं हरि है। आहाहा! उसकी जिसने शरण ली है, उसे अब वापस पड़कर जगत में भटकना हो, यह नहीं होता। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि **सम्यग्दृष्टि के...** सत्य स्वरूप परमात्मा, भगवान परमेश्वर निज परमात्मा, हों! आहाहा! उसकी जहाँ दृष्टि होकर पर्याय में उसका अनुभव हुआ, कहते हैं कि उसे जो कुछ रागादि हो, उसका स्वामी नहीं है, इसलिए निर्जरा हो जाती है। आहाहा! मिथ्यात्व जैसा कोई महापाप नहीं और सम्यग्दृष्टि जैसा कोई आत्मा का आदर नहीं। आहाहा! मिथ्यादृष्टि जैसा कोई आत्मा का अनादर नहीं, आहाहा! और सम्यग्दृष्टि जैसा कोई आत्मा का आदर नहीं। आहाहा! बालक, आठ वर्ष का बालक हो, भगवान तो परिपूर्ण विराजता है, प्रभु! आहा! सभी आत्माएँ भगवान हैं, भगवत्स्वरूप है। ऐसे स्वरूप को जिसने, भले आठ वर्ष का बालक हो परन्तु जिसने उस स्वरूप को पकड़ा और भेंट हुई, आहाहा! उसके माहात्म्य का क्या कहना? उसे तो निर्जरा हो जाती है। आहाहा! यहाँ तो सम्यग्दर्शन की प्रधानता की बात है, हों! कहेंगे उत्तर।

प्रभु! तुम कहते हो कि उसे **बन्ध नहीं होता..** सम्यग्दृष्टि, परमात्मा जिसे नजर में पड़ा, जिसे परमात्मा नजर में आया, नजरबन्दी हो गयी। आहाहा! उसे आप तो निर्जरा कहते हो। आहाहा! **बन्ध नहीं होता...** ऐसा कहते हो। **आप यह कह चुके हैं...** आहाहा! **किन्तु सिद्धान्त में...** प्रश्न करता है। **गुणस्थानों की परिपाटी में अविरत सम्यग्दृष्टि इत्यादि...** चौथे गुणस्थान में सम्यग्दृष्टि है, उस चौथे गुणस्थान से इत्यादि **बन्ध कहा गया है।** चौथे गुणस्थान में सात-आठ कर्म का बन्ध कहा गया है न, प्रभु! आप कहते हो कि निर्जरा हो जाती है और बन्ध नहीं है। सुन, भाई! आहाहा! वह तो अपने स्वभाव की प्राप्ति की बात है, प्रभु! यहाँ तो बाहर के झगड़े-फगड़े इसमें कुछ नहीं होते। आहाहा! यहाँ तो शंका-काँक्षा आदि नहीं होती। हैं? आहाहा! निःसन्देह नाथ परमात्मा के अन्तर जिसे दर्शन हुए, उसे कहते हैं कि निर्जरा ही है, बन्ध नहीं होता। तो सिद्धान्त में तो चौथे, पाँचवें से दसवें तक बन्ध कहा है न? प्रभु! आप सीधे सम्यग्दृष्टि है तो बन्ध ही नहीं है (ऐसा कहते हो)। सुन, भाई! आहाहा!

और घातिकर्मों का कार्य... दो बातें की है कि (गुणस्थानों की) परिपाटी में

अविरत सम्यग्दृष्टि आदि को बन्ध कहने में आया है और **घातिकर्मों का कार्य आत्मा के गुणों का घात करना है, इसलिए दर्शन, ज्ञान, सुख, वीर्य-इन गुणों का घात भी विद्यमान है।** सम्यग्दृष्टि को, आहाहा! दर्शन, ज्ञान, सुख और वीर्य का घात भी है। चार घाति में चार। उनकी पर्याय पूर्ण नहीं है। आहाहा! समझ में आया? **इन गुणों का घात भी विद्यमान है।** एक, दो बात। तीसरी, **चारित्रमोह का उदय नवीन बन्ध भी करता है।** आहाहा! चौथे गुणस्थान से आगे चारित्रमोह का उदय उसे बन्ध भी करता है।

मुमुक्षु : दर्शन गुण का घात करता है, ऐसा कैसे कहा?

पूज्य गुरुदेवश्री : दर्शन अर्थात् दर्शन उपयोग। दर्शन / समकित की कहाँ बात है? दर्शन उपयोग की बात है। सम्यग्दर्शन की बात कहाँ है। यहाँ तो दर्शन अर्थात् दर्शन उपयोग, ज्ञान उपयोग, सुख और वीर्य का घात करता है। आहाहा! यहाँ सम्यग्दर्शन की बात नहीं है। आहाहा! और **चारित्रमोह का उदय नवीन बन्ध भी करता है।** चौथे में राग है। **यदि मोह के उदय में भी बन्ध न माना जाए तो यह भी क्यों न मान लिया जाए कि मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धी का उदय होने पर भी बन्ध नहीं होता?** आहाहा! सम्यग्दृष्टि को, आहाहा! दर्शन, ज्ञान, सुख और वीर्य का घात भी है। दर्शन अर्थात् उपयोग और उसको चारित्रमोह के उदय से बन्ध भी है। जब आप उसे बन्ध नहीं है, ऐसा कहते हो तो प्रभु! मैं तो ऐसा कहता हूँ कि मिथ्यादृष्टि को भी बन्ध नहीं है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, प्रभु! सम्यग्दर्शन की महिमा का वर्णन है। आहाहा!

समाधान :- बन्ध के होने में मुख्य कारण मिथ्यात्व-अनन्तानुबन्धी का उदय ही है;... यह मुख्य, हों! गौण है, उसे यहाँ लक्ष्य में नहीं लिया। आहाहा! जैसे आत्मा में पर्याय है, तथापि जब दृष्टि का विषय बतलाना हो, तब पर्याय को गौण करके 'नहीं' ऐसा कहते हैं। आहाहा! त्रिकाली भगवान वस्तु भूतार्थ सत्यार्थ प्रभु, वह 'है' ऐसा दृष्टि कराने के लिये पर्याय 'है', उसे गौण करके 'नहीं' ऐसा कहा है। उसी प्रकार यहाँ, आहाहा! सम्यग्दृष्टि को मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी का उदय बन्ध का कारण है, वह सम्यग्दृष्टि को नहीं है। आहाहा! परन्तु मिथ्यात्व क्या और अनन्तानुबन्धी क्या? भाई! जगत को कठिन पड़ता है। आहाहा! जहाँ राग का विकल्प है, उसकी एकताबुद्धि है, वहाँ मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी दोनों भाव पड़े हैं। आहाहा! यहाँ तो पृथक हुआ, इसलिए उसके दोनों नहीं हैं, ऐसा कहा है। क्या कहा यह?

राग का भी कण चाहे जो शुभराग हो, दया, दान, व्रत, भक्ति आदि का शुभराग (हो) परन्तु उस राग की एकताबुद्धि जहाँ है, वहाँ मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी दोनों हैं और जिनकी एकता टूटी है, आहाहा! उसे वह मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी नहीं है, इसलिए उसे बन्ध नहीं है—ऐसा कहने में आया है। आहाहा! परन्तु इसमें से ऐसा ही सर्वथा मान ले कि चौथे गुणस्थान में बिल्कुल बन्ध ही नहीं, ऐसा नहीं है। उसे गौण करके 'नहीं' ऐसा कहा गया है। आहाहा! समझ में आया? जैसे भगवान पूर्णानन्द का नाथ अन्दर विराजता है, उसके सत् की अस्तित्व की प्रतीति कराने के लिये पर्याय की अल्पता का भाव, उसे 'नहीं'—गौण करके 'नहीं' ऐसा कहा परन्तु इससे पर्याय नहीं है, ऐसा नहीं है। उसी प्रकार यहाँ सम्यग्दर्शन के जोर में पूर्णानन्द का नाथ जहाँ राग की एकता टूटी और स्वभाव की एकता हुई, अल्प पामर राग की एकता टूटकर परमात्मा पूर्णानन्द के नाथ में एकता हुई। आहाहा! वह आठ वर्ष का बालक भी समकित प्राप्त करता है। उसके लिये उम्र की कोई आवश्यकता नहीं है। आहाहा! इसलिए दूसरा ऐसा जाने कि अपने को यह नहीं समझ में आता या नहीं होता—ऐसा नहीं है, प्रभु! आहाहा!

अन्दर में चैतन्य परमात्मा विराजता है, उसकी जिसे एकता हुई और राग की एकता टूटी... आहाहा! उस **सम्यग्दृष्टि के तो उनके उदय का अभाव है।** मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी का अभाव है। आहाहा! कहो, शशीभाई! ऐसी बातें हैं। **चारित्रमोह के उदय से यद्यपि सुख-गुण का घात होता है...** समझ में आया? आहाहा! है? आत्मा का आनन्दस्वरूप प्रभु, उसका अंश प्रगट हुआ है, परिपूर्ण सुख प्रगट नहीं हुआ; इसलिए सुख का घात भी है। आहाहा! और **मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धी के अतिरिक्त और उनके साथ रहनेवाली अन्य प्रकृतियों के अतिरिक्त शेष घातिकर्मों की प्रकृतियों का अल्प स्थिति-अनुभागवाला बन्ध तथा शेष अघातिकर्मों की प्रकृतियों का बन्ध होता है,...** समझ में आया? आहाहा! सम्यग्दृष्टि को भी भगवान की भेंट हुई, उसे भी पर्याय में पामरता है, इसलिए... आहाहा! जरा संसार का स्थिति, बन्ध थोड़ा पड़ता है। सुख का घात भी होता है। आहाहा! तथा घाति की प्रकृति के साथ अघाति की प्रकृति का बन्ध भी होता है। **तथापि जैसा मिथ्यात्व-अनन्तानुबन्धी सहित (बन्ध) होता है, वैसा नहीं होता।** आहाहा! एकताबुद्धि टूटी है, उसकी एकता कभी नहीं होती, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया?

जिसे विकल्प के साथ एकत्वबुद्धि थी, यह दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम भी राग है, उस राग के साथ एकत्वबुद्धि थी, तब तक वह मिथ्यादृष्टि और अनन्तानुबन्धी कषायवाला है। आहाहा! अरे! प्रभु! तेरी महिमा तो देख! आहाहा! तेरी महिमा जिसे अन्तर में आयी, उसे राग जो विकल्प है, उसकी एकता टूट गयी है। वह भगवान मुक्तस्वरूप दृष्टि में आया है। आहाहा! और इसलिए पर्याय में भी मुक्तपना थोड़ा आया है। आहाहा! परन्तु थोड़ा बन्ध कहा है, तथापि मिथ्यात्व-अनन्तानुबन्धी संसार का कारण है। **मिथ्यात्व-अनन्तानुबन्धी सहित (बन्ध) होता है, वैसा नहीं होता।** देखा? आहाहा!

अनन्त संसार का कारण तो मिथ्यात्व-अनन्तानुबन्धी ही है;... आहाहा! यह विकल्प है दया, दान आदि का राग, उसके साथ एकत्वबुद्धि है, वही मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी है। अरे रे! अब यह ऐसी बातें। काल ऐसा पंचम हल्का काल, उसमें यह बड़ा परमात्मा अन्दर है, उसकी महिमा अन्दर बैठना और राग की पामरता की एकता टूट जाना... आहाहा! पामर के साथ प्रेम और प्रभु से उसने प्रेम तोड़ डाला और प्रभु के साथ प्रेम, उसने पामर से प्रेम तोड़ डाला। आहाहा! ऐसा मार्ग है, बापू! समझ में आया? सब भगवत्स्वरूप परमात्मा है। किसी का छोटा-बड़ा आत्मा है, ऐसा है नहीं। आहाहा! किसे कहना छोटा? और किसे कहना बड़ा? वस्तु की अपेक्षा से। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! अरे! शास्त्र में तो ऐसा आवे कि सम्यग्दृष्टि सत्य की बात करते हुए दोषों को बतावे कि मिथ्यादृष्टि ऐसे होते हैं, ऐसे होते। अरे! कहते हैं कि लज्जा आती है हमें प्रभु के समक्ष। आहाहा! इस प्रभु के दोष पर्याय में है, यह बताते हुए लज्जा आती है। आहाहा! परन्तु वस्तु का स्वरूप बतलाते हुए प्रभु! वह आये बिना रहता नहीं। आहाहा!

कहते हैं, उस मिथ्यात्व-अनन्तानुबन्धीसहित (बन्ध होता है) वैसा बन्ध उसे— समकिती को नहीं है। **अनन्त संसार का कारण तो मिथ्यात्व...** आहाहा! भले त्यागी हुआ हो, पंच महाव्रत धारण करता हो, ग्यारह प्रतिमा धारण की, परन्तु उस राग का विकल्प है, वह मेरा है—ऐसी एकताबुद्धि पड़ी है, उस अनन्त संसार का कारण तो वह है। अरेरे! इसकी इसे खबर नहीं होती। अर्थात् क्या कहा? कि अनन्त आनन्द का नाथ अनन्त गुण का सागर का प्रेम छोड़कर जो राग के प्रेम में जुड़ गया है, वह अनन्त संसार के अभावस्वरूप प्रभु का अनादर करके उसने अनन्त संसार बढ़ाया है। आहाहा! भाई नहीं आये, हीराभाई? गये होंगे। समझ में आया?

प्रभु! अमृत की बातें हैं, भाई! आहाहा! अमृत का सागर भगवान, वह अमृत का सागर प्रभु, आहाहा! उसकी जिसे अन्तर में एकता हुई और राग की एकता टूटी, कहते हैं कि मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धीसहित जो बन्ध होता है, वैसा उसे बन्ध नहीं है और वही अनन्त संसार का कारण है। आहाहा! भले त्यागी हुआ हो, पंच महाव्रत धारण किये, हजारों रानियाँ छोड़ी परन्तु वह राग का कण है, वह मेरा है—ऐसी एकत्वबुद्धि है, उससे मुझे लाभ होगा, (ऐसा मानता है तो) अनन्त संसार का कारण है। अरर्र! क्योंकि अनन्त संसार के अभावस्वरूप अनन्त गुण के पिण्ड प्रभु का तो उसने अनादर किया और राग के कण का (आदर किया), वह तो पामर है। उसने एकताबुद्धि में आदर किया। प्रभु! वह अनन्त संसार का कारण है। वह समकिती नहीं है। आहाहा! कहो, हिम्मतभाई! ऐसी हिम्मत है अन्दर, कहते हैं। हैं? आहाहा!

प्रभु! तेरे पुरुषार्थ की क्या बातें करना! अनन्त बल का धनी बलवान। वह बलदेव नहीं कहते? क्या कहते हैं? यह लड़कों को कहते हैं। नहीं, है? पिंजरे में। वजन / भार। वह पिंजर होता है... वह क्या कहलाता है पानी का? पानी का होवे न, उसके ऊपर वजन रखते। हमारे घर में रखते, वह याद आया। क्यारा का रखते, थोड़ी रुई लगाते। आहाहा! वह वजन नहीं, प्रभु! तू अनन्त बल का धनी नाथ! तेरे बल को रोकने को कौन समर्थ है? ऐसी एकत्वबुद्धि जिसे स्वभाव की हुई है, उसे अनन्त संसार का कारण राग की एकत्वबुद्धि का मिथ्यात्वभाव और अनन्तानुबन्धी उसके टल गये हैं। इसलिए उसे अनन्त संसार नहीं होता। आहाहा! समझ में आया? अब ऐसी बातें अब कहीं (सुनने को मिलती नहीं)। आहाहा!

जरा सा शरीर रूपवान हो, वहाँ उसे अन्दर माहात्म्य आवे कि आहाहा! हम तो रूपवान हैं, हम तो लड़केवाले हैं, हम पैसेवाले हैं। अरे! प्रभु! क्या हुआ तुझे यह? तेरा नाथ अन्दर भगवान विराजता है न! उसके रूप के स्वरूप की तुझे प्रतीति नहीं और यह रूप मेरा! तो इसका अर्थ हुआ कि शरीर मेरा। यह रूप मेरा तो शरीर मेरा हुआ, प्रभु! आहाहा! आहाहा! तो आत्मा मेरा नहीं, ऐसा उसे हुआ, प्रभु! आहाहा! परन्तु जिसे आत्मा मेरा है, ऐसा भान हुआ, उसे रूप और शरीर दोनों मेरी चीज़ नहीं है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! है न?

संसार का कारण तो मिथ्यात्व-अनन्तानुबन्धी ही है;... बापू! यह माल...

माल.. वर्णन करते हैं। आहाहा! **उनका अभाव हो जाने पर फिर उनका बन्ध नहीं होता; और जहाँ आत्मा ज्ञानी हुआ...** आहाहा! ज्ञानी अर्थात् शास्त्र का ज्ञान, वह यहाँ नहीं। आहाहा! जिसने भगवान आत्मा का ज्ञान किया; राग का ज्ञान नहीं, निमित्त का नहीं, पर्याय का भी नहीं। **आत्मा ज्ञानी हुआ...** (अर्थात्) आत्मज्ञान हुआ। आहाहा! पूर्णानन्द का नाथ भगवान आत्मा, उसका जिसे ज्ञान हुआ, उस द्रव्य का ज्ञान हुआ। आहाहा! **आत्मा ज्ञानी हुआ, वहाँ अन्य बन्ध की गणना कौन करता है?** आहाहा! समझ में आया?

वृक्ष की जड़ कट जाने पर... वृक्ष का मूल कट जाने के बाद पत्तों और डालियों की क्या कीमत है? वे तो सूख जानेवाले हैं। जिसने वृक्ष का मूल नीचे से तोड़ा, विहार करते हुए रास्ते में बहुत ऐसे वृक्ष देखे हुए हैं, ऐसे गिर गये हों, एक सहज थोड़ा भाग रह गया तो भी खिले परन्तु पूरा मूल टूट गया (तो नहीं उगता)। उसी प्रकार जिसने मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी का मूल तोड़ डाला है, संसार का मूल तो वह है। आहाहा! समझ में आया? **वृक्ष की जड़ कट जाने पर फिर हरे पत्ते...** हरे पत्ते, हों! भले वे हरे पत्ते हों, परन्तु सूख जानेवाले हैं, गिर जानेवाले हैं। क्योंकि कस नहीं मिलता, मूल टूट गया। पत्तों को पानी पिलावे तो पत्ते रहें, ऐसा नहीं है। पत्तों को पानी तो मूल में से मिले तो रहे। क्या कहा यह? पत्ते हैं, उन्हें पानी डाले तो उन्हें पुष्टि नहीं होती। वह अन्दर नहीं चढ़ता। आहाहा! मूल में कस हो, वहाँ से पत्तों में कस चढ़े, वह मूल तो टूट गया। भले फिर हरे पत्ते पानी में डुबोओ तो नहीं रहे अब। नहीं रहे, भाई! आहाहा!

क्या प्रभु का मार्ग! जिनेश्वर त्रिलोकनाथ तीन लोक के नाथ... आहाहा! जगत की दरकार किये बिना सन्त जगत को प्रसिद्ध करते हैं कि अरे! ऐसी बातें करनेवाले जो क्रियाकाण्डी राग से लाभ माननेवालों को क्या होगा? प्रभु! जो हो, तुझे लाभ होगा भाई! यह दृष्टि तोड़ डाल। समझ में आया? आहाहा! यह हम व्रत पालते हैं, प्रतिमा धारण की है, ऐसे पर के अभिमानियों की एकताबुद्धि उसे टूट जाए, इसलिए उसको यह बात करते हैं। प्रभु! उसे तोड़ डाल, भाई! वह वस्तु तेरी नहीं है। आहाहा! तेरी है, उसमें वह नहीं है। वह है, उसमें तू नहीं है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

वृक्ष की जड़ कट जाने पर फिर हरे पत्ते... भाषा देखी? सूखे पत्ते नहीं लिये। सूखे तो सूख गये परन्तु यह तो हरे पत्ते भी सूख जायेंगे। (उनकी) **रहने की अवधि**

कितनी होती है? हरे पत्ते रहने की अवधि कितनी? मूल कट गया, कस तो चढ़ता नहीं, हरे पत्तों को भले कुएँ में डालो, सरोवर में डालो, (वह) सूख जाएँगे। भाई! आहाहा! इसमें क्या कहना है जरा? कि जिसका मूल कट गया, उसके पत्तें में भले कोई अस्थिरता आदि, मिथ्यात्व कट गया, अस्थिरता आदि रही परन्तु वह सूख जानेवाली है। आहाहा! उसे अब पोषण नहीं मिलता। आहाहा! पुण्य-पाप के भाव धर्मी को होते हैं परन्तु उसे मिथ्यात्व का पोषण नहीं है, उसकी एकताबुद्धि का मूल टूट गया है। आहाहा! अन्दर सब भगवत्स्वरूप भगवान विराजते हैं, हो! किसी ने शरीर को देखना नहीं, वेग देखना नहीं। उसके पुण्य-पाप के परिणाम, उन्हें देखना नहीं। देखना भगवान अन्दर परमात्मा। ऐसी जिसे अपनी दृष्टि हुई है, वह दूसरे को भी उसी दृष्टि से भगवानरूप से देखता है। आहाहा! पर्याय में दोष है, उसे जानता है परन्तु भगवान अन्दर परमात्मा है, वह तो मेरा साधर्मी सिद्ध भगवान है। आहाहा! 'सिद्ध समान सदा पद मेरो' ऐसे सबका सिद्धपद है न? आहाहा! इसे किसके ऊपर द्वेष आवे? और किसके ऊपर इसे राग आवे? आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

हरे पत्ते रहने की अवधि कितनी होती है? आहाहा! देखो! सम्यग्दर्शन का माहात्म्य! सम्यग्दर्शन में स्वीकार किये हुए भगवान का माहात्म्य। जिसे पर्याय का स्वीकार गया, राग का स्वीकार गया, निमित्त का स्वीकार गया, आहाहा! **इसलिए इस अध्यात्मशास्त्र में सामान्यतया ज्ञानी-अज्ञानी होने के सम्बन्ध में ही प्रधान कथन है।** सामान्य-विशेष, ज्ञानी-अज्ञानी की मुख्यरूप से। गौणरूप से तो ज्ञानी को भी बन्ध है, अस्थिरता है, वह सब ख्याल है परन्तु वह अनन्त संसार का कारण नहीं है और अज्ञानी भले त्यागी होकर बैठा हो, पंच महाव्रत (पालता हो) और उसके लिये आहार-पानी का कण भी मर जाए तो न ले, ऐसी क्रिया करता होने पर भी अन्दर राग से भिन्न देखा नहीं और उस राग के साथ एकताबुद्धि है तो वह अनन्त संसारी है। आहाहा!

इन्होंने ऐसा अर्थ किया, भाई! अनन्तानुबन्धी है न? अनन्त के साथ सम्बन्ध है, इसलिए अनन्तानुबन्धी। ऐसा अर्थ किया है। और ऐसे नहीं तो अनन्तानुबन्धी अर्थात् अनन्त अर्थात् मिथ्यात्व के साथ सम्बन्ध है, ऐसी अनन्तानुबन्धी-ऐसा अर्थ है। यह अनन्तानुबन्धी है न? वह अनन्त मिथ्यात्व के साथ सम्बन्धवाली कषाय, वह अनन्तानुबन्धी। भाई ने और ऐसा अर्थ किया है। आवे, आवे वह तो व्यवहार से समझाने में (आवे)। आहाहा! अनन्त

का अनुबन्ध। है न? एक के साथ जिसे एकताबुद्धि है, उसे अनन्त के साथ एकताबुद्धि है, ऐसा। समझ में आया? एक राग के कण का भी कर्ता होता है तो सारे विश्व का भी कर्ता वह मानता है। आहाहा! और जिसने राग का कर्तापना तोड़कर ज्ञातापना है एक राग का, वह सारे विश्व का वह ज्ञातादृष्टा है। आहाहा! अरे! ऐसी बात। मुश्किल से थोड़ा टाईम मिला है, मनुष्यपने का समय थोड़ा है, वह भी पूरा हो जाएगा, देह चली जाएगी, भाई! आहाहा!

अध्यात्मशास्त्र में सामान्यतया... सामान्य रूप से, हों! विशेष की व्याख्या तो बहुत सब अन्दर है। **ज्ञानी-अज्ञानी होने के सम्बन्ध में ही प्रधान कथन है।** ज्ञानी और अज्ञानी का दोनों का मुख्यरूप से वर्णन है। ज्ञानी को बन्ध नहीं और अज्ञानी को बन्ध है। **ज्ञानी होने के बाद...** आहाहा! ज्ञानी अर्थात् पूर्णानन्द भगवान का नाथ, उसका ज्ञान हुआ। भले शास्त्रज्ञान न ही हो, आहाहा! शिवभूति अंगार, मारुष-मा तुष। शब्द याद नहीं रहता था। अन्दर आत्मा आनन्दस्वरूप है, यह बराबर याद है। आहा! आहाहा! बाहर का धारणा का ज्ञान भले कम हो, अरे! तिर्यंच को तो नव तत्त्व के नाम भी नहीं आते, आहाहा! अरे! प्रभु! यह बातें अलग है, बापू! आहाहा! समझ में आया? अन्तर में जिसे **ज्ञानी होने के बाद जो कुछ कर्म रहे हों, वे सहज ही मिटते जायेंगे।** उन पत्तों की भाँति। मूल कट गया, इसलिए पत्ते पुराने हों तो भी सूख जानेवाले हैं, टल जानेवाले हैं। आहाहा! ऐसा सम्यग्दर्शन का माहात्म्य है। अब उसकी अभी कीमत घट गयी और बाहर के त्याग की कीमत बढ़ा डाली। बाहर का त्याग करे, वस्त्र बदले या शास्त्र का कुछ पढ़े, इसलिए हो गया ज्ञान और हो गये त्यागी। अरे! प्रभु! आहाहा! अनन्त संसार का मूल तो तोड़ा नहीं और कहाँ से त्यागी हो गया तू? आहाहा! **सहज ही मिटते जायेंगे। निम्नलिखित दृष्टान्त के अनुसार ज्ञानी के सम्बन्ध में समझ लेना चाहिए।**

कोई पुरुष दरिद्रता के कारण... कोई पुरुष दरिद्र हो **एक झोंपड़े में रहता था। भाग्योदय से उसे धन-धान्य से परिपूर्ण बड़े महल की प्राप्ति हो गई...** पुण्य के उदय से बड़ा मकान मिल गया, दो-पाँच करोड़ का, आहाहा! **भाग्योदय से उसे धन-धान्य से परिपूर्ण...** विशाल धनसहित, हों! अकेला महल नहीं। करोड़ों, अरबों रुपये अन्दर (भरे हुए), उस सहित बड़ा मकान मिला। आहाहा! **इसलिए वह उसमें रहने को**

गया। इस महल में रहने गया। **यद्यपि उस महल में बहुत दिनों का कूड़ा-कचड़ा भरा हुआ था...** कचरा है, जलानेवाले ने जलाया नहीं था। आहाहा! **तथापि जिस दिन उसने आकर महल में प्रवेश किया...** आहाहा! **उस दिन से ही वह उस महल का स्वामी हो गया,...** हैं? महल और धन का मालिक बन गया। आहाहा! **महल का स्वामी हो गया, सम्पत्तिवान हो गया।** दों बातें हुई। वह अन्दर लक्ष्मी है न? महल का धनी हुआ और वह धन था, (इसलिए) सम्पदावान हो गया, ऐसा। महल का मालिक और अन्दर अरबों रुपये लक्ष्मी थी। आहाहा! यह तो दृष्टान्त है, हों! इसमें कुछ प्रसन्न होने योग्य जैसा नहीं है। आहाहा! कि ठीक, ठीक भाग्य से ऐसा महल और पैसे (मिले)। धूल है। वह तो दृष्टान्त दिया है। आहाहा!

दो बातें कही, उस दिन से ही वह महल का मालिक बन गया और सम्पदावान हो गया। दो। लक्ष्मी थी न अन्दर? अकेला महल नहीं। अरबों रुपये उसमें थे। आहाहा! **अब वह कूड़ा-कचरा साफ करना है...** वह कचरा निकालना है। आहाहा! **सो वह क्रमशः अपनी शक्ति के अनुसार साफ करता है।** अपनी शक्ति के अनुसार वह कचरा निकालता है। आहाहा! दृष्टान्त तो देखो! **जब सारा कचरा साफ हो जाएगा और महल उज्ज्वल हो जाएगा, तब वह परमानन्द को भोगेगा।** मालिक तो हो गया है। आहाहा! इतना उसे उस जाति की प्रसन्नता भी आयी है, परन्तु सब निकाल डालेगा, तब पूर्ण प्रसन्नता होगी। आहाहा! **इसी प्रकार ज्ञानी के सम्बन्ध में समझना चाहिए।** आहाहा!

धर्मी जीव को—समकिती को पूरा भगवान परमात्मा मिला और उसमें अनन्त लक्ष्मी—अन्दर स्वभाव—गुण हैं, वे सब मिल गये। आहाहा! द्रव्य मिला, साथ में अनन्त गुणों की जो सम्पदा, अनन्त-अनन्त सम्पदा पड़ी है, प्रभु में अन्दर अनन्त सम्पदा पड़ी है। आहाहा! उसका वह स्वामी हो गया। द्रव्य का और सम्पदा का, दोनों का। आहाहा! उस महल का और लक्ष्मी का, दोनों का। आहाहा! उसी प्रकार यह द्रव्य का और उसके भाव का। आहाहा! सम्यग्दृष्टि दोनों का स्वामी हो गया, दोनों जिसे अन्दर से प्राप्त हुए। आहाहा! जिसे राग की एकता टूट गयी, प्रभु! आहाहा! आत्मा के साथ एकत्व होने पर वह टूट गयी। समझाने में तो ऐसा आवे। आहाहा! **इसी प्रकार ज्ञानी के सम्बन्ध में समझना चाहिए।**

सम्यग्दृष्टि को भी आत्मद्रव्य और अनन्त-अनन्त गुण की सम्पदा का खजाना, दोनों

मिल गये हैं। आहाहा! अरेरे! प्रभु! ऐसे आत्मद्रव्य की बातें छोड़कर बाकी दूसरी गड़बड़ (की है)। आहाहा! प्रभु! तेरे घर की, हित की बातें हैं, नाथ! आहाहा! अब वह समकिती है, चक्रवर्ती का राज हो, लो! परन्तु वस्तु और वस्तु के गुणों की सम्पदा का स्वामी हो गया। अब उसका जरा रागादि है, वह टल जाएगा। वह थोड़ा कचरा है। आहाहा! अस्थिरता का कचरा। अन्दर में स्थिरता करके टाल देगा। आहाहा! वस्तु हाथ आ गयी न! भले कचरावाला महल और सम्पदा, परन्तु वह कचरा महल का, महल की सम्पदा का नहीं है। आहाहा! ऐसी बातें, लो!

जिसे भगवान आत्मा पूर्णानन्द का नाथ जिसे मिल गया, उसे अनन्त सम्पदा मिली। जिसमें से केवलज्ञान की पर्याय प्रगट हो, ऐसा ज्ञानगुण अनन्त मिल गया। आहाहा! जिसके गुण में से केवलज्ञान की पर्याय अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... सादि अनन्त प्रगटे। उस गुण में से ऐसी अनन्त पर्याय का साहिबा ज्ञान मिल गया। अनन्त समकित की श्रद्धा है, अन्दर जो श्रद्धागुण है, उसमें से समकित की पर्याय अनन्त नयी हों, उनका खजाना श्रद्धागुण उसे मिल गया। आनन्द की पर्याय जो सादि-अनन्त अनन्त... अनन्त... अनन्त... आनन्द हो, उस आनन्द की पर्याय का स्वामी—धनी आनन्द अन्दर से मिल गया। आहाहा! जिसने खजाना खोल डाला। आहाहा! अज्ञानी के कपाट बन्द है। राग की एकता में खजाना बन्द है, भाई! आहाहा! भले फिर दिगम्बर मुनि हुआ हो, परन्तु अन्दर में राग को—शुभराग को अपना मानकर अपने को लाभ है, ऐसा मानता है, उसने खजाने को ताला लगाया है। आहाहा! समकिती ने खजाना खोल डाला है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। भाई! तेरे संसार का अन्त कैसे आवे, उसकी बातें हैं, भाई! समझ में आया? दूसरे के दोष दिखाने की यह बात नहीं है। आहाहा! परन्तु तेरा दोष है, वह तेरा स्वरूप नहीं। अन्दर गुण है। दोष है, वह तो क्षणिक है और गुण है, वह तो त्रिकाल आनन्द का नाथ पूर्ण है। आहाहा! उसकी जहाँ दृष्टि पड़ी, पश्चात् दोष का कचरा निकालने में देरी क्या? कहते हैं। दोष का स्वामी निकल गया और गुण का स्वामी हुआ, धनी तो अब गुण और द्रव्य का हो गया। आहाहा!

यह कहा न वह? रास्ते में जाता है, पश्चात् वे पाँच बजने के पश्चात् गाते है न? एक वह बोला था 'हंसलो मारो नानो रे मारुं देवल जुनुं थयुं, जूनुं रे थयुं रे देवल जूनुं थयुं, मारो हंसलो नानो ने देवल...' मेरा नाथ तो अनादि से ऐसा का ऐसा है। यह शरीर जीर्ण हुआ

है। गाते थे। उसे कुछ बोल की खबर नहीं हो। सुनते थे, हंसला का भाई ने कहा था। वह हरि भजन, तो मैंने भी सुना हुआ। 'हरि भजता हजि कोई नी लाज' आहाहा! बाहर का जानपना, फेरफार हो जाए और पागल हो जाए, हों! गहल हो जाए वह। दृष्टि में तत्त्व आया नहीं और बाहर की धारणा हो, उसमें बड़ा पण्डित दिखे, वह पागल हो जाए। आहाहा! परन्तु जिसे भगवान आत्मा का ज्ञान हुआ है, आहाहा! भले उसे बहुत विशेष धारणा का ज्ञान नहीं है परन्तु वह पागल नहीं होगा, वह पण्डित होकर केवल (ज्ञान) लेगा। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! **इसी प्रकार ज्ञानी के सम्बन्ध में समझना चाहिए।**

टीका : इस प्रकार निर्जरा (रंगभूमि में से) बाहर निकल गई। इस निर्जरा का ज्ञान हो गया। ज्ञायक है, निर्जरा और बन्ध दोनों ज्ञाता और दृष्टा जानने में आया। निर्जरा को भी जानता है, बन्ध को भी जानता है, मोक्ष को भी जानता है, उदय को जानता है। आहाहा! है न ३२० (गाथा)?

भावार्थ : इस प्रकार, जिसने रंगभूमि में प्रवेश किया था... शुद्ध पर्याय शुद्धता ने रंगभूमि में प्रवेश किया था, **वह निर्जरा अपना स्वरूप प्रगट बताकर रंगभूमि से बाहर निकल गई।** निर्जरा की स्थिति यह है, (ऐसा) जानकर निर्जरा छूट गयी। आहाहा! ऐसा उपदेश अब। व्रत पालना और भक्ति करना और प्रतिमा लेना, यह कुछ नहीं आता इसमें। भाई! तेरा भान होने पर राग जैसे घटता जाएगा, वैसे स्थिरता बढ़ती जाएगी, वैसे-वैसे पंच महाव्रत के विकल्प उस भूमिका में आयेंगे परन्तु वह कचरा है। आहाहा! अरेरे! इसका द्रव्य और इसके गुण का माहात्म्य न आवे और राग की क्रिया बहुत करे, इसलिए माहाम्य आवे अरे, प्रभु! तू कहाँ रुक गया! दुनिया मान देगी। दुनिया को त्याग नहीं और यह त्याग करे, (इसलिए) ओहोहो! गजब काम किया तुमने, आजीवन का ब्रह्मचर्य, तुम बाल ब्रह्मचारी। परन्तु भाई! वह क्या चीज़ है? वह चीज़ क्या है? ब्रह्म अर्थात् आनन्द के नाथ को जगाकर जिसने ब्रह्म में आनन्द चर्या की है, वह ब्रह्मचारी है। काया का ब्रह्मचर्य तो अनन्त बार पालन किया है। समझ में आया? आहाहा!

मुमुक्षु : काया का ब्रह्मचर्य, वह ब्रह्मचर्य है ही नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : है कहाँ? परन्तु लोग तो यह मानते हैं कि शरीर से विषय नहीं लिया तो हो गये अपन ब्रह्मचारी। अरे! भाई! स्त्री का सेवन नहीं किया, इसलिए ब्रह्मचारी

हो गये, ऐसा यहाँ प्रभु नहीं कहते। आहाहा! नौवें ग्रैवेयक गया, तब स्त्री का सेवन तो अनन्त बार नहीं किया परन्तु भगवान आत्मा ब्रह्म अर्थात् आनन्दस्वरूप की सेवा तूने नहीं की। आहाहा! उसमें उसकी चर्या, ब्रह्मानन्द का नाथ की चर्या तूने नहीं की। आहाहा! बात में बहुत अन्तर, भाई! अभी की अपेक्षा बात में बहुत अन्तर लगे, भाई! आहाहा! परन्तु वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। अनादि से तीन लोक के नाथ तीर्थंकर कहते आये हैं, कहते हैं और कहेंगे। हैं ? आहाहा! अन्तिम श्लोक है।

***

इति निर्जरा निष्क्रान्ता।

इति श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यामात्मख्यातौ निर्जराप्ररूपकः षष्ठोऽङ्कः।

सम्यकवंत महंत सदा समभाव रहै दुख संकट आये,
कर्म नवीन बंधै न तबै अर पूरव बन्ध झड़े बिन भाये;
पूरण अङ्ग सुदर्शनरूप धरै नित ज्ञान बढ़ै निज पाये,
यों शिवमारग साधि निरन्तर, आनंदरूप निजातम थाये।।

इस प्रकार श्री समयसार की (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री समयसार परमागम की) श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेवविरचित आत्मख्याति नामक टीका में निर्जरा का प्ररूपक छठवाँ अंक समाप्त हुआ।

सम्यकवंत महंत सदा समभाव रहै दुख संकट आये,
कर्म नवीन बंधै न तबै अर पूरव बन्ध झड़े बिन भाये;
पूरण अङ्ग सुदर्शनरूप धरै नित ज्ञान बढ़ै निज पाये,
यों शिवमारग साधि निरन्तर, आनंदरूप निजातम थाये।।

आहाहा! **सम्यकवंत महंत...** वह महन्त है। आहाहा! वह माहात्मा है। जिसे भगवान पूर्णानन्द के नाथ की दृष्टि, अनुभव हुआ, वह महन्त है। आहाहा! **सम्यकवंत महंत...** अब उस सम्यग्दृष्टि की कीमत कुछ करते नहीं। यह तो त्याग हो, तब चारित्र पाले, बाहर

की क्रिया, तब उसे सातवें गुणस्थान में निश्चय समकित हो। अरे रे! क्या करता है प्रभु तू?

यहाँ तो कहते हैं, **सम्यकवंत महंत सदा समभाव रहै...** वह तो ज्ञाता-दृष्टा रहता है। आहाहा! राग आवे, उसे जाने; द्वेष आवे, उसे जाने। जगत के ज्ञेय अनन्त हैं, उन्हें ज्ञेयरूप से जाने। यह ठीक-अठीक है, इस प्रकार से वह नहीं जानता। ठीक-अठीक की कल्पना आ जाए, उसे भी जाने। आहाहा! क्योंकि वह सब ज्ञेय में जाता है। ठीक-अठीक की कल्पना और ज्ञेय सब ज्ञेय हैं, ऐसा कहते हैं। **सदा समभाव रहै...** आहाहा! वह अपने ज्ञाता-दृष्टा के भाव में रहनेवाला है। आहाहा! **दुख संकट आये,...** प्रतिकूलता और संकट में आने पर भी समभाव रखता है। उसे प्रतिकूलता दिखती नहीं। प्रतिकूलता ज्ञेयरूप से जानता है। आहाहा! सम्यग्दृष्टि हो, निर्धन हो, आहाहा! गरीब हो, रहने की झोपड़ी न मिलती हो, खाने का एक समय मिलता न हो तो भी उसे अन्तर में शान्ति और समभाव है। मैं गरीब हूँ, ऐसे उसे दीनता नहीं है। आहाहा! मैं तो धनवान हूँ, आत्मा का स्वामी हूँ। आहाहा! ऐसी बातें हैं, प्रभु! क्या हो? परमात्मा का तो विरह पड़ा, केवलज्ञानी रहे नहीं, शास्त्र में बात रह गयी परन्तु उस बात को हल करनेवाले कम हुए और बाहर की प्रवृत्ति में सब मनवा दिया। आहाहा! उन्हें ऐसी बातें ऐसी लगती हैं कि अरे! सोनगढ़िया तो निश्चय की (बात करते हैं)। अरे! सोनगढ़िया की रहने दे, बापू! आहाहा! यह... यह तो निश्चय की ही बात माननेवाले, व्यवहार की नहीं। अरे! प्रभु! सुन न, भाई! सत्य ही स्वरूप है, भगवान आत्मा को माननेवाले, राग वह मेरा स्वरूप नहीं, ऐसा माननेवाले की तुझे निन्दा कैसे आती है? आहाहा! समझ में आया?

कर्म नवीन बंधै न तबै... उसे नवीन कर्म नहीं बँधते। **पूरव बन्ध झड़े बिन भाये;...** भावना बिना उसके कर्म तो झर जाते हैं। **पूरण अङ्ग सुदर्शनरूप...** समकित दर्शन—सुदर्शन। सुदर्शन बड़ा। **पूरण अङ्ग...** आठों अंग सहित, **धरै नित ज्ञान बढ़ै निज पाये,...** नित ज्ञान की पर्याय शुद्धता बढ़ जाए **निज पाये,...** स्वयं को प्राप्त करे तब। आहाहा! **यों शिवमारग साधि...** इस प्रकार शिव अर्थात् मोक्ष का मार्ग साधकर। **निरन्तर, आनंदरूप निजातम थाये।** निरन्तर पूर्ण आनन्दरूप निजात्मदशा प्रगट करे, उसे मोक्ष होता है। यह सम्यग्दृष्टि की दशा। उसे पूर्णानन्द की प्राप्ति होती है, वह उसका परिणाम और फल। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)